[illegible]

मानस-पीयूष

सुन्दरकाण्ड



सम्पादक—

श्रीअञ्जनीनन्दनशरण

[मूल्य ५.०० (पाँच रुपये)



श्रीरूपकलादेव्यै नमः   श्रीहनुमते नमः

* श्रीसीताराम *

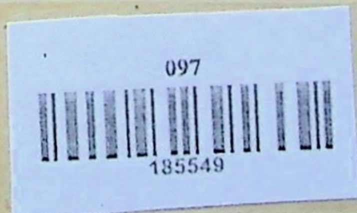
मानस-पीयूष

(श्रीरामचरितमानसका संसारमें सबसे बड़ा तिलक)

पञ्चम सोपान (सुन्दरकाण्ड)

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजी, पं० राम-वल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी एवं श्रीमानसी बंदन पाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्री-रामचरणदासजी (श्रीकरुणासिन्धुजी), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीजी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), बाबा श्रीहरिदासजी, पांडे श्रीरामबख्शजी, श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीबैजनाथजी आदि पूर्व मानसाचार्यों, टीकाकारोंके भाव; मानसराजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी तथा प० प० प्र० श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीके अप्रकाशित टिप्पण; आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम्० एस्-सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्ड सबजज, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीनागा परमहंसजी (बाबा श्रीअवधबिहारीदासजी) और बाबा जयरामदास दीनजी आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न पं० रामकुमार-दासजी आदि आधुनिक मानस-विज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओंका सुन्दर संग्रह ।





सम्पादक एवं लेखक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

मा० पी० सु० क—

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१७ चतुर्थ संस्करण ५०००

मूल्य ५.०० (पाँच रुपया)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

(प्रथम संस्करणका)

समर्पण

प्राणप्यारे मातापिता,

आज आपके परमानन्य अद्वितीय दासके चरित्रोंसे पूर्णतया-प्लावित श्रीरामचरितमानसके सुन्दरकाण्डका मानसपीयूष नामक तिलक आपकी इच्छा और आपकी कृपासे छपकर तैयार हो गया। इसमें आपके उन परमोपासकके चरित्र हैं जिनको आपने श्रीमुखसे 'सुत'का पद दिया है--

'अजर अमर गुननिधि सुत होहू' 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'।

जिनके गुणगान आप स्वयं करते हैं और दूसरोंके मुखसे सुनकर भी आप और समस्त देवता परमप्रमोदसे भर जाते हैं; इतना ही नहीं वरन् अपनेको कृतकृत्य मानते हैं जैसा आपके पूज्य भक्त गोस्वामीजीने हम सबको बताया है।

'महाबीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जसु आप बखाना॥'

'जासु गुनगाथ रघुनाथ कह जासु बल बिपुल जल भरित जग जलधि झूरो।'

'तेरे गुनगान सुनि गीरवान पुलकत सजल बिलोचन बिरंचि हरि हर के॥'

और जिनपर आपका प्रेम और आपकी कृपा पराकाष्ठाको पहुँची हुई है जैसा आपके इन वचनामृतोंसे स्पष्ट ही है—

'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥'

'देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ'

यही नहीं वरन् जिनको आपने अपने पंचायतनमें भी शामिल कर लिया है। उन्हीं आपके परमभक्त श्रीहनुमान्‌जीका कुछ चरित्र आपकी दी हुई शक्तिसे किंचित् मात्र गाया है।

पुनः, इसमें जीवमात्रको अभय देनेवाले शरणागतिके वचन आये हैं जो आपके भक्त आपके चरित्रमात्रका साररूप मानते हैं, जिनको सुनकर आपके परमभक्त कृतकृत्य हो गये थे—

'सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागतबत्सल भगवाना॥'

आज उसी श्रीरामचरितमानसके पंचम सोपान सुन्दरकाण्डका 'मानसपीयूष' नामक तिलक आपके ही करकमलोंमें सादर, सप्रेम और सविनय समर्पण करता हूँ। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्'।

तुलसी सं० ३०८

आपका दीन शिशु—

श्रीजनकसुताशरण शीतलासहाय

आवश्यक निवेदन

'मानस-पीयूष' तिलकमें रुपयेमें लगभग बारह आना सामग्री अप्रकाशित टिप्पणियाँ हैं। साकेतवासी पं० रामकुमारजी, प्रो० श्रीरामदास गौड़जी, प्रो० श्रीलाला भगवानदीन ('दीन' जी), पं० रामचरण मिश्र (भयस्सरी; हमीरपुर), श्री० पं० रामवल्लभाशरणजी, मानसी श्रीवन्दन पाठकजी आदिके नामसे जो भाव इसमें दिये गये हैं वे प्रायः सब अप्रकाशित टिप्पण हैं। श्रीरामशंकरशरणजी, श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी, वे० भू० पं० रामकुमारदासजी (श्रीअयोध्याजी) ने जो भाव मानस-पीयूषमें छपनेके लिये लिख भेजे थे, वे भी उनके नामसे इसमें छपे हैं। इसके अतिरिक्त जो उनकी टिप्पणियाँ पत्रिकाओंसे ली गयी हैं, उनमें प्रायः पत्रिकाओंका नाम दे दिया गया है। प्राचीन प्राप्य और अप्राप्य टीकाओंके भाव हमने अपने शब्दोंमें लिखे हैं।

प्रथम संस्करण (तुलसी संवत् ३०८) का वक्तव्य

इस काण्डके 'मानस-पीयूष' तिलकमें बाल, अयोध्या आदि काण्डोंकी शैलीमें कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। इसमें मूल और अर्थके पश्चात् श्री १०८ पं० रामकुमारजी साकेतवासी प्रसिद्ध रामायणी, काशीजीकी अप्रकाशित टीका दी गयी है जो 'टिप्पणी' शब्दद्वारा सूचित की गयी है। सुन्दरकाण्डकी यह पूरी टिप्पणी सम्पादकको श्रीअयोध्यानिवासी रामायणी श्री १०८ महाराज श्रीरामसुन्दरदासजी, छावनी श्रीबाबामणिरामसे प्राप्त हुई। इसके लिये सम्पादक उनका परम कृतज्ञ है—'मोते होइ न प्रति उपकारा। तव पद बंदउँ बारहिं बारा॥'

टिप्पणीके पश्चात् कहीं-कहीं 'नोट' नामसे भी कुछ भाव दिये गये हैं; अथवा, कोष्ठकमें कुछ लिखा गया—यह सब (प्रायः) सम्पादकीय टिप्पण हैं। कहीं-कहीं 'खर्रा', 'मा० त० भ०' या 'पं० रा० कु०' शब्द भी आये हैं। यह भाव भी पं० रामकुमारजीके ही हैं। पं० रामकुमारजीके साफ किये हुए खर्रोंके भाव टिप्पणीमें हैं। इनके अतिरिक्त उनके कुछ पुराने फुटकर खर्रे भी श्री पं० पुरुषोत्तमदत्तजीसे प्राप्त हुए थे; उनके भाव 'खर्रा' 'मा० त० भ०' या 'पं० रा० कु०' से इस काण्डमें जनाये गये हैं।

पाद-टिप्पणीमें अन्य कई प्रकाशित टीकाओंके भाव उन टीकाओंके नामसे दे दिये गये हैं। टीकाओंमें टिप्पणी और खर्रोंमें दिये हुए भावोंके अतिरिक्त बहुत कम भाव मिलते हैं। ये सब टीकाएँ मिलकर भी टिप्पणीके दशांशके बराबर मुश्किलसे होंगी, यह बात प्रिय पाठक स्वयं देख लेंगे। दूसरे पण्डितजी जो भाव कहते हैं उनका समर्थन वा प्रमाण भी वे प्रायः गोस्वामीजीके ही ग्रन्थोंसे देते जाते हैं—यह उनकी शैली सर्वत्र पाठकोंने देखी ही है। उन्होंने कपोलकल्पित या केवल श्रोताओंको रिझानेके लिये रोचकमात्र भावोंका आदर नहीं किया है। यही कारण है कि विद्वान् साहित्यज्ञ और रामायणके सज्ञान विद्यार्थी उनका आदर करते हैं। यह बात विचारकर इस काण्डमें उनके भावोंको अन्यसे पृथक् ही दिया गया है, जिसमें जो लोग केवल पण्डितजीके भाव-वाटिकाकी सैर करना चाहें वे टिप्पणीमात्र पढ़ते जायँ और पाद-टिप्पणी छोड़ दें।

सुन्दरकाण्डका तिलक पूरा छप चुका था उस समय श्रीसीतारामकृपा और उनकी इच्छासे प्रोफेसर श्री पं० रामदास गौड़ एम्० एस-सी० से भेंट हुई। उन्होंने पूरी टिप्पणी देखकर कुछ अपने वैज्ञानिक विचारोंका सत्संग-लाभ सम्पादकको दिया। उन विचारोंको साहित्यज्ञों एवं आजकल पाश्चात्य पण्डिताईसे जिन महानुभावोंके हृदय प्लावित हो रहे हैं उनके लिये विशेष आवश्यक समझकर एक परिशिष्ट भाग छपाकर इसीके साथ अन्तमें लगा दिया है। परिशिष्टके छपनेके समय ज्ञान, भक्ति एवं धार्मिक लेखोंसे पूर्ण प्रसिद्ध मासिक पत्र 'कल्याण' (गोरखपुर) के सम्पादक श्रीयुत् हनुमानप्रसाद पोद्दारजीने 'विभीषण-शरणागति' पर एक लेख (जो कल्याणमें अभी प्रकाशित नहीं हुआ है) कृपा करके भेज दिया। उस लेखमें केवल वह भाग परिशिष्टमें दिया गया है जो टिप्पणीमें नहीं है। साथ ही और भी विचार, जो पूर्व छूट गये थे, यत्र-तत्र दोहा और पृष्ठके अंक दे-देकर छपाये गये हैं। पीयूषके प्रेमी सज्जन परिशिष्टके भावोंको उचित स्थानोंमें पढ़ लें। परिशिष्टके लिये सम्पादक दोनों महाशयोंको हार्दिक धन्यवाद देता है और प्रार्थना करता है कि श्रीसीतारामकृपासे ऐसी ही कृपा लंका और उत्तरकाण्डोंकी टीकामें करते रहें।

इस काण्डमें प्रायः श्रीभागवतदासजीकी हस्तलिखित प्रतिलिपिसे, जो प्रसिद्ध महात्मा श्री १००८ पं० जानकीवरशरणजी महाराजके परमकृपापात्र शिष्य श्री १०८ पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज, सद्गुरुसदन श्रीअयोध्याजीसे सम्पादकको प्राप्त हुई, पाठ लिया गया है। जहाँ कहीं अन्य प्राचीन प्रतिलिपियोंका पाठ उत्तम समझा गया वहाँ पाठान्तरमें श्रीभागवतदासजीका पाठ भी दे दिया गया है। छपनेमें जो श्रीरामचरित-मानसके पाठमें यत्र तत्र अशुद्धियाँ आ गयी हैं उनका शुद्धिपत्र दिया जा रहा है। पाठक उससे पाठ कृपया प्रथम ही शुद्ध कर लें।

संस्कृत ग्रन्थोंके समानार्थी श्लोकोंमें बाबू रणबहादुरसिंहजीकी टीकासे विशेष सहायता ली गयी है।

श्री पं० पुरुषोत्तमदत्तजी एवं मु० हरिजनलालजीसे मालूम हुआ कि श्री पं० रामकुमारजीकी यह अभिलाषा थी कि उनकी टीका छप जाय पर यह अभिलाषा उनके साथ ही गयी। और उनकी टीकाका कुछ भाग यत्र-तत्र जिस-तिस रामायणीके हाथ जो लगा वह उसे गुप्त रखने लगा।...... पर सम्पादक यह बखूबी समझता है, उसको पूर्ण विश्वास रहा है कि यह कार्य प्रभु ही कर या करवा रहे हैं, सम्पादक तो एक निमित्त मात्र है—'केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'। वे प्रभु स्वयं ही अनायास जो-जो सामग्री आवश्यक है एकत्र कर देते हैं। पण्डित रामकुमारजीका पूरा खजाना उन्होंने लाकर दे दिया। प्रकाशित (परन्तु जो उपलब्ध नहीं हैं वे) टीकाएँ अनायास बिना मूल्य ही आ प्राप्त हुईं। जिससे सम्पादकका विश्वास और भी दृढ़ हो गया है।

श्री पं० रामकुमारजीकी आत्मा अपनी अभिलाषाकी, श्रीसीतारामकृपाद्वारा पूर्ति देखकर संतुष्ट हो और इस दीन बालकको श्रीसीतारामचरणारविन्दमें दृढ़ अमल अविरल अनुराग प्रदान करे।

इस अभिलाषाकी पूर्तिमें विशेष सहायक श्री पं० पुरुषोत्तमदत्त, पं० धर्मदत्त और श्री मु० हरिजनलालजी हुए हैं और श्रीरामायणी रामसुन्दरदासजी भी।

अन्तमें आप सज्जनोंसे विनीत प्रार्थना है कि यदि आपको इस तिलकसे कुछ लाभ हो और आप प्रसन्न हों तो इस दीनको भी यह प्रसाद दें जिसकी प्रार्थना है—'सीताराम चरण रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे॥'

श्रीजनकसुताशरण शीतलासहाय।

द्वितीय संस्करणके सम्बन्धमें दो शब्द

मानसप्रेमियोंकी सेवामें आज पूरे तीन वर्षपर मैं श्रीरामचरितमानसके पञ्चम सोपान (सुन्दरकाण्ड) के 'मानस-पीयूष' तिलकका परिवर्धित, संशोधित तथा परिमार्जित द्वितीय संस्करण भेंट कर रहा हूँ।

प्रथम संस्करणके समय दैवयोगसे सुन्दरकाण्ड प्रथम छपा था तब किष्किन्धा, वही घटना इस बार हुई। सुन्दरकाण्ड पहले छपा और किष्किन्धाकाण्ड पीछे।

इस संस्करणमें प्रथम संस्करणके सब भाव तो हैं ही, साथ ही आधुनिक प्रसिद्ध रामायणी मानस-राजहंस श्रीपं० विजयानन्द त्रिपाठीजी (काशी), प० प० प्र० स्वामी श्रीप्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी (उरुण इसलामपुर, दक्षिण सतारा) जो दक्षिण महाराष्ट्र देशोंमें श्रीरामचरितमानसका, मराठी भाषामें व्याख्या करके, प्रचार कर रहे हैं तथा वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी रामायणी (जो लोगोंकी शंकाओंके समाधान तथा दुष्ट कुतर्कोंके उत्तरके लिये सदा सन्नद्ध रहते हैं) के प्रकाशित एवं अप्रकाशित टिप्पण, जो उन्होंने मानस-पीयूषके लिये लिखकर भेजे थे, आपको विशेष रूपसे मिलेंगे।

स्वर्गीय श्रीराजबहादुर लमगोड़ा (श्रीराजारामशरण) जीके पर्याप्त अप्रकाशित टिप्पण जो उन्होंने सुन्दरकाण्डके लिये लिखे थे पाश्चात्य साहित्यके विद्वानोंके तो विशेष कामके होंगे। इनसे वे स्वयं अनुमान कर सकेंगे कि विश्वसाहित्यमें श्रीरामचरितमानसका क्या स्थान है!

उपर्युक्त चारों महानुभावोंने 'मानस पीयूष' के प्रथम संस्करणको पढ़कर आवश्यकतानुसार टिप्पण भी दिये हैं। उनके विचार नवीन थे अतः इस संस्करणमें उनका भी उपयोग कर लिया गया है।

श्रीनागा परमहंसजी (बाँध गुफा, प्रयाग) ने भी 'मानस-पीयूष' के प्रथम संस्करणमें आये हुए विभिन्न विद्वानोंके मतोंकी सुन्दर आलोचना की थी और अपने उस ग्रन्थकी एक प्रति उन्होंने मुझे भी दी थी। मैंने उसका भी पूरा उपयोग

इस संस्करणमें किया है ।

इसके अतिरिक्त दूसरा संस्करण प्रस्तुत करते समय जो कुछ और सूझा मैंने उसे भी लिख दिया है ।

इस काण्डमें एक बात नयी आपको मिलेगी । वह कवियों, पिंगल आदिके ज्ञाताओंके कामकी होगी । मेरी समझके बाहर होते हुए भी मैंने उसे दिया है ! संभव है कि वह मानसकी कुछ चौपाइयोंमें मात्राकी न्यूनताका समाधान कर सके । वह है श्रीव्रजचन्द्र कविजी (बनारस) का १० । १ । १९३७ का छपाया हुआ सुन्दरकाण्ड । इसमें उन्होंने प्रत्येक चौपाईके छन्दका नाम दिया है । अन्तिम पन्नेके अन्तमें यह लेख है—

'इति श्रीरामचरितमानसे कलिकलुषविध्वंसने ज्ञानसम्पादनो नाम पञ्चमः सोपानः । शुभमस्तु सिद्धिरस्तु । श्रीसंवत् १९३८ कार्तिक कृष्ण १० भौम । सोरठा । छन्द जो या सोपानकृत श्रीगोस्वामी सुषद । तिनके नाम सुजान कियो प्रगट व्रजचन्द जन ॥ निज यन्त्रालय माहि छपवायो करि अतिहि श्रम ।·· छन्दनिलच्छन नाम जाहिर पिंगल दास कृत । यातें इहाँ न काम छन्द निलच्छन नाम को ॥ दोहा । नामहि ते लच्छन समुझि लच्छन ही ते नाम । या समुझत हित दासकृत पिंगल ललित ललाम ।'

इस संस्करणमें श्रीरणबहादुरसिंहजीकी टीकाके प्रायः सभी श्लोक अप्रामाणिक समझकर निकाल दिये गये हैं ।

दास उन सभी प्रेमी पाठकों तथा सन्तोंको हार्दिक धन्यवाद देता है जिन्होंने दासकी अत्यन्त रुग्ण वृद्धावस्था देखकर बारंबार आशीर्वाद भेजे हैं । उन्हींके आशीर्वादोंसे यह सेवा हो रही है ।

सबको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि बालकाण्डके प्रथम २२ दोहाओंका तीसरा संस्करण अब नहीं रह गया । वे ३८४ पृष्ठ अब पुनः छप रहे हैं ।

आशा है सुन्दरकाण्डका प्रस्तुत संस्करण श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीके भक्तों एवं प्रेमियोंकी जिज्ञासाका पूरा समाधान कर सकेगा ।

तृतीय संस्करण

श्रीसीताराम-हनुमत-गुरु-कृपासे सुन्दरकाण्डका तृतीय संस्करण आज प्रेमी पाठकोंको भेंट किया जा रहा है । दूसरा संस्करण गुरुपूर्णिमा संवत् २०११ को प्रकाशित हुआ था । चार-पाँच माससे सुन्दरकाण्ड हम लोगोंको न दे सके थे । इसके लिये किसीको दोष देना व्यर्थ है । 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई' । जो वे करते हैं अच्छा ही करते हैं । तृतीय संस्करणके समय २८ पौंडके कागजका दर पूर्व (सं० २०११) की अपेक्षा सवागुना हो गया और बाजारमें अप्राप्य हो गया जिसके कारण कुछ कागज २४ पौंडका ही लगाना पड़ा ।

इस काण्डका पुनर्मुद्रणमात्र हुआ है । केवल जहाँ अशुद्धि मिली उसको शुद्ध कर दिया गया है । और सुन्दरकाण्डका पाठ करनेवालोंके लिये एक वैष्णवरत्न महापुरुष सन्तकी बतायी हुई आशीर्वादित पाठ-विधि लिख दी है ।

सुन्दरकाण्डकी छपाईमें जो अड़चनें महेश प्रेस काशीके एक कारकुनके कारण कई मास पड़ीं, वे श्रीलक्ष्मीचन्द्र गुप्त, लहरतारा, वाराणसीके परिश्रमसे दूर हो गयीं, इस सहानुभूतिके लिये मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ ।

चैत्र शु० ९, सं० २०१५ । —श्रीअंजनीनन्दनशरण

चतुर्थ संस्करण

पू० श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी महाराजने मानस-पीयूषके अधिक प्रचारकी इच्छासे अपना वर्तमान पूरा स्टाक तथा उसके पुनर्मुद्रण एवं विक्रय आदिके सर्वाधिकार स्वेच्छापूर्वक गीताप्रेस, गोरखपुरको प्रदान कर दिये, जिसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं । जो-जो खण्ड जैसे-जैसे समाप्त होते जायँगे, वैसे-वैसे ही उनके पुनर्मुद्रणकी व्यवस्था करनेकी बात है । इसीके अनुसार यह चतुर्थ संस्करण प्रकाशित किया गया है ।

प्रकाशक— गीताप्रेस, गोरखपुर

सुन्दरकाण्डमें आये हुए प्रकरणोंकी सूची

कुछ संकेताक्षरोंका विवरण

अ.—अयोध्याकाण्ड, (संस्कृत ग्रन्थोंका) अध्याय
अ. दी.—अभिप्रायदीपक
अ. दी. च.—अभिप्रायदीपकपर श्रीजानकीशरणजीकृत टीका अभिप्रायदीपक चक्षु
अ. रा.—अध्यात्मरामायण
अ.—अरण्यकाण्ड
आ. रा.—आनन्दरामायण
उ.—उत्तरकाण्ड, उपनिषद्
क.—कवितावली
करु.—करुणासिंधुजी—श्री १०८ बाबा रामचरणदासकृत आनन्दलहरी टीका
का.—काशिराजकी प्रतिलिपि
कि.—किष्किन्धाकाण्ड
को. रा.—कोदवरामजीका गुटका
खर्रा—पं० रामकुमारजीके प्रथम अवस्थाकी हस्तलिखित टिप्पणी
गी.—गीतावली
गीता—श्रीमद्भगवद्गीता
गी. प्र., गीता प्र.—गीताप्रेस गोरखपुर
गौड़जी—प्रोफेसर श्रीरामदास गौड़जी एम्० एस् सी० काशी
चौ.—चौपाई, अर्धाली
छ.—मुं० छक्कनलालजी रामायणी
टि.—टिप्पणी
तै. उ.—तैत्तिरीय उपनिषद्
दीनजी—श्रीलाला भगवानदीनजी हिंदी लेक्चरार काशी-विश्वविद्यालय
दो.—दोहावली, दोहा
नं. प.—श्रीनंगे परमहंस बाबा अवधविहारीदासजी, प्रयाग
न. प्र., ना. प्र.—नागरीप्रचारिणी सभाका रामचरितमानसका प्रथम संस्करण,
पं.—श्रीसन्तसिंहजी पंजाबी ज्ञानी अमृतसर कृत 'मानस-भाव-प्रकाश' टीका जो एक बार १९०१

में छपी थी। संवत् १८७५ से १८८८ तक १३ वर्षमें लिखी गयी।

प. प. प्र.—स्वामी श्रीप्रज्ञानानन्द सरस्वती उरुण इसलामपुर, दक्षिण सतारा।

पं. रा. कु.—पं० रामकुमारजीके खर्रे

पं. रा. गु.-द्वि.—पं० रामगुलाम द्विवेदीजी मिरजापूरीकी प्रतिलिपि जो वंदनपाठकजीने उतारी थी

प. पु.—पद्मपुराण

पाँ., पाँड़ेजी—मुं० रोशनलालकृत प्रयागनिवासी श्रीरामबख्श पाँड़े रामायणीके कथाके भाव

पु.—पुराण

प्र.—रामायणपरिचर्या परिशिष्ट प्रकाश श्रीबाबा हरिहरप्रसादजी कृत (रामनगर, काशी)

प्र. रा.—प्रसन्नराघव नाटक

प्र. स.—मानस-पीयूषका प्रथम संस्करण।

प्र. स्वामी—स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी

बं. पा.—मानसीवंदन पाठकजी रामायणी

बा.—बालकाण्ड

बा. मं. सो.—बालकाण्ड मङ्गलाचरण सोरठा

वीर, वीरकवि—पं०महावीरप्रसाद मालवीयकी टीका

व्र. चं.—कविवर व्रजचन्द्रजी

भा.—श्रीमद्भागवतपुराण

भा. दा.—श्रीभागवतदासजीकी प्रतिलिपि

मं.—मङ्गलाचरण

मं. श्लोक—मङ्गलाचरणका श्लोक

मनु.—मनुस्मृति

मा. त. भा.—मानस तत्त्वभास्कर (पं० रामकुमारजी-की टीकाका नाम)

मा. त. सु.—मा. त. भा. सुन्दरकाण्डपर मानसतत्त्व-सुधार्णवीया व्याख्या संवत् १९७५ की छपी

मा. म.—पं० शिवलालपाठकरचित मानसमयंककी टीका श्रीइन्द्रदेवनारायणसिंहकृत

मा. शं.—श्रीमन्मानसशंकावली (महादेवदत्तकृत)

मा. शं. म.—मुं० जंगबहादुरसिंह (बाबा जयरामदासजी) कृत मानसशङ्का-मोचन

मा. शं. स.—गणपति उपाध्यायकृत मानसशंका-समाधान

मा. सं.—मानस-पीयूषका सम्पादक

मा. हं.—श्रीमन्त यादवशङ्कर जामदारकृत 'मानस-हंस'

यु. कां.—युद्धकाण्ड

र. ब.—श्रीरणबहादुरसिंहकी टीका

रा.—रामायण

रा. कु.—पं० रामकुमारजी

रा. गु. द्वि.—पं० रामगुलाम द्विवेदीजी

रा. प.—श्रीदेवतीर्थ स्वामी काष्ठजिह्वाजी कृत रामायणपरिचर्या

रा. प. प.—रा. प. का परिशिष्ट राजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंहजी काशीनरेशकृत

रा. प्र.—रा. प. प. पर प्रकाश बाबा हरिहरप्रसादजी कृत। संवत् १९५५ में छपा।

रा. ब. दा.—श्रीअयोध्याजी बड़ी छावनीके प्रसिद्ध रामायणी रामबालकदासजी।

रा. व. श.—श्रीजानकीघाटके प्रसिद्ध महात्मा पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज

रा. शं., रा. शं. श.—श्रीबाबा रामशंकरशरणजी व्यास, हनुमतनिवास।

लं.—लंकाकाण्ड

लं. मं.—लंकाकाण्ड मङ्गलाचरण

वा., वा. रा.—वाल्मीकीय रामायण

वाल्मी.—वाल्मीकीय रामायण

वि., विनय—विनयपत्रिका

वि. त्रि.—मानसराजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठी, काशीके अप्रकाशित टिप्पण।

वे. भू.—वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० श्रीरामकुमार-दासजी रामायणी, श्रीअयोध्याजी

बृह.—बृहदारण्यक उपनिषद्

वै.—श्रीबैजनाथजीकृत मानसभूषण टीका सन् १८९० ई० की छपी (प्रथम संस्करण)

वै. सं.—वैराग्यसंदीपिनी

श. सुं. दा.—बाबू श्यामसुन्दरदासजी ना० प्र० सभाकी टीका

श. सा.—ना. प्र. सभाका हिंदी-शब्दसागर कोष प्रथम संस्करण।

शीला, शिला—क्षत्रियकुल गौर अमेठिया वंशके सम्भवतः सत्यनामी संत बाबा हरिदासजीकी टीका 'शीलावृत्ति' के भाव। (सं० १९७४ में साकेतवास हुआ। पुस्तकके अन्तमें उनके मसलविवेकके कई सौ कवित्त हैं।)

श्री. मि.—पं० श्रीधरमिश्रके भाव मा० शं० से

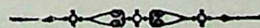
स.—सर्ग

सुं.—सुन्दरकाण्ड

हनु. हनु. ना.—हनुमन्नाटक व्रजरत्न भट्टाचार्यकृत टीकासहित, पञ्चमावृत्ति सं० १९८१

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

स्मरणीय कुछ विषयों और शब्दोंकी अनुक्रमणिका



श्रीगुरवे नमः

अखिल भारतीय श्रीहरि-नाम-यश संकीर्तनके संचालक साकेतनिवासी अनन्त श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद (श्रीरूपकला) जीने अपने प्रेमियोंको सुन्दरकाण्डके पाठकी जो विधि बतायी थी वह प्रेमियोंके भेंट की जाती है—

१—पाठको ! उन्होंने १३ तरंगोंमें विभक्त किया है। पाठका आरम्भ किष्किन्धाकाण्डके अन्तिम दोहा ३० चौ० ३ "**कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना॥**" से करना चाहिये। यहाँसे लेकर सुन्दरकाण्डके अन्त-तकका पाठ सुन्दरकाण्डका विधिपूर्वक सम्पूर्ण पाठ है। इसीसे प्रथम तरंगका 'कहइ रीछपति···' यहाँसे आरम्भ होता है और इति सुन्दरकाण्ड दोहा ३ पर है। अब सब तरंगोंकी इति दी जाती है—

तरंग	इति
(१)	पुर रखवारे देखि बहु कपि मन कीन्ह बिचार।···पैसार॥ सुं० दोहा ३
(२)	अस मैं अधम सखा सुनु मोहूपर रघुबीर।···नीर॥ दोहा ७
(३)	कपिके बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।···दास॥ दोहा १३
(४)	देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु।···खाहु॥ दोहा० १७
(५)	मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।···भगवान्॥ दोहा २३
(६)	जनकसुतहि समुझाइ करि बहुबिधि धीरज दीन्ह।···कीन्ह॥ दोहा २७
(७)	एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर।···बीर॥ दोहा ३५
(८)	राम सत्य संकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि।···खोरि॥ दोहा ४१
(९)	श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।···रघुबीर॥ दोहा ४५
(१०)	जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दसमाथ।···रघुनाथ॥ दोहा ४९
(११)	की भइ भेंट कि फिरि गए श्रवन सुजस सुनि मोर।···तोर॥ दोहा ५३
(१२)	बिनय न मानत जलधि जड़ गए तीन दिन बीति।···प्रीति॥ दोहा ५७
(१३)	सकल सुमंल दायक···दोहा ६० इति रामचरितमानसे···।

पाठ करते समय प्रत्येक तरंगकी इतिवाले दोहेमें—'**महाबीर बिनयउँ हनुमाना। रामजासु जसु आपु बखाना॥ कवन सो काज कठिन जगमाहीं। जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं॥ प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन। जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।**' इन चौपाइयोंका संपुट देते जायँ।

२—मंगलवारको गुग्गुलकी धूप दें, बन्दरोंको चने खिलावें, पुष्पमाला और ऋतुके फल, केले, नारियल तथा मोदक आदि मिष्ठान्न श्रीसीतारामार्पितको श्रीहनुमान्‌जीको निवेदन करें। यह विधि करके पाठ प्रारम्भ करें।

(क) प्रति दिन '**कहइ रीछपति**···'से लेकर सुन्दरकाण्डकी इति तक पाठ 'दैनिक' पाठ है।

(ख) प्रतिदिन पूरा पाठ न हो सके तो अठवारेमें चार आवृत्ति कर ले। विधि यह है—मंगलको पूरा पाठ तरंग १ से १३ तक करे। बुधको तरंग १ से ४ तक। गुरुवारको तरंग ५ से ८ तक। शुक्रको तरंग ९ से १३ तक। शनिको तरंग १ से ४ तक। रविवारको तरंग ५ से ८ तक। सोमवारको तरंग ९ से १३ तक। आठवें दिन मंगलको फिर सम्पूर्ण पाठ आदिसे अन्ततक तेरहों तरंगोंका।

(ग) जिनको इतना भी अवकाश नहीं, वे एक पक्ष (१५ दिन) में तीन आवृत्तियाँ इस तरह कर लें—प्रथम मंगलवारको पूरा पाठ तेरहों तरंगोंका करें। फिर तेरह दिनमें क्रमसे एक-एक तरंगका पाठ करके एक आवृत्ति पूरी कर लें। पंद्रहवें दिन मंगलको फिर सम्पूर्ण पाठ आदिसे अन्ततक (तेरहों तरंगोंका) करें।

ऊपर जो विधियाँ १, २, ३ में लिखी गयी हैं वे (क) (ख) (ग) तीनोंमें लागू होंगी।

इति शुभम्। श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

॥ श्रीः ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्याय ।

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः ।

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्य्यायै श्रीरूपकलादेव्यै ।

श्रीसद्गुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः ।

ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते ।

ॐ साम्बशिवाय नमः । श्रीगणेशाय नमः । श्रीसरस्वत्यै नमः ।

परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः ।

श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः ।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्यो नमः ।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः ।

श्रीसीतारामाभ्यां नमः   श्रीभरताय नमः   श्रीलक्ष्मणाय नमः   श्रीशत्रुघ्नाय नमः

अथ श्री

मानस-पीयूष

(व्याख्या-समन्वित)

श्रीरामचरितमानस पञ्चम सोपान

(सुन्दरकाण्ड)



मंगलमूरति मारुतनंदन। सकल अमंगल मूल निकंदन ॥
पवनतनय संतन हितकारी। हृदय बिराजत अवधबिहारी ॥

श्लोक

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं गीर्वाण*शान्तिप्रदं ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम् ।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम् ॥१॥

अन्वय—अहं शान्तं, शाश्वतं, अप्रमेयं, अनघं, गीर्वाणशान्तिप्रदं, अनिशं ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यं, वेदान्तवेद्यं, विभुं, जगदीश्वरं, सुरगुरुं, मायामनुष्यं हरिं, करुणाकरं, भूपालचूडामणिं, रामाख्यं रघुवरं वन्दे ॥ १ ॥

अर्थ—शान्त, सनातन, प्रमाणरहित, निष्पाप, देवताओंको शान्ति देनेवाले, ब्रह्मा, शम्भु और शेषजीसे निरन्तर सेवित, वेदान्तसे जाननेयोग्य, व्यापक एवं समर्थ, जगत्के ईश्वर (स्वामी), देवताओंके गुरु, माया अर्थात् अपनी इच्छासे मनुष्यरूप धारण किये हुए, हरि, करुणाकी खानि, राजाओंमें शिरोमणि, रघुकुलमें श्रेष्ठ, जिनका राम ऐसा नाम है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

---

* निर्वाण—(ना० प्र०, का०, गी० प्रे०) । निर्वाण पाठसे अर्थ होगा 'मोक्ष और शान्ति वा मोक्षरूपी शान्ति देनेवाले'। यथा—'निर्वानदायक क्रोध जाकर'। गीर्वाण—भा० दा० । प० प० प्र० 'निर्वाण' को उत्तम मानते हैं। वे कहते हैं कि देवताओंको तो शान्ति कभी नहीं मिल सकती, क्योंकि वे स्वार्थी होते हैं। शान्ति प्राप्त होनेपर अवस्था एकरस रहती है।

टिप्पणी—१ 'शान्तं' इति। (क) श्रीरामजी कैसे शान्त हैं, यह 'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयेउ न हरष हरासू॥ २। १४९। ७।' तथा 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य⋯। मं० श्लोक २।' से स्पष्ट है। शान्तसे इन्द्रियोंपर अधिकार, अक्रोधी तथा उनके दर्शनोंसे दूसरोंको शान्तिकी प्राप्ति होना इत्यादि जनाया। वाल्मी० २। १ में 'स तु नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते। उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥ १०॥' यह जो कहा है वह 'शान्त' की ही व्याख्या है। नारद तथा भृगुजी और परशुरामजीके प्रसंगोंमें भी शान्ति देख लीजिये। (ख) इस विशेषणसे ईश्वरता (ऐश्वर्य) सूचित की। शान्त रसकी उपमा ईश्वरकी दी जाती है। यथा—'बैठे सोह कामरिपु कैसें। धरें सरीरु सांतरसु जैसें॥ १। १०७। १।'

(ख) शाश्वत=निरन्तर, सनातन, यथा—'जो तिहुँ काल एकरस अहई। १। ३४१। ८।' अप्रमेय=प्रमाणोंसे परे; अपरिमित; अनन्त। यथा—'आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥⋯सोइ दसरथ सुत भगतहित कोसलपति भगवान। १। ११८।' अनघं=निष्पाप। यथा—'अनघ अनेक एक करुनामय। ७। ३४। २।', 'करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा। १। १३७। ४।' अर्थात् आप पाप-पुण्यसे परे हैं। 'गीर्वाणशान्तिप्रदं' अर्थात् देवताओंको शान्ति देते हैं। यथा—'असुर मारि थापहिं सुरन्ह⋯। १। १२१।', 'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥ ६। १०९। ८।', 'यह दुष्ट मारेउ नाथ भए देव सकल सनाथ।'

इसपर यह शंका होती है कि—'बिना राक्षसोंको मारे देवताओंको शान्ति नहीं मिलती और राक्षसोंके मारनेमें पाप होता है। तब 'अनघ' कैसे कहा?' समाधान यह है कि राक्षसोंके मारनेमें पाप नहीं होता। वे अपने पापसे आप ही नाशको प्राप्त होते हैं। यथा—'बिस्व द्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारगगामी॥ ६। १०९। ४।' इन्द्रने भी ऐसा ही कहा है—'परद्रोहरत अति दुष्ट, पायो सो फल पापिष्ट। ६। ११२।' [☞ बालकाण्ड दोहा १७ में 'सिद्धावस्था और व्यवहार' इस लेखमें विस्तृत रूपसे इस विषयपर प्रकाश डाला गया है। पाठक वहीं देखें।]

(ग) 'ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं' इति। ब्रह्मा, शम्भु और शेष—ये तीनों निरन्तर श्रीरामजीकी सेवा करते हैं, यथा—'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥ १। १२।' पुनः, ब्रह्मा, शम्भु और शेषको कहकर तीनों लोकोंसे सेवित जनाया। ब्रह्मासे ब्रह्मलोक, शम्भुसे मृत्युलोक (मर्त्यलोक) और शेषसे पाताललोक। पुनः, रामजीके दो स्वरूप हैं। एक ऐश्वर्य और दूसरा माधुर्य। ऐश्वर्यरूपमें ब्रह्मादिकोंको सेवक कहा। अब माधुर्यरूपमें उनकी सेवा कहते हैं। अर्थात् श्रीरामजीके ऐश्वर्यरूपकी सेवा तो श्रीब्रह्माजी, श्रीशंकरजी और श्रीशेषजी निरन्तर अपने इसी रूपसे किया करते ही हैं। पर इतनेहीमें संतोष नहीं कर लेते। जब श्रीरामजी मनुष्यरूपसे अवतार ग्रहण करते हैं तब भी ये तीनों उनके इस माधुर्यरूपकी भी सेवा करनेके लिये स्वयं भी अवतरित होते हैं। श्रीब्रह्माजी जाम्बवान्‌रूप और शंकरजी हनुमान्‌रूपसे आकर सेवा करते हैं। प्रमाण, यथा—'जानि रामसेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुषा ते सेवक भये हर ते भे हनुमान॥ दोहावली १४३।' शेषजी लक्ष्मणरूपसे अवतरित होते हैं, यथा—'जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु। २। १२६।' ये तीनों मनसा, वाचा, कर्मणासे श्रीरघुनाथजीकी निरन्तर सेवा करते हैं। यथा—'हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ ४। २६।' (ये ब्रह्माके अवतार जाम्बवान्‌जीके वचन हैं)। यह वचनकी सेवा है। पुनः यथा—'मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल बहई॥उ० ५०।' (यह महाशम्भुके अवतार श्रीहनुमान्‌जीकी इस पृथ्वीपर श्रीरघुनाथजीकी लीलासमाप्तिके समयकी सेवा है। किष्किन्धासे लेकर अन्ततक बराबर इनकी सेवा है)। यह कर्मकी सेवाका एक उदाहरण है। पुनः यथा—'चापत चरन लषन उर लाये। सभय सप्रेम परम सचु पाये॥ १। २२६।' (यह श्रीलक्ष्मणजीकी सेवा है। जन्मसे अन्ततक बराबर इनकी सेवा है। यथा—'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥ (१। १९८।'); यह मनकी सेवा है [इससे यह जनाया कि जिनको उद्भव, पालन और संहारकी शक्ति है, जो ऐसे महान् समर्थ हैं वे भी श्रीरामजीकी निरन्तर सेवा करते हैं जिसमें मायासे बचे रहें, तब इनसे बढ़कर सेव्य कौन होगा? हम सबका कर्तव्य है कि उनका भजन करें, नहीं तो अपार भवसागरमें पड़ना होगा। यथा—'भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते॥ अति दीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्हके पद पंकज प्रीति नहीं॥ ७। १४।' (प० प० प्र०)] (घ)

वेदान्तवेद्यं=वेदान्तसे जानने योग्य। यथा—'ज्ञानगम्य जय रघुराई। १। २११।' विभु=समर्थ। यथा—'**प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। ३। १७।**' रामाख्यं, यथा—'**वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं।**' (बा० मं० श्लो० ६ देखिये)। जगदीश्वर हैं, यथा—'**ते नररूप चराचर ईसा। ३। २५।**'; '**राम रजाइ सीस सबही के। २। २५४।**' [वेदान्तसे जानने योग्य तो हैं, पर 'विभु' होनेसे इस साधनसे ज्ञान होना परम दुर्लभ है क्योंकि '**सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।**'''**तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत। २। १२७।**' विभुका भजन असम्भव है, अतः 'रामाख्य' कहा। अर्थात् वे विभु होनेपर भी, अनाम-अरूप होनेपर भी, भक्तोंपर कृपा करनेके लिये नामरूपधारक बन गये। तथापि वे जगदीश्वर ही हैं, अखिल विश्वपर उनकी ही सत्ता चलती है। (प०प०प्र०)] सुरगुरु हैं, यथा—'**जगद्गुरुं च शाश्वतं। ३। ४।**' गुरु कहनेका भाव **यह है** कि गुरु सर्वोपरि हैं। यथा—'**तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना। १। १११।**' पुनः यथा—'**जय जय सुरनायक जनसुखदायक प्रनतपाल भगवंता। १। १८६।**' (ङ) 'मायामनुष्यं हरिं'=माया (निज इच्छा) से मनुष्यरूप धारण किये हुए हरि हैं। यथा—'**कृपासिंधु मानुष तनुधारी**' [मायाका एक अर्थ 'इच्छा' है। इस अर्थका समर्थन मानससे ही हो जाता है। यथा—'**मम इच्छा कह दीनदयाला। १। १३८।**', '**इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥ १। १५२।**', '**निज इच्छा प्रभु अवतरइ।** कि० २६।' दूसरा अर्थ '**मायामनुष्यं हरिं**' का है कि, 'मायाके कारण मनुष्य-सरीखे देख पड़ते हैं, पर हैं 'हरि' अर्थात् भक्तोंके दुःखको हरनेवाले।' मनुष्यरूप होना यह है कि बाल, कुमार, किशोर, युवा आदि अवस्थाएँ धारण कर लेते हैं और मनुष्योंकी तरह विरह-विलाप आदि चरित भी करते हैं। तीसरा अर्थ 'कृपा' है, यथा—'**कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं। १। १२२।**', '**भये प्रगट कृपाला**' इत्यादि। चौथा अर्थ है ज्ञान—'**माया वयनुं ज्ञानम्**'। गीता ४। ६ के '**सम्भवाम्यात्ममायया**' में के 'माया' शब्दका यही अर्थ है। अर्थात् मैं अपने ज्ञानसे—अपने संकल्पसे प्रकट होता हूँ। भाव यह कि आप अन्य साधारण मनुष्योंकी भाँति जन्म नहीं लेते। आप अपने स्वभावमें स्थित सम्पूर्ण ईश्वरीय स्वभावका त्याग न करते हुए अपने ही रूपको अपने संकल्पसे मनुष्यादिके सदृश आकारमें करके उन मनुष्यादिके रूपोंमें प्रकट होते हैं। (श्रीरामानुजभाष्य)। मिलान कीजिये, '**माया-मानुषरूपिणौ रघुवरौ**' (कि० मं० श्लो० १)] (च) करुणाकर=करुणाके आकर (खानि) तथा करुणाके करनेवाले। यथा—'**करुनाकर राम नमामि मुदा। ६। ११०।**' रघुबर=रघुकुलश्रेष्ठ। यथा—'**रघुकुल मनि दसरथके जाये**', '**रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायेउ माथ। १। ११६।**' भूपालचूड़ामणि=राजाओंमें शिरोमणि, यथा—'**भूपमौलिमनि मंडन धरनी। ७। ३५।**', '**भूमि सप्तसागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥ ७। २२।**' हरि शब्दसे अनेक 'हरि' का बोध होता है। यथा—'**हरिरिन्द्रो हरिर्भानुः।**' इस भ्रमके निवारणार्थ 'रघुबर' विशेषण दिया। पर 'रघुबर' चारों भाई हैं। अतः '**भूपालचूडामणिं**' और '**रामाख्यं**' दोनों कहकर रघुकुलमें अवतीर्ण श्रीरामजीका ही बोध कराया। यथा—'**जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥**' ['हरि' शब्दसे जनाया कि जीवोंके समस्त क्लेशोंके, समस्त पापोंके तथा समस्त जीवोंके मनको हरनेवाले हैं। '**क्लेशं हरतीति हरिः**'। यथा—'**हरिर्हरति पापानि**', '**कथ्यते स हरिर्नित्यं भक्तानां क्लेशनाशनः।**' (महारामायण ५२। ९२)। विशेष बा० मं० श्लो० ६ और १८ (१) '**रामनाम रघुबरको**' देखिये]।

टिप्पणी—२ शान्तकी पुष्टता एकरस होना है। जो सदा एकरस है वही शान्त है। एकरसकी पुष्टताके लिये शाश्वत कहा और इसकी पुष्टताके लिये अप्रमेय कहा। जो सदा है वह अवश्य प्रमाणरहित होगा। जो अप्रमेय है वह अनघ अवश्य होगा और इसीसे वह देवताओंको शान्ति दे सकेगा तथा ब्रह्मादिसे निरन्तर सेव्यमान होगा। इनसे सेवित होनेके कारण वेदान्तद्वारा कथित है। अतएव समर्थ है। इसीसे उसका 'राम' ऐसा नाम है और वह जगदीश्वर है। जगदीश्वर होनेसे देवताओंका गुरु है और इसीसे मायामनुष्यरूप धारण करके उनके क्लेशोंको हरता रहता है। पुनः वे हरि हैं, इसीसे मैं वन्दना करता हूँ। वे करुणाकर हैं, इसीसे रघुकुलमें श्रेष्ठ हैं और रघुकुलमें श्रेष्ठ होनेसे भूपालचूड़ामणि हैं। [अन्तमें '**भूपालचूडामणिं**' पद देकर श्रीरामचन्द्रजीमें अपने अभीष्टकी (जो अगले श्लोकमें कहते हैं।—'**भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥**') पूर्ति करनेकी योग्यता सूचित करके तब आगे याचना करते हैं। जैसे—'**नृपनायक दे वरदानमिदं**' में '**नृपनायक**' कहकर तब ब्रह्माजीने वर माँगा—'**चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं।**' (लं० ११०)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठी जो निष्क्रिय होनेसे शान्त, प्रागभाव-प्रध्वंसाभावके प्रतियोगी होनेसे शाश्वत, स्वयंसिद्ध होनेसे अप्रमेय, पाप-पुण्यसे परे होनेसे अनघ, दैवीसम्पत्तिवाले अथवा देवताओंकी अशान्ति दूर करनेवाले होनेसे 'गीर्वाण-शान्तिप्रद', ब्रह्मा-शम्भु-फणीन्द्रको भी स्व-स्व-कार्य-सम्पादन-शक्तिप्रद होनेसे उनके पूज्य, औपनिषद पुरुष होनेसे वेदान्तवेद्य, जगत्के अभिन्न निमित्तोपादान कारण होनेसे विभु, सबके स्वामी होनेसे जगदीश्वर, वेदादि शास्त्रके आदि उपदेष्टा होनेसे सुरगुरु, इच्छामय नरवेष धारण करनेसे माया-मनुष्य, दुःखोंके दूर करनेवाला होनेसे हरि, करुणा करके लीला-विग्रह धारण करनेसे करुणाकर, रघुकुलमें अवतीर्ण होनेसे रघुवर, राजाओंके आदर्श होनेसे भूपालचूडामणि हैं, वही आनन्दसिन्धु सुखराशि राम हैं।

☞ इस श्लोकके पहिले दो पदोंमें निर्गुणरूप और पिछले दो पदोंसे सगुणरूपका वर्णन किया, इस भाँति सगुण-निर्गुणरूप कहा, और चूडामणि शब्द देकर चूडामणि-प्राप्तिकी कथाका होना ध्वनित किया।

प० प० प्र०—इस श्लोकका सम्बन्ध बा० मं० श्लो० ६ **'यन्मायावश⋯'** से है। जो वहाँ **यत्सत्त्वात्, अशेषकारणपरं, भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां प्लवम्, ब्रह्मादि देवाः** है वही यहाँ क्रमशः **शाश्वतम्, अप्रमेयं, निर्वाणशान्तिप्रदम्, ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यं** है। वहाँ ईशं और माया (वशवर्ति) है तो यहाँ **जगदीश्वरम्, माया-मनुष्यम्** है। **हरिं रामाख्यं** और **वंदे अहं** दोनोंमें हैं।

इसी तरह लंकाकाण्डके श्लोक १ से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है—वहाँके **'योगीन्द्रं १, अजितं २, निर्विकारं ३, भवभयहरणं ४, कामारिसेव्यं ५, ज्ञानगम्यं ६, निर्गुणं ७, रामं ८, ईशं ९, सुरेशम् १०, माया (तीतं) ११, ब्रह्मवृन्दैकदेवम् १२, कन्दावदातम् १३, खलवधनिरतं रामं १४, उर्वीशरूपम् १५** और **वन्दे १६** की जगह यहाँ **शान्तं १, शाश्वतं २, अनघं ३, निर्वाणशान्तिप्रदं ४, ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यं ५, वेदान्तवेद्यं ६, विभुं ७, रामाख्यं ८, जगदीश्वरं ९, सुरगुरुं १०, मायामनुष्यं ११, हरिं १२, करुणाकरं १३, रघुवरं १४, भूपालचूडामणिं १५** और **वन्दे १६** है।—(इस मिलानसे विशेषणोंके भाव स्पष्ट हो जाते हैं)।

प० प० प्र०—बालकाण्डका मं० श्लोक ५ **'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं⋯'** इस पञ्चम सोपानका प्रतिनिधि है, इस काण्डका विषय ध्वनित करता है। इस तरह कि **'सर्वश्रेयस्करीं'** का अर्थ ही **'निर्वाणशान्तिप्रदं'** है। निर्वाण=मोक्ष। शान्ति=सुख। सर्वश्रेयमें मोक्ष और भक्ति दोनोंका अन्तर्भाव है। सुख बिना हरिभक्तिके नहीं मिल सकता। भक्ति ही सुख और शान्ति है। बिना 'क्लेशहरण' के सुख नहीं। उत्तरकाण्डमें कहा है कि **'दारुन अविद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे'**। पर वस्तुतः यह कार्य ब्रह्मविद्यारूपी माया सीतासे ही हो सकता है।

नोट—१ यह श्लोक शार्दूलविक्रीडित वृत्तका है। इस वृत्तके चारों चरण उन्नीस-उन्नीस अक्षरके होते हैं। प्रत्येक चरणमें मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और अन्तमें एक गुरु वर्ण रहता है। मानसमें केवल दस वृत्त इसके आये हैं। विशेष बा० मं० श्लोक ६ पृष्ठ २६, २७ में देखिये।

नोट—२ 'सुन्दरकाण्ड' इति। इस काण्डका नाम 'सुन्दर' क्यों रक्खा गया? इस प्रश्नको उठाकर महानुभावोंने उसके उत्तर अपने-अपने मतिके अनुसार दिये हैं जिनमेंसे कुछ नीचे दिये जाते हैं।

(क) पं० श्रीरामकुमारजीका मत है कि 'त्रिकूटाचलके तीन शिखर हैं। एक 'नील' जिसपर लंका बसी है। दूसरा 'सुवेल' जो मैदान है। तीसरा शिखर 'सुन्दर' है जिसपर अशोकवाटिका है। इस 'सुन्दर' नामक शिखरपर ही यह (सुन्दरकाण्डका) चरित्र हुआ है। इसीसे इसका नाम 'सुन्दरकाण्ड' हुआ। किसी-किसी काण्डका नाम स्थानके सम्बन्धसे है, जैसे कि अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लंका। और किसी-किसीका नाम चरित्रके सम्बन्धसे है, जैसे बाल, अयोध्या और उत्तर।'

(ख) मानसतत्त्वसुधार्णवीव्याख्यामें 'सुन्दर' नामके भाव ये दिये हैं—(१) 'आदिकवि श्रीवाल्मीकिजीने रामचरितकी रचना करनेमें सबसे विलक्षण काव्यशैली अर्थात् जोड़, यमक, छन्द आदि वक्तव्य भावोंको इसमें सुन्दर रूपसे दरसाया है। अतः 'सुन्दर' नाम रक्खा। उसी प्राचीन शैलीको सभी आचार्योंने ग्रहण किया है।' (२) 'इसमें वर्णनीय सब कुछ 'सुन्दर' है। यथा, **'सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे सुन्दरः कपिः। सुन्दरे सुन्दरी वार्ता अतः सुन्दर उच्यते ॥'**

(ग) श्रीरामदयाल मजूमदारजी लिखते हैं कि 'बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड इन नामकरणोंका कारण समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु सुन्दरकाण्ड नामकरणमें मानो कुछ विशेषता है।' अध्यात्मरामायणके अन्तिम श्लोकके प्रथम चरणमें **'रामायणं जनमनोहरमादिकाव्यम्'** अर्थात् रामायणको 'जनमनोहर' (लोगोंके मनोंको हरनेवाली, बहुत ही प्रिय), 'आदिकाव्य' कहा गया है। समस्त रामायण ही 'मनोहर' है। उसके अंदर 'सुन्दरकाण्ड' अत्यन्त मनोहर है। जिस प्रकार महाभारतका विराट्पर्व सर्वश्रेष्ठ अंश है, उसी प्रकार रामायणमें सुन्दरकाण्ड सर्वश्रेष्ठ अंश है। इसके श्रेष्ठ होनेका कारण बतलाते हुए कहा गया है, **'सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे सुन्दरी कथा। सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किन्न सुन्दरम्॥'** अर्थात् सुन्दरकाण्डमें राम सुन्दर हैं, कथाएँ सुन्दर हैं, सीता सुन्दर हैं। सुन्दरमें क्या सुन्दर नहीं है?

इसपर प्रश्न होता है कि, ''सुन्दरमें रामकी कथा तो है नहीं, तब **'सुन्दरे सुन्दरो रामः'** क्यों कहा गया?'' इसका उत्तर यह है कि, सुन्दरकाण्डमें प्रधान चरित्र दो हैं—श्रीसीता और श्रीहनुमान्। श्रीहनुमान्जी तो भक्त हैं। 'श्रीसीताजी क्या हैं?' यह पहले कहा जा चुका है कि श्रीराम और श्रीसीता अभिन्न हैं। **'गिरा अरथ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।'** श्रीसीताजी शक्ति हैं और श्रीराम शक्तिमान्। एक होनेपर भी शक्ति शक्तिमान्की भक्त हैं, सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। क्योंकि श्रीसीताजीका हृदय एक क्षणके लिये भी श्रीरामको नहीं छोड़ सकता। (रावणवधके पश्चात् श्रीसीताजीने अपनेको निष्कलंक साबित करनेके लिये अग्निके समीप जाकर यह वचन कहे थे कि 'यदि मेरा हृदय रघुकुलनन्दन श्रीरामके चरणोंसे क्षणभरके लिये भी दूर नहीं होता तो अखिल विश्वके साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें। इत्यादि)। रामके सौन्दर्यको लेकर ही सीता-त्रैलोक्यसुन्दरी हैं। फलतः राम ही सीता बनकर सुन्दर हो रहे हैं। श्रीराम-तापनीयोपनिषद्में कहा है, **'यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान्, या जानकी भूर्भुवः स्वस्तस्यै वै नमो नमः।'** अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् भगवान् हैं और देवी श्रीजानकीजी भूर्भुवः स्वःरूप व्याहृति हैं। इसलिये उन्हें नमस्कार है, नमस्कार है।

राम ही जानकी हैं, इसीसे रामके सौन्दर्यमें ही राममानस-सरोमरालिकाका सौन्दर्य है। सुन्दरकाण्डमें जिस कुन्तलाकुलकपोलसुन्दरी सीताके रूप और गुणका विकास है, वह क्या जाग्रत् और क्या स्वप्न, सर्वदा श्रीरामके चरण-कमलमें सब कुछ समर्पण किये हुए हैं। इसीलिये कहा गया है **'सुन्दरे सुन्दरो रामः।'**

हनुमान्जीने रावणको अति तुच्छ मानकर कहा था, **'न मे समा रावणकोटयोऽधमाः रामस्य दासोऽहमपारविक्रमः।'** अर्थात् रावण-जैसे करोड़ों अधम मेरी समता नहीं कर सकते। मैं श्रीरामका दास हूँ। अतः मेरे पराक्रमका कोई पार नहीं पा सकता। श्रीरामजीका दास होनेके कारण मुझमें अपार विक्रम है। दास होनेसे जहाँ इतना शौर्य-वीर्य प्रस्फुटित हो उठता है, वहाँ भक्तका सौन्दर्य भगवान्का ही (सौन्दर्य) है। इसीसे **'सुन्दरे सुन्दरो रामः'** कहा गया।

इसका अर्थ तो समझमें आया। परन्तु 'सुन्दरमें सभी सुन्दर है' इसका क्या अभिप्राय है? उत्तरमें कहना होगा कि, 'क्या सुन्दरमें सब सुन्दर नहीं है?' 'शतयोजनविस्तीर्ण, भीमदर्शन, महोन्नततरङ्गसमाकुल, अगाध गगनाकार सागरको लाँघना' से लेकर श्रीराम और श्रीसुग्रीवको श्रीसीताजीका संवाद सुनाना, रामके द्वारा हनुमान्का आलिङ्गन—ये सुन्दरकाण्डकी सभी कथाएँ सुन्दर हैं।' (कल्याण 'शक्ति-अंक'से)।

पं० वि० त्रिपाठीजी—'(१) मनभावन, (२) काँचीपुरी, (३) हनुमत चरित ललाम, (४) सुंदर सानु कथा तथा (५) ताते सुंदर नाम॥' इस काण्डके सुन्दर नाम पड़नेके अनेक कारण हैं। पहले यह कि इसका 'मनभावन' से उपक्रम है। यथा—**'जामवंतके बचन सुहाए। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए॥'** और 'मनभावन' से ही उपसंहार है, यथा—**'निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहि यह मन भायऊ'** इससे सुन्दर नाम पड़ा। दूसरे यह कि यह पाँचवाँ सोपान पाँचवीं मोक्षपुरी काञ्ची है, जिस भाँति काञ्चीपुरीके दो भाग हैं—(१) शिवकाञ्ची, (२) विष्णुकाञ्ची। इसी भाँति इस काण्डमें दो चरित्र हैं—पूर्वार्धमें हनुमत्चरित्र और उत्तरार्धमें रामचरित्र, अतः हरिहरात्मक होनेसे सुन्दर नाम पड़ा। तीसरे इसमें रामायण-महामालाके रत्न हनुमान्जीका चरित्र है, इससे सुन्दर नाम पड़ा। चौथे त्रिकूटाचलके तीन शिखर हैं—(१) नील, (२) सुन्दर और (३) सुवेल। सो इस काण्डमें प्रधानतः सुन्दर शिखरसम्बन्धी कथा है, जिसपर अशोकवाटिका थी, अतः सुन्दर नाम पड़ा और इस काण्डमें सभी कुछ सुन्दर है। इस पार **'सिंधु तीर एक भूधर**

सुंदर', उस पार 'कनक कोटि बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना'। जिस मुद्रिकाको लेकर हनुमान्‌जी चले वह सुन्दर, यथा—'तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर'॥ फल-फूल सुन्दर, यथा—'सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा॥' पाँचवें, यह कथा अति सुंदर है, यथा—'सावधान मन करि मुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥' अतः सुन्दर नाम पड़ना हर तरहसे प्राप्त है।

प० प० प्र०—'सुन्दर' शब्दकी व्युत्पत्ति 'अमरव्याख्या सुधा' में इस प्रकार है—'सु द्रियते। दृङ् आदरे'। इस तरह सुन्दर=बहुत आदरणीय। यद्वा सु उनत्ति, चित्तं द्रवीकरोति। उन्दी क्लेदने'। इस तरह सुन्दर=जिससे चित्त द्रवित हो जाय। इस व्युत्पत्तिकी कसौटीपर सभी काण्डोंके प्रसंगोंको कसनेसे प्रतीत हो जाता है कि 'सुन्दर' नाम केवल इसी काण्डको दिया जा सकता है। इस काण्डमें एक भी प्रसंग ऐसा नहीं है जिससे आदर न उत्पन्न होता हो। बहुत प्रसंग ऐसे हैं जिनसे चित्त भी द्रवित होता है।

हनुमान्‌जीकी वानरोंसे विनय, पर्वतपरसे उड़ान, जलनिधि और मैनाकचरित, मैनाकसे हनुमान्‌जीका व्यवहार, सुरसा-परीक्षा-प्रसंग, छायाग्रह विनाश, फलादिसे सम्पन्न उपवन देखकर भी फलादिका स्पर्श भी न करना, नगर-प्रवेशमें दक्षता, लंकिनीकी स्वकार्यनिष्ठा और दक्षता, तुलसिकावृन्दादिसे स्वभाव निश्चय करनेमें हनुमान्‌जीकी मानवस्वभावज्ञाननीति-निपुणता, हनुमान् विभीषण-मिलन, अशोकवाटिकामें रावणके सम्भाषणके समय हनुमान्‌जीकी स्थिरता और इन्द्रिय-संयम इत्यादि प्रत्येक चरित आदरणीय हैं। त्रिजटाचरित्र, सीता-सान्त्वन इत्यादि आदरणीय तो हैं ही, साथ ही ये प्रसंग हृदयको पिघलाकर पानी-पानी कर देते हैं। अन्य काण्डोंमें यह बात नहीं है। उदाहरणार्थ—बालमें सतीकी अश्रद्धा, पतिके वचनपर अविश्वास, असत्य-भाषण, नारदजीका अहंकार और भगवान्‌को कटुवचन कहना इत्यादि। अयोध्यामें कैकेयी और मन्थराका चरित, भरतजीद्वारा किया हुआ माताका अधिक्षेप, पतिका शव घरमें है और कैकेयी 'सजि आरती मुदित उठि धाई।...' इत्यादि। अरण्यमें सीताजीका मर्मवचन बोलना तथा रावणका चरित। किष्किन्धामें बिना अपराध सुग्रीवके प्राणोंका गाहक तथा अनुजवधूरत होना इत्यादि बालचरित और सगे भाईकी हत्या कराना तथा 'जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ १। २९।' इत्यादि सुग्रीवचरित। लंकामें मंदोदरीका पतिको नीच, निर्लज्ज आदि कहना, वानरोंका 'धरि केस नारि निकारि बाहेर तेति दीन पुकारहीं' यह चरित, इत्यादि। उत्तरकाण्डमें गरुड़-मोह, भुशुण्डिमोह, रामराज्यमें भी सीता-ऐसी पतिव्रताकी निन्दा करना।—ये चरित आदरोत्पादक नहीं हैं।

[☞ सुन्दरकाण्ड नाम क्यों रक्खा गया? यह प्रश्न उठाकर टीकाकारों तथा अन्य महानुभावोंने उसके उत्तर दिये हैं। अतएव यहाँ भी कुछ उद्धरण दिये गये; परंतु मेरी समझमें यह प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता। क्योंकि 'श्रीमद्रामचरितमानस' में काण्डोंके नाम प्रथम सोपान, द्वितीय सोपान, इत्यादि ही रक्खे गये हैं, न कि बाल, अयोध्या इत्यादि। जब रामचरितमानसके इस काण्डका नाम 'पञ्चम सोपान' है, तब उपर्युक्त प्रश्न ही व्यर्थ हो जाता है।]

नान्या स्पृहा रघुपते हृदये * स्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥ २॥

अन्वय—हे रघुपते! अस्मदीये हृदये अन्या स्पृहा न, सत्यं वदामि, च भवान् अखिलान्तरात्मा (अस्ति)। हे रघुपुङ्गव! मे निर्भरां भक्तिं प्रयच्छ, च मानसं कामादिदोषरहितं कुरु॥ २॥

अर्थ—हे रघुनाथजी! मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप सबके अन्तरात्मा हैं। (अन्तर्यामी हैं, अतः सबके हृदयकी जानते हैं कि) मेरे हृदयमें और कोई इच्छा नहीं है। हे रघुकुलश्रेष्ठ! मुझे अपनी परिपूर्ण भक्ति दीजिये और मेरे हृदयको काम आदि (षट्) विकारोंसे रहित कीजिये॥ २॥

टिप्पणी—१ नान्या स्पृहा—अन्य कुछ नहीं अर्थात् ऋद्धि, सिद्धि, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष कुछ भी नहीं चाहता, यथा—'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहउँ निर्बान। जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥ २। २०४॥', 'चहउँ न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥ विनय० १०३॥' सत्यं वदामि, यथा—'सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे। १। ९।' अखिलान्तरात्मा अन्तर्यामी हो, अतः

* हृदयेऽस्मदीये—ना० प्र०।

सबकी जानते हो। यथा—'अंतरजामी प्रभु सब जाना। ७। ३६।' प्रयच्छ=दीजिये। रघुपुङ्गव=रघुकुलमें श्रेष्ठ। यथा—'रघुकुल दीपहिं चलेउ लेवाई। अ० ३८।', 'रघुकुलतिलक जोरि दोउ हाथा। अ० ५२।' ['निर्भरां' इति। निर्भर भक्तिके दो अर्थ होते हैं। एक तो 'परिपूर्ण, अविचल और अतिशय'। यथा—'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥', 'अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।', 'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा॥' (सुतीक्ष्णजीका प्रेम। आ० १०), 'अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥' (उ० ८४), 'तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिये।' (अत्रिजी। आ०)। दूसरा अर्थ है—'वह भक्ति जिसमें मनुष्य अपनी शरीरयात्रा तथा आत्मयात्राके निर्वाहका सम्पूर्ण भार श्रीजानकीनाथके चरणारविन्दोंमें समर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है'। यहाँ दोनों अर्थ है]। कामादि दोष=काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर षट् विकार। इन विकारोंके रहनेसे भगवान्‌की प्राप्ति दुर्लभ है। कहा भी है—'काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर मैं बस ताके॥ आ० १६॥' अर्थात् उनके रहते हुए भगवान् श्रीराम हृदयमें निवास नहीं करते। इसीसे हृदयको कामादि दोषोंसे रहित करनेकी प्रार्थना करते हैं। (पं० रामकुमारजी) [विनयमें भी ऐसी ही प्रार्थना बारंबार की गयी है। यथा—'लोभ ग्राह दनुजेस क्रोध कुरुराज बंधु खल मार। तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार॥' प्रथम 'काम' शब्द देनेका भाव यह है कि षड् रिपुओंमें भक्तिका मुख्य बाधक यही है। यथा—'तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।' इसीसे इनमें भी 'काम' को ही प्रथम कहा गया। उत्तरार्द्धमें योग और क्षेम दोनोंकी याचना की। 'भक्तिं प्रयच्छ' यह योग और 'कामादिदोषरहितं कुरु' यह क्षेम है। भक्तका मन निर्मल होता है पर मायावश कुसङ्गादि पाकर उनका मन भी मैला हो जाता है, यह बा० १। ४। 'जनमन मंजु मुकुर मल हरनी' की टीकामें बताया गया है। देखिये भक्तप्रवर श्रीनारदजीके 'सहज बिमल मन' में कामके जीतनेका अहङ्कार, विश्वमोहिनीकी प्राप्तिका लोभ और उसके न मिलनेपर क्रोध सभी विकार उत्पन्न हो गये थे। काम-क्रोधादि भक्तोंके शत्रु हैं, सदा घातमें लगे रहते हैं। श्रीमुखवचन है—'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥…दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही। ३। ४३। ८-९।' इससे भगवान् कहते हैं कि 'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ ३। ४३। ५॥' इसीसे गोस्वामीजी भक्तिकी याचना करके उसकी कामादिसे रक्षा भी माँगते हैं]।

टिप्पणी—२ (क) 'नान्या स्पृहा' अर्थात् कोई काङ्क्षा नहीं है, यह कहकर अपनेको अकिंचन बताया और इसकी पुष्टताके लिये 'सत्यं वदामि' और 'अखिलान्तरात्मा' कहा। इस प्रकार अपनेको भक्तिका अधिकारी ठहराकर तब भक्ति माँगते हैं। क्योंकि जो कुछ नहीं चाहता वही भक्तिका अधिकारी है, उसीको भक्ति मिलती है। यथा—'बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय नहिं कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बर देइ॥ २। १०२॥' (ख) 'रघुपुङ्गव' कहकर निर्भर भक्ति माँगनेका भाव यह है कि जैसे आप रघुकुलमें श्रेष्ठ हैं वैसे ही श्रेष्ठ भक्ति मुझे दीजिये। भक्ति ही माँगते हैं, क्योंकि इससे बढ़कर कोई लाभ नहीं है। यथा—'लाभ कि कछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना॥ उ० ११२। ८॥'

प० प० प्र०—'भक्तिं प्रयच्छ…' इति। यहाँ यह शंका होती है कि 'यह याचना इसी काण्डमें क्यों की गयी? यह श्लोक श्रीरामवन्दना और श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दनाके बीचमें क्यों रखा?' प्रथम शंकाके समाधानके लिये पिछले चार काण्डोंका सिंहावलोकन अति संक्षिप्त रूपमें करना पड़ेगा। बालकाण्डमें कहा है कि स्वान्तःसुखकी प्राप्ति चाहिये, इसके लिये स्वान्तःस्थ ईश्वरका दर्शन चाहिये। ईश्वर कौन हैं और उनकी प्राप्तिका साधन क्या है यह 'रामाख्यं ईशं हरिं' और 'यत्पादप्लवमेकमेव हि' से बताया। विश्वासाश्रित सात्त्विक श्रद्धासे धर्माचरण करनेसे वैराग्य होता है यह 'भरत चरित करि…बिरति' से बताया। सद्‌गुरु संत संगति बिना श्रद्धा, धर्म, वैराग्य और ज्ञानकी प्राप्ति नहीं यह बा० मं० श्लो० ३ का विषय अरण्यकाण्डमें बताया। वैराग्यादि साधनोंकी प्राप्ति 'राम' महामन्त्रके अनुष्ठानसे होगी यह किष्किन्धाकाण्डमें कहा। जब पूर्वोक्त साधनोंसे मोक्ष-प्राप्तिकी शुभवासना भी निःशेष हो जाती है, तब वह भक्तिका अधिकारी बनता है, यह इस श्लोकमें बताया।

दूसरी शंकाका समाधान यह है कि भक्तिका अधिकारी साधक यद्यपि प्रार्थना कर रहा है सही तथापि केवल उसकी

याचनापर भगवान् उसे वह अनुपम भक्तिरस थोड़े ही दे देंगे। वे देखते हैं कि इसकी पीठपर कौन है, किसका सहारा लेकर यह आया है। किसी महान् भक्तका सहारा लेकर आया होगा तो उसकी मुरव्वतसे देना ही पड़ेगा। अतः अगले श्लोकमें श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दना है जो कैसे बलवान् रक्षक हैं यह श्लोक तथा काण्डभरसे स्पष्ट है। भगवान् जिनके वशमें हैं वही पीठपर हैं। इससे यह जनाया कि श्रीरामभक्तिकी प्राप्तिके लिये इनकी कृपाका सम्पादन आवश्यक है।

२ **'कामादिदोषरहितं कुरु'** कहनेका भाव कि मेरे हृदयमें श्रीसीता-अनुजसहित धनुषबाण धारण करके बसिये, इससे कामादि निकट न आ सकेंगे। यथा—**'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद नाना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥ ५। ४७॥'** इसीसे अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि महर्षियोंने माँगा है कि **'अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम। मम हिय बसहु। ३। ११।'**, **'हृदि बसि राम काम मद गंजय। ७। ३४।'**

नोट—१ यह श्लोक वसन्ततिलकावृत्तमें है। इस वृत्तके प्रत्येक चरण चौदह-चौदह अक्षरके होते हैं। तगण, भगण, दो जगण और अन्तमें दो वर्णगुरु रहते हैं। मानसभरमें केवल दो वृत्त ऐसे आये हैं। एक बालकाण्ड मं० श्लोक ७ में और दूसरा यहाँ। (बा० मं० श्लोक ७ देखिये)।

अतुलित बलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यं* ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ॥ ३ ॥

अन्वय—**अहं अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यं सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं श्रीरघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ॥ ३ ॥**

अर्थ—अतुल बलके स्थान, सोनेके पर्वतके समान कान्ति और शोभायुक्त शरीरवाले, दैत्यरूपी वनके लिये अग्निरूप, ज्ञानियोंमें अग्रगण्य (श्रेष्ठ, प्रधान, शिरोमणि), समस्त गुणोंके खजाना वा समुद्र, वानरोंके स्वामी, श्रीरघुनाथजीके श्रेष्ठ दूत पवनके पुत्रको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ३॥

वि० त्रि०—**'धामं'** यह धामन् शब्दके तद्भवका रूप है, **'अन्त्यस्य हलो नित्यम्'** इस प्राकृत सूत्रसे 'न' का लोप होकर धामं शब्द सिद्ध होता है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ भाषा (प्राकृत) में लिखा गया है, श्लोकादि सब प्राकृतके नियमके अधीन हैं। पूज्यपाद ग्रन्थकारने भाषा शब्दसे प्राकृतका ही ग्रहण किया है, यथा—**'जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने॥'** प्राकृतमें तत्सम, तद्भव और देशोद्भव रूपोंका ग्रहण होता है।

टिप्पणी—१ **अतुलितबलधामं**, यथा—**'पवनतनय बल पवन समाना। ४। ३०।'** **'रामकाज सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धिनिधान। ५। २।'**, **'देखि बुद्धि बल निपुन कपि। ५। १७।'**[महादेवदत्तजी लिखते हैं कि 'धाम (निवास-स्थान) कहनेका भाव यह है कि रघुनाथजी अतुलित बली हैं यथा—**'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई।'** (आ० २) हनुमान्‌जी उनके भी निवासस्थान हैं यथा—**'जासु हृदय आगार बसहिं राम सरचापधर। १। १७।'** 'हनुमंत हृदय वापी मराल।' (विनय० ६४) अतः इनको 'अतुलितबलधाम' कहा।'] स्वर्णशैलाभदेहं=स्वर्णशैल (सुमेरुपर्वतकी)+आभ (कान्तिके समान)+देहवाले यथा—**'कनकभूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा॥ सुन्दरकाण्ड १६।'** **'जातरूपाचलाकारविग्रह। वि० २८।'** आभा=कान्ति, प्रकाश। दनुज वन कृशानु, यथा—**'प्रनवउँ पवनकुमार खलबन पावक ज्ञानवन'**, **'उलटि पलटि लंका कपि जारी।'**, **'रामरोषानलज्वालमालामिष ध्वांतचरसलभसंहारकारी। वि० २७।'** अग्निरूप कहनेका भाव कि अग्नि सबको जला सकती है और उसका कोई कुछ कर नहीं सकता। यथा—**'काह न पावक जारि सक।'** इसी तरह ये लंकाको जलाकर चले गये; इनका कोई कुछ कर न सका। यथा—**'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब तें जारि गयउ कपि लंका। सुन्दर० ३६।'** [**ज्ञानिनामग्रगण्यं**, यथा—**'ज्ञानवन। १। १७।'** **'वन्दे विशुद्धविज्ञानौ'**...। १ मं० श्लो०।', **'तोसो ज्ञाननिधानको सर्वज्ञ बिया रे। वि० ३३।'**, **'वेदान्तवित'**...**'ज्ञानवैराग्य विज्ञानभाजन। वि० २६।'** पं० रामकुमारजीने **'मिला हमहिं कपि गुर बड़ ज्ञानी'** इसका उदाहरण दिया है पर ये वचन व्यंगके हैं अतः उदाहरण नहीं हो सकते] अग्रगण्यं=जिसकी प्रथम गणना है; श्रेष्ठ। **सकलगुणनिधानं** यथा—**'अजर अमर**

* गण्यम्—ना० प्र०। शुद्धरूप यही है। परंतु प्राचीन प्रतिलिपियोंमें 'गण्यं' ही है।

गुननिधि सुत होहू । १७ । ३ ।', 'सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहु हनुमंत । ६ । १०६ ।' बिमल गुन बुद्धि बारिधि बिधाता । वि० २५ ।' वानराणामधीशम्, यथा—'नवतुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ । ५ । ५ ।, यहाँ शंका यह होती है कि वानरोंके राजा तो सुग्रीव हैं । यहाँ हनुमान्‌जीको राजा कैसे कहा ?' इसका समाधान यह है कि राजा-का धर्म रक्षा करना है । हनुमान्‌जीने वानरोंके प्राणोंकी रक्षा की है, इस भावसे उनको अधीश्वर कहा । यथा—'राखे सकल कपिन्ह के प्राना ।' विशेष बा० श्लो० ४ में देखिये । रघुपतिवरदूतम्, यथा—'जलनिधि रघुपति दूत बिचारी,' 'रामदूत मैं मातु जानकी ।' 'वरदूतम्' कहनेका भाव यह कि इन्होंने आज्ञासे अधिक काम किया । यथा—'रामकृपा भा काज बिसेषी ।' 'वातजातम्', यथा—'जीति न जाइ प्रभंजन जाया ।', 'पवनतनय' ।

नोट—१ इस काण्डमें श्रीहनुमान्‌जीका ही कर्तव्य मुख्य है । यह बात कविने इस श्लोकमें ही विशेषणोंद्वारा प्रकट कर दी है । यह बात टि० २ से स्पष्ट हो जाती है । यह मङ्गलाचरण काण्डभरके प्रसंगोंका बीज है । पं० विजयानन्द त्रिपाठी भी लिखते हैं कि इस श्लोकमें सम्पूर्ण हनुमत्-चरितका बीज है । 'अतुलितबलधामम्'से समुद्रोल्लङ्घन तथा सुरसादि-का अतिक्रमण कहा । 'स्वर्णशैलाभदेहम्' से जानकीजीको भरोसा देना कहा, यथा—'कनक भूधराकार सरीरा । समर भयंकर अति रनधीरा । सीता मन भरोस तब भयऊ । 'दनुजवनकृशानुम्' से अक्षादिका वध तथा लंकादाह कहा, 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' से रावणको उपदेशदान कहा; 'सकलगुणनिधानम्' से जानकीजीका आशीर्वाद कहा, यथा—'अजर अमर गुननिधि सुत होऊ', 'वानराणामधीशम्'से इनके द्वारा सब बन्दरोंके प्राणोंकी रक्षा कही, यथा—'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना । राखे सकल कपिन्ह के प्राना ।' 'रघुपतिवरदूतम्' से संदेश देनेकी पण्डिताई कही, यथा—'बूड़त बिरह जलधि हनुमाना । भयउ तात मो कहँ जल जाना', तथा कहे हुए कार्यके अविरोधी अधिक कार्य करना कहा, यथा—'लाँघि सिंधु हाटकपुर जारा । निसिचरगन बधि बिपिन उजारा' इत्यादि । 'वातजातं नमामि' से श्रमरहित होना कहा ।

२—'अतुलितबलधामम्' से जनाया कि इस काण्डमें बल और बुद्धिके ऐसे-ऐसे चरित करेंगे कि जिनकी तुलना-का अन्यत्र कोई न मिलेगा । 'स्वर्णशैलाभदेहम्' से जनाया कि ऐसी भयंकर तप्तकाञ्चन-समान देह धारण करेंगे । यह उनका स्वाभाविक रूप नहीं है । यथा—'रामकाज लगि तव अवतारा । सुनतहि भयउ पर्बताकारा । कनक बरन तन तेज बिराजा । मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा । ४ । ३० । (प० प० प्र०) । अथवा, 'अतुलितबलधामम्' के पश्चात् 'स्वर्णशैलाभदेहम्' कहनेका भाव कि श्रीहनुमान्‌जीमें जैसा अतुल बल है वैसा ही उनका अतुल शरीर है । (पं० रामकुमार)। मा० शं०—कार लिखते हैं कि 'स्वर्णशैलाभदेहम्' का भाव यह है कि सोना अग्निमें नहीं जलता और न विकारको प्राप्त होता है । यथा—'कनकहु पुनि पषान ते होई । जारेहु सहजु न परिहर सोई', कनकहु बान चढ़इ जिमि दाहे ।' इससे जनाया कि इसी प्रकार ये सब लंकाको जलावेंगे, पर स्वयं न जलेंगे । वरंच इनकी कान्ति बढ़ जायगी । पुनः, जानकीजी इनको यह वर देंगी कि 'अजर अमर गुननिधि सुत होहू' । अजरका एक अर्थ यह भी है कि जो जल न सके ।

३—'स्वर्णशैलाभदेहम्' के बाद दनुजवनकृशानुम्'कहनेका भाव कि सोनेके रंगके समान ही अग्निका भी रंग होता है । अग्नि वनको जलाती है । ये राक्षसरूपी वनको जलावेंगे । इस विशेषणसे इनमें वैरभाव एवं अज्ञानका होना सम्भावित होता है; अतः 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्'कहा । इनमें अज्ञानका लेश नहीं है । इसीसे 'दनुजवनकृशानुम्' के बाद ही ज्ञानिनाम-ग्रगण्यम्' कहा गया । विशेष बा० १७ में देखिये । फिर 'सकलगुणनिधानम्' कहकर जनाया कि ये केवल विज्ञानी ही नहीं हैं वरन् ये सर्वगुणसम्पन्न हैं । तात्पर्य यह कि वानरोंमें गुण नहीं होते । पर ये सब गुणोंसे युक्त हैं । इसीसे 'वानराणामधीशम्' कहा । 'रघुपतिवरदूतम्' कहकर शीघ्रगामी भी जनाया । इनकी उत्पत्ति भी शीघ्र गमन करनेवालेसे है । यह व्यक्त करनेके लिये 'वातजातम्' कहा । बा० १७ देखिये । 'नमामि' से मनोरथकी सिद्धि चाहते हैं । इस काण्डके प्रधान देवता (चरितनायक) ये ही हैं । अतएव इनकी वन्दना करके काण्डकी सिद्धि चाहते हैं (पं० रामकुमारजी) ।

४ 'वातजातम्' नामके और भाव ये हैं कि 'वात' (पवनदेव) का बल अप्रमेय है । इसीसे तो वे 'प्रभंजन' कहलाते हैं । वे अजेय हैं, बड़े शीघ्रगामी हैं, सबके शरीरमें प्राणरूपसे रहते हैं । वैसे ही हनुमान्‌जी अतुलित बलधाम हैं, अजेय हैं, अत्यन्त शीघ्रगामी हैं, मनोवेगवान् हैं, सबके प्राणोंके रक्षक हैं एवं पिताके भी रक्षक हैं । यथा—'पवनतनय बल पवन समाना । बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना । (कि०), 'जीति न जाइ प्रभंजन जाया ।' (सुं०); 'जारा नगर

निमिष एक माहीं। (सुं० २६)। लक्षाणां षष्टिरास्ते द्रुहिणगिरिरितो योजनानां हनूमांस्तैलाग्नेः सर्षपस्य स्फुटनरवपरस्तत्र गत्वाऽत्र चैमि। (हनुना० १३। २०); '**राखे सकल कपिन्ह के प्राना।**' (सुं०) तथा 'त्वद्गतानि च सर्वेषां जीवितानि वनौकसाम्।' (वाल्मी० कि० ६७। ३६) अर्थात् सब वानरोंका जीवन तुम्हारे अधीन है। इन्होंने पवनदेवहीको नहीं किंतु समस्त लोकपालोंको रावणके बंदीखानेसे छुड़ाया है। यथा—'**देव बंदीछोर रनरोर केसरीकिसोर।**' (बाहुक)। पवनदेव स्वयं रावणसे भयभीत रहते थे। यथा कवित्तरामायणे—'**समय पुराने पात झरत डरत बात।**' रावणसे पिताकी रक्षा करके सुपूत पुत्र हुए। अतः '**वातजातम्**' युक्तियुक्त ही है। पुनः, बिना आधारके ही समुद्रपार करनेसे भी '**वातजातम्**' कहा।

श्रीमहादेवदत्तजी कहते हैं कि (क) 'वातजात' नामसे वन्दना करके कविने 'भवितव्य' सूचित किया है। यथा—'**जात पवनसुत देवन्ह देखा।**' '**तरकेउ पवनतनय बल भारी**', '**ताहि मारि मारुतसुत बीरा**' (ख) पिताके तुल्य पुत्र होता है, यथा—'**आत्मा वै जायते पुत्रः**'; '**यह तनय मम सम बिनय बल**', '**पवनतनय बल पवन समाना।**' पवनका स्वरूपगुण शीतल है, अतः ये श्रीसीताजीको शीतल करेंगे। यथा—'**तोहि देखि सीतल भइ छाती।**' मा० त० सु० का मत है कि यहाँ अतिशीघ्र गमनसे तात्पर्य है। यथा—'**कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु।**'

पं० श्रीधरमिश्रजी लिखते हैं कि 'यहाँ आठ विशेषणोंसे श्रीहनुमान्‌जीके आठ नामोंकी वन्दना की है। ये आठ नाम हनुमान्‌जीके हैं। इन सबके अन्तमें 'नमामि' कहनेसे यह श्रीहनुमानष्टक होता है। इस काण्डकी कथाओंके उदाहरण जो टिप्पणी १ में इन नामोंके साथ दिये गये हैं उनसे ये आठों नाम स्पष्ट हो जाते हैं।

६—इस काण्डमें शिवजीका मङ्गलाचरण नहीं किया गया। उसके स्थानपर हनुमान्‌जीकी वन्दना की गयी है। ऐसा करके पूज्य कविने दोनोंमें अभेद सूचित किया है। यथा—'**रुद्र देह तजि नेहबस बानर भे हनुमान।**' (दो०), '**देवमनि रुद्र अवतार संसारपाता।** वि० २५।', '**जयति मर्कटाधीस मृगराजविक्रम महादेव मुदमंगलालय कपाली।** वि० २६।', **जयति मंगलागार संसारभारापहर बानराकारविग्रह पुरारी** । वि० २७।' इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि स्वयं शंकरजी श्रीहनुमान्‌रूपसे अवतरित हुए हैं। प्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि अरण्यकाण्ड मं० श्लोकमें '**स्वःसम्भवं शङ्करम्**' शब्द है। स्वःसंभव=वात। इस तरह वातजात=शंकरजात। इस तरह मानससे भी शङ्करावतार सिद्ध हुआ। इस काण्डके चरितको भुशुण्डिजीने द्वादश प्रसंगोंमें समाप्त किया है। उ० ६७ (३-८) देखिये।

शङ्का—सब काण्डोंके आदिमें सोरठा या दोहा देकर प्रारम्भ किया है। पर यहाँ कोई सोरठा या दोहा नहीं दिया। **यह क्यों?**

समाधान १ सोरठा या दोहा विश्रामका सूचक है और यहाँ हनुमान्‌जीने विश्राम नहीं किया। यथा—'**रामकाज कीन्हें बिना मोहि कहाँ बिश्राम।**' जब अपने इष्टदेवको या काण्डके प्रधान नायकको विश्राम करना अभीष्ट नहीं है तब कवि अपने लेखमें विश्राम कैसे दें? अतः श्लोकोंके बाद सोरठा या दोहा न दिया। अथवा इसका कोई नियम नहीं है। कहीं सोरठेसे और कहीं दोहेसे प्रारम्भ किया है। वैसेही यहाँ चौपाईसे ही प्रारम्भ किया।

☞ २ श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दना '**मंजु मालिनी**' वृत्तमें की गयी है। श्रीरामचरितमानसभरमें यह वृत्त केवल एक और यहीं आया है। सम्भव है कि छन्दमें 'मंजु' पद देखकर 'सुन्दर' काण्डमें उसके प्रधान नायक और अपने इष्टदेव श्रीहनुमान्‌जीका मङ्गलाचरण इसी छन्दसे किया हो। इसके चारों चरण १५-१५ अक्षरके होते हैं। इसमें ८ और ७ पर यति होती है और इसका स्वरूप दो नगण, एक मगण और दो यगण ऐसा है।

३ कोई-कोई कहते हैं कि-(क) इस काण्डमें हनुमान्‌जी सुमेरु हैं। यथा—'**कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहु अपर गिरिन्ह कर राजा।**', '**स्वर्णशैलाभदेहम्**', '**कनकभूधराकार सरीरा।**' और प्रकरणमें सोरठा या दोहा सुमेरु कहलाता है। तो सुमेरुपर सुमेरु कैसे रखें? (ख) हनुमान्‌जी रामायणरूपी मालाके सुमेरु हैं। यथा—'**रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्।**' और सब काण्डोंमें यह क्रम है कि सोरठा या दोहासे प्रारम्भ करके सोरठे या दोहेपर समाप्त किया है जैसे माला सुमेरुसे प्रारम्भ होकर सुमेरुपर समाप्त होता है। (ग) यह श्लोक सुमेरुरूप दे दिया। तब सोरठा कैसे दें? (मा० शं०)।

४ मा० शं० स० कारने काण्डको चौपाईसे प्रारम्भ करनेका कारण श्रीहनुमान्‌जीको चौपाया कहा है। यह भाव

नहीं है, अनर्थ है। व्यास लोग भी यह भाव जहाँ-तहाँ कह देते हैं। अतः उसको लिखना पड़ा। उसके सम्बन्धमें हम श्रीत्रिपाठीजीके विचार लिखते हैं—'बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम्' इस उक्तिसे स्पष्ट है कि हनुमान्‌जीको दो हाथ और दो पैर थे। बन्दर चतुर्भुज होते हैं, उन्हें पैर होता ही नहीं, जिसे लोग पैर कहते हैं, भलीभाँति विचारकर देखिये, वे हाथ ही हैं। ऐसी स्थितिमें 'हनुमान्‌जी चौपाया हैं, इससे उनके काण्डको चौपाईसे आरम्भ किया' यह उक्ति अत्यन्त अशोभन है। (मा० शं० स० कारने सम्भवतः यह भाव क० कि० १ 'चारिहू चरनके चपेट चाँपे' से लिया हो।)

'लाँघत भयउ पयोधि अपारा'-प्रकरण

जामवंतके बचन सुहाये। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए॥ १॥

अर्थ—जामवन्तके सुन्दर वचन सुनकर हनुमान्‌जीके हृदयको बहुत अच्छे लगे॥ १॥

वि० त्रि० 'जामवंत···' इति। 'आलिवल्लोल्ला लवन्तेन्तामतुपः' प्राकृत-प्रकाशके इस सूत्रसे जाम्बवान्‌का तद्भवरूप 'जामवन्त' हो गया, तथा 'पक्षे मन्तादेशः' इस सूत्रसे 'हनुमान्' शब्दका तद्भवरूप 'हनुमंत' सिद्ध होता है, इसी प्रकार 'दाढादयो बहुलम्' इस सूत्रसे 'प्रतीक्षहु' का परिखहु' हो गया।

टिप्पणी—१ जामवन्तके वचन किष्किन्धाकाण्डके अन्तमें हैं जो उन्होंने हनुमान्‌जीके 'जामवंत मैं पूछौं तोही। उचित सिखावन दीजै मोही' इन वचनोंके उत्तरमें कहे थे। इस काण्डके आदिमें 'जामवंत के बचन सुहाये' लिखकर किष्किन्धाकाण्डका प्रसंग मिलाया।

२ वचनको 'सुहाये' कहा। क्योंकि इनके वचनोंमें रामचरित्रका वर्णन है। 'सुहाये' विशेषण देकर जनाया कि जितनी प्रपञ्चकी बातें हैं वे सब 'असुहाई' हैं। भगवत्‌भागवतयशकथन ही 'सुन्दर' है और सब 'असुन्दर'। १ 'भागवत-यश'—यथा—'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना॥ पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥' 'रामकाज लगि तव अवतारा'। २ 'भगवत्-यश-यथा—'तब निज भुजबल राजिव नयना। कौतुक लागि संग कपि सैना॥···'परमपद नर पावई।'

३ 'अति भाए' इति। (क) जामवन्तजीने दो प्रकारके वचन कहे। एकमें हनुमान्‌जीका गुण कहा है और दूसरेमें सिखावन। 'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना॥ पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥···सुनतहि भयउ पर्बताकारा।' ये वचन हनुमान्‌जीके गुण हैं, उनकी अपनी प्रशंसाके हैं। पर इनके अन्तमें जो वचन हैं 'रामकाज लगि तव अवतारा' ये भाये; क्योंकि उन्हें स्मरण हो आया कि हमारा अवतार श्रीराम-कार्यके लिये हुआ था; यह हम भूल ही गये थे इत्यादि। भाए, इसीसे 'सुनतहि भयउ पर्बताकारा'। (प० प० प्र० का मत है कि इन वचनोंको 'भाए' कहनेसे समझा जायगा कि हनुमान्‌जी संत नहीं हैं। क्योंकि संत तो 'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। ३। ४६-१।')। आगे सिखावन है। ''एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥ तब निज भुजबल राजिवनयना। कौतुक लागि संग कपि सैना॥···परमपद नर पावई॥'' ये वचन 'अति भाए'। क्योंकि हनुमान्‌जी रामचरितके रसिक हैं। इसीसे हनुमान्‌जीके वचन जानकीजीको सुहाये। दोनोंका मिलान आगे लिखा जायगा। (प० प० प्र० का मत है कि इनमेंसे 'एतना करहु तात···सुधि आई' भाए और शेष अति भाए। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि 'कपि सेन संग संहारि निसिचर राम सीतहि आनिहैं। त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानिहैं', यही जामवन्तजीके 'सोहाये' वचन हैं। ये सबको भाये, पर हनुमान्‌जीको अति भाए। जो बात जिसे अत्यन्त अच्छी लगती है, उसे अवसर पानेपर वह अवश्य दूसरोंसे कहता है। हनुमान्‌जीने ठीक यही बात भगवती जनकनन्दिनीसे कही, यथा—'कपिन्ह सहित ऐहैं रघुबीरा॥ निसिचर मारि तोहि लै जैहैं। तिहुँ पुर नारदादि जस गैहैं। इससे सिद्ध है कि ये वचन हनुमान्‌जीको अत्यन्त अच्छे लगे। पुनः, (ख) 'अति भाए' का भाव कि उनके वचन सभी वानरोंको 'भाए'। पर हनुमान्‌जीको 'अति भाए'; क्योंकि रामचरित-श्रवणके जैसे रसिक ये हैं वैसा दूसरा नहीं है। यथा—'यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्। बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्।', 'जयति रामायण श्रवण संजात रोमांच लोचन सजल सिथिल बानी।' (विनय)। विशेष बा० मं० श्लोक ४ देखिये।

मा० त० सु०—(क) इस चौपाईमें 'सुहाये' शब्दसे 'असुहाये' और 'अति सुहाये' पदोंका भी ग्रहण

होता है। तात्पर्य कि जो 'असुहाये' थे वे 'अनभाए' हुए। 'सुहाये' वचन 'भाए' और 'अतिसुहाये' वचन 'अति भाये'। यह सब श्रीहनुमान्‌जीके वाक्यमें संगठित है। इसका क्रम दिखाते हैं।

	श्रीजाम्बवान्‌जीके वाक्य	श्रीहनुमान्‌जीके वाक्य
१ असुहाये अनभाए	'का चुप साधि रहेउ बलवाना' से 'जो नहिं होइ तात तुम्ह-पाहीं' तक प्रशंसाके वचन।	'सिंहनाद करि बारहिं बारा' से 'आनौं इहाँ त्रिकूट उपारी' तक प्रभुकी आज्ञा-से विरुद्ध है।
२ सुहाए भाए	'रामकाज लगि तव अवतारा'	'जामवंत मैं पूछौं तोही। उचित सिखावन दीजहु मोही॥'
३ अति सुहाये अति भाए	'एतना करहु तात तुम्ह जाई' से 'परमपद नर पावई' तक	

'अति भाए' अर्थात् बहुत प्रिय लगे, उचित जान पड़े। हनुमान्‌जीने सोचा कि मैंने इस शीघ्रतामें कि 'बीते अवधि काज कछु नाहीं।' भविष्य बात कह डाली, मेरे वचन अहंकारयुक्त थे और इन्होंने वर्तमान समयका काम सूचन किया। पुनः इनके वचन प्रभुप्रतापयुक्त हैं एवं प्रभुके वाक्यानुकूल हैं, ('कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु'।) अतः 'अति भाए'।

प्र०—अत्यन्त रुचे क्योंकि इन्होंने अपराध और स्वामि-अपमानसे बचा लिया। जो काम स्वामीको करना है वह सेवक कर डाले तो अपराध है। दूसरे इनके वचनोंसे थोड़े ही श्रममें रघुनाथजीके अनुकूल कार्यकी सिद्धि हो जायगी, अतः 'अति भाए'।

मा० म०—हनुमान्‌जीने जो कहा था कि 'सहित सहाय रावनहि मारी।' यह कार्य उनसे न हो सकता। क्योंकि रावणवध ब्रह्माजीने श्रीरामजीके द्वारा लिखा था। इसे अघटित जानकर जाम्बवान्‌जीने वही कहा जो रघुनाथजीने कहा था, जिससे श्रीजानकीजीका दुःख छूटे और हनुमान्‌जीका परिश्रम सत्य हो। अतः 'अति भाए'।

यह चौपाई यात्राके लिये एक अनुभव सिद्ध मन्त्र है।

तव लगि मोहि परिखहु* तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ २॥
जब लगि आवउँ सीतहि देखी। होइहि† काजु मोहि हरष बिसेषी‡॥ ३॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी बोले) हे भाई! तुम सब दुःख सहकर कन्द, मूल, फल खाकर मुझे तबतक परखना (मेरी राह देखना, प्रतीक्षा करना)॥ २॥ जबतक मैं श्रीसीताजीको देखकर लौट (न) आऊँ। काम अवश्य होगा। (क्योंकि) मुझे विशेष हर्ष हो रहा है॥ ३॥

नोट—१ मा० शं० स० में पं० गणेशदत्तजी लिखते हैं कि 'यत्' शब्दके पश्चात् 'तत्' शब्द कहा जाता है। यथा, 'यत्-तत्', 'जब-तब'। परंतु यहाँ 'तब' के पश्चात् 'जब' का प्रयोग किया गया है। 'तब लगि मोहि' 'जब लगि आवउँ'। इस प्रयोगमें क्या भाव है? और, इसका उत्तर यह देते हैं कि जहाँ कार्यका निश्चय रहता है वहाँ 'जब, तब' कहा जाता है। यहाँ श्रीहनुमान्‌जी अपने आनेका अनिश्चय दिखाते हैं अर्थात् जनाते हैं कि हमारे आनेका निश्चय नहीं है कि कबतक लौट सकें। अतएव 'तब, जब' का प्रयोग हुआ।

टिप्पणी—१ 'परिखहु तुम्ह भाई' इति। (क) हनुमान्‌जी जानते हैं कि सब घबड़ाये हुए हैं, कहीं ऐसा न हो कि हम श्रीसीताजीकी खबर लेने जायँ और इधर ये सब (विलंब हुआ देखकर) अपने-अपने घर चल दें, तो फिर

* परिषेहु—ना० प्र०। † होइहि—मा० दा०, छ०, का०। होइ—ना० प्र०।

‡ 'जामवंत के बचन सुहाए' से 'तब लगि मोहि परिखहु तुम्ह भाई' तक पायकुलक छंद है। 'सहि दुख कंद मूल फल खाई' नयमालिनी है। 'जब लगि आवउँ सीतहि देखी' तामरस है और 'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी' से 'चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा' तक पायकुलक है। (कविवर ब्रजचन्दजी)।

ये बुलानेसे भी न आयेंगे; समझेंगे कि अवधि बीत जानेके कारण सुग्रीव हमें मारनेके लिये बुलाते हैं (और यदि अन्यत्र कहीं जाकर छिप रहे तो हम इन्हें कहाँ-कहाँ ढूँढ़ते फिरेंगे)। अतएव परखनेके लिये आश्वासन देते हुए निहोरा किया। [अथवा, प्रतीक्षा करनेका भाव कि विलम्ब होनेपर 'हमने अकेले हनुमान्‌को भेज दिया, अच्छा नहीं किया, चलो सब लोग उनकी सहायताके लिये त्रिकूटाचल चलें', (यथा—**'अंगद सुनेउ कि पवनसुत गढ़ पर गयउ अकेल। समर बाँकुरा बालिसुत तरकि चढ़ेउ कपि खेल॥'**) ऐसा उद्योग न करना। मेरी प्रतीक्षा करना, क्योंकि कार्यसिद्धि होगी, इसमें संदेह नहीं। यहाँ यह शङ्का ठीक नहीं कि **'निज निज बल सब काहू भाखा। पार जाइ कर संसय राखा॥'** तो सब लोग समुद्र पार कैसे जाते ? उत्तर यही है कि हनुमान्‌जीके लौटनेपर, बन्दरोंमें सलाह हुई कि लङ्का चलकर रावणको युद्धमें जीतकर, सीताजीको लेकर ही रामजीके पास चलना चाहिये, इतने बड़े-बड़े वीरोंका जाकर रामजीसे कहना कि श्रीसीताजीको तो देखा पर ला न सके, शोभा नहीं देता। **'दृष्ट्वा सीता न चानीता इति तत्र निवेदितुम्। अयुक्तमिव पश्यामि भवद्भिः ख्यातपौरुषैः॥** (वा० ६० । ९); । इससे स्पष्ट है कि और लोग भी पार जानेमें समर्थ थे, पर पार जाना ही तो यथेष्ट नहीं था, वहाँ सहज अशङ्क रावणसे भी मुठभेड़की सम्भावना थी, अतः सब लोग **'चंडकर मण्डल ग्रासकर्ता'** हनुमान्‌जीको ही भेजना चाहते थे। इसलिये **'पार जाइ कर संसय राखा'** पार जानेमें संशय रखकर अपना बल कहा। (वि० त्रि०)] (ख) 'भाई' सम्बोधनकी रीति है। यथा—**'जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥** ७ । ४३ ।' **'एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई॥** ७ । ४४ ।', **'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥** ७ । ४५ ।', **'बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई॥** ७ । ४६ ।' (यह सम्बोधन प्यारका है। यथा—**'जग बहु नर सर सरि सम भाई।** १ । ८ । १३ ।', **'जो नहाइ चह एहि सर भाई।** १८ । ३९ । ८ ।' सजातियोंके लिये भी इसका प्रयोग होता है) सब वानर एक जातिके हैं, अतः 'भाई' सम्बोधन दिया।

२ **'सहि दुख कंद मूल फल खाई'** इति। (क) 'सहि दुख' का भाव कि कार्यकी आशा न करके आप सब हमारी राह देखते रहेंगे यह आपको दुःख होगा। इस भावका प्रमाण यह है कि जब हनुमान्‌जी कार्य करके लौटे तब सब सुखी हुए। यथा—**'मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जिमि बारी॥** २८ । ५ ।' [वानरोंको सागर-तटपर कुछ कार्य तो है ही नहीं, स्वभावसे अति चंचल होनेसे स्वस्थ बैठे रहना ही बहुत दुःख है। चिन्तातुर तो रहेंगे ही (प० प० प्र०)। अथवा, शीत-घाम आदिका दुःख सहकर। (प्र०)। बैजनाथजीका मत है कि हनुमान्‌जीका आशय यह है कि जबतक कन्दादि मिलें खाना, जब वे न मिलें तब भी यहाँसे न जाना, दुःख सहकर यहीं रहना]

(ख) **'कंद मूल फल खाई'** इति। कन्दादि खानेको कहनेका भाव कि (पर्वतपर वृक्षोंपर चढ़-चढ़कर फल आदि खाते रहने और मेरी राह देखते रहनेसे जी बहलानेसे अधिक दुःख न होगा। प० प० प्र०। वा,) सब अनशन-व्रत किये हुए थे, यथा—**'अस कहि लवन सिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥'**; इनका अनशनव्रत छुड़ाते हैं जिसमें चले न जायँ और आगे कार्यकी सिद्धि भी कहते हैं जिसमें इन्हें धीरज हो।

नोट—१ वाल्मीकीयमें जाम्बवान्‌जीने हनुमान्‌जीसे कहा है कि **'स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव'** (कि० ६७ । ३५) तुम्हारे आनेतक हम सब एक पैरसे खड़े रहेंगे। इसीपर सबको धैर्य धारण करनेके लिये ये वचन कहे गये हैं। तात्पर्य कि भूखे मरने आदिकी आवश्यकता नहीं है, मैं खबर अवश्य लाऊँगा।

२ मा० श०—कार लिखते हैं कि 'सहि दुख' प्रथम कहकर जनाया कि कुछ दुःख सहोगे तो आगे बहुत खानेको मिलेगा। लंकासे लौटनेपर फिर खूब अघाकर खानेको मिलेगा। यथा—**'तब मधुबन भीतर सब आए। अंगद संमत मधु फल खाए॥** सुं० २८ ॥' और कुछ लोगोंने लिखा है कि यहाँ कन्दादिके खानेका निषेध किया है, पर यह भावार्थ शब्दोंसे प्रसंगानुकूल नहीं है, क्लिष्ट कल्पना है।

श्रीजानकीशरणजी—अ० दी०—कार **'तब लगि''खाई'** पर **'अन जीवन जीवत मृतक उत इत पीवत नीर। भक्षत फल रख चक्षु गहि यह दुख सागर तीर॥ ३॥'** यह दोहा देते हैं जिसका अर्थ है कि मेरे आये बिना यदि तुम चले जाओगे तो सुग्रीवके हाथसे मारे जाओगे। क्योंकि जो पुरुषार्थहीन है वह जीते ही मृतकके समान है। उसके जीवनको

अन जीवन समझो। अतएव यहीं जल पीकर फल खाकर रहना। इसपर शंका होती है कि 'समुद्रतटपर बालू स्थिर नहीं रहती। यहाँ कन्दमूल नहीं होता?', उसपर कहते हैं कि भूख-प्यास जब अधिक लगे तब स्वयं प्रभावाले बिलमें एक दूसरेकी पूँछ पकड़े हुए प्रवेश करके चले जाना, वहाँ फल-मूल बहुत हैं, खाना और आँख बंद करके निकलना, जो युक्ति वहाँसे निकलनेकी तपस्विनीने बतायी थी। समुद्र किनारे दुःख सहना पड़ेगा पर प्राण तो बच जायँगे। भाव यह कि यदि भूख-प्यास सहन न हो सके तब ऐसा करना। (अ० दी० च०)।

टिप्पणी—३ 'जब लगि···' इति। (क) 'जब लगि' कहा, कोई अवधि न दी, जैसे वालीने सुग्रीवको दी थी कि **'परिखेसु मोहि एक पखवारा। नहिं आवौं तब जानेसु मारा॥'**; कारण कि अवधि देते तो इतनी अवधिभर राह देखकर सब लोग निराश हो जाते। इससे हनुमान्‌जीकी व्यवहारपटुता और दूरदर्शिता दर्शित होती है। वालीके अवधिका अनर्थ वे देख ही चुके हैं। (ख) 'आवौं' इति। व्यवहारमें 'न आवौं' ऐसा बोलनेकी रीति है, आजकल ऐसा ही प्रयोग होता है; पर गोस्वामीजीने 'न' निकालकर 'आवौं' ऐसा लिखा। कारण कि संत झूठ नहीं बोलते, यदि हनुमान्‌जीके मुखसे प्रथम यही निकलता कि 'न आवौं' तो वे लौटकर आते कैसे? (इस भावमें 'जब लगि' शब्दका भाव ही जाता रहता है। वास्तवमें ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामीजीके समयमें ऐसा ही प्रयोग होता था। और उदाहरण ये हैं—**'तब लगि बैठ अहौं बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥** १। ५२। २।', **'तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान।** २। ९६।' विशेष २। ९६ में देखिये)। (ग) **'सीतहि देखी'** इति। जबतक श्रीसीताजीकी सुध नहीं मिली थी तबतक 'सुधि' शब्द देते आये। यथा—**'सीता सुधि पूँछेहु सब काहू।** ४। २३। २।', **'इहाँ न सुधि सीता कै पाई।** ४। २६। ४।' **'हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना। नहिं जैहैं जुबराज प्रबीना॥** ४। २६। ९।'; जब सम्पातीसे सुध मिल गयी कि **'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।···सीता बैठि सोचरत अहई॥** ४। २८।' तबसे 'देखि' शब्द देते हैं। यथा—**'सीतहि देखि कहहु सुधि आई।** ४। ३०।', **'जब लगि आवौं सीतहि देखी।'**, **'देखी चहउँ जानकी माता।** ८। ४। इत्यादि। (घ) सम्भव है कि वे संदेह करें कि क्या जानें कि तुम सीताजीको देखकर आओगे या वैसे ही कोरे लौटोगे, उसपर आश्वासन देते हैं कि **'होइहि काज···'**। अर्थात् कार्य अवश्य होगा इसमें संदेह नहीं, क्योंकि मेरे मनमें विशेष हर्ष है, यह शुभ शकुन है। (ङ) ['सीता' नाम देनेका भाव कि किष्किन्धासे चलते समय इन सब वानरोंने यही नाम सुना है, यथा—**'सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीता सुधि पूछेहु सब काहू॥** ४। २३। २।', **'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु।** ४। २३।' यही नाम अंगद और जाम्बवान् तथा सम्पातीसे सुना है, यथा—**'इहाँ न सुधि सीता कै पाई।** ४। २६।' **'सीतहि देखि कहहु सुधि आई।** ४। ३०।' **'तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता।'**, **'सीता बैठि सोचरत अहई।** ४। २८।' इसीसे यही नाम कहा जिसमें सब तुरत समझ जायँ। पुनः भाव कि श्रीसीताजीकी सुध न मिलनेसे सबके हृदय सुग्रीवके भयरूपी तापसे तप्त हो रहे थे; अतएव शीतलताबोधक 'सीता' शब्द देकर जनाया कि इस यात्रासे सबका संताप मिटेगा। (मा० त० सु०)]।

नोट—२ बृहस्पति, गर्ग और अङ्गिरा आदिकी संहिताओं तथा ज्योतिषशास्त्रमें हर्षको शुभ शकुन अर्थात् कार्य-सिद्धिका द्योतक कहा है। गर्गाचार्यजी कहते हैं कि सूर्योदयके पूर्व ही प्रस्थान करना प्रशस्त है। बृहस्पतिका मत है कि यात्राके समय शुभ शकुन हो तो बेधड़क चला जाय। अंगिराजीका मत है कि जिस समय मनमें उत्साह हो उसी समय चल दे और जनार्दनका मत है कि ब्राह्मणवाक्यसे यात्रा करे तो कार्य सिद्ध होता है। यथा—**'ऊषः प्रशस्यते गर्गः शकुनं च बृहस्पतिः। अङ्गिरा मनस उत्साहो विप्रवाक्यं जनार्दनः॥'** यहाँ ब्रह्मावतार जाम्बवान्‌जीके वचन सुनकर हनुमान्‌जीके मनमें बड़ा उत्साह हुआ। भक्तराज जटायुके भाईका आशीर्वाद प्रथम ही हो चुका है—**'पैहहु खोजहु जाहि।** ४। २७। **जो नाघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर॥** ४। २९। १।' तथा भगवान् कृपानिधान जिनको श्रीहनुमान्‌जी हृदयमें रखकर चले थे—**'हनुमत जन्म सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥** ४। २३। १२।', उन्होंने इस समय 'विशेष हर्ष' शुभ शकुन हृदयमें उत्पन्न कर दिया। और इस तरह कार्यकी सिद्धि जना दी (रा० ब०, मा० म०)। आगेकी भी अनेक चौपाइयोंसे इनके हृदयका हर्ष प्रकट होता है। **'आसिष दै सुरसा चली हरषि चले हनुमान'**, **'नवतुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ'** इत्यादि २४ चौपाइयोंमें हर्ष शब्द आनेसे यह

काण्ड मनके उत्साहको बढ़ानेवाला और कार्यसिद्धिका सूचक है। (रा० बा०)।

☞ वाल्मी० ४। ६७। २७ में श्रीहनुमान्‌जीने वानरोंसे कहा है—'बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा। अहं द्रक्ष्यामि वैदेहीं प्रमोदध्वं प्लवंगमाः॥' मैं बुद्धिसे देख रहा हूँ और मनकी चेष्टा (उत्साह) भी वैसी ही है। मैं श्रीसीताजीको देखूँगा। अब आप सब वानरगण आनन्दित हों।—इसीके अनुसार मानसमें 'होइहि काजु…' कहा है। 'हि' निश्चयवाचक होता है।

टिप्पणी—४ 'हरष बिसेषी' इति। विशेष हर्षका भाव कि हर्ष कार्यसिद्धि-सूचक होता है, पर मुझे विशेष हर्ष हो रहा है, इससे निश्चय होता है कि केवल श्रीसीताजीका दर्शन ही नहीं होगा किंतु इससे कुछ अधिक कार्य भी होगा। यथा—'पूँछी कुसल कुसल पद देखी। रामकृपा भा काजु बिसेषी॥ २९। ४।' ('बिसेषी' का अन्वय 'काज' और 'हरष' दोनोंके साथ करनेसे यह अर्थ भी निकल आता है। मानसमें यात्राके समय जहाँ-जहाँ हर्ष कहा है वहाँ-वहाँ कार्यसिद्धि हुई है। जैसे, 'तहँ हिय हरषि चलेउ मनु राजा। १। १४३। ३।', अतः उनकी 'उर अभिलाष…देखिअ नयन परम प्रभु सोई' पूरी हुई। 'हरषि चले मुनि भय हरन। १। २०८।' अतः 'मारि असुर द्विज निर्भय कारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी। १। २१०। ६।' यह कार्यसिद्धि हुई। 'धनुषजग्य सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा॥ १। २१०। १०।', 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया। १। २१२। ४।' फल हुआ कि 'महि पाताल नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥ १। २६५। ५।' इसी तरह अन्यत्र भी देख लीजिये। 'हर्ष' पर कुछ विशेष भाव अरण्यकाण्ड १२ (१) में दिये गये हैं)।

अस* कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा॥ ४॥

अर्थ—ऐसा कहकर सबको मस्तक नवाकर (प्रणाम करके) हर्षित होकर और श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण करके श्रीहनुमान्‌जी चले॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ मन, कर्म और वचन तीनोंसे रामकार्यमें तत्परता दिखायी। 'चलेउ हरषि हिय' यह मन, 'नाइ सबन्हि कहुँ माथा' कर्म और 'अस कहि' यह वचन है। यही सुग्रीवकी आज्ञा भी है, यथा—'मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचंद्र कर काज सँवारेहु॥ ४। २३।' (ख) 'नाइ सबन्हि कहुँ माथा' इति। लोग जब भारी कार्य करनेको चलते हैं तब सबको प्रणाम करके चलते हैं, यह शिष्टाचार है। यथा—'अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई॥ १। ८४।' (कामदेव शिवसमाधि छुड़ाने चला है), 'बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चलेउ सबहि सिरु नाई॥ ६। १८।' (दूत होकर रावणसे बात करने जा रहे हैं), तथा यहाँ 'नाइ…'। अथवा, सब वानर देवता हैं, यथा—'सुर अंसिक सब कपि अरु रीछा। ६। ११३।', 'बानर तन धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ। १। १८७।' और सब रामभक्त हैं, ऐसा समझकर सबको प्रणाम किया।

२ (क) 'चलेउ हरषि' इति। यहाँतक प्रसंगमें हर्षका होना दो बार कहा। एक तो 'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी', दूसरे यहाँ 'चलेउ हरषि'। प्रथम कार्य करनेको सन्नद्ध हुए तब हर्ष हुआ, अथवा श्रीसीताजीके दर्शन होंगे यह समझकर हर्ष हुआ यह 'जब लगि आवौं सीतहि देखी…' से ध्वनित होता है। दूसरी बार श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण करनेका हर्ष हुआ। [(हमारे बड़े भाग्य हैं कि यह सेवा हमें मिली। इस कार्यकी पूर्ति मेरे द्वारा होगी यह समझकर हर्ष है। स्वामीके कार्यमें उत्साह और आनन्द होना ही चाहिये)। अथवा, प्रभुने मुद्रिका देकर इस कार्यको मेरे सुपुर्द किया और जाम्बवान्‌जीने भी मुझे ही इसके योग्य समझकर मुझसे यह काम करनेको कहा; अतएव अपनेको कृतार्थ मान और अपनेमें कार्यसिद्धिकी योग्यता समझकर हर्ष हुआ। (पं०)] ये दोनों हर्ष यात्राके समय, वानरोंसे विदा होकर चलनेके समयके हैं, अतएव कार्यसिद्धिके द्योतक हैं। (ख) 'चलेउ' से जनाया कि महेन्द्रपर्वत अभी कुछ दूर है। (ग) 'हिय धरि रघुनाथा' इति। मस्तक नवाना धर्म है, इसी सम्बन्धसे यहाँ 'रघुनाथ' शब्द दिया गया। यह नाम प्रायः धर्मके सम्बन्धमें प्रयुक्त किया गया है। यथा—'सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धरम धुरंधर रघुकुलनाथा॥ ७। ५।' स्वामिधर्म सेवकमें भी अवश्य आना चाहिये। [किसी भी कार्यके प्रारम्भमें इष्टदेवका स्मरण, हृदयमें धारण

* यह—गी० प्रे०।

करना उपासकोंका परम धर्म और रीति है। किष्किन्धासे चलनेपर भी कहा है—'आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥', 'चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना' (४ । २३)]।

शंका—किष्किन्धासे चलते समय तो हृदयमें धारण ही किया था अब फिर हृदयमें धरना कैसे कहा ?

समाधान—(१) पूर्व 'कृपानिधान' नामसे हृदयमें बसाया था, अब 'रघुनाथ' सहेतुक नामसे बसाया। (२) पूर्व किष्किन्धासे यात्रा करते समय बसाया था, अब शत्रुकी पुरीके लिये यात्रा करते हैं अतः अब विशेष सहायताके लिये पुनः बसाया। वा, (३) जिस सम्पातीने श्रीसीताजीका पता बताया था उसने यह आदेश भी दिया था कि 'तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई॥ ४-२९॥' अतः 'हिय धरि रघुनाथा' कहकर उसके आदेशकी पूर्ति की। वा, (४) पहले जो धारण किया था वह शोकमें भूल गये। प्रमाण यथा—'डरपे गीध बचन सुनि काना। अब भा मरन सत्य हम जाना॥ ४-२७॥' अतएव भूले हुएको पुनः धारण किया। (मा० त० सु०)। वा, (५) 'चलेउ हरषि' इस पदसे स्वबलके उत्कर्षका अभिमान न हो जाय, इसलिये हृदयमें धारण किया। यथा—'सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरष हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥ ३२॥' (मा० त० सु०)। वा, (६) रघुकुलश्रेष्ठ होनेपर भी उनकी स्त्री राक्षसके वशमें 'सोच रत अहई', यह सम्पातीसे सुन चुके हैं, उनको परवशतासे छुड़ाना 'रघुनाथ' जीका परम कर्तव्य है और तन, मन, वचनसे सेवा करना हमारा कर्तव्य है, ये विचार श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें आ गये यह 'रघुनाथ' शब्दसे ध्वनित किया। (प० प० प्र०)।

☞ हृदयमें धरना=ध्यान वा स्मरण करना। नहीं तो इनके हृदयरूपी आगारमें तो सदा ही 'बसहिं राम सर चाप धर'।

सिंधु तीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर॥ ५॥*
बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवन तनय बल भारी॥ ६॥

शब्दार्थ—भूधर=भू (पृथिवी) को धारण करनेवाले=पर्वत। कौतुक=लीलापूर्वक, खेलवाड़में, बिना परिश्रम, अनायास। सँभारी=सँभालकर, स्मरण या ध्यान करके। यथा—'दीनदयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥ २७। ४॥', 'सँभारि श्रीरघुबीर धीर पचारि कपि रावन हन्यो। ६। ९४।', 'बुधिबल निसिचर परइ न पार्‌यो। तब मारुत सुत प्रभु संभार्‌यो॥ ६। ९४॥' तरकना=उछलना, कूदना, यथा—'तरकि पवनसुत कर गहेउ आनि धरे प्रभु पास। ६। ३१।', 'समर बाँकुरा बालिसुत तरकि चढ़ेउ कपि खेल। ६। ४२।'

अर्थ—समुद्रके तटपर एक सुन्दर पर्वत था। उसके ऊपर हनुमान्‌जी अनायास ही कूद (उछल) कर चढ़ गये॥ ५॥ बारंबार रघुबीर श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करके अत्यन्त बलवान् पवनपुत्र हनुमान्‌जी कूदे॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'एक सुंदर' इति। यहाँ पर्वतका नाम नहीं दिया, यह भी सहेतुक है। इस विषयमें अनेक मत हैं। आचार्योंने इस पर्वतके अनेक नाम लिखे हैं। मतभेद होनेसे गोस्वामीजीने कोई नाम नहीं दिया जिसमें सभी आचार्योंके मतका समावेश यहाँ हो जाय, सबके मतकी रक्षा हो जाय। इस पर्वतकी सुन्दरता वाल्मीकीयमें विस्तृतरूपसे वर्णित है, उस समग्र वर्णनको 'सुंदर' पदसे जना दिया है। सिन्धुको पार करना है; इसीसे समुद्रतटके पर्वतपर चढ़े। [पुनः, 'एक' से अन्यका अभाव जनाया। अर्थात् यही एक पर्वत हनुमान्‌जीके कूदनेके योग्य था दूसरा नहीं। (मा० म०)]

नोट—१ ☞ वाल्मीकिजीके मतानुसार यह सुन्दर पर्वत 'महेन्द्राचल' है। यथा—'कोऽपि लोके न मे वेगं प्लवने धारयिष्यति। एतानीह नगस्यास्य शिलासंकटशालिनः॥ ३६॥ शिखराणि महेन्द्रस्य स्थिराणि च महान्ति च। एषु वेगं गमिष्यामि महेन्द्रशिखरेष्वहम्॥ ३७॥' (कि० स० ६७)। अर्थात् कोई पर्वत मेरे वेगको नहीं धारण कर सकता। यह महेन्द्रपर्वत मेरे वेगको सह सकेगा। मैं इसीपरसे कूदूँगा। श्लोक ४० से इस पर्वतकी सुन्दरता कही है कि यह अनेक प्रकारके सदा फूलने-फलनेवाले वृक्षों और लताओं एवं पुष्पोंसे सुशोभित था। सिंह, शार्दूल, मत्त गजराजोंसे युक्त था, सुन्दर बोलीवाले पक्षियोंसे गूँजता था; झरने झर रहे थे, इसपर गन्धर्व स्त्रियोंसहित विहार करते थे। अतएव रामकार्यके उपयोगी एवं शोभन होनेसे 'सुंदर' कहा।

* 'सिंधु तीर एक भूधर सुंदर' ११५९ वाँ भेद, 'कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर' १०६७ वाँ भेद, 'बार बार रघुबीर सँभारी' स्वागता और 'तरकेउ' से 'हनुमाना।' तक पायकुलक छन्द है।

टिप्पणी—२ **'कौतुक कूदि चढ़ेउ०।'** इति। (क) 'कौतुक' पदसे जनाया कि यहाँ बल नहीं लगाया, बल आगे कहेंगे। यथा—**'जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥'** (ख) **'कूदि चढ़ेउ'** इति। जहाँ सब 'वानर' थे वहाँसे पर्वत दूर था इससे वहाँ 'चलेउ' कहा था, अब उसके पास पहुँच गये। अतः अब उसपर उछलकर चढ़ना कहा। पर्वतपर चढ़नेका कारण यह है कि समुद्रको कूदकर लाँघना है, कूदना ऊँचेसे ही बनता है।

३ **'बार बार रघुबीर सँभारी'** इति। (क) पूर्व श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण कर चुके हैं। यथा—**'चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा'**। अब प्रेमके कारण बारम्बार स्मरण करते हैं। इन्होंने प्रभुको बारम्बार स्मरण किया, प्रभु भी इनको बारम्बार स्मरण करेंगे; क्योंकि उनकी रीति है कि **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। गीता।'** [बार-बार स्मरणके और भाव—कार्य गुरुतर था। निर्विघ्नतापूर्वक कार्य सिद्ध करके शीघ्र ही प्रभुके दर्शनकी इच्छा कर रहे हैं अतएव पुनः-पुनः स्मरण करते हैं। (मा० त० सु०) | पुनः, अनन्य भक्तोंकी यह परिपाटी है कि बार-बार स्मरण करते हैं। **'सोवत जागत सरन तुम्हारी।'** (मा० त० सु०)। **'हनुमत जन्म सफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना।'** हनुमान्‌जी जब चले तो हृदयमें श्रीरामजीकी मूर्ति रखकर चले थे। सरकार हृदयमें तो आ जाते हैं, परंतु असावधान होते ही निकल भी जाते हैं, अतः चिन्तकको बहुत सँभाल करना पड़ता है। यहाँ हनुमान्‌जीको समुद्रोल्लंघन करना है, इसलिये रङ्कके धनकी भाँति बार-बार सरकारको सँभालते हैं। यथा – **'मन माधव को नेकु निहारहि। सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों पुनि-पुनि प्रभुहिं सँभारहि॥ विनय०।'** (वि० त्रि०)] (ख) **'रघुबीर सँभारी'** का भाव कि वीररूपका स्मरण किया जिससे शत्रुपर विजय प्राप्त होती है। यथा—**'सँभारि श्रीरघुबीर धीर प्रचारि कपि रावन हन्यो।** ६। ९४।' पुनः। 'रघुवीर' का स्मरण किया जिसमें हमारी वीरता सिद्ध हो, हम वीरतासे सम्पन्न हो जायँ। समुद्रोल्लंघन, राक्षस सुभटोंसे सुरक्षित लङ्कामें प्रवेश आदिमें वीरताका प्रयोजन है। 'रघुवीर' शब्द वीरतासूचक है। जैसे कि, **'सिय रघुबीर बिबाह'** के रघुवीर-शब्दमें धनुर्भंग आदि वीरताका, **'शरण सुखद रघुबीर'** में शरणागतकी रक्षा रावणसे करनेके योग्य वीरताका भाव अन्तर्गर्भित है। (ग) ☞ [इस चरितसे उपदेश देते हैं कि कैसा ही बलवान् या पुरुषार्थी क्यों न हो पर बिना श्रीरघुवीरके स्मरणके कार्य सिद्ध नहीं होता। देखिये लक्ष्मणजी प्रथम बार जब मेघनादसे युद्ध करने गये तब उन्होंने प्रणाम नहीं किया था, अतः शक्तिसे घायल हुए। दूसरी बार **'जब रघुबीर दीन्ह अनुसासन'** तब **'रघुपति चरन नाइ सिर चलेउ तुरंत अनंत। ६। ७४।'**, फल क्या हुआ? जय, मेघनाद-वध। वहाँ श्रीरघुवीरजी समीप थे इससे वहाँ 'नाइ सिर' कहा और यहाँ परोक्ष हैं, अतः यहाँ 'सँभारी' कहा। (मा० त० सु०)। (घ) श्रीरामजी तो सदा हनुमान्‌जीके **'हृदय आगार'** में **'बसहिं सर चापधर'**, सदा ही उनके साथ हैं, बार-बार स्मरण जो प्रभु हृदयमें हैं उन्हींका करते हैं, दूसरेका नहीं। स्मरणके कारण ऊपर लिखे जा चुके हैं]

४ **'तरकेउ पवनतनय बल भारी'** इति। (क) पवनके पुत्र हैं, इसीसे पवनके समान भारी वेग और बल है। यथा—**'पवनतनय बल पवन समाना। ४। ३०।'** भाव कि भारी बल और भारी वेगसे कूदे। (भारी वेग इससे कहा कि वाल्मीकिजी लिखते हैं कि अनेकों बड़े-बड़े वृक्षादि इनके वेगके झोंकेसे उखड़कर इनके पीछे चले)।

नोट—२ इसपर अ० दी० में **'हरी महाबल लखि धरी, गिरि कर गिरितर थाम। ४।'** और मा० म० में **'सो लखि थामे बीर मणि'** इन शब्दोंसे भाव कहा है। अर्थात् महाबलिष्ठ हरिने हनुमान्‌जीके कूदनेपर देखा कि पर्वत नीचे धँस गया, अतएव उन्होंने उस पर्वतको अपने हाथपर सँभाला, थाम लिया। गणपति उपाध्यायजी मा० म० के दोहेका यह अर्थ करते हैं कि 'श्रीरामचन्द्रजीने तर्कना की कि श्रीहनुमान्‌जी बलके भारी हैं, अतः पर्वतको थामा।' पर ये अर्थ खींचतानके हैं। 'सँभारना' और 'तरकना' का प्रयोग ग्रन्थमें बहुत हुआ है। उनका अर्थ स्पष्ट है।

जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥ ७॥

अर्थ—जिस पर्वतपर हनुमान्‌जी चरण दे (रख) कर चले वह तुरंत (तत्क्षण) ही पातालको चला गया॥ ७॥*

* किसी-किसीने अर्थ किया है कि 'जिस पर्वतपर चरण देते थे वह पातालको चला जाता था।' पर यह अर्थ ठीक नहीं है। चरण तो न जाने कितने पर्वतोंपर आगे रखना कहा गया है। कोई पातालको नहीं गये। यथा—**'सैल बिसाल देखि एक आगे। ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे॥ ५। ३। ८।'** इत्यादि। यहाँ भारी बलसे हनुमान्‌जीका कूदना कहा है, उसके प्रभावसे पर्वत धँस गया। अन्यत्र सामान्य कूदना है।

टिप्पणी—१ (क) यह भारी बलका स्वरूप है। जब कौतुक ही पर्वतपर चढ़े तब वह पातालको नहीं गया। जब भारी बलसे कूदे तब पातालको चला गया। (ख) 'तुरंत' से जनाया कि कपिका कूदना और पर्वतका पातालको जाना दोनों एक साथ हुए। (ग) वृक्षपरसे कूदे क्योंकि वृक्ष इनके बलको न सँभाल सकता। (घ) 'चरन देइ' से कूदनेकी रीति दिखायी। अर्थात् चरणोंसे गिरिको दबाकर कूदे। यथा—'**जब अंगदादिन की मति गति मंद भई, पवन के पूत को न कूदिबे को पलु गो। साहसी है सैल पर सहसा सकेलि आइ, चितवत चहुँ ओर औरन को कलु गो॥ तुलसी रसातल को निकसि सलिल आयो, कोल कलमल्यो अहि कमठ को बलु गो। चारिहू चरन के चपेट चाँपे चिपटि गो, उचके उचकि चारि अंगुल अचलु गो॥** क० कि० १।' (ङ) 'तुरंता' शब्दसे यह भी जना दिया कि ये लंका नहीं पहुँचने पाये पर्वत पहले ही पाताल पहुँच गया।

नोट—१ यहाँ शंका होती है कि 'जब पैर देते ही वह पातालको चला गया तो कूदे कहाँसे ? इसका समाधान उपर्युक्त क० कि० १ से होता है। अ० दी० कार इसका समाधान यह करते हैं कि जब हनुमान्‌जीने पर्वतको बलसे दबाया तब वह पातालको चला। यह देख श्रीरामजीने उसे स्वयं थाम लिया जिससे वे कूद सके। पर्वत धनुषके और हनुमान्‌जी बाणके समान हो गये। श्रीजानकीशरणजीका मत है कि आगेकी चौपाई '**जिमि अमोघ रघुपति के बाना। ताही भाँति चला हनुमाना॥**' से दीपककारकी उक्तिका मेल सुन्दर मालूम होता है। अर्थात् श्रीरामजीने पर्वतरूपी बाणको छोड़ा।—धनुषसे हनुमान्‌रूपी पाठकलोग स्वयं विचार लें।

जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही* भाँति चला हनुमाना॥ ८॥

शब्दार्थ—अमोघ=निष्फल न होनेवाले, अचूक, खाली न जानेवाले।

अर्थ—जैसे श्रीरघुनाथजीका बाण अमोघ (चलता) है, इसी प्रकार श्रीहनुमान्‌जी चले॥ ८॥

टिप्पणी—१ श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरघुपतिके बाणोंकी उपमा दी; क्योंकि-(क) हनुमान्‌जी रघुपतिके अनन्य उपासक हैं। दूसरे वीरके बाणकी उपमा न देना यह ग्रन्थकारका सँभाल है। पुनः, (ख) और वीरोंके बाण कभी-कभी व्यर्थ हो जाते हैं; पर रघुनाथजीके बाण कभी व्यर्थ नहीं जाते, छूटे कि लक्ष्यको वेधकर ही लौटते हैं। जैसे रामजीके बाण किसीके रोकनेसे नहीं रुकते और अवश्य कार्य करके लौट आते हैं, वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी मैनाक, सुरसा, सिंहिका और लंकिनी इत्यादिके रोकनेसे न रुकेंगे, कार्य करके लौट आयेंगे और अति शीघ्र श्रीरघुनाथजीके समीप पुनः आ प्राप्त होंगे। (वाल्मीकीय सुं० स० १ में स्वयं श्रीहनुमान्‌जीके वचन इसी आशयके ये हैं—'**यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः॥**''**गच्छेत्तद्वद् गमिष्यामि लंकां रावणपालिताम्।**''**अनेनैव हि वेगेन गमिष्यामि सुरालयम्**''**सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया॥ ३९-४२॥**' अर्थात् जिस प्रकार राघवका छोड़ा हुआ बाण पवनवेगसे जाता है और पराक्रम करके लौटता है, वैसे ही मैं लंकामें जाऊँगा; यदि वहाँ सीताजी न मिलीं तो उसी वेगसे देवलोकमें जाकर ढूँढूँगा। जैसे बनेगा कार्य पूरा करके लौटूँगा)।

टिप्पणी—२ '**एही भाँति चला हनुमाना**' इति। (क) 'एही भाँति' का भाव कि जो और-और प्रकारकी उपमाएँ अन्य कवियोंने दी हैं, वे यथार्थ नहीं हैं यथार्थ 'यही' है। (ख) यहाँ हनुमान्‌जीका चलना कहा। 'हनुमान्' नाम देकर जनाया कि ये मार्गसे लंकातक बहुतोंका मान-मर्दन करेंगे।

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तइँ मैनाक होहि श्रम हारी॥ ९॥

अर्थ—समुद्रने श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरघुनाथजीका दूत विचारकर (मैनाक पर्वतसे कहा) मैनाक ! तू इनका श्रमहारी हो जा। अर्थात् इनको अपने ऊपर विश्राम देकर इनका परिश्रम हर॥ ९॥

टिप्पणी—१ '**जलनिधि**' पदका भाव कि समुद्रने विचार किया कि मैं जलका खजाना (अधिष्ठान) हूँ और ४०० कोसका हूँ। कहीं ये थककर डूब न जायँ। जलमें डूबनेके भयसे श्रम हरनेको कहा। अतः '**जलनिधि**' नाम दिया। '**रघुपति दूत बिचारी**' का भाव कि ये श्रीरघुनाथजीके दूत हैं और मैं रघुपतिके कुलसे उत्पन्न हुआ हूँ, अतः इनकी सहायता करना मेरा कर्तव्य है। यदि मैं सहायता न करूँगा तो सब प्रकारसे निन्दित हो जाऊँगा, कोई मेरा नाम न लेगा। ['**इक्ष्वाकुकुलमानार्थी चिन्तयामास सागरः।** वाल्मी० ५। १। ८७। **साहाय्यं वानरेन्द्रस्य यदि नाहं हनूमतः। करिष्यामि**

* तेही—ना० प्र०, ब० चं०। एही—भा० दा०, छ०।

भविष्यामि सर्ववाच्यो विवक्षताम् ॥ ८८ ॥ अहमिक्ष्वाकुनाथेन सगरेण विवर्धितः । इक्ष्वाकुसचिवश्चायं नावसीदितुमर्हति ॥ ८९ ॥ तथा मया विधातव्यं विश्रमेत यथा कपिः । शेषं च मयि विश्रान्तः सुखी सोऽति तरिष्यति ॥ ८७ ॥ इति कृत्वा मतिं साध्वीं...।' वाल्मीकीयके इस उद्धरणको 'रघुपति दूत बिचारी' से सूचित किया है। इस विचारका उपक्रम 'चिन्तयामास' है और उपसंहार 'इति कृत्वा मतिं' पर है। बीचमें विचार है। अर्थात् 'इक्ष्वाकुकुलके प्रति सम्मान रखनेवाले सागरने इस प्रकार विचार किया कि वानरेन्द्र हनुमान्‌की यदि मैं इस समय सहायता न करूँ तो सब लोग मुझे भला-बुरा कहेंगे। इक्ष्वाकुनाथ सगर महाराजने मुझे बढ़ाया है और यह इक्ष्वाकुवंशीय श्रीरामचन्द्रजीका सचिव है। अतएव इसको कष्ट नहीं होना चाहिये। मुझे ऐसा करना चाहिये जिससे यह वानर विश्राम कर ले। विश्राम करनेके अनन्तर यह शेष मार्ग सुखसे तै कर सकेगा। ऐसा सुन्दर विचार करके गोस्वामीजीने केवल अन्तिम शब्द 'बिचारी' ले लिया। इस तरह वे हनुमान्‌जीका वेग शब्दोंसे दिखा रहे हैं]।

२ '**तहँ मैनाक होहि श्रमहारी**' इति। [(क) मैनाक हिमाचलका पुत्र माना जाता है। यह स्वर्णमय है। इसने हनुमान्‌जीसे अपना वृत्तान्त यों कहा है—'पहले सत्ययुगमें पर्वत पक्षयुक्त होते थे और सब दिशाओंमें गरुड़की तरह उड़ा करते थे। उनके उड़नेसे देवता, मुनि और मनुष्य सभी उनके गिरनेके भयसे भयभीत रहा करते थे। अतएव इन्द्रने हजारों पर्वतोंके पक्ष वज्रसे काट डाले और मेरे पास भी आये। उस समय आपके पिता महात्मा पवनदेवने मेरी सहायता की। मुझे शीघ्र ही अपने वेगसे उड़ाकर समुद्रमें लाकर छिपा दिया।' (वाल्मी० ५।१।११५–११९)। यह पाताल-के विशाल द्वारको रोके रहता था। इसे चारों दिशाओंमें बढ़नेका सामर्थ्य है। (श्लोक ९०-९२)]। (ख) '**तहँ मैनाक होहि श्रमहारी**'—समुद्रके इस कथनका भाव यह है कि मैनाक पक्षधारी पर्वत है और वानर स्वाभाविक ही पर्वतपर विहार करते हैं। अतएव यदि यह बढ़ जाय तो वे स्वाभाविक ही इसपर ठहरकर अपना श्रम निवारण करेंगे। अथवा, (ग) भाव यह है कि 'तुमपर पवनका ऋण है। पवनने तुम्हारा उपकार किया है कि इन्द्रके वज्रसे बचाकर तुमको यहाँ लाकर हमारे जलमें छिपा दिया। तुम भी उनके पुत्रका उपकार करके उनसे उऋण हो जाओ। (वाल्मीकीय सु० सर्ग १ श्लोक १२१-१२८ में जो मैनाकके वाक्य हनुमान्‌जीके प्रति हैं उनसे भी यही आशय निकलता है। यथा—'**पूजिते त्वयि धर्मज्ञ पूजां प्राप्नोति मारुतः ॥ तस्मात्त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम्।१२२। ततोऽहं मानयामि त्वां मान्यो हि मम मारुतः ॥ त्वया मे ह्येष संबन्धः कपिमुख्य महागुणः।**' अर्थात् आपकी पूजासे वायुकी पूजा हो जाती है, अतः आप मेरे पूजनीय हैं; इसका कारण सुनिये।...इसीलिये मैं आपका सम्मान कर रहा हूँ। आप मुझपर और समुद्रपर कृपा करके मेरी पूजा स्वीकार करें)।

नोट—१ मैनाकसे ही क्यों कहा? क्योंकि उसके भीतर जितने जलचर हैं वे कोई आकाशगामी नहीं हैं और न यह सामर्थ्य ही किसीमें है कि हनुमान्‌जीको सँभाल सके। इस समय श्रीहनुमान्‌जी बहुत ऊपर आकाशमें हैं और मैनाक पक्षधारी है तथा शीघ्र उनतक पहुँच सकता है। दूसरे, उसपर पवनका ऋण है उनसे उऋण होनेकी इच्छा उसे अवश्य होगी।

टिप्पणी—४ शंका—'जलनिधि श्रीरामजीके पास न आया और उनके दूतको विश्राम देना चाहता है, यह क्यों?' समाधान—(क) अयोध्याकाण्डमें दिखाया है कि श्रीरामजीसे रामभक्तका मार्ग अधिक सुखदायी हुआ। यथा—'**किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात। तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात ॥ २१६।**' वैसा ही यहाँ जानिये। (ख) हनुमान्‌जीके पराक्रमको देख रहा है, इससे विश्राम देता है, और श्रीरघुनन्दनजीने तो परम माधुर्य-मय वचन कहे हैं जिससे उसे उनकी ईश्वरतामें भ्रम हो गया, इसीसे उनके पास न आया। परन्तु जैसे ही उनका पराक्रम देखा वैसे ही डरा हुआ आया। (ग) समुद्रके दो तट हैं। दोनोंपर एक-एक शत्रु है। दक्षिण तटपर रावण है जिसे मारनेको तो रामजी जाते ही हैं और उत्तर तटपर साठहजार आभीर जो चोर हैं) वास करते हैं। उनके वधका उपाय विचार-कर न आया कि जिसमें श्रीरामजी रोषपूर्वक बाणका अनुसन्धान करें तब बाण छोड़नेके पहले ही, मेरे शरणमें जा प्राप्त होने-से, उसी बाणसे मैं उन सबका वध करा सकूँगा। इस चतुराईसे प्रथम ही न आ गया। क्योंकि वह जानता है कि श्रीरघुपति-का बाण अमोघ है, धनुषपर चढ़नेपर फिर व्यर्थ नहीं जायगा।

☞ **पर्वतोंके बढ़नेका वैज्ञानिक रहस्य**—कल्पके आरम्भमें अर्थात् इस वर्तमान श्वेतवाराह कल्पके उदय होनेके

पूर्व कल्पकालोंमें अबसे २ करोड़ ४४ लाख वर्ष पहले, इस धरतीकी अत्यन्त उत्तप्त दशा थी। अग्निके उत्तप्त सागरके मन्थनसे चन्द्रमाका पिण्ड धरतीसे अलग हो चुका था। उस समय भी पत्थर और कच्ची धातुएँ कुछ वायव्य और अधिकांश द्रव और अर्धघन-दशामें थीं। उस समय विशाल पर्वत तरलरूपमें जलती हुई वायुके झोंकोंसे इधर-उधर उड़ते फिरते थे। लाखों वर्षतक यही अवस्था रही। परन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था और धरतीका ताप घटता जाता था त्यों-त्यों वायुमण्डलमेंसे वायव्य धातुओं और पत्थरोंका द्रव जलरूपमें जमकर बरसता जाता था और यह द्रव भी जमकर ठोस होता जाता था। जब पृथ्वी १२०० दर्जेतक ठण्डी हुई तब उसके ऊपरी तलका चिप्पड़ ठोस और अचल हो गया और पहाड़ भी स्थान-स्थानपर अचल हो गये। फिर भी भूगर्भके भीतर बड़वानलसे उत्तप्त पहाड़ "चल" रह गये जो अबतक कहीं-कहीं धरतीपर और अत्यधिक महासागरोंके भीतर ज्वालामुखके रूपमें मौजूद हैं। आज भी इनके चलनेसे भूकम्प हो जाता है और धरती फट जाया करती है, कितने टापू डूब जाते हैं और कितने नये निकल आते हैं। अभीतक वैज्ञानिक खोजियोंने भूकम्पके किसी नियमका पता नहीं लगा पाया है कि वह उसके सम्बन्धमें कोई भविष्यवाद कर सकें। यह चलनेवाले पहाड़ या भूगर्भका बड़वानल अपनी मरजीसे जब चाहे उपद्रव खड़ा कर देते हैं। इन्द्र मेघोंके राजा हैं और वर्षाके देवता हैं। पुराणोंमें लिखा है कि इन्द्रने पहाड़ोंके पर काट दिये। इससे पहले सभी पहाड़ उड़ते थे। पवन देवताने मैनाकको ले जाकर समुद्रमें छिपाया इससे इसके पंख बाकी रह गये। मैनाककी कथा पिछले त्रेतायुगकी है जिसको कम-से-कम १५-१६ लाख बरस हो गये होंगे। परंतु पर्वतोंके पंखोंके काटे जानेकी कथा उससे अत्यन्त पूर्वकी है। कोई सवा दो करोड़ बरस पूर्वकी। गौड़जी)

दो०—*हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
रामकाजु कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥ १॥

अर्थ—श्रीहनुमानजीने उसे हाथसे स्पर्श किया, फिर उसको प्रणाम किया (और कहा—) श्रीरामचन्द्रजीका काम पूरा किये बिना मुझे विश्राम कहाँ ?॥ १॥

टिप्पणी—१ मैनाकने मनुष्यरूप धरकर बातें कीं। यथा—'मानुषं धारयन्रूपमात्मनः शिखरे स्थितः। दुष्करं कृतवान्कर्म त्वमिदं वानरोत्तम॥ १११॥ निपत्य मम शृङ्गेषु विश्रमस्व यथासुखम्। वाल्मी० ५। १।', अर्थात् मनुष्यरूप धरकर अपने शिखरपर बैठकर बोला कि मेरे शिखरोंपर आकर विश्राम कर लीजिये, आपने बड़ा दुष्कर कार्य किया है। श्रीहनुमान्‌जीने हाथसे स्पर्श करके मैनाकका सम्मान किया और उसे इन्द्रसे अभय कर दिया। वाल्मीकीयमें यह कथा है कि इन्द्रने स्वयं आकर मैनाकसे कहा कि 'हनुमान‌जीको प्रसन्न करनेसे हम तुमपर प्रसन्न हुए। अब हमसे तुमको भय नहीं है।' यथा—'देवताश्चाभवन्हृष्टास्तत्रस्थास्तस्य कर्मणा॥ काञ्चनस्य सनाभस्य सहस्राक्षश्च वासवः। उवाच वचनं श्रीमान्परितोषात्सगद्‌गदम्॥ सुनाभं पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः। हिरण्यनाभशैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम्॥ अभयं ते प्रयच्छामि तिष्ठ सौम्य यथा सुखम्॥ सुं० सर्ग १। १३७—१४०।'

२—'हनूमान तेहि परसा कर०' इति। पहले हाथसे स्पर्शकर सम्मान किया; यथा—'करसरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल अनुग्रह करेऊ॥' और मैनाक देवता है तथा हनुमान्‌जीके पिताका मित्र है। अतः उसे बड़ा जानकर पूज्यदृष्टिसे प्रणाम किया। (प्रणाम विदा होनेका है। प्रणाम करके चल दिये)।

नोट—१ हनूमान तेहि परसा कर' इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मैनाकने अपना परिचय और पवनका अपने ऊपर उपकार बताकर हनुमान्‌जीसे प्रेमसे दिया हुआ अतिथि-सत्कार और विश्राम स्वीकार करनेको कहा। तब श्रीहनुमान्‌जी बोले—'प्रीतोऽस्मि कृतमातिथ्यं मन्युरेषोऽपनीयताम्। त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्तते। प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा॥ ५।१।१३१-१३२॥' अर्थात् मैं बहुत प्रसन्न हूँ। आपने अतिथिसत्कार किया। मेरे न ठहरनेसे आप

* इस दोहेके पूर्व 'सिन्धु बचन उर आनि तुरत उठेउ मैनाक तब। कपि कहुँ कीन्ह प्रनाम पुलकित तनु कर जोरि कर॥' यह सोरठा काशी और ना० प्र० में है। अन्य प्राचीन प्रतियोंमें नहीं है।

यह दोहा १२-११ मात्राओंके विश्रामसे है। इसीसे इसके पहले और तीसरे चरणमें एक मात्राकी कमी जान पड़ती है। प्र० चं० इसे दोहरा कहते हैं।

बुरा न मानें। मुझे कार्यकी बड़ी त्वरा है, दिन बीत रहा है। मैंने रास्तेमें न ठहरनेकी प्रतिज्ञा की है।' ऐसा कहकर हाथसे पर्वतको छुआ। 'तेहि कर परसा' के पूर्व उपर्युक्त वार्ताका अध्याहार कर लेना चाहिये। किस हाथसे परसा यह वाल्मी०, अ० रा०, आ० रा० में भी नहीं बताया है पर सम्मान दाहिने हाथसे ही किया जाता है, इसको दक्षिण हाथ समझना चाहिये।

आ० रा० सार० ९ में यह भी लिखा है कि जब हनुमान्‌जीने विश्राम करना स्वीकार न किया तब मैनाकने पुनः-पुनः प्रार्थना की कि अपने स्पर्शसे ही मुझे पवित्र कीजिये। इसपर श्रीहनुमान्‌जीने हाथके अग्रभागसे उसके शिखरको स्पर्श किया। यथा—'**विश्रामः स्वामिकार्येऽत्र न करोम्यन्नभक्षणम्। मैनाकस्तं पुनः प्राह स्वस्पर्शात् पावयस्व माम्॥ ११॥ तथेति स्पृष्टशिखरः कराग्रेण ययौ कपिः। १२।**' इसका भी अध्याहार 'परसा कर' के पूर्व कर लेना चाहिये।

नोट—२ यहाँ '**रघुपति दूत बिचारी**' के बाद एकदम '**तइँ मैनाक होहि श्रमहारी**' कहा और मैनाकका श्रीहनुमान्‌जीतक जाना, उनसे फलादि खाने और कुछ देर विश्राम कर लेने तथा श्रीहनुमान्‌जीका विश्राम करना स्वीकार न करनेकी बात न कहकर केवल '**हनूमान तेहि**' '**बिश्राम**' इतने शब्दोंसे सारी कथा कही गयी। इससे कवि हनुमान्‌जीका वेग दिखा रहे हैं। समुद्र वेगको देख रहा है, मैनाकको संकेतसे ही सब कह दिया। '**तइँ मैनाक होहि श्रमहारी**' इतना कहते समयमें ही हनुमान्‌जी आधी दूर पहुँच गये। मैनाकका भी वेग दिखाया कि इतना सुनते ही वह हनुमान्‌जीके निकट पहुँच गया। प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि यहाँ 'मैनाकसे कहा, "मैनाकने हनुमान्‌जीसे क्या कहा' इत्यादि सब शब्द अध्याहृत रखनेमें भाव यह है कि इतने शब्द लिखनेमें जितना समय व्यतीत हो जाता उतनेमें हनुमान्‌जी मैनाकको छोड़कर आगे बढ़ जाते और तब विचारसे भी उनका अनुगमन करना अशक्य हो जाता। इतना संक्षेप और इतना अध्याहार मानसमें अन्यत्र कहीं भी नहीं है।"

३ (क) '**रामकाज कीन्हें**' '**बिश्राम।**'—अर्थात् श्रीरामजीका कार्य सिद्ध करके ही विश्राम लूँगा, पहले नहीं। इस वाक्यसे स्पष्ट है कि मैनाकने विश्राम करनेको कहा था। अ० रा० में इस प्रकार कहा है—'**गच्छतो रामकार्यार्थं** … **विश्रामो वा कथं मे स्याद् गन्तव्यं त्वरितं मया। ५। १। ३३।**' उपर्युक्त वाल्मी०, अ० रा०, आ० रा० से मिलान कीजिये। देखिये मानसके वाक्यमें कितना लालित्य है। पढ़ते ही चित्त द्रवित हो जाता है। (ख) '**कहाँ बिश्राम**' से यह भी जनाया कि मुझे श्रम ही नहीं हुआ जो मैं विश्राम करूँ।

टिप्पणी—३ समुद्रके आज्ञा देनेके साथ ही मैनाक तुरंत हनुमान्‌जीके पास पहुँच गया। इसी शीघ्रताको दिखलानेके लिये मैनाकका चलना और पहुँचना नहीं कहा। केवल हनुमान्‌जीका हाथसे स्पर्श करना कहा। इतनी शीघ्रता करनेपर भी हनुमान्‌जी ५० योजन समुद्र पार कर गये थे। समुद्रके बीचमें मैनाकसे भेंट हुई। मैनाक समुद्रके बीचमें रहता है। इस प्रसङ्गसे यह भी दिखाया कि रामभक्तको जलमें भी ठहरनेका स्थल मिल जाता है और हरिविमुख थलमें भी डूब मरते हैं जैसे कर्णका रथ पृथ्वीमें ही डूब गया। समुद्रने इनके श्रम हरनेकी इच्छा की, ये उसके मनोरथको भविष्यमें पूरा करेंगे जब 'रामकाज' कर चुकेंगे, यथा—'**पूँछ बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि।**'; '**राम काज कीन्हें बिनु**' से यहाँ यह बात सूचित कर दी है कि कार्य करके विश्राम लेंगे। मैनाकको प्रेरित करना यह समुद्रका उपकार है।

नोट—४ कोई-कोई मैनाकका प्रणाम करना कहते हैं। पर 'पुनि' उपर्युक्त अर्थका साधक है। 'कर' दीपदेहली है। (प्र०)

नोट—५ '**रामकाज कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम**' इति। मैनाकपर हाथ फेरकर हनुमान्‌जीने उसका संतोष किया और कृतज्ञता प्रकट की। फिर प्रणामकर प्रतीकार करके वे बोले कि '**रामकाज कीन्हे बिनु**' '।

☞ हमको इससे कैसे महत्त्वकी शिक्षा मिलती है। जिस कार्यको उठाया उसे पूरा किये बिना दम लेना कैसा? कैसा भी प्रलोभन आगे आये पर क्या मजाल कि वह चित्तकी वृत्तिको विमोहित कर सके! मनस्वी और कार्यार्थी पुरुषोंका चरित्र ऐसा ही होता है। उनमें स्वामिकार्यमें तत्पर सेवकोंका धर्म जैसा होना चाहिये उसके श्रीहनुमान्‌जी महाराज परम आदर्श हैं। उस आदर्शके सम्मुख मैनाकका क्षुद्र प्रलोभन क्या कर सकता है, श्रीरामदूतके चरितपर विशेष ध्यान देना चाहिये। हमको उनके चरित्रसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जो लोग किसी महत्कार्यको करना चाहते हैं और

जिन्हें किसी कर्तव्य पथपर पैर रखना है, वे हमारे परम इष्टदेव भगवान् मारुतिके दौतकार्यको सम्यक् प्रकारसे अध्ययन और मनन करें ।

परमार्थ-मार्गमें भी यह शिक्षा है । जब कोई मनुष्य परमार्थ-मार्गपर आरूढ़ होने लगता है तब प्रथम उसके सम्बन्धी प्रेमके नातेसे विघ्न डालते हैं जैसे मैनाकने हनुमान्‌जीके पिता पवनदेवके उपकारको मानकर अपना प्रेमका सम्बन्ध जनाकर उनसे विश्राम कर लेनेको कहा था । ऐसे ही परमार्थपथारूढ़को अपने ध्येयसे किसी सुहृद्‌के कहनेसे भी कदापि न डिगना चाहिये ।

जात पवनसुत देवन्ह देखा । जानै कहुँ बल बुद्धि बिसेषा ॥ १ ॥
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता । पठइन्हि आइ कही तेहि बाता ॥ २ ॥

अर्थ—देवताओंने पवनसुत हनुमान्‌जीको जाते हुए देखा । उनके विशेष बल और बुद्धिको विशेष जाननेके लिये ॥ १ ॥ उन्होंने सुरसा नामकी सर्पोंकी माताको (बलबुद्धिकी परीक्षाके लिये) भेजा । उसने आकर हनुमान्‌जीसे यह बात कही ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'जात''' इति । ज्यों ही हनुमान्‌जी चले त्यों ही समुद्रने मैनाकको और देवताओंने सुरसा भेजा, नहीं तो यदि किंचित् भी विलम्ब हो जाता तो ये पार पहुँच जाते । 'जात' शब्दसे पाया गया कि देवता इसी पार हैं । (स्वर्गमें बैठे हुए भी देवता ऐसा ही प्रयोग करेंगे । आवश्यक नहीं है कि वे समुद्र-तटपर देखने आते । वे वहींसे देख रहे हैं । प० प० प्र०) । 'पवनसुत' पदसे जनाया कि पवनके समान बल और वेगसे जा रहे हैं । यथा—'**चला प्रभंजन सुत बल भाषी । ६ । ५५ ।**' 'देवन्ह' बहुवचन है । इससे जनाया कि परीक्षा लेनेमें सब देवोंका सम्मत है । (वाल्मी० ५ । १ । १४४ में '**ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः**' जो कहा है वही यहाँ 'देवन्ह' से सूचित कर दिया है । सबका आपसमें विचारना अ० रा० ५ । १ के '**परीक्षणार्थं सत्त्वस्य वानरस्येदमब्रुवन् ।'''एवं विचार्य'''** । ९ । १० ।' इससे स्पष्ट है । विचार आगे नोट १ में दिये हैं) ।

२ '**जानै कहुँ बल बुद्धि बिसेषा**' इति । बल-बुद्धि जाननेका भाव यह है कि इन्हीं दोनोंसे शत्रु जीता जाता है । यथा—'**नाथ बैरु कीजै ताही सों । बुधि बल सकिय जीति जाही सों ॥ ६ । ६ ॥**', '**देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु । ५ । १७ ।**' 'विशेष' का भाव यह है कि उनके 'सामान्य' बल-बुद्धिको तो देवता पहलेसे ही जानते हैं, जाम्बवान्‌के मुखसे सुन चुके हैं । यथा—'**पवनतनय बल पवन समाना । बुधि बिबेक बिग्याननिधाना ॥**' और जन्मसमय आँखोंसे भी देख चुके हैं । उन्होंने सूर्यको ग्रास कर लिया और इन्द्रके वज्रको भी सह गये, यथा—'**जयति जय बालार्क कपिकेलि कौतुक उदित चंडकर मंडल ग्रासकर्त्ता । राहु रबि सक्र पवि गर्व खर्बीकरन सरन भयहरन जय भुवनभर्त्ता ॥** वि० २५ ॥'; पर इस समय हनुमान्‌जी उन राक्षसोंके यहाँ जा रहे हैं जो इन्द्र, सूर्य आदि देवताओंको जीत चुके हैं । अतः उनके विशेष बल और बुद्धिको देखना चाहते हैं जिससे विश्वास हो कि वे मेघनाद-रावणादि प्रबल शत्रुओंसे अपनी न्यूनता फजीहता न कराकर लौटेंगे । (पं०) । कूदना, छलांग मारना आदि तो वानरोंके स्वाभाविक धर्म हैं । यह विशेषता नहीं देखना चाहते, प्रत्युत बल-बुद्धिकी विशेषता देखना चाहते हैं । [पुनः, विशेष परीक्षा इससे चाहते हैं कि पवन भी तो रावणको डरता है तब ये तो उनके पुत्र ही हैं । (प्र०) । मा० त० सु० कार लिखते हैं कि 'यहाँ 'देवन्ह' पद देकर गोस्वामीजीने सब देवताओंको परम अल्पज्ञ सूचित किया । क्योंकि रघुनाथजी बारम्बार इन्हें निर्भय होनेको कह चुके हैं । '**निर्भय होहु देव समुदाई**', '**निसिचरहीन करउँ महि**' । हनुमान्‌जीको मुद्रिका दी, इनके सिरपर हाथ फेरा, इनका अवतार भी रामकार्यके लिये ही हुआ, इनके बलको भी वे जानते हैं, बालपनका बल देखा है और अब तो वे युवावस्थाको प्राप्त हैं फिर भी परीक्षा ले रहे हैं ।']

नोट—१ श्रीहनुमान्‌जी वायुवेगसे जा रहे हैं किंतु पता नहीं कि वे लङ्कामें घुस सकेंगे या नहीं । इसका पता लगानेके लिये उनके बल और बुद्धिकी परीक्षाके लिये देवताओंका सुरसाको भेजना अध्यात्मरामायणमें भी कहा है । यथा—'**गच्छत्येष महासत्त्वो वानरो वायुविक्रमः ॥ ९ ॥ लङ्कां प्रवेष्टुं शक्तो वा न वा जानीमहे बलम् । एवं विचार्य नागानां मातरं सुरसाभिधाम् ॥ १० ॥ गच्छ त्वं वानरेन्द्रस्य किञ्चिद्विघ्नं समाचर ॥ ११ ॥ ज्ञात्वा तस्य बलं बुद्धिं पुनरेहि**

त्वरान्विता ॥ १२ ॥ सर्ग १ ।' इस उद्धरणमें केवल 'बलबुद्धि' का जानना कहा है । मानसमें जो 'बिसेषा' शब्द है वह 'लङ्कां प्रवेष्टुं शक्तो वा न वा' का भाव दे रहा है । वाल्मीकीयमें परीक्षाकी विधि भी देवताओंने बतायी है कि राक्षसका भयानक और पर्वतके समान विशाल रूप बनाओ जिसमें बड़े-बड़े दाँत, पीली-पीली आँखें और आकाश छूनेवाला लम्बा-चौड़ा मुँह हो । हम लोग जानना चाहते हैं कि वे किसी उपाय द्वारा तुम्हें जीतते हैं या किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं । यथा—'राक्षसं रूपमास्थाय सुघोरं पर्वतोपमम् । दंष्ट्राकरालं पिङ्गाक्षं वक्त्रं कृत्वा नभःस्पृशम् ॥ बलमिच्छामहे ज्ञातुं भूयश्चास्य पराक्रमम् । त्वां विजेष्यत्युपायेन विषादं वा गमिष्यति ॥ ५ । १ । १४६–१४८ ।'—ये सब भाव 'जानै कहुँ''पठइन्हि' से सूचित कर दिये गये ।

टिप्पणी—३ 'सुरसा नाम अहिन्ह कै माता पठइन्हि' इति । सुरसाको परीक्षा लेनेके लिये, भेजनेके भाव (क) देवता हनुमान्‌जीके 'बल-बुद्धि' को न जान सके और न परीक्षा ले सके, इससे उन्होंने स्त्रीको भेजा । स्त्री अवध्य है । (ख) राक्षस बली और मायावी होते हैं और सुरसामें भी बल और माया दोनों हैं । अतएव सुरसाको भेजा । (ग) हनुमान्‌जीको 'पवनसुत' कहकर सुरसाको 'अहिन्ह कै माता' कहनेसे इसमें परीक्षा लेनेकी योग्यता दिखायी है । सुरसा हनुमान्‌जीको ग्रास कर सकती है, क्योंकि सर्पोंका आहार पवन है । (घ) देवताओंने विचारा कि यदि हम परीक्षा लेने जायेंगे तो हनुमान्‌जी अपना विघ्न मानकर कदाचित् दण्ड दे दें, अतः स्त्रीको भेजा, जैसे सुग्रीवने ताराको भेजा था । यथा —'सुनु हनुमंत संग लै तारा ।''' (कि०) । (ङ) सर्पिणीको अपने पुत्रपर भी दया नहीं होती । अतः इसे भेजा कि यह निर्दय होकर परीक्षा लेगी । [(च) हनुमान्‌जी ब्रह्मचारी हैं, अतः स्त्रीको भेजा । प० प० प्र०]

४—(क) यहाँ 'सुरसा' और 'अहिन्ह कै माता' दोनों कहे । इसका एक कारण तो हो चुका । दूसरा कारण यह है कि 'सुरसा' में अतिव्याप्ति है । इससे औरके नामका संदेह होता, अतः अहिनकी माता कहा । पुनः, यदि अहिनकी माता ही कहते तो भी संदेह होता । क्योंकि कद्रू भी सर्पोंकी माता है । अतः दोनों कहा । अहिनकी माता कहकर जनाया कि भयानक है, क्रूर स्वभाव है और तमोगुणकी मूर्ति है । (ख) 'पठइन्हि आइ' इति । यहाँ सुरसाका चलना और पहुँचना नहीं कहा । इससे शीघ्रता दिखलायी । वह बहुत जल्द आयी क्योंकि हनुमान्‌जी रामबाणके समान जा रहे हैं । जबतक मैनाकसे वार्ता हुई तबतक यह आ गयी ।

सुरसा—दक्षप्रजापतिकी आठ कन्याएँ अदिति, दिति, दनु, कालिका, ताम्रा, क्रोधवशा, मनु और अनला कश्यपजीको ब्याही गयीं । इनमेंसे ताम्राके क्रौंची, भासी, श्येनी, धृतराष्ट्री और शुकी पाँच कन्याएँ हुईं । इनमेंसे शुकीके नता नामकी कन्या हुई और नताकी कन्या विनता हुई । विनताके दो पुत्र अरुण और गरुड़ और दो कन्याएँ सुरसा और कद्रू हुईं । कद्रू नागोंकी माता हुई । इस तरह सुरसा गरुड़की बहिन है ।—'विनता च शुकीपौत्री कद्रूश्च सुरसा स्वसा । वाल्मी० ३ । १४ । ३० ।'''द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च ॥ ३१ ॥' यह मत वाल्मीकीयका है । महाभारत आदिपर्वमें कद्रू और विनताको कश्यपजीकी स्त्रियाँ कहा है । मानसमें भी दोनोंको सौतें कहा है—'कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख''' २ । १९ ।' सुरसाको कहीं-कहीं एक सहस्र सर्पोंकी माता कहा है । वाल्मीकीयमें इनको नागमाता और दाक्षायणी कहा है । यथा—'अब्रुवन्सूर्यसंकाशां सुरसां नागमातरम् । वाल्मी० ५ । १ । १४५ ।', 'प्रविष्टोऽस्मि हि ते वक्त्रं दाक्षायणि नमोऽस्तु ते ॥ १६६ ॥' यह सूर्यके समान बड़ी तेजस्विनी थी । यह स्वेच्छानुसार रूप धारण कर सकती थी । देवताओंने इससे भयानक पर्वताकार राक्षसीका रूप धारण करके परीक्षा करनेको कहा था । राक्षसी बनकर यह हनुमान्‌जीके सामने राह रोक-कर खड़ी हो गयी और कहा कि ब्रह्माका मुझे वरदान है कि कोई मुझे लाँघकर नहीं जा सकेगा । देवताओंने तुम्हें मेरा भक्ष्य किया है । अतएव यदि तुम जाना चाहते हो तो मेरे मुखमें प्रवेश करके ही जा सकते हो—'अहं त्वां भक्षयिष्यामि प्रविशेदं ममाननम् ॥ १५१ ॥'''प्रविश्य वदनं मेऽद्य गन्तव्यं वानरोत्तम । वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा ॥ १५८-१५९ ॥ (वाल्मी० स० १) ।

नोट—२ 'जात पवनसुत' पदसे 'अहिन्ह कै माता' तक 'पायकुलक' छन्द है । 'पठइन्हि' तामरस छन्द है । (ब्र०चं०)

३ आनन्द और अध्यात्मरामायणोंमें प्रथम सुरसाका मिलना पाया जाता है, तब मैनाकका आतिथ्य । यहाँ मानसमें प्रथम मैनाकका आगमन है, तब सुरसाका । कविकी उक्तिके अनुसार इस भेदका कारण 'कल्पभेद हरिचरित सुहाये' है ।

साहित्यिक दृष्टिसे इस भेदमें भी चरित्र-चित्रण-चारुताकी झलक है। मैनाक समुद्रमें रहता है, अतएव उसका प्रथम ही आना उचित है। वह विश्राम देनेको आता है पर इसमें भी परीक्षाका अनुमान हो सकता है कि देखें कि ये रामकार्यमें कहाँतक तत्पर हैं। विश्रामकी चाह करते हैं या नहीं। **'रामकाज लवलीन मन'** का यहाँ चरितार्थ है। जब लंकाके निकट आते हैं तब देवता सुरसाद्वारा परीक्षा लेते हैं। उसके बाद सिंहिका मिलती है जो लंकाकी रक्षा लंकातटके निकट समुद्रमें रहकर करती है। इसीसे इसको मारनेपर समुद्र पार हो जाता है। लंकामें पहुँचते ही द्वारपर लंकिनी टोकती है। यह क्रम स्वाभाविक है। विघ्नोंका एक साथ क्रमसे होना ही विशेष स्वाभाविक है। वाल्मीकीयमें मैनाकके पश्चात् सुरसा आती है। पर उसमें लंकिनीका प्रसंग नहीं है।

४ **'आइ कही तेहि बाता'**—बात ही क्यों कही, पहलेसे खानेको क्यों न दौड़ी? कारण कि वे वेगसे जा रहे हैं। उन्हें परीक्षाके लिये रोकना है, बात सुनकर रुकेंगे। दूसरे यदि प्रथम ही खानेको दौड़ती तो वे राक्षसी जानकर मार डालते अथवा युद्ध छिड़ जाता। बल-बुद्धिकी परीक्षामात्र लेना है, युद्ध नहीं करना है और युद्धमें उनसे जीतना सम्भव नहीं है। देवताओंने आहार दिया है यह सुनकर वे उसका सम्मान करेंगे। मा० त० सु० का मत है कि बात-से ही परीक्षा प्रारम्भ की; क्योंकि बातचीतसे अन्तःकरणका आशय लक्षित हो जाता है।

आजु सुरन्ह मोहिं दीन्ह अहारा। सुनत बचन कह पवनकुमारा॥ ३॥

अर्थ—आज देवताओंने मुझे भोजन दिया। यह वचन सुनते ही पवनकुमार हनुमान्‌जीने कहा (बोले)॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'आजु' से जनाया कि बहुत दिनोंसे भोजन नहीं मिला था, आज प्राप्त हुआ। यथा—**'आजु सबन्ह कहँ भक्षन करऊँ। दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ॥ कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा॥'** (कि० २७)। (ख) 'अहार' शब्दसे यह सूचित किया कि सुरसा राक्षसी बनकर आयी है। क्योंकि राक्षस जीवोंको पकड़कर खाते हैं। यथा—**'कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं'**, **'नर कपि भालु अहार हमारा'**। (ग) देवताओंके भेजनेसे आयी; इसीसे 'सुरन्ह' का आहार देना कहा। अभी परीक्षा लेनेके लिये भेजना नहीं कहा, पीछे परीक्षा हो जानेपर कहेगी। यथा—**'मोहिं सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरमु तोर मैं पावा॥'** यदि परीक्षाकी बात पहले ही कह देती तो ठीक परीक्षा न मिलती। क्योंकि वे जान जाते कि वह परीक्षाके लिये मुँह फैला रही है, हमको खायेगी नहीं। (मा० तु० सु० का मत है कि 'सुरन्ह' बहुवचन शब्द देकर जनाती है कि समस्त देवताओंने सहमत होकर यह भक्ष्य दिया है। इस तरह अपनेको निर्दोष जनाया। साथ ही यह भी जनाया कि जिनके कार्यके लिये तुम उद्यत हो वे ही तुम्हारे बाधक हैं, अतः प्रथम दैवकृत बाधा मिटानेका उपाय सोच लो तब असुरोंकृत बाधाका निवारण करने योग्य होगे। तुम निःशंक चले जा रहे हो, पहले यह विचार लो कि जब देवता ही ऐसा व्यवहार कर रहे हैं तब निशिचरगण तो उनसे कहीं अधिक बली और मायावी हैं वे क्या न करेंगे? 'अहारा' में यह भी भाव है कि अन्य वस्तुके देनेमें पात्रका विचार भी करना पड़ता है परंतु आहार देनेमें विचार नहीं किया जाता। अतिथि सर्वदा पूजनीय है)।

शंका—देवता झूठ नहीं बोलते, सुरसा देवी है, वह झूठ क्यों बोली कि **'सुरन्ह मोहिं दीन्ह अहारा'**?

समाधान—(क) सुरसा स्त्री है। स्त्री-स्वभावसे झूठ बोली। यथा—**'नारि सुभाव सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥ साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥** ६। १६।' जैसे सतीजी झूठ बोलीं कि **'कछु न परीछा लीन्ह गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं॥** १। ५६।' वा, परोपकार-साधनमें झूठ बोलना दोष नहीं है। (पं० रा० कु०)। वा, परीक्षार्थ होनेसे असत्य नहीं है। (मा० त० सु०)। वाल्मीकीय सुं० सर्ग १ में इस चरणके जोड़का श्लोक यह है, **'मम भक्षः प्रदिष्टस्त्वमीश्वरैर्वानरर्षभ॥ अहं त्वां भक्षयिष्यामि प्रविशेदं ममाननम्॥** १५०॥' (ख) भगवती सुरसा हनुमान्‌जीकी परीक्षा लेने आयी है। 'आज देवताओंने मुझे आहार दिया' यह कहकर उसने युद्धका रास्ता रोक दिया। देवताओंने आज्ञा दी है, इसलिये भक्ष्य बनो। पहले ही बुद्धिकी परीक्षा सामने आयी। परीक्षामें जो धोखा दिया जाता है, उसकी गणना असत्यमें नहीं है, क्योंकि उससे भावोपहनन नहीं होता। और भावोपहनन ही (पाप) है, यथा—**'तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः। स्वाभाविको ज्ञानविधिर्न कल्कः। असह्य वित्ताहरणं न कल्कः। सर्वाणि भावोपहतानि कल्कः॥'** अभिनयमें सब झूठ ही कहा और किया जाता है, पर वह कल्क नहीं है, क्योंकि

भावोपहत नहीं है। यहाँ यह कहना ठीक नहीं कि सुरसा स्त्री-स्वभावसे झूठ बोली। यह कोई नियम नहीं है कि स्त्री झूठ ही बोले। रावणका वचन प्रमाणरूपसे सर्वत्र ग्रहण नहीं किया जा सकता। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—२ **'सुनत बचन कह पवन कुमारा'** इति। सुरसाके वचनका उत्तर देना कठिन है। सुरसा कहती है कि देवताओंने मुझे 'आहार' दिया। आहारको वह खानेको तैयार है। हनुमान्‌जी धर्मात्मा हैं। देवताओंके दिये हुए भक्ष्य हैं, तो नहीं कैसे करें? यथा—**'परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥'** (बा० ८४)। और यदि शरीर खानेको दिये देते हैं तो रामकार्य नहीं बन सकता। दोनों तरहसे उत्तर देना कठिन है। ऐसे असमंजसके समय भी आपको उत्तरमें कुछ कठिनाई न हुई, आप तुरंत बोले। अतः 'पवनकुमार' कहा। तात्पर्य कि वचन पवनकी ही प्रेरणासे निकलते हैं और ये पवनकुमार ही हैं तब क्यों न तुरंत उत्तर देते? वचन सुनते ही बोले, इन्हें जरा भी विचार न करना पड़ा, यह बुद्धि है।

रामकाजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ* सुधि प्रभुहि सुनावौं॥ ४॥
तब तुव† बदन पइठिहौं‡ आई। सत्य कहौं मोहि जान दे माई॥ ५॥

अर्थ—श्रीरामजीका कार्य करके मैं लौट आऊँ और श्रीसीताजीका समाचार प्रभुको सुना दूँ॥ ४॥ तब आकर तेरे मुखमें पैठूँगा (प्रवेश करूँगा, अर्थात् तब मुझे खा लेना)। मैं सच कहता हूँ। हे माई! मुझे जाने दे॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) हनुमान्‌जीको रामकार्य होनेका निश्चय है। यथा—**'होइहि काजु मोहि हरषु बिसेषी।'** इसीसे कहा कि **'करि फिरि मैं आवौं।'** जाम्बवान्‌का वचन है कि **'सीतहि देखि कहहु सुधि आई।'** इसीसे कहा कि **'सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं।'** तात्पर्य यह कि सीताजीको देखकर समाचार सुना देना यही 'रामकाज' है। मुझे इतना अवकाश दो। रामकार्य करनेपर मुखमें पैठना हो सकता है, पर प्रथम मुखमें पैठनेसे रामकार्य नहीं हो सकता, अतएव प्रथम 'रामकाज' करना कहा। क्षुधार्त्तको भोजन देना साधारण धर्म है और रामकार्य परमधर्म है; अतएव इसे प्रथम करना कहा। (ख) सुरसाने कहा था कि **'आजु सुरन्ह मोहिं दीन्ह अहारा।'** इसपर हनुमान्‌जी कहते हैं कि देवताओंने तुम्हारा उपकार किया कि तुमको आहार दिया। तुम देवताओंका उपकार करो। रामकार्य होनेसे देवताओंका उपकार है। पीछे तुम्हारा भी उपकार होगा। हम आकर तुम्हारे मुखमें पैठेंगे। (ग) [**'रामकाज करि'''** में यह भी भाव है कि तुम श्रीरामजीके राज्यमें रहनेवाली हो, अतएव तुम्हें भी इस कार्यमें मेरी सहायता करनी चाहिये। यथा—**तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात्। कर्तुमर्हसि रामस्य साह्यं विषयवासिनी॥** वाल्मी० ५। १। १५४-१५५।' (घ) 'सीता' शब्दका भाव कि श्रीराम-लक्ष्मण-सुग्रीवादि सब बिना सुध मिले संतप्त हैं, उनकी सुध पाकर सब शीतल होंगे। (पां०)] (ङ) **'प्रभुहि सुनावौं'** का भाव कि प्रभु समर्थ हैं, वे अपने बलसे शत्रुको मारकर सीताको प्राप्त करेंगे। यथा—**'कपि सेन संग सँघारि निसिचर राम सीतहि आनिहैं'** (कि०)।

२ **'तब तुव बदन पइठिहौं आई'** इति। (क) **'बदन पइठिहौं'** से जाना गया कि सुरसाने हनुमान्‌जीसे अपने मुखमें प्रवेश करनेको कहा था। इसीसे इन्होंने बदनमें पैठनेको कहा। यह न कहा कि हम तुम्हारा भक्ष्य होंगे। तुम हमें भक्षण करना, क्योंकि हनुमान्‌जी सत्यवादी हैं। यथा—**'सत्य कहौं'**। वैसा कहनेसे वचन झूठ होता, क्योंकि इनको कोई भक्षण नहीं कर सकता। (ख) **'तब पइठिहौं आई'** से पाया गया कि कदाचित् अपने प्राण बचानेके लिये हमें धोखा दे रहे हैं। अतएव उसकी प्रतीतिके लिये **'सत्य कहौं'** कहा, अर्थात् हम धोखा नहीं दे रहे हैं। यथा—**'रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥'**; पुनः यथा—**पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य प्रन सत्य हमारा॥'** (ग) 'रामकाज करि' से बल जाना गया अर्थात् बलवान् हैं यह जाना। महर्षि कश्यपकी स्त्री जानकर **'माई'** कहा। संत पर-स्त्रीको माता जानते ही हैं। यथा—**जननी सम जानहिं पर नारी।'** इससे **'माई'** कहा। **'तब तुव बदन'** यह बुद्धि है। (पं०)। 'आई' से जनाया कि तू यहीं रह, मैं यहीं लौटकर आता हूँ।

शंका—कार्यमें विघ्न जानकर इसपर कोप क्यों नहीं किया?

* कै। † पैठिहौं—(न० प्र०) ‡ तव—गी० प्र०।

समाधान—(क) हनुमान्‌जीने विचार किया कि एक तो वह क्षुधार्त्त है, दूसरे देवताओंकी भेजी हुई है; इसपर कोप करनेसे देहदानमें कृपणता सूचित होगी। दो० २(६) देखिये (ख) यह स्त्री है और दीन वचन कह रही है; अतः इसपर कोप करना उचित नहीं। (ग) जान गये कि यह बुद्धि-बल जानने आयी है; अतः क्षमासे अपनी बुद्धि दिखायी। (पं०)। यह बात आगे सिंहिकाके प्रसंगसे सिद्ध होती है। यथा—'**तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा**'। तथा, यहाँ इसके भावको भी हनुमान्‌जी जान गये। इसीसे सिंहिकाको तो मारा और सुरसासे दीन वचन बोले। (घ) कुपित हो जाते तो संदेह होता कि रामकार्य कैसे कर सकेंगे? वहाँ रावणको कैसे समझाते? सबसे लड़ते ही रह जाते?

नोट—१ अ० रा० में मिलता हुआ श्लोक यह है—'**गच्छामि जानकीं द्रष्टुं पुनरागम्य सत्वरः। रामस्य कुशलं तस्याः कथयित्वा त्वदाननम्**॥ ५। १। १५। निवेक्ष्ये'। '**काज करि**' और '**फिरि आवौं**' को एक ही चरणमें देकर '**पुनरागम्य सत्वरः**' का भाव जना दिया। अर्थात् कार्यमें देर न लगेगी, मैं शीघ्र कार्य करके लौटूँगा। श्लोकका उत्तरार्ध चौपाईके दूसरे चरणमें है। अ० रा० में शपथ नहीं है। वाल्मी० ५। १। १५५-१५६ में शपथ भी है। यथा—'**अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाक्लिष्टकारिणम्। आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिश्रृणोमि ते॥**'

इन चौपाइयोंसे कितनी बड़ी निर्भयता और किस ऊँचे दर्जेके आत्मोत्सर्गका परिचय मिलता है। स्वामीका इष्टकार्य हो जाना चाहिये, फिर चाहे शरीर रहे या न रहे। कार्यार्थी लोगोंका ध्यान अपने उद्देश्यपर रहता है। जिस प्रकार लक्ष्यवेधी लोग, निशानेबाज, अपने लक्ष्यके अतिरिक्त और कुछ नहीं देखते, उसमें तन्मय हो जाते हैं, उसी प्रकार साधककी दृष्टि अपने कार्य और साध्यहीपर रहा करती है। वे और किसी बातकी पर्वा नहीं करते। किसी सांसारिक बाधाका भय नहीं करते। कोई उन्हें पागल कहता है तो कोई व्यर्थका आडम्बर करनेवाला कहता है। पर वे इन बातोंपर कुछ भी ध्यान न देकर अपनी ही धुनमें मस्त और व्यस्त रहते हैं। कुछ कालके अनन्तर जब वे अपने काम कर चुकते हैं, तब संसार उनके कार्यके महत्त्वको आप ही समझता है।

कवनेहु जतन देइ नहिं जाना। ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना॥ ६॥

अर्थ—(सुरसा) किसी भी यत्नसे जाने नहीं देती। (तब) श्रीहनुमान्‌जीने कहा, (तो फिर) मुझे खा न ले! (खा क्यों नहीं लेती? अर्थात् मैं देखूँ तो कि तू मुझे कैसे खाये लेती है?) ॥ ६॥

नोट—१ '**कवनेहु जतन**' इति। इन शब्दोंसे पाया जाता है कि बहुतसे यत्न किये, पर यहाँ तो रामकार्य करके श्रीसीताजीका समाचार सुनाना, यही एक यत्न लिखा है। और कौनसे यत्न किये? पं० रामकुमारजीका मत है कि—(क) नीतियाँ चार हैं। साम, दाम (दान), दण्ड और भेद। इनमेंसे श्रीहनुमान्‌जी प्रथम दाननीति काममें लाये। यथा—'**तब तुअ बदन पइठिहौं आई**'। बदनमें पैठना शरीरका दान है। फिर सामनीति बरते। यथा—'**सत्य कहौं मोहि जान दे माई**'। '**माई**' कहना साम है। मातासे दण्ड या भेद न करना चाहिये। अतएव इनको नहीं बरता। प्रथम रामकार्य होना, दूसरे सीताजीका क्लेश छूटना, तीसरे देवताओंका उपकार होना, चौथे साम और दान यही अनेक यत्न हैं। यहाँ दान मुख्य है। वह ग्रास चाहती है, इसीसे प्रथम दान कहा। अथवा, (ख) 'कवनेहु' से जनाया कि अनेक मुनियोंने अनेक रामायणें गायी हैं। जिस-जिसने जो-जो यत्न लिखे हैं उन सबोंका ग्रहण करनेके लिये यहाँ '**कवनेहु जतन**' पद दिया।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि वे अनेक यत्न ये हैं—(क) प्रथम 'राम' नाम लिया, यह सोचकर कि श्रीरामजी चराचरनाथ हैं, उनका काम सुनकर यह विघ्न न करेगी। फिर (ख) यह सोचकर कि यह स्त्री है और स्त्रियाँ स्त्रीका दुःख देख या सुनकर दुखी हो जाती हैं, '**सीता कै सुधि प्रभुहि सुनावौं।**' यह कहा। (ग) सम्भव है कि वह सोचे कि ये आवें या न आवें अथवा आवें भी तो अस्त्र-शस्त्र धारण करके आवें। अभी छलसे बचना चाहते हैं। अतएव '**तुव बदन पइठिहौं आई**' कहा। अर्थात् हम आकर तुम्हारे मुँहमें पैठेंगे, तुम हमें खा लेना, तुम्हें कोई परिश्रम न पड़ेगा। (घ) फिर सोचे कि कोई अपने-से-अपने प्राण नहीं देता ऐसा समझकर झूठ मानती होगी। अतएव कहा कि '**सत्य कहौं**'। (ङ) फिर सोचे कि पुत्र सबको प्रिय होता है। अतः पुत्र बने, उसे माता बनाया। '**जान दे माई**' कहा।

नोट—२ '**मोहि जान दे माई**' ये शब्द बड़े ही करुणावाचक हैं। हनुमान्‌जीके सब वचनोंमें यत्न भरे हैं, पर इनमें

तो हद है। 'मोहि जान दे' अर्थात् अपनी ओरसे मुझे इतने कार्य भरके लिये प्राणका दान दे। यह शरीर तेरा हो चुका। पर रामकार्य भरके लिये दान चाहता हूँ, फिर तो तेरे मुँहमें पैठूँगा ही। कैसी दीनता है? 'माई' सम्बोधनसे जनाया कि माता-पुत्र-भावसे वह अवश्य दयार्द्र होकर जाने देगी। 'सीता कै सुधि' में यह युक्ति है कि स्त्री स्त्रीको विपत्तिमें सहायक होनेकी बात सुनकर दया करेगी। जब न माना तब कुपित होकर 'ग्रससि न' कहा। ये शब्द श्लेषार्थी हैं। 'न' निश्चय और निषेध दोनों अर्थ दे रहा है। 'नहीं' जाने देती तो ग्रास क्यों नहीं कर लेती ?' और 'ग्रसना चाहती है, यह न होगा'। 'ग्रससि न मोहि' ये वचन क्रोधके हैं। यथा '**एवमुक्तः सुरसया क्रुद्धो वानरपुङ्गवः। अब्रवीत्कुरु वै वक्त्रं येन मां विषहिष्यसि** ॥ वाल्मी० ५। १। १६०।' वाल्मी० तथा अ० रा० के वाक्योंसे 'ग्रससि न मोहि' ये वचन कितने जोरदार हैं, पाठक स्वयं देख लें। इसमें अपने बलपर कैसा आत्म-विश्वास दिखायी दे रहा है।

टिप्पणी—२ (क) 'कवनेहु जतन देइ नहिं जाना' यहाँतक बुद्धि है और 'ग्रससि न मोहि' यह बल है। [बाबा हरिदासजी 'ग्रससि न मोहि' तक बुद्धिसे काम लेना कहते हैं। आगे मुँह फैलानेपर बल दिखाना है।] (ख) जबतक यत्नसे कार्य हो सके तबतक बल न करे, यह नीति है। यथा, '**जो मधु मरै न मारिये माहुर देइ सो काउ। जग जिति हारै परसुधर हारि जिते रघुराउ** ॥' (दोहावली ४३३)। अतएव प्रथम यत्न किया, पीछे बल। (ग) श्रीहनुमान्‌जीने उसे 'माई' कहा तब भी वह नहीं छोड़ती, नहीं जाने देती। इसका कारण यह है कि सर्पिणी अपने ही अण्डे-बच्चोंको खा जाती है। तब इनको कैसे छोड़े ?

जोजन भरि तेहिं बदनु पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा ॥ ७ ॥
सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ। तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ ॥ ८ ॥

अर्थ—उसने योजन (चार कोश) भरका मुख फैलाया, तब कपि (श्रीहनुमान्‌जी) ने अपने शरीरको उसका दुगुना विस्तृत कर दिया। 'अर्थात् दो योजनके हो गये जिसमें उनके मुखमें अँट ही न सकें) ॥ ७ ॥ उस (सुरसा) ने सोलह योजनका मुख किया तब पवनपुत्र तुरंत ही बत्तीस योजनके हो गये ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ '**जोजन भरि तेहि बदनु पसारा**' इति। (क) इससे ज्ञात हुआ कि उनका शरीर एक योजनके भीतर ही था। (ख) '**बदन पसारा**' अर्थात् फैलाया भर, खानेको नहीं दौड़ी। यथा, '**करि चिक्कार घोर अति धावा। बदन पसारि**…।' (कुम्भकर्ण लं० ६९); क्योंकि परीक्षा लेने आयी है, खाने नहीं आयी। (ग) शरीरको दुगुना विस्तृत करनेका भाव कि ले तू खाने आयी है तो हम भी तुझे दुगुना भक्ष्य देते हैं।

२ '**सोरह जोजन**' इति। (क) शंका कपितन दो योजनका था तो सुरसाको चार योजनका मुख करना था। जब वे आठके होते तब यह १६ का करती। अभी एकदमसे १६ का क्यों कर लिया ?

समाधान—इससे ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जीका स्वरूप देखकर वह घबड़ा गयी। क्रमभंगसे उसका घबड़ाना और हनुमान्‌जीका सावधान रहना सूचित किया। 'ठयऊ'=किया। यथा, '**एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ**।' (बा० १३३ (२) (देखिये)। (ख) 'तुरत' अर्थात् सुरसाके १६ योजन होनेके साथ ही तत्क्षण ये ३२ हुए, इसीसे शीघ्रतासूचक 'पवनसुत' नाम दिया।

३ (क) सुरसा भक्षण करनेपर तत्पर है अतः उसके मुखहीकी प्रधानता दरसायी गयी। और हनुमान्‌जी उसको पराभव करनेपर तत्पर हैं, अतः उनके सम्पूर्ण शरीरका विस्तार दिखाया। (ख) एक योजनके बाद १६ योजन कर लेने-का तात्पर्य यह है कि सुरसाने इनको अपनेसे दुगुना बढ़ा देखकर सोचा कि इनकी इतनी ही सामर्थ्य और शीघ्रता है या अधिक ! यही निश्चय करनेके लिये सावधानतासे उसने १६ योजनका मुख बनाया। (मा० त० सु०)

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा* ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे-जैसे सुरसाने मुख बढ़ाया (वैसे ही वैसे) कपिने उसका दुगुना रूप दिखाया ॥ ९ ॥

टिप्पणी—जब सुरसाने मुख योजनभरका किया तब इन्होंने दो योजनका रूप कर लिया। जब उसने १६

* तासु दून कपि रूप देखावा 'स्वागता' छंदका भेद है। प्र० चं०।

योजनका मुख किया तब इसने ३२ योजनका रूप दिखाया। सुरसाके बदन बढ़ानेमें कोई नियम नहीं है, कभी कम बढ़ाती है कभी अधिक; इसीसे उसके सम्बन्धमें 'जस जस' कहा। हनुमान्‌जीके बढ़ानेमें नियम है कि उसके मुखसे दुगुना ही बड़ा रूप दिखाते हैं। अतएव इनके सम्बन्धमें 'तासु दून' कहा। आगे दुगुना रूप बढ़ानेकी समाई (गुंजाइश) नहीं है। क्योंकि ३२ योजनके हनुमान्‌जी हैं जब सुरसा ६४ योजनका मुख फैलावेगी तब ये १२८ के होंगे सो यह बात ठीक नहीं बनती। क्योंकि इस क्रमसे वे उसके शतयोजनमुख होनेके पूर्व ही उससे अधिक बढ़े जाते हैं यह सम्भव नहीं। तो फिर 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा' यह चौपाई सिद्ध नहीं होती? इससे यह जान पड़ता है कि यहाँ दूसरे रामायणोंका मत दिया है। अर्थात् सुरसाका मुख एक योजनका हुआ तब हनुमान्‌जी दो योजनके हुए, जब वह दो योजनकी हुई तब ये चार, जब वह आठ तब ये सोलह इत्यादि। 'रूप देखावा' से जनाया कि केवल उसे दिखानेमात्रको इतना बड़ा रूप कर लेते हैं, उसे मारना नहीं चाहते। यह बल है।

वि० त्रि०—यहाँपर कविने यह दिखलाया कि सुरसाके बदन पसारनेमें कोई क्रम नहीं है और हनुमान्‌जीके शरीर-विस्तारमें दुगुने होनेका क्रम है। सुरसाने एक योजन मुख पसारा, तो हनुमान्‌जी दो योजनके हो गये, उसने सोलह योजनका मुख किया, तो ये बत्तीस योजनके हो गये। यहाँ दिव्य बल-सिद्धिकी परीक्षा हो रही है। दोनों अपनी-अपनी महिमा-सिद्धि दिखला रहे हैं। यदि मान लिया जाय कि तीसरी बार सुरसाने चालीस योजन मुँह फैलाया, तो हनुमान्‌जी अस्सी योजनके हो गये। यहाँ तीनों बारके सिद्धिप्रदर्शनको लक्ष्य करके 'जस जस' शब्दका प्रयोग किया है।

सत जोजन तेहि आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा॥ १०॥
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। माँगा बिदा ताहि सिरु नावा॥ *११॥

अर्थ—(जब) उसने (सुरसाने) सौ योजनका मुख किया, तब पवनसुतने अत्यन्त छोटा रूप कर लिया॥ १०॥ उसके मुखमें घुसकर (अति शीघ्रतासे) फिर बाहर निकल आये। और उसको मस्तक नवाकर बिदा माँगी॥ ११॥

टिप्पणी—१ 'सत जोजन तेहि आनन कीन्हा' इति। (क) सौ योजन मुख करनेका भाव कि सौ योजनका समुद्र है, समुद्रभरमें उसीका रूप देख पड़ा। एक डाढ़ नीचे किये है और एक सौ योजनके ऊपर। (यहाँ सुरसाके मुखकी वृद्धि उत्तर-दक्षिणमें नहीं है किन्तु अध-ऊर्ध्व-भागमें है। यह वृद्धि देवमाया भी हो सकती है)। (ख) एक बार मुखका 'पसारना' लिखकर फिर 'करना' और 'बढ़ाना' लिखनेका भाव यह है कि मुख तो फैलाये ही रही पर बढ़ाती गयी। सौ योजनका मुख सुरसाके बढ़ावकी अवधि है वैसे ही इधर हनुमान्‌जीका 'अति लघुरूप' सूक्ष्मताकी अवधि है। उसने अत्यन्त बड़ा मुख किया और इन्होंने अत्यन्त लघु रूप लिया।† (ग) 'पवनसुत' नामसे ही अतिशीघ्र अतिलघुरूप हो जाना जनाया। हनुमान्‌जीने दुगुना रूप होकर सुरसाको न जीता। ☞ इसमें यह उपदेश है कि बड़ेको छोटा होकर जीते। (घ) बहुत शीघ्र अति लघुरूप धारण किया, यह बुद्धि है।

२ 'बदन पइठि पुनि बाहेर आवा।' इति। हनुमान्‌जीने पूर्व 'बदन पैठिहौं आई' कहा था और सुरसाने भी मुखमें पैठनेको कहा था। अतएव उसके मुखमें प्रवेश करके अपने वचनको सत्य किया और उसके वचनको प्रमाण किया। (अ० रा० में अँगूठेके बराबर छोटा रूप बना लेना लिखा है)। मानसमें मसकको अति लघु रूप माना है—'तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं' ॥ 'मसक समान रूप कपि धरी'।

त्रि० त्रि—सुरसाका ध्यान केवल मुखको अधिक फैलाकर हनुमान्‌जीको ग्रास कर लेनेपर है, इधर हनुमान्‌जीका ध्यान आरम्भसे ही उसके मुखमें प्रवेश करके सकुशल बाहर निकल आनेपर है, जिसमें देवताओंकी बात रह जाय। अतः जब उन्होंने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि सुरसाको सौ योजन मुख फैलाना पड़ा, और देख लिया कि अब इसके बंद

* 'सत जोजन—लीन्हा' पायकुलक है, 'बदन पइठि पुनि बाहेर आवा' द्रुतपा है और 'माँगा बिदा' से 'बुधि बल मरमु तोर मैं पावा।' तक पायकुलक हैं। (व्रजचंद्र कवि)।

† मा० त० सु०—१ 'अतिलघुरूप' का भाव यह है कि मेरे शरीरकी वृद्धिको तो जान गयी अब कुछ और विलक्षणता दिखाते हुए इसे पराजितकर अपने कार्यमें उद्यत हो जाऊँ, व्यर्थ समय क्यों खोऊँ? २ बिदा माँगनेका भाव कि तेरी परीक्षा पूरी हो गयी या अभी और कुछ बाकी है? 'सिर नावा' उसको लज्जित करनेके लिये।

करनेमें कुछ समय लगेगा, तो हनुमान्‌जी (बुद्धिमतां वरिष्ठम्) ने एकाएक लघिमासिद्धि दिखलायी। एकदम छोटे होकर उसके मुखमें प्रवेश भी किया और बाहर भी निकल आये, सुरसा देवी उन्हें मुखमें रोक न सकीं। जबसे (तक) वह इतना बड़ा मुख बटोरे तबसे (तक) तो हनुमान्‌जी बाहर आ गये। हनुमान्‌जीकी जीत हो गयी।

टिप्पणी—३ 'माँगा बिदा''' इति। यह प्रणाम विदा होनेके लिये नहीं है। क्योंकि ये पराक्रमी हैं, इनमें अपने पुरुषार्थका बल है। नीतिके अनुकूल बातोंसे छोड़नेको कहा किन्तु जीतनेपर सिर नवाया कि जो आज्ञा आपकी थी वह मैं कर चुका, अब हमें जानेकी आज्ञा हो। नीतिके अनुकूल छोड़नेकी बातें कहनेका भाव यह है कि प्रथम उसको माई कह चुके हैं, अन्तमें यहाँ उसी माता-भावसे प्रणाम किया, आदिसे अन्ततक माता-भाव निबाहा। इसीपर सुरसाने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। (ग) 'पुनि' शब्दसे जनाया कि जिधरसे घुसे उधरसे ही बाहर निकले।

नोट—१☞मिलानका श्लोक—**प्रविश्य वदनं तस्याः पुनरेत्य पुरः स्थितः। प्रविष्टो निर्गतोऽहं ते वदनं देवि ते नमः॥** अ० रा० सुं० १। २२।' **'पुनरेत्य पुरः स्थितः'** से स्पष्ट हुआ कि मुखहीके द्वारा बाहर निकले। प० प० प्र० का मत है कि कर्णछिद्रसे निकले।

यह घटना हमको सिखलाती है कि यदि अपने इष्ट-कार्य-पथपर कोई बाधा मिले तो उससे प्रथम तो बचना ही चाहिये, पर यदि वह पीछा करती है तो साहसपूर्वक उसका सामना करना चाहिये और किसी युक्तिसे शीघ्र उससे छुटकारा पानेकी चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा न करनेसे उद्देश्यके साधनमें विलम्ब होगा। केवल बल ही सब कुछ नहीं कर लेता; उसके साधन बुद्धि और नीतिकी भी आवश्यकता पड़ती है।

नोट—२ सुरसा-प्रसंगपर श्रीलमगोड़ाजीने अपने "नाटकीय महाकाव्य रामायण" सम्बन्धी लेखमें जो लिखा है उसे संक्षिप्तरूपमें हम पाठकोंके सामने रखते हैं—'महाकाव्यकलाके कविको हमारी कल्पनाशक्तिको ऐसा बनाना पड़ता है कि वह रबड़की तरह घट बढ़ सके; इसीसे मिल्टन्‌ने देव-दानव जगत्‌के मूलसिद्धान्त 'पैरेडाइज लास्ट' के प्रारम्भमें ही दे दिये हैं जैसे कि वे जो रूप चाहें धारण कर सकते हैं, उनमें लिङ्गभेद भी स्थायी नहीं होता। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने भी रामायणके प्रारम्भमें ही राक्षसोंको कामरूप धारण करनेवाला बताया है और वानरोंके लिये भी लिखा है कि वे भी वैसे ही कामरूपधारी देवता थे अब लंका और लंकाकाण्ड आनेवाला है; इस लिये हमारी कल्पनाशक्तिको विशेष सहायताकी आवश्यकता है जिसमें ओज-गुणका पूरा विकास हो सके। ऐसी अवस्थामें जैसे मिल्टनने शैतानोंके पञ्चायतघरका दृश्य बाँधा है कि पहले सब शैतान विशालकाय थे तब जगह न थी, परंतु जब उनके राजाने आज्ञा दी कि प्रधान-प्रधान दानवोंके अतिरिक्त सभी दानव लघुरूप धारण कर लें जिसमें बाहर खड़ी हुई दानव जनता भीतर आ सके। तब कुछ इने-गिने दानवोंको छोड़ शेष सबने लघुरूप धारण कर लिया और सारी जनता उतनी ही जगहमें समा गयी, प्रत्युत जगह बच रही।

इसी प्रकार सुरसाके प्रसंगकी युक्ति समझिये। हम इस प्रसंगको देख ही रहे हैं, अतः विस्तारकी आवश्यकता नहीं है।

"जस जस सुरसा बदन बढ़ावा"—२ (९)—

गौड़जी—हनुमान्‌जीको योगसाधनसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त थीं, इसलिये सुरसाके सामने उन्होंने जरूरत पड़नेपर अपने शरीरको जितना चाहा बड़ा कर लिया और जैसा चाहा छोटा बना लिया। परंतु जो सर्पों और व्यालोंकी माता थी वह अपने मुखको इच्छानुसार छोटा और बड़ा कर सकती थी। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि 'योग साधनवाला' चाहे अणिमा और महिमा सिद्धिके द्वारा ऐसा कर भी ले परंतु यह कैसे माना जाय कि कोई स्थूल शरीरधारी प्राणी इस तरह अपने शरीरको घटा-बढ़ा सकेगा? फिर यह भी प्रश्न हो सकता है कि 'इस तरहके विशाल-काय प्राणी जैसी सुरसा थी या जैसे हनुमान्‌जी समझे जाते हैं मानना स्वाभाविक नहीं है; क्योंकि वर्तमान संसारमें तो ऐसे बन्दर नहीं देखे जाते जो ऐसे बलवान् हों, विद्वान हों, योगी हों और राजनीतिके पण्डित हों। यह तो क्या ऐसा कोई वानर जो मनुष्यसे बात-चीत कर सके देखा और जाना नहीं गया, फिर १० सिर २० भुजाओंवाला राक्षस तो क्या किसी तरहका कोई प्राणी नहीं देखा जाता।' वर्तमान कालमें प्रकृतिमें रामायणमें वर्णन किये हुए वानर, राक्षस या देवता कुछ भी नहीं मिलते, इसी लिये आजकलके विचारक कहते हैं कि रामायणमें यह सब बातें अस्वाभाविक पायी जाती हैं। इस स्थलपर हम इन्हीं आपत्तियोंपर विचार करेंगे।

रामायणकी कथा आजसे कम-से-कम १५, १६ लाख वर्ष पूर्वकी है। वैज्ञानिकोंका अनुमान है कि इस पृथ्वीपर एक लाख वर्ष पूर्व आजकलके-से मनुष्य मौजूद नहीं थे क्योंकि न तो उस समयकी अवस्था उनकी रायमें मानव-जीवनके अनुकूल थी और न उसके इतने पुराने चिह्न ही मिलते हैं; परंतु साथ ही उनका यह भी अनुमान है कि जब इस भूतलपर मनुष्य न थे तब यहाँ बड़े-बड़े दानव और ब्याल विचरते थे जो बीस-बीस हाथ ऊँचे और पचास-साठ हाथतक लंबे थे। इनके शरीर बहुत कम ठोस होते थे, प्रायः दब और लचीले होते थे। इनका पता भी वैज्ञानिकोंको इसलिये मिला कि इनकी ठठरियाँ मिलती हैं। परंतु जिन प्राणियोंके शरीरमें दृढ़ और ठोस ठठरियाँ न थीं उनका पता कैसे लग सकता है? उस समयके प्राणियोंके लिये अनुमानमात्र किया जाता है। जब दो लाख वर्ष पूर्व ऐसे विचित्र शरीरधारी प्राणी थे तो १५, १६ लाख वर्ष पूर्व तो इससे भी अधिक और अद्भुत विशालकाय प्राणी हो सकते हैं। इसके सिवा यह भी सम्भव है कि जैसे दो लाख वर्षपूर्वके दानवाकार प्राणियोंका बहुत कम चिह्न बाकी रह गया है और उनकी जातिका तो नाश हो चुका है, वैसे ही १५-१६ लाख वर्षपूर्वके राक्षसों, असुरों, वानरों, किन्नरों आदि प्राणियोंकी जातियाँ भी कभी भी उच्छिन्न हो चुकी होंगी और उनका अब कोई चिह्न नहीं मिल सकता। कथाके इतने पुरानेपनपर विचार करनेसे वैज्ञानिकदृष्टिसे तो रामायणका कोई पात्र या उसकी क्रिया अस्वाभाविक या अनहोनी नहीं समझी जा सकती। इसलिये हम तो मानते हैं कि मनुष्योंका माँस खानेवाले भीमकाय राक्षस, मनुष्योंके बराबरकी संस्कृति और विकास रखनेवाले और उसी तरहका आचरण करनेवाले, बिना अग्निसे पकाये हुए फल-शाकाहारी विशालकाय वानर-जातिके प्राणी और उसी तरहके भालू उस समय इस धरतीपर रहते थे। यह लोग मनुष्योंसे बराबरीका सम्बन्ध रखते थे, वैसी ही भाषा बोलते थे और अच्छे आचरण रखते थे। वानर और भालू जातिके विकासकी वह चरम सीमा थे। उनकी जातिमें उससे अधिक विकास नहीं हो सकता था। इसलिये यह जातियाँ लाख दो लाख वर्षमें बिल्कुल नष्ट हो गयीं और उनके अत्यन्त पूर्वके रूपके लोग पशुरूपमें अर्थात् वर्तमान वानर-भालूके रूपमें रह गये हैं। उसी तरह राक्षसोंकी जाति भी रावणके साथ-साथ अपने विकास और उन्नतिकी चरम सीमाको पहुँच चुकी थी। इसीलिये वह भी रावणके बाद लाख दो लाख वर्षके आगे ठहर न सकी, उच्छिन्न हो गयी। महाभारतके हिडम्ब आदि राक्षस इस जातिके अवशेष मात्र हैं। रामायणमें जहाँ राक्षसोंकी असंख्य सेना है वहाँ महाभारतमें अकेला घटोत्कच है। वर्तमान समयमें राक्षस जातिका बिल्कुल उच्छेद हो चुका है। मनुजादोंकी जो जातियाँ इधर-उधर पायी जाती हैं वह उनके अत्यन्त अविकसित पूर्वरूपसे बची खुची हैं। जो लोग रामायणकी घटनाओंको पाँच-सात हजार वर्षोंके भीतरकी मानते हैं उन्हें हनुमान्‌जीको वानर और राक्षसादिको मनुष्य-जातिके अतिरिक्त प्राणी माननेमें संकोच होता है और होना ही चाहिये; क्योंकि ५ । ७ हजार वर्षके भीतर ऐसे प्राणियोंका अत्यन्ताभाव नहीं तो अभाव अवश्य ही समझना चाहिये। परंतु हम यह क्यों मान लें कि रामायणकी कथा केवल ५ । ७ हजार वर्षोंकी है? हमें ऐसा कोई विशेष कारण देखनेमें नहीं आता कि हम उन पश्चिमी लोगोंसे अपने यहाँके इतिहासके मामलेमें समयके विषयमें अवश्य ही सहमत हो जायँ जो हमारी प्राचीनताको घटानेके निरन्तर प्रयत्नमें लगे रहा करते हैं। सच्चा विज्ञान इस प्रयत्नका बराबर विरोध करता रहा है। मैं यह माननेके लिये तैयार नहीं हूँ कि हनुमान्‌जी कोई द्रविड़देशीय मनुष्य थे, यद्यपि मैं पार्जटरकी बहुत-सी कल्पनाओंका आदर करता हूँ। जिन प्राणियोंका शरीर बहुत तरल पदार्थोंका बना हुआ होता है वह अपने शरीरको संकोच और प्रसारसे सहजमें छोटा और बड़ा कर सकते हैं। शरीरका पदार्थ जितना ही तरल होगा उतनी ही इस बातमें आसानी होगी। वायुका संकोच इतना हो सकता है कि उसका बना पिण्ड लाखों गुना छोटा हो जाय और इतना फैलाव हो सकता है कि लाखों गुना बड़ा हो जाय। चापका प्रभाव वायुपर सभी जानते हैं। प्राचीन कालके ब्यालोंका शरीर अत्यन्त तरल पदार्थोंका बना होता था। सुरसा ब्यालोंकी माता थी। उसका शरीर भी इसी तरहका बना हुआ था। इसीलिये बिना अणिमा और महिमा सिद्धिके ही वह अपने अङ्गोंको अत्यन्त अधिक फैला और सिकोड़ सकती थी।

मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरमु तोर मैं पावा ॥ १२ ॥

अर्थ—(सुरसा बोली) देवताओंने मुझे जिस (बल-बुद्धिकी परीक्षाके) लिये भेजा था, (सो) उस तुम्हारे बुद्धि और बलका मर्म मैं पा गयी ॥ १२ ॥

टिप्पणी—हनुमान्‌जीसे इसके कहनेका प्रयोजन यह था कि वे यह न समझें कि मैं विघ्न करने आयी थी। अपनी सफाईके लिये ऐसा कहा। पुनः देवताओंका भेजना कहकर उनकी भी सफाई दी कि उन्होंने भी मुझे विघ्न करनेको नहीं

भेजा; किंतु बल-बुद्धिकी परीक्षाके लिये भेजा था। परीक्षाहेतु हमने तुमसे झूठ कहा था कि **'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा'**।

शंका—सुरसाने इस किस्मकी परीक्षा क्यों ली ?

उत्तर—जैसा काम लेना होता है वैसी ही परीक्षा भी होती है। सुरसाने सोचा कि इन्हें लंकामें प्रवेश करनेके लिये बहुत छोटा रूप और सिंहिका-वध तथा सीताजीके विश्वास एवं राक्षसोंसे युद्धके लिये बड़ा रूप धरना होगा। इसलिये ऐसी परीक्षा ली जिसमें दोनों रूप बनाना पड़े। (रामशंकरशरण व्यासजी)।

बलका मर्म इस तरह पाया कि बलसे उसके मुखमें न आ सके (उसके मुखसे दुगने ही रहे) और बुद्धिका मर्म इससे मिल गया कि बुद्धिसे मुखमें प्रवेश करके निकल भी आये। इतनी शीघ्रता की कि वह मुख बंद न कर पाई थी; अथवा कान, नाक आदि छिद्रोंसे बाहर निकल आये।

इस अर्धाली और आगे दोहेसे मिलता हुआ श्लोक अध्यात्मरामायणमें यह है—**"गच्छ साधय रामस्य कार्यं बुद्धिमतां वर ॥ २३ ॥ देवैः सम्प्रेषिताहं ते बलं जिज्ञासुभिः कपे। दृष्ट्वा सीतां पुनर्गत्वा रामं द्रक्ष्यसि गच्छ भोः ॥ २४ ॥"**

दो०—रामकाजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान ॥ २ ॥

अर्थ—तुम बल-बुद्धिके निधान (खजाना, पात्र, खान) हो (अतः) श्रीरामजीका सभी काम करोगे। आशीर्वाद देकर वह चली गयी (तब) हनुमान्‌जी हर्षपूर्वक चले ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) हनुमान्‌जीने प्रथम कहा था कि **'रामकाजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कै सुधि प्रभुहि सुनावौं'**, उसपर यह कहती है कि **'रामकाजु सबु करिहहु'** अर्थात् तुम यह सब करोगे, समुद्र लाँघकर श्रीसीताजीको देखोगे और उनका समाचार श्रीरामजीसे सुनाओगे (ख) **'बलबुद्धिनिधान'** का भाव कि बिना बल और बुद्धिके रामकार्य हो नहीं सकता। यथा **'जो नाँघइ सतजोजन सागर। करइ सो रामकाज मतिआगर'** (कि०)। (ग) हनुमान्‌जीने प्रणाम किया, इसीसे सुरसाने आशीर्वाद दिया। आशीर्वाद पानेसे हनुमान्‌जीको हर्ष हुआ; क्योंकि सुरसा देवी है। देवीके वचन असत्य नहीं हो सकते, इसके आशीर्वादसे सब कार्य होगा। पुनः 'हरषि' इससे कि जो भारी विघ्न मिला था वह भलीभाँति निवृत्त हो गया और विघ्नकारिणी भी आशीर्वाददायिनी हुई। पुनः भाव कि वह इनको इतनी देर रोके रही थी, इसलिये उनको प्रसन्न करनेके लिये उसने अपनी सफाई दी, आशीर्वाद दिया, प्रशंसा की और प्रसन्न किया। (घ) हनुमान्‌जी जबसे समुद्रतटसे चले तबसे यहीं रुके। बीचमें कहीं नहीं ठहरे। अतएव फिर **'हरषि चलेउ'** कहा। जब कोई कहीं रुकता या ठहरता है तब वहींसे उसका चलना भी कहा जाता है, यथा **'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी'**, **'चलेउ पवनसुत बिदा कराई'** इत्यादि। [यह दोहरा छन्द है। (प्र० सं०)]

नोट—सुरसाने पहले हनुमान्‌जीको 'तोर' कहा— **'बुधि बल मरमु तोर मैं पावा'** और यहाँ 'तुम्ह' बहुवचनका प्रयोग किया है। परीक्षा छोटेकी ली जाती है, जबतक किसीको कार्यके योग्य नहीं समझा जाता तभीतक परीक्षा की जाती है। परीक्षा प्रायः बड़ा ही करता है। अतएव परीक्षासम्बन्धसे 'तोर' कहा। परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर, बलबुद्धिनिधान जान लेनेपर उनको श्रीरामकार्य करने योग्य बलबुद्धिनिधान कहनेके समय सम्मानार्थ 'तुम्ह' बहुवचनका प्रयोग किया गया। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि वानररूप देखकर 'तोर' कहा पर जब बलबुद्धि कहनेका समय आया तब लज्जा लगी। इससे बहुवचनका प्रयोग किया। इससे उपदेश मिलता है कि जबतक किसी विशेष गुणकी प्रतीति न होगी तबतक कोई आदर न करेगा। **'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'**।

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई। करि माया नभ के खग गहई ॥ १ ॥

अर्थ—एक निशाचरी समुद्रमें रहती थी जो माया करके आकाशके खगोंको पकड़ लिया करती थी। १।

टिप्पणी—१ (क) निशाचरी कहनेका भाव कि सुरसा देवी थी और यह राक्षसी है; अतः जो निशाचर आते जाते थे उनको नहीं पकड़ती थी। (ख) **'सिन्धु महुँ रहई'** कहनेका भाव कि जीवोंके रहनेके नभ, जल और थल यही तीन स्थल हैं। इनमेंसे नभका विघ्न सुरसाद्वारा हुआ, जलमें सिंहिका विघ्न और थलमें लंकिनी विघ्न है। तीनों स्थलोंके विघ्न इस

प्रसंगमें कहे हैं। सुरसा बाहरसे आयी। यथा, **'पठइन्हि आइ कही ००'** और यह सिन्धुमें रहती है। 'रहई' पदसे इसका निवासस्थान जल ही निश्चय किया। (ग) कविने सुरसा, लंकिनी और त्रिजटा तीनके नाम लिखे, इस निशाचरीका नाम क्यों न लिखा ? उत्तर—ये तीनों निश्छल हैं और रामकार्यकी साधक हुई। यथा, **'रामकाजु सब करिहहु तुम्ह००'** (सुरसा), **'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥'** (लंकिनी), **'सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करौ हित अपना'॥** (त्रिजटा)। यह निशाचरी आदिसे अन्ततक कपटिन और दुष्टा है, रामकाजमें बाधक हुई, हनुमान्जीको खाने दौड़ी अर्थात् खानेका विचार किया। यथा—**'सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा'**। अतएव रामद्रोही, रामविमुखी जानकर कविने उसका नाम न लिखा, यथा, **'काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही॥'** अथवा, यह जलमें गुप्त रहती है; इसीसे ग्रन्थकारने भी गुप्त रक्खा, नाम न लिखा।

नोट—१ **'निसिचरि एक'** इति। इसका नाम सिंहिका है। यह हिरण्यकश्यपकी कन्या और विप्रचित्ति दैत्यकी स्त्री थी। यह कामरूपिणी (इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली) और छायाग्राहिणी थी। हनुमान्जीको देखकर इसने सोचा कि आज बहुत दिनोंके लिये पेट भर जायगा। नमुचि और राहु आदि तेरह दैत्योंकी यह जननी थी। इनमेंसे राहु सबसे भयंकर था।

शंका—कविने सिंहिका निशाचरी, लंकिनी और त्रिजटा इन तीनोंके साथ 'एक' शब्द दिया है, यथा—**'निसिचरि एक सिन्धु महँ रहई' 'नाम लंकिनी एक निसिचरी'** त्रिजटा **नाम राक्षसी एका'**। पर सुरसाके साथ यह शब्द नहीं दिया। यथा—**'सुरसा नाम अहिन्ह कै माता'** यह क्यों ? उत्तर—ये तीनों अपने-अपने कार्यमें एक ही (अद्वितीय) हैं, इनके समान दूसरा नहीं। निशिचरी (सिंहिका) के समान माया जाननेवाली लंकामें कोई नहीं है कि जो छाया पकड़कर जीव-जन्तुको खींच ले। लंकिनी लंकापुरी (का रूप) ही है। ऐसी दूसरी नहीं है जो लंकाके चोरको ही आहार कर ले। तीसरी त्रिजटा सो इसके समान रामभक्त और विवेक-निपुण लंकामें दूसरी राक्षसी नहीं। अतएव इन तीनोंके साथ 'एक' शब्द दिया गया। और, सर्पोंकी माता सुरसा और कद्रू दोनों हैं; इससे सुरसाके साथ 'एक' विशेषण न दिया। ये (सिंहिका, लंकिनी और त्रिजटा) तीनों एक ही एक प्रसिद्ध हैं और ये (सुरसा और कद्रू) दोनों प्रसिद्ध हैं। [कद्रू नागोंकी माता है और सुरसा सर्पोंकी। यद्यपि नाग और सर्पमें बहुत भेद है तथापि हिंदी भाषामें ये पर्यायी शब्द माने जाते हैं।]

वि० त्रि०—**'करि माया'** इति। राहुकी माता सिंहिका समुद्रमें रहती थी, यह मायासे आकाशचारियोंका शिकार बैठे-बैठे करती थी। अघटितघटनापटीयसी माया है। जो न होता हो उसे कर दिखाना माया है। माया समझमें नहीं आती। समझमें आ जाय तो वह माया ही नहीं रह जाती। होता तो ऐसा ही है कि छाया पकड़ी नहीं जाती। व्यक्तिके पकड़े जानेसे उसकी छाया पकड़ी जाती है। यहाँ सिंहिका छाया पकड़ती थी, और जिसकी छाया है, वह पकड़ा जाता था। यही माया है, यही अघटित घटना है। छाया पकड़कर जीवोंको अपने मुखमें खींच लेती थी, जैसे चढ़ी हुई पतंगको कोई डोरी पकड़ कर उतार लेते हैं।

टिप्पणी—२ खग=ख (आकाशमें) + ग (गमन करनेवाले)। यह शब्द यहाँ यौगिक है। आगे 'गहई' की विधि लिखते हैं अर्थात् बताते हैं कि किस विधिसे आकाशचारी जीवोंको पकड़ती है।

व्र० चं०—**'निसिचर एक'** से **'जे गगन उड़ाहीं'** तक 'पायकुलक' छन्द है। और फिर **'जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं'** द्रुतपा है।

जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं॥ २॥
गहै छाँह सक सो न उड़ाई। एहि बिधि सदा गगनचर खाई॥ ३॥

शब्दार्थ—जीवजन्तु=छोटे-बड़े सभी जीव। जीव शब्द बड़ेका और जन्तु बहुत छोटेका वाचक है। यथा—**'खग मृग जीव जन्तु तहँ नाहीं।** १—२१०—११।' **'जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥** ३—१३—७।' **'अस को जीवजन्तु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं॥** २—१६२—६।' स्थूल और सूक्ष्म, बड़े-से-बड़ा और छोटे-से-छोटा जाननेके लिये 'जीव-जन्तु' कहा।

टिप्पणी—१ 'जीव…' इति। (क) शंका होती है कि जन्तुसे क्या आहार होता है जो उन्हें पकड़ती है। समाधान यह है कि जन्तुओंसे कुछ आहार नहीं होता, उनसे पेट नहीं भर सकता, यह ठीक है। पर यहाँ तो केवल उसकी मायाकी

प्रबलता दिखानेके लिये कहा गया है कि जन्तु-सरीखे सूक्ष्म जीवोंतकको पकड़ लेती है। ['सभी गगनचारी जीव-जन्तुओंको क्यों पकड़ती है जब कि उनसे उसका पेट तो भरेगा नहीं ?' इसका उत्तर बाबा हरीदासजी यह देते हैं कि राक्षसोंका देवताओं-से वैर है, पर देवताओंकी छाया नहीं पड़ती, इससे वह उनको नहीं पकड़ पाती। इसी कुढ़नसे वह सभी जीव-जन्तुओंको पकड़ा करती है। यह भी सोचती है कि कहीं देवता ही खग बनकर न जाते हों। समुद्रमें असंख्यों जलचर हैं उनको नहीं पकड़ती, खाती। क्योंकि जानती है कि वे देवता नहीं हैं, सत्य ही जलचर हैं। प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'जीव-जन्तु' शब्दसे जनाया कि श्रीहनुमान्‌जी न तो पर्वताकार शरीर होनेसे इसकी मायासे बच सकते थे और न अत्यन्त लघुरूप हो जानेसे (जैसे सुरसासे बचे थे)। इससे बचनेके लिये कोई तीसरी ही युक्ति करनी पड़ेगी।] (ग) **'जे गगन उड़ाहीं'** का भाव कि सब जीव-जन्तु आकाशमें नहीं उड़ते, जो उड़ते हैं उनको पकड़ती है। (घ) **'जल बिलोकि'** से जनाया कि वह माया जलमें लगती है, सूखेमें परछाहीं पड़े और उसे वह पकड़ ले तो जीव-जन्तु पकड़े नहीं जा सकते। (ङ) 'खग' शब्द रूढ़ि पक्षि-वाचक है अर्थात् पक्षीको कहते हैं। इसीसे पूर्व 'खग' शब्द देकर अब उसीको पुनः स्पष्ट करते हैं कि **'जे गगन उड़ाहीं'** वा 'गगनचर' ये सब खग हैं। (च) **'एहि बिधि सदा गगनचर खाई'** अर्थात् सदैव जलमें ही रहती है और आकाशचारियों-को ही खाती है, जलचर और थलचरोंको नहीं खाती। यथा—**'सिंहिका नाम सा घोरा जलमध्ये स्थिता सदा। आकाशगामिनां छायासाक्रम्याकृष्य भक्षयेत्** ॥ अ० रा० ५। १। ३५।' पुनः, इससे जनाया कि उसका पराक्रम अत्यन्त दुर्धर्ष था, कोई अबतक उसके कार्यमें बाधक नहीं हुआ।

वैज्ञानिक रहस्य

सिंहिका राहुकी माता थी। जब पृथ्वीकी छायामें चन्द्रमा आ जाता है तब राहु नामक दैत्य चन्द्रदेवताको ग्रहण करने लगता है और जब सूर्य चन्द्रमाकी छायामें या ओटमें पड़ जाता है तब राहु नामक दैत्य सूर्यको खींचने लगता है। यह विशेष प्रकारकी शक्ति राहु और उसकी माता सिंहिकाहीमें बतलायी जाती है। छायाका अर्थ यह है कि उतने स्थानका प्रकाश रुक गया है अथवा प्रकाश नामक एक विशेष पदार्थकी धारामें कमी हो गयी है। ऐसी अवस्थामें किसी सूक्ष्म चुम्बकत्वकी-सी शक्ति-से छाया डालनेवाला पिण्ड खिंच जाता है और उसकी गतिमें रुकावट पड़ जाती है। चन्द्रमा और सूर्यकी गतिमें तो कोई रुकावट नहीं देख पड़ती पर साधारण गगनचारियोंमें ऐसी रुकावटका पड़ जाना और पिण्डका सिंहिकाकी ओर खिंच जाना असम्भव नहीं है। हनुमान्‌जीकी गतिमें ज्यों ही रुकावट मालूम हुई त्यों ही उन्होंने उसे खतम कर दिया।—(गौड़जी)।

सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा॥ ४॥

अर्थ—(उसने) वही छल हनुमान्‌जीके साथ किया। उसका कपट हनुमान्‌जीने तुरंत जान लिया। (छाया पकड़ने-का हाल तुरंत जान गये।) ॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) हनुमान्‌जी कपटको पहचानते हैं और कपटीको मारते हैं। इसीसे नाम-वन्दनामें नामको हनुमान् और कपटी कलिको कालनेमि कहा। यथा—**'कालनेमि कलि कपटनिधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥'** उपमामें भी **'सुमति समरथ'** कहा। भाव यह कि कपि कपटके रूप ही हैं इसीसे राक्षसीके कपटको तुरंत पहचान लिया, यथा—**'कपट मर्कट बिकट व्याघ्र पाखंड मुख सुखद मृगव्रात उत्पातकर्त्ता'**। वि० ५९।' (ख) **'तुरतहिं चीन्हा'** का भाव कि न जाने कबसे वह समुद्रमें रहती रही, सदैव आकाशगामियोंको खाती रही, पर किसीने भी उसका कपट न जान पाया, सभी गिरकर मूर्छित हो जाते थे, पर कपि तुरंत ही जान गये। [पाँड़ेजी कहते हैं कि—''चीन्हा' शब्द पूर्व परिचयका भी सूचक है। सुग्रीव जब राज्यसे निकाले हुए फिरते थे तब वे यहाँ आये थे। हनुमान्‌जी भी साथ थे।'' वाल्मीकीयमें सुग्रीवने इनको छायाग्राहिणीका परिचय दिया है। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'पहचाननेवालेपर मायाका बल नहीं चलता' यथा—**'सो माया रघुबीरहि बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची॥'** हनुमान्‌जी उसकी माया समझ गये। बुद्धिमतां वरिष्ठं हैं, समझनेमें देर न लगी, अतः उसके वधमें समर्थ हुए, मायाका बल न चला। 'हनूमान्' नाममें भाव यह भी है कि जो बड़े-बड़े अभिमानियों शक्र, राहु, पवि आदिके मानका हनन करनेवाले हैं उनके साथ छल किया, अतः इसका भी मान नष्ट करेंगे]। (ग) माया, छल और कपट तीनों पर्याय हैं। यथा—**'करि माया नभके खग गहई', 'सोइ छल', 'तासु कपट'**।

नोट—सर्ग १ श्लोक १८१-१९१ में वाल्मीकिजी लिखते हैं कि छायाके पकड़ जानेपर हनुमान्‌जीने सोचा कि मुझे सहसा किसीने पकड़ लिया है। नीचे जलमें विकृत मुखवाली राक्षसीको देखकर समझ गये कि हो-न-हो यह वही अद्भुत

छायाग्राही प्राणी है जिसे सुग्रीवने चलते समय बताया था। उसके मर्मस्थानोंको देखकर वे उसके मुँहमें घुसे और तीखे नखोंसे उन्होंने उसके मर्म-स्थानोंको फाड़ डाला और वेगसे बाहर निकलकर पुनः चले। अध्यात्ममें पैरसे मारना लिखा है। इसके मारनेके सम्बन्धमें मतभेद है। गोस्वामीजीने **'ताहि मारि'** पद देकर सबके मतोंकी रक्षा कर दी है।

ताहि मारि मारुतसुत बीरा। बारिधि पार गएउ मतिधीरा ॥ ५ ॥

अर्थ—उसको मारकर वीर और धीरबुद्धि पवनपुत्र समुद्रके पार गये ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ 'मारुतसुत' कहनेका भाव कि मारुत (वायु) किसीके ग्रहणमें नहीं आता। ये उन्हींके पुत्र हैं, अतः ये भी सिंहिकाके ग्रहणमें न आये। मरुत्से सब मायाका नाश होता है, इसीसे लोग मन्त्र पढ़कर फूँक देते हैं; अतः इन्हें माया न लगी। यथा—**'उड़ि बहोरि कीन्हेसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजन जाया ॥'**—[पुनः भाव कि (क) यद्यपि ये मारुत (पवन) के पुत्र हैं तथापि उनसे भी वीर हैं, यथा—**'बेग जीत्यो मारुत प्रताप मार्तंड कोटि। क० ५। ९।'** **'मारुतस्यौरसः पुत्रः प्लवने नास्ति मत्समः।** वाल्मी०। कि० स० ६७।' पवन भी रावणसे डरते थे, ये निःशंक हैं। (मा० त० सु०)। (ख) [महावीरजी जलचर न थे, जलमें इन्होंने सिंहिकाको मारा और फिर कूदते पर वहाँ कुछ आधार न था। जल-ही-जल था तो भी वे बिना सहारे अपने ही बलसे उछले और समुद्रपार पहुँच गये, यह पवनके वीर पुत्रका ही काम था। (रामशंकरशरणजी)]

२ 'बीरा, मतिधीरा' इति। वीर और मतिधीर कहनेका भाव कि सिंहिका प्रबल मायाविनी थी सो बल और बुद्धिसे जीती गयी। मारा इससे वीर कहा और घबड़ाये नहीं, समुद्र पार गये और ग्लानि न हुई; इससे मतिधीर कहा। अथवा, वीर हैं, इससे मतिधीर कहा। यथा—**'सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहि। २। १९१।'** सौ योजन जानेमें थकावट न हुई, उन्होंने एक साँस भी न ली और विघ्न-पर-विघ्न होनेपर भी क्षुब्ध न हुए। सावधान और आगेके लिये भी निःशंक, निश्चिन्त बने रहे, अतः मतिधीर कहा। यथा—**'अनिः श्वसन् कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति।** वाल्मी० ५। २। ३।' अर्थात् सौ योजन समुद्र लाँघकर भी वे न थके, उन्होंने थकावटकी एक साँस भी न ली। **'पार गएउ'** से श्रमरहित पार होना जनाया।

तहाँ जाइ देखी बन सोभा। गुंजत चंचरीक मधु लोभा ॥ ६ ॥
नाना तरु फल फूल सुहाए। खग मृग बृंद देखि मन भाए ॥ ७ ॥

अर्थ—वहाँ जाकर वनकी शोभा देखी। मधुके लोभसे भ्रमर गुंजार कर रहे हैं ॥ ६ ॥ अनेक तरहके फल-फूलसे शोभित वृक्ष और पशु-पक्षियोंके समूह देख मनको अच्छे लगे ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बन सोभा' इति। यथा—**'सुंदर बन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुप निकर मधु लोभा ॥ ४। १३। १।'** (ख) **'तहाँ जाइ'** से जनाया कि जलके समीप लंकापुरी नहीं है, कुछ दूरीपर है। (ग) **'देखी बन सोभा'** इति। शोभा वही है जो आगे वर्णन की है (घ), **'नाना तरु फल फूल सुहाए'** अर्थात् कोई वृक्ष ऐसा नहीं है जिसमें फल-फूल न हों, किसीमें फल, किसीमें फूल और किसीमें फल-फूल दोनों हैं। वनके आश्रयसे मृगवृन्द, फलके आश्रयसे पक्षी और फूलके आश्रयसे भ्रमरोंके वृन्द रहते हैं। (ङ) **'देखि मन भाए'** का भाव कि हनुमान्‌जी वनचर हैं, यथा—**'बनचर देह धरी छिति माहीं'**। वनचरको वन प्रिय लगना ही चाहिये। [फिर भी इन्होंने फल छुएतक नहीं, क्योंकि उनका सिद्धान्त है, प्रतिज्ञा है कि **'राम काज कीन्हे बिना मोहि कहाँ बिश्राम'**। कार्य हो जानेपर अशोकवनके फलोंको देखकर भूख लगी। यथा—**'सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा।'** यह मनका कैसा भारी संयम है !! **'मन भाए', 'सुहाए'** से सूचित किया कि वह वन प्राकृतिक सौन्दर्यसे मनको मोहित करनेवाला था]।

प० प० प्र०—यहाँ सागरतटके वनका वर्णन है। लंकाके परकोटेके भीतरके वन और उपवनका वर्णन आगे छन्दोंमें है। इस वर्णनके क्रममें एक विशेषता है जो मानसमें अन्यत्र नहीं देखी जाती। यहाँ पहले वन देखनेमें आया। यथा, **'तहाँ जाइ देखी बन सोभा'**। तब भ्रमरोंकी गुंजार सुननेमें आयी, यथा—**'गुंजत चंचरीक'**। फिर फल, फूल, पक्षी और पशु, क्रमशः देखनेमें आये। अन्य स्थानोंमें क्रम ऐसा है—**'सुंदर बन कुसुमित अति सोभा। मंजुल मधुप निकर मधु लोभा ॥'**, **'सरन्हि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मधुप निकर रस भूले ॥ २। १२४। ७।'** अर्थात् वनका फूलना कहकर भ्रमरोंका

गुंजार कहा गया है। यहाँ अन्यत्रका-सा वर्णन न करके दिखाते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी जैसे-जैसे वनकी ओर क्रमशः बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे स्वाभाविक अनुभूति क्रमसे हो रही है। दूरसे वन प्रथम दृष्टिगोचर हुआ, कुछ समीप पहुँचनेपर भ्रमरोंकी गुंजार सुन पड़ी। अधिक समीप पहुँचनेपर फल प्रथम देख पड़े क्योंकि ये बड़े होते हैं, तब फूल। वन घना होनेसे, पक्षी पत्तोंमें छिपे होनेसे अत्यन्त निकट जानेपर दिखायी दिये और तब पृथ्वीपर चलनेवाले पशु।

वि० त्रि०—'**खग मृग बृंद देखि मन भाए**' से स्पष्ट है कि रावण भी अपने वनकी शोभाको बने रहनेके लिये, खगमृगवृन्दको मारने नहीं देता था। अतः '**कहुँ महिष मानुष धेनु अज खर खल निसाचर भच्छहीं**' यह वर्णन उन जीवोंका है जो बाहरसे रसदकी भाँति पकड़कर लाये जाते थे। 'मानुष' का उल्लेख होनेसे इसी भावकी पुष्टि होती है।

सैल बिसाल देखि एक आगे। तापर धाइ * चढ़ेउ भय त्यागे॥ ८॥

अर्थ—आगे एक बड़ा भारी पर्वत देखकर श्रीहनुमान्‌जी उसपर भय छोड़ दौड़कर चढ़ गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम वन वर्णन किया फिर शैल। इससे पाया गया कि यह वन समुद्रके किनारेका है। यदि प्रथम शैलको कहकर तब वनका वर्णन करते तो पर्वतके ऊपरका वन समझा जाता। (ख) 'विशाल' और 'एक' से जनाया कि सब पर्वतोंसे यह भारी है। (ग) '**देखि एक आगे, धाइ चढ़ेउ**' का भाव कि यह पर्वत मार्गपर और दुर्गम्य था। इससे '**धाइ चढ़ेउ**' कहा। वानरोंके चढ़नेकी दो रीतियाँ हैं, एक तो कूदकर चढ़ते हैं, यथा—'**कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर**' '**कूदि लंक गढ़ ऊपर आवा। गहि गिरि मेघनादपर धावा॥**' दूसरे दौड़कर चढ़ते हैं जैसे यहाँ। भाव यह कि सघन वनके कारण लंका न देख पड़ी; अतएव उसे देखनेके लिये ऊँचेपर चढ़े। (घ) '**भय त्यागे**' का भाव—(१) उसपर रावणकी ओरसे कालका पहरा था। (यह बात अगली चौपाईसे स्पष्ट है) यथा कवित्तरामायणे, '**बड़ो बिकराल बेष देखि सुनि सिंहनाद डर्‌यो मेघनाद सबिषाद कह्यो रावनो। बेग जीत्यो मारुत प्रताप कोटि मारतण्ड कालऊ करालता बड़ाई जीत्यो बावनो॥**' (क० सुं०)। [(२) मयङ्क-टीकाकार लिखते हैं कि—'शिवजीको' 'अकस' (मर्ष) था कि ब्रह्माजीके पाँच शिर हैं और मेरे भी पाँच ही हैं। एक बार ब्रह्माजीको इस पर्वतपर बैठे देख उन्होंने उनका एक शिर काट डाला। तबसे ब्रह्माजीके चार ही शिर रह गये। चतुर्मुख ब्रह्माने शाप दिया कि जो कोई इस पर्वतपर पैर देगा अर्थात् इसपर आवेगा उसका शिर फट जायगा और उसे काल-सर्प भक्षण कर लेगा; परन्तु हनुमान्‌जीने इसकी कुछ परवाह न की, पर्वतपर निर्भय चढ़ गये' (मा० म०)।(३)। समुद्र पार करते समयमें ही दो विघ्न हुए थे और यह पर्वत तो खास लङ्का प्रदेशमें है, लङ्कापुरी अत्यन्त निकट है, न जाने इसपर क्या-क्या विघ्न उपस्थित हों, इसका भय छोड़कर उसपर चढ़ गये। (४) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'लंका निकट है और पहले पर्वत इनका वेग भार न सह सके थे' यह भय न किया। (५) पाँड़ेजी और वीरकविजी लिखते हैं कि '**भय त्यागे**' से शंका होती है कि क्या अबतक भय था! उत्तर यह है कि समुद्रमें दो विघ्न हुए; इसलिये पार होनेतक कोई और विघ्न न मिल जाय इसका सन्देह था, पर वह पार आ जानेसे दूर हो गया। अथवा, अबतक भय हनुमान्‌जीका साहस देखनेके लिये साथ था; किन्तु सिन्धु पार होनेपर वह हार मानकर चला गया, इससे निर्भय हुए।' (६) निशाचरोंका भय न किया कि न जाने रावणकी आज्ञासे इसपर रहते हों। (७-८) बाबा हरिदासजी कहते हैं कि इस पर्वतपर रावणका विहार-स्थान (क्रीड़ा-भवन) बना है जिसकी रक्षाके लिये यहाँ सदैव निशाचरगण रहते हैं। ऐसे स्थानमें चुपचाप गुप्त रीतिसे जाना उचित था, पर हनुमान्‌जी उसपर भी निर्भय चढ़ गये। पुनः दूसरा समाधान विश्राम-सागरमें इस प्रकार है कि '**शिवा शापयुत शैलपर, गयेउ भयउ नहिं बाल। कछु प्रभाउ नहिं कीश को प्रभु प्रताप भखि काल॥**' (शीला)। (९) उसपर चढ़नेसे लंकावासी इनको देख लेंगे यह भय न किया। (वि० त्रि०)।

उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई॥ ९॥
गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी। कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी॥ १०॥
अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा। कनककोट कर परम प्रकासा॥ ११॥

* धाइ—ना० प्र०। धाय—भा० दा०। कूदि—रा० प० (का०), पं०। 'धाइ' का भाव टिप्पणीमें है। 'कूदि' पाठके विषयमें मा० त० सु० का मत है कि—'जहाँ केवल ऊँचे चढ़ना है वहाँ कूदकर चढ़ना ही वानरोंका जातीय स्वभाव है। किसी ऊँचे स्थानपर दौड़कर नहीं चढ़ते किन्तु कूदकर ही चढ़ते हैं। 'धाइ' के समर्थनमें यह कहा जा सकता है कि यहाँ 'बिसाल' विशेषण दिया गया है जिसका अर्थ प्रायः लंबा-चौड़ा और बड़ा होता है। लंबे-चौड़े पर्वतोंमें ढाल भी होता है।

अर्थ—हे उमा! इसमें कुछ कपिकी बड़ाई नहीं है। यह प्रभुप्रताप है जो कालको भी खा जाता है॥ ९॥ उन्होंने पर्वतपर चढ़कर लंकापुरी देखी। अत्यन्त विशेष दुर्गका वर्णन नहीं हो सकता *॥ १०॥ वह अत्यन्त ऊँचा है। उसके चारों ओर समुद्र है। स्वर्णकोट परम प्रकाश कर रहा है॥ ११॥

टिप्पणी—१ **'उमा न कछु…'** इति। (उमा सम्बोधनसे यहाँ **'उमा शंभु'** संवाद जनाया। 'भय त्यागे' सुनकर श्रीपार्वतीजीकी चेष्टामें कुछ आश्चर्यकी झलक आ गयी, यह देखकर शिवजी समाधान करने लगे कि **'उमा न कछु…'**। हनुमान्‌जीको देखकर काल कैसे भाग गया? इसपर शिवजी कहते हैं कि यह प्रभुका प्रताप है जो हनुमान्‌जीके साथ है। यही बात श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीताजीसे तथा श्रीरामजीसे कही है। यथा **'प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल। १६।' 'तव प्रभाव बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल'**। ३३।' उनके प्रतापसे कपि कालको खा सकता है। यथा—**'पटकौं नीच मीच मूषक ज्यों सबहि को पाप बहावौं। तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं॥** गी० ६। ८।' [श्रीरामजीने किष्किन्धासे इनके पयानके समय **'परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥** ४। २३। १०।' यही प्रताप उनके साथ है। श्री वि० त्रि० जी लिखते हैं 'जिस शैल विशालपर हनुमान्‌जी दौड़कर चढ़े, वह इतना ऊँचा था कि उसपरसे लंकाका भीतरी दृश्य दिखायी पड़ता था। अतः उसपर चढ़ना और कालके मुखमें जाना एक ही बात थी। क्योंकि उसपर चढ़े हुएको लङ्काभरके निशाचर देख सकते थे। यह प्रभुका प्रताप था कि इतने विशाल पर्वतके शिखरपर आरूढ़ इतने विशालकाय हनुमान्‌जीको किसीने नहीं देखा।']

२ दूसरा कवि होता तो श्रीहनुमान्‌जीकी बड़ाई करता। पर शिवजी स्वयं हनुमानरूपमें हैं, इससे अपने मुखसे अपनी बड़ाई कैसे करें? अपने मुखसे अपनी बड़ाई करना निन्दित है। इसीसे तो लक्ष्मणजीने परशुरामजीसे कहा—**'अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥** १। २७४।' **'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।** २७४।' (वीरकविजीका मत है कि यहाँ शिवजीने हनुमान्‌जीके पराक्रमका निषेध इसलिये किया कि उसका धर्म **'प्रभु प्रताप'** में स्थापित करना अभीष्ट था जो कालका भी भक्षक है। यह 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है।')

३ [**'कपि कै अधिकाई'** का भाव कि यह करनी 'कपि' (बन्दर) की नहीं है और न यह बन्दर है। यह साक्षात् प्रभुप्रताप है (वानरका शरीर धारण करके आया है) जो कालका भक्षक है। इससे रौद्ररस साबित हुआ। (पाँड़ेजी)]

☞प्र०—गोस्वामीजी जहाँ कोई चरित या प्रसंग समाप्त करते हैं वहाँ प्रायः संवादकर्ताका या अपना नाम रखते हैं, जो अध्यवसाय या सर्गका काम देता है। यहाँ शिवजी दैन्यघाटको बड़ाई दे रहे हैं।

टिप्पणी—४ (क) दुर्ग=किला, यथा, **'चढ़े दुर्ग पुनि जहँ तहँ बानर' 'उतरेउ बीर दुर्ग तें सनमुख चलेउ बजाइ' 'चला दुर्ग तजि सेन न संगा'**। (ख) **'लंका तेहि देखी'** और **'कहि न जाइ'** इन पदोंसे जनाया कि देखते ही बनता है, कहते नहीं बनता। यथा, **'देखत बनै बरनि नहिं जाई'** (ग) 'तेहि' अर्थात् जो कपि कालको खा सकता है उसीने पर्वतपर चढ़कर लंका देखी। तात्पर्य कि लंकाका नाश करेगा। प्रथम समुद्र पार करके वनकी शोभा देखी, अब लंका देखी। जितनी वस्तुएँ देख पड़ीं उतनीका वर्णन आगे क्रमसे करते हैं।

नोट—१ ☞ **'गिरि पर चढ़ि लंका तेहि देखी'** इति। ☞ किसी देशमें, विशेषतः शत्रुके देशमें जानेके पहले उसकी रीति-भाँतिका परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। पर्वतपरसे उन्होंने लंकाकी बहुत-सी कामकी बातें देख लीं।

त्र० चं०—**'सैल बिसाल देखि एक आगे।…'** से **'लंका तेहि देखी।'** तक पायकुलक है। **'कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी'** द्रुतण और **'अति उतंग…प्रकासा'** पायकुलक है।

टिप्पणी—५ **'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा'** इति। (इस अर्धालीसे 'अति' शब्द उठाया गया है जो आगे छन्द और दोहेतक ले जाया गया है। **'अति उतंग' 'अति बल, अति लघु।'** **'अति उतंग'** का भाव कि लङ्कापुरी अपने स्वरूपसे ऊँची है और पहाड़पर बसी है। अतः 'अति उतंग' है। यथा **'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।'** किलेके चारों

* पं० रामकुमारजीने 'किला' अर्थ किया है। अर्थात् लङ्काके किलेको देखा जो अति विस्तृत था, अतः 'कहि न जाइ'। बाबा हरिहरप्रसादने 'दुर्गम' अर्थ किया है। अर्धालीके अर्थ यों भी किये जाते हैं—'जो विशेषकर अत्यन्त दुर्गम था' (मा० त० सु०)। 'अत्यन्त दुर्गम होनेकी विशेषता कही नहीं जाती' (वीरकवि)।

ओर खाईं होती है। यहाँ समुद्र ही खाईं है, यथा **'खाईं सिंधु गँभीर अति चारिउ दिसि फिरि आव। कनककोट मनिखचित गृह बरनि न जाइ बनाव॥'** 'परम प्रकासा' का भाव कि स्वर्णका प्रकाश है और उसमें दिव्य मणि लगे हैं। उनका परम प्रकाश है, जैसा आगे कहते हैं।

वि० त्रि०—'अति उतंग' कहनेसे भाव यह कि बड़ा भारी पाट समुद्रका चारों ओरसे है। कहींसे पृथ्वी सन्निकट नहीं है। पृथ्वीके गोलाकार होनेसे समुद्रकी ओर देखनेसे पृथ्वी आकाशसे मिली हुई मालूम होती है। अतः जितने ऊँचेपर चढ़े उतना ही विस्तार समुद्रका दिखायी पड़ता है। यथा—**'सेतु बंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु बहुताई॥'** यहाँ तो गिरिपर चढ़कर हनुमान्‌जी देख रहे हैं। अत्यन्त विस्तार समुद्रका देखनेपर भी चक्षुके विषयका अवरोध समुद्रकी ऊँचाईसे ही हो रहा है। भाव यह कि किसी ओरसे लङ्कामें जानेके लिये सौ योजनसे कम पाट नहीं है।

नोट—ऊपर जो कहा था कि **'लंका तेहि देखी'**, उसीका वर्णन अब करते हैं। नगरके वर्णनमें खाईं, कोट, अटारी, ध्वजा, बावली, कूप, तालाब, बार, नारि, आसती और सतीका वर्णन होता है यह 'कविप्रिया' का मत है। इनमेंसे सती और ध्वजाका वर्णन नहीं किया गया है।

छंद—कनककोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना[1] घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट[2] बीथी चारु पुर बहु बिधि बना॥
गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनै॥ १॥

अर्थ—सोनेकी चहारदीवारी (शहरपनाह, परकोटा) मणियोंसे विचित्र बनायी गयी है* उसमें सुन्दर आयतन (स्थान, घर) बहुत-से हैं। चौक (चौराहे), बाजार, सुन्दर रास्ते अर्थात् राजमार्ग, सड़कें और गलियाँ हैं। सुन्दर नगर (इनसे एवं और भी) बहुत प्रकारसे बना (सजा) है। हाथी, घोड़ों और खच्चरोंके समूह, पैदल और रथोंके समूहोंको कौन गिन सकता है? बहुतसे रूपोंके निशाचरोंके यूथ (समूह) हैं जो अत्यन्त बलवान् हैं। अत्यन्त बलवती सेना वर्णन करते नहीं बनती॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) नगरके चारों ओर सोनेका शहरपनाह है जो अनेक रंगोंकी दिव्य मणियोंसे जटित है। अतः 'विचित्र' कहा। बनाव अच्छा है अतः सुन्दर 'आयतन' कहा। यथा **'कनक कोट मनिखचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव'** (बा० १७८)। 'घना' के दो अर्थ हैं, एक यह कि (घर) बहुत हैं, दूसरे बस्ती सघन है। यहाँतक कोटका वर्णन हुआ। आगे पुरका वर्णन है, जिससे ज्ञात हुआ कि कोटके भीतर नगर है।

२ (क) 'चउहट्ट हट्ट' इति। यथा **'राजदुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू॥'** (उ० २८), **'चौहट सुंदर गली सोहाई। संतत रहहिं सुगंध सिंचाई॥'** (ख) कोटका बनाव कनक और मणिसे होना कहा। पर पुरके बनावमें पाषाण, मृत्तिका आदि कुछ भी न कहा। इससे जनाया कि वह भी कनकमणिरचित है। यथा **'सोइ मयदानव बहुरि सँवारा। कनकभवन मनिरचित अपारा॥ १। १७८।'** **'बहु बिधि'** का अन्वय सबके साथ है। (ग) प्रथम कोट, फिर राजाका स्थान और तत्पश्चात् पुरका वर्णन और प्रजाओंके स्थानोंका वर्णन किया गया, आगे पुरके रक्षकोंका वर्णन है।

१. प्राचीन पाठ 'सुंदरायता घना' है। आधुनिक पाठ कहीं-कहीं 'सुन्दरायत अति घना' है, जिसका अर्थ होगा 'अत्यन्त सुन्दर और चौड़ा एवं सघन है'। 'सुंदरायतना'का अर्थ सुंदरताका स्थान भी किया गया है।

२. प्राचीन पाठ यही है। आधुनिक टीकाओंमें कहीं-कहीं 'सुघट्ट' है।

* १ वीरकविजी लिखते हैं कि ऊपरकी चौपाई ('कनककोट कर परम प्रकासा') में कोटका अर्थ शहरपनाह किया गया है। छन्दके 'कनककोट' में 'कोट'का अर्थ राजप्रासाद है, शहरपनाह नहीं। 'कोट' शब्दके गढ़, शहरपनाह, राजमन्दिर और यूथ पर्यायी शब्द हैं। जब चौक, बाजार आदिका वर्णन है, तब यहाँ प्राचीर (शहरपनाह) से प्रयोजन नहीं है। शहरपनाहपर मणिका जड़ा जाना अयुक्त है। इससे लक्षणा राजमन्दिरहीको व्यञ्जित करती है। २—'विचित्र' से चित्रामका बना होना भी ले सकते हैं।

३ 'गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि···' इति। (क) गज, बाजि, रथ और पदचरसे चतुरंगिणी सेना हुई। (**'बहुरूप निसिचर यूथ'** इति। 'यूथ' से यहाँ एक ही जाति, वर्ग या रूपके अनेक निशाचरोंके समूह अभिप्रेत हैं। 'बहुरूप' से कामरूप एवं श्वान, शूकर, शृगाल, गर्दभ, अश्व, व्याघ्र, अज आदिके समान मुखवाले, अनेक रूप-रंग और आकारके निशाचर समझना चाहिये। प्रत्येक रूपका अलग-अलग यूथ है।) (ख) **'सेन बरनत नहिं बनै'** इति। एक-एक यूथपतिकी सेना अगणित है। यह सेना चतुरंगिणी सेनासे पृथक् है। जैसा छन्दमें क्रम-वर्णन है उसी रीतिसे पुरकी रक्षाके लिये सेना खड़ी है। हाथी (१), घोड़े (२), रथ (३), पैदल (४), खच्चर (५), मल्ल (६) और भट (७) यह सप्तावरण हैं।

४ (क) पुरवर्णनमें छहों दुर्गोंका वर्णन किया अर्थात् छहों दुर्गोंके भीतर पुर बसा है। **'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।'** यह गिरिदुर्ग कहा। **'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा'**, यह जलदुर्ग कहा। **'तहँ जाइ देखी बन सोभा'** यह वन-दुर्ग कहा। **'गज बाजि खच्चर'** से **'नगर चहुँ दिसि रच्छहीं'** तक नरदुर्ग कहा। किलेके भीतर जलवर्णन किया। यथा—**'बनबाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं'**, पर किलेके बाहर जल वर्णन नहीं किया। इससे यह 'धन्वदुर्ग' कहा। निर्जल देशको 'धन्व' कहते हैं। (ख) 'कनककोट' से 'किलादुर्ग' कहा। (ग) महाभारतमें सात प्रकारके दुर्गोंका उल्लेख है। यथा **'धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम्॥'** अर्थात् निर्जल भूमि, दलदल, जलकी खाईं, वन, पर्वत, चतुरंगिणी सेना और किला—ये ही सात प्रकारके दुर्ग राजधानीके होते हैं। यहाँ छः कहे, सातवाँ दलदल दुर्ग गुप्त है।*

छंद—बन बाग उपवन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।
नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं॥

अर्थ—बन, बाग, उपवन (क्रीड़ाका वन), फुलवाड़ी, तालाब, कुएँ और बावलियाँ शोभा दे रही हैं। नर, नाग, सुर और गन्धर्वोंकी कन्याएँ अपने सौन्दर्यसे मुनियोंके मनको मोहित कर रही हैं।

नोट—१ 'वन' वह है जिसमें सिंह, बाघ रहें और जो बिना लगाये उपजे। यथा—**'फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥'** जिसमें फल-फूल हों वह बाग है, यथा—**'भूप बाग बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लुभाई॥ लागे बिटप मनोहर नाना॥ बरन बरन बर बेलि बिताना। नवपल्लव फल सुमन सुहाये॥'** उपवन क्रीड़ावन है। यथा—**'सुंदर उपबन देखन गये। सब तरु कुसुमित पल्लव नये॥ ७। ३२। २।'** बाटिका=फुलवारी। यथा—**'सुमन बाटिका सबहि लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥ लता ललित बहु भाँति सुहाई। फूलहि सदा बसंतकी नाई'॥** पुनः, उपवन वनसे बहुत छोटा होता है, प्रायः यह विधानपूर्वक लगाया जाता है और क्रीड़ा वा विहारके लिये होता है। पुराणोंमें चौबीस प्रकारके उपवन वर्णन किये गये हैं। बागमें केवल फल-फूलवाले वृक्ष होते हैं। यह उपवनसे छोटा होता है।

टिप्पणी—१ (क) **'बन बाग उपबन बाटिका'**—वाटिका फूलती है, बाग फलता है और वन पल्लवित होता है। यथा—**'सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंग निवास। फूलत फलत सुपल्लवित सोहत पुर चहुँ पास॥ १। २१२॥'** (ख) प्रथम वन है, वनके आगे बाग, बागके आगे उपवन और उपवनके आगे बाटिका है। (ग) बाग, उपवन और वाटिकाके मध्यमें जलाशय होता है। यथा **'मध्यबाग सर सोह सुहावा।'** अर्थात् ये सातों (वन, बाग, उपवन, बाटिका, सर, कूप और वापी) क्रम-क्रमसे एक-एकके सम्बन्धसे सोह रहे हैं। वनसे बागकी शोभा, बागसे उपवनकी और उपवनसे वाटिकाकी शोभा होती है। जलाशयसे ये सब सोहते हैं और इनसे जलाशय। (घ) ये वन-बाग आदि पुरके बाहरकी शोभा हैं। मिलान कीजिये—**'पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर रुचिर अमराई॥ देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपवन बापिका तड़ागा॥'** (उ० २९)।

२ **'नरनाग सुर गंधर्ब कन्या'** इति। (क) यहाँ राक्षसियोंको नहीं कहते। जो त्रिलोककी सुन्दरी हैं उनका यहाँ वर्णन है। यथा—**'देव यक्ष गंधर्ब नर किंनर नागकुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदरि बर नारि॥ १। १८२॥'**

* कोई-कोई 'शस्त्रदुर्ग' और 'मन्त्रदुर्ग' भी मानते हैं और 'मंडलीकमनि रावन राज करइ निज मंत्र' को मन्त्रदुर्गका उदाहरण मानते हैं। इस श्लोकमें पं० रामकुमारजी तथा मा० त० सु० कारने सात दुर्ग माने हैं और किसी-किसीने छः ही माने हैं।

(ख) **'मुनिमन मोहहीं'** अर्थात् मुनियोंका ज्ञान-वैराग्य छूट जाता है। ज्ञान-वैराग्य छूटनेसे मोह होता है। यथा—**'सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके ॥ १ । १२९ ॥'** (ग) ये सब स्त्रियाँ उस बाग-वाटिका आदिमें विहार कर रही थीं। क्योंकि सायंकालमें थोड़ा दिन रहे हनुमान्‌जी वहाँ पहुँचे थे। विहारका समय है। इसीसे **'बाग उपवन बाटिका'** कहकर उनके समीप इनको कहा।

नोट—२ यहाँ यह शंका करके कि 'इस समय तो लंकामें कोई मुनि था नहीं तब यहाँ **'मुनि मन'** के साथ वर्तमानकालिक क्रिया 'मोहहीं' क्यों दी गयी?' इसका उत्तर यह दिया जाता है कि—(क) व्याकरणके अनुसार भूत और भविष्य अर्थमें भी क्रिया वर्तमानवत् विकल्पसे होती है। यथा पाणिनिः—**'भूते भविष्यति च वर्तमानवद्वा'** **'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ॥ ३ । ३ । १३१ ॥'** (ख) यहाँ इस समय श्रीहनुमान्‌जी मुनि हैं। यथा कवित्तरामायणे—**'देख्यो बर बापिका तड़ाग बागको बनाव रागबस भो बिरागी पवनकुमार सो ॥ ५ । १ ॥'** कवितावलीका **'राग बस भो'** ही मनका मोहित हो जाना है। 'मोहहीं' से कामोद्दीपनका अर्थ यहाँ नहीं लिया जायगा, बल्कि 'आश्चर्यमें पड़ गये' यह अर्थ होगा। देवकन्याओंको राक्षसोंके पुरमें देखकर आश्चर्य हुआ।' (मा० त० सु०)। इस समाधानके प्रत्युत्तरमें यह कहा जा सकता है कि देवकन्याओंके वहाँ होनेमें आश्चर्य क्यों होगा? यह सब जानते हैं कि देव-नर-नाग सभीकी कन्याएँ रावण ले गया था। यथा, **'देव यक्ष गंधर्व नर किन्नर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल० ॥'** (बा० १८२)। वस्तुतः **'मुनि मन मोहहीं'** कहकर उन कन्याओंका अतिशय सौन्दर्य दिखाया है। वे ऐसी रूपवती हैं कि मुनितक मोहित हो जायँ, औरोंकी कौन कहे!

टिप्पणी—३ **'गज बाजि''बरनत नहिं बनै'** को छोड़ **'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा।'** से यहाँतक लंकाकी सब वस्तुएँ जो वर्णन की गयीं शोभासम्पन्न हैं। अतएव उन सब ठौरोंमें शोभावाचक पद दिये। यथा, **'तहँ जाइ देखी बन सोभा'** **'नाना तरु फल फूल सुहाए'** **'खगमृग बृंद देखि मन भाए'**। शैलकी शोभा भारी वन है और विशाल शब्द सुन्दरका भी वाचक है। यथा—**'सैल बिसाल देखि एक आगे'** **'कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी'**। सब शोभायुक्त हैं इसीसे **'अति उतंग'** से यहाँतक बराबर शोभासूचक परम प्रकासा 'सुन्दर' 'चारु' 'सोहहीं' 'मोहहीं' शब्द आये हैं। राक्षसोंकी सेना और राक्षस शोभित नहीं हैं वरन् भयानक हैं; अतएव उनकी शोभा नहीं कही। यथा—**'गज बाजि''बरनत नहिं बनै'** और **'कहुँ माल देह'** से **'निसाचर भच्छहीं'** तक। इनमेंसे किसी चरणमें शोभावाचक पद नहीं लिखा।

कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गर्जहीं।
नाना अखारन्ह भिरहिं बहुबिधि एक एकन्ह तर्जहीं ॥ २ ॥

अर्थ—कहीं-कहीं पर्वतके समान विशाल शरीरवाले अत्यन्त बलवान् पहलवान अत्यन्त बलसे गरज रहे हैं। अनेकों अखाड़ोंमें आपसमें एक दूसरेसे बहुत तरहसे भिड़ते (लड़ते) और एक दूसरेको ललकारते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) निशाचरके साथ तो यूथ कहा और 'माल' को 'कहुँ'। यद्यपि 'अतिबल' दोनोंमें है, यथा—**'बहुरूप निसिचरयूथ अति बल।'** कारण यह है कि निशिचर बहुत हैं इससे उनके यूथ कहे और मल्ल कम हैं इससे इनको 'कहुँ' कहा। हजारोंमें कोई एक पहलवान होते हैं, सब नहीं। (ख) **'देह बिसाल सैल समान'** से सूचित किया कि जैसे विशाल शैलपर भय छोड़कर हनुमान्‌जी चढ़े वैसे ही इनपर भी (कि जो विशाल शैल-समान हैं चढ़ेंगे अर्थात् इनको धर दबावेंगे। हनुमान्‌जीके ऊपर प्रभुप्रताप है जो कालको खाता है, अतः ये राक्षसरूपी कालको खायेंगे। (ग) 'अति बल'का भाव कि जैसी विशाल देह है, वैसा ही विशाल बल है, इसीसे महाध्वनि करके गरजते हैं। (घ) यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।

२ **'नाना अखारन्ह'** इति। नगरकी चारों ओरसे रक्षा करते हैं। प्रत्येक दिशामें अनेक अखाड़े हैं। 'बहुबिधि' से भिड़ते हैं अर्थात् अनेक दाँव-पेंच करते हैं, एक-एकको डाँटते हैं, यह पहलवानोंकी चाल है। यथा—**'गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं' 'गर्जत तर्जत सनमुख धावा'**।

छन्द—करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं ॥

अर्थ—भयंकर शरीरवाले करोड़ों योद्धा यत्न करके नगरकी रक्षा चारों दिशाओंमें करते हैं। कहीं भैंसा, कहीं मनुष्य, गाय, गधा और कहीं बकरा दुष्ट निशाचर खा रहे हैं।

टिप्पणी—१ (क) नगरकी रक्षा सबके पीछे लिखकर जनाया कि चतुरंगिणी सेना, निशाचरयूथ, मल्ल और भट—ये सब नगरकी रक्षा करते हैं। चार प्रकारके रक्षक हैं, चारोंको पृथक्-पृथक् छन्दके एक-एक चरणमें कहा और उत्तरोत्तर विशेष कहा। पदचरसे निशिचरयूथ प्रबल, इनसे मल्ल प्रबल और मल्लसे भट प्रबल हैं। (ख) 'करि जतन' इति। यत्न यह कि कोई मार्गमें बैठकर, कोई आकाशमें, कोई गुप्त, कोई प्रकटरूपसे रक्षामें तत्पर हैं। वा यत्न यह कि चतुरंगिणी सेनाकी व्यूहरचना बाँधे हैं। पूर्वद्वारपर दश हजार भट, दक्षिणपर एक लक्ष भट, पश्चिम द्वारपर दश लक्ष और उत्तर द्वारपर शतकोटि भट हैं—यह जो वाल्मीकीयमें लिखा है उसे गोस्वामीजीने एक शब्द 'कोटिन्ह' से सूचित कर दिया है। (ग) 'चहुँदिसि' का अन्वय सबमें है अर्थात् चारों ओर सुन्दर नगर बहुविधि बना है, नगर चारों ओरसे सुन्दर है, चतुरंगिणी सेना चारों ओरसे रक्षा करती है, वन-बाग आदि चारों ओर सोह रहे हैं, चारों ओर समुद्र हैं, आगे दिये हुए मिलानसे यह भाव सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि जैसी शोभा चौक आदिकी वर्णन की है वैसी चारों ओर है; बीचमें किला है। मिलान कीजिये—'**पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर। रचे कँगूरा रंग रंग बर॥**' '**हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिउ पासा॥**' '**करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं॥**' '**फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास।**' और '**अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा।**'

(पं० रामकुमारजीका मत है कि 'कहुँ' पद 'माल' के विषयमें है। 'कहुँ माल' पूर्व कहकर यहाँ उन्हींके सम्बन्धमें 'कहुँ' पद दिया; जैसे अब भी पहलवान कसरतके बाद जलेबी आदि खाते हैं वैसे ही ये मल्ल महिष आदि खाते हैं। और मा० त० सु० का मत है कि 'कहुँ' पद यहाँ कौतूहलसूचक है। कहीं-कहीं यही काम कौतूहलपूर्वक हो रहा था। यहाँ '**महिष मानुष भच्छहीं**' यह वाक्य सामान्य रूपसे सम्पूर्ण लंकावासियोंके भक्ष्यपदार्थोंका सूचक है। 'कोटि' शब्द असंख्यत्वाची है)।

२ (क) 'भच्छहीं' से कच्चा खाना जनाया। महिष मनुष्यादि सब जीवित खड़े हैं, इन्हें पकड़-पकड़कर खा जाते हैं। इसीसे 'खल' कहा। यदि जीता न खाते तो मांस खाना लिखते। (ख) राक्षसोंकी चार क्रियाएँ लिखी हैं—गर्जहीं, तर्जहीं, रक्षहीं और भक्षहीं। गरजकर तर्जन करनेसे भय उत्पन्न होता है, इसीसे गर्जहीं कहकर तर्जहीं कहा। रक्षा कहकर तब भक्षण कहनेसे राक्षसोंका स्वामि धर्म दिखाया कि प्रथम स्वामीका कार्य कर लेते हैं, तब खाते हैं।

प० प० प्र०—रावणके बंदीखानेमें तो सभी लोकपालादि देवता हैं। ब्रह्मा और शिवको भी नित्य पुजानेके लिये आना पड़ता है तब किसका भय था जो नगरकी रक्षाके लिये इतने रक्षक चारों दिशाओंमें रहते हैं? शूर्पणखाके वचनसे सिद्ध होता है कि खरदूषणवधतक यह बात न थी। यथा—'**देस कोष कै सुरति बिसारी।**···**सुधि नहिं तव सिर पर आराती। ३। २१। ६-८।**' इससे अनुमान होता है कि सीताहरणके पश्चात् यह प्रबन्ध किया गया है। कहा ही है '**पर द्रोही कि होहि निस्संका।**' यह वचन त्रैलोक्य-विजयी रावणमें भी चरितार्थ हुआ। (अथवा, शत्रुओंसे कभी निश्चिन्त न रहना चाहिये। देवता वैरी हैं ही, न जाने कब अवसर पाकर चढ़ आवें। शत्रु न भी हो तब भी सेना आदिकी शिक्षा आदि शिथिल न पड़ने देना चाहिये)।

वि० त्रि०—छन्दकी आलोचनासे यह पता लगता है कि लंकामें दो बातोंकी कदर थी, एक बलकी और दूसरे सुन्दर स्त्रीकी। स्त्री सुन्दरी होनी चाहिये, आप चाहे कुरूप ही क्यों न हों। सुन्दरी मिलनेपर जाति आदिका कोई विचार नहीं, यथा—'**नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं।**' आज भी आसुरी सम्पत्वाले इसका कोई विचार नहीं करते। कुत्तेकी नसलका विचार करते हैं, घोड़ेकी नसलका विचार करते हैं, पर अपनी नसलका विचार नहीं करते।

एहि लागि तुलसीदास इन्ह की कथा कछु एक है कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही॥ ३॥

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि इनकी कथा इसलिये कुछ थोड़ी-सी (संक्षिप्त) कही कि रघुवीरके बाणरूपी तीर्थमें शरीरको छोड़कर ये मोक्ष पावेंगे, यह निश्चय है * ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कछु एक' का भाव कि कोट, पुर, चतुरङ्गिणी सेना, निशिचरयूथकी सेना, वनादिकी शोभा, त्रैलोक्यसुन्दरी, 'माल', पहलवानोंकी कसरत, नगरकी रक्षा और राक्षसोंका भक्ष्य और भक्षण ये दसों बातें जो यहाँ कही गयीं वे सब एक-ही-एक चरणमें लिखी गयीं और अन्तमें राक्षसोंकी मुक्तिका निश्चय कहा सो भी एक ही चरणमें।

* वीरकविजी 'सही' का अर्थ 'शुद्ध' करते हैं अर्थात् 'शुद्ध गति (मोक्ष) पावेंगे।'

(ख) **'एहि लागि'** का भाव कि अधर्मियोंका चरित्र न वर्णन करना चाहिये, कुछ थोड़ा-सा जो कहा उसका कारण बताया। (ग) श्रीरामजी संग्राममें सबका वध करेंगे, अतएव 'रघुबीर' कहा। (घ) 'सही' का भाव कि तीर्थमें शरीर छूटनेसे निश्चय ही मुक्ति होती है तथा रामबाणसे मरनेपर भी मुक्ति निश्चय प्राप्त होती है। अथवा, रामचन्द्रजीने निशिचर-वधकी प्रतिज्ञा की है यथा **'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह'** (आ०) और रावणने रामबाणसे मरनेकी प्रतिज्ञा की है; यथा, **'तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभुसर प्रान तजे भव तरऊँ'**॥ अतएव राक्षसोंकी मुक्ति निश्चित है। सुन्दरकाण्डसे लेकर लंकातक बाणद्वारा सद्गति दिखायी है। अतः यहाँ **'सर तीरथ'** द्वारा मुक्ति कही।

मा० त० सु०—राक्षसोंकी मुक्ति मानसमें दो प्रकारसे कही गयी है। एक तो **'राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान'** (खरदूषणादि)। दूसरे रामबाणसे मरनेसे। जिनके आचरण असुरोंके-से हैं वे सब राक्षस ही हैं। कलिकालमें रामबाणसे तो ये मरने योग्य नहीं हो सकते। उनके लिये 'रामनाम' उपाय है, यह बालकाण्ड नामवन्दनामें बता आये हैं। श्रीहनुमान्‌जीको भी रामबाणकी उपमा दे आये हैं। इस काण्डमें जो राक्षस इनके हाथसे मरेंगे वह भी **'रघुबीर सर तीरथ'** में ही मरे हुए समझे जायँगे। इससे सिद्ध हुआ कि ये सब राक्षस पूर्वजन्मके बड़े सुकृती हैं, यद्यपि इस शरीरमें उनके आचरण निन्द्य हैं।

प० प० प्र०—रामबाणरूपी तीर्थमें तन त्यागकर सद्गति पानेका लाभ अरण्यकाण्डसे ही प्रारम्भ हो गया। विराध, मारीच, कबन्ध रामसरतीर्थमें मरे। रावणवध हो जानेपर यह तीर्थ गुप्त हो जायगा। रावणने जो गीधराजके सम्बन्धमें कहा था कि **'मम कर तीरथ छाँड़िहि देहा। ३। २९। १४।'** वह असत्य हो गया। कारण कि श्रीरामजीने जटायुसे कहा है कि **'तनु राखहु ताता। ३। ३१। ५।'**

टिप्पणी—२ (क) ग्रन्थकारने जहाँ-जहाँ नगरका वर्णन किया वहाँ-वहाँ 'सुरवास' भी कहा, यथा **'बिप्रभवन सुरभवन सुहाए', 'हाट बाट मन्दिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा॥'** और **'तीर तीर देवन्हके मन्दिर'**। पर लंकावर्णनमें 'सुरवास' न कहा। कारण कि लंकामें तो देवता स्वयं ही हाथ जोड़े हुए खड़े रहते हैं, सेवा-पूजा कौन करेगा ? यथा—**'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ २०। ७।'** यह ग्रन्थकारका सँभाल है। (ख) लंकाकी सभी वस्तुएँ अद्‌भुत हैं। इससे वर्णन नहीं हो सकतीं। इसीसे आदिमें **'गिरिपर चढ़ि लंका तेहि देखी। कहि न जाइ,** यह कहा। सर्वत्र उसकी अद्‌भुतता कही है। यथा **'अति दुर्ग बिसेषा', 'खाईं सिंधु गम्भीर अति', 'कनककोट बिचित्र', 'बहुरूप निसिचर यूथ अति बल०', 'गयउ दसानन मन्दिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं', 'रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ'** और **'दसमुख सभा दीख कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥'**

'जामवंतके बचन सुहाये' से यहाँ **'रघुबीर सर तीरथ'** तक **'लाँघत भयउ पयोधि अपारा'** यह प्रसंग है।

नोट—१ **'कछु एक है कही'** हेतु-सूचक बात कहकर संक्षेपमें कहनेके कारणका समर्थन करना कि **'रघुबीर सर'**... 'सही' इससे विस्तारकी आवश्यकता नहीं, (मोक्ष पायेंगे इससे इतना भी कह दिया), 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। **'रघुबीर सर'** उपमेय और तीर्थ उपमानकी एकरूपतामें **'सम अभेदरूपक अलंकार'** है। (वीरकवि)

'लंका कपि प्रबेस जिमि कीन्हा'-प्रकरण

दो०—पुर रखवारे देखि बहु कपि मन कीन्ह बिचार। अति लघु रूप धरौं निसि नगर करौं पैसार॥ ३॥

शब्दार्थ—पैसार (सं० पदसरण)=प्रवेश।

अर्थ—नगरमें बहुतसे रक्षक देखकर कपिने (अपने) मनमें विचार किया कि अत्यन्त छोटा रूप धारण करूँ और रात्रिमें नगरमें प्रवेश करूँ। ३।

टिप्पणी—१ (क) **'पुर रखवारे देखि बहु'** इति। यथा—**'करि जतन भट कोटिन्ह।'** (ख) विचार करनेका भाव कि हनुमान्‌जी राक्षसोंसे डरते नहीं, यथा **'तिन्हकर भय माता मोहि नाहीं'**। डरते तो लड़ने कैसे जाते ? पर उन्होंने विचार किया कि "जबतक 'रामकाज' सिद्ध न हो जाय तबतक हमें कोई न जाने। दर्शन किये बिना निशिचरोंसे प्रथम ही उलझना उचित नहीं क्योंकि स्वामिकार्यमें विलम्ब होगा।" (ग) **'अति लघुरूप'** का भाव कि विशाल रूपसे प्रवेश न पावेंगे और

लघुरूपसे भी निर्वाह नहीं देख पड़ा। अतएव **'अति लघु'** रूपका विचार निश्चय किया। (घ) **'निसि नगर करौं पैसार'** का भाव कि दिनमें अति लघु रूपसे भी निर्वाह नहीं, अतएव रातमें प्रवेश करनेका निश्चय किया जिसमें कोई न देखे।

२ 'पइठार' शब्दको बदलकर यहाँ गोस्वामीजीने 'पैसार' कहा, यह भी भावगर्भित है। पुरमें प्रवेश करनेके लिये हनुमान्‌जीने अपने इष्टको बदला, 'नरहरि' का स्मरण किया, काल बदला अर्थात् दिनमें पहुँचे पर दिनके बदले रात्रिमें प्रवेश किया और रूप बदला अर्थात् 'मसक' समान बने; अतएव ग्रन्थकारने भी अपना शब्द बदल डाला 'ठ' की जगह 'स' कर दिया। **'कीन्ह बिचार', 'अति लघुरूप धरौं'** और 'निसि' इन पदोंसे रक्षकोंकी परम सावधानता दिखायी।

नोट—१ वाल्मी० स० २ में इनके विचार हैं। उनमेंसे श्रीसीताजीके पता लगानेके विषयमें जो उपाय सोचे वे यों हैं—'इस रूपसे मैं नगरमें प्रवेश नहीं कर सकता। क्योंकि क्रूर और बलवान् राक्षस इसकी रक्षा कर रहे हैं। श्रीजानकीजीका पता लगानेके लिये इन पराक्रमी योद्धाओंको मुझे धोखा देना पड़ेगा। इस बड़े कार्यकी सिद्धिके लिये रातमें प्रवेश करना उत्तम होगा और रूप ऐसा होना चाहिये कि कभी दिखायी पड़ूँ और कभी छिप सकूँ। रावणवधके इच्छुक श्रीरामजीका काम व्यर्थ हो जा सकता है यदि राक्षस मुझे देख लें। यहाँ राक्षसरूपमें या और किसी भी रूपमें कोई मनुष्य नहीं रह सकता, जिसे राक्षस जान न लें। छिपकर वायु भी यहाँ नहीं घूम सकता, ऐसा मैं समझता हूँ। इस लंकामें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे ये भयानक राक्षस न जानते हों। यहाँ यदि मैं अपने रूपमें छिपकर भी रहूँ तो मार दिया जाऊँगा और स्वामीका कार्य नष्ट हो जायगा। इस कारण मैं अपना छोटा रूप बनाकर श्रीरामजीके मनोरथसिद्धिके लिये रात्रिमें लंकामें प्रवेश करूँगा। **'तदहं स्वेन रूपेण रजन्यां ह्रस्वतां गतः। लङ्कामभिगमिष्यामि राघवस्यार्थसिद्धये॥** ४६॥' 'रातको रावणकी नगरीमें प्रवेश करूँगा, यद्यपि वहाँ प्रवेश करना कठिन है। मैं समस्त घर ढूँढ़कर श्रीसीताजीका पता लगाऊँगा। (सर्ग २ श्लोक ३३—४८)।'—ये सब विचार और निर्णय **'कपिमन कीन्ह बिचार।···पैसार।'** से ग्रन्थकारने सूचित कर दिये हैं।

२ (क) दिनमें प्रवेश कठिन है, इस शंकाके निवारणार्थ कपिका मनमें विचार करना कि **'अति लघुरूप धरौं निसि'** वितर्क सञ्चारी भाव है। **'अति लघु रूप'** क्या और कैसा धरा, यह अगली अर्धाली **'मसक समान'** में देखिये। (ख) यह दोहा दोहरा-मिश्रित है (व्र० चं०)।

मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥ १॥

अर्थ—कपि (हनुमान्‌जी) 'मसक' समान रूप धारण करके नृसिंहजीका स्मरण करके लंकाको चले। १।

टिप्पणी—१ (क) 'मसक' लघुरूपकी अवधि है, अन्तिम सीमा है। यथा **'तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता।** ७। ९१। ५।' रातमें देख नहीं पड़ता। अतएव **'मसक समान रूप'** धरा। इस ग्रन्थभरमें 'मसक' शब्दका अर्थ मसा या मच्छड़ है। यथा **'मसक दंस बीते हिम त्रासा।' 'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।** ७। १२२।' और **'मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई।** (अ० २३२)।' 'समान' शब्द देकर जनाया कि मच्छड़ नहीं बन गये, वानर ही रहे पर मशक-समान छोटे हो गये। (ख) लोग संदेह करते हैं कि अंगूठी कैसे पास रही वह तो मच्छड़से बड़ी है। इसका उत्तर यह है कि मुद्रिका भी कपिके रूपके अनुकूल छोटी हो गयी; जैसे वामनरूपके अनुकूल दण्ड बढ़ गया। यथा **'बड़ो गहे तें होत बड़ ज्यों बावन कर दण्ड। श्रीप्रभुके सँग-सोंग बढ्यो, गयो अखिल ब्रह्मंड॥'** (दोहावली ५२)।

(भगवान्‌के अस्त्र-शस्त्र आयुध, वस्त्र-भूषण सभी दिव्य एवं चिद्रूप हैं और उनमें सब शक्ति है। वे जो रूप चाहें धारण कर सकते हैं। अणु-समान सूक्ष्म और छोटे हो सकते हैं। श्रीरामजीकी मुद्रिका भी साक्षात् चिद्रूपा चैतन्यस्वरूपा थी। श्रीसीताजीसे इसने बातें कीं। गीतावली भी इस बातकी प्रमाण है यथा, **'कियो सीय प्रबोध मुदरी दियो कपिहि लखाउ।** गी० ५। ४।' जो मणिमुद्रिका बात कर सकती है, वह यदि घट-बढ़ भी सकती है, सूक्ष्म रूप धारण कर लेती है, तो इसमें आश्चर्यजनक क्या है?

नोट—१ काष्ठजिह्वा स्वामी लिखते हैं,— **'हनुमत तहँ लघु रूप बने। अनिमाके परभाव जने॥ अपुना जसके तस ही हैं पै लोगन छोट सरूप गने। अनिमाके प्रभाव ही से तौ निकट वस्तुमें दूर पने॥ १॥ कोउ बिडाल सम कोउ मसक सम कहत तहाँ सन्देह जने। बड़ा नजर काहूकी छोटी भये नजर के भेद घने॥ २॥ घर-घर लखत अलख बनि अपुना जस ईश्वर सब माँहि सने। मिलत जतनसे वह पतालको पानी जैसे मिलत खने॥ ३॥ मिली महाविद्या श्री सिय जू मुद्रा श्रुति परमान तने। बन उजारि पुर जारत कपिबर गह-गह देव निसान हने॥ ४॥** अयोध्याबिन्दु। ७८।' श्री-

हनुमान्‌जी अणिमा सिद्धिके प्रभावसे छोटे देख पड़ने लगे। यद्यपि वे ज्यों-के-त्यों वैसे ही बने हैं जैसे वे हैं। जैसे सूर्य यद्यपि पृथ्वीसे बहुत बड़ा है तब भी अति दूर और बहुत छोटा देख पड़ता है। तात्पर्य यह कि जब वे जैसे-के-तैसे ही हैं तब मुद्रिकावाली शंका ही कहाँ रह जाती है? केवल दूसरोंके लिये वे सूक्ष्म हैं, अदृश्य हैं, वास्तवमें नहीं।

२ '**मसक समान**' इति। (क) यहाँ अन्य बृहद्रूपोंकी व्यावृत्तिके लिये 'मसक' के साथ 'समान' पद लगा दिया। अभिप्राय यह है कि अत्यन्त छोटा रूप बन गये पर रहे वानर ही। यह बात पूर्वापर प्रमाणोंसे सिद्ध है। यथा '**अति लघुरूप धरौं निसि' 'अति लघु रूप धरेउ हनुमाना'**। वाल्मीकिजीने भी ऐसा ही प्रथम सर्गमें कहा है, यथा—'**ततः शरीरं संक्षिप्य तन्महीधरसंनिभम्**। २०५।' फिर सर्ग २ में श्रीहनुमान्‌जीके रात्रिमें लंकापुरीमें छोटे रूपसे प्रवेश करनेका विचार लिखकर वे कहते हैं, '**सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः। वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः॥ ४७।**' सूर्यके अस्त होनेपर रात्रिमें हनुमान्‌जीने अपना छोटा रूप बनाया, अपनी देहको संक्षिप्त कर दिया। वे बिल्लीके बराबर हो गये। इससे भी सिद्ध है कि वानर ही बने रहे, केवल वानरशरीरको बहुत छोटा कर लिया। सम्भवतः वाल्मीकीयका मत लेकर ही वाल्मीकीयपर भाष्य लिखनेवाले पं० शिवलाल पाठकजीने 'मसक' का अर्थ 'बिल्ली' किया है। बिल्ली बराबर शरीरमें तो मुद्रिकाका मुँहमें रहना सन्देहात्मक हो ही नहीं सकता। पर इतनी बात स्मरण रखनेकी अवश्य है कि वाल्मी० रा० में 'अति लघु' के पर्यायी शब्द न होकर केवल 'देहं संक्षिप्य' कहा है जिसमें बिल्लीका अन्तर्भाव हो सकता है। पर मानसके 'अति लघु' में बिल्लीका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। '**मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन**' के प्रमाणसे अति लघु तो मच्छड़ ही होगा। अध्यात्मरामायणमें सूक्ष्म वानररूप धारण करना कहा है। यथा, '**धृत्वा सूक्ष्मं वपुर्द्वारं प्रविवेश प्रतापवान्**। ५। १। ४२।' यही भाव यहाँ भी है। (ख) वीरकविजी लिखते हैं कि 'योरपके नारवे प्रदेशके उत्तरी भागमें अब भी गौरैया पक्षीके बराबर मसा होते हैं। गौरैयाके बराबर वानररूप होकर मुद्रिका साथ रखना कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं। मा० त० सु० कारका भी मत है कि रूपकी लघुता दरसानेके लिये अतिशयोक्ति अलंकारमें यहाँ अतिलघुतासूचक 'मसकसमान' पद दिया। यह कवि और काव्यका स्वभाव ही है। वाल्मीकीयमें लिखा है कि उन्होंने एक अद्भुत बिडालवत् रूप धारण किया, यथा, '**वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः**। २। ४९।' यहाँ भी 'वृषदंशक' के साथ 'मात्र' प्रत्यय अन्य बृहद्रूपके अर्थकी व्यावृत्तिके लिये प्रयुक्त हुआ है। (घ) हनुमन्नाटकसे भी उपर्युक्त भावकी पुष्टि होती है, यथा—'**अष्टाङ्गुलमयः कायः पुच्छो मे द्वादशाङ्गुलः। बाहू मे पश्य भो नाथ कथं रत्नाकरं तरे**। हनु० ६। २।'

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'मसक' का अर्थ मच्छड़ है। हनुमान्‌जीने मच्छड़का रूप नहीं धारण किया। मच्छड़-जितने छोटे हो गये। वाल्मीकिजी कहते हैं '**वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः**'। वृषदंशक उस मच्छड़को कहते हैं जो गाय-बैलको लगते हैं, हम लोग उसे 'डंस' कहते हैं। वह बड़ी जातिका मच्छड़ है, सो हनुमान्‌जीका रूप तो डंसके बराबर और आकृति बंदरकी, इसलिये वाल्मीकिजी अद्भुत दर्शन कहते हैं। हनुमन्नाटकमें '**अष्टाङ्गुलमयः कायः पुच्छो मे द्वादशाङ्गुलः**' जो कहा है, वह उस समयका वर्णन है, जब हनुमान्‌जी रामजीके सम्मुख खड़े हुए। क्लिष्ट होना काव्यका दोष है, अतः मशकका प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थके ग्रहणमें कोई हेतु नहीं। जिस लघिमा सिद्धिसे शरीरकी हड्डी छोटी की जा सकती है, उससे क्या अङ्गूठी नहीं छोटी की जा सकती?

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि यदि हनुमान्‌जी मसक ही बन जाते तो गोस्वामीजी वैसा स्पष्ट लिख देते, '**मसक समान**' न लिखते। '**बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ' 'बिप्ररूप धरि बचन सुनाए' 'बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत**' इत्यादि विप्ररूप बन जानेपर कहा है, वैसे ही यहाँ '**मसकरूप हनुमान तब धरी**' लिखते।

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि जिस देशके जलवायुके अनुकूल जैसे ह्रस्व-दीर्घ आकारके मनुष्य होते हैं प्रायः वैसे ही वहाँके पशु-पक्षी, कीट, पतंग, सरीसृप, वृक्ष, गुल्म लतादि होते हैं। जैसे अफरीकाके घने प्रदेशवाले आदमखोर जंगली विशालकाय होते हैं वैसे ही वहाँके जङ्गम स्थावर, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि भी होते हैं। यूरोप भ्रमणकारियोंने नारवे प्रदेशमें भारतीय गौरैया पक्षीके बराबर मच्छड़ इसी शताब्दीमें देखे हैं। डच न्यू गायनामें तीन-तीन हाथके लम्बे चूहे पाये जाते हैं और मलाया द्वीपमें कुछ ऐसे विचित्र पतिंगे मिलते हैं जो छिपकलीको भी पकड़कर निगल जाते हैं। इसी प्रकार विचार कर लेना चाहिये कि जिस लंकाके निवासी राक्षसगण इतने लम्बे-चौड़े होते थे वहाँके मशक भारतीय बिल्ली-कुत्तेके बराबर भी न होते होंगे। श्रीहनुमान्‌जीने तत्कालीन लंकाके मशकके समान रूप धारण किया, भारतीय मशकवत् नहीं, क्योंकि उस समय

वे लंकामें थे, भारतमें नहीं थे। श्रीहनुमान्‌जीने भगवत्प्रेरणासे तद्देशीय मशक-समान वानर बननेकी चूक की, लंकामें इतने छोटे बन्दर हो नहीं सकते, इसीसे लंकिनीने चोरी पकड़ ली। लंकिनीको ब्रह्माके वरदानका निश्चय करानेके लिये यह गलती हरि-इच्छासे हुई।

प० प० प्र०—इस चौपाईके प्रत्येक चरणमें एक-एक मात्रा न्यून है। अरण्यकाण्ड १७ (१९) '**तब खिसिआनि राम पहिं गई।**' में बताया जा चुका है कि इसमें काव्यदोष नहीं है। यह कविकी एक अनोखी भावदर्शक कला है। यहाँ चौपाईके पढ़नेमें गति-भङ्ग और लय-भङ्ग करके बताया है कि इस चौपाईके पढ़ते-पढ़ते पाठक आश्चर्यचकित होंगे कि हनुमान्‌जी जो कालको खानेमें समर्थ हैं, ऐसे (मसक-समान) क्यों बन गये। यहाँ आश्चर्यका भाव और उसके अनुभाव अध्याहृत रखकर कथाका संक्षेप करना हेतु है। यत्रतत्र एक मात्रा न्यून करके भीति, आश्चर्य, भक्तिरस इत्यादि विविध भावोंका दिग्दर्शन किया गया है। [कविवर ब्रजचन्द्रजी लिखते हैं कि '**मसक समान**'...'**धरी**' चौपाईका ३३५ वाँ भेद है। '**लङ्कहि चलेउ**...' ३६३ वाँ भेद है]।

टिप्पणी—२ '**सुमिरि नरहरी**' इति। नृसिंहजीके स्मरणमें भाव यह है कि जैसे हिरण्यकशिपुने सब प्रकारसे मृत्युका मार्ग रोका, ब्रह्मासे ऐसा वर माँग लिया तो भी वहाँ नृसिंहजीने मृत्युके लिये रास्ता निकाल दिया था; वैसे ही यहाँ पुरके रक्षकोंसे लंकाका रास्ता रुका है, नृसिंहजी हमको रास्ता देंगे। नृसिंहजीके स्मरणसे रामोपासकोंको कोई दोष नहीं है। रामकार्यके लिये ही स्मरण किया है, जैसे सिन्धुके लाँघनेके समय सबको माथा नवाया था और गोस्वामीजीने भी ग्रन्थके प्रारम्भमें सबकी प्रार्थना की। सब अवतार श्रीरामजीके ही हैं। यथा, '**मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपुधरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो।** ६। १०९।', '**हिरन्याच्छ भ्रातासहित मधुकैटभ बलवान। जेहि मारे सोइ अवतरेउ।** ६। ४७।', इस प्रकार सबमें श्रीरामको दिखाया। पुनः, भयनिवारणके समय रामजीको 'नरहरि' लिखा है। यथा, '**पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनिभयहरन।** १। २०८।' '**अवध-नृपति दसरथ के जाए। पुरुषसिंह बन खेलन आए॥ जिन्हकर भुजबल पाइ दसानन। अभय भए बिचरहिं मुनि कानन।** ३। २२।' इसी तरह यहाँ भी भयहरणका प्रसङ्ग है। कोई देख न ले यह भय है क्योंकि देख लिये जानेसे रामकार्यमें बाधा पड़ेगी, श्रीसीताजीका पता पाना कठिन हो जायगा, अतः नरहरिका स्मरण किया। भयंकर राक्षसों या रावणका भय नहीं है। उन सबोंके लिये तो वे अपनेको अकेले ही समर्थ जानते हैं।

नोट—२ 'नरहरि'के स्मरणके और भाव ये हैं—(क) नरहरि=नरोंमें सिंह, पुरुषसिंह, श्रीरघुनाथजी। यथा '**पुरुषसिंह दोउ बीर**'। इस तरह नरहरिजी श्रीरामका ही नाम हुआ। (ख) नरहरि=नृसिंहजी जो प्रह्लादजीके लिये खम्भसे प्रकट हुए। यह श्रीरामजीका रूपान्तर अवश्य है तब इसका स्मरण क्यों किया ? इसलिये कि श्रीरघुनाथजीका रूप दयालु है और श्रीहनुमान्‌जीको उपद्रव करना अभीष्ट है। अतएव लंकापुरीके भीतर प्रवेश करनेमें उन्होंने विकराल नृसिंह रूपका स्मरण किया (पं०, पाँ०)। (ग) 'नर' से लक्ष्मणजी और 'हरि' से श्रीरामजीका ग्रहण कर लें तो 'नरहरी' से श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंका स्मरण करना पाया जाता है। (पं०)। '**नरोंमें सिंह**' से भी दोनों भाइयोंका स्मरण अभिप्रेत है। (मा० म०)। (घ) रावणने अपनी मृत्यु नर और वानर दोनोंसे माँगी है। यथा—'**बानर मनुज जाति दुइ बारे।**' अतएव 'नर' श्रीरामजी और 'हरी' (वानर) सुग्रीव दोनोंका स्मरण किया। ये दोनों ही हनुमान्‌जीके स्वामी हैं। (पाँ०)। अथवा, (ङ) नृसिंहका स्मरण किया कि हमें अपनी आकृति और बल दीजिये कि हम क्रोधाग्निसे निशिचरोंसहित लंकाको भस्म कर सकें। (पं०)। ऐसा क्रोध किसी और रूपमें प्रकट नहीं किया गया। (च) श्रीहनुमान्‌जीकी '**जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥**' इस प्रसिद्ध घोषणाके अनुसार 'नरहरि' का अर्थ नर (श्रीराम, श्रीलक्ष्मण) + हरि (वानरराज सुग्रीव) ले सकते हैं। (छ) मा० शं० कार लिखते हैं कि लंकामें निशाचरोंको मारना, गाल फाड़ना, मुण्ड तोड़ना, आँतें निकालना है, इसमें रुधिरादिके स्पर्शसे नृसिंहजी नहीं घिनाते; अतः उनका स्मरण किया। राजकुमाररूपके लिये यह कार्य अपावन समझा। (ज) मा० शं० कार लिखते हैं कि निज इष्टदेवको छोड़ दूसरेमें रमे इसीसे लंकिनीने विरोध किया और निज इष्टदेवमें बोध कराया जिसमें कार्य निर्विघ्न हो। यथा '**प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥**' अतएव आगे लिखते हैं कि '**पैठा नगर सुमिरि भगवाना**'। (नोट—मा० त०

सु० कार इसका निषेध करते हैं कि ऐसा कहना भूल है। क्योंकि पहले भी तो प्रबल विघ्न हुए थे, वहाँ क्या कहा जायगा)। (झ) श्रीरामजीके स्मरणमें प्रह्लादजी अद्वितीय हुए। उनके लिये नृसिंह रूप धारण किया था। ये भी नामस्मरणमें अद्वितीय हैं।

☞ श्रीहनुमान्‌जी श्रीराम-रूप-नामके परमानन्य हैं। श्रीकृष्णजीने इनकी अनन्यता प्रकट करनेके लिये इनको दर्शन देनेके लिये रामरूप धारण किया, पर बंशी लगी रहने दी। जब हनुमान्‌जी आये और बंशी देखी तो उन्होंने बंशी लेकर फेंक दी तब प्रणाम किया। गरुड़ और सत्यभामाके गर्वहरणकी कथा प्रेमियोंने कल्याणमें पढ़ी ही होगी। इस अनन्यताके विचारसे 'नरहरी' के स्मरणका समाधान उपर्युक्त रीतिसे किया जाता है। नहीं तो श्रीराम **'सर्ववाचस्य वाचकः'** हैं, सब उन्हींके नाम और रूप हैं। ध्रुवपति, प्रह्लादपति, गजेन्द्रमोक्षदाता इत्यादि सभीको तो ग्रन्थकारने श्रीराम-नाम-वन्दना-प्रकरणमें 'राम' नाम हीसे याद किया है। देखिये, प्रह्लाद-सरीखा श्रीरामनामजापक भक्त नहीं हुआ कि जिन्होंने पत्थरसे भगवान्‌को प्रकट कराके छोड़ा; उन श्रीरामनाम जापकके लिये ही तो 'नृसिंह' रूप श्रीरामजीने धारण किया था।

प. प. प्र.—मानसके **'कृपासिंधु नररूप हरि'** (बा. मं. सो. ५) और **'मायामनुष्यं हरिं'**। मं. श्लो.।' इन आधारोंसे 'नरहरि' का अर्थ स्पष्ट है कि द्विभुज धनुर्बाणधारी श्रीरामचन्द्ररूप हरिका स्मरण किया।

नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी॥ २॥

अर्थ—लंकिनी नामकी एक राक्षसी (जो लंकाकी रक्षामें तत्पर) थी। वह बोली कि मेरा निरादर करके (कहाँ) चला जा रहा है?। २।

टिप्पणी—१ (क)—लंकिनी नामसे सूचित किया कि यह लंकापुरी स्वयं है। 'निसिचरी' कहकर जनाया कि राक्षसी-का रूप धारण किये हुए है। यथा—**'पुनि संभारि उठी सो लंका', 'तत्र लंकापुरी साक्षात् राक्षसी वेषधारिणी। अ. रा. ५। १। ४३।'** उसका नाम और स्वरूप दोनों कहे। (ख) लंकामें घुसते ही लंकिनीने श्रीहनुमान्‌जीको रोका, यथा—**'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥ नाम लंकिनी...कह'**। इससे पाया जाता है कि वह पुरीके बाहर फाटकपर रक्षाके निमित्त बैठी थी। यह बात उसके वचन—**'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा'**—से स्पष्ट हो जाती है। (ग) अत्यन्त लघु रूपसे प्रवेश करने लगे तब भी उसने देख लिया। इससे उसकी परम सावधानता दिखायी। पुरीके बाहर जितने रक्षक थे उनमें लंकिनी प्रथम मिलती थी। रक्षकसे बिना पूछे उल्लंघ कर जानेसे उसका तिरस्कार होता है। हनुमान्‌जीने न तो पुरीकी पूजा की और न उसे प्रणाम ही किया; इसीसे उसने कहा कि मेरा तिरस्कार करता है, मेरा डर तुझे नहीं है?

नोट—१ वाल्मीकिजी भी लिखते हैं—**"नगरी स्वेन रूपेण ददर्श पवनात्मजम्।** ५। ३। २०॥ **सा तं हरिवरं दृष्ट्वा लंका रावणपालिता। स्वयमेवोत्थिता तत्र विकृताननदर्शना॥ २१॥"** अर्थात् हनुमान्‌जीको नगरमें प्रवेश करते हुए स्वयं लङ्का नगरीने अपने रूपसे देखा। रावणद्वारा पालित लंका नगरी हनुमान्‌जीको देखकर स्वयं उठकर सामने आ खड़ी हुई'''परिचय पूछनेपर उसने बताया कि मैं इस नगरकी रक्षा करती हूँ, मैं स्वयं लंका नगरी हूँ। मेरा तिरस्कार करके कोई नगरमें नहीं जा सकता।—**'न शक्यं मामवज्ञाय प्रवेष्टुं नगरीमिमाम्।'''अहं हि नगरी लंका स्वमेव प्लवंगम॥** वाल्मी० ५। ३। २९, ३०।'

इन उद्धरणोंमेंके **'स्वेन रूपेण'** और **अहं हि नगरी लंका स्वयं'** से स्पष्ट है कि यह 'लंकिनी' लंकाकी अधिष्ठात्रीदेवी है और 'विकृतानन' में 'निशिचरी' का भाव है; अर्थात् वह राक्षसीरूपसे रक्षा करती है। 'लंकिनी' नाम देकर यह भी सूचित किया है कि लंकाकी उत्पत्तिके साथ ही इसकी भी उत्पत्ति हुई। इसीसे वह अपनी रक्षा स्वयं करती आयी।—['एक' से अद्वितीय, 'छटी हुई' भी जनाया। (पाँ०)]

अध्यात्मरामायण सुं० १ में प्रायः सब विशेषण यहाँके मिलते हैं, यथा—**'धृत्वा सूक्ष्मं वपुर्द्वारं प्रविवेश प्रतापवान्। तत्र लंकापुरी साक्षाद्राक्षसीवेषधारिणी॥ ४३॥''' कस्त्वं वानररूपेण मामनादृत्य लंकिनीम्। ४४। प्रविश्य चोरवद्रात्रौ किं भवान्कर्तुमिच्छति॥'''हनुमानपि तां वाममुष्टिनावज्ञयाहनत्। तदैव पतिता भूमौ रक्तमुद्वमती भृशम्॥ ४६॥ उत्थाय प्राह सा लंका०।'** ☞ रेखांकित शब्दोंको क्रमसे मानसमें देखिये—**'अतिलघुरूप, मसक समान'** (धृत्वासूक्ष्मं), **'राक्षसी'** (निशिचरी), **'मामनादृत्य'** (मोहि निंदरी), **'लङ्किनीम्'** (नाम लंकिनी), **'चोर'** (चोरा), **'मुष्टिना'** (मुठिका), **'हनत्'** (हनी), **'पतिता भूमौ'** (धरनी ढनमनी), **'रक्तमुद्वमती'** (रुधिर बमत); **'उत्थाय सा लङ्का'** (उठी सो लङ्का)।

नोट--२ हनुमान्‌जीने 'निशि' (रात्रि) में पुरीमें प्रवेश किया, इस सम्बन्धसे यहाँ 'निसिचरी' पद सार्थक है। निशिचरी है अतः निशामें चलनेवालेको देखा ही चाहे।

३—वाल्मीकीयके **'न शक्यं मामवज्ञाय प्रवेष्टुं०'** और **'कस्त्वं केन च कार्येण इह प्राप्तो वनालय। २३।'** के भाव **'चलेसि मोहि निंदरी'** में आ गये। अर्थात् तू कौन है? किस कार्यसे यहाँ आया है? मेरा निरादर करके तू पुरीमें प्रवेश नहीं कर सकता। मुझे तूने कुछ न समझा? ये सभी भाव तीन ही शब्दोंमें आ गये।

प० प० प्र०—स्वयं लंकाकी देवी होकर भी राजाकी आज्ञाका पालन एकनिष्ठ भावसे कर रही है। उसकी कर्तव्य-तत्परता देखकर उसके प्रति आदर उत्पन्न होता है और आजकलके धर्महीन स्वराज्यके संरक्षक गुप्त दलकी दक्षता तो जगत्प्रसिद्ध है कि एक राष्ट्रका एक महान् शत्रु दिनमें बम्बई ऐसे बड़े नगरके विमानतलपरसे अपना सब धन लेकर वायुयानमें बैठकर पाकिस्तानमें भाग जाता है और हमारे संरक्षक जान भी नहीं पाते।

नोट--४ **'नाम लंकिनी एक निसिचरी'** पायकुलक है। **'सो कह०'** चौपाईका १९८ वाँ भेद है। (त्र० चं०)

टिप्पणी--२ नभ, जल, थल तीन ही स्थल जीवोंके रहनेके हैं और तीन ही मार्ग थे, तीनोंमें स्त्रियोंके ही द्वारा विघ्न हुआ; यह आश्चर्य हुआ। इससे उपदेश देते हैं कि ब्रह्मचारीको भवसागर पार होनेमें स्त्री विघ्नस्वरूप है। हनुमान्‌जी ब्रह्मचारी हैं, अतः सागर पार करके लंकामें प्रवेश करनेमें स्त्रियोंद्वारा ही विघ्न हुआ। पुनः, जैसे हनुमान्‌जीने इन तीनोंको जीतनेके बाद श्रीसीताजीको पाया, वैसे ही मायारूपी नारिके जीतनेपर ही जीव प्रभुकी भक्ति पाता है। जीवको शरणागत होनेमें ये बाधक होती हैं—**'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि', 'मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महँ छोभ'**। (पां०)।

नोट—५ मानसतत्त्वभास्करमें लिखा है कि—-जीव जब शरणागत होकर भक्तिकी प्राप्तिके लिये उद्यत होता है तब सत्त्व-रज-तम-रूप त्रिगुणात्मिका माया बाधा करने लगती है। इनके जीतनेपर भक्ति प्राप्त होगी। यहाँ सुरसा सत्त्वगुणी माया हुई, उससे हनुमान्‌जी मिलकर चले। सिंहिका तमोगुणी माया हुई जिसको उन्होंने नाश ही कर डाला। और लंका रजोगुणी माया हुई; इसे उन्होंने अधमरी कर डाला। इसी प्रकार जीवका कर्त्तव्य है कि रजोगुणसे निर्वाह मात्र प्रयोजन रक्खे, सत्त्ववृत्ति धारण किये रहे और तमोगुणसे सर्वथा अलग रहे।

पांड़ेजी एक भाव और लिखते हैं कि स्त्री मायारूपिणी है—**'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि।'** इनमेंसे सुरसा देवताओंकी भेजी हुई स्वर्गकी माया हुई, समुद्रमें रहनेवाली सिंहिका पातालकी माया हुई और लङ्किनी भूलोककी माया हुई; इन तीनोंको जीतना मानो त्रैलोक्यकी मायाको जीतना है। जब इन तीनोंको जीते तब श्रीराम-भक्तिकी प्राप्ति हो; जैसे सुरसा आदिको जीतनेपर हनुमान्‌जीको श्रीजानकीजीकी प्राप्ति हुई।

प० प० प्र०—सुरसा अन्तःकरणकी सात्त्विक धार्मिक वृत्तिका प्रतीक है। विषयासक्ति ही सुरसा है। इन्द्रियोंके देवता अन्तःकरणवृत्ति (सुरसा) को प्रेरित करेंगे। वह कहेगी इन्द्रियोंको दुर्बल करनेसे परमार्थ-प्राप्ति थोड़े ही होगी। इन्द्रियोंको उनका आहार देना धर्म है, न देनेसे पाप लगेगा। इस वृत्तिको जीतनेके लिये शरीर और बुद्धि दोनोंसे काम लेना होगा। इससे उत्तीर्ण होनेपर ही जीवका विवेकरूपी हनुमान् विहंगम मार्गमें अग्रसर हो सकता है। यह मार्ग अति समीपका और शीघ्रतम आक्रमण करने योग्य है। यह है शुकमार्ग। (वराहोपनिषद)। युक्ति सूझनेके लिये श्रीरघुवीरका सतत स्मरण करना चाहिये।

सात्त्विक विषयासक्तिको जीतनेपर मोहसागर लाँघनेमें जीव अतिवेगसे आगे बढ़ता है, तब उस विहंगम मार्गसे आगे जानेवाले जीवके मार्गमें तमोगुणनिवृत्तिरूपी सिंहिका विघ्न करती है। उसको तो मारना ही चाहिये, पर इसे मारनेके लिये शक्ति, युक्ति, धृति आदि अनेक सद्गुणोंकी आवश्यकता है। इस वृत्तिका कलेजा (मर्म) तो अज्ञान है जो आत्मस्वरूपमें साक्षात्कारसे ही नष्ट हो सकता है। सुषुम्नापथरूपी आकाशमार्गमें अनाहत चक्रमें (हृदयकमलमें) प्रवेश करके वहाँ आत्मज्योतिका साक्षात् करनेपर अज्ञानका नाश होता है। इस प्रकार अज्ञानरूपी छाया-ग्रहका विनाश किये बिना मोहसागर पार करना अशक्य है। अज्ञानका नाश होनेपर सिद्धियाँ सामने आती हैं। यदि साधक उनमें न फँस गया तो वह त्रिकूटगिरिपर जहाँ इड़ा, पिंगला, सुषुम्नाका संगम होता है, उस भ्रू-स्थानतक पहुँच सकता है। अब लंका (मस्तक) में प्रवेश करना है पर

उसके चारों तरफ महान् दुर्ग, द्वारपर रक्षक और द्वारमेंसे जानेका मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है। यह है आज्ञाचक्र। यहाँ नरहरिरूपी सद्गुरुकी कृपासे ही प्रवेश हो सकता है। बड़े-बड़े हठयोगी यहाँसे लौट जाते हैं, या अहंकारादि राक्षसोंके कब्जेमें जाकर विनष्ट हो जाते हैं। अतः श्रीहनुमान्‌जीने 'नरहरि' का स्मरण किया।

यहाँ लंका दुर्गकी देवी बड़ी सजग है। वह आज्ञाचक्रके बीचमें ही द्वारका अवरोध करके बैठी है। उस चक्रकी शक्ति देखनेमें नहीं आती। उसको एक मुष्टिका लगाकर ही धरणीपर गिराना चाहिये, उसे मारनेसे काम नहीं चलेगा। जब वह जान लेगी कि यह साधक रामदूत है, भक्ति-सीताकी खोजमें जा रहा है तब प्रसन्न होकर आशीर्वाद देगी।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि जैसे श्रीहनुमान्‌जी समुद्रलंघनमें नभ, जल और थलकी निवासिनी तीन स्त्रियोंको जीतकर ही लंकामें प्रवेशकर श्रीसीताजीकी खोजमें प्रवृत्त हुए वैसे ही 'परमार्थ पक्षमें प्रबल वैराग्यवान् होकर पहले रसनाको जीतना चाहिये। रसनाके देवता जलाधिपति वरुण हैं, इससे इसका जीतना समुद्रलंघनके समान है। रसना ही आहार देकर सब इन्द्रियोंके सहित देहसे प्रमाद कराती है, इसीसे इसके जीतनेके साथ-ही-साथ देहाभिमान भी जीता जाता है। देहाभिमानको सागर कहा भी है; यथा—'**कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर**···**प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजन तनय**···' (वि० ५८)। रसना जीतनेमें तीनों गुणोंके सम्बन्धी तीन प्रकारके आहार कहे गये हैं। गीता १७। ८–१० देखिये। देहाभिमान जीतनेवाले विरक्तको प्रथम रामनामांकित मुद्रिकारूप राममन्त्रोपदेश रामरूप गुरुसे प्राप्त करना चाहिये। जैसे श्रीहनुमान्‌जीको मुद्रिकांकित रामनामके अर्थ रूप सातों काण्डके चरित चन्द्रमा मुनि और जाम्बवानद्वारा प्राप्त हुए, वैसे ही मुमुक्षु भी गुरुमुखसे मन्त्रार्थ श्रवण करे। जैसे उसके बाद वे समुद्रलंघनमें तत्पर हुए वैसे ही यह भी देहाभिमान जीतनेमें लगे। जैसे वहाँ उन्हें सुरसा मिली वैसे ही इसे विद्यारूपी सात्त्विकी मायाका सामना करना पड़ता है। सात्त्विक आहारसहित इसे विद्या पढ़ना एवं सत्संग करना चाहिये। जिस प्रकार सुरसाका मुँह बढ़ने लगता है उसी प्रकार इसे भी विद्याकी अपेक्षा बढ़ती जाती है। जैसे सुरसाका मुख सौ योजनका हो गया, वैसे ही विद्याका भी विस्तार अनन्त है। यह दीनतारूपी लघुरूपसे विद्याके हृदयका तत्त्व ब्रह्मविद्याको जान उससे पृथक् हो जाय और साधनके लिये उद्यत हो, तब वह विद्या सुरसाकी तरह आशिष देती है। फिर तमोगुणी मायाका सामना करना पड़ता है। जलमें सिंहिका रहती थी, उसने श्रीहनुमान्‌जीकी छायाको खींचकर इनका गतिरोध किया! वैसे तामसाहंकारसे शब्दादि विषय होते हैं, वे खार जल रूप हैं; यथा '**बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।**' (वि० १०२)। विषयसम्बन्धसे रागद्वेष आदि मुमुक्षुका गति-रोध करते हैं। अतः यह उन्हें नाश ही करनेका प्रयत्न करे; आगे मुमुक्षुको रजोगुणी मायारूपी लंकिनी मिलेगी। इसका विकार देह पोषण करना है। इसे प्रथम व्रतोपवास आदिसे वशमें करे, जिस प्रकार एक मुष्टिका मारकर श्रीहनुमान्‌जीने लंकिनीको अधीन किया। तब लंकिनी राम-कार्यमें सहायक हुई, वैसे ही स्वाधीन इन्द्रियोंके साथ देह भी परमार्थ-साधनमें सहायक होती है।

जानेहि नहीं मरम सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि* चोरा॥ ३॥
मुठिका एक महाकपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी॥ ४॥

अर्थ—अरे शठ (मूर्ख)! तू मेरा मर्म (भेद, स्वभाव) नहीं जानता (कि) जहाँ तक (लंकामें छिपकर आनेवाले) चोर हैं वे मेरा आहार (भोजन) हैं। ३। महाकपि (श्रीहनुमान्‌जी) ने एक मुष्टिका (घूँसा) मारी, जिससे वह खून उगलती हुई पृथ्वीपर लुढ़क पड़ी। ४।

टिप्पणी—१ (क) '**जानेहि नहीं**···' इति। श्रीहनुमान्‌जी निर्भय चले जा रहे हैं; इसीसे वह कहती है कि मुझे नहीं जानते, यथा—'**निर्भय चलेसि न जानेहि मोही।**' (आ० २९), '**की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखौं अति असंक सठ तोही**'। (सुं० २१)।' (ख) मर्म न जानना निरादरका हेतु है। न जाननेसे 'शठ' कहा† और फिर अपना

* जहाँ लगि—ना. प्र., रा. गु. द्वि., छ०, का., मा. म., भा. दा.। लंक कर—पं., वै., पाँ.। टिप्पणी १ (ग) देखिये।

† १—पं०—लंकिनीके मुखसे तो 'शठ' सम्बोधन श्रीहनुमान्‌जीके प्रति ही है। पर सरस्वतीकृत अर्थ यह है कि 'मेरा शठ मर्म' 'मेरा शठताका मर्म नहीं जानता। २—मा. त. सु. ने 'सठ' को देहलीदीपक मानकर अर्थ किया है—'अरे शठ! मेरा शठ मर्म नहीं जानता?' 'शठ मर्म' का भाव कि मेरा स्वभाव शठ है, मैं किसी प्रकार विनय-प्रार्थनासे भी आर्द्र नहीं होती। यथा—'सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती।०'।

☞ मेरी समझमें ऐसा अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है। 'शठ' सम्बोधन स्वाभाविक उचित ही है। वाल्मीकीयमें भी इसका प्रमाण मिलता है। यथा—'कस्त्वं केन च कार्येण इह प्राप्तो वनालय।···। ५। ३। २३।... भूय एव पुनर्वाक्यं बभाषे

मर्म बताती है कि **'मोर अहार...'**। अर्थात् तू चोर है, चोरकी तरह चला जा रहा है और चोर मेरा आहार है। अपने आहारको सब चाहते हैं, अतः मैं भी चाहती हूँ कि कोई भी चोर आवे वह जाने न पावे, मैं उसे खा लूँ। (ग) **'लंक कर चोरा'** पाठ उत्तम नहीं है क्योंकि ऐसा कहनेसे लंकापुरीसे वह पृथक् हो जाती है, जो होना न चाहिये; क्योंकि वह तो स्वयं लंकापुरी ही है। **'जहँ लगि'** का भाव कि जहाँतक पुरी है वहाँ तकका चोर। (इससे जनाया कि जो पुरीमें न जाय, उससे उसे सरोकार नहीं।)

२—'मुठिका एक महाकपि हनी।०' इति। (क) उसे मारा क्योंकि एक तो वह रामकार्यमें विघ्न किया चाहती है, राक्षसी है और भक्षण करनेपर उद्यत हुई। दूसरे उसने चोर कहा है। चोरको जो पहचान लेता है वा उससे जो बोलता है उसे चोर अवश्य मारता है।* अथवा, श्रीहनुमान्‌जीने विचारा कि सब्र करनेसे ठीक न होगा, राक्षस सुनेंगे तो शोर होगा, अतः मारा। (ख) 'महाकपि' कहकर जनाया कि लंकिनीके मारनेके लिये पहलेका-सा विशाल रूप कर लिया, यह आगे कवि स्वयं स्पष्ट कहेंगे, यथा—**'अति लघु रूप धरेउ हनुमाना।'** इससे यह सूचित होता है कि लंकिनीका स्वरूप बहुत भारी था।

टिप्पणी—३ श्रीहनुमान्‌जीकी मुष्टिका लगनेसे मेघनाद आदि सब वीरोंको मूर्च्छाका होना कहा गया है, यथा— **'मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई॥'** (सुं० १९ मेघनाद), **'तब मारुतसुत मुठिका हनेऊ। परेउ धरनि ब्याकुल सिर धुनेऊ॥'** (लं० ६४ कुम्भकर्ण), **'मुठिका एक ताहि कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा॥'** (लं० ८३ रावण); परन्तु यहाँ लंकिनीको मुष्टिका लगनेपर मूर्च्छा न आयी। उसका मूर्च्छित होना न कहकर जनाया कि जैसा घूँसा हनुमान्‌जीने औरोंको मारा वैसा इसको न मारा था। [इसका प्रमाण वाल्मीकीयमें भी मिलता है। सुं० अ० श्लोक २३-४२ में लिखा है कि—(उसे स्त्री जानकर) श्रीहनुमान्‌जी उसके कठोर वचनोंपर भी उससे तीन बार बहुत मृदु वचन बोले। उन्होंने पहले उससे पूछा कि 'तुम कौन हो और हमें क्यों डाँटती हो ?' (श्लोक २६), और फिर पर्वत-सदृश खड़े होकर दूसरी एवं तीसरी बार यही कहा कि 'मुझे इस नगरीके देखनेका बड़ा कुतूहल है। अतः हे भद्रे ! मैं उसे देखकर अपने स्थानको लौट जाऊँगा !—**'दृष्ट्वा पुरीमिमां भद्रे पुनर्यास्ये यथागतम्॥ ३७॥'** इसपर भी जब उसने शोर किया और हाथ चलाया तब उन्होंने उसे स्त्री जानकर बायें हाथकी मुट्ठीसे साधारण घूँसा मारा, पर उस प्रहारसे ही उसके अङ्ग शिथिल हो गये।— **'ततः संवर्तयामास वामहस्तस्य सोऽङ्गुलीः। मुष्टिनाभिजघानैनां हनुमान्क्रोधमूर्च्छितः॥ ४०॥ स्त्री चेति मन्यमानेन नातिक्रोधः स्वयं कृतः। सा तु तेन प्रहारेण विह्वलाङ्गी निशाचरी॥ ४१॥ पपात सहसा भूमौ विकृताननदर्शना।'''**॥४२॥' वाल्मीकीयके इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि हनुमान्‌जीने इसे जो घूँसा मारा वह एक तो बायें हाथकी मुट्ठीसे मारा, दूसरे साधारण क्रोध करके मारा (और मेघनादादिको दाहिने हाथसे अत्यन्त क्रोधमें भरकर घूँसा मारा था) अतएव वे मूर्च्छित हो गये और यह मूर्च्छित न हुई।'] अथवा, इसे ब्रह्माका वरदान था कि **'बिकल होसि तैं कपिके मारे।'** इससे वह ब्याकुल तो हुई पर उसे मूर्छा न आयी। यह हलका घूँसा भी उसे इतने जोरसे लगा कि उसने कई मुटकनियाँ खायीं।

नोट—मा. त. सु. में 'महाकपि' अर्थात् बड़ा रूप धारण करनेका कारण यह लिखा है कि—उन्होंने सोचा कि यह स्त्री है, हमारा भयंकर रूप देखकर भयसे मार्ग छोड़ देगी; पर जान पड़ता है कि बड़ा रूप देखकर वह अत्यन्त क्रोधित हुई।

पुनि संभारि उठी सो लंका। जोरि पानि कर बिनय ससंका॥ ५॥
जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा॥ ६॥

अर्थ—फिर वह लंका (अपनेको) सँभालकर उठी, और डरती हुई हाथ जोड़कर विनती करने लगी। ५। जब रावणको ब्रह्माने वर दिया था तब चलते समय विरंचि (ब्रह्माजी) ने मुझसे (निशिचर-संहारका यह) चिह्न बताया था।६।

परुषाक्षरम्॥ ३५॥ मामनिर्जित्य दुर्बुद्धे राक्षसेश्वरपालिता। न शक्यमद्य ते द्रष्टुं पुरीयं वानराधम। ३६। वहाँके 'वनालय' (जंगली) 'दुर्बुद्धे' (मूर्ख) और 'अधम' के स्थानपर यहाँ 'शठ' शब्द है।

* विनयपत्रिकामें यही आशय पद २६६ में है। यथा—'चित्रकूट गये हौं लखि कलिकी कुचालि सब, अब अपडरनि डर्‌यो हौं। ३। माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खर्‌यो हौं। चीन्हों चोर जिय मारिहै तुलसी सो कथा सुनि, प्रभुसों गुदरि निबर्‌यो हौं। ४।' अर्थात् कलिरूपी चोरको मैंने पहचान लिया इससे वह अब मेरे प्राण ही ले लेगा।

टिप्पणी—१ (क) **'सो लंका'** कहनेका भाव कि जिसे हमने प्रथम लंकिनी निशिचरी कहा, वह वस्तुतः लंका नगरी ही है, निशिचरी नहीं है। प्रथम अपनेको छिपाये रही इससे ग्रन्थकारने भी गुप्त ही रखा। जब वह खुली, अपना हाल स्वयं बताने लगी, तब ग्रन्थकारने भी स्पष्ट लिखा। (ख) 'संभारि' से जनाया कि व्याकुल हो गयी थी। आगे वह स्वयं कहती है—**'बिकल होसि तैं कपिके मारे'**। (ग) हाथ जोड़ना, विनय करना, अपराध क्षमा करनेके लिये शीघ्र प्रसन्न करनेवाली मुद्रा है। यहाँ मन, वचन, कर्म तीनोंसे नम्र दिखाया—**'सशंका'** मन, **'कर विनय'** वचन और **'जोरि पानि'** कर्म है। (घ) 'सशंक' है कि कहीं फिर न मार बैठें, क्योंकि मैंने बहुत दुर्वचन कहे थे। मानसमें 'शठ' और 'चोर' दो दुर्वचन लिखे गये। 'चोर' कहा उसके बदलेमें एक मुष्टिका तो खा चुकी; अब रहा दूसरा दुर्वचन 'शठ', कहीं उसके बदलेमें दूसरा घूँसा न मिले जो प्राण ही निकल जायँ।

नोट—१ **'पुनि संभारि उठी'** इति। वाल्मीकिजी स० ३ में लिखते हैं कि हनुमान्‌जीको प्रवेश करते देख लंकिनी उठी थी, यथा—**'स्वयमेवोत्थिता तत्र विकृताननदर्शना। २१।'** और सामने आकर खड़ी हो गयी। मुष्टिका लगनेके पूर्वतक वह खड़ी रही। मुष्टिका लगनेसे वह मुटकरी खाकर गिर पड़ी थी। मानसके 'पुनि' शब्दसे यह भी जना दिया है कि एक बार वह पहले भी उठी थी—ललकारनेको। और अब गिरनेपर फिर उठी—विनय करनेको।

२—**'जोरि पानि कर बिनय'** इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं—**'ततो वै भृशमुद्विग्ना लङ्का सा गद्गदाक्षरम्। उवाचागर्वितं वाक्यं हनुमन्तं प्लवङ्गमम्॥ प्रसीद सुमहाबाहो त्रायस्व हरिसत्तम। समये सौम्य तिष्ठन्ति सत्त्ववन्तो महाबलाः॥ अहं तु नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम। निर्जिताहं त्वया वीर विक्रमेण महाबल॥ ५। ३। ४३—४६।'** अर्थात् 'दीनतापूर्वक गद्गदवाणीसे बोली कि 'हे वानरश्रेष्ठ! हे महाबाहो! आप प्रसन्न होकर मेरी रक्षा करें। हे सौम्य! पराक्रमी वीर अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हैं। मैं स्वयं लंकापुरी हूँ। आपने अपने पराक्रमसे मुझे जीता है। मैं एक सत्य बात कहती हूँ उसे सुनिये।'—यही 'विनय' है।

३—**'सशंका'** इति। हनुमान्‌जी 'महाकपि' रूपसे अभी सामने खड़े हैं, इससे डर रही है कि कहीं अभी जीती देख मार न डालें जिसमें निश्चिन्त होकर भीतर जा सकें। दूसरे ब्रह्माजीका वर स्मरण हो आया, अतएव शंकित है कि मुझसे भारी भागवतापराध हो गया, श्रीरामदूतको मैंने दुर्वचन कहे। तुरत क्षमा माँग लूँ। मार डाली गयी तो यह पाप भोगना पड़ेगा।

४—**'पुनि ··· बर दीन्हा'** पायकुलंक, **'चलत०'** तामरस है—(ब्र० चं०)। लंकिनीके कोपरूप भावकी शान्ति हनुमान्‌जीके रुष्ट भावसे होना 'समाहित अलंकार' है।'

टिप्पणी—२ **'चलत बिरंचि ···'** इति। (क)—अग्निपुराणमें कहा है कि 'ब्रह्माजीने रावणको वर दिया था कि दिव्य लंकापुरीमें पाँच करोड़ वर्ष राज्य करेगा। ब्रह्माके वर देनेपर मैंने उनसे प्रार्थना की कि दुष्टोंके वाससे मुझे बड़ा दुःख होगा, कभी धर्मात्माका राज्य भी यहाँ होगा और कब? इसपर उन्होंने मुझे यह चिह्न बताया कि **'बिकल होसि०'**। उसी समयसे मैं आपकी प्रतीक्षा करती रही हूँ।' चीन्हा=चिह्न। यहाँ— **'मन कपटी तन सज्जन चीन्हा'** **'मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा'**। (ख) इस कथनका भाव यह है कि मुझसे अनजानमें आपका अपमान एवं अपराध हुआ, जान लेती तो आदर करती, तब आप न मुझे मारते; न मैं विकल होती और न ब्रह्माका वचन ही सिद्ध होता। अतएव **'छमहु चूक अनजानत केरी'** सफाईमें ब्रह्माका वचन कहा कि वह असत्य नहीं हो सकता। यथा—**'स्वयंभुविहितः सत्यो न तस्यास्ति व्यतिक्रमः॥ ३। ४९॥'**

मा० त० सु०—'ब्रह्मा' और 'बिरंचि' में पुनरुक्ति नहीं, क्योंकि एक रावण-वरदान-विषयक है और दूसरा लंकिनी प्रतिकथोपकथनविषयक है और इसका अगली चौपाईतक सम्बन्ध है।

प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि व्युत्पत्तिदृष्ट्या ब्रह्मा और विरंचिमें बहुत भेद है। ब्रह्मा=प्रजाकी वृद्धि करनेवाले। रावणको वर देकर उन्होंने उसकी शक्ति, आयु, ऐश्वर्य आदिकी अत्यन्त वृद्धि की, अतः उस कार्यमें 'ब्रह्मा' शब्द दिया। पर रावणके इस कार्यसे असंख्योंकी स्वतन्त्रता आदिका क्षय होगा इसके विरुद्ध कोई रचना की गयी या नहीं यह कहना आवश्यक था, अतः द्वितीयार्थमें यह कहनेके लिये 'बिरंचि' शब्द दिया गया। बिरंचि=विरुद्ध रचना करनेवाले। ('बिरंचि' शब्दका प्रयोग विशेष रचना करने अथवा सृष्टिकी रचनाके सम्बन्धसे **'मन बिरंचि कर भूल'** **'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। ··· १। २२३।'** आदि अनेक स्थानोंमें आया है।)

नोट--५ श्रीहनुमान्‌जीके बिना पूछे ही वह सब बातें कह चली। इसमें इसका गूढ़ अभिप्राय सच्ची बात कहकर रामदूत-की कृपा सम्पादन करनेका है। यह कल्पित प्रश्नका 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है। (वीरकवि)।

६—वाल्मी० सुं० ३ श्लोक ४७ में कहा है कि जब कोई वानर अपने पराक्रमसे तुझे वशमें कर ले तब जान लेना कि राक्षसोंपर विपत्ति आ गयी। उद्धरण आगेकी चौपाईमें दिया गया है।

बिकल होसि तैं * कपि के मारे। तब जानेसु निसिचर संघारे॥ ७॥
तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥ ८॥

अर्थ--जब तू कपिके मारनेसे व्याकुल होवे, तब जान लेना कि निशिचरोंका नाश हुआ (और धर्मात्माका राज्य होगा)॥ ७॥ हे तात! मेरा बड़ा भारी पुण्य (उदय हुआ) है कि मैंने श्रीरामजीके दूतको नेत्रोंसे देखा॥ ८॥

टिप्पणी--१ **'मोर अति पुण्य बहूता'**। सन्तदर्शन भारी पुण्यके उदयसे होता है, यथा—**'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता' 'मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ'**। (उ० ४५; अ० १२५)

नोट--१ **'तात मोर अति पुन्य बहूता'** इति। 'तात' शब्द यहाँ 'श्रेष्ठतावाची प्यारका' सम्बोधन है, रामदूत जान-कर उनमें प्रेम हो गया; इसीसे 'तात' कहा। **'अति पुन्य बहूता'** अर्थात् मैं धन्य हूँ। यथा—**'धन्याहमप्यद्य चिराय राघवस्मृतिर्ममासीद्भवपाशमोचिनी। तद्भक्तसङ्गोऽप्यतिदुर्लभो मम प्रसीदतां दाशरथिः सदा हृदि॥** अ० रा० ५। १। ५७॥' अर्थात् आज बहुत दिनोंमें भवबन्धनमोचिनी श्रीरामजीकी स्मृति मुझे हुई और उनके भक्तका अत्यन्त दुर्लभ संग प्राप्त हुआ; अतः आज मैं धन्य हूँ। **'बिकल''संघारे'** पायकुलक है, **'तात''बहूता'** स्वागता है और **'देखेउँ नयन'** पायकुलक है। (व्र० चं०)।

टिप्पणी--२ **'देखेउँ नयन'** इति। अर्थात् महात्मा लोग आपको ध्यानमें देखते हैं, वही आप मुझे आँखोंसे देखनेको मिले, यथा--**'देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेब्य जुगल पद कंज'** (सुं० ४७)।

३—**'राम कर दूता'** से पाया गया कि ब्रह्माजीने बहुत संक्षेपमें इससे रामायण भी कही, जैसे चन्द्रमा मुनिने संपाती-से। नहीं तो **'बिकल होसि'** इतनेसे ही उसने कैसे जान लिया कि ये रामदूत हैं?

नोट--२ अध्यात्मरामायण सुं० सर्ग १ में ब्रह्माजीका कथन भी है। लंकिनीसे उन्होंने पूरी कथा संक्षिप्त रूपमें कही है—अट्ठाईसवीं चतुर्युगीमें दशरथजीके यहाँ श्रीरामका और जनकमहाराजके यहाँ श्रीसीताजीका अवतार होना, श्रीसीताराम-लक्ष्मणका वनको जाना और वहाँ सीताहरण होनेपर सुग्रीवजीसे मित्रताका होना और सीताजीकी खोजमें वानरोंका भेजा जाना (श्लोक ४८—५१) कहकर बताया है कि उनमेंसे एक वानर रात्रिमें तेरे पास आवेगा और तुझसे तिरस्कृत होनेपर एक मुष्टिका मारेगा, जिससे तू विकल हो जायगी, उसी समय रावणका अन्त होगा। यथा—**'त्वया च भर्त्सितः सोऽपि त्वां हनिष्यति मुष्टिना। ५२। तेनाहता त्वं व्यथिता भविष्यसि यदानघे॥ तदैव रावणस्यान्तो भविष्यति न संशयः। ५३।'** (अ० रा० ५। १)।

वाल्मीकीयमें चरितका कहना नहीं पाया जाता। किसी वानरसे पराजय होनामात्र कहा है, यथा—**'यदा त्वां वानरः कश्चिद्विक्रमाद्वशमानयेत्। तदा त्वया हि विज्ञेयं रक्षसां भयमागतम्॥** ५। ३। ४७-४८।'

३ मा० त० सु०—(क) **'जब रावनहिं'** यहाँसे **'निसिचर संघारे'** तक सब पद साकांक्षित श्लेष हैं। इनमें बहुत भाँतिके अर्थ हैं। अन्वय—**'जब रावण चलत और बिरंचि चलत मोहि चीन्हा तब मोहि निसिचर संहारे चीन्हा** कहा (मैंने निशिचर-संहारका लक्षण पूछा) **यह सुनि बिरंचि मोहि कहा—जब कपि''' तब निसिचर संहार चीन्हा जानेसु।'** (ख) **'अति पुन्य बहूता'** इसके अर्थमें तीन कोटि हैं। पुण्य, अति पुण्य और बहुत अति पुण्य। ब्रह्माका समागम पुण्य है, यथा-**'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥'** भगवत्-यशश्रवण अति पुण्य है, यथा—**'कहेउँ परम पुनीत इतिहासा'**। और **'बहुत अति पुण्य'** [=पुण्य पुञ्ज] श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन है। (ग) 'रामदूत' से सिद्ध हुआ कि उसने प्रेमपूर्वक ब्रह्मासे पूछा था तब उन्होंने चरित सुनाया। इससे श्लेषवाला अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

* जब—कोदवराम। तैं—१७२१, १७६२, छ० १७०४

तात* स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥ ४ ॥

अर्थ—हे तात ! स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको तराजूके एक पलड़ेमें रखिये और लवमात्र सत्संग-सुखको दूसरे पलड़ेमें रखिये तो वे सब मिलकर भी उस सुखके बराबर नहीं हो सकते, जो लवमात्रके सत्सङ्गसे होता है ॥ ४ ॥

नोट—१ यह दोहा मिश्रित है—(ब्र० चं०)

टिप्पणी—१ '**तात स्वर्ग अपबर्ग सुख**...' इति । (क) यहाँ 'तुला' (तराजू) क्या है ? बुद्धि ही तराजू है; यथा—'**मैं मति तुला तौलि देखी भइ मेरिहि दिसि गरुआई ।**' इति विनये । संसार-सुखसे स्वर्गसुख विशेष है और स्वर्गसुखसे अपवर्ग (मोक्ष) सुख अधिक है और इन तीनों सुखोंसे सत्सङ्ग-सुखकी महिमा विशेष है। यह विशेषता दिखानेके लिये स्वर्ग, अपवर्ग और सत्संगको क्रमसे कहा गया ।—[यज्ञ आदि सकाम पुण्य-कर्मोंसे स्वर्गके दिव्यभोगोंकी प्राप्ति होती है, यथा—'**अगम अपबर्ग अरु स्वर्ग सुकृतैक फल०**' इति विनये । पर पुण्य क्षीण होनेपर फिर संसारमें (मर्त्यलोकमें) आना पड़ता है, यथा—'**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति** । गीता ९ । २१ ।' '**ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी** । ७ । १३ ।'; इतना ही नहीं स्वर्गमें भी सवतिया डाह बना रहता है, यथा—'**स्वर्गहु मिटत न सावत**' इति विनये,'**ऊँच निवास नीच करतूती । देखि न सकहिं पराइ बिभूती** ॥' इत्यादि । अतएव स्वर्गसे मोक्षका सुख अधिक कहा । मोक्षसुख बिना हरिभक्तिके रह नहीं सकता, यथा—'**तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई । रहि न सकइ हरि भगति बिहाई** ॥ (७ । ११९) । और भक्ति बिना संत-संगके नहीं मिलती, यथा—'**सो बिनु संत न काहू पाई** ॥'] पुनः (ख) स्वर्ग-सुखसे कर्मकाण्ड जनाया क्योंकि कर्मका ही फल स्वर्ग-सुख है । अपवर्ग-सुखसे ज्ञानकाण्ड क्योंकि ज्ञानका फल मोक्ष है, यथा—'**ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना** ।' (३ । १६); और सत्संगसे भक्ति अर्थात् उपासनाकाण्ड जनाया, क्योंकि भक्तिका फल सत्सङ्ग है । सत्सङ्गको भक्तिका फल कहनेका भाव यह है कि भजन करनेसे भगवान्‌की कृपा होती है, उससे फिर सत्सङ्ग मिलता है, यथा—'**मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई । भजत कृपा करिहहिं रघुराई** ॥ १ । २०० ।' '**जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये** ।' (विनय० १३६) '**बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता** ।' पुनः, सत्सङ्ग भक्तिका सर्वप्रथम अङ्ग भी कहा गया है और भक्तिका सिद्ध फल भी है । यथा—'**प्रथम भगति संतन्ह कर संगा** । ३ । ३५ ।' '**सतसंगति मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि**...' ॥ १ । ३ ।']—अभिप्राय यह है कि ये सब मिलकर भी भक्ति (सत्सङ्ग) के सुखके तुल्य नहीं हो सकते ।

नोट—२ स्वर्ग अनेक हैं और मोक्ष भी कई प्रकारका है । समस्त स्वर्गोंके सुख और समस्त मोक्षोंके सुख मिलकर भी लवमात्रके सत्सङ्गके सुखकी समता नहीं कर सकते । यह हमारे अनुभवी ऋषियोंका अनुभूत सिद्धान्त है। शौनकादि अट्ठासी हजार ऋषियोंने यही बात सूतजीसे कही है । यथा—'**तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः** ॥ भा० १ । १८ । १३ ।'

३—'लव' का क्या परिमाण है इसमें मतभेद है । पांडेजी ६० लवका एक निमेष बताते हैं । दोनों पलकोंके एक बार मिलकर फिर उठ जानेमें जो समय लगता है उसे निमेष कहते हैं । हेमचन्द्रके मतसे ३६ निमेषोंका एक 'लव' होता है। यथा—'**अष्टादश निमेषास्तु काष्ठाद्वयं लवः इति हेमचन्द्रः** ।' (रा० च०) । और श्रीमद्भागवतमें तीन लवका एक निमेष कहा गया है, यथा—'**निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः । क्षणान्पञ्च विदुः काष्ठां लघुता दशपञ्च च** ॥ ३ । ११ । ७ ।' अर्थात् तीन लवका एक 'निमेष' होता है, तीन निमेषका एक 'क्षण', पाँच क्षणकी एक 'काष्ठा' और पंद्रह काष्ठाका एक 'लघु' होता है । ☞ भागवतके श्लोकके लिये उसीका प्रमाण लेना होगा । इस तरह 'लव' निमेषका तिहाई समय हुआ ।

नोट-४ सत्सङ्ग लाभकी अवधि है, सत्सङ्ग-समान सुख नहीं है-यह अन्यत्र भी कहा गया है । यथा—'**गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन** ।' (उ० १२५), '**संत मिलन सम सुख कछु नाहीं** ।' (उ० १२१) । शंका—लङ्किनीने हनुमान्‌जीको चोर और शठ कहा; हनुमान्‌जीने उसे घूँसा मारा । इसमें सत्सङ्ग क्या हुआ ? समाधान—यहाँ दर्शन और स्पर्शका माहात्म्य कहते हैं, ऐसा लंकिनीने कहा भी है—'**देखेउँ नयन राम कर दूता**' । पुनः,

* तात—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० । सात—कोदवराम ।

यथा—'**सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकौ बारा॥**' यह जो कहा है सो निमिषमात्रका सत्सङ्ग, 'दर्शन' छोड़ और क्या हो सकता है ? सत्सङ्ग कई प्रकारका कहा गया है। दर्शन-सत्सङ्ग, स्पर्श-सत्सङ्ग, समागम-सत्सङ्ग इत्यादि। यथा—'**दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये।**' इति विनये २३६। दर्शन-सत्सङ्गका माहात्म्य विनयके उद्धरणमें आ गया। पुनः यथा—'**संत दरस जिमि पातक टरई।**' स्पर्श-सत्सङ्गका उदाहरण है—'**सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥**'; समागमके उदाहरण तो बहुत हैं—याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-समागम, भुशुण्डि-गरुड़-समागम, अगस्त्यजी और शिव-सनकादिका समागम। यथा—'**सुनु मुनि आजु समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुख मन मोरे॥** बा० १०५॥' इत्यादि। समागमका माहात्म्य '**गिरिजा समागम**...' और '**दरस परस**...' में कहा जा चुका है।

दोहेका भाव यह है कि आपके दर्शन और स्पर्शसे मुझे स्वर्ग और अपवर्गके सुखोंसे भी अधिक सुख हुआ। ☞ देखिये, प्रत्यक्ष एक फल तो यही हुआ कि उसने अपनी तामसी वृत्ति छोड़कर सात्त्विकी वृत्ति ग्रहण कर ली।

☞ पद्मपुराण पातालखण्ड अश्वमेधयज्ञ-प्रसंगमें राजा सुबाहुसे युद्ध करते समय श्रीहनुमान्‌जीने बड़े क्रोधमें भरकर राजा सुबाहुकी छातीमें लात मारी थी जिससे राजा मूर्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े थे। मूर्छासे जागनेपर जब वे श्रीशत्रुघ्नजीके समीप आये तब उन्होंने भी यही कहा है—'साधुओंका सङ्ग हो जानेपर इस पृथ्वीपर क्या-क्या नहीं मिल जाता। मैं महामूढ़ था किंतु संतके प्रसादसे ही आज मेरा ब्रह्मशापसे उद्धार हुआ।' देखिये, उन्होंने भी 'लात' ही खायी थी। इसीको तो उन्होंने 'संतसङ्ग' कहा है। उन्होंने भी हनुमान्‌जीको संत कहा है।

वि० त्रि०—प्रश्न यह उठता है कि लंकिनीको हनुमान्‌जीके सत्सङ्गके लवसे कौन सुख मिला जो वह ऐसा कह रही है ? उसे तो हनुमान्‌जीसे मुष्टिकाके आघातका ही लाभ हुआ, जिससे वह रुधिर वमन करती हुई पृथ्वीपर लोटने लगी। फिर सँभालकर उठी तो उसे ब्रह्मदेवके कथनकी याद आ गयी कि '**बिकल होसि तैं कपिके मारे। तब जानेसि निसिचर संघारे॥**' उसने जान लिया कि ये रामजीके दूत हैं, ये यदि दूसरी मुष्टिका मारेंगे तो प्राण न बचेंगे। इसी शङ्कासे सशङ्कित होकर वह हाथ जोड़कर विनय करने लगी। कहा जा सकता है कि निशिचरोंके संहारकी आशासे उसे खुशी हुई, तो यह कोई उसके लिये नयी बात नहीं थी। '**हरिप्रेरित जेहि कल्प जो जातुधानपति होइ। सूर प्रतापी अतुल बल दलसमेत बस सोइ॥**' उसपर सदासे ही निशिचर बसते चले आये हैं। यदि यह कहा जाय कि लङ्किनीके ऐसा कहनेका यह आशय है कि आप रामजीके दूत हैं, संत हैं, आपके सत्सङ्गके लवसे भी ऐसा सुख होना चाहिये, जिसके आगे स्वर्ग और मोक्ष भी अकिञ्चित्कर मालूम हों, आपके मिलनेसे प्राण-हानि न होनी चाहिये, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे सत्सङ्गके सुखका स्थापन नहीं होगा।

समाधान यह है कि हनुमान्‌जी लक्ष्यालक्ष्यरूप (मशकसमान रूप) से रातको लङ्कामें प्रविष्ट हुए। कोई लख न सका, पर लङ्किनीने इतना लख लिया कि कोई चोरीसे पुरमें प्रवेश कर रहा है। जब उसने डाँटा तब हनुमान्‌जीने यह समझकर कि इस रूपसे इसका मैं कुछ नहीं कर सकता, विशाल रूप धारण करके उसे मुष्टिका मारी। गिरनेके बाद जब वह उठी तब हनुमान्‌जीके स्वरूपका उसे दर्शन हुआ। उस दर्शनसे उसे ऐसा बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय अलौकिक सुख हुआ कि उसे स्वर्ग और मोक्ष तुच्छ मालूम होने लगे। अतः वह कहती है कि '**तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥**' '**तात स्वर्ग**...' इत्यादि।

मा० त० सु०—१ '**जो सुख लव सतसंग**' कहनेका भाव यह है कि मुझे इस राक्षसमण्डलीमें लवमात्र भी सत्सङ्ग प्राप्त होना स्वर्गापवर्गादि सुखोंसे बढ़कर है।' २—वह सत्सङ्गजनित सुख कौन और कैसा है ? समाधान—यथा—'**परानन्द-सन्दोह**'।—'**अनिर्वाच्य बिश्राम**'।

नोट—५ उत्तरकाण्डमें सत्सङ्गको अपवर्गका मार्ग अर्थात् साधन कहा है, यथा—'**संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ। कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ। ३३।**' और यहाँ सत्सङ्गको अपवर्गसे विशेष कहते हैं। यह विपर्यय क्यों ? उत्तर यह है कि वहाँ सत्सङ्ग और अपवर्गकी चर्चा है और यहाँ सत्सङ्गजनित सुख और अपवर्गजनित सुखकी चर्चा है। वह मोक्ष देहावसानपर प्राप्त होता है और यहाँका मोक्षसुख तो इसी शरीरमें प्राप्त होता है, यथा—'**मज्जन फल देखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकहु मराला॥**' (१। ३)।

६—इस सम्बन्धमें एक कथा कही जाती है कि वसिष्ठजी और विश्वामित्रजीमें वाद-विवाद हुआ। वसिष्ठजी सत्सङ्गको श्रेष्ठ कहते थे और विश्वामित्रजी तपको। अन्ततोगत्वा इसके निर्णयके लिये दोनों शेषजीके पास गये। शेषजीने कहा कि दोनों-मेंसे कोई ब्रह्माण्डके भारको थाम ले तो मैं इसका उत्तर दूँ। पहले विश्वामित्रजीने अपनी सारी तपस्याका फल लगाकर पृथ्वीको थामना चाहा पर न सँभाल सके; तब वसिष्ठजी पलभरके सत्सङ्ग फलको लगाकर उसे हाथपर दो घड़ीतक लिये रहे। बस, इसीसे सत्सङ्गके बड़े होनेका निर्णय हो गया। (पां०, वीरकवि)।

नोट—७ यहाँ अब एक प्रश्न और यह उठता है कि वे संत कौन हैं जिनके लवमात्रके सङ्गसे असीम लाभ और असीम सुख प्राप्त होता है? ऐसे संत श्रीहनुमान्‌जी, श्रीअगस्त्यजी, श्रीभुशुण्डिजी इत्यादि ही हैं। विनयमें भी पद ५७ में जहाँ सत्सङ्गकी प्रार्थना की गयी है उसमें संतोंके लक्षण कहे हैं। यथा—'**ये तुभवदंघ्रिपल्लवसमाश्रित सदा भक्तिरत बिगत संसय मुरारी॥१॥**'' **सांत निरपेक्ष निर्मम निरामय अगुन शब्दब्रह्मैकपर ब्रह्मज्ञानी। दक्ष समदृक स्वदृक बिगत अति स्वपरमति परमरति बिरति तव चक्रपानी॥४॥ विश्व उपकार हित ब्यग्रचित-सर्वदा त्यक्तमदमन्यु कृत पुन्यरासी।**'—ऐसे संत और भगवान्‌में भेद नहीं है। ऐसोंका हरिकृपासे लवमात्रका सङ्ग अवश्य परम सुखदाई होगा।

वाल्मीकीयके उपर्युक्त श्लोकमें 'भगवत्सङ्गिसङ्ग' शब्द आया है जिसका अर्थ है 'जो भगवान्‌में निरन्तर रत रहते हैं, जिनका भगवान्‌से सदैव सङ्ग है (always in communion with God) जिन्हें '**बिनु हरि भजन काज नहिं दूजा**'—उन भगवदनुरागी संतोंका सङ्ग।'

श्रीहनुमान्‌जी वैसे ही संत हैं तभी तो उनके दर्शन और स्पर्शमात्रसे जरा-सी देरमें लंकिनी क्या-से-क्या हो गयी? तामसी वृत्ति छोड़कर वह सात्त्विक हो गयी। यदि उसको परमसुख नहीं हुआ तो उसने कहा कैसे? दर्शन और स्पर्शसे इतना सुख हुआ, समागम होता तब तो न जाने कैसा सुख होता!!

८—पंजाबीजी लिखते हैं कि—'स्वर्गादिके सुखसे सत्सङ्ग-सुख विशेष है इस बातको प्रत्यक्ष दिखानेके लिये ही '**तुला**' का दृष्टान्त दिया गया है कि देख न लो स्वर्गादि सुखका पलड़ा ऊपर चला गया और सत्सङ्ग-सुखका नीचे पृथ्वीपर रह गया।' भारी ही तो नीचे रहता है।

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥ १॥

अर्थ—कोशलपुरके राजा रामचन्द्रजीको हृदयमें रखकर नगरमें प्रवेश करके सब कार्य कीजिये॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) '**प्रबिसि नगर**' कहनेका भाव कि आपके इस अति लघु रूपको मैं ही जान सकी, लङ्कामें कोई इसे न जान सकेगा, आप निर्भय होकर प्रवेश करें। (ख) '**सब काजा**' अर्थात् सीता-दर्शन, अशोक वनका उजाड़ना, दुष्टदलन इत्यादि। पुनः, ये उत्तम दूत हैं। स्वामीके अनुकूल बहुत काम करेंगे। संक्षेपसे ब्रह्माने सब चरित इससे कह दिया था; इसीसे यह जानती है कि कई काम इनके द्वारा होंगे। अतएव यहाँ केवल श्रीसीताजीकी सुध लेना न लिखा। (विशेष नोट २, ३ में देखिये)। '**हृदय राखि**'—जिसमें कार्य सिद्ध हो। (ग) '**कोसलपुर राजा**' के स्मरणसे कुशल होगी जैसे कोसलपुरीकी रक्षा करते हैं वैसे ही तुम्हारी करेंगे। अथवा, इनके स्मरणसे सब कामोंमें तुम्हारी शोभा होगी। राक्षस-वध, लंकादहन आदिमें तुमको कोई दोष न लगेगा; क्योंकि '**प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा॥ ३। १७। १४**॥' इसी प्रकार तुम्हें भी सब छजेगा। अथवा, लंकाका ऐश्वर्य देखकर इनको मोह न होगा; क्योंकि कोशलपुरका ऐश्वर्य लंकासे बहुत अधिक है। (विशेष नोट ४, ५ देखिये)। (च) लंकामें प्रवेश करना बहुत कठिन है इसीसे बारम्बार स्मरण करते हैं, यथा—'**लंकहिं चलेउ सुमिरि नरहरी**', '**पैठा नगर सुमिरि भगवाना**'। (सुं० ४, ५)।'

नोट—१ यह 'पायकुलक' है—(प्र० चं०)।

२—'**सब काजा**' इति। पांड़ेजीके मतानुसार वे सब कार्य ये हैं—(१) सुग्रीवकी प्रतिज्ञा श्रीजानकीजीको ला देने-की। (२)-रामकार्य (सीताजीकी सुधि लाना, देखना, उनको धीरज देना इत्यादि)। (३) वानरोंके श्रमको सफल करना। (४) श्रीजानकीजीका वियोग-विरह-दुःख दूर करना। (५) विभीषणजीका मनोरथ पूर्ण करना। और (६) लंकाको जलाकर त्रैलोक्यको सुखी करना।

३—अभिप्रायदीपककार '**सब काजा**' के भावार्थपर यह दोहा देते हैं—'**नगरी सगरी निसिचरी, है अधमरी पुकार। हरी प्राण त्रासी डरौं हौं बलि ताही जार।**' अर्थात् लंकिनी कहती है कि राक्षसीरूपमें मैं यह सारी लंका नगरी ही हूँ, सारी

लंका मेरी देह है, आपके घूँसेसे मैं अर्थात् सारी लंकापुरी अधमरी हो गयी, अब थोड़ी देरमें मैं मर जाऊँगी पर मैं डरती हूँ कि मेरी देहं कोई जलायगा नहीं, अतएव मैं आपकी बलैयाँ लेती हूँ आप मेरे मरनेपर इसे जला दीजियेगा।--इसीसे हनुमान्‌जीने लंकापुरीको उलट-पलटकर जलाया जैसे लाशको जलाया जाता है। यह भाव 'सब काजा' में गुप्तरूपसे है।

नोट—४ **'हृदय राखि कोसलपुर राजा'** का एक भाव यह है कि--श्रीहनुमान्‌जी लंकामें घर-घर श्रीसीताजीको खोजेंगे। लंकामें त्रैलोक्यसुन्दरियाँ देख पड़ेगी, यथा—**'देव जच्छ गंधर्व नर किन्नर नागकुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर बर नारि॥'** (बा० १८२)। उनको देखकर इनका चित्त बिगड़ न जाय, इसीके लिये लंकिनीने उन्हें यह मूलमन्त्र बताया। (पाँ०)

प० प० प्र० स्वामी लिखते हैं कि 'रावण लंकाका राजा है, उसकी शक्ति अगाध है पर उसके पास 'कोसलपुर राजा-का स्मरण' यह शक्ति नहीं है, तुम स्मरण करो तो तुम उससे अधिक बलवान् हो जाओगे। उसे देवताओंसे डर नहीं है, मानवसे उसकी मृत्यु है, अतः तुम उनका स्मरण करते रहना।'

वि० त्रि० जी लिखते हैं कि यदि **'लंका चलेउ सुमिरि नरहरी'** अर्थ न करके श्रीरामचन्द्र अर्थ किया जायगा, तो लंकाकी अधिष्ठात्री देवताके **'हृदय राखि कोसलपुर राजा'** ऐसे उपदेशके लिये अवसर न रह जायगा। यहाँ भाव यह है कि संकट आ पड़नेपर भी इष्टदेवके ध्यानमें परिवर्तन करना अच्छा नहीं। हनुमान्‌जी रामजीको हृदयमें धारण करके चले, पर लंकामें प्रवेशके समय नृसिंहजीका स्मरण किया तो छिपना चाहते हुए भी पहिचाने गये। देवी उपदेश देती है कि हृदयमें कोसलपुरके राजाको धारण करो, सब कार्य सिद्ध होगा, यथा—**'बनै सो रघुबर ते बनै वा बिगरै भरपूर। तुलसी बनै जो और ते ता बनिबे महँ धूर।'** अतः पुनः भगवान् रामजीका स्मरण करना कहेंगे।'

लमगोड़ाजी—दैवी सम्पत्तिके संगठनका केन्द्र 'कोसलपुर' (जहाँ कुशल मति और सुमति ही हो) ठीक ही है; और हम देखेंगे कि लंकामें कुमति ही अधिक है। परिणाम **'जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥'** होना ही है।

गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥ २॥
गरुड़[1] सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा[2] जाही॥ ३॥

अर्थ—हे गरुड़! जिसपर श्रीरामचन्द्रजीने कृपा करके दृष्टि की, उसे विष अमृत हो जाता है, शत्रु उससे मित्रता करता है, समुद्र उसे गऊके खुरके समान हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाती है और सुमेरु पर्वत रेणु (बालूका कण वा धूलि) के समान (हलका) हो जाता है॥ २-३॥

नोट—१ अर्धाली २ का सम्बन्ध अर्धाली ३ से है। इसलिये दोनोंका अन्वय साथ करके अर्थ किया गया है। २ **'गरुड़ सुमेरु···'** नयमालिनी छन्द है और 'रामकृपा···' से **'देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥ (५)॥'** तक पायकुलक है।-(व्र० चं०)।

टिप्पणी—१ (क) **'राम कृपा करि चितवा जाही।'** इति। श्रीरामकृपाका चिह्न यह है कि कृपापात्रपर कोई विघ्न नहीं व्यापते; यथा—**'सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥ १।३९।'** (ख) यहाँ विरोधी पदार्थों और गुणोंका अनुकूल होना कहकर रामकृपाकी परमोत्कृष्ट महिमा दिखायी है कि वह असम्भवको भी सम्भव कर देती है। (ग) **'चितवा जाही'** का भाव कि कोई नियम नहीं है कि किसपर कृपादृष्टि करते हैं। जिस किसीपर भी कृपा दृष्टि करते हैं वही ऐसा हो जाता है। (इस कथनसे यह भी जनाती है कि विघ्न न व्यापनेपर कभी अभिमान न आने देना)।

☞ यहाँ श्रीरामकृपासे अर्थात् श्रीरामजीके अनुकूल होनेसे अहितका भी हितकारी हो जाना कहा है और अरण्यकाण्ड जयन्त-परीक्षा-प्रसंगमें इसका विपर्यय कहा है। वहाँ कहा है कि श्रीरामजी के प्रतिकूल होनेसे हितकारी भी अहितकारी हो जाते हैं; यथा—**'मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥ मित्र करइ सत रिपु कै करनी।**

१. गरुड़—१७२१, १७६२, १७०४, छ०, वंदनपाठक। गरुअ—कोदवराम। 'गरुड़' पाठ संबोधन है और 'गरुअ' पाठ 'सुमेरु' का विशेषण है। 'गरुड़' पाठपर टिप्पणी १ (घ) और 'पाठान्तर' देखिये।

२. चितवहिं—कोदवराम। चितवा—का०, छ०, भा० दा०, १७६२।

ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी ॥ सब जग ताहि अनलहु तें ताता । जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता ॥३।२।' दोनोंका मिलान—

गरल सुधा	१	सुधा होइ बिष
रिपु करै मिताई	२	मित्र करै सत रिपुकै करनी
गोपद सिंधु	३	ताकहँ बिबुधनदी बैतरनी
अनल सितलाई	४	सब जग ताहि अनलहु तें ताता
राम कृपा करि चितवा जाही	५	जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता
गरुड़	६	हरिजान

(घ) जहाँ नीतिका वर्णन किया जाता है वहाँ भुशुण्डिजीकी उक्ति अवश्य है। ये नीतिके मुख्य वक्ता हैं, इसका हेतु गुरु-उपदेश है। यथा—'एक बार गुर लीन्ह बोलाई । मोहि नीति बहु भाँति सिखाई ॥' (उ०१०६) गुरुजीने बहुत नीति इन्हें सिखायी है।

२ यहाँ श्रीरामकृपासे जिन पाँच बातोंका होना कहा है, वे सब श्रीहनुमान्‌जीमें चरितार्थ हुईं। (१) सुरसा सर्पोंकी माता है; अतएव गरल है, वह ग्रास करने आयी थी—'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा' सो अमृत हुई। उसका आशीर्वाद कि 'रामकाज सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धिनिधान' सुधा है। (२) लंकिनीने प्रथम शत्रुताकी बात कही कि 'जानेहि नहीं मरम सठ मोरा'; वही अब मित्रताकी बात कहती है कि 'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा'। (३) सिंधु गोपद-सा हो गया, यथा—'बारिधि पार गयउ मतिधीरा।' (४) 'अनल सितलाई' और 'सुमेरु रेनु' ये दोनों भविष्य हैं। 'जरा न सो तेहि कारन गिरिजा' यह अग्निका शीतल होना है। और, 'देखा सैल न औषध चीन्हा। सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा॥'; अथवा 'जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥' यह सुमेरुका रेणु होना है।

नोट—१ यहाँ भूत, भविष्य और वर्तमान तीनोंमें श्रीरामकृपावलोकनसे इन बातोंका होना कहा है। एक-एक दो-दो उदाहरण यहाँ दिये हैं। 'गोपद सिंधु' और 'गरल-सुधा' से भूतकाल कहा; समुद्र गोपद-समान पार कर चुके और सुरसा पूर्व आशीर्वाद दे चुकी है। 'रिपु करै मिताई' से वर्तमान कहा; रिपु लंकिनी मित्र बनकर यह आशीर्वाद दे रही है, नगर-प्रवेशमें सहायक हो रही है। 'अनल सितलाई' और 'सुमेरु रेनु सम' भविष्यमें होंगे। यथा—'ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा॥' वाल्मीकीयमें स्वयं श्रीहनुमान्‌जीका इस विषयमें अनुभव कहा है। यथा—'सीतायाश्चा नृशंसत्वेन तेजसा राघवस्य च। पितुश्च मम सख्येन न मां दहति पावकः॥ ५।५३।३८।' अर्थात् सीताजीकी दया, श्रीरामचन्द्रजीके तेजसे और मेरे पितासे मैत्री होनेके कारण आग मुझे नहीं जला रही है। श्रीसीताजीकी आज्ञासे अग्नि शीतल हो गयी यह भी उसी अध्यायमें कहा है। यथा—'यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः। २८। यदि वास्त्येकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः।' (वाल्मी० ५।५३।२९)। अर्थात् यदि मैंने पतिकी सेवा की है, यदि मैंने तपस्या की है, यदि मैं एक श्रीरामजीकी पत्नी हूँ, तो अग्नि! तुम हनुमान्‌जीके लिये शीतल हो जाओ। 'सुमेरु रेणु सम' के उदाहरण पर्वतके चूर्ण होने, उखाड़ लेनेके, ऊपर आ गये। रावण सुमेरुवत् था या यों कहें कि रावणकी लंकाका जलाना, रावणका मान-मर्दन करना सुमेरु था वह इनके लिये धूल-समान सहल हो गया।—(पाँ०)।

प० प० प्र०—'गरल सुधा'—विषका शमन तो मणि, मन्त्र और ओषधि इत्यादिसे हो सकता है पर ब्रह्मबाणसे कोई बचता नहीं। हनुमान्‌जी ब्रह्मबाणसे बच गये, इतना ही नहीं, किंतु इसीके बहानेसे उन्हें लंकादहनका अवसर मिल गया और उनका नाम अमृत (अमर) हो गया। 'रिपु करइ मिताई'—रावणका भाई विभीषण मित्र बन गया। 'गोपद सिंधु'—रावण—बाहुबल-सागर है, यथा—'मम भुज बल सागर जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥' यह भुज-बल-सागर-गोपद-सम हो गया। अशोकवनके १८ हजार रक्षक, ८० हज़ार सचिवसुत, अक्षयकुमार और उसकी सेना तथा मेघनादादि बलरूपी सागर हनुमान्‌जीको गोपद-समान हो गया। 'सुमेरु रेनु सम'—'सहित प्रान कज्जल गिरि जैसा' रावण हनुमान्‌जी और अंगदजीको रेणु-समान लगा।

शंका—हनुमान्‌जीको पहले सुरसा मिली और फिर समुद्र पार होनेपर लंकिनी मिली; पर यहाँ पहले लंकिनीका मिलना कहकर तब 'गोपद सिंधु' कहा। इस क्रमभंगमें क्या हेतु है? समाधान—यहाँ सुरसा और लंकिनी दोनोंकी समानता दिखानेके लिये क्रमभंग किया गया। दोनोंकी समानता इस प्रकार है—(१) 'सुरसा नाम अहिन्ह कै माता' और 'नाम

लंकिनी एक निसिचरी'। दोनोंके नाम कहे गये—यह नामकी समता हुई। (२) 'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा' और 'मोर अहार जहाँ लगि चोरा।' दोनोंने आहार करनेको कहा—यह आहारकी समता हुई। (३) 'सोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा' और 'चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा'। इन दोनोंमें देव-आज्ञाकी समता है। (४) 'रामकाज सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धिनिधान' और 'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा'।—दोनोंने रामकार्य करनेको कहा; यह आशीर्वादकी समता है। और (५) 'आसिष देइ गई सो हरषि०' और 'तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥' अन्तमें दोनों प्रसन्न हुईं, यह प्रसन्नताकी समता हुई। यहाँतक समानता देखी। इससे इन दोनोंको साथ कहा। पुनः (६) यहाँ तीन तत्त्व कहे गये—जलतत्त्व, अग्नितत्त्व और पृथ्वीतत्त्व। सजातीय तत्त्वोंको एक साथ कहा। 'गोपद सिंधु' यह जलतत्त्व है, 'सुमेरु' अग्नितत्त्व है, 'रेणु' पृथ्वीतत्त्व। तत्त्वके सम्बन्धसे सिन्धुको सुमेरु और रेणुके साथ रखा।

पाठान्तर—१७२१ वाली प्रतिमें एवं काशीकी प्रतिमें और १७६२ वाली प्रतिमें 'गरुड़' पाठ है। पं० रा० गु० द्विवेदीकी प्रतिलिपि जो वंदनपाठकजीकी है उसमें 'गरुउ' ऐसा लिखा है; संभव है कि 'उ' न हो 'ड' ही हो क्योंकि इन दोनोंकी लिखावट एक-सी होती है। ना० प्र० का पाठ 'गरुअ' है। कई टीकाओंमें 'गरुअ' पाठ है। यहाँ 'गरुड़' सम्बोधन प्रथम देकर फिर गुरुतासूचक 'सुमेरु' पद दिया गया। केवल 'गरुअ' से भुशुण्डि गरुड़-संवाद नहीं जान पड़ता, परंतु केवल, 'गरुड़' से सुमेरुकी गुरुता भी आ जाती है और सम्बोधन भी।

वन्दन पाठकजीने उदाहरणमें ये श्लोक दिये हैं—'अरिमित्रं विषं पथ्यं अधर्मो धर्मतां व्रजेत्। प्रसन्ने पुण्डरीकाक्षे विपरीते विपर्ययः॥' इति पाद्मे॥ १॥ 'वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्। मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरंगायते॥ २॥ व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते। यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति॥ ३॥' इति नीतिशतके।

नोट—२ ☞ सँभलनेपर लंकिनीने विनीत होकर हनुमान्‌जीसे क्षमा माँगी और जो कुछ कहा वह स्वर्णाक्षरमें लिखने योग्य है; प्रत्येक कर्मयोगीका मूलमन्त्र है, सुखसारकी प्राप्तिका साधन है।

३—'गरलका सुधा होना, रिपुका मित्रता करना' इत्यादि विरोधी पदार्थों और गुणोंके वर्णनमें 'विरोधाभास अलंकार' है। मा० त० सु० कारका मत है कि इन दोनों अर्धालियोंमें 'अयुक्त अलंकार' है; यथा—'असुभै सुभ ह्वै जात जहँ, क्योंहूँ केसवदास। इहै अयुक्तै युक्त कवि बरनत बुद्धि बिलास॥' (कविप्रिया)।

४—कोई-कोई यह शंका करते हैं कि 'लंकिनीने तो बहुत कुछ वार्तालाप की पर श्रीहनुमान्‌जी कुछ भी न बोले?' मेरी समझमें लंकिनीने जो कुछ कहा वह तो सारी विनय है, जो यथा—'जोरि पानि कर बिनय ससंका।' जो इस डरसे उसने की कि कहीं प्राण न ले लें। वह राक्षसी थी, उसके उत्तरकी जरूरत न थी, वे तो रामकार्यमें तत्पर हैं, विघ्न दूर हुआ, मार्ग मिल ही गया, इतना ही काम था वह बन ही गया, अब समय क्यों खोते? दूसरे उसने जो कहा वह अब अनुकूल ही कहा, उसकी बातें ब्रह्माका वरदान इत्यादि सत्य मान लीं और चल दिये। उत्तर देनेकी कोई बात ही न थी।

अति लघु रूप धरेउ हनुमाना। पैठा नगर सुमिरि भगवाना॥ ४॥
मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥ ५॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने अत्यन्त छोटा रूप धारण किया और भगवान्‌का स्मरण करके नगरमें प्रवेश किया॥ ४॥ एक-एक करके प्रत्येक मन्दिरमें अच्छी तरह (बारंबार) ढूँढ़ा। जहाँ-तहाँ (या; जहाँ देखें तहाँ ही) अगणित योद्धा देखे॥ ५॥

नोट—१ 'अति लघु रूप...' इति। 'अति लघु रूप' कहकर जनाया कि कल्पनामात्र देह थी, कितना छोटा रूप था कहा नहीं जा सकता। यथा—'भूत्वा द्विदंशः। अकलितपरिमाणो मात्रया सत्रपस्तां क्षिपति...हनु० ६। १३।' अर्थात् कल्पना करनेवाले देहकी मात्रासे लज्जित हुए।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ 'मुठिका एक महाकपि हनी' के 'महाकपि' का अर्थ स्पष्ट कर दिया। अर्थात् लंकिनीके मारनेके लिये विशाल रूप धारण कर लिया था, अब फिर 'अति लघुरूप' धर लिया। अर्थात् मशक-समान छोटे हो गये। (ख) 'मुठिका एक महाकपि हनी' पर प्रसंग छोड़ा था। बीचमें लंकिनीकी दशा, उसकी वार्ता और रामकृपाका माहात्म्य कहा। अब पुनः वहींसे प्रसंग उठाते हैं। प्रथम 'अति लघुरूप' धरकर लंकाको चले तब नृसिंहजीका स्मरण किया, यथा—

'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी', अब नगरमें प्रवेश करनेके समय भगवान्‌को स्मरण करना कहा । नगरके बाहर बहुतसे रक्षक थे, उनसे बचनेके लिये नृसिंहजीका स्मरण किया; क्योंकि नृसिंहजीका अवतार केवल भक्तकी रक्षाके लिये हुआ । भगवान् (=षडैश्वर्ययुक्त) का अब स्मरण किया कि लंकाका ऐश्वर्य देखकर मन मोहित न होने पावे । अथवा, लंकामें प्रवेश कठिन है; अतएव पुनः-पुनः स्मरण करते हैं । ['भगवान्' शब्दकी व्याख्या बालकाण्ड १३ (४) में विस्तारपूर्वक लिखी गयी है, पाठक वहाँ देखें । प० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं कि रावण त्रैलोक्य-विजयी राजा है, उसके मुकाबलेमें न जाने किस समय किस गुणकी आवश्यकता पड़े; अतः उन्होंने समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यसे युक्त तथा उत्पत्ति, प्रलय, भूतोंकी गति और अगति, एवं विद्या और अविद्याके जाननेवाले 'भगवान्' का स्मरण किया जिसमें वे जिस समय जिस गुण-की आवश्यकता हो उसकी शक्ति दे दें]—**'देखे जहँ तहँ अगनित जोधा'** इति । हनुमान्‌जीने अगणित योद्धा देखे पर इनको किसीने न देखा । तात्पर्य कि ये अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे जा रहे हैं और वे विशालरूपसे खड़े हैं । वा, रातका समय है इससे न देख पाया । पुनः, यह भी भाव है कि अगणित योद्धा देख पड़े, पर सीताजी कहीं न देख पड़ीं ।

नोट—१ हनुमान्‌जी स्वयं महावीर योद्धा हैं; अतएव उनकी दृष्टि योद्धाओंपर अवश्य पड़ती थी । इसमें यह भी ध्वनि है कि अपना प्रतिभट कहीं न देखा ।

शंका—सम्पातीने तो बताया था कि वे अशोक-वाटिकामें हैं तब ये मन्दिर-मन्दिर क्यों ढूँढ़ते फिरे ?

उत्तर—उन्होंने सोचा कि दिनमें वाटिकामें रहीं, रातमें रावणके स्थानमें होंगी । आगे यह बात स्पष्ट है, यथा—**'सयन किये देखा कपि तेही । मंदिर महुँ न दीख बैदेही'** । रावणके महलमें उनका होना सम्भव था । इसीसे कहा कि मन्दिरमें वैदेहीको न देखा । अथवा, चोर चोरीकी वस्तु अन्यत्र ही रखता है इससे नगर भरके घर-घर ढूँढ़ डाले । (पं० रा० कु०) पुरके बाहरके योद्धाओंका वर्णन पूर्व हुआ, अब दिखाते हैं कि पुरके भीतर घर-घरमें अनेक रक्षक हैं ।

[यह भी हो सकता है कि उनको मालूम नहीं है कि अशोकवाटिका कहाँ है; अतः वे घर-घर ढूँढ़ रहे हैं । वा, श्रीराम-जीकी आज्ञा थी कि जानकीजीको देखना, उनको कुशल सुनाना, दुर्ग देखना और शत्रुकी गति देख आना । यथा—**'दई हौं संकेत कहि कुसलात सियहि सुनाउ । देखि दुर्ग बिसेषि जानकि जानि रिपु गति आउ ।'**—(मुद्रिका वचन गी० सुं० ४); इसीके अनुसार उन्होंने घर-घर देखा, कोई स्थान न छोड़ा ।]

वे० भू०—वास्तु-शास्त्रोंमें उपवनके कई भेद बतलाये गये हैं उनमें ग्रामोपवन और गृहोपवन दो प्रधान हैं । ग्रामकी परिधि (परकोटे) से मिला हुआ ग्रामके बाहर जो सार्वजनिक या राजकीय उपवन हो वह ग्रामोपवन है और जो घरके ही एक भागमें स्थित हो, वैयक्तिक हो, उसे गृहोपवन कहा जाता है । प्राचीनकालमें सार्वजनिक उपवनोंमें देवमन्दिर, तालाब, बावड़ी, बैठक-दालान, अनेक प्रकारके दर्शनीय वृक्ष-खण्ड, रचित गिरि-शृङ्ग, अनेक पुष्प, लतामण्डप, कुंज आदि होते थे । उन सार्वजनिक उपवनोंका भ्रष्ट रूप आजका पार्क है । गृहोपवनमें लतामण्डप, पुष्पोद्यान, लघु वापिका, दर्शनीय वृक्षादि होते थे । गृहोपवनका ही भ्रष्ट रूप आजका 'कम्पाउण्ड (हाता) है । दोनों तरहके उपवनोंमें चारों तरफ कुछ विशिष्ट वृक्ष हुआ करते थे जिनके नामसे उन उपवनोंकी ख्याति हुआ करती थी । जैसे जिनके चारों ओर आम्रवृक्ष होते थे वे आम्रोपवन, जिनके चारों ओर चम्पाके वृक्ष वे चम्पकवन, ऐसे ही जम्बूवन, चन्दनवन, अशोकवन, तमालवन, पनसवन आदि कहे जाते थे । उपवनोंमें प्रायः लोग अवकाशके समय दिवा मनोरंजन करते थे, विशेषावसरोंपर रातको भी उपवनोंमें रह जाते थे ।

उस दिन सम्पातीने वानरोंसे केवल अशोक उपवनमें सीताजीका उस समय बैठना बतलाया था कि इस समय अशोक उपवनमें बैठी शोक कर रही हैं । पर यह नहीं बतलाया था कि वह अशोक उपवन ग्रामोपवन है या गृहोपवन; और वह लंका-में किस स्थानपर किस घरके पास अथवा लंकानगर (बस्ती) के किस दिशामें कितनी दूरपर है । लंकामें तो अनेकों उपवनोंका होना सम्भव है । वह अशोक उपवन कहाँ है यह श्रीहनुमान्‌जीको ढूँढ़ना पड़ा । सम्पातीने दिनके समय बताया था, सम्भवतः वह अपराह्णकाल था । सम्पातीके जानेके किञ्चित् देर बाद ही हनुमान्‌जीको समुद्रोल्लंघन करना पड़ा था । उस पार पहुँचनेमें ही सूर्यास्तकी बेला आ गयी । रात्रिका समय उपवनमें निवासका है नहीं, अतः वन्दिनी सीताजीको रावणने किस घरमें रातको बन्द कर रखा है यह जाननेके लिये घर-घर ढूँढ़ना आवश्यक था, न तो श्रीहनुमान्‌जी सम्पातीका वचन भूले थे और न उन्होंने सम्पातीके वचनपर अविश्वास ही किया था । यदि विभीषणजीसे भेंट न हुई होती तो भी जिस युक्तिसे घर-घर खोजकी थी उसी युक्तिसे अशोक उपवन भी ढूँढ़ ही लेते जैसा कि वाल्मीकीय रामायणमें वर्णित है ।

प० प० प्र०—श्रीहनुमान्‌जी 'बलबुद्धि निधान' हैं। वे जानते हैं कि गृध्रकी दृष्टि दिनमें ही कार्यक्षम होती है, वह रात्रिमें देख नहीं सकता, अतः उसने दिनका पता बताया, रातके निवासका नहीं।

गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं॥ ६॥
सयन किये देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदेही॥ ७॥

अर्थ—वे रावणके मन्दिरमें गये। वह (ऐसा) अत्यन्त विलक्षण (सुन्दर) था (कि) कहा नहीं जा सकता॥ ६॥ कपि श्रीहनुमान्‌जीने उसे सोते हुए देखा, पर महलमें विदेहकुमारीजीको न देखा॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) 'दसानन मन्दिर' कहनेका भाव कि और जितने घर नगरमें देखे, उनको नहीं जानते कि किस-किसके थे पर इस महलको देखते ही जान गये कि यह रावणका है; इसीसे उसका नाम दिया गया। इसके पश्चात् फिर और भी सुन्दर मन्दिर देखा पर उसे भी न जाना कि किसका है इसीसे वहाँ फिर नाम नहीं दिया, यही कहा कि **'भवन एक पुनि दीख सुहावा'**। (ख) 'अति बिचित्र' का भाव कि पुर और उसके सब घर विचित्र हैं पर यह 'अति विचित्र' है, यथा—**'कनककोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना।'** वाल्मीकिजीने विचित्रता विस्तारसे वर्णन की है वह गोस्वामीजीने 'अति विचित्र' पदसे ही जना दिया है। वाल्मी० सु० अ० ४ श्लोक २५—३० देखिये।

नोट—१ **'अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं'** इति। (क) रावणका विलास सैकड़ों इन्द्रोंके भोग-विलासके समान कहा गया है, यथा—**'सत सुरेस सम बिभव बिलासा'**। **'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास॥'** लङ्कापुरीमें मणिजटित स्वर्णके प्रायः सभी भवन थे और सभीका वैभव भोगवती और अमरावतीके समान था, यथा—**'कनक रचित मनिभवन अपारा। भोगावति जसि अहिकुल बासा। अमरावति जसि सक्रनिवासा॥'** (बा० १७८)। तब स्वयं रावणके महलका क्या कहना? सभी भवन विचित्र थे और यह राजभवन होनेसे अति विचित्र था। पुनः (ख) 'दसानन मंदिर' कहकर जनाया कि और सब घर तो एक-एक मुखवालोंके थे और यही तो दशमुखवालेका निवासस्थान है, तब यह 'अति विचित्र' और 'अकथनीय' क्यों न हो? जैसे दशानन 'अति बिचित्र' वैसे ही उसका महल 'अति विचित्र।'

मा० त० सु० कार लिखते हैं कि—**'कहि जात सो नाहीं।'** का भाव यह है कि 'यह भगवद्विमुखोंके सिरताजका घर है, इसीसे वर्णन नहीं किया गया।' पर यह भाव यहाँ प्रसङ्गानुकूल नहीं है।

२—**'गयउ दसानन मंदिर माहीं'**, तामरस है, 'अति विचित्र' द्रुतपा है और **'सयन किये…बैदेही'** पायकुलक है। (त्र० चं०)।

टिप्पणी—२ (क) 'सयन किये देखा'—इससे जनाया कि अर्द्धरात्रि बीत गयी है। क्योंकि अर्द्धरात्रितक सभा, राजकार्य और भोजन आदिसे छुट्टी पाकर सोते हैं। (ख) मन्दिर-मन्दिरमें अगणित रक्षकोंका देखना कहा, पर यहाँ रक्षकका होना न कहा। कारण कि नीति है कि जहाँ राजा सोवे वहाँ कोई न रहे। इसीसे अकेला देखा। यहाँ श्रीसीताजीका होना सम्भव था, इसीसे न देख पड़नेपर 'वैदेही' नाम दिया अर्थात् रावणके भयसे या श्रीरामवियोगमें देहरहित न हो गयी हों।

नोट—३ 'न दीखि बैदेही' कहकर यह भी सूचित किया कि मन्दोदरी, सुर-नाग-नर-कन्याएँ, इत्यादि सब वहाँ सोती देख पड़ीं, केवल श्रीजानकीजीको वहाँ नहीं देखा।

'मंदिर महुँ न दीख बैदेही' इति। इन शब्दोंसे यह अनुमान होता है कि वे वैदेहीजीको पहचानते थे। इसका प्रमाण किष्किंधाकाण्डके सुग्रीवजीके वाक्यमें मिलता है। उन्होंने कहा है कि **'मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥ गगनपंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥ राम राम हा राम पुकारी। हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी॥ ४। ५।'** और श्रीहनुमान्‌जी भी उन मन्त्रियोंमेंसे एक हैं।

यदि ये मानें कि इतनी दूरसे देखे हुए पहचान लेना कठिन है तो दूसरा उत्तर यह है कि श्रीहनुमान्‌जी बुद्धिनिधान हैं वे अपनी बुद्धिसे जान सकते थे कि इनमें सीताजी हैं या नहीं। इसकी पुष्टि वाल्मी० रा० से होती है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि उन्होंने वहाँकी स्त्रियोंको देखा—परन्तु श्रेष्ठकुलमें जन्म लेनेवाली, धार्मिक राजकुलमें पाली-पोसी, संकल्पमात्रसे उत्पन्न कोमलाङ्गी, सनातन मार्गमें स्थित, श्रीरामजीके प्रति अनुराग रखने तथा उनका ध्यान करनेवाली,

पतिके श्रेष्ठ मनमें सदा निवास करनेवाली, विरहतापसे पीड़ित सदा आँसू गिरानेवाली, मेघादिसे ढकी हुई चन्द्रकलाके समान, धूलमें लिपटी हुई 'सुवर्ण रेखाके समान श्रीसीताजीको न देखकर वे दुखी हुए' (सर्ग ५ श्लोक २३–२७)—ये ही श्रीजानकीजीकी पहचानके चिह्न हैं। आगे सर्ग १० में लिखा है कि मन्दोदरीको देखकर एक बार उसीको 'सीता' समझ लिया। परंतु किंचित्‌हीमें उनका विचार पलट गया। वे सोचने लगे कि **'न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी। न भोक्तुं नाप्यलंकर्तुं न पानमुपसेवितम्॥ ११। २ नान्यं नरमुपस्थातुं सुराणामपि चेश्वरम्। नहि रामसमः कश्चिद्विद्यते त्रिदशेष्वपि॥ ३।'** अर्थात् श्रीरामसे अलग होकर वह सो नहीं सकती, भोग नहीं कर सकती, अलंकार धारण नहीं कर सकती, मद्यपान नहीं कर सकती, वह परपुरुषके साथ जा नहीं सकती, चाहे वह देवेश्वर इन्द्र ही क्यों न हो, क्योंकि श्रीरामके समान देवलोकमें भी कोई नहीं है।—इस तरह बुद्धिसे विचारकर जान लिया कि इनमेंसे कोई सीता नहीं है। सम्पातीने भी यह पहचान बतलायी थी कि **'सीता बैठि सोचरत अहई'** इस लक्षणसे पहचान लिया कि सीताजी यहाँ नहीं हैं। अतः कहा—**'न दीखि बैदेही'**।

'वैदेही' शब्द देकर कविने वाल्मी० सर्ग १२ के **'सा राक्षसानां प्रवरेण जानकी स्वशीलसंरक्षणतत्परा सती। अनेन नूनं प्रतिदुष्टकर्मणा हता भवेदार्यपथे वरे स्थिता॥ ३।'** तथा सर्ग १३ के **'किं तु सीताथ वैदेही मैथिली जनकात्मजा। उपतिष्ठेत विवशा रावणेन हृता बलात्॥ ६।'** इत्यादि श्लोकोंका भाव भी सूचित कर दिया है। श्रीहनुमान्‌जी सोच रहे हैं कि 'अपने शीलकी रक्षामें तत्पर सती सीताको दुष्ट रावणने मार डाला हो, क्योंकि वह आर्योंके मार्गपर चलनेवाली थी।, वह तो सीता है, मिथिलापति विदेह जनकराजकी पुत्री है। वह रावणको स्वीकार नहीं कर सकती, रावण जब आकाशमें लिये जाता रहा होगा उसी समय कहीं वह समुद्रमें न गिर गयी हो, अथवा रावणके बन्धनमें पड़नेसे प्राण न त्याग दिया हो। अथवा इस राक्षस वा राक्षसियोंने उनको खा न लिया हो।—ये सब भाव 'वैदेही' शब्दमें आ जाते हैं।

श्रीहनुमद्विभीषणमिलन-प्रसङ्ग

भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा॥ ८॥

दो०—रामायुध* अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका† बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥ ५॥

अर्थ—फिर एक (और) सुन्दर घर देखा। उसमें (एक) हरि-मन्दिर पृथक् बना हुआ था।‡॥ ८॥ वह घर श्रीरामजीके आयुध (धनुष और बाण) से अंकित था (अर्थात् उसपर धनुष-बाणके चिह्न बने हुए थे)। उसकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती। वहाँ नवीन (हरे-भरे) तुलसीके वृक्षसमूह देखकर कपीश हनुमान्‌जी आनन्दित हुए॥ ५॥

टिप्पणी—१ **'भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरिमंदिर···'** इति। (क) इससे ज्ञात होता है कि विभीषणजीका स्थान रावणके महलके समीप ही था! भाई हैं; इससे समीप ही इनको रहनेका घर दिया।

(ख) 'एक'=अद्वितीय, प्रधान। अर्थात् ऐसा सात्त्विकी स्थान लंकाभरमें नहीं है; यह एक ही है। (ग) **'हरिमंदिर···'** इति। इससे ज्ञात हुआ कि त्रेतामें भी मूर्तिपूजन होता था, यथा—**'तीर तीर देवन्हके 'मंदिर'**। **'भिन्न बनावा'** से जनाया कि मन्दिर घरसे पृथक् होना चाहिये; पर गृहस्थीके घरसे न तो बहुत दूर हो और न बहुत ही मिला। क्योंकि दूर होनेसे राग-भोग-पूजा सेवामें विक्षेप पड़ेगा और घरके भीतर ही होनेसे सूतक आदि दोषोंकी सम्भावना रहती है। (घ) अन्य घरोंकी शोभा केवल तामसी और राजसी थी, इससे उन्हें देखकर श्रीहनुमान्‌जी प्रसन्न न हुए। इस मन्दिरकी शोभा सात्त्विकी और राजसी है; इसकी सुन्दरता 'हरिमन्दिर श्रीरामायुध और तुलसीवृन्द' है; अतएव सात्त्विकी श्रीहनुमान्‌जीको इससे आनंद मिला। इसीसे इसको 'सुहावा' कहा और औरोंको 'विचित्र' कहा था।

* 'रामायुध' पाठ ना० प्र०, छ०, का०, भा० दा०, अ० दीपक, आदिमें है। रामनाम—मा० म०।

† 'तुलसीके' पाठ कोदोरामजीकी छपी पुस्तकमें है।

‡ अथवा 'इसकी बनावट राक्षसोंके अन्य मन्दिरोंसे भिन्न (दूसरे प्रकारकी) थी।'—(पाँ०)।

॥ हरिमंदिर तहँ भिन्न बनावा'''इति। ॥

शंका—रावणके भयसे शुभ आचरण कोई करने नहीं पाता था, यथा—'तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना'। तो वह विभीषणको क्यों नहीं मना करता था ? समाधान—क्योंकि रावण जानता है कि इसने ब्रह्माजीसे हरिभक्ति माँगी है; अतएव यह भजन करता है, बिना उसके रह ही नहीं सकता। (पु० रा० कु०)

गौड़जी—इसपर यह शंका की जाती है कि रावण हरिमन्दिर और विष्णु-भक्तिका विरोधी था फिर इसने लंकापुरीके भीतर ही हरिमन्दिर क्यों रहने दिया ? इसका समाधान यह है कि विभीषण रावणका वात्सल्यभाजन था। रावण उसे बहुत प्यार करता था और उसके विरोधी मतोंको भी सहता था। अपने परिवारमें और नातेदारोंमें वह अनेक विरोधी पाता था तो भी पारिवारिक मामलोंमें महात्मा रावण बड़ा सहनशील था। मंदोदरीने अनेक बार विरोध किये, परन्तु उसकी सहज भीरुता समझकर वह कभी नाराज न हुआ। वह इस विषयमें बड़ा वीर और उदार था। उसने हनुमान्‌जीके और अंगदजीके तथा श्रीसीताजीके भी बहुत कड़े वचन सह लिये थे। कुम्भकर्णने भी रावणका विरोध किया था जिसे रावणने चुपचाप सह लिया। रावणमें पारिवारिक सहनशीलताकी मात्रा बहुत बढ़ी हुई थी। यही बात थी कि वह विभीषणके मतभेदको, उपासनाको और अपने महलके पास हरिमन्दिर रखनेको सहता था और कुछ नहीं कहता था। विभीषण भी रावणके बराबर बलवान्, तेजस्वी और विद्वान् होते हुए भी बड़े भाईका बहुत आदर और मान करते थे और उसके दुराचरणोंको बराबर सहते थे। विभीषणका वैष्णव और रामोपासक होना रावण उसी तरह बरदाश्त करता था जैसे आजकल घोर आर्यसमाजी बड़ा भाई कट्टर छोटे भाईकी मूर्त्तिपूजाको अपने घरमें ही बरदाश्त करता है और बाहर सब जगह मूर्तिका खंडन करता फिरता है।

नोट—१ पं० रामकुमारजीकृत समाधान जो ऊपर लिखा गया है उसका भाव यह है कि रावण जानता है कि भगवन्त-पदमें रतिका वरदान उसे मिला है और मुझे यह वरदान मिला है कि मनुष्य छोड़ और किसीसे मृत्यु न होगी। यदि विभीषणका बरदान मैं झूठा करनेका प्रयत्न करूँ तो वह झूठा हो नहीं सकता और अगर वह असत्य हो जाय तो मुझे भी जो वरदान मिला है कि नर छोड़ सबसे अजय और अमर रहूँगा यह भी वरदान फिर व्यर्थ हो जायगा। उसकी सत्यता फिर कैसे प्रमाणित हो सकती है ? वह खूब समझता था कि यह भगवद्भजन छोड़ नहीं सकता चाहे जो कुछ मैं करूँ। अतएव वह रोकता न था। रावणने अंगदसे जो यह कहा कि मैं ब्रह्माके वचनको झूठ मानता हूँ वह उसके सच्चे हृदयकी बात न थी, केवल डींग थी। रावणका अन्तर और बाहर एक न था। मनमें तो वह महारानीकी चरणवंदना करता था और ऊपरसे दुर्वचन कहता था। मनमें भगवान्‌का स्मरण करता था। ऊपरसे वैरभाव रखता था। २—कुछ महानुभावोंने लिखा है कि वराह (?) पुराणमें कथा है कि लंकामें एक मूर्ति भगवान्‌की थी वह रावणने विभीषणको दी। जब वह देने लगा तब विभीषणजीने कहा कि मैं इस शर्तपर इसे ले सकता हूँ कि आप मुझे वचन दें कि मैं जैसा चाहूँगा वैसा पूजन आदि करूँगा, उसमें आप रोकटोक न करेंगे। रावणने यह बात स्वीकार कर ली। इसीसे विभीषणजीके पूजा-पाठ हरि-स्मरण-भजन और हरिमन्दिर एवं विभीषणके भवनपर रामायुध अंकित होनेपर कुछ रोकटोक न कर सकता था। पुनश्च यथा—'रावण जीत्यो इन्द्रहि जाई। लूटि भंडार लंक महँ आई॥ नाती सुतन वस्तु सब दीन्ही। प्रभु वराह-मूरति यक चीन्ही॥ दियो बिभीषण काहिं बुलाई। कही बिभीषन तब सिर नाई॥ जो मोहि देहु तो अस कहि दीजै। अपने मनकी सब करि लीजै॥ रावण कही करहु चित चाहा। तुम्है न होइ कछू दुख दाहा॥

तबहिं बिभीषण मुदित है नवमंदिर बनवाय। रामायुध अंकित भवन दिय बराह पधराय॥

धर्म अनेक करन सो लाग्यो। रह्यो न रावनके भय पाग्यो॥ समाधान ये युगल प्रधाना। विदित सरस्वति वायु पुराना॥—(भक्तमाल रीवाँनरेश श्रीरघुराज सिंह)।

वि० त्रि०—'भवन एक'''बनावा' इति। प्रश्न उठता है कि सबके घर तो मन्दिर थे, यथा—'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा' 'गएउ दसानन मंदिर माहीं' फिर विभीषणका घर मन्दिर क्यों नहीं, उसे भवन क्यों लिखा ? उत्तर यह है कि 'भवनागारमन्दिरम्' आदि सोलह नाम घरके हैं। सब पर्य्यायवाची शब्द हैं, चाहे मन्दिर कहिये चाहे भवन कहिये, बात एक ही है। पद्यरचनामें जो शब्द उपयुक्त होता है, वही रक्खा जाता है, 'भवन भवन प्रति करि सोधा' अथवा 'गयउ दसानन भवन माहीं' लिखनेसे छन्दोभङ्ग होता इसलिये मंदिर लिखा, और 'मंदिर एक पुनि दीख सोहावा' लिखनेसे भी छन्दोभङ्ग होता, कविको इन बातोंपर ध्यान रखना चाहिये।

दूसरी बात यह भी है कि 'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं ~~पूज्य~~ बलवान् सुखी' यह आसुरी सम्पत् राक्षस लोग स्वयं अपनेको पूज्य समर्थ समझते थे, अपने घरको मन्दिर मानते थे, अतः (कवि) उनके घरको मन्दिर मानते थे। विभीषणजी दैवी-सम्पत्के थे, 'मार्दवं ह्रीरचापलम्' आदि गुण उनमें थे, वे न अपनेको पूज्य समझते थे, न अपने घरको मन्दिर समझते थे, उन्होंने घरसे अलग 'हरि-मन्दिर' बनवाया था, इसे मन्दिर मानते थे, मन्दिर और भवनमें भेद माननेपर भी मुचारु रूपसे अर्थ बैठ जाता है, दैवी सम्पत् आसुरी सम्पत्का भेद खुल जाता है।

वेदान्त भूषणजी—'लोक वेद मत मंजुल कूला।…' हर बातमें लोकमत और वेदमतका विचार करना आवश्यक है। किसी-किसी वस्तु या बातमें लोक और वेद दोनोंमें प्रसंग मिलता है और कहीं लोक-मतमात्र और कहीं वेदमतमात्रकी रीति बर्ती जाती है। मन्दिरके सम्बन्धमें वेद और लोक दोनों पक्षकी बातें कही जा सकती हैं। वेदमतसे यह भाव है कि लंकाके राक्षसगण तामसी भावनासे श्रीशिवजी एवं (निकुम्भिला) देवीजी आदिका पूजन करते थे। यदि सात्त्विक भावनासे श्रीशिव दुर्गादिकी पूजादि की जाय तो वह परम्परया ज्ञान, भक्ति एवं मोक्ष प्रदायक होती है। शास्त्रानुसार अपने शयन कक्षसे देव-स्थान अलग होना चाहिये और सत्त्वप्रधान लोगोंका होता ही है। परन्तु राक्षस लोग तमः प्रधान होनेके कारण अपने शयन-कक्षमें ही देवस्थापन किये हुए थे और देवस्थापित स्थान मन्दिर कहा ही जाता है, इसीसे लंकाके राक्षसोंके, शयनकक्षको मन्दिर कहा—'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा।…गयउ दसानन मंदिर माहीं।…सयन किये देखा कपि तेही॥' परन्तु महाभागवत श्रीविभीषणजी सत्त्व प्रधान थे—'विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः॥' (वा० रा०) इसीसे श्रीविभीषणजी-के इष्टदेवका स्थापन शयनकक्षसे अलग था। तभी भवन और मन्दिर अलग-अलग कहा गया—'भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा॥' यह तो हुआ वेदमतसे भाव, और लोक-मतसे यह भाव हुआ कि जहाँ दंपति पति-पत्नी दोनोंकी स्थिति रहती है उसे मन्दिर शब्दसे व्यवहृत किया जा सकता है और जहाँ पति या पत्नी एक ही हों उसे भवन आदि ही कहा जा सकता है, मन्दिर नहीं। इसीसे गोस्वामीजीने शायद बालकाण्डके पुष्पवाटिका प्रसंगमें एक बार भी गिरिजामन्दिर नहीं कहा। बार-बार प्रसंग आनेपर गिरिजागृह, भवानीभवन आदि ही कहा क्योंकि वहाँ शिवजीका स्थापित रहना नहीं कहा है, अकेले भवानीका ही स्थापित होना कहा गया है। लंकाके सभी राक्षस वीर अपने घरोंमें (उस हनुमद् भ्रमणके समय) थे और श्रीविभीषणजी उस समय घरमें अकेले थे। उनकी पत्नी सरमा अशोकवाटिकामें श्रीजानकीजीकी सेवामें लगी रहती थीं, इससे सब राक्षस वीरोंके घरको मन्दिर और श्रीविभीषणजीके घरको भवन कहा।

प० प० प्र०—राक्षसोंके निवासस्थानोंको मन्दिर कहकर कविचूड़ामणिने श्रीहनुमान्जीके विषयमें अपनी उपास्य भावना और श्रीहनुमान्जीकी उपस्थितिमात्र तथा दृष्टिपातसे क्या लाभ होता है यह भी दिखाया है। जहाँ शिव, हनुमान् वा रामजीकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उपस्थिति होती है वहाँ मानसमें 'मंदिर' शब्द प्रयुक्त है। जब पाषाणादिकी मूर्तिकी स्थापनासे स्थान मन्दिर (पूजा-स्थान) बन जाता है तब 'जिस सदनमें वे साक्षात् खड़े हैं, जहाँ उनका चरणरज पड़ा है। उसको मन्दिर कहना अनुचित है, ऐसा कौन कहेगा? श्रीहनुमान्जीके प्रवेशसे उनके दृष्टिपातसे और उनके अंगस्पृष्ट पवनके स्पर्शसे सब लंकावासी पावन और मोक्षके अधिकारी हो गये। सब मोक्षको प्राप्त होंगे। अतः सबके भवनोंको 'मंदिर' कहा। यह शब्द ३५ पैंतीस बार ग्रन्थमें आया है।

विभीषणजीके भवनको मन्दिर न कहा, क्योंकि श्रीहनुमान्जी इसके भीतर नहीं गये। जब उपास्य मूर्ति अन्दर नहीं है तब उस भवनको मन्दिर कौन कहेगा? जब प्रवेश किया तब विप्ररूपसे, हनुमानरूपमें नहीं! अतः उसे मन्दिर कहनेका अवसर ही नहीं मिला।

❀ "रामायुध अंकित गृह" इति। ❀

श्रुतियोंमें सुना जाता है कि—धनुषबाणसे अंकित होनेवाला मनुष्य ही उत्तम संस्कारयुक्त होकर संपूर्ण वेदोंका अधिकारी बनता है। वही धर्ममार्गपर चलनेकी शक्ति प्राप्त करके संसाररूप महासमुद्रको जीत लेता है। वह अपने काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओंको निर्मूल करके मोक्षको प्राप्त करता है; क्योंकि भगवद्बाण उसे सब पापोंसे बचाते हुए भगवत्प्राप्तिमें सहायक होता है। और जिसका शरीर भगवत्-आयुधसे अंकित नहीं रहता, वह कभी निष्पाप नहीं रह सकता, इसलिये ब्रह्मको भी नहीं प्राप्त कर सकता। अतएव मोक्षाभिलाषियोंको सर्वदा तप्त धनुष-बाण धारण करने चाहिये। प्रमाण यथा—"धन्वनागा धन्वनाऽऽजिं जयेम धन्वना तीव्रः समदो जयेम। धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ सुपर्ण बस्ते

मृगोऽस्याः दन्तो गोभिः सन्नद्धा तति प्रसूता। यात्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ॥ ४८। ऋजीते परि वृङ्धिनोऽश्मा भवतु न स्तनूः। सोमोऽअधिब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु ॥ ४९ ॥"—(यजुर्वेद अ० २९ मं० ३९, ४८, ४९); "पवित्रं तेवितत्तं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनूर्न तदा मोऽअश्नुते श्रृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥" (ऋग्वेद मं० ९ सूक्त ८३ मंत्र १); "चमूषच्छ्येनश्शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्सः आयुधानि विभ्रत्। अपामूर्मिं सच मानस्समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥"--(सामवेद उत्तरार्चिके अ० ९ प्रपाठक ५ मंत्र३)। रामपटलमें भी कहा है—"पशुपुत्रादिकान्सर्वान्गृहोपकरणानि च। अंकयेच्छङ्खचक्राभ्यां नाम कुर्याच्च वैष्णवम् ॥"--इसके अनुसार पशु, पुत्र, घर और घरकी सब सामग्री आदिको भी आयुधांकित करा देना वैष्णवोंका धर्म बताया गया है। पुनः;जो जिस देवताका उपासक होता है उसका चिह्न धारण करता है इसीसे विभीषणजीने श्रीरामायुध अंकित किये। यथा महाशिवसंहितायाम्- 'रामायुधाभ्यां सीतया मुद्रया सह। अंकित ये महाप्राज्ञा नित्यमुक्ताश्च मुक्तिदाः' ॥१॥ पुनः यथा—'मुनेश्स्मिन् भारते वर्षे चापबाणाङ्किता नराः। स्वपरं कुलसाहस्रं तारयन्ति सुखेन वै' ॥२॥ पुनः, यथा--'सर्वैर्गुणैर्नियमसंयमनित्ययुक्तो निःकल्मषस्सकलसिद्धिकरश्च नित्यम्। यो नाङ्कितो धनुश्शरैर्नच मन्त्रराजस्योपासको न स जनो रघुनन्दनस्य'।

टिप्पणी—२ 'नव तुलसिकावृंद तहँ०' इति। (क) सन्त हरिमन्दिरके पास तुलसी अवश्य लगाते हैं यथा--'तीर तीर तुलसिका सुहाई। वृंद वृंद बहु मुनिन्ह लगाई ॥' हनुमान्‌जी भक्त हैं अतः सात्त्विक स्थान देख हर्ष हुआ। (ख) 'देखि हरष कपिराइ' इति। भाव यह कि राज्य पाकर 'कपिराइ' नहीं हुए किंतु भक्तिकी श्रेष्ठतासे सबके राजा हैं। वानरोंमें ऐसा रामोपासक दूसरा नहीं।* (ग) ऊपर जो 'सुहावा' कहा उसीकी व्याख्या इस दोहेमें है।

नोट—(मा० त० सु०) नव तुलसीके वृन्दसे सूचित किया कि तुलसी सेवारूप कैंकर्यमें जलादि सिंचन सर्वदा उपयुक्त और भक्तोंका परम अभीष्ट धर्म है। 'वृंद' का भाव यह है कि पुष्पोंके शत आवरणोंसे वेष्टित तुलसीवाटिका लगी थी, जिससे निज इष्टदेवके रहनेका स्थान जानकर हर्षे। यथा—'तुलसीवाटिका यत्रपुष्पान्तरशतावृता। शोभते राघवस्तत्र सीतया सहितः स्वयम् ॥' 'नव' पदका भाव यह है कि सेवासहित भगवदाराधनके भावयुक्त तुलसीको देखकर हर्ष हुआ। तात्पर्य कि तुलसी कोमल मञ्जरीयुक्त ही भगवान्‌को अर्पण की जाती है।

'रामायुध अंकित···' यह चारों वक्ताओंका कथन है। दोहेमें लिखी सब बातें और हनुमान्‌जीके हर्षका स्थान यह सब सुयोग देख सब वक्ता आनन्दमें मग्न हो गये, अतः कहा कि 'शोभा बरनि न जाइ।'

पं०—हर्ष इससे कि कदाचित् इस मन्दिरमें सीताजी रहती हों, उन्होंने रामनाम, रामायुधसे इसे अंकित किया हो, तुलसी लगाया हो। वे न हुईं तो कोई संत-रहता होगा, उससे उनका पता मिल जायगा।

❀ 'तुलसिका वृंद' ❀

आश्वमेधिक पर्वमें श्रीकृष्णजीने अपने अतिप्रिय पुष्पोंके नाम ये बताये हैं–कुमुद, करवीर, चणक, चम्पा, मालती, जातिपुष्प, नन्द्यावर्त्त, नन्दिक, पलाशके फूल और पत्ते, दूर्वा, भृङ्गक और वनमाला। सब प्रकारके फूलोंसे अच्छा उत्पल, उससे पद्म, पद्मसे शतदल, इससे सहस्रदल, उससे पुण्डरीक और हजार पुण्डरीकसे बढ़कर तुलसीका गुण कहा है। पूजाके सम्बन्धमें कहा है कि पुष्प न मिलनेपर तुलसीके पत्तोंसे, पत्ते न मिलें तो उसकी शाखाओंसे यह भी न मिले तो तुलसीकी जड़के टुकड़ोंसे मेरी पूजा करे। यदि वह भी न मिले तो जहाँ तुलसीका वृक्ष लगा रहा हो वहाँकी मिट्टीसे ही भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करे।--यह तुलसीकी महिमा है, इसीसे वैष्णवोंको यह प्रिय है।

पुनः, पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें श्रीशिवजीने कार्त्तिकेयजीसे कहा है कि लक्ष्मीजी और मेरे समान ही तुलसी भगवान्‌को परमप्रिय हैं। तुलसीदलके बिना दूसरे-दूसरे पुष्पों, पत्तों तथा चन्दन आदिके लेपोंसे भगवान्‌को उतना संतोष नहीं होता। तुलसी उतारनेके मन्त्रमें तुलसीकी उत्पत्ति अमृतसे कही गयी है। फिर दूसरी जगह उनकी उत्पत्ति समुद्रमन्थनके उद्योगके समय विष्णुभगवान्‌के आनन्दाश्रुसे बतायी है।

* जिस तरह आजके कुछ मास पूर्वतक भारतमें राजाओंमें दो भेद थे। एक सम्राट् और अनेक माण्डलिक थे। उसी तरह उस समय मनुष्योंमें तो था ही अप्रकृत वानरोंमें भी दो भेद थे। श्रीसुग्रीवजी वानरसम्राट् थे और माण्डलिक कपीश अनेकों थे। उन अनेकों माण्डलिकोंमें श्रीहनुमान्‌जीके पिता श्रीकेशरीजी भी चौबीस अर्बुद बानरवाहिनीके राजा थे, ऐसा ग्रन्थोंमें उल्लिखित है। मानसके क्षेपकोंमें इसका वर्णन बड़े विस्तारके साथ दिया है। वानरराज केशरीके उत्तराधिकारी होनेसे श्रीहनुमान्‌जीको जहाँ-तहाँ 'कपीश', 'कपिराइ' आदि कहा है। (वे. भू.। सन् १९५१ ई०)

पुनः भूमिखण्डमें कहा है कि—'क्षीरसागरके मन्थनसे चार कन्याएँ प्रकट हुईं—लक्ष्मी, वारुणी, कामोदा और ज्येष्ठा। कामोदा अमृतकी लहरसे पैदा हुई। वही भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये भविष्यमें वृक्षरूप धारण करेगी और परम पवित्र तुलसीके नामसे विख्यात होगी। जो उसका एक पत्ता भी ले जाकर भगवान्को समर्पण करेगा, उसका भगवान् बड़ा उपकार मानेंगे और 'मैं उसे क्या दे डालूँ !' यह सोचते हुए वे उसके ऊपर बहुत प्रसन्न होंगे। (कुञ्जलोपाख्यान)।

धार्मिक विचारोंके अनुसार श्री'तुलसी'जीका महत्त्व कुछ ऊपर लिखा गया। प्राकृतिक व्यवहारमें भी तुलसी बड़ी भारी ओषधि है। परन्तु बड़े शोककी बात है कि आजकल इसकी प्रथा ही उठती जाती है। अंग्रेजी पढ़े साहब लोगोंके बँगलोंमें तो तुलसीका पत्ता ही नहीं। श्रीलमगोड़ाजीने बताया था कि—अभी कुछ दिन हुए छपा था कि बंगालमें श्रीरामकृष्णमिशनके आश्रममें सर्पके विषके निवारणके लिये यह किया जाता है कि केलेका रस निचोड़-निचोड़कर जल्दी-जल्दी पिलाया जाता है और तुलसीकी पत्तियाँ पीसकर शरीरमें उसका लेपन किया जाता है और उसके रसकी नास लिवाई जाती है तथा उसका रस पिलाया भी जाता है। सेन्ट्रल-हिन्दू-कालेज मेगजीनमें मेरे विद्यार्थी जीवनकालमें यह छपा था कि फ्रांसदेशकी एक महिलाके काम करनेके लिये बागमें मजदूर नहीं मिलते थे; कारण कि उन्हें वहाँ मैलेरिया-ज्वर आने लगता था। जब वह भारतवर्ष आयी तो यहाँसे तुलसीका पौधा ले गयी और जाकर उसने वहाँ तुलसीके वृक्ष लगाये तो उसके बागका उपर्युक्त दोष जाता रहा।

व्र० चं०—'भवन एक पुनि···।' द्रुतपा है। 'हरिमंदिर···!' पायकुलक है। दोहा दोहरा है।

लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥ १॥
मन महुँ तरक करैं कपि लागा। तेहीं समय बिभीषन जागा॥ २॥

अर्थ—लङ्कामें निशाचरसमूहका निवास है। यहाँ सज्जनका वास कहाँ ?॥ १॥ कपि (हनुमान्‌जी) मनमें तर्क करने लगे। उसी समय विभीषणजी जागे॥ २॥

टिप्पणी १—(क) 'निशिचर-निकर'का भाव कि जहाँ एक भी खल होता है वहाँ सज्जन नहीं रहते तब अनेक खलोंके बीचमें एक सज्जन कैसे रह सकता है ? 'निवासा' और 'बासा' का भाव कि जहाँ खलोंका निरन्तर निवास है वहाँ सज्जनका थोड़ी देर भी एक साथ रहना कैसे सम्भव है ? पुनः निवास=विशेष वास। तात्पर्य कि जहाँ खलका विशेष वास है वहाँ सज्जनोंके सामान्य वासमें भी सन्देह है, क्योंकि सज्जन भूलकर भी खलकी संगति नहीं करते, यथा—'**सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ**॥ ७। ३९। १।', '**खल परिहरिय स्वान की नाईं**॥ ७। १०६।' (ख)—'तर्क' करनेका कारण यह कि स्थानमें तो सब सज्जनोंके चिह्न हैं और खलोंके बीचमें निवास सज्जनका हो नहीं सकता। यदि कहो कि कोई खल ही होगा तो उसपर यह तर्क होता है कि खल होकर मन्दिर क्यों बनाता ? रामायुधसे घरको अङ्कित क्यों करता ? तुलसी और वह भी एक दो नहीं, वृन्द-के-वृन्द क्यों लगाता ? तुलसीकी सेवा क्यों करता ?—यह सब तर्क है।—[पुनः, तर्क यह कि जहाँ धर्मका नाम नहीं, जहाँ सात्त्विक यज्ञके धुएँसे वैर, वहाँ उपासनाके चिह्न कैसे ? कहीं लङ्किनीने तो मेरे साथ छल नहीं किया ? उसीने तो यह माया मुझे फाँसनेके लिये नहीं रची ? अथवा, उसने कहीं रावणको हमारी सूचना न दे दी हो और रावणने मुझे ठगनेको यह माया रची हो। यथा—'**अस कहि जाइ रचेसि मग माया। सर मंदिर बन बाग बनाया**॥' कालनेमिने ठगनेके लिये मन्दिर आदि रचा ही था। फिर उसपर यह तर्क हुआ कि मायाकृत होता तो मेरे हृदयमें हर्ष न उत्पन्न होता। (पां०, मा० त० सु०)।]

२—'**तेही समय बिभीषन जागा**' इति। विभीषणजीके जागनेका समय आ गया। सज्जन प्रहरभर रात रहे जागते हैं। यथा—'**पछिले पहर भूप नित जागा।**' (अ० ३८), '**बड़े भोर भूपतिमनि जागे।**' (बा०)। इससे जान पड़ता है कि हनुमान्‌जीको नगरमें घूमते-घूमते तीन पहर रात बीत गयी थी, जब यहाँ पहुँचे। अथवा, उस समय विभीषणका जागना भगवान्‌की प्रेरणासे हुआ।

[☞ भगवद्भक्तको जब-जब असमंजस आ पड़ता है, तब-तब भगवान् इसी प्रकार कृपा करते हैं। यथा—'**तरु पल्लव महँ रहा लुकाई। करइ बिचार करउँ का भाई॥ तेहि अवसर रावन तहँ आवा**॥ ५। ९। १-२।', '**सुनत निसाचर मारन धाये। सचिवन्ह सहित बिभीषन आये**॥ ५। २४। ६।' तथा यहाँ '**मन महुँ तरक करैं कपि लागा। तेही समय०**॥'—इस समय श्रीहनुमान्‌जीके मनमें तर्क-पर-तर्क उठ रहे हैं, तर्कका निराकरण तथा निवारण करनेवाला वहाँ कोई न था, कुछ निश्चय कर न पाते थे; अतएव भगवान्‌ने कृपा की, उसके निराकरणका योग लगा दिया। जय ! जय ! जय !!]

नोट—१ 'लंका निसिचर···बासा' और 'तेही समय बिभीषन जागा ।' पायकुलक है। 'मन महुँ तरक करै कपि लागा ।' चण्डी है। (ब्र० चं०)।

२—शंका-निवारणार्थ मनमें विचार करना 'वितर्क संचारी भाव' है।' 'तेही समय बिभीषन जागा' में 'समाधि अलंकार' है। (वीरकवि)।

३—'लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ···'में अयुक्त अलंकार है, यथा—'जैसो जहाँ न बूझिये तैसो तहाँ जु होय। 'केशवदास अयुक्त कवि बरनत है सब कोय ॥' (कविप्रिया; मा० त० सु०)।

राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा ॥ ३ ॥

अर्थ—उन्होंने (विभीषणजीने रामनाम उच्चारण किया। कपि (हनुमान्‌जी) ने उनको सज्जन जाना और हृदयमें हर्षित हुए ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ सज्जन जागनेपर नाम-स्मरण करते हैं यथा—'तजी समाधि संभु अबिनासी ॥ रामनाम सिव सुमिरन लागे। जाना सती जगतपति जागे ॥ १ । ६० ।'—यहाँ सज्जनताके सब चिह्न कहे—अपने स्थानके पास हरिमन्दिर बनाया, रामायुधसे घर अंकित किया, तुलसी लगायी, ब्राह्ममुहूर्त्तमें जागकर रामनाम-स्मरण करते हैं।

२—'हृदय हरष' इति। (क) पहले स्थान देखकर हर्ष हुआ था, यथा—'नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ।' और अब सज्जन जानकर हर्ष हुआ। खलसमूहके बीचमें वास होनेसे जो सन्देह हुआ था, यथा—'लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ॥' वह अब निवृत्त हो गया। ऊपरके चिह्नोंसे अन्तःकरणका चिह्न विशेष होता है (क्योंकि बाहरी चिह्नोंसे धोखा हो सकता है। कालनेमि, रावण और राहु इसके उदाहरण हैं। आज भी कितने ही सज्जनका वेष धारण करके लोगोंको ठगते देखे जाते हैं। पर अन्तःकरणका चिह्न भावकी यथार्थताको प्रकट करनेवाला है।)। इसीसे बाहरके चिह्न (रामायुध अंकित गृह और नवतुलसिका वृन्द) देखनेपर सन्देह रहा और जब प्रेमसे नामोच्चारण सुना तब सन्देह दूर हुआ। अथवा, (ख)—प्रथम हर्ष हुआ तदनन्तर तर्क करने लगे। जब मन तर्कमें लगा तब हर्ष न रह गया। अब नामोचरण सुना तब फिर हर्ष हुआ। पुनः (ग) 'हृदय हरष' दीपदेहली न्यायसे दोनों ओर लग सकता है और विभीषणजीने हर्षपूर्वक स्मरण किया और कपिको हर्ष हुआ। पुनः बाहरी चिह्नोंको देखकर हर्ष हुआ और नामस्मरणसे हृदयके प्रेमको देखकर हृदयसे हर्षित हुए। अर्थात् पहले सामान्य हर्ष हुआ था, अब विशेष हुआ। सज्जनके चिह्नोंसे हर्ष हुआ कि इनसे हमारा काम होगा।

वि० त्रि०—'हृदय हरष···चीन्हा' इति। 'खलमण्डलीमें सज्जन नहीं रह सकता, यह बात इतनी तथ्य है कि 'हरिमन्दिर, रामायुध अंकित गृह नव तुलसिका वृन्द' देखनेपर भी हनुमान्‌जी कोई निश्चय नहीं कर सके, तर्क करने लगे कि खल भी अत्यन्त खलता करनेके लिये बाह्य आडम्बर साधु-सा रख सकते हैं, पर यहाँ तो कोई दूसरा सज्जन भी नहीं है, और न आ सकता है, जिसके ठगनेके लिये इस आडम्बरकी आवश्यकता हो, इस प्रकार हनुमान्‌जी तर्क करने लगे तबतक विभीषणजी जागकर हरि-स्मरण करने लगे। हनुमान्‌जी पहिचान गये कि यह सज्जन हैं। क्योंकि जो विचार करता हुआ आदमी सोता है, वही विचार लिये हुए उठता है, अर्थात् सुषुप्ति-कालकी अन्तिम भावना ही जाग्रत्‌की प्रथम भावना होती है, यह राम-राम कहता हुआ जागा है, अतः राम-राम कहता ही सोया होगा; यह अवश्य सज्जन है, रावणका मन्दिर देखा परंतु हर्षित न हुए—क्योंकि उसमें सज्जनका वास नहीं था।

नोट—१ प० प० प्र० तथा सभी इसमें एकमत हैं कि 'जागनेपर यदि प्रथम ही राम-नामका उच्चारण बिना किसी प्रयत्नके होता हो तो समझ लेना चाहिये कि रामनाम हृदय और वाणीमें स्थिर हो चुका है। यह हरिभक्तिका प्रथम लक्षण है।

२—अ० दीपककार इस अर्धालीपर यह दोहा लिखते हैं—'चली पंच रंग धाम ते रँगे पंच रँग गात। रँगी पंचरंग हृदय सुनि हर्षि उठी लपटात ॥' अर्थात् भक्तराज विभीषणजीके हृदय (परावाणी) रूपी धामसे निकलकर पंचरसोंके पंचरंगोंसे रँगा हुआ राम-नाम पश्यन्ती, मध्यमा होता हुआ जब वैखरीसे उच्चारण हुआ तब उनके शरीरमें सात्त्विक चिह्न गद्‌गद गिरा, रोमाञ्च और अश्रुपातादि उत्पन्न हो गये जिससे हनुमान्‌जीका हृदय भी रँग गया, अतएव विभीषणजीको सज्जन जानकर वे उनसे मिले।—रामनामके स्मरणसे उत्तम भक्तोंमें

उपर्युक्त सात्त्विक भाव उदय होने चाहिये, नहीं तो 'हिय फाटहु फूटहु नयन जरौ सो तन केहि काम । द्रवै स्रवै पुलकै नहीं तुलसी सुमिरत राम ॥' (दोहावली) ।

टिप्पणी—४ 'कपि सज्जन चीन्हा' इति । श्रीहनुमान्‌जी कपटी और सज्जन दोनोंकी पहचानमें बड़े ही प्रवीण हैं । पूर्व सिंहिकाका कपट जान गये थे, यथा—'तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा ।' और यहाँ सज्जनको पहचाना ।

नोट—'राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा' पायकुलक है । 'हृदय हरष''' चण्डी है । (व्र० चं०) ।

एहि सन हठि करिहौं पहिचानी । साधु ते होइ न कारज हानी ॥ ४ ॥

अर्थ—इससे हठ करके (अर्थात् अपनी ओरसे) जान-पहचान करूँगा । साधुसे कार्यमें हानि नहीं होती ॥ ३ ॥

टिप्पणी – 'एहि सन हठि करिहौं पहिचानी ।' इति ।—हठ करके पहचान करनेको कहते हैं । भाव यह है कि साधु प्रायः किसीसे जान-पहचान नहीं करते; यथा—'सदा रहहिं अपनपउ दुराएँ । सब बिधि कुसल कुबेष बनाएँ ॥१।१६१॥' मैं अपने कार्यके लिये अवश्य जान-पहचान करूँगा । ये श्रीरामभक्त हैं और मैं श्रीरामजीका दूत हूँ, इस नाते मेरी इनकी जान-पहचान होगी और हो जानी ही चाहिये । हमने इन्हें पहचान लिया पर ये भी जब हमें पहचान लें तब हमारा कार्य सिद्ध हो । [पुनः भाव कि यद्यपि यह लङ्काका मध्य है, रावणका महल समीप है, सशस्त्र राक्षस पहरा दे रहे हैं और प्रभात होना ही चाहता है, इत्यादि अनेक विघ्न उपस्थित हैं, तथापि मैं अवश्य जान-पहचान करूँगा, क्योंकि यह साधु है । (मा० त० सु०)]

२—'साधु ते होइ न कारज हानी ।' इति । (क) श्रीहनुमान्‌जी सूक्ष्म कपिरूप धारण किये हुए हैं जिसमें कोई पहचान न ले, और प्रकट हुए बिना जान-पहचान हो नहीं सकती; साथ ही बिना जाने किसीसे जान-पहचान करना, परिचय देना, नीतिके विरुद्ध है; यथा—'बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ । आयेहु बेगि न होइ लखाऊ ॥' (२ । २७१) । पुनः बनाये हुए वेषको प्रकट कर देनेमें हानिका भय रहता है । जैसे रुद्रगण और शुकसारनको हानि पहुँची । रुद्रगणको नारदजीने शाप दिया और शुक-सारनको वानरोंने बाँधकर दुःख दिया । उसपर कहते हैं कि 'साधु ते होइ न कारज हानी ।' जो पराया कार्य साधे वह साधु; तब कार्यमें हानि कैसे होगी ? इसीसे यहाँ 'साधु' कहा । साधु और सज्जन पर्यायी शब्द हैं । पूर्व 'सज्जन चीन्हा' कहा था उसको अब 'साधु''' कहा ।

नोट—'एहि सन''' चण्डी है । 'साधु ते''' से ६ (८) तक पायकुलक है । (व्र० चं०) ।

※ श्रीहनुमद्विभीषण-संवाद ※

मानस-हंस—हनुमान्‌जी और विभीषणजीके विषयमें दो प्रश्न होते हैं—(१) उसके प्रमाणका, और (२) उसके प्रयोजनका । इसका विचार अब इसी क्रमसे होगा । 'विभीषणगृहं त्यक्त्वा सर्वं भस्मीकृतं पुरम्' (अध्यात्म सर्ग ४), और 'वर्जयित्वा महातेजा विभीषणगृहं प्रति' (वाल्मी० सर्ग ५४ । १६), इन प्रमाणोंसे निर्णीत है कि हनुमान्‌जीको विभीषणका महल परिचित था । आगे चलकर यह उल्लेख मिलता है— 'राज्यं प्रार्थयमानस्तु बुद्धिपूर्वमिहागतः । एतावत्तु पुरस्कृत्य विद्यते तस्य संग्रहः ॥'—(वाल्मी० लं० सं० १७ । ६७) ध्यानमें रहे कि यह उल्लेख उस समयका है जब कि विभीषण रामजीकी शरणमें आ गया था और उनको स्वीकार करनेके लिये राम-लक्ष्मणके अतिरिक्त बाकी सब प्रतिकूल थे, और केवल एक हनुमान्‌जी ही उनकी सिफारिश जोरोंसे कह रहे थे । हनुमान्‌जीने इतना जोर लगाया इससे स्पष्ट होता है कि विभीषणका हृद्गत उन्हें पूरा-पूरा विदित था । यह कोई कह नहीं सकता कि दूसरेसे पूछ-ताछ करनेपर उन्हें वह मालूम हुआ था, क्योंकि एक तो यह कि हनुमान्‌जी गुप्त दूत थे; इस कारण उनके लिये वैसा करना बिलकुल ही असम्भव था, और दूसरी बात यह है कि इस तरह पूछ-ताछ करनेका वर्णन कहीं भी उपलब्ध नहीं । इन कारणोंसे यही अनुमित होता है कि हनुमान्‌जी विभीषणसे उनके महलमें एकान्तमें मिले थे ।'''विभीषणका महल उन्होंने बचा दिया, यह बात यदि स्वीकृत हो चुकी है तो हनुमान्‌जी और विभीषणकी भेंटके बारेमें स्वामीजीकी दृष्टिसे ही देखना पड़ेगा ।

(२) उपर्युक्त भेंटके विषयमें संदिग्धता नहीं रही । अब उसका प्रयोजन देखना चाहिये । हनुमान्‌जी विभीषणको राज्याकांक्षी कह चुके थे । पश्चात् रामजीने भी उसे वैसा ही ठहराया है । इसी बातको गोसाईंजीने स्वयं विभीषणजीहीके मुखद्वारा 'उर कछु प्रथम बासना रही' इस प्रकार कहलाया है । उसपर 'मम दरसन अमोघ जग माहीं' ऐसा कहकर तुरंत ही 'राम तिलक तेहि सारा ।' इस तरह उसे लंकापति बनाकर रामजीने उसकी गुप्त वासना प्रकटकर दिखला दी ।

विभीषणजीका राज्याकांक्षी होना तो एक बात हुई। अब दूसरी बात यह है कि वह राजनीतिनिपुण भी था। प्रमाण, यथा—'नीति बिरोध न मारिअ दूता', 'कही बिभीषन नीति बखानी', 'अति नयनिपुन न भाव अनीती।' अब सोचिये कि ऐसा राज्याकांक्षी और राजनीतिज्ञ अर्थात् स्वार्थी, बुद्धिमान् और चतुर, विभीषण भाईके प्रत्यक्ष शत्रुके शरणमें अल्प भी पूर्व परिचय बिना एकाएक ही कैसे जा सकता है! कुछ-न-कुछ पूर्व अनुसंधानके बिना ऐसी बात होना एकदम ही अस्वाभाविक दीखती है।

उपर्युक्त अस्वाभाविकताका दोष निकाल देना यही हमारी समझसे हनुमद्विभीषण-संवादका मुख्य प्रयोजन है। संवादसे विभीषणशरणागतिकी शृङ्खला जुड़ी जाती है और कथानककी त्रुटि साफ निकल जाती है! हमारी दृष्टिसे तो यह संवाद विभीषणशरणागतिकी प्रस्तावना ही है जिसके कारण उसे (विभीषणशरणागतिको) इतनी रमणीयता आ सकी। ऐसी रमणीयता लानेवाली कविकल्पनाकी यथार्थ प्रशंसा हमारी समझसे हो ही नहीं सकती।

नोट—श्रीहनुमद्विभीषण-मिलाप यहाँ कराकर कविने वाल्मीकि आदिकी त्रुटियोंकी पूर्ति कर दी है। 'कविकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि कोई बात उसके देखने और मनन करनेसे छूटती नहीं थी'—इसका एक उदाहरण यह मिलाप भी कहा जा सकता है।

बिप्र रूप धरि बचन सुनाए। सुनत बिभीषन उठि तहँ आए॥ ५॥
करि प्रनाम पूँछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥ ६॥

अर्थ—(ऐसा मनमें विचारकर हनुमान्‌जीने) ब्राह्मणका रूप धरकर वचन सुनाये। सुनते ही विभीषणजी उठकर वहाँ आये॥ ५॥ प्रणाम करके कुशल पूछी—'हे विप्र! अपनी कथा समझाकर कहिये'॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'बिप्र रूप धरि''' इति। सज्जन पहचानकर भी ब्राह्मणका रूप धारण करनेका भाव यह है कि सज्जन ब्राह्मणोंमें अत्यन्त प्रेम रखते हैं, यथा—'**ते सज्जन मम प्रानप्रिय जिन्ह के द्विजपद प्रेम**', '**द्विजपदप्रीति धरम जनयत्री।**''' **जानेहु तात संत संतत फुर।** ७। ३८।'

नोट—१ मानसतत्त्व सुधाव्याख्याकारका मत है कि 'सज्जनस्वरूपके दृढ़ परिज्ञानके लिये विप्रतन धारण किया। यहाँ यह भी अभिप्राय है कि यदि यह राक्षस होगा तो अवश्य अनादर करेगा।' (पाँ०)। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि—'रुद्र ब्राह्मण हैं, यथा—'**ब्रह्मकुलं कलंकशमनं।**' और ये रुद्रावतार हैं। सज्जनसे कपट न करना चाहिये; अतः ये वानरशरीर छोड़ ब्राह्मणरूप धरकर मिले।'

टिप्पणी—२ शङ्का—श्रीहनुमान्‌जी सदा सबसे विप्ररूप धारण करके मिला करते हैं, यथा—'**बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ**', '**बिप्ररूप धरि बचन सुनाए**' और '**बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जिमि पोत।**'; पर श्रीजानकीजीसे विप्ररूप धरकर न मिले, अपने (वानर) ही रूपसे मिले—यह क्यों?

समाधान यह है कि उनके पास यदि विप्ररूप धारण करके जाते तो उनको विश्वास न होता; क्योंकि लंकामें ब्राह्मणका गम्य नहीं है। दूसरे, विप्ररूपसे फिर निज रूप बनाते तो महान् सन्देह होता; वे यही समझतीं कि यह छली राक्षस है, छल करता है। अतएव वहाँ विप्र-रूप न धारण किया—यह बुद्धि है।

३—'**बचन सुनाये**'। कौन वचन? विभीषणजीको रामनाम प्रिय है, इसीको हनुमान्‌जीने भी कहा। राम-नाम सुनते ही वे उठकर आये। इससे पाया गया कि यह वचन उनको अति प्रिय लगे। क्या वचन सुनाये इसमें मतभेद है। किसी मुनिने वेद सुनाना लिखा है, किसीने सीताराम उच्चारण। कोई लिखते हैं कि 'हम ब्राह्मण हैं आपसे मिलना चाहते हैं' ये वचन कहे। इत्यादि। इसीसे गोस्वामीजीने '**बचन सुनाये**' लिखा, जिसमें सबके मतका ग्रहण हो जाय।

४—विभीषणजीका '**राम राम सुमिरन**' करना कहा गया और श्रीहनुमान्‌जीका वचन 'सुनाना' कहा गया। इस भेदमें भाव यह है कि श्रीविभीषणजीका '**राम नाम**' स्मरण करना उनके प्रेममय-अन्तःकरणसे स्वतः हुआ है; किसीको सुनानेके लिये नहीं; और श्रीहनुमान्‌जीका वचन (श्रीराम-नाम) सुनाना एक निमित्तसे हुआ है कि विभीषणजी सुनकर आवें और मिलें। अतएव दोनोंके अन्तःकरणोंके पृथक् पृथक् भाव पाठकको जाननेके लिये 'सुमिरन' और 'सुनाये' पृथक् पृथक् शब्दोंका प्रयोग किया गया।

मा० त० सु०—निश्चयात्मक परिचय चार प्रकारसे होता है—अनुमान, शब्द, प्रमाण और प्रत्यक्षद्वारा । यहाँ चारों दिखाये । हरिमंदिर और नवतुलसिकावृन्दसे 'अनुमान' किया कि यह सज्जन है । **'राम राम सुमिरन'** इस शब्दसे और शास्त्रप्रमाणोंसे सज्जन-चिह्न निश्चय किया । प्रत्यक्ष करनेके लिये **'बचन सुनाये'** ।

टिप्पणी—५ **'करि प्रनाम पूछी कुसलाई ।'** इति । (क) विभीषणजीने इनका स्वरूप देखकर निश्चय कर लिया कि ये ब्राह्मण हैं, अतएव इनको प्रणाम किया । [पुनः, 'प्रणाम' करना और कुशल पूछना यह दोनों सज्जनके लक्षण हैं, यथा—**'सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी । प्रीति सहित करि बिनय बिसेखी ॥'** (२ । १२९), **द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री ॥ ये सब लच्छन बसहिं जासु उर । जानेहु तात संत संतत फुर ॥'** (७ । ३८) । इससे विभीषणजीका धर्ममें प्रेम सिद्ध हुआ । और यह साधारण शिष्टाचार भी है । मा० त० सु०—कार लिखते हैं कि प्रणाम करनेका भाव यह है कि मैं आपके अधीन और आपका सेवक हूँ] (ख) **'पूछी कुसलाई'** इति । कुशल-प्रश्न शिष्टाचार है, तो भी यहाँ कुशल पूछना साभिप्राय भी है; क्योंकि लंकामें ब्राह्मणोंकी कुशल कहाँ ? यहाँ तो निशाचर उन्हें खा ही डालते हैं, यथा—**'खल मनुजाद द्विजामिष भोगी ।'** ब्राह्मणका रात्रिमें रक्षकोंसे बचकर लंकापुरीमें घूमना आश्चर्यजनक है; अतएव पूछते हैं कि आप कुशलसे तो यहाँतक आये ? (पुनः भाव कि मैं लंकापुरीमें आपके अनुकूल उद्योग करूँगा जिससे आपकी कुशल हो, अतएव 'विप्र कहहु' '') । (ग)—**'निज कथा बुझाई'** इति । 'बुझाई' का भाव कि आपका लंकामें कुशलपूर्वक प्रवेश और आगमन आश्चर्यजनक है, मुझे कुतूहल हो रहा है, अतएव समझाकर कहिये । जैसे हनुमान्‌जीको लंकामें हरिमंदिर देखकर आश्चर्य हुआ वैसे ही विभीषणजीको ब्राह्मण देख आश्चर्य हुआ । [पुनः भाव कि आपके यहाँ आगमनका अवश्य कोई कारण—विशेष होगा, अतएव आप **'निज कथा'** (अपनी सारी व्यवस्था, अपना पूर्ण परिचय) संक्षेपमें नहीं किन्तु साङ्गोपाङ्ग कहिये, कुछ भी छिपाइये नहीं । (मा० त० सु०)] पुनः, **'बुझाई'** से जनाया कि मेरे कुछ भी समझमें नहीं आता ।

वि० त्रि० **'करि प्रनाम'''' बड़ भागी ।'** इति । विभीषणजी समझते हैं कि कुशलके लक्षण तो नहीं मालूम होते; बिना किसी भारी संकटके इस सर्पभरी गुफामें कोई क्यों प्रवेश करने लगा, इन्होंने जो मुझे आवाज दी है, तो कोई सद्यः विपत्ति तो इनके पीछे नहीं है, अतः परिचय पूछनेके पहिले कुशल पूछते हैं । तत्पश्चात् कहते हैं कि ब्राह्मण देवता ! अपनी कथा समझाकर कहो । भाव यह कि जैसे तुम दिखायी पड़ते हो, वैसे तो तुम नहीं हो । ठीक ऐसा ही प्रश्न सरकारने विप्ररूपमें हनुमान्‌जीसे किया था; यथा—**'आपनि कथा कहा हम गाई । बिप्र कहहु निज कथा बुझाई ॥'** और तुम्हारे आनेका प्रयोजन क्या ? या तो तुम स्वयं राम हो, या रामके दास हो, जितनी प्रीति मुझे तुम्हारे दर्शनसे हो रही है, वैसी प्रीति मेरी दूसरेपर होती नहीं । **'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।'** इन प्रश्नोंका उत्तर बिना रामकथा कहे, दूसरी रीतिसे हो नहीं सकता था, इसलिये हनुमान्‌जीने रामकथा कही । **'आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे'** वाली बात नहीं है, प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर वही था, जो हनुमान्‌जीने दिया ।

की तुम्ह हरिदासन्ह महुँ कोई । मोरें हृदय प्रीति अति होई ॥ ७ ॥
की तुम्ह राम दीन-अनुरागी । आयहु मोहि करन बड़ भागी ॥ ८ ॥

अर्थ—क्या आप हरिभक्तोंमेंसे कोई हैं ? (क्योंकि) मेरे हृदयमें (आपके प्रति) अत्यन्त प्रीति (स्वतः स्वाभाविक ही) हो रही है ॥ ७ ॥ (अथवा) क्या आप दीनोंपर अनुराग (प्रेम) करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी ही (तो नहीं) हैं जो मुझे बड़ा भाग्यवान् बनाने आये हैं ? ॥ ८ ॥

नोट—**'की तुम्ह हरिदासन्ह महुँ कोई ।'''** इति । (क) लंकामें किसी ब्राह्मणका सकुशल प्रवेश करना असम्भव प्रतीत कर और इनको ब्राह्मण-वेषमें देखकर संशयात्मक प्रश्न करते हैं । 'हरिदासन्ह महुँ कोई' का भाव कि हरिदास नारदादि समर्थ हैं और सर्वत्र विचरते रहते हैं, अतएव हो सकता है कि आप उन्हींमेंसे कोई हों जो वेष बदलकर यहाँ दर्शन देने आये हैं । 'कोई' शब्द यहाँ पुरुषार्थवाची है, 'मुख्य' का अर्थ देता है; अर्थात् हरिदास तो कहनेको बहुत हैं परन्तु आप मुख्य जान पड़ते हैं, क्योंकि समर्थ हरिभक्त ब्रह्मर्षि ही यहाँ आ सकते हैं, अन्य नहीं । (ख)—**'मोरें हृदय प्रीति अति होई ।'** इति । यह हरिदास समझनेका कारण बताया । ☞ जिसे देखकर हृदयमें स्वतः स्वाभाविक सात्त्विक

प्रीति उत्पन्न हो उसे हरिदास जानना चाहिये। जो उत्तम हरिदास होते हैं, उनके दर्शनसे उनके प्रति अत्यन्त प्रीति हो जाती है। इसी तरह हनुमान्‌जीको हरिजन जाननेपर अत्यन्त प्रीतिका बढ़ना कहा, यथा—'**जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास। १३। हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।**'—विभीषणजीने अभी जाना नहीं है, अतः उनके सम्बन्धमें 'होई' कहा गया और श्रीसीताजीके सम्बन्धमें 'बाढ़ी' शब्द देकर जनाया कि 'अति प्रीति' तो देखते ही हो गयी थी, हरिजन जान लेनेपर वही प्रीति और बढ़ गयी। (ग) किसी बातका निश्चय न होना कि आप कोई हरिदास हैं या स्वयं श्रीराम हैं 'सन्देह अलंकार' है।

टिप्पणी—१ '**प्रीति अति**' का भाव कि 'प्रीति' तो सभीमें करना चाहिये पर साधु, ब्राह्मणमें 'अत्यन्त' प्रेम करना चाहिये, यथा—'**प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती**', '**संत चरन पंकज अति प्रेमा**' (आ० १६)। हनुमान्‌जी साधु हैं और ब्राह्मणरूप धारण किये हैं, अतएव अति प्रीति हुई। हरिदासोंमें जब अत्यन्त प्रेम होता है तब श्रीरामजी मिलते हैं, यह ग्रन्थकारका यहाँ उपदेश है।

२ (क) '**राम दीन अनुरागी**' का भाव कि श्रीरामजी दीनोंपर अनुराग करके उनको स्वयं मिलते हैं, यथा—'**नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥** (आ० ८)' '**दास तुलसी दीनपर एक राम ही के प्रीति।**' (वि० २१६)। (ख)—प्रथम संत मिलते हैं फिर उसके पीछे भगवान् मिलते हैं, यथा—'**भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्हके चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन॥**' (वि० २०३)। इसीसे प्रथम संत (हरिदास) का मिलना कहकर तब भगवान्‌का मिलना कहा। इसमें कारण यह है कि सन्तोंके प्रथम मिलनेसे जीव निर्मल होकर हरिके प्राप्तिका अधिकारी होता है तब रामजी मिलते हैं। श्रीरामजीसे उनके दासोंका माहात्म्य अधिक है, यथा—'**राम ते अधिक राम कर दासा**'।

वि० त्रि०—'**कि तुम्ह हरिदासन्ह**···**बड़ भागी**' इति। जिस भाँति रूप बदलनेपर भी खल नहीं छिपते, उसी भाँति रूप बदलनेपर भी साधु नहीं छिपते। यथा—'**किएहु कुबेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥**' यद्यपि हनुमान्‌जीने विप्ररूप धारण किया है फिर भी उनकी महिमा परम भागवत विभीषणजीसे छिपी न रही। वे प्रश्न करते हैं कि या तो आप 'हरिदास' हैं या स्वयं 'हरि' हैं, प्रमाणमें विभीषणजी अपनी अन्तःकरण-प्रवृत्तिको ही देते हैं कि '**मोरे हृदय प्रीति अति होई**'। भाव यह कि जैसी प्रीति मुझे आपपर हो रही है, वैसी सिवा हरिदास या हरिके और कहीं होती नहीं। '**सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।**'

नोट—'**विप्ररूप धरि**···**अनुरागी**। इति। इसपर अभिप्राय दीपककारका यह दोहा है—'**आदि मध्य अवसान हूँ संत सपति महिदेव। लखे बिभीषन ते उलटि आनंद ही के भेव॥ १५॥**' भावार्थ यह है कि विभीषणजीने श्रीहनुमान्‌जीको आनन्दमें भीगे हुए तीन रूपोंमें देखा। आदिमें विप्ररूपमें देखा अतः पूछा '**बिप्र कहहु**', मध्यमें संत जानकर पूछा कि—'**की तुम्ह हरिदासन्ह**···' और अन्तमें अपना स्वामी 'राम' जानकर पूछा—'**की तुम्ह राम**'।

दो०—तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम॥ ६॥

अर्थ—तब हनुमान्‌जीने सब रामकथा और अपना नाम कहा। सुनते ही दोनोंके शरीर पुलकित हो गये, और श्रीरामजीके गुणसमूहका स्मरण करके दोनोंके मन मग्न हो गये॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'तब' अर्थात् जब विभीषणजीने कहा कि '**मोरे हृदय प्रीति अति होई**' यथा—'**कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन रामचरित सब भाखा॥**' (४।५)। (ख) विभीषणजीने तो इनकी कथा पूछी और इन्होंने रामकथा कही, अपनी कथा क्यों न कही? उत्तर—क्योंकि रामकथाके भीतर उनकी कथा भी है। रामकथाके कहते समय कथाके सम्बन्ध आनेपर अपना नाम भी कहा, इस प्रकार कि हनुमान् नामक वानर समुद्र पारकर लंकामें गया, घर-घर ढूँढ़ा। वह वानर हनुमान् पवनका पुत्र मैं ही हूँ। (ग) '**सब रामकथा**' अर्थात् वनगमन, सीताहरण और उनके ढूँढ़नेके लिये यहाँ आना, घर-घर ढूँढ़ना, यह सब कहा। (घ) '**सुनत जुगल तन**···' इति। हनुमान्‌जी कथा कहनेसे और विभीषणजी सुननेसे पुलकित हुए।

[☞ रामचरितके कथन और श्रवणसे पुलक और आनन्द होना रामचरणानुरागियोंका लक्षण है, जिनको ऐसा होता है वे सुकृती माने गये हैं और जिनको नहीं होता उनका जन्म व्यर्थ माना जाता है, यथा—'**जे एहि कथहिं सनेह समेता । कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता ॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी ।**' (बा०), '**कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं । ते सुकृती मन मुदित नहाहीं ॥**' (बा०), '**कछु है न आइ गयो जनम जाय । सुने न पुलकि तनु कहे न मुदित मन किये जे चरित रघुबंसराय ॥**' (विनय०) । ग्रन्थमें वक्ताओं और श्रोताओं दोनोंमें यह गुण दिखाया गया है । 'रामकथा' सुनकर इष्टदेवके 'गुणोंका स्मरण' कर प्रेममें मग्न होना 'ईश्वरविषयक रतिभाव' है ।] (ङ) यहाँ दोनों महात्माओंका तन-मन-वचनसे प्रेममें मग्न दिखाया । 'तन पुलक', 'मन मगन' और 'तब हनुमंत कही' यह वचन ।

नोट—यह दोहा दोहरा-मिश्रित है (ब्र० चं०) ।

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी । जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी ॥ १ ॥

अर्थ—फिर विभीषणजी बोले—हे पवनसुत ! हमारी रहनी सुनो जैसे दाँतोंके बीचमें बिचारी जिह्वा (रहती है वैसे ही दंशकोंके बीचमें मैं रहता हूँ) ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'पवनसुत'—इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने अपना नाम बताकर अपनेको पवनका पुत्र भी बताया, यथा—'**मारुतसुत मैं कपि हनुमाना । नाम मोर सुनु कृपानिधाना ॥ ७ । २ । ८ ॥**' [पुनः, 'पवनसुत' का भाव कि पवनसे कोई बात छिपी नहीं रहती । पुनः, पवन सबका प्राणाधार है । तुम पवनके पुत्र हो अतः तुमसे कुछ छिपा नहीं है और तुम मेरे प्राणोंके रक्षक हुए ।—(मा० त० सु०, पाँ०)] (ख) '**सुनहु रहनि हमारी**' इति । जब सत्संगप्राप्तिसे सुख मिला तब कुसंगसे जो दुःख मिलता है वह कहने लगे । बिना हनुमान्‌जीके पूछे ही विभीषण अपने दुःखकी कहानी कहने लगे । इसमें गूढ़ अभिप्राय अपनी दीनता दिखाकर रामदूतकी कृपा सम्पादन करनेका है । [यह कल्पित प्रश्नका 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है । (वीर)] (ग) इस प्रसङ्गमें विभीषणजीने अपने लिये सर्वत्र एकवचनका प्रयोग किया है । यथा—'**मोरें हृदय प्रीति अति होई**' (१) । '**आयहु मोहि करन बड़भागी**'—(२) '**तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा**'—(३) । '**अब मोहि भा भरोस हनुमंता**'—(४) । '**तौ तुम्ह मोहि दरस हठि दीन्हा**'—(५) । पर यहाँ बहुवचन 'हमारी' कहा । इस भेदका तात्पर्य यह है कि यहाँ 'हमारी' पद देकर परिवार-सहित अपनेको दुखी सूचित करते हैं । यही बात श्रीरामजी पूछेंगे, यथा—'**कहु लंकेस सहित परिवारा । कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥ ५ । ४६ ॥**' ['सुनहु०' पायकुलक है, 'जिमि दसनन्हि०' चण्डी है । (ब्र० चं०) । 'जिमि दसनन्हि०' में उदाहरण अलंकार है ।]

२ '**जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी ।**' इति । भाव कि हमको जीतेजी ही यमयातना है । यहाँ 'दशन' शब्दसे यमपुरी एवं यमराजका भावार्थ जनाया, विश्वरूपमें 'दशन' यमरूप कहे गये ही हैं, यथा—'**अधर लोभ जम दसन कराला । ६ । १५ ।**' श्रीरामजीने भी यही बात कही है, यथा—'**बरु भल बास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ॥ ५ । ४६ ।**'

नोट—१ दशनोंको यमराज कहनेमें आशय यह है कि जैसे यमराज पापियोंको दण्ड देनेको सदा उद्यत रहते हैं वैसे ही ये सब राक्षस धर्म निर्मूल करनेमें तत्पर रहते हैं; यथा—'**जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा । आपुन उठि धावइ रहै न पावै धरि सब घालै खीसा ॥ १ । १८३ ॥**' पुनः भाव कि दाँत हड्डी है जो कठोर होती है, वैसे ही राक्षस कठोर हैं । दाँत बहुत हैं वैसे राक्षस भी बहुत हैं । जीभ दाँतोंके बीचमें बहुत बच-बचाकर रहती है वैसे ही कठोर खलोंके बीच निवास होनेसे हमें क्षण-क्षण अपनेको बचाते ही बीतता है । प्र० ।

२—'जीभ बिचारी' का भाव कि—'इसको कुछ 'चारा' (इलाज, वश) नहीं है, बन्दमें पड़ी रहती है । अथवा, 'बिचारी' अर्थात् बहुत विचारपूर्वक निर्वाह करती है ।' (पाँ०) भाव कि जरा भी चूकी तो कटी ।

३—जैसे दाँतोंको यम कहा गया है, वैसे ही जिह्वाको 'अंबुपति' कहा है, यथा—'**आनन अनल अंबुपति जीहा । ६ । १५ ।**' जलसे ही रस होता है, यथा—'**बिनु जल रस कि होइ संसारा ।**' और रसना जीभका एक नाम है, यह दोनोंमें सम्बन्ध है । जैसे जलसे सबका हित होता है, यथा—'**होइ जलद जगजीवनदाता ।**'; वैसे ही मैं सदा सबकी रक्षा और हित ही करता हूँ ।

☞ ४—श्रीतुलसीदासजीकी उपमाएँ स्वाभाविक और प्रत्येक दिनके अनुभवकी होती हैं। यह उनकी कलाकी विशेषता हो गयी है। यही कारण है कि उनके जितने पद जनश्रुति बन गये हैं, उतने कदाचित् ही किसी विरले ही कविके सारे विश्वसाहित्यमें मिलेंगे। (लमगोड़ाजी)।

प० प० प्र०—विभीषणजी साधु हैं, रावणादि खल हैं। यथा—'साधु अवज्ञा तुरत भवानी कर कल्यान अखिल कै हानी।', 'खल मंडली बसहु दिन राती।' इस तरह इस छोटेसे दृष्टान्तमें कविने संतों और दुर्जनोंके सब लक्षण भर दिये हैं। दशन=दुर्जन। जीभ=साधु (अमानी दास)। [स्वामीजीने दोनोंकी एक विस्तृत तालिका दी है। अनावश्यक समझकर मैंने उसे नहीं दिया। (मा० सं०)] जीभ जब वैद्यसे कहती है कि दाँत बहुत कष्ट देते हैं तब वैद्य उनको उखाड़ देता है वैसे ही साधुओंके कहनेपर श्रीरामजी निशाचरोंको निर्मूल करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। यथा—'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'

टिप्पणी—३ 'बिचारी' का भाव कि जैसे जीभ और दाँतोंका संयोग विधाताका ही किया हुआ है, जीभका उसमें कोई वश नहीं है; वैसे ही हमारा और राक्षसोंका सम्बन्ध विधाताका ही किया हुआ है; हमारा कुछ वश नहीं। तात्पर्य कि हम परवश कुसङ्गमें बसे हैं जैसे जीभ दाँतको छोड़कर कहीं नहीं जा सकती, वैसे ही हम राक्षस-कुलमें उत्पन्न हुए; इनको छोड़कर कहीं नहीं जा सकते। जैसे अनेक दाँतोंके बीचमें जीभ एक, वैसे ही राक्षसोंके बीचमें विभीषण अकेले हैं और जैसे दाँतोंके जड़से उखड़ जानेपर जिह्वा बनी ही रहती है, वैसे ही सब राक्षस जड़से उखड़ जायँगे पर विभीषण बने रह जायँगे। 'बिचारी' कहा, क्योंकि वह दाँतोंका कुछ नुकसान कर नहीं सकती चाहे दाँत जब तब उसे काट ही क्यों न लिया करें।

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा ॥ २ ॥

अर्थ—हे तात! मुझे अनाथ जानकर सूर्यकुलके नाथ कभी (मुझपर) कृपा करेंगे? ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) विभीषणजी हैं तो भागवत-कृपापात्र पर कहते नहीं, यह उनकी दीनता है, कार्पण्य है। ऐसा ही श्रीभरतजीने कहा है—'कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं ॥ ७। २। १६ ॥' (ख) 'अनाथ' कहनेका भाव यह कि अनाथपर भगवान् कृपा करते हैं, यथा—'सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो। ७। १३०।' (ग) 'भानुकुलनाथ' का भाव कि अनाथपर तो रघुकुलमात्र कृपा करता आया है और वे तो उस कुलके नाथ हैं उन्हें तो अवश्य ही कृपा करनी चाहिये। अथवा, जैसे भानुके उदयसे अन्धकारका नाश होता है, वैसे ही श्रीरामजीके उदयसे निशाचरतमका नाश होगा और हम सुखी होंगे, यथा—'रामबान रबि उयें जानकी। तमबरूथ कहँ जातुधानकी'।' अथवा, 'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं' अतः वे मुझ दीनपर कृपा करेंगे। [और भाव ये कहे जाते हैं—१—श्रीरामजी तो भानुकुलके भानु या नाथ हैं और मैं तमोकुल हूँ, ऐसेमें भी क्या वे कृपा करेंगे? (प्र०)। २—सूर्यकी किरण छोटे-बड़े सबपर बराबर एक-सी पड़ती है वैसे ही मुझपर वे कृपा करेंगे। (पाँ०)। ३—'तात' श्लेषार्थी है। एक तो प्रिय सम्बोधन है ही दूसरा भाव यह है कि मुझे तात (जलता हुआ) और अनाथ जानकर। (पाँ०)। ४—यहाँ अधर्मरूप तमसमूह है, उसका नाश करके मुझे धर्मरूप प्रकाशमें बिठावेंगे। (वै०)। ५—'भानुकुलनाथा' शब्दसे अपना और श्रीरामजीका कुल-सम्बन्ध जनाया। ब्रह्मा, पुलस्त्य, विश्रवा और विभीषण यह विभीषणकी कुलशाखा है वैसे ही ब्रह्मा, मरीचि (ये पुलस्त्यके भाई हैं=कश्यप) और कश्यपावतार दशरथजी, श्रीरामजी—यह श्रीरामजीकी कुलशाखा है। और मरीचि=भानु। इस तरह अपना भानुकुलसे निकट सम्बन्ध दिखाकर सूचित किया कि जैसे भार्याको सनाथ करनेको आतुर हैं वैसे ही मुझ भाईको सनाथ करेंगे। (प० प० प्र०)]

२ विभीषणजी यहाँ रामजीके मिलनेमें सन्देह करके अपनी दीनता प्रकट कर रहे हैं कि जिस गुणसे प्रभु मिलते हैं वह हममें नहीं है। वह यह कि सुसंगसे मिलते हैं, यथा—'भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्हके चरन। तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन ॥'—(विनय०); सो प्रथम तो हमको संग अच्छा न मिला—(१)। दूसरे, हमारे कर्म बुरे हैं। कर्मका बिगड़ना आगे कहते हैं, यथा—'तामस तन'...'अर्थात् हम पापी हैं, 'सहज पाप प्रिय तामस देहा' और पापीको भगवान् नहीं मिलते, यथा—'जो पै दुष्ट हृदय सो होई। मोरे सनमुख आव कि सोई'—

(२) । तीसरे साधनसे भगवान् मिलते हैं, यथा—'सब साधन कर सुफल सुहावा । रामलखनसिय दरसनु पावा ॥' सो हममें कुछ साधन नहीं ।—(३) । पुनः प्रेमसे मिलते हैं; यथा—'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा । प्रगटे हृदय हरन भवभीरा ॥' सो भी हममें नहीं, यथा—'प्रीति न पदसरोजमन माँहीं' ।—(४) ।

तामस तनु कछु साधन नाहीं । प्रीति न पदसरोज मन माहीं ॥ ३ ॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता । बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ॥ ४ ॥

अर्थ—हमारा तामसी शरीर है, कुछ साधन नहीं है और न मनमें श्रीरामजीके चरणकमलोंमें प्रीति ही है ॥ ३ ॥ हे हनुमन्त ! अब मुझको विश्वास हुआ कि बिना भगवत्-कृपाके सन्त नहीं मिलते ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) कर्म-ज्ञान और उपासनाके बलसे भगवत्-कृपाका निश्चय करते हैं; अतएव यहाँ कर्म, उपासना और ज्ञान काण्डत्रयसे अपनेको रहित जनाया ।—तामसीको उल्लूकी उपमा दी गयी है, यथा—'सहज पाप प्रिय तामस देहा । जथा उलूकहिं तमपर नेहा ॥ ४५ । ८ ।' उल्लू सूर्यदर्शनसे विमुख होते हैं वैसे ही तामसी जीव ज्ञानसे विमुख हैं । यथा—होहिं उलूक संत निंदारत । मोह निसा प्रिय ज्ञान भानु गत ॥' (उ०) । अतः तामस तन, कहकर अपनेको 'ज्ञानरहित' जनाया । साधन कर्म है । अतः 'कछु साधन नाहीं' कहकर अपनेको 'कर्मरहित' जनाया । भगवान्में प्रेम होना भक्ति है । अतएव 'प्रीति न पद सरोज···' कहकर अपनेको 'उपासनारहित' जनाया ।—इस तरह 'तामस··· नाहीं' से अपनेको ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंसे रहित सूचित किया । बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि—तामस तनसे कर्महीनता कही, यथा—'होइ भजन नहिं तामस देहा । मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा ॥'और कछु साधन नाहीं' से ज्ञानकी हीनता जनायी ।

(ख)—'कछु साधन नाहीं' इति । भाव कि साधन सात्त्विक प्रकृतिवालोंसे बनता है और रजोगुणी प्रकृतिवालोंसे भी कुछ बन जाता है; पर तामसी प्रकृतिवालोंसे कुछ भी नहीं बनता ।

(ग)—'प्रीति न पद सरोज मनमाहीं' इति । श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम होना शुभ साधनका फल है, यथा—'तव पदपंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर यह फल सुंदर ॥ ७ । ४९ । ४ ।' जब कुछ साधन ही नहीं तब प्रीति कहाँसे हो । अतः 'तामस तन' कहकर तब साधन रहित होना कहा और उसके पीछे प्रीतिका न होना ।

(घ)—'पदसरोज' का भाव कि प्रभुके चरण कमलवत् हैं, उनमें मनको भ्रमर होकर लुब्ध रहना चाहिये सो हमारा मन मधुप होकर उसमें नहीं लुभाता, यथा—'राम चरन पंकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥ १ । १७ । ४ ।' पद-कमलमें प्रीति नहीं है; इससे अपने मनको मधुप न कहा । जहाँ पदकमलके साथ मनको कहा है वहाँ उसे भ्रमर कहा है, यथा—'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं । मुनिमन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं । १ । १४८ । 'लुबुध मधुप इव तजै न पासू' 'करि मधुप मन मुनि जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहैं' । १ । ३२४ ।'

२—'अब मोहि भा भरोस···'इति । (क) विभीषणजीने प्रथम पूछा था कि कभी मुझ अनाथपर कृपा करेंगे अब उसका उत्तर स्वयं ही देते हैं; क्योंकि यह उत्तर हनुमान्‌जीके मुखसे शोभित न होता इसीसे हनुमान्‌जी चुप रहे । और प्रश्नका उत्तर भी यही यथार्थ है जो विभीषणजी अब कह रहे हैं । हनुमान्‌जी ही उनके रामप्राप्तिके द्वार हैं । (ख) अब भरोसा हुआ । अर्थात् 'तामस तन कछु साधन नाहीं । प्रीति न पद सरोज मन माहीं ॥' इस कारणसे भरोसा न था, पर अब हुआ कि वे अवश्य मिलेंगे । (ग) 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता' अर्थात् चाहे ब्रह्माण्डभर खोज डालें तो भी नहीं मिलते और जब कृपा होती है तब घर बैठे संत मिल जाते हैं, यथा—'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही । चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥ ७ । ६९ ।' ग्रन्थकार यहाँ उपदेश देते हैं कि जब इस तरह साधन करे जैसे विभीषणजीने किया तब श्रीरामजी कृपा करें और तब संत-मिलें ।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जीकी कथा सुनकर, विभीषणजीने जान लिया कि ये रामदूत हैं, इनके द्वारा मेरा कल्याण हो सकता है, अतः अपना दुःख और लाचारी कहकर कहते हैं कि मैं निराश था कि इसी भाँति दीन-दशामें मेरा जीवन व्यतीत हो जायगा, सरकारका दर्शन मेरे भाग्यमें नहीं है, पर तुम संत हो, तुम्हारे दर्शनसे भरोसा हुआ कि 'राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा' । रामजीने मुझपर कृपा की ।

मा० त० सु०—'हरि कृपा' इति। हरि=जो भक्तोंका क्लेश हरता है। यथा--'सुमिरत हरिहि साप गति बाधी।' वैसे ही यहाँ संत दर्शन देकर विभीषणजीका क्लेश हरण किया। इसीसे 'हरि' कहा।

नोट--तत्त्वानुसन्धानद्वारा विभीषणका यह निश्चय करना कि बिना भगवान्‌की दयाके संतजन नहीं मिलते 'मतिसञ्चारी भाव' है। उत्तरोत्तर अपकर्ष-कथन रसगङ्गाधरके मतसे 'सार' अलंकार है। २--'तामस तनु ''माहीं' पायकुलक है। 'अब मोहिं भा''' नयमालिनी है और 'बिनु हरि कृपा''' से 'सुनहु बिभीषन प्रभु''', (६) तक पायकुलक है। (व्र० चं०)। ३—जनश्रुति बन जानेवाली सरलताका एक उदाहरण 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।' भी है। यहाँ तो कोई अलंकार भी नहीं है। (लमगोड़ाजी)

जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा॥ ५॥

अर्थ—जब रघुवीर श्रीरामजीने कृपा की, तब आपने भी मुझे हठ करके दर्शन दिया। अर्थात् अपनी ओरसे 'वचन सुनाकर' दर्शन दिया॥ ५॥

टिप्पणी—'रघुबीर' शब्द पाँच प्रकारकी वीरताके सम्बन्धमें प्रयुक्त होता है, यथा—'त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदास्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव च पञ्चधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥' इन पाँचोंके उदाहरण क्रमसे लिखते हैं—

(१) त्यागवीर 'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर॥ २। १६५।'
(२) दयावीर 'चरनकमलरज चाहती कृपा करहु रघुबीर। १। २११।'
(३) विद्यावीर 'श्रीरघुबीरप्रताप तें सिंधु तरे पाषान॥
ते मति मंद जो राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥ ६। ३।'
(जल पर पत्थर तैरना तैराना एक विद्या है)।
(४) पराक्रमवीर 'सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीर।
हृदय न हरष बिषाद कछु बोले श्रीरघुबीर॥ १। २७०।'
(५) धर्मवीर 'श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर॥ ५। ४५।'

☞ ये पाँचों वीरताएँ श्रीरामजीहीमें हैं औरमें नहीं। इस प्रसंगमें विभीषणजी एवं हनुमान्‌जी दोनोंने कृपा करनेसे (अर्थात् उनकी दया-वीरतागुणको स्मरण करके) 'रघुवीर' कहा, यथा—'जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा' और 'मोहू पर रघुबीर कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन'। दयावीर हैं, इसीसे हमारे-से अधमपर कृपा की। 'दरस हठि दीन्हा', यथा—'एहि सन हठि करिहौं पहिचानी।' ये हनुमान्‌जीके ही वचन हैं। ['दरस हठि दीन्हा' इस पदसे श्रीभगवत्‌के अनुग्रह-पूर्वक अपने भाग्यकी प्रबलता दरसाते हुए परम भागवत श्रीहनुमान्‌जीका अनुग्रह दरसाया। (मा० त० सु०)]

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥ ६॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबही बिधि हीना॥ ७॥

अर्थ--(श्रीहनुमान्‌जी बोले)—हे श्रीविभीषणजी! प्रभु श्रीरामजीकी रीति सुनिये। वे सेवकपर सदैव प्रीति करते हैं॥ ६॥ आप ही कहिये कि मैं कौन परम कुलीन (उत्तमकुलोत्पन्न) हूँ? कपि हूँ, चंचल हूँ और सब प्रकारसे हीन (गया-गुजरा) हूँ॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुनहु बिभीषन''' से जनाया कि विभीषणजीने हनुमान्‌जीको प्रणाम करते समय अपना नाम बताया था—यह रीति है; यथा—'पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंडप्रनामा॥' बा० २६९ (२) देखिये। इसी प्रकार हनुमान्‌जीने पितासहित अपना नाम उनसे बताया था, तब उन्होंने कहा था 'सुनहु पवनसुत रहनि'''। (ख)--'प्रभु कै रीती।' भाव कि वे प्रभु हैं, सब प्रकार समर्थ हैं, सेवक उनका क्या उपकार कर सकता है? सेवकपर बिना कारण प्रीति करना उनकी रीति है, कुछ सेवापर रीझकर प्रीति नहीं करते, यथा---'कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥ ३। ४५। २।' (ग) 'करहिं सदा' का भाव कि प्रीतिको एकरस

निबाहना कठिन है; पर प्रभु सदा एक-रस प्रीति करते हैं, आदिसे अन्ततक निबाहते हैं। यथा—'**को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा ॥** २। २४। ४।' अर्थात् अपने सेवकको अपने बराबर मानते हैं, यथा—'**प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति असि आहि।** ६। २। ३।' यदि बराबर न मानते तो हनुमान्जी सदा प्रीति करना न कहते। विभीषणजी तो केवल पूछते हैं कि कृपा करेंगे? और हनुमान्जी प्रभुका विलक्षण स्वभाव कहते हैं कि वे तो बराबरका मानकर सदा प्रीति करते हैं। अतएव आपपर भी वैसी ही प्रीति किये हुए हैं [क्योंकि प्रीतिकी रीति एक रघुनाथजी ही जानते हैं, दूसरा नहीं, यथा विनये—'**जानत प्रीति रीति रघुराई।**' विभीषणजीने जो कहा था कि '**तात कबहुँ**···**करिहहिं कृपा**···', उसीके उत्तरमें हनुमान्जीने कहा—'**करहिं सदा**'; 'कभी करेंगे' की चर्चा कैसी? वे तो सदा किये रहते हैं। भाव यह कि वे तो ऐसे अहैतुकी कृपालु हैं कि अपराध होनेपर भी वे जान-बूझकर भी कभी उसपर ध्यान नहीं देते, यथा '**रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरत सय बार हिये की** ॥······**सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी** ॥ १ ॥ २९।', **अपराध अगाध भए जन ते अपने उर आनत नाहिंन जू।**' कवितावली ७। ७]

मा० त० सु०—'**सुनहु**' का भाव कि यह मेरा निजी अनुभव है, इस वचनको सर्वसिद्धान्त जानकर सुनिये और ग्रहण कीजिये।

टिप्पणी—२ '**कहहु कवन मैं परम कुलीना।**···' इति। (क) विभीषणजीने '**तामस तन**' कहकर अपनेको अकुलीन, कुलका हीन, जनाया। उसपर श्रीहनुमानजीका उत्तर यह है कि '**कहहु कवन मैं परम कुलीना।**' अर्थात् तुम्हारा तो केवल शरीर ही तामसी है, पर कुल तो उत्तम है। यथा—'**उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।**' (लं० २०), '**उपजे जदपि पुलस्त्यकुल पावन अमल अनूप।**' (बा० १७६)। तात्पर्य यह कि प्रभु श्रीरामजी कुलकी अपेक्षा नहीं रखते, वे तो केवल भक्तिका नाता मानते हैं; यथा—'**कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता ॥ जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई। भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा ॥** आ० ३५॥'

(ख) हनुमान्जीने प्रथम यह कहा है कि '**करहिं सदा सेवक पर प्रीती।**', प्रभु सेवकपर सदा प्रीति करते हैं। अब उसके उदाहरणमें अपनेहीको प्रत्यक्ष-प्रमाण-स्वरूप देते हैं कि '**कवन मैं**···' इत्यादि। अर्थात् मैं कुलसे हीन हूँ, कपि (अर्थात् पशु) हूँ—कैसा कि '**असुभ होइ जिन्हके सुमिरन ते बानर रीछ बिकारी**' (इति विनये) और चंचल हूँ। चंचलता बड़ा भारी दोष है। इस दोषके होनेसे मनुष्यको कर्म, ज्ञान और उपासना किसीमें अधिकार नहीं रह जाता। इस तरह मैं कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंसे रहित हूँ। '**सबही बिधि हीना**' अर्थात् कुल जाति, स्वभाव इत्यादि सब प्रकारसे हीन हूँ। अथवा, '**सब बिधि**' अर्थात् शुभकर्म करनेकी जितनी भी विधियाँ हैं उन सबसे रहित हूँ। मिलान कीजिये—'**मैं पावँर पसु कपि अति कामी।** कि० २१।'

नोट—'**करहिं सदा सेवक पर प्रीती**' कुसुमविचित्रा है। अर्धाली ७ और ८ पायकुलक है। (ब्र० चं०)।

प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ॥ ८ ॥

अर्थ—जो हमारा नाम प्रातःकालमें ले उसे उस दिन भोजन न मिले। (अर्थात् आप तो परम भागवत हैं, आपका नाम लेना मंगल है, आपका नाम तो प्रातःकाल लोग भागवतोंमें स्मरण करते हैं; यथा पाण्डवगीतायाम्—'**प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुनवशिष्ठविभीषणाद्यानेतानहं परमभागवतान्नमामि ॥**') ॥ ८ ॥

टिप्पणी—इस प्रसंगभरमें हनुमान्जीने सर्वत्र अपने लिये एकवचनका प्रयोग किया है, यथा—'**एहि सन हठि करिहौं पहिचानी**', '**कहहु कवन मैं परम**···' और '**अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर**'। पर यहाँ '**हमारा**' बहुवचनवाची पद दिया। तात्पर्य यह कि मैं ही दोषयुक्त नहीं हूँ, मेरी जातिभर दोषयुक्त है; किसीका भी नाम लो तो भोजन न मिले। अपना दोष और भगवत्का गुण कहना यह कपिकी साधुता है, यथा—'**गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥**' (२। १३१)।

नोट—१ यह कार्पण्य शरणागतिका लक्षण है। यहाँ अपने लिये अत्यन्त हीनतासूचक उदाहरण दे श्रीरामजीका परम कारुणिकत्व, परम कृपालुत्व दर्शित किया। वे तो प्रातःस्मरणीय हैं, यह केवल उनका कार्पण्य है। उनके द्वादश नामोंके

मन्त्रमें भी यही कहा है, यथा—'ॐ हनुमान् अञ्जनीसूनुर्वायुपुत्रो महाबलः रामेष्टः। फाल्गुनसखः पिङ्गाक्षोऽमितविक्रमः। उदधिक्रमणश्चैव सीताशोकविनाशनः॥ लक्ष्मणप्राणदाता च दशग्रीवस्य दर्पहा। द्वादशैतानि नामानि कपीन्द्रस्य महात्मनः। स्वापकाले प्रबोधे च यात्राकाले च यः पठेत्। तस्य सर्वं भयं नास्ति रणे च विजयी भवेत्॥' पुनः प्रातःस्मरणीय महात्माओंमें इनकी गणना पायी जाती है। यथा—'अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः। कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥ १॥ सप्तैतान्संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्। जीवद्वर्षशतं साग्रमपमृत्युर्विनश्यति॥ २॥'—अर्थ सरल है।

२—श्रीहनुमान्‌जीका उत्तरोत्तर अपनी हीनता वर्णन करनेमें 'सार अलंकार' है।

लमगोड़ाजी—नाटकीय कलाके ज्ञानके अभावमें, कि जिसमें देश, काल और पात्रका विचार आवश्यक है, 'प्रात लेइ जो नाम हमारा।···' यह पद भी 'चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी' की तरह बहुधा अनुचित प्रकारसे ही उपयुक्त होता है। बहुत-से लोग हनुमान्‌जीका परम माङ्गलिक नाम इसीको प्रमाण मानकर प्रातःकाल नहीं लेते।

दो०—अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥ ७॥

अर्थ—हे सखे! सुनो, मैं ऐसा अधम हूँ (तो भी) रघुवीर श्रीरामजीने मुझपर भी कृपा की। (वक्ता लोग कहते हैं कि प्रभुका अधमोद्धारण कृपालुता) गुण स्मरण कर (उनके) दोनों नेत्रोंमें जल भर आया॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व जब विभीषणजीसे रामकथा कही थी, तब वहाँ 'सुमिरि गुनग्राम' पद दिया था, यथा—'तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम। सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम॥' और यहाँ 'सुमिरि गुन' कहा। कारण कि अपनेको अधम कहकर प्रभुके अधमोद्धारण गुणका यहाँ स्मरण किया है। यह एक गुण है। इससे यहाँ एकवचन पद दिया। और, वहाँ रामकथा कही, कथामें बहुत-से गुणोंका स्मरण हुआ; इससे वहाँ 'गुणग्राम' पद दिया। (ख) विभीषणजीने अपनी अधमता कहकर रामकृपा होनेमें पहले सन्देह किया, हनुमान्‌जीके दर्शनसे वह सन्देह दूर हुआ, तब उनको भरोसा हुआ। हनुमान्‌जीने अपनेसे अधमपर कृपा होना कहकर विभीषणपर कृपा करना पुष्ट किया। (ग) 'मोहू पर' कहकर उनकी परम कुलीनता, महाभागवत होना और मंगलके लिये स्मरण किया जाना जनाते हुए अपनेको इनसे रहित सूचित किया। अर्थात् आप सब तरह योग्य हैं; पुनः आपमें प्रेम भी है—'मगन सुमिरि गुनग्राम'—और मैं सब प्रकार अयोग्य हूँ।—['मोहू पर' अर्थात् जब मुझपर कृपा की तब जो धर्मादि-साधन-सम्पन्न हैं और फिर आप जो परमभागवत हैं उनकी कथा ही क्या? वे तो परमकृपापात्र हैं ही। (प्र०)]

नोट—१ (क) यहाँ सखा-पदसे सम्बोधन करनेका यह भाव है कि हम दोनोंका समान ही तमोगुणी स्वभाव है।—पुनः दूसरी समानता यह है कि जैसे आप बली रावणके पाले पड़े हैं वैसे ही मैं बली वालीके पाले पड़ा था और तीसरी समानता यह है कि जिन रघुवीरजीके वीरत्वसे मेरा भला हुआ उन्हींके वीरत्वसे आपका भी भला होगा। (पाँ०)। (ख) 'कीन्ही कृपा', यथा—'तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥ सुनु कपि जिय जनि मानसि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना···॥', 'परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥···हनुमत जनम सुफल करि माना।—' इसका स्मरण किया। यही कृपागुण है। (ग)—यह दोहा दोहरा है।

टिप्पणी—२ पूर्व दोहेमें प्रेमकी दो दशाएँ कहीं—पुलक तन, मगन मन। एक दशा 'नेत्रोंमें जल भर आना' बाकी था; उसकी पूर्ति यहाँ की।

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥ १॥
एहि बिधि कहत रामगुनग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥ २॥

अर्थ—जान-बूझकर भी जो ऐसे स्वामी श्रीरघुनाथजीको भुलाकर (दुःखरूप विषयोंकी ओर) भटकते फिरते हैं, वे क्यों न दुखी हों अर्थात् उन्हें दुखी होना ही चाहिये॥ १॥ इस प्रकार श्रीरामजीके गुणग्राम कहते हुए (दोनों महात्माओंने) अकथनीय विश्राम (शान्ति-सुख) पाया॥ २॥

नोट—१ जैसे यहाँ विभीषणजीके प्रसंगमें वक्ताओंकी उक्ति है—'जानतहूँ अस स्वामि बिसारी···।', ठीक उसी

प्रकारकी उक्ति वालिवधके पश्चात् सुग्रीवजीके प्रसंगमें वक्ताओंकी है; यथा—'जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपतिजाल नर परहीं ॥ ४ । १४ ।'

मा० त० सु०—यहाँ 'अस' पद अंगुल्यानिर्देश है। इस पदसे निश्चय कराते हैं कि ऐसे स्वामी ये ही हैं, दूसरा नहीं। यथा—'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥', 'अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही। मोसे सठ पर ममता जाही॥'

टिप्पणी—१ (क) 'जानतहूँ'=(स्वभाव) जानकर भी। भाव यह कि जाननेसे स्मरण होता है; स्मरणसे दुःख नष्ट होता है। जानना मुख्य है; यथा—'जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥ ७। ८९।' जाननेपर कि ऐसे अधमोद्धारण अहैतुकी कृपालु हैं भुलाया। अर्थात् दुःखके नाशका योग लगा, पर दुःखका नाश उन्होंने न किया (यह उन्हींकी भूल है)। 'जानतहूँ' अर्थात् शास्त्र-पुराण-आचार्य आदिसे सुनकर, जानकर। यथा—'तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषयबिष माँगी।' 'काहे न होहिं दुखारी' से जनाया कि अन्य किसी भी साधनसे दुःख दूर नहीं हो सकता। यथा—'तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। ७। १२४।'; 'रघुनाथ बिना दुख कौन हरै' (क०)। (ख) 'काहे न होहिं दुखारी'; यथा—'महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि' (आ० ३६); 'बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादरके फल ये॥ भवसिंधु अगाध परे नर ते। पदपंकज प्रेम न जे करते॥ अति दीन मलीन दुखी नितहीं।' (उ० १४)।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—विभीषणजीने कहा था कि 'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्ह महुँ जीभ बिचारी॥ इसपर श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि जो तुमने कहा उसका कारण जान-बूझकर प्रभुका विस्मरण है आप-ऐसे मालिकको जानकर भी भूले हुए हैं, अतः दुखी न होनेका कोई कारण नहीं है। 'मन क्रम बचन चरन रति होई। सपनेहु संकट परै कि सोई॥', 'बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही॥ ३२। २।' तुमने मन और वचनसे चाहे जो किया हो, पर क्रियारूपसे तो तुम राक्षसकी ही सेवा करते रहे। आप जानते हैं कि सीताहरण हो गया, सरकार ढूँढ़ते हुए वनोंमें घूम रहे हैं। आपने सीताहरण-प्रकरणमें सरकारकी कौन सेवा की? उन्हें विस्मरण किये ही बैठे हो। इसी उपदेशने विभीषणजीके लिये मन्त्रका काम किया, इससे उन्हें अनिर्वाच्य विश्राम हुआ। तबसे उन्होंने क्रियारूपसे सेवा आरम्भ की। आप-से-आप बिना पूछे सीताजीका समाचार सुनाने लगे (उन्हींकी युक्ति बतलानेसे हनुमान्‌जीने श्रीसीताजीका दर्शन पाया); स्वयं रावणसे श्रीजानकी-प्रदानके लिये उलझ पड़े और अन्तमें सब कुछ त्यागकर भगवान्‌के चरणोंमें चले गये—(इस टिप्पणीके अनुसार ये वचन हनुमान्‌जीके हुए, न कि वक्ताओंके)।

टिप्पणी—२ (क) 'एहि बिधि कहत···' इति। रामगुणग्राम कहने, सुनने, समझनेमें (अर्थात् सभी प्रकार) सुखदायक है; यथा—'कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लषन सम प्रिय तुलसीके॥' कहने, सुनने, समझने और सुमिरनेमें सुखद होनेके उदाहरण, यथा—'एहि बिधि कहत रामगुनग्रामा।···' 'सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम' और 'अस मैं अधम सखा सुनु मोहूपर रघुबीर। कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे···' (ख) अनिर्वाच्य=जो वचनसे परे है, भिन्न है। यथा—'सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई। ७। ५।', 'सो सुख जानै मन अरु काना। नहि रसना पहिं जाइ बखाना॥ ७। ८८।' भाव यह है कि रामगुणग्राम कहा जा सकता है, पर जो उससे सुख हुआ वह नहीं कहा जा सकता। इसीसे गुण कहे और सुखको अनिर्वाच्य कहा। [पूर्व कह आये हैं कि 'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥' सत्सङ्गका महत्त्व कहा पर उसका स्वरूप नहीं दिखाया था, वही यहाँ दिखाते हैं कि 'पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा।' विश्राम पद यहाँ सुखवाचक है, यथा—'कोउ विश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।' 'पावा' का भाव कि यह सुख ऐसी पुरीमें मिलना दुर्लभ था सो अकस्मात् पा गये। (मा० त० सु०)] (ग) शंका—कहने, सुनने आदिसे विश्राम मिलता है। यहाँ 'एहि बिधि कहत' पद दिया, 'सुनत' न कहा, यद्यपि दोनोंने सुननेको कहा, यह क्यों? समाधान—दोनोंने अपनी-अपनी अधमता एक दूसरेसे कही; इसे सुनकर किसीको सुख न हुआ। परंतु जब दोनोंने अपने-अपने ऊपर रघुवीरकी अनुग्रह कही, तब विश्राम पाया। इसीसे 'सुनत बिश्राम पावा' न कहा, 'कहत बिश्राम पावा' कहा। (घ)—हनुमान्‌जीकी इच्छा विश्राम करनेकी न थी—'रामकाज कीन्हें बिना मोहि कहाँ बिश्राम।' पर रामकथा अपना प्रभाव नहीं छोड़ती, वह विश्राम देती ही है; अतः इनको विश्राम मिला।

(मा० शं०का मत है कि विना रामकार्यके किये विश्राम न करनेकी प्रतिज्ञा थी। यहाँ मुख्य कार्य समुद्र पार करना था, क्योंकि सम्पातीने कहा था कि **'जो नाँघइ सत जोजन सागर। करै सो राम काज अति नागर॥'**, अतएव समुद्र पार करनेपर विश्राम पद दिया')।

नोट—'जानतहूँ०' पादाकुलक है, 'फिरहिं ते' तामरस है और 'एहि बिधि···बिश्रामा' पादाकुलक है। (ब्र० चं०)। **'पुनि सब कथा०।'** चौपाईका ३०९ वाँ भेद है और **'जेहि बिधि०'** ३२२ वाँ भेद है।

पुनि* सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही॥ ३॥

अर्थ—फिर विभीषणजीने सब कथा कही, जिस प्रकार वहाँ श्रीजानकीजी रहती थीं। (एवं जिस प्रकार दिन व्यतीत करती थीं)॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) जब हनुमान्‌जीने सब रामकथा कही तब अपना लङ्कामें रात्रिको प्रवेश करना और घर-घर श्रीसीताजीको ढूँढ़ना और उनका न मिलना भी कहा। इसीलिये विभीषणजीने सब वृत्तान्त इनसे बताया। जबसे श्रीजानकीजी लङ्कामें आयीं तबसे आजतकका सारा समाचार कह सुनाया। (ख) **'जेहि बिधि···रही'** अर्थात् जिस प्रकार रावणने उनको रखा, यथा—**'हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ। तब असोक पादप तर राखिसि जतन कराइ॥ ३। २९॥'** इसीसे **'तहँ रही'** अर्थात् अशोकवाटिकामें रहीं। अन्यत्र न रहीं, इसीसे अन्यत्र न मिलीं। पुनः, **'जेहि बिधि'** अर्थात् जिस प्रकार ये दिन काटती थीं वह कहा, यथा—**'जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम॥'**—(आ० २९)। (ग) 'जनकसुता' का भाव कि जैसे राजाओंकी कन्याएँ रहती हैं, उस रीति-भाँति-कायदेसे ये वहाँ रहती हैं, अनेक राक्षसियाँ रक्षा करती हैं, वहाँ पुरुष नहीं जाते।

नोट—१ अनिर्वाच्य विश्राम छोड़कर कथा कहने लगे जैसे शिवजीने किया था, यथा—**'मगन ध्यानरस दंडजुग पुनि मन बाहर कीन्ह। रघुबर चरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह॥'** वहाँ श्रोता सामने बैठा है उसको कथा सुनाना, उसके प्रश्नोंका उत्तर देना आवश्यक है; अतः ध्यान छोड़ा। वैसे ही यहाँ हनुमान्‌जीको आवश्यक कार्य करना है, अतः उनको समाचार बतानेके लिये विश्रामसे मनको उपराम दिया।

२ यहाँ 'जनकसुता' साभिप्राय विशेषण है। भाव यह कि जैसे जनकजी ब्रह्मसृष्टिमें रहकर भी सब प्रकारसे निर्लेप रहे, वैसे ही ये भी लङ्कामें निर्लेप रहीं, यथा—**'जे बिरंचि निर्लेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जलजाये'**॥ सीताजी अपनी चित्तवृत्तिको रोककर योगारूढ़ किये रहा करती थीं, यथा—**'निजपद नयन दिये मन'**। यह भूचरी मुद्रा और त्राटक भी कहा जा सकता है। चित्तवृत्तिको एकाग्र करनेकी क्रिया ही 'योग' है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (मा० त० सु०) पुनः, भाव कि जैसे वे जनक महाराजके यहाँ रहती थीं अथवा जैसे अपने 'जनक' (पिता) के घर पुत्री रहती है वैसे ही यहाँ रक्खी गयी हैं—यह दिखानेको 'जनकसुता' नाम दिया गया। (पाँ०)।

प० प० प्र०—'जनकसुता' शब्दके भाव। ३। ३१। २ **'तेहि खल जनकसुता हरि लीन्हीं'** में देखिये। यहाँ भाव यह है कि श्रीजनक समान महाराजकी कन्याकी भी ऐसी दुर्दशा! यह कैसा दैव-दुर्विपाक है। यह आश्चर्य, खेद, विषाद और शोकका निदर्शन है। इस भावकी पुष्टिके लिये ही इस अर्धालीके दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा न्यून रक्खी गयी है। जो मर्म न समझनेसे दोष गिना जाता है। इससे यह सूचित किया कि जनकसुताकी कथा कहते-कहते विभीषणजीकी वाणीमें गति-विच्छेद होने लगा, कंठ अवरुद्ध हो गया। दूसरा भाव यह है कि श्रीजनकमहाराजकी कन्याको पतिवियोगमें जिस तरह रहना उचित है, उसी तरह वे यहाँ रह रही हैं।

टिप्पणी—२ ग्रन्थकारने इस प्रसंगमें दोनों भक्तोंमें समानता दिखायी है—

श्रीहनुमान्‌जी	श्रीविभीषणजी
बिप्ररूप धरि बचन सुनाये	१ राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा
हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा	२ की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई

* पुनि—छ०, भा० दा०, १७०४, कोदवराम। सुनि—१७२१, १७६२। भा० दा० की पोथीमें 'पुनि' पर हरताल देकर 'सुनि' बनाया है।

एहि सन हठि करिहौं पहिचानी ३ तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा

तब हनुमंत कही सब रामकथा ४ पुनि सब कथा बिभीषन कही। जेहि०

५ सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम।

☞ दोनोंने अपने दोष और भगवद्गुण कहे—

'प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि०' ६ 'तामस तन कछु साधन नाहीं। प्रीति न···'

'अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर। कीन्ही कृपा···' ७ जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखी चहौं जानकी माता॥ ८ 'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥', 'देखिहौं जाइ चरन जलजाता'

☞ दोनोंको श्रीरामकृपाका ही अवलम्ब है—

मोहू पर रघुबीर कीन्ही कृपा ९ अब मोहिं भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥

☞ श्रीहनुमान्जीने विभीषणजीको श्रीरामजीसे मिलाया और विभीषणजीने हनुमान्जीको श्रीजानकीजीसे मिलाया।

सादर तेहि आगे करि बानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर॥ १० जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ० ॥

टिप्पणी—३ सीताजीकी खबर मिलते ही हनुमान्जीने कहा—हे भाई! मैं देखना चाहता हूँ और युक्ति सुनते ही बिदा होकर श्रीसीताजीके पास जा पहुँचे—यह शीघ्रता ग्रन्थकार आगे अपनी चौपाईमें दरसाते हैं।

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखी* चहौं जानकी माता॥ ४॥
जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥ ५॥

अर्थ—तब हनुमान्जीने कहा—हे भाई! सुनो, मैं श्रीजानकी माताको देखना चाहता हूँ॥ ४॥ विभीषणजीने (मिलनेकी) सब युक्ति (कह) सुनायी। (सुनते ही) पवनसुत हनुमान्जी बिदा माँगकर चल दिये॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता' इति।—'भ्राता' शब्द यहाँ निहोरा या प्रार्थनाका भाव दे रहा है। यथा—'भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहि।' (अ० १९१), 'तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ (सुं० १)।' (ख) 'देखी चहौं जानकी माता' इति। कदाचित् विभीषणजी कहें कि वहाँ कोई पुरुष नहीं जा सकता, इससे प्रथम ही 'माता' विशेषण दे दिया कि मैं उनके पास माताभावसे जाता हूँ, माताभावसे दोष नहीं और पुत्रको वहाँ रोक नहीं; यथा—'देखहु कपि जननी की नाईं। बिहँसि कहा रघुनाथ गुसाईं॥' (लं० १०७)। (प० प० प्र० स्वामीका मत है कि विभीषणजीको राजद्रोह अथवा बन्धुद्रोह दोष न लगे, मुख्यतः इसीलिये श्रीहनुमान्जीके मुखसे 'जानकी माता' ये शब्द कहलाये गये।)

नोट—१ 'देखीं चहौं' से दर्शनके लिये अपनी अत्यन्त आतुरता प्रकट करते हैं। इसमें उत्सुकता संचारी भाव है। पुनः, इससे उनका दृढ़ विश्वास और संकल्प भी सूचित होता है कि माता जानकीजी चाहे जैसे विकट स्थानमें हों मैं अवश्य उनके दर्शन करूँगा।

२—दीपककारका मत है कि श्रीहनुमान्जी और श्रीविभीषणजी दोनों ही रामकार्यमें लीन हैं। विभीषणजी सोचते हैं कि ये रामदूत हैं, फँस गये तो मार डाले जायँगे जिससे रामकार्यमें बाधा होगी, इससे वे कहते हैं कि आप लौट जाइये; और इधर हनुमान्जी भी दृढ़ हैं, इनको विश्वास है कि जबतक मैं दर्शन न करूँगा और मुद्रिका न दूँगा तबतक रामकार्य हो नहीं सकता। हनुमान्जी बड़े गम्भीर हैं, इससे इनकी बातका आशय लखनेमें नहीं आता। इनकी निर्भयता और दृढ़ संकल्प देख विभीषणने युक्ति बतायी।

नोट—३ हनुमान्जी एवं विभीषणजी जानते हैं कि ये जगज्जननी हैं, अतएव ये उनको माता कहते हैं। इनका यही

* १—देखा—(ना० प्र०, का०, ब्र० चं०)। देखी—भा० दा० १७२१ और १७६२ तथा छक्कनलालजीकी प्रतियोंमें।
२—'तब हनुमंत··भ्राता' तामरस है। शेष सब पायकुलक है। (ब्र० चं०)।

भाव मानसमें दिखाया गया है। यथा—'रामदूत मैं मातु जानकी', 'यह मुद्रिका मातु मैं आनी', 'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा' इत्यादि। और श्रीजानकीजी भी इन्हें पुत्र-सा ही मानती हैं, यथा—'सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी', 'सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहु हनुमंत', इत्यादि। २—अनिर्वाच्य विश्राम छोड़कर सीताजीको देखनेके लिये उत्सुक हुए। कारण कि 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'। प्रभुकी सेवा अपने सुखसे बढ़कर है। इसीसे हनुमान्‌जी सदैव 'रामकाज करिबेको आतुर' रहते हैं।

टिप्पणी—२ 'जुगुति बिभीषन'' इति। (क) जब देखनेकी इच्छा प्रकट की, तब विभीषणजीने देखनेकी युक्ति बतायी; क्योंकि बिना युक्तिके वहाँ कोई जा नहीं सकता था। सब युक्ति यह कि वहाँ बाहर राक्षस पहरा देते हैं और भीतर उनके निकट राक्षसियाँ रक्षा करती हैं, इससे वह मार्ग और उपाय बताये जिसमें कोई मिले नहीं [पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि अशोक उपवन प्रमदा वन था। ऐसी युक्तिसे बना था कि सम्पूर्ण लङ्का छान आवे, और उसका पता न लगे। ऐसी रचनाको आजकलकी भाषामें तिलस्म कहते हैं। उसे तोड़कर यदि बलपूर्वक सीताजीका दर्शन करना चाहे, तो रावणके जीते-जी सम्भव नहीं था। अतः उस तिलस्मके भीतर प्रवेश करनेकी युक्ति विभीषणने हनुमान्‌जीको बतलायी, जिसमें बिना बाधाके सीताजीका दर्शन हो सके। आगेके 'जहवाँ' और 'तहवाँ' पदसे भी यही सूचित होता है कि उपवन उस स्थानसे जहाँ रावण और विभीषणका घर है, कुछ दूरीपर था। (वि० त्रि०) । युक्ति गुप्त रक्खी; क्योंकि 'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिअ दुराऊ॥ १। १६८। ४।' मानसमें सातों काण्डोंमें युक्तिका उल्लेख है। यथा—'जुगुति मंजु मनि सीप सोहाई' (बाल०), 'एकउ जुगुति न मन ठहरानी' (अ०), 'इहाँ राम जसि जुगुति बनाई' (आ० २३। ८), इत्यादि। (प० प० प्र०)]

२ 'चलेउ पवनसुत''' इति। (क) अति शीघ्रता सूचित करनेके लिये 'पवनसुत' शब्द दिया। (ख) 'बिदा कराई'—प्रेमीसे और बड़ेसे आज्ञा लेकर चलना चाहिये; यह नीति है, यथा—'सुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले''', 'सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई॥' (१। ४८। ३। ३) ।—['बिदा कराई' से सूचित किया कि विभीषणजी प्रेमाधिक्यके कारण हनुमान्‌जीको विश्रामके लिये ठहराना चाहते थे पर वे ठहरे नहीं।—'रामकाज कीन्हे बिना मोहि कहाँ बिश्राम।' यह उनका सिद्धान्त है (वि० त्रि०)]

नोट—४ बिदा माँगकर जाना सनातन शिष्टाचार है; जानेके लिये आज्ञा माँगनेकी रीति हिंदू, मुसलमान, ईसाई सभीमें पायी जाती है। यह प्रीतिकी रीति है। प्रीतिका एक अङ्ग प्रणय है ही। आज्ञा लेनेसे उसका आदर-सम्मान प्रकट होता है। इस ग्रन्थमें इसका चरितार्थ है; यथा—'करि पूजा सब बिधि सेवकाई। गयउ राउ गृह बिदा कराई॥ १। २१७।' पाँड़ेजीका मत है कि 'बिदा कराई' का भाव यह कि बलात्कारसे विदा हुए, अब किंचित् भी रुकना स्वीकार न किया। पुनः यह भी भाव कहा जाता है कि मेरे पुनः लौटकर आनेकी अपेक्षा न कीजियेगा। संत-सङ्ग छोड़नेकी रुचि न होनेपर भी रामकार्यके लिये जबरदस्ती विदा हुए, अतः 'कराई' कहा।

नोट—५ श्रीहनुमान्‌जी और श्रीविभीषणजीके प्रसङ्गके वचनोंकी समता दश प्रकारसे गिनाते हैं—'सुमिरन दर्शन हठ कथा जानब पुलक बखान। कृपा दोष गुन।'

	श्रीहनुमान्‌जी	श्रीविभीषणजी
स्मरण	'रामायुध अंकित गृह देखि'	राम राम तेहि
	तर्क-वितर्करूपी स्मरण-चिन्तन	सुमिरन कीन्हा
दर्शन	'निज नाम' कहकर विप्ररूप छोड़	'सुनत बिभीषन उठि तहँ आये।'
	स्वरूपसे प्रकट हुए, यही दर्शन है।	'आयहु मोहि करन बड़भागी।'
हठ	एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी	तौ तुम्ह मोहि दरस हठि दीन्हा।
कथा	तब हनुमंत कही सब रामकथा	पुनि सब कथा बिभीषन कही।
जानना	जानतहू अस स्वामि बिसारी	तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा।
पुलक	सुनत जुगल तन पुलक	सुनत''पुलक
बखान	सुनहु बिभीषन'''	की तुम्ह राम दीन अनुरागी

कृपा	करहिं सदा सेवक पर प्रीती	करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा ।
दोष	कपि चंचल सबही बिधि हीना	तामस तन कछु साधन नाहीं
गुण	एहि बिधि कहत रामगुनग्रामा	'''कहत रामगुनग्रामा', 'सब कथा''कही ।'

— - उपर्युक्त 'बखान' में कथित 'सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती' इस उपदेशका उपसंहार **'श्रवन सुजस सुनि आयउँ'** में होगा । (मा० त० सु०)

टिप्पणी—३ श्रीहनुमान्‌जीने समस्त लंका खोज डाली पर श्रीजानकीजी न मिलीं, जब विभीषणजीने युक्ति बतायी तब मिलीं । इसी प्रकार बिना मर्मीके युक्ति बताये ईश्वर नहीं मिलते--यह ग्रन्थकारका उपदेश है । यथा—**'भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलइ जो संत होइ अनुकूला ॥'**

करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ । बन असोक सीता रह जहवाँ ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर वही (मशक-समान) रूप धारण करके अशोकवनमें जहाँ श्रीसीताजी रहती थीं वहाँ गये (बीचमें विभीषणजीसे मिलनेके लिये विप्ररूप कर लिया था । अब पुनः पूर्वसूक्ष्मरूप धर लिया) ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'तहवाँ' । विभीषणजीके वचनमें यह न खुला कि श्रीजानकीजी कहाँ हैं--**'जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही'** । 'तहँ' को यहाँ खोला कि अशोक-वनमें जहाँपर वे थीं । वन बहुत बड़ा है, उसमें जहाँ वृक्षके नीचे वे बैठी थीं उसके समीपके वृक्षपर गये । इतने समीप गये कि जहाँसे उनका कृश शरीर और शीशपर जटाकी एक वेणी रात्रिमें उन्हें देख पड़ी । कुछ रोशनी थी या नहीं, इसका पता नहीं ।

२--पूर्व पर्वतपरसे लंकापुरीको जब हनुमान्‌जीने देखा था तब वहाँ **'बन बाग उपवन बाटिका'''** सबको पृथक् पृथक् कहा । पर जहाँ श्रीजानकीजी हैं, वहाँ वन, बाग, उपवन, बाटिका चारों हैं—ऐसा विलक्षण यह बाग है । चारोंके प्रणाम, यथा—'तहँ असोक उपवन जहँ रहई । सीता बैठि सोचरत अहई ।' **'बन असोक सीता रह जहवाँ'** । **'चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा । फल खायउ'''** और 'नाथ एक आवा कपि भारी । तेहि असोक बाटिका उजारी ॥'

३—रावणको शयन करते देखा था और श्रीसीताजीको अशोकवृक्षके तले बैठे देखा । भाव कि रावणकी मृत्यु होगी और श्रीसीताजी शोकरहित होंगी ।

देखि मनहि महुँ कीन्ह प्रनामा । बैठेहिं बीति जात निसि जामा ॥ ७ ॥

अर्थ--(श्रीसीताजीको) देखकर मनहीमें प्रणाम किया । (देखा कि उनको) रात्रिके पहर (अर्थात् सारी रात) बैठे ही बीत जाते हैं । अर्थात् रात सोनेका समय है पर इन्हें शोचमें बैठे ही कटती है ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ (क) **'देखि मनहि महुँ'''** इति । भाव कि अभी प्रकट होकर प्रणाम करनेका अवसर न था । यदि शरीरसे या वचनसे प्रणाम करते तो सब जान जाते । वहाँ राक्षसियाँ बहुत हैं; कोई जान न पावे, इससे मानसिक प्रणाम किया । (ख) 'निसि जामा'—रातमें कोई तीन, कोई साढ़े तीन, कोई चार प्रहर मानते हैं, अतः झगड़ेकी बात उठाकर केवल 'निसि जामा' कहा, अर्थात् जितने भी पहर हों सभी । (इस प्रसङ्गमें विप्रलम्भ अर्थात् वियोग शृङ्गारका वर्णन है ।)

नोट—१ अग्निवेश रामायणमें श्रीहनुमान्‌जीका द्वादशीको सायंकाल समय लंकापुरीमें पहुँचना और सूक्ष्म अदृश्य रूपसे रात्रिमें लंकापुरीको देखना तथा पिछले अर्थात् चौथे प्रहरमें श्रीजानकीजीका दर्शन पाना वर्णित है । यथा—**'सन्ध्यायां हरिवासरे हरिसुतो हत्वान्तरायान् पथि ।'''कृत्वा सूक्ष्ममदृश्यरूपमसुरैरालोक्य रात्रौ पुरीम् । पाश्चात्ये प्रहरे ददर्श हनुमान् तस्मिन्वने जानकीम् ॥'**

२—बाबा हरिदासजी 'बीति गई' पाठ देते हैं और 'निसि जाम' (निसि याम) का अर्थ 'तीन पहर रात, करते हैं, यथा—'नक्त निशा रजनी क्षपा क्षणदा रैन त्रियाम । तमी शर्बरी रातिको यामिनि सारंग नाम ॥ भाव कि 'त्रियामा' रात्रिका एक नाम है । ☞ रात्रिको बैठे-ही-बैठे बिता देना, भर रात बैठे ही रह जाना यह विरहका देश और दशा भी है । श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'आज भी कोई पतिव्रता स्त्री यदि पराये वशमें पड़ जाती है तो रातको नहीं सोती, सारी रात जागते बैठी रहेगी, दिनमें चाहे सो ले ।

३—वाल्मीकीयके मतानुसार कुछ रात बाकी रह गयी थी जब इनको श्रीसीताजीका दर्शन हुआ; यथा—'किञ्चिच्छेषा निशाभवत् । सु० १८ । १ ।' उसी समय चन्द्रमाका उदय हुआ था जिससे वे उनको देख सके थे।

क्रुस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति-गुन-श्रेनी ॥ ८ ॥

अर्थ—शरीर दुबला हो गया है। सिरपर जटाकी एक 'वेणी' (जूड़ा, लट) हो गयी है। (वे) हृदयमें श्रीरघुनाथजीके गुणसमूहको (स्मरण करती हुई श्रीरामनाम) जपती हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ — 'क्रुस तनु सीस जटा' से ज्ञात है कि अच्छी तरह ओढ़नेभरको वस्त्र भी नहीं है (अथवा विरहकी दशामें वस्त्रका सँभार नहीं है, वस्त्र ठीकसे ओढ़े नहीं हैं। अथवा, शरीरका अत्यन्त कृश हो जाना तो केवल मुखारविन्दके दर्शनसे जान गये, शरीर और सिर खुला हुआ है। [गीतावली और रामचन्द्रिकामें इस प्रसंगका वर्णन भली प्रकार किया गया है। गी० सु० २, यथा—'देखी जानकी जब जाइ । परम धीर समीरसुतके प्रेम उर न समाइ ॥ १ ॥ कृस सरीर सुभाय सोभित लगी उड़ि उड़ि धूलि। मनहुँ मनसिज मोहिनी मनि गयो भोरे भूलि ॥ २ ॥ रटति निसि बासर निरंतर राम राजिवनयन। जात निकट न बिरहिनी-अरि अकनि ताते बयन ॥ ३ ॥' बरवै रामायणमें श्रीजानकीजीने अपने कृश शरीरके सम्बन्धमें श्रीहनुमान्‌जीसे स्वयं कहा है—'अब जीवन कइ हे कपि आस न कोइ । कनगुरिया कइ मुँदरी कँगना होइ ॥ ३८ ॥', अर्थात् कनिष्ठ अँगुलीकी अँगूठी अब इतनी ढीली हो गयी कि कलाईके कंगनका काम दे रही है। 'कृश तन' से जनाया कि वे शोकान्वित, चिन्तित और उदास रहा करती थीं तथा भोजन भी न करती थीं; यथा—'अश्रुपूर्णमुखीं दीनां कृशामनशनेन च। शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम् । वाल्मी० सु० १५ । १३ ।' 'उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः । १५ । १९ ।' तथा च 'शुष्यन्तीं रुदतीमेकां ध्यानशोकपरायणाम्। दुःखस्यान्तमपश्यन्तीं रामां राममनुव्रताम् ॥ १९ । ८ ।' अर्थात् ध्यान और शोकपरायण होनेसे शरीर सूख गया था। दुःखका पार न मिलता था। वे केवल श्रीरामजीका ध्यान लगाये हुए थीं। पुनश्च—'उपवासेन शोकेन ध्यानेन च भयेन च। परिक्षीणां कृशां दीनामल्पाहारां तपोधनाम् ॥ वाल्मी० ५ । १९ । २० ।']

२—'सीस जटा एक बेनी' इति। [स्त्रियोंमें सिरके केशोंकी प्रायः तीन चोटियाँ बनाकर गुही जानेकी रीति है। वह तीनों चोटियाँ मिलकर एक लट बन गयी हैं। अथवा, इससे जनाया कि केश बिखरे पड़े रहते थे, कभी बाँधे न जाते थे जिससे सब आपसमें मिलकर एक लट या जूड़ा-सरीखे हो गये हैं। बाल साफ न किये जाने और कंघी न करनेसे मैलके संयोगसे ऐसे हो जाते हैं; यथा—'मलसंकुलमूर्धजाम्' वाल्मी० सुन्दर० १७ । १९ ।] पुनः भाव कि तीनों चोटियाँ मिलकर एक 'वेणी' हो गयी हैं। जैसे गङ्गा, यमुना, सरस्वती मिलकर (त्रि) वेणी हुई हैं। वाल्मी० सु० १९ । १९ में भी एक ही वेणीका उल्लेख है; यथा—'एकया दीर्घया वेण्या शोभमानामयत्नतः ।' श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि पतिव्रता पतिके वियोगमें तीन लड़की वेणी नहीं रखती। वैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ सेंदूर सरस्वती और मोती लड़ सुरसरिरहित केवल बाल यमुनावत् हैं'—पर वस्तुतः यहाँ त्रिवेणीवाली वेणी अर्थ नहीं है)।

टिप्पणी—३ इस अर्धालीमें बाह्यान्तर दोनों वृत्तियाँ कहीं। पूर्वार्द्ध 'क्रुस तन सीस जटा एक बेनी' बाह्य वृत्ति है और उत्तरार्ध 'जपति हृदय०' अन्तरङ्ग वृत्ति है। रामविरहमें शरीर कृश हो गया है, वचन राम-नाममें लगा है, श्रीरामजी अवश्य आयँगे यह विश्वास मनमें है और मनको रामचरणमें लीन किये हुए हैं। इस प्रकार मन, वचन, कर्म तीनोंसे श्रीरामचरणमें अनुरक्त हैं। इसीसे आगे हनुमान्‌जीसे संदेशा भेजा है कि 'मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ॥ ५ । ३१ ।'

नोट—इससे उपदेश देते हैं कि भगवत्-प्राप्ति बिना संसारके समस्त भोग्य पदार्थ त्याज्य हैं।

टिप्पणी—४ 'जपति सदा रघुपति गुन श्रेनी' इति। (क) पूर्व आ० २९ में श्रीरामजीकी, कनकमृगके पीछे दौड़ते हुए जानेवाली, छबिको हृदयमें रखकर नाम रटते रहना कहा है, यथा—'सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम ॥' और यहाँ कहते हैं कि 'जपति सदा रघुपति गुन श्रेनी।' इसी प्रकार श्रीभरतजीके सम्बन्धमें कवि कहते हैं कि—'राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात । ७ । १ ।' पर श्रीहनुमान्‌जीने उनसे यही कहा कि—'जासु बिरह सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाती ॥ ७ । २ ।'—इन उद्धरणोंसे सिद्ध होता है कि गुणगणश्रेणी एवं गुणगणपातीका

अर्थ है **'राम राम' 'राम राम रघुपति'** इत्यादि और **'जपति रघुपति गुन श्रेनी'** का अर्थ है—'हृदयमें श्रीरामजीकी छबिका ध्यान रखते हुए रामजीके नाम रटती हैं।' जपसे रटना और स्मरण दोनों जनाये। श्रेणी=पंक्ति। [अध्यात्मरामायणमें भी राम-राम रटना कहा है, यथा—**'भूमौ शयानां शोचन्तीं रामरामेति भाषिणीम्।** सुं० सर्ग २।' 'गुणश्रेणी' से श्रीरामजीके पराक्रम, सौन्दर्य, करुणा, अनुकम्पा, दीन-दयालुता आदि गुणों एवं ऐसे गुणसूचक नामोंका स्मरण तथा विरहमें उनका उच्चारण भी अभिप्रेत हो सकता है।]

प० प० प्र०—हनुमान्‌जीने यह बात जान ली कि वे हृदयमें रघुपति गुणगणोंका चिन्तन कर रही हैं। इससे सिद्ध हुआ कि श्रीहनुमान्‌जीको परचित्तविज्ञान-सिद्धि प्राप्त थी।

टिप्पणी—५ इस अर्धाली और दोहेमें ग्रन्थकारने नामजपकी विधि बतायी है कि भगवान्‌की मूर्तिका अनुसंधान करके मन्त्र जपे। श्रीसीताजीके हृदयमें श्रीरघुपतिगुण-श्रेणी है, मन श्रीरामचरणारविन्दमें लीन है, छबिका ध्यान है और **'रटति रहति हरिनाम'**। इसी तरह श्रीरामजन्मपर और श्रीमनुशतरूपाजीके प्रसंगोंमें जपकी विधि कही गयी है; यथा—**'मज्जहिं सज्जनबृंद बहु पावन सरजू नीर। जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर॥** १। ३४।', **'द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग। बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥ १। १४३।'**

नोट—'कृसतन०' तामरस और 'जपति०' पायकुलक है। (व्र० चं०)

दो०—निजपद नयन दिए मन रामचरन महुँ* लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन॥ ८॥

अर्थ—(श्रीजानकीजी) नेत्रोंको अपने चरणोंमें लगाये हुए हैं, (और उनका) मन श्रीरामजीके चरणोंमें लीन (अनुरक्त, निमग्न) है। श्रीजानकीजीको दीन (दुःखकी अवस्थामें) देखकर पवनकुमार परम दुखी हुए॥ ८॥

टिप्पणी—१ **'निज पद नयन दिए'** इति। (क)—['निज पद' में दृष्टिको लगानेमें भाव यह है कि जो अड़तालीस चिह्न श्रीरामपदमें हैं वे ही श्रीजानकीजीके चरणोंमें हैं। जो श्रीरामजीके वामपदमें २४ चिह्न हैं वे ही श्रीजानकीजीके दक्षिण-पदमें और जो उनके दक्षिणपदमें हैं वे ही इनके वामपदमें हैं। इस प्रकार निजपदमें श्रीरामपदोंका अध्याहार है। अपने चरणचिह्नदर्शनसे उद्दीप्त वे श्रीरामचरणचिह्न दर्शनमें मनसे लीन हैं।—(पां०, शिला)] (ख)—नेत्रोंको अपने चरणोंमें लगाये हैं, जिसमें मनको संकल्प-विकल्प करनेका अवसर ही न मिले। नेत्रोंकी चंचलतासे मन चंचल हो जाता है, उसकी अन्तरंगवृत्ति छूट जाती है, बाह्यवृत्ति हो जाती है। अतः प्रथम नेत्रोंका निरोध कहा। अथवा, (ग)—पदके देवता विष्णु हैं। बाहर तो नेत्र और भीतर सूक्ष्म मन ये ही दो इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। दोनों ही ध्यानके प्रतिबन्धक हैं; अतः दोनोंको भगवान्‌में लगा दिया। दर्शनमें नेत्र और मन साथ-साथ प्रवृत्त होते ही हैं; यथा—**'बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा॥ १। २१९।'**, **'मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥ २। ११५।'** तथा यहाँ **'निज पद दिए'''**।

नोट—१ **'निजपद नयन दिए मन।'** चरणोंपर ध्यान जमाये रहना त्रिदंड संन्यासका लक्षण है। मन, वचन, कर्म तीनोंका निरोध करना त्रिदंड संन्यास है। पुनः, दोनों चरणोंके अङ्गुष्ठोंके मध्यमें नेत्रोंको स्थिर करना यह योगाङ्गसिद्ध उन्मनी मुद्रा है, इससे जानकीजीकी योगावस्था जनायी। **'कृस तन सीस जटा एक बेनी'** यह योगियोंका लक्षण है। निज पदोंमें श्रीरघुनाथजीके चरणोंका अध्याहार है।

२ शङ्का—यहाँ ग्रन्थकारने चरणोंका विशेषण कमल क्यों नहीं दिया? समाधान—जिस समय श्रीराघवजी मृगके पीछे दौड़े, उस समय श्रीजानकीजीने उनके चरणोंको कमलवत् कोमल नहीं समझा था, नहीं तो रोक रखतीं और यह ध्यान उसी रूपका है; अतः कमल विशेषण न दिया। पुनः उसी छबिके स्मरणद्वारा भाव यह जनाया कि जैसे मेरे वचनको मान आप मृगके पीछे दौड़े, पृथ्वीकी कठोरताको तनिक भी नहीं विचारा और चरणोंकी कोमलताको भी स्मरण न किया; उसी प्रकार इस समय भी आप अपने चरणोंकी कोमलताको न स्मरण कीजिये, आइये और मेरा क्लेश दूर कीजिये। पुनः,

* चरन महुँ—१७२१, १७६२, कोदवराम। चरन महँ—छ०। कमल पद—का०। १७०४, दुलही।

संन्यासियोंके लिये सब रसोंका त्याग लिखा है, जानकीजी संन्यासावस्थामें हैं। कमल सरस, सुगन्ध तथा परागमय होता है, अतः भगवत्प्राप्तिमें रसोंको बाधक जान आचार्यने कमलकी उपमा नहीं दी। (मा० त० सु०)। पुनः धर्मशास्त्रका आदेश है कि जिस स्त्रीका पति परदेशमें हो उसे पुष्पमाला, इत्र, क्रीड़ा, शरीर-संस्कार, समाजोत्सवमें सम्मिलित होना, गाना, ताम्बूल, स्निग्ध, उत्तेजक भोजन, विनोद आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।—'**क्रीडाशरीरसंस्कारसमाजोत्सवदर्शनम्। हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका॥**' (याज्ञवल्क्यस्मृति)। इसके अनुसार पुष्प एवं सौगन्धिक होनेसे '**कमल**' का स्मरण होना प्रोषितपतिकाके धर्म-व्याघातका कारण होता है। यदि इस समय एकान्तमें वे चरणोंको कमलवत् स्मरण करतीं तो कमलके पुष्पत्व एवं सौगन्धिकत्वका स्मरण होना अनिवार्य था जो उनके लिये शास्त्रवर्जित होनेसे धर्मघातक माना जाता इसीसे चरणके साथ 'कमल' विशेषण न तो यहाँ है और न आगे '**अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना**' में। (वेदान्तभूषणजी)।

३—पंजाबीजीका मत है कि 'निज पद' में नेत्रोंको लगानेका भाव यह है कि तुम ही हमारे बन्धनके कारण हो; यदि श्रीलक्ष्मणजीकी खींची हुई रेखाका उल्लङ्घन तुम न करते तो मैं इस दशाको न प्राप्त होती। और मनको श्रीरामचरणमें लगानेका भाव यह कि मानो मनसे कहती हैं कि तेरी ही प्रेरणासे ये चरण-कमल मृगके पीछे धाये। अथवा, नेत्रोंको चरणोंके सम्मुख इस विचारसे किया कि नेत्र द्वार हैं और चरण कपाट हैं, ये उनको बाहर न जाने देंगे; तथा मन प्रभुके चरणोंसे प्रार्थना करता है कि शीघ्र प्रयत्न करके आइये और हमारे दुःखको छुड़ाइये। पुनः, चरण ही वियोगमें संयोग करानेवाले हैं, अतः उनमें मनको लीन किया। (पां०)।

४—श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि नेत्रोंको चरणोंमें लगाना यह स्त्रियोंकी मुद्रा है और नेत्रोंसे नासिकाके अग्रभागको देखना पुरुषोंकी मुद्रा है।

टिप्पणी—२ पूर्व कहा कि '**जपति हृदय रघुपति गुनश्रेनी**' अर्थात् रामनाममें मन लगा है और यहाँ कहते हैं कि रामचरणमें मन लगा है। एक ही समयमें मन दो जगह नहीं लग सकता, यह सामर्थ्य जीवमें नहीं है; ये ईश्वर हैं; अतः इनको यह सामर्थ्य है। (प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि मन दो प्रकारका होता है, एक बाह्य मन, दूसरा आन्तर्मन। बाह्य मन स्थूल है, वही चरणचिह्नोंमें लीन है। आन्तर्मन गुणश्रेणीका चिन्तन कर रहा है। एक मन तो यह विचार कर रहा है कि मेरे लिये प्रभुने कठोर शिवचापको तोड़ा, परशुरामका गर्व चूर किया, जयन्तकी आँख फोड़ी पर मुझे छुड़ाने क्यों नहीं आते हैं, इत्यादि। वे रघुपति हैं, अपने कुलकी कीर्तिके लिये वे अवश्य आयेंगे, इत्यादि।)

३—'**परम दुखी भा पवनसुत ··**' इति। (क) भाव यह कि बिना देखे दुखी थे और अब दीन दशा देखकर 'परम दुखी' हुए। (ख)—पवनसुत दुखी हुए। भाव यह कि '**पवनतनय बल पवन समाना**' अर्थात् ये परम बलवान् हैं पर यहाँ कुछ भी पराक्रम करनेका मौका इस समय नहीं है; इससे दुःख सह रहे हैं कि बल होते हुए भी कुछ नहीं कर सकते।

नोट—४ यथा (गीतावली पद ५)—'**सुवन समीरको धीर धुरीन बीर बड़ोइ। देखि गति सिय मुद्रिका की बाल ज्यों दियो रोइ॥ १॥ अकनि कटु, बानी कुटिल की क्रोध बिंध्य बढ़ोइ। सकुचि सम भयो ईस आयसु कलसभव जिय जोइ॥ २॥ बुद्धिबल साहस पराक्रम अछत राखे गोइ। सकल साजसमाज साधक समउ कहैं सब कोइ॥ ३॥**' (सुं०)।—यहाँ द्वितीय उल्लास अलंकार है। इसी प्रकार वाल्मी० सुं० १६। २८ में श्रीहनुमान्‌जीके स्वयं वाक्य हैं कि सुख भोगने योग्य इन जानकीजीको दुखी देखकर मेरा कलेजा मारे दुःखके फटा जाता है; यथा—'**सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथितं मनः।**

टिप्पणी—४ 'जानकी' नामका भाव यह कि रात-दिन जागना, एक आसनपर निरन्तर बैठे मन्त्र जपना और मनको भगवान्‌में लीन करना ये योगीके काम हैं, सो ये कर रही हैं। यह यथार्थ ही है क्योंकि ये योगिराज जनकजीकी कन्या हैं—'**जनको योगिनां वरः।**'

५—इस प्रसङ्गके आदि और अन्त दोनोंमें दुःख ही कहा—'**जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥ ८। १।**' उपक्रम है और '**परम दुखी भा··**' उपसंहार। भाव यह कि स्वामीको भुलाकर दुःखी होना इन्होंने अङ्गीकार न किया, वरन् उनके विरहमें दुखी बनी रहना स्वीकार किया इसीसे प्रभु भी दुखी हुए। ☞ यह ग्रन्थकारका उपदेश है। [यह दोहरा दोहा मिश्रित छन्द है]

'**लंका कपि प्रबेस जिमि कीन्हा**' प्रसङ्ग समाप्त हुआ।

'पुनि सीतहि धीरजु जिमि दीन्हा'—प्रकरण

तरु पल्लव महुँ रहा लुकाई। करै बिचार करौं का भाई॥ १॥

अर्थ—वृक्षके पत्तेमें छिप रहे और विचार करते हैं—अरे भाई ! क्या करूँ ? (अर्थात् सीताजी नीचेकी ओर दृष्टि किये हुए समाधि-अवस्थामें हैं और बहुत-सी राक्षसियाँ इनकी रक्षा कर रही हैं, ऐसेमें इनका शोक मैं क्योंकर दूर करूँ ?) ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ पल्लव एकवचन है। इतना सूक्ष्मरूप है कि एक ही पल्लवमें छिप गये। छिपे कि जिसमें राक्षसी न देख पावें। पुनः, रावणका आगमन जानकर छिप रहे।

नोट—१ वाल्मी० सुं० १८। ३२ 'पत्रगुल्माभ्यान्तरे सक्तो हनुमान्संवृतोऽभवत्।' रावणका आगमन देखकर सघन पत्तोंमें छिपना कहा गया है। बाबा हरिदासजीका मत है कि वे श्रीसीताजीका दुःख न देख सके अतः छिप गये अथवा क्या करना कर्त्तव्य है यह विचार करनेके लिये एकान्तमें हो गये जिसमें मन दूसरी ओर न जाय। अथवा, जैसे लंकिनीने मुझे, अतिलघुरूप होनेपर भी देख लिया था वैसे ही यहाँ कोई निशाचरी मुझे न देख ले, यह सोचकर पल्लवके भीतर छिप रहे।

नोट—२ 'करै बिचारु' इति। भाव यह कि श्रीजानकीजी तो सिर उठाती ही नहीं, दृष्टि चरणोंसे हटाती ही नहीं और ध्यानमें मग्न हैं तब मुद्रिका इनके पास कैसे पहुँचाऊँ, दूसरे राक्षसियाँ पहरा दे रही हैं; कुछ समझमें नहीं आता कि क्या किया जाय। ऐसी ही अवस्थामें प्रायः 'करउँ का भाई' ऐसा स्वतः मनमें विचार उठ पड़ा करता है।

टिप्पणी—२ 'करै बिचारु' से हनुमान्‌जीकी बुद्धिमत्ता जनायी। ये बड़े बुद्धिमान् हैं, विना विचारे काम नहीं करते। इनके विचारके उदाहरण ये हैं—'इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। रामकाज सुग्रीव बिसारा॥ ४। १९।', 'कपि करि हृदय बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब। ५। १२।', 'ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा कपि मन कीन्ह बिचार। ५। १९।' तथा यहाँ विचार करनेका तात्पर्य यह है कि विचारकर कार्य करनेसे कार्य सिद्ध होता है।

३—'करौं का भाई' इति। 'भाई' मनका सम्बोधन है; बोलने और विचार करनेकी यह भी एक रीति है।

नोट—३ 'जग बहु नर सर सरि सम भाई। १। ८।', 'जो नहाइ चह एहि सर भाई। १। ३९।', 'करहिं बिचारु करउँ का भाई॥ १। ५२।', 'होइहि जात गहरु मोहि भाई। १। १३२।' इत्यादि सबोंमें मनके प्रति सम्बोधन 'भाई' शब्दसे किया गया है। यह बोलचालका मुहावरा है। पांडेजी कहते हैं कि—वृक्ष और वानरका सम्बन्ध है अतः 'भाई' कहा। अथवा, 'का भाई' अर्थात् समयानुकूल श्रीजानकीजीको क्या भावेगा जो मैं करूँ ?

तेहि अवसर रावन तहँ आवा। संग नारि बहु किये बनावा॥ २॥

अर्थ—उसी समय रावण वहाँ आया। बहुत बनाव (शृङ्गार) किये हुए है और बहुत-सी बनी-ठनी स्त्रियाँ उसके साथ हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'तेहि अवसर···' इति। [अर्थात् जिस समय श्रीहनुमान्‌जी विचारधारामें पड़ गये, उसी समय। ☞जब भगवद्भक्तोंको असमंजस आ पड़ता है कि क्या करें, उस समय भगवत्कृपा उनकी सहायता करती है। 'तरुपल्लव' में इनका छिपना भी मानस-मतानुसार हरि-इच्छासे ही हुआ और] रावणका इस प्रकार इसी अवसरपर (और सम्भवतः आज ही प्रथम-प्रथम) आगमन भी प्रभुकी प्रेरणासे हुआ। [इस ग्रन्थमें ही बहुत-से उदाहरण ऐसे हैं जिनमें भगवद्भक्तोंको असमंजसके कुयोग ही सुयोगरूप हो गये। जैसे—(क) किष्किन्धाकाण्डमें जब 'मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जलपाना॥ ४। २४।' तब विवर देख पड़ा जिसमें जानेपर तपपुंज स्वयंप्रभाका दर्शन हुआ जिसने समुद्र-तटपर सबको पहुँचा दिया। (ख) 'डरपे गीध बचन सुनि काना। अब भा मरन सत्य हम जाना॥ ४। २७।' यह कुयोग होनेपर उसी संपातीसे श्रीसीताजीका पता मिला। (ग) 'मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला। ५। १२।' उस परम विरहाकुल दशामें 'मुद्रिका' मिलनेका सुयोग हुआ। (घ) मेघनाद जब हनुमान्‌जीको नागपाशमें बाँधकर ले गया और इनकी पूँछ जली तब 'जारा नगरु निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥' यह सुयोग हुआ। इत्यादि। वैसे ही यहाँ रावणका एकायकी (अकस्मात्) आगमन, त्रिजटाका स्वप्न सुनाना और श्रीसीताजीका अशोकसे अंगार माँगना—यह सुयोग हुए। (मा० त० भा०)।]

२—'**रावन तहँ आवा**' इति। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि रातको चौथे पहरमें रावणको स्वप्न हुआ कि एक वानर श्रीजानकीजीके समीप आया है और उनसे बातें कर रहा है अतएव वह जागते ही तुरंत स्त्रियोंको लिये हुए वहाँ आया। (वाल्मीकीयमें स्वप्नका उल्लेख नहीं है, पर सोकर उठते ही श्रीसीताजीके पास आना उसमें भी है)।

नोट—१ अध्यात्मरामायण सर्ग २ श्लोक १३ और १४ में रावणको स्त्रियोंसहित आते देखकर हनुमान्‌जीका पत्तोंमें छिपना कहा गया है और मानस कविने छिपनेके पश्चात् रावणका आगमन कहा है, जब वे विचारमें पड़े हुए थे कि क्या-क्या उपाय श्रीजानकीजीसे मिलनेका करूँ। श्लोक १७ में रावणका स्वप्न है। यथा—'**स्वप्ने रामेण सन्दिष्टः कश्चिदागत्य वानरः। कामरूपधरः सूक्ष्मो वृक्षाग्रस्थोऽनुपश्यति ॥१७॥**' आनन्दरामायण सारकाण्ड सर्ग ९ में भी रावणका स्वप्न इत्यादि है। यथा—'**ददर्श रावणः स्वप्ने कपिः कश्चित्समागतः। अशोकवनिकायां स दृष्टा तेन विदेहजा ॥ ६९ ॥ रामहस्तान्मृतिः शीघ्रं लब्धुं धर्षयाम्यहम्। कपिर्दृष्ट्वा राघवाय निवेदयतु मत्कृतम् ॥ ७० ॥ आगमिष्यति तच्छ्रुत्वा रामो मां निहनिष्यति। इति निश्चित्य संययौ स्त्रीभिः संवेष्टितो मुदा ॥ ७१ ॥**'

टिप्पणी—३ '**संग नारि बहु किये बनावा**' इति। ये सब स्त्रियाँ उसकी रानियाँ हैं, यह बात कविने आगे स्वयं स्पष्ट कर दी है, यथा—'**मंदोदरी आदि सब रानी। तव अनुचरी करउँ पन मोरा ॥ ९ । ४-५ ।**' बालकाण्डमें कहा था कि '**देव यक्ष गंधर्व नर किन्नर नागकुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर बर नारि ॥ १८२ ।**' वही सब ये स्त्रियाँ हैं जो इसके साथ हैं। संग लाया, जिसमें जानकीजी जानें कि रावण स्त्रियोंको बहुत सुख देता है। '**बहु किए बनावा**' जिससे बनाव देखकर मोहित हो जायँ। स्त्रीको मोहित करनेके लिये पुरुष शृङ्गार करते हैं और पुरुषको मोहित करनेके लिये स्त्रियाँ शृङ्गार करती हैं। स्त्रियोंको शृङ्गार कराये हुए है जिसमें उन्हें देखकर मेरे वश हो जायँ और स्वयं शृङ्गार किये है, जिसमें जानें कि बड़ा ऐश्वर्यमान् है और बड़ा सुन्दर है। [वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि वह रावण समस्त आभूषणोंको पहननेके कारण अपूर्व शोभायुक्त था और परम रूपवती स्त्रियोंसे घिरा हुआ ऐसा देख पड़ता था जैसे तारागणोंसे घिरा हुआ चन्द्रमा सुशोभित हो। यथा—'**स सर्वाभरणैर्युक्तो बिभ्रच्छ्रियमनुत्तमाम्।५।१८।६।**', '**वृत्तः परमनारीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः।५।१८।२९।**]'

नोट—२ ☞ रावणने जो संकल्प किया था कि '**तौ मैं जाइ बैर हठि करिहौं**' '**मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा**', इसीको निबाहनेके लिये कुछ महानुभावोंने यह मानकर कि रावणके हृदयमें सीताजीके प्रति कामचेष्टा कदापि न थी, इस प्रसंगके भावार्थ दूसरी तरह किये हैं। अध्यात्ममें भी लिखा है कि अपनी मृत्यु शीघ्र रामजीके हाथों हो, इस विचारसे स्वप्न देखनेपर उसने निश्चय किया कि मैं अपने वचन-बाणोंसे सीताजीको बेधूँ जिसमें वानर शीघ्र श्रीरामजीको जाकर ले आवे।

३—जो अर्थ रावणको भक्त मानकर किये गये हैं वे क्लिष्ट हैं। उनको इस ग्रन्थमें गुप्तार्थ (रावणपक्षका अर्थ) शब्दसे सूचित किया जायगा।

४—गुप्तार्थ—'**संग नारि बहु किए बनावा।**' इनको साथ ले जानेका कारण यह है कि सीताजी रावणकी इष्टदेवता हैं। वह सोचता है कि मेरी मुक्ति तो प्रभुके शरसे मारे जानेसे हो ही जायगी पर इनकी मुक्ति कैसे होगी ? इनको ले जाकर शरणागत करा दूँ, इनकी कृपा हो जानेसे इनकी मुक्ति हो जायगी; इसीसे आगे कहेगा कि '**तव अनुचरी करौं**', आपकी दासी इनको बनाता हूँ। पुनः साथ ले जाकर स्त्रियोंको शिक्षा देता है कि देखो पतिव्रता ऐसी होती हैं। पुनः, सांसारिक प्राणियोंको अपने द्वारा उपदेश देता है कि अपनी परमपूज्या देवीके समीप भी जाय तो एकान्तमें अकेले कभी न जाय; अतएव वह इष्टदेवीके पास भी इतनोंको साथ लेकर गया। (मा० त० मु०)

५ प० प० प्र०—रावण किस हेतुसे आया इसमें मतभेद होनेपर भी मानसके पूर्वापर संदर्भानुसार यह निश्चित है कि वह कामवासनासे नहीं आया। '**मन महुँ चरन बंदि सुख माना। ३ । २८ । १६ ।**' के टिप्पण देखिये। रावण भी अवतार है, यथा—'**कहेसि बहुरि रावन अवतारा। ७ । ६४ ।**' श्रीरामजी अवतार हैं। दोनों अपना अवतारित्व छिपाकर लीला करते हैं। एक राक्षसलीला करता है दूसरे नरलीला करते हैं। '**तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥**' '**मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा।**', ये रावणके विचार हैं। मनमें दृढ़ संकल्प किया है। यहाँ कर्मसे और वचनसे वैर-विरोध बढ़ानेके लिये ही आया है। रावण सीताजीका भक्त था ऐसा मानना भी सुसंगत नहीं है।

बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दान* भय भेद देखावा ॥ ३ ॥

* दान—१७०४, का०, १७२१, भा० दा०, १७६२, र० दास, बं० पा०। दाम—कोदवराम, ना० प्र०।

अर्थ—उस दुष्टने बहुत प्रकार सीताजीको समझाया। साम, दाम, भय और भेद दिखाया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'खल' कहनेका भाव कि खलता (दुष्टता) से साम दान समझाया और 'खलता' से भय और भेद दिखाये । (ख) 'बहु बिधि' इति। जैसे रावणने समझाया वैसा गोस्वामीजी न लिख सके क्योंकि उसकी वार्ता अधर्ममय है। अधम बात है, इससे इतना ही कहा कि 'बहु बिधि समुझावा' । पहले भय और प्रीति दिखाकर हार गया है, यथा—'हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ। ३ । २९ ।' अतः अब बहुत बिधिसे समझाकर भय और प्रीति दिखाता है ।

२—रावण राजा है। राजाके उरमें नीति बसती है, यथा—'साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ॥ ६ । ३७ ।' अतएव इन चारोंको दिखाया। क्रमसे इन चारोंके उदाहरण ये हैं—(क) 'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी'; (ख) 'मंदोदरी आदि सब रानी । तव अनुचरी करौं पन मोरा ।', (ग) 'कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना', (घ) 'संग नारि बहु किए बनावा ।'

३—'देखावा' का भाव कि मारता नहीं है, भय दिखाता है कि हम ऐसे हैं, हमारे साथ बहुत-सी रानियाँ हैं, हम इनको सब प्रकार सुख देते हैं और तुम एक ही रहीं तो भी राम तुम्हारी रक्षा न कर सके। उसको पूरी आशा है कि वे उसके अनुकूल हो जायँगी ।

नोट—१ 'खल' शब्द मात्र देकर जना दिया है कि उसकी सब वार्ता अधर्ममय थी। वाल्मीकिजीने अध्याय २० और २२ में लिखा है वह सब गोस्वामीजीने इन दो चरणोंमें कह दिया।

☞लमगोड़ाजीकी धारणा ठीक ही है कि श्रीमद्गोस्वामीजी अपने सबसे सुन्दर आलोचक हैं। प्रत्येक प्रसङ्ग, वक्रता वा वक्तव्यपर यदि हम उन्हीं पूज्य कविके विचार देख लें तो आजकलकी बहुत-सी ऊटपटाङ्ग शंकाएँ और आलोचनाएँ करके लोग हमें दुखी न करें । आगेकी वक्रता (वक्तव्य) की क्या इससे उत्तम और विवेचना हो सकती है?

२—गुप्तार्थ—'सर्वेश्वरी' जानकर भी समझाने लगा, इसीसे उसे 'खल' कहा। गुप्त अर्थ यह है कि—'श्रीसीताजीको समझाया कि मैं बहुत प्रकारका खल हूँ ।' (मा० त० सु०) ।

३—पूर्वार्ध पायकुलक है और उत्तरार्ध स्वागता है।

कह रावन सुनु सुमुखि सयानी । मंदोदरी आदि सब रानी ॥ ४ ॥
तव अनुचरी करउँ पन मोरा । एक बार बिलोकु मम ओरा ॥ ५ ॥

अर्थ—रावणने कहा—हे सुमुखी ! हे सयानी ! सुनो । मन्दोदरी आदि सब रानियोंको तुम्हारी दासी बना दूँगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है, तुम एक बार मेरी ओर देख दो ॥ ४-५ ॥

टिप्पणी—१ 'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी···' इति। (क) 'सुमुखि' का भाव कि पुरुष स्त्रीके मुखपर मोहित होता है, यथा—'जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मन तव आनन चंद चकोरू ॥ २ । २६ ।', 'अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा । सिय मुख ससि भये नयन चकोरा ॥ १ । २३० ।', 'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सियमुख सरिस देखि सुख पावा ॥ १ । २३७ ।', और, 'सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि। बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट ॥ ७ । ११५ ।' इत्यादि । रावण सीताजीके मुखपर मोहित होकर मन्दोदरी आदि सब रानियोंको उनकी अनुचरी करता है। 'सयानी' का भाव यह है कि ऐसे लाभको शीघ्र ग्रहण करना उचित है, चूको मत, इसका त्याग न करो ।

नोट—१ 'सुमुखि···' के और भाव—(१) तुम्हारा सुन्दर मुख तपस्वीके योग्य नहीं है; यथा—'किं करिष्यसि रामेण सुभगे चीरवाससा ॥ वाल्मी० ५ । २० । २५ ।' (२)—यहाँ रावण केवल 'सुमुखि' कहता है और किसी अङ्गसे विशेषण नहीं देता। कारण कि महारानीजी अपने सब अङ्गोंको छिपाये, दोनों घुटनोंके बीच अपना सिर किये अपने पैरोंको देख रही हैं और दोनों हाथोंसे दोनों घुटनोंको बाँधे हैं; इसलिये उसे और कोई अङ्ग दिखायी नहीं पड़ता। मुख कपड़ेके भीतर होनेपर भी चमकता है; अतएव 'सुमुखि' कहा । 'सयानी' का अभिप्राय कि यदि ये मानवी हैं तो मेरी बातोंमें आ जायँगी और यदि ईश्वरी हैं तो बातोंमें न आयेंगी; मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। (रा० शं०) (३)—तुम 'सयानी' अर्थात्

चतुर हो, समझ लो कि यदि अभी कहना मान लोगी तो इन सबोंको तुम्हारी दासी बना दूँगा नहीं तो तपस्वियोंको जीतकर जब तुम्हें रानी बनाऊँगा तब तो इन सबोंकी दासी बनाकर रक्खूँगा ।

नोट—२ गुप्तार्थ—'सुमुखि' का भाव कि इसी मुखके आशीर्वादसे जीवोंका कल्याण है; हमारे कल्याणका मुख्य कारण आपका मुख है। 'सत्यसंध प्रभु बध करि एही। आनहु चरम कहत बैदेही॥ तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन॥ जब आपने हमारे कल्याणके लिये कहा, तब प्रभु अभिप्राय लखकर उठे। 'सयानी' अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं; जिस कारण यहाँ आयी हैं वह जानती ही हैं। 'तव अनुचरी करउँ' अर्थात् इनको दासी स्वीकार कीजिये। 'पन मोरा' क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा तो, अपने ही उद्धारके लिये है। यदि आप कहें कि प्रभु जानें, मैं क्या करूँ, इसलिये कहता है कि यदि आप कृपाकटाक्ष कर दें तो बिना परिश्रम मुक्त हो जाऊँ, नहीं तो प्रभुको और मुझको दोनोंको श्रम होगा। (मा० त० सु०)।

टिप्पणी—२ (क) 'मंदोदरी आदि सब रानी।' इति। 'मंदोदरी आदि' मन्दोदरीको आदिमें कहनेका भाव यह कि मन्दोदरी रावणकी समस्त रानियोंमें श्रेष्ठ और परम सुन्दरी है; यथा—'मय तनुजा मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा॥ १। १७८।' (ख) 'तव अनुचरी करउँ पन मोरा।' इति।—'अनुचरी करउँ' का भाव कि ये तुमसे 'सवति भाव' न रक्खेंगी, तुम्हारी दासी बनकर तुम्हारी सेवा करेंगी। ☞ सौतें कभी दासी बनकर नहीं रहतीं, वे अपना पतिका सुख कदापि नहीं छोड़ना चाहतीं; यथा—'नैहर जनमु भरब बरु जाई। जिअत न करबि सवति सेवकाई॥ २। २१।'; अतएव रावण कहता है कि मैं उनको दासी बना दूँगा। [वाल्मी० ५। २० में भी कहा है—'मम ह्यसितकेशान्ते त्रैलोक्यप्रवराः स्त्रियः। तास्त्वां परिचरिष्यन्ति श्रियमप्सरसो यथा॥ ३२॥' अर्थात् मेरे रनिवासमें तीनों लोकोंकी परम श्रेष्ठ स्त्रियाँ हैं वे सब तुम्हारी टहल इस तरह करेंगी जैसे अप्सराएँ लक्ष्मीजीकी करती हैं।] यह कहकर अपने वचनकी पुष्टिके लिये कहता है कि यह मेरा प्रण है; मैं प्रतिज्ञा करके सत्य कहता हूँ।—क्योंकि प्रण करके उसे न निबाहनेसे मनुष्य (और फिर नृपति।) अशोभित होता है; यथा—जानकीमंगले—'नृप न सोह बिनु बात नाक बिनु भूषन॥ ४१॥' और प्रतिज्ञाके असत्य होनेसे सुकृतोंका नाश होता है; यथा—'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। १। २५२।'; और सुकृतके नाशसे नरक होता है, इसीसे सुकृती लोग प्रणको पुष्ट रखते हैं। यथा—'सत्य सत्य प्रन सत्य हमारा', 'कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ', 'भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी' और 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह' इत्यादि।

३—'एक बार' का भाव कि यह सब केवल एक बार दृष्टि करनेका मोल है। अथवा, रावणकी ओर श्रीजानकीजी कभी नहीं देखतीं, अतएव एक बार अवलोकन करनेकी प्रार्थना करता है। अथवा, बहुत बनाव किये है सो उसीको दिखाना चाहता है और वे देखती नहीं, नीचेकी ही ओर दृष्टि किये हैं, अतएव एक बार देखनेको कहा।

नोट—गुप्तार्थ—'एक बार बिलोकु' में गुप्त भाव यह है कि एक बारहीके कृपावलोकनसे मेरा तामसी स्वभाव नष्ट हो जायगा और मैं विषयोंसे विरक्त होकर स्त्रियोंको त्यागकर भक्तिमें लग जाऊँगा।

तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही॥ ६॥

अर्थ—तिनकेकी ओट (आड़, परदा) करके और अपने परम स्नेही अवधपति श्रीरामजीका स्मरण करके वैदेही श्रीजानकीजी कहती हैं—॥ ६॥

* 'तृन धरि ओट कहति' *

सती स्त्रीको परपुरुषकी ओर देखना निषेध है; यदि बात करना पड़े तो परदेसे करे; यह मर्यादा पतिव्रताओंके लिये रक्खी गयी है। इस समय श्रीजानकीजीके शरीरपर अच्छी तरह तन ढकनेको कपड़ा भी नहीं है; परदेकी तो बात ही क्या ! अतएव उन्होंने तृणका ओट करके बात की, सम्मुख नहीं। वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणोंमें भी तृणकी ओटसे बात करना पाया जाता है; यथा—'तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता। वाल्मी० ५। २१। ३।', 'उवाचाधोमुखी भूत्वा निधाय तृणमान्तरे। अध्यात्मे ५। २। ३१।'

तृणकी ओटसे बात करनेके अनेक भाव कहे जाते हैं—

(१) रावणने अयोग्य बात कही, अतएव उस पापात्मा दुष्टकी ओर देखना नहीं चाहतीं। अथवा, जैसे

रामजी सीताजीको छोड़ किसी दूसरी स्त्रीकी ओर स्वप्नमें भी दृष्टि नहीं डालते, यथा—'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी ॥ १ । २३१ ।।', 'न रामः परदारांश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति । वाल्मी० २ । ७२ । ४८ ।'; वैसे ही जानकीजी श्रीरामजीको छोड़कर किसी पुरुषकी ओर दृष्टि नहीं करतीं; यथा—'जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं ॥ ६ । १०८ ।।' 'यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात् । वाल्मी० ६ । ११९ । २५ ।' अतएव बातका उत्तर देनेमें तृणका ओट कर लिया। (पं० रा० कु०)।

(२) 'तृण' का अर्थ तुलसीशब्दार्थमें 'आँचर (अंचल)' और 'घूँघट' दिया है; यथा – 'मुख झँपन सारँग दमन सती उपरना जौन । आपदेन भिक्षालयन ये पाँचों तृण तौन ॥' [पुनः, यथा—'शिशु झँपन शारँग दहन चन्द्र अँगौछन जौन । विजय करन अरु क्षय करन तुलसी कह तृन तौन ॥' (रा० बा० दा०)]—तात्पर्य कि घूँघटकी ओटसे बात की। (मा० त० भा०)।

(३) तृणधरी=पृथ्वी । तृनधरि ओट=पृथ्वीकी ओट लेकर । अर्थात् मुख नीचे करके । [परंतु वाल्मीकीयके उद्धरणसे स्पष्ट है कि मुख नीचे किये थीं तब भी तृणकी ओटसे बोली थीं । ☞ मानसमें तृण शब्द अनेक बार आया है और तिनकेके ही अर्थमें । यथा—'बिछुरत दीनदयाल प्रिय तन तृन इव परिहरेउ । १ । १६ ।', 'तनु तिय तनय धामु धनु धरनी । सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी ॥ २ । ३५ । ८ ।।', 'राम बिलोकि बंधु कर जोरें । देह गेह सब सन तृन तोरें ॥ २ । ७० । ६ ।।', 'नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु'''। २ । १४२ ।', 'जो तृन तोरि लाज परिहरई । ३ । १७ । १८ ।', 'तृन समान सुग्रीवहि जानी । ४ । ८ । १ ।'; इत्यादि ।]

(४) वि० त्रि०—'तृण' का अर्थ तिनका ही है । वाल्मीकिजी भी यही कहते हैं—'तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता' । इसकी टीका रामाभिरामीमें उक्त है 'तृणमन्तरतः कृत्वा । परमपुरुषस्य साक्षात्सम्भाषणानर्हत्वात् ॥ भूम्यां किञ्चिदन्तर्धाय मूत्रादि विसर्जनवत् तृणान्तरेण तस्य मुखे प्रत्युत्तरदानम् । कथमस्य दुरात्मनो रजस्तमो भूतस्य मयि दुराशेति शुचिस्मिता ॥ प्रत्युवाचेति पुनरभिधानं प्रकारविशेषकथनार्थम् । एतेन तृणीकृत प्राणतया तृणतुल्यतमा रावणस्य ग्रहणाच्च निर्भयप्रत्युत्तरदानम् इति बोध्यम् ॥' भावार्थ यह कि परपुरुषसे साक्षात् सम्भाषण करना उचित न समझकर तृणको बीचमें करके बोलीं । जिस भाँति साक्षात् मूत्रपुरीषोत्सर्ग पृथ्वीपर नरकके तृणादिको अन्तर करके ही किया जाता है । इससे यह भाव भी है कि रावणको तृणके समान मानकर और अपने प्राणको तृणके समान मानकर निर्भय होकर रावणको प्रत्युत्तर दिया । अध्यात्ममें भी 'उवाचाधोमुखीभूत्वा निधाय तृणमन्तरे ।' कहीं-कहीं मैंने तृणके अर्थको अञ्चल आदि करते सुना है, अतः लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई ।

(५) 'तिनका सामने रखकर जनाती हैं कि तू, तेरा समस्त ऐश्वर्य, और तेरी समस्त रानियाँ ये सब तिनकेके समान तुच्छ हैं और जरा-सी देरमें तिनकेके समान नष्ट हो जायँगी । तुझे मैं तृणके बराबर भी नहीं समझती और यह कि मैं अपने प्राणोंको तृणके समान समझती हूँ, शरीरको तृणवत् त्याग वा भस्म कर दूँगी पर तेरी बात न मानूँगी । (पाँ०, शिला) । इत्यादि ।

नोट—'कहति बैदेही' इति । वाल्मीकिजीने भी यहाँ 'वैदेही' शब्दका प्रयोग किया है, यथा—'एवमुक्त्वा तु वैदेही रावणं तं यशस्विनी । ५ । २१ । ५ ।' अतः यहाँ 'वैदेही' और 'अवधपति' से वाल्मीकीयके शब्दोंका भाव ले सकते हैं । वे कहते हैं कि—'कुलं सम्प्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया । ५ ।' मैं उच्च कुलमें उत्पन्न हुई और पवित्रकुलमें ब्याही गयी । मैं ऐसा गर्हित कर्म कब कर सकती हूँ । वैदेही हूँ अर्थात् विदेहराजकी कन्या हूँ, उनके सुकृतोंकी मूर्ति हूँ, यथा—'जनक सुकृत मूरति बैदेही ।'; तब भला तेरी ओर कैसे देख सकती हूँ, 'वैदेही' शब्द बड़ा सारगर्भित है, विदेहराजकी कन्यापर प्रलोभनका क्या प्रभाव पड़ सकता है ?

टिप्पणी—१ 'कहति बैदेही०' इति । (क) 'वैदेही' से यहाँ 'विदेहपुरकी मर्यादा ग्रहण किये हुए' और 'अवधपति' से रघुकुलकी मर्यादाको ग्रहण किये हुए रावणसे बोलना सूचित किया । अथवा, भाव कि विदेहकी कन्या है, अतः माधुर्यके अनुकूल बोलीं । ☞ न बोलनेसे समझा जाता कि रावणके वचन उन्हें स्वीकार हैं; यथा—'चलेउ सुमंत्र राय रुख जानी । २ । ३९ ।', 'सीय सकुच बस उतरु न देई । सो सुनि तमकि उठी कैकेई ॥ २ । ७९ ।।', 'मौनं सम्मतिलक्षणम् ।'; अतएव वे बोलीं पर तृणको अपनी दृष्टिका लक्ष्य करके उसकी ओटसे बोलीं ।

(ख)—'तृन धरि ओट' के साथ 'वैदेही' शब्दका भाव यह है कि रावणने वैभव दिखाया उसपर तृण ओटमें धरकर लक्षित किया कि तेरा सब ऐश्वर्य तृणवत् है; क्योंकि विदेहकी कन्या हैं, विदेहजी त्रैलोक्यकी सम्पत्ति तृणके समान गिनते हैं। तब क्या उनकी कन्यापर कोई प्रलोभन असर कर सकता है? कदापि नहीं।

२—'सुमिरि अवधपति०' इति। (क)—रावणने लंकाके विभवका लोभ दिखाया और अपनेसे स्नेह करनेको कहा; अतएव 'अवधपति' और 'परमसनेही' का स्मरण करना कहा। भाव यह है कि लंकाके वैभवसे अवधका वैभव अधिक है और रावणसे रामजी अधिक हैं। कितने अधिक हैं, यह आगे कहती हैं—'सुनु रावन खद्योत प्रकासा।…'। रावण खद्योत है, उसका वैभव खद्योतके प्रकाशके समान है। और, रामजी भानु हैं, अवधका ऐश्वर्य सूर्यके प्रकाशके समान है। भाव कि तुझमें और श्रीरामजीमें तथा तेरे राज्य और श्रीरामराज्यमें जुगुनू और सूर्य तथा जुगुनूके और सूर्यके प्रकाशका-सा अन्तर है। 'अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई॥ २। ३२४॥'—ऐसे अवधके स्वामी हैं और वे ही जीवमात्रके 'परमसनेही' हैं; यथा—'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपाल।' अतः वे ही स्नेह करने योग्य हैं; यथा—'राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।' (इति विनये)। अतः 'अवधपति परम सनेही' का स्मरण करना कहा। [☞ मारीचने भी कपटमृग बनते समय श्रीरामजीको ही 'परम प्रीतम' कहा है, यथा—'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं। ३। २६।'; वैसे ही यहाँ 'परम सनेही' की ही ओर देखना और उन्हींके दर्शनसे सुखी होना यह अपना सिद्धान्त जनाया।] पुनः; (ख) 'अवधपति' के स्मरणका भाव कि आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं, धर्मके रक्षक हैं, दुष्टोंके दलनकर्ता और सज्जनोंको सुखदाता हैं; अतएव मेरे धर्मकी रक्षा कीजिये, मर्यादाकी रक्षा कीजिये, इस दुष्टसे मुझे बचाइये क्योंकि आप ही मेरे परम सनेही हैं। (ग) पुनः भाव यह है कि भक्त लोग जो कुछ भी कहते या करते हैं वह सब अपने स्वामीका स्मरण करके तथा उनके ही बलपर कहते-करते हैं। यथा—'बैठे सिव बिप्रन्ह सिरु नाई। हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई॥ १। १००॥', 'अस कहि नारद सुमिरि हरि गिरिजहिं दीन्हि असीस। १। ७०।', 'करि प्रनाम बोले भरत सुमिरि सीय रघुराज। २। २९७।', 'पैठा नगर सुमिरि भगवाना।' तथा यहाँ 'सुमिरि अवधपति०।' (घ)—[☞ पाँड़ेजी 'अवधपति' का अर्थ 'दशरथ' करते हुए यह भाव लिखते हैं कि श्रीरामजी दशरथजीके परम स्नेही हैं जैसे उन्होंने श्रीराम-प्रेमके कारण विरहमें शरीर छोड़ दिया वैसे ही मैं 'देहरहित' हो जाऊँगी]।

गुप्तार्थ—'तू तृणमात्र भी मेरी दयाका पात्र नहीं। रामकृपा बिना तू तृणवत् तुच्छ है; अतः अवधपति परमसनेहीको सुमिर। अवधमें शरीर छूटनेसे मुक्ति होती है और ये उसके स्वामी हैं; उनका स्मरण कर, वे अवश्य तेरा कल्याण करेंगे। यह न डर कि तू पापी है, क्योंकि शरणागतपर परम स्नेह करते हैं। सिवाय उनकी शरणके किसी प्रकार तेरा कल्याण न होगा।'

त्र० चं०—'अस०' आदि चौपाईका २३३ वाँ भेद है 'खल०' पायकुलक है।

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ *कि नलिनी करइ बिकासा॥ ७॥
अस मन समुझु† कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की॥ ८॥

अर्थ—हे दशमुख! सुन, क्या जुगनूके प्रकाशसे कभी कमलिनी‡ विकसित होती है?॥ ७॥ श्रीजानकीजी कहती हैं कि ऐसा मनमें समझ। अरे दुष्ट! तुझे रघुबीरके बाणकी खबर नहीं है?॥ ८॥

* कबहुँक—कोदवराम। † समुझु—१७०४, १७२१, १७६२; भा० दा०, छ०। समुझि—कोदवराम, वंदनपाठक।

नोट—शुद्ध संस्कृत 'नलिनी' शब्दका अर्थ है—'मूल पत्र-पुष्प-फल-सहित कमलवृक्ष', यथा—'मूलनालदलोत्फुल्ला फलैः समुदिता पुनः। पद्मिनी प्रोच्यते प्राज्ञैर्बिसिन्यादिश्च सा स्मृता।'—(अमरकोश पाद-टिप्पणी। श्रीमन्नालाल 'अभिमन्यु' M, A,)। 'नलिन' का अर्थ है 'कमल'। यहाँ श्रीसीताजीके नेत्र कमल हैं। जहाँ-तहाँ कमलपुष्पका ही सूर्यसे विकसित होना सुना जाता है; इससे जान पड़ता है कि 'नलिनी' का अर्थ गोस्वामीजीने कमल लिया है। अथवा, 'नलिनी' से कमलनेत्र युक्त श्रीसीताजी अभिप्रेत हैं, अथवा, श्रीसीताजीका शरीर कमलनालके सदृश कृश हो जानेके कारण 'नलिनी' शब्द दिया गया।

‡ सारूप निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा या अन्योक्ति अलंकार है। यहाँ प्रस्तुत वृत्तान्त तो यह है कि मैं तुझपर दृष्टि न

नोट—१ 'सुनु दसमुख' इति। 'दसमुख' शब्दके प्रयोगमें कितना सुन्दर कटाक्ष है। इसमें संकेत है कि तेरा वक्तव्य केवल बकवास है; विचार-शक्ति मानो तेरे दस शीशोंमें नहीं है, तेरे केवल **'दस मुख'** हैं। (लमगोड़ाजी)— **'अंधउ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस। ६। २१।'** से मिलान कीजिये।

टिप्पणी—१ **'खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी '** इति। रावणने जो कहा था कि **'एक बार बिलोकु मम ओरा'** उसीका वैदेहीजी उत्तर देती हैं कि तू जुगुनू है, हमारे नेत्र कमल हैं; अतएव वे कैसे विकसित हो सकें। अर्थात् तेरी ओर ये नेत्र नहीं खुलते। कमलिनीका विकास करनेवाले तो सूर्य ही हैं। वैसे ही मेरे नेत्र रघुनाथजीको देखकर प्रफुल्लित होंगे; मैं उन्हींको देख प्रसन्न हो सकती हूँ। पुनः, भाव कि जबतक भानुका उदय नहीं होता तभीतक जुगुनूका प्रकाश है, (वैसे ही जबतक श्रीरघुनाथजी यहाँ नहीं आते, तभीतक तेरी यह दुष्टता है; फिर न रहेगी)। पुनः जैसे कमलिनीके लिये एक सूर्य ही है, वैसे ही उत्तम पतिव्रताके मनमें अपना पति ही है, यथा—**'उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥ ३। ५।'** [वा, सीताजी कमलकी लता हैं; उनका मुख कमल है जो वे माता धरणीकी ओर झुकाये हुई हैं। जबतक दिनकर कुलदिवाकरका उदय न होगा, यह नलिनी अपने सिर-कमलको ऊपर उठाकर मुखकमलको विकसित न करेगी। (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—नलिनीका विकाश तो सूर्योदय होनेपर ही होता है, बीचमें उसका विकाश हो नहीं सकता, चाहे कोई उसकी एक-एक पँखुरी उखाड़ डाले, वह विकसित हो नहीं सकती। तू जुगुनू है, तेरा प्रकाश ही कितना है, नलिनी चन्द्रके प्रकाशको भी गिननेवाली नहीं। रावण 'सुमुखि' कहकर अपनी आसक्ति जनाता हुआ सम्बोधन करता है, भगवती 'दशमुख' कहकर अपनी घृणा द्योतित करती हुई सम्बोधन करती हैं।

जुगुनूसे उपमित करनेका कारण कहती हैं कि सूर्यके सामने उसका पता नहीं चलता, इसी भाँति श्रीरामजीके सामने तेरा पता नहीं था, उनके न रहनेपर चमकने आया है।

टिप्पणी—२ **'अस मन समुझु'** इति। (क) भाव कि जानकीजीने ऊपरकी चौपाईमें न साक्षात् रावणको खद्योत और न रामको भानु कहा था; पर इन शब्दोंसे साक्षात् कह दिया। कम प्रकाशकी अवधि खद्योत है और पूर्ण प्रकाशकी अवधि सूर्य। अतएव खद्योत और भानुकी उपमाएँ दीं। पुनः (ख)—भाव कि ऐसा मनमें समझ ले कि मैं (रावण) खद्योत हूँ और श्रीरामजी भानु हैं। अथवा, ऐसा समझ ले कि सूर्यके प्रकाशसे कमलिनी विकसित होती है, खद्योतसे नहीं। वैसे ही सती स्त्री परपुरुषसे प्रसन्न नहीं होती, अपने पतिको पाकर ही प्रसन्न होती है। रावणको सहस्रार्जुनने जन्तु-विशेष समझकर पकड़ा था। यथा—[**'धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषी। ६। २४। १५।'** इससे 'खद्योत' की उपमा बहुत फबती हुई है।]

नोट—२ जो भाव वाल्मी० ५। २१। १६, १७, १८, १९ में श्रीसीताजीके वचनोंमें है वही यहाँ **'कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा'** में है। अतः उन वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है। **'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा।'''अहमौपयिकी भार्या तस्यैव वसुधापतेः॥ १७॥ व्रतस्नातस्य विप्रस्य विद्येव विदितात्मनः॥ १८॥ वने वासितया सार्धं करेण्वेव गजाधिपम्॥ १९॥'** अर्थात् जैसे सूर्यकी प्रभा सूर्यको छोड़ और किसीकी अनुगामिनी नहीं हो सकती वैसे ही मैं राघवकी अनन्या पत्नी हूँ, उनको छोड़ दूसरेकी नहीं हो सकती। मैं एकमात्र उन्हींकी उपयुक्त भार्या हूँ। जैसे ब्रह्मविद्या एकमात्र व्रतस्नायी ब्राह्मणके ही योग्य है। तथा जैसे वनमें बिछुड़ी हुई हथिनी हाथीको पाकर ही आनन्दित होती है, वैसे ही मैं राघवको पाकर ही प्रसन्न हो सकती हूँ।

गूढ़ार्थ—(क) मेरी कृपारूपी कमलिनी उसीपर विकसित हो सकती है जिसके हृदयमें रामरूपी सूर्यका प्रकाशरूपी ज्ञान हो। तू मेरी कृपाके योग्य नहीं। वा, (ख)—मेरी कृपारूपी जुगुनूसे तेरा कुलरूपी कमलवन नहीं खिल सकता, वह तो रामरूपी सूर्यसे ही खिल सकता है। अतः 'अवधपति परम स्नेही' को सुमिर, उनकी शरण जा। यथा—**'वधं चानिच्छता घोरं त्वयाऽसौ पुरुषर्षभः। विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः॥'** वाल्मी० ५। २१। २०।' अथवा, (ग)

डालूँगी। सीताजी यह अपना वृत्त कमलिनीपर ढारकर रावणसे कह रही हैं। 'कबहुँ कि' में वक्रोक्ति है। प्रसन्नराघव नाटकमें भी कहा है—'अपि खद्योतभासाऽपि समुन्मीलति पद्मिनी' (अङ्क ६। २८)। यहाँ रामजी सूर्य, रावण जुगुनू और सीताजीकी कृपादृष्टि वा सीताजी कमलिनी हैं।

तेरा प्रण जुगुनूवत् अल्पज्ञानका प्रकाश है, उससे मेरी कृपारूपिणी कमलिनी तेरे लिये विकसित नहीं हो सकती। (घ) 'अस समुझु'=जो मैंने पूर्व कहा है कि **'सुमिरि अवधपति परम सनेही'** और **'खद्योत प्रकासा कबहुँ कि नलिनी विकासा करहिं'** उसीको मनमें कल्याणका परमोत्तम मार्ग समझ। पुनः, (ङ) **'अस मन समुझु'** का भाव कि मेरा वचन अन्यथा नहीं है, मैं जनककी कन्या हूँ जिनके सम्बन्धमें ब्रह्मर्षि विश्वामित्रका वाक्य है कि **'बचन तुम्हार न होइ अलीका।'** (पं०)।

टिप्पणी—३ **'खल सुधि नहिं रघुबीर बानकी।'** इति। (क) रघुवीरके बाण खलोंके शालक होते हैं; यथा—**'हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं।'**···**जद्यपि मनुज दनुजकुल घालक। मुनिपालक खल सालक बालक॥ ३। १९।'**, **'खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा। ३। २८।'**, **'खल दल दहन चले'**··· इत्यादि। अतएव रावणको 'खल' सम्बोधन किया और कहा कि तुझे उनके बाणोंकी सुध नहीं है जो तू ऐसी बातें करता है। [भाव कि पहिले तुझे सरकारके उन बाणोंकी सुधि रही, जिसने तेरे समकक्ष खरदूषणको मारा, जिसके न रहनेपर भी, तू उनके आ जानेके भयसे कुत्तोंकी तरह डरता हुआ मेरे पास आया था। यथा—**'सो दसकंठ स्वान की नाईं। इत उत चितै चला भड़िहाई॥'**, आज तुम्हें वे बाण भूल गये। पर उन बाणोंको तेरा स्मरण है, यथा—**'तव सोनित की प्यास तृषित रामसायक निकर।'** (वि० त्रि०)] (ख)—शंका—अभी तो राम-रावणसे देखा-देखी भी नहीं हुई तब **'सुधि नहिं रघुबीर बान की'** कैसे कहा? समाधान—रावणने शूर्पणखासे सुना है, यथा—**'खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥'** पुनः, मारीचसे सुना है कि **'मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सत जोजन आयउ छन माहीं।'** पुनः वह स्वयं जानता है, यथा—**'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता'**; इसी डरसे तो उसने सूनेमें सीताहरण किया।

सठ सूने हरि आनेहि *मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही॥ ९॥

अर्थ—अरे शठ! तू मुझे सूनेमें हर लाया। तू अधम है, तुझे लज्जा नहीं आती?॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) **'निर्लज्ज'** और **'लाज नहिं तोही'** दोनोंका एक ही अर्थ है। यह लोकोक्ति है; ऐसा प्रायः बोला जाता है कि तुम बड़े निर्लज्ज हो, तुमको लज्जा नहीं आती, ठीक वैसा ही ज्यों-का-त्यों गोस्वामीजीने लिखा है। अथवा, कोप, विषाद या विस्मयकी वीप्सासे पुनरुक्तिमें दोष नहीं होता। यहाँ कोपकी वीप्सा है। (ख) **'सूने हरि आनेहि'** अर्थात् चोरकी तरह छल करके ले आया, रेखा न लाँघ सका, न सम्मुख युद्ध ही कर सका।

☞२ (क) **'सठ सूने हरि आनेहि मोही'** इस पदका सम्बन्ध सब वचनोंके साथ है। यथा—भानुके सूनेमें खद्योतका प्रकाश है, इसीसे भानुके सूनेमें तू मुझे हर ले आया। पुनः, रघुवीरके बाणकी तुझे सुध नहीं कि जिनके बाणके भयसे तू मुझे सूनेमें हर लाया। पुनः, अभी जबतक भानुका उदय नहीं होता तभीतक तेरा प्रकाश है। (ख) रावणने रामजीकी निन्दा की और अपनी वीरता कही; इसीसे कुपित होकर उसको खल, चोर, शठ, अधम और निर्लज्ज कहा है, यथा—**'जब तेहिं कीन्ह राम कै निंदा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा॥ ६। ३१।'** **'पुनि सकोप बोलेउ जुबराजा।'**··· **'रे त्रियचोर कुमारगगामी। खल मलरासि मंदमति कामी॥ ६। ३२।'** [अंगदजीने ये वचन रावणसे कहे हैं, वैसे ही यहाँ श्रीसीताजीने कहे]। **'नारीचौर्यमिदं क्षुद्रं कृतं शौटीर्यमानिना।'** (वाल्मी०)।'

प० प० प्र०—**'निर्लज्ज लाज नहिं तोही'** में न द्विरुक्ति है न वाक्प्रचार। भाव यह है कि तू पुरुषार्थकी बड़ी प्रशंसा कर रहा है पर मेरी चोरी करनेमें तुझे लाज न लगी और आज भी वैसा ही निर्लज्ज बना है। मानसके इस प्रसंगमें रावणने श्रीरामजीकी अल्प भी निन्दा नहीं की है, अतः अन्य रामायणोंके संदर्भसे श्रीरामजीकी निन्दा गृहीत समझना ठीक नहीं। कलियुगकी साधारण पतिव्रता भी रावणके समान **'सपदि मानु मम बानी'** आदि दुष्टवासनादर्शक शब्द सुनते ही आगबबूला हो जाती हैं। श्रीरामजीकी निन्दा ग्रहण करनेका अर्थ यह होगा कि रावणकी दुष्टवासना सुननेसे क्रोध नहीं आया और परनिन्दा सुननेसे आया।

नोट—१ वाल्मी० ५। २१। २९-३२ में सूनेमें हर लानेपर रावणको अधम और कुत्ता कहा है। यथा—**'जनस्थाने हतस्थाने निहते रक्षसां बले॥२९॥ असक्तेन त्वया रक्षः कृतमेतदसाधु वै। आश्रमं तु तयोः शून्यं प्रविश्य नरसिंहयोः॥३०॥**

* आनेसि—मा० म० कोदवराम।

गोचरं गतयोर्भ्रात्रोरपनीता त्वयाऽधम । ३१ ।'''शुना शार्दूलयोरिव । ३२ ।' अर्थात् तेरे जनस्थानके सब राक्षस जब मारे गये तब तुझसे कुछ करते-धरते न बना । अरे अधम ! तू कुत्तेकी तरह जब दोनों नरसिंह आश्रममें न थे मुझे चुरा लाया । अध्यात्मरामायणमें भी कहा है—'रावबाद्भिभ्यता नूनं भिक्षुरूपं त्वया धृतम् । रहिते राघवाभ्यां तु शुनीव हविरध्वरे ॥ हृतवानसि मां नीच तत्फलं प्राप्स्यसेऽचिरात् ॥ ३२ ।' अर्थात् निश्चय ही तूने राघवके भयसे भिक्षुकका रूप धारण किया था। जैसे कुतिया यज्ञशालासे हवि लेकर भागे, वैसे ही दोनों राघवोंके न रहनेपर तू मुझे हर लाया, इसका फल शीघ्र मिलेगा।

२—'रघुबीर बान' के भी अनेक भाव लोगोंने कहे हैं, पर वे केवल व्यासोंके वाग्विलास हैं। यथा (१) रघुवीरकी बानि कि भक्तके अपराधको नहीं सह सकते, अपना अपराध भले ही क्षमा कर देते हैं, अम्बरीषका अपराध करनेके कारण दुर्वासाकी क्या दशा हुई ? (२) रघुवीर रघुजीके वीर (पुत्र) अजके बाणकी सुध नहीं है कि जिस बाणसे भयभीत होकर तू लंकामें स्त्रियोंके बीचमें छिप रहा था। (३)—रघुवीर लक्ष्मणने जो बाणसे रेखा खींच दी थी जिसे लाँघनेका साहस तू न कर सका, यती बना। इत्यादि।

व्र० चं०—'सठ''' पादाकुलक, 'अधम''' नयमालिनी है।

नोट—३ 'सठ सूने हरि आनेहि''' इति। इसमें ध्वनिसे भाव यह भी निकलता है कि मुझे श्रीराम-लक्ष्मणजीकी अनुपस्थितिमें लाया और यहाँ सबोंसे यह प्रकट किया कि मैं दोनोंको जीतकर लाया; यह कलई तेरी आज मैं प्रकट किये देती हूँ। परस्त्रीको चुराना अधर्म है, यथा—'कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी परत्रिय कृत चोरी ॥ ६। २२।'; अतः अधम कहा। और भय, भेदकी बातें कहकर अपनी बारम्बार बड़ाई करता है, इससे निर्लज्ज कहा; यथा—'अब पति मृषा गाल जनि मारहु। ''तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी। ६। ३५।'

गूढार्थ—खलका भाव यहाँ अल्प ज्ञानवाला है। रघुवीरकी बानकी सुध नहीं है कि 'नीचहू से करत प्रीति सुपेमहू पहिचानी' और 'देखि दोष कबहुँ न उर आने' इत्यादि। ये सब प्रकारके वीरोंमें श्रेष्ठ हैं, अपना बाना नहीं छोड़ सकते। वे अवश्य दया करेंगे। पुनः, जिस बाणसे मरकर भव पार होनेकी तूने प्रतिज्ञा की है, क्या वह भूल गया ? उसीको स्मरण कर, उसीपर दृढ़ रह। यदि रावण कहे कि मैं उस प्रतिज्ञाको छोड़कर आपसे ही उद्धार चाहता हूँ, उसपर कहती हैं कि—'सठ सूने हरि आनेहि'''।' अर्थात् तूने बड़ी मूर्खता की। मुझे हर लाया, इससे अपने कार्यसिद्धिमें अधम (मूर्ख) निकला। इस अपने कार्यनाशक अधमतापर लज्जित नहीं होता, मुझसे बार-बार कहनेमें लज्जा नहीं लगती; अतएव निर्लज्ज है। उनके सूनेमें न लाता तो तुरत प्रतिज्ञा पूरी हो जाती। पुनः, 'सूने हरि' अर्थात् क्लेश हरनेवाले राघवके ज्ञानसे तेरा हृदय शून्य है, इसीसे तू मुझे यहाँ अकेले लाकर मुझसे कृपा चाहता है, बिना उनके मेरी कृपा नहीं हो सकती। यह उपदेश है कि दोनोंकी शरणागति बिना जीवका कल्याण नहीं।—(म० त० सु०)।

दो०—आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान।
परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन ॥ ९ ॥

अर्थ—अपनेको जुगनूके समान और रामचन्द्रजीको सूर्यके समान सुनकर और उनके कठोर वचनोंको सुनकर तलवार निकालकर अत्यन्त खिसियाया हुआ बोला ॥ ९ ॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ सुनना दो बार लिखा—'आपुहि सुनि खद्योत सम' और 'परुष बचन सुनि'। कारण कि जानकीजीने दो वचन कहे। एक तो 'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा''', दूसरे 'सठ सूने हरि आनेहि मोही। अधम'''।' पहलेके सम्बन्धमें 'आपुहि सुनि''' पूर्वार्द्ध कहा और दूसरेके सम्बन्धमें 'परुष बचन सुनि''' उत्तरार्द्ध कहा। (ख) 'अति खिसियान' का भाव कि 'खद्योत सम' सुनकर 'खिसियान' और 'परुष बचन' सुनकर 'अति खिसियान'। खिसियानेका कारण यह कि कुछ उत्तर न बन पड़ा; इसी खिसियानको मिटानेके लिये तलवार निकालकर मारनेकी धमकी दी। (ग) रावण सदा अपनी न्यूनता और शत्रुकी प्रशंसा सुनकर कुपित होता है, वैसे ही यहाँ क्रोधित हुआ। यथा—'आन बीर बल सठ मम आगें। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागें ॥ ६। २९।', 'हर गिरि मथन निरखि मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू ॥ ६। २८।', तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान। ६। २५।' [वीर पुरुष अपना अपमान सह भी लेता है पर रिपुका उत्कर्ष नहीं सह सकता। यथा—'रिपु उतकरष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ ॥ ५। ४०।' अतः श्रीरामजीको 'भानु' समान सुनकर वह न सह सका।]

नोट—१ यह 'वानर दोहा वैश्या' छन्दभेद है। (व्र० चं०)।

२—रावणको 'खद्योत' तो प्रकट कहा, यथा—'सुनु रावन खद्योत प्रकासा।' श्रीरामजीको 'भानु' प्रकट नहीं कहा, क्योंकि वे प्रत्यक्ष सामने नहीं हैं; अपनेको 'नलिनी' प्रत्यक्ष कहकर उनको आशयसे 'भानु' कहा।

प० प० प्र०—सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे सिद्ध होता है कि म्यानसे तलवार निकालनेमें क्रोध नहीं है, बोलनेमें ही क्रोध है। हेतु इतना ही है कि सीताजीके प्रार्थनाबलसे श्रीरामजी शीघ्र आ जायँ।

गुमार्थ—मा० त० सु०—कृत अर्थ—"अपने उद्योगको जुगुनूके समान सुन और श्रीरामकृपाको सूर्यवत् सुन अपने उद्योगकी तुच्छताका सूचक परुष वचन जान खड्ग निकाल क्रोधित हो बोला। वहाँ कर्त्तारूपी रावणके उद्योगरूपी क्रियाका फल नहीं होनेसे अनर्थरूपी क्रोध जागा। परुष=अपने पुरुषार्थको तुच्छ दिखानेवाला रूखे।"

सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना॥ १॥
नाहिं त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति नत जीवन हानी॥ २॥

अर्थ—सीता! तुमने मेरा अपमान किया। मैं तेरा सिर कठिन (जिसका वार खाली न जाय; कठोर, भयंकर) कृपाण, (चन्द्रहास) से काट डालूँगा॥ १॥ नहीं तो शीघ्र ही मेरे वचन मान ले। हे सुमुखि (सुन्दर मुखवाली)! नहीं तो (तेरे) जीवनकी हानि होगी (तेरे प्राण जायँगे)॥ २॥

नोट—१ 'सीता मैं मम''' इति। 'सीता' सम्बोधनका भाव कि तेरे नामका अर्थ है शीतल करनेवाली एवं शीतल, तेरे वचन शीतल होने चाहिये थे सो न होकर कठोर और तप्त करनेवाले हैं।

टिप्पणी—'मम कृत अपमाना'''।' इति (क) अवज्ञा करना और कठोर वचन बोलना ही अपमान है। अपमान मृत्युके तुल्य है, यथा—'सम्भावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू। २। ९५।' 'सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते। गीता २। ३४।' राजाका अपमान करना उसे मारनेके समान है, इसीसे वह सिर काटनेको कहता है। भाव यह कि तुमने हमें मरा-सरीखा कर दिया, अतएव उसके बदलेमें मैं तुम्हारा सिर काटूँगा। (ख) 'कटिहौं' इति। भारी सजा राजा अपने सम्मुख अथवा अपने हाथसे देता है, इसीसे 'कटिहौं' कहा, अर्थात् अपने हाथसे काटूँगा। (ग) पुनः, किसी-किसी मुनिका मत है कि प्रथम अपराध सुनाकर तब दण्ड देना चाहिये; अतः रावणने पहले 'तैं मम कृत अपमाना' यह अपराध कहकर तब 'कटिहौं' दण्ड देना कहा। (घ) 'कठिन कृपाना' से चन्द्रहासनामक तलवार अभिप्रेत है जैसा आगे स्पष्ट किया है—'चंद्रहास हरु मम परितापं।'

२—'नाहिं त सपदि मानु मम बानी।''' इति। (क) 'सपदि मानु' शीघ्र मान लेनेको कहा, क्योंकि राजाके अपमान करनेवालेका वध शीघ्र किया जाता है, यथा—'सुनि कपि बचन बहुत खिसिआना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना॥ ५। २४।' (ख) 'मानु मम बानी,' इति। पहले सब साहिबी देता था, तब अपमान किया। अब अपमानके बदलेमें अपनी बातोंकी सिद्धि चाहता है। (ग) पहली बार 'सुमुखि सयानी' विशेषण दिये थे, परंतु उन्होंने अपमान किया। इससे अब केवल 'सुमुखि' सम्बोधन किया, 'सयानी' न कहा। (घ) 'होति जीवन हानी' अर्थात् हमारे वचन न माननेसे समस्त ऐश्वर्यकी हानि हुई और अब जीवनकी भी हानि होती है। अथवा, वाणी मान लेनेसे अपमान करनेका अपराध क्षमा हो जायगा और न माननेसे प्राण जायँगे—'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामशस्त्रवध उच्यते'। तुमने हमारा वध (तुल्य अपमान) किया, हम तुम्हारा वध करेंगे।

नोट—२ 'सुमुखि होति नत जीवन हानी।' इति। वाल्मीकीयमें भी यहाँ 'वरानने' सम्बोधन किया है, जिसका अर्थ है 'सुमुखि'। भाव यह कि तेरा सुन्दर मुख देखकर मुझे तेरे ऊपर स्नेह और दया उत्पन्न हो जाती है, इसीसे मैं नहीं मारता, नहीं तो ऐसे कठोर वचनोंपर तुझे मार डालना ही योग्य था। अब भी समझ ले, यथा—'स्नेहश्च किल जायते॥ ४॥ एतस्मात्कारणान्न त्वां घातयामि वरानने। वधार्हामवमानार्हां'''॥ ५॥ परुषाणीह वाक्यानि यानि यानि ब्रवीषि माम्। तेषु तेषु वधो युक्तस्तव मैथिलि दारुणः॥ ६॥' (५। २२),

३—'सीता तैं''' बानी'। और 'सुमुखि'''।' द्रुतपा है (व्र० चं०)।

गुप्तार्थ—१ (क) 'सीते' (अर्थात् तेरा स्वभाव त्रयतापसे तपे हुएको शीतल करनेवाला है) यह जानकर मैं तेरी

शरण आया, पर तूने मुझे स्वीकार न किया, अतः तब अर्थात् तेरे इस कारणसे मैं अपना सिर अभी काट डालूँगा । (ख)—'सुमुखि' का भाव कि तेरे मुखसे तो सर्वदा शरणागतोंके स्वीकारहीके वचन निकलते आये हैं, यथा—'**जानकी जगजननि जनकी किये बचन सहाय**' । यहाँ सयानी विशेषण इससे नहीं दिया कि पूर्वकृत कार्य नहीं स्मरण कराना है । २—'सुमुखी'के भाव—(क) तुम्हारा सुन्दर मुख है, इसकी शोभा यही है कि हमसे हँसो-बोलो । (ख) बहुत कालसे मुझपर विमुख (अप्रसन्न, रूखी या रूठी) हो अब 'सुमुखी' अनुकूल हो ।

स्याम सरोज दाम सम सुंदर । प्रभु भुज करिकर सम दसकंधर ॥ ३ ॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा । सुनु सठ अस प्रवान* पन मोरा ॥ ४ ॥

अर्थ—(श्रीसीताजीने कहा कि) हे दसकन्धर रावण ! श्याम कमलकी माला या श्रेणीके (कान्तिके) समान सुन्दर और हाथीकी सूँड़के समान (बलिष्ठ और चढ़ाव-उतारकी जो) प्रभुकी भुजा है (या तो वे ही भुजा मेरे गलेमें लगेंगी या तेरी भयंकर तलवार ही । रे शठ ! सुन, मेरा ऐसा प्रमाण प्रण (सत्य प्रतिज्ञा है) ॥ ३-४ ॥

टिप्पणी—१ प्रभुकी भुजाओंकी उपमा नीलकमलके नामकी रामायणभरमें और कहीं नहीं आयी है । सर्प, केशरी और करिकरकी उपमाएँ दी गयी हैं, यथा—'**भुजग भोगु भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई,** (वि० ६२) '**अरुन पराग जलजु भरि नीके । ससिहि भूष अहि लोभ अमी के । १ । ३२५ ।**' '**मरकत सैल पर लरत दामिनि कोटि सों जुग भुजग ज्यों ॥ ३ । १८ ।**', '**करिकर सरिस सुभग भुजदंडा,** (१ । १४७) । राजा रघुराज सिंह लिखते हैं कि रावण किसी ऋषिके स्थानपर गया था और उनके तालाबके सब कमल नष्ट कर डाले थे तब ऋषिने उसको शाप दिया कि तुझे श्यामकमलका दर्शन जब होगा तब तेरी मृत्यु हो जायगी । श्याम-सरोजके देखनेसे रावणका नाश है; इसीसे यहाँ श्याम-सरोजदामके समान कह रही हैं; जिसका तात्पर्य यह है कि इन भुजाओंके दर्शनसे तेरा नाश होगा, वे सुन्दर बलवान् भुजाएँ तुझे मारकर मेरा आलिङ्गन करेंगी । इसी भावको सूचित करनेके लिये 'प्रभु' कहा । [मानससमयंक और अभिप्रायदीपकमें भी कथा है कि एक बार दुर्वासा ऋषि श्यामकमलपर बैठे ध्यान कर रहे थे । रावणने कमलका नाल काट दिया । ऋषि डूबने लगे तब उन्होंने ध्यान करके जान लिया कि यह रावणकी करनी है और शाप दिया कि श्याम कमलके दर्शनसे तेरी मृत्यु होगी । उसीकी ओर संकेत करके 'श्यामसरोजदाम' की उपमा दी है । ☞ यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है । 'दाम' का अर्थ 'माला', 'समूह', श्रेणी' है । इसकी उपमा देकर अपार सौन्दर्य सूचित किया ।] ☞ प्रसन्नराघव ६ । ३० और हनुमन्नाटक १० । १६ में भी ऐसा ही कहा है, यथा—**विरम विरम रक्षः किं वृथा जल्पितेन स्पृशति नहि मदीयं कण्ठ-सीमानमन्यः । रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्तेर्दशमुख भवदीयो निष्कृपो वा कृपाणः ॥**' अर्थात् अरे राक्षस ! मेरे कण्ठ-की सीमाको नीलकमलके सदृश कान्तिवाले श्रीरामचन्द्रजीके भुजदण्डों अथवा तेरे कठोर निर्दयी कृपाणके अतिरिक्त दूसरा कोई स्पर्श नहीं कर सकता, अतएव तू शान्त हो जा, शान्त हो जा, व्यर्थ बकवाद करनेसे क्या लाभ ! ☞ इस श्लोक और मानसके '**श्यामसरोज दाम सम सुन्दर ।**' में भेद केवल यह है कि श्लोकके 'दाम' 'प्रभु' और 'करिकर' नहीं हैं । रघुपतिकी जगह यहाँ 'प्रभु' और 'दण्ड' की जगह 'करिकर' शब्द विशेष भावगर्भित हैं ।

नोट—१ '**श्याम सरोज दाम सम सुंदर**' को केवल 'प्रभु' का ही विशेषण भी मान सकते हैं अर्थात् उनका सारा शरीर श्यामकमलसमूहके समान कान्तिमान् और कोमल है तथापि उनकी भुजाएँ हाथीकी शुण्डके समान बलिष्ठ हैं, यथा—'**काम कलभकर भुजबल सींवा । १ । २३३ ।**' और उसे भुजका भी विशेषण मान सकते हैं क्योंकि उसीसे यहाँ प्रयोजन है जैसा आगेके 'सो भुज' से स्पष्ट है । दो विशेषण देकर जनाती हैं कि हमारे लिये वे 'श्यामसरोजदामसम' कोमल और सुन्दर हैं और तेरे दसों ग्रीवोंको काट डालनेके लिये '**करिकर सम**' बलिष्ठ हैं ।

२ 'प्रभुभुज' और 'दसकन्धर' शब्द देकर जनाती हैं कि प्रभुभुज दो ही हैं फिर भी दस ग्रीवावाला 'दसकन्धर' मुझे भयभीत नहीं कर सकता, चाहे बीस '**असि**' क्यों न लिये हो । ☞ कुशल कवि जड़ियाकी तरह एक-एक शब्द ऐसा चुन-चुनकर रखता है कि हम उसे बदल नहीं सकते । यदि ऐसा साहस करें तो रचना ही बिगड़ जाय । (लमगोड़ाजी) ।

३—यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है । प्रभुभुज उपमेय, श्यामसरोजदाम और करिकर उपमान, सम वाचक और सुन्दरता धर्म है ।

* पवान पन मा० दा०, छ०, १७०४, कोदवराम । प्रवान मन—१७२१, १७६२ । प्रनाम मन—ना० प्र० ।

टिप्पणी—२ (क) **'प्रथम सो भुज कंठ'** कहा क्योंकि यह बात निश्चय ही होगी, रही तलवार सो उपस्थित है इससे फिर उसको कहा। रामविरह व्याकुल किये हुए है; इससे वधके लिये बारंबार तलवारसे प्रार्थना करती हैं। पुनः, विरहकी शान्ति मृत्युसे होती है या संयोगसे, इसीसे 'भुज' और 'असि' दोनोंको कहा। (ख) **'सो भुज कंठ'** अर्थात् दूसरेकी भुजा हमारे कण्ठका स्पर्श नहीं कर सकती। रघुनाथजीकी भुजा ही कमलकी माला-सम मेरे कण्ठमें शोभा देगी। अथवा, तेरी तलवार कण्ठमें लगनेसे शोभा देगी। लोग कहेंगे कि यह पतिव्रता धन्य है कि तलवारसे मर भले ही गयी पर इसने पराये पतिको अङ्गीकार न किया, इससे भुजा और तलवारके लगनेकी समता की। अपने कण्ठके सम्बन्धसे भुजाको कोमल कहा और भुजाओंकी जोड़में असिको घोर कहा। दोनोंके लगनेसे दुःख दूर होगा, इससे दोनोंको कहा।

नोट—४ (क) करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि "महारानीजीने पूर्व रावणको खद्योतसम कहा है और शठ भी, तब यहाँ आर्तवचन न कहेंगी। इसलिये साधारण अर्थ अच्छा नहीं है। खण्डान्वयव्यञ्जनासे ठीक अर्थ सिद्ध होता है—श्याम-सुन्दर ऐसे प्रभु जिनकी भुजा सूँड़-सदृश है सोई भुज मेरे कण्ठ लगेगी और उस भुजाकी घोर असि तेरे कण्ठ लगेगी।' यहाँ 'कि' संदेहात्मक नहीं है। कि=की। बैजनाथजीने भी यही अर्थ रखा है। (ख) पाँड़ेजी और मा० त० सु० कार लिखते हैं कि—"यहाँ 'तव' शब्द श्लिष्ट है। 'कितव'=उन्मत्त, धूर्त, मूर्ख। यहाँ अर्थ इस प्रकार होगा कि—'हे कितव! मेरी बात सुन। श्याम-कमल-श्रेणी-सम रघुनाथजीकी सुन्दर भुजा मेरे कण्ठ लगेगी और बलयुक्त हाथीकी शुण्ड-सम भुजाका घोर खड्ग तेरे कण्ठमें लगेगा'।" (ग० प्र० स्वामीजी इस प्रकार अर्थ करते हैं—नील कमलोंके हारके समान कोमल सुगन्धित और दीर्घ तथा हाथीके शुण्डके समान गठीली प्रभुकी भुजा मेरे जिस कण्ठमें पड़ी है, क्या उसी कण्ठमें तेरी तलवार पड़ेगी (कदापि नहीं)।' (घ) गुप्तार्थ—यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। भाव कि तेरा पन जो प्रभुके सरसे मरनेका है और राघवका पन जो निशाचरहीन करनेका है—दोनों रहेंगे, तू धीर धर। शठ कहा, क्योंकि अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर नहीं रहता।

टिप्पणी—३ **'अस प्रवान पन मोरा'** अर्थात् तेरा प्रण प्रमाण नहीं है; क्योंकि मैं तेरे सम्मुख दृष्टि न करूँगी; और मेरा प्रण प्रमाण है क्योंकि प्रभुभुज मेरे कण्ठमें लगेंगे या तेरी तलवार लगेगी; दोमेंसे एक अवश्य लगेगी।

नोट—५ **'श्यामसरोज'''** ११७७ वाँ भेद, **'प्रभु'''** १२२० वाँ भेद है, **'सो भुज''भारा'''** पायकुलक है।

चंद्रहास हरु * मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं॥ ५॥
सीतल निसित बहसि † बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥ ६॥

शब्दार्थ—निसित=पैनी, तीक्ष्ण। बहसि=बहती हो; धारण करती हो। भारा (भार)=बोझ, भारी।

अर्थ—(रावणसे इतना कहकर अब श्रीसीताजी चन्द्रहाससे कहती हैं—) हे चन्द्रहास! रघुपति-विरहाग्निसे उत्पन्न मेरे परिताप (अत्यन्त जलन या दुःख) को हरण कर। अर्थात् रावणको यह उत्तर देती हैं कि तेरी तलवारसे मारा जाना मुझे स्वीकार है, पर तेरा वचन मानना अङ्गीकार नहीं है। तू शीतल तीक्ष्ण और श्रेष्ठ धारा बहाती है, तू मेरे दुःखके भार (वा, भारी दुःख) को हर॥ ५-६॥

टिप्पणी—१ **'चंद्रहास हरु मम परितापं'** इति। (क) चन्द्रहास और प्रभुकी भुजा दोनों ही प्रतिज्ञामें हैं, इससे चन्द्रहाससे दुःख हरनेको कहा। रावणसे ताप हरनेको न कहा क्योंकि रावण तो तापदाता है, तापहर्त्ता नहीं; और चन्द्रहास तापहर्त्ता है। (ख) **'हरु परितापं'** अर्थात् इसी समय हर ले। इस कथनका भाव यह है कि रावणने वाणी न माननेपर तेरे चलनेका एकरार किया है, यथा—'**नाहि त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति नत जीवन हानी।**', मैं वाणी नहीं मानती हूँ; तब तू क्यों विलम्ब कर रही है, शीघ्र मेरे कण्ठसे लगकर मेरा ताप क्यों नहीं हर लेती? रघुपति-विरह तलवारसे

* हर—मा० दा०। † निसित बहसि—रा० प्र०, कोदवराम। निसि तव असि—१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा०। 'निसि तव असि' पाठका अर्थ होगा—'हे तलवार! तेरी श्रेष्ठ धारा शीतल रात्रि (के समान) है।' भावार्थ यह होगा कि—चाँदनी रातसे दिनका ताप मिटता है। तेरी धार शीतल निशि अर्थात् चाँदनी रात्रिके समान है, अतः वह अवश्य मेरे परितापको हरण करेगी। 'हर' पाठमें यह खूबी बताते हैं कि वह श्लिष्टपद होकर दीपदेहली न्यायसे दो अर्थ देता है—हर (महादेव) और हरु (हरण कर)।

अधिक असह्य और कठिन है, यथा--'**माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। राम बिरह जनि मारसि मोही**॥'--(यह दशरथजीने कैकेयीजीसे कहा है)। अतएव मरनेको तैयार हैं, पर विरह नहीं सह सकतीं।

२—(क) चन्द्रहासका भाव कि चन्द्रमा तापहारक होता है। जैसे अशोकके प्रति कहा है कि '**सत्य नाम करु हरु मम सोका**' वैसे ही यहाँ चन्द्रहाससे कहा कि मेरा दुःख दूर कर। (ख) पहले रावणने यह जो कहा कि '**कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना**', इसीपर सीताजी अब खड्गसे कहती हैं कि तू रावणकी आज्ञा तो सुन ही चुका, अब क्यों देर करता है? शीघ्र मेरा सिर काटकर दुःख दूर कर। चन्द्रहासका अर्थ चन्द्रकिरण भी होता है। चन्द्रकिरण ताप हरता है, यथा—'**सरदातप निसि ससि अपहरई**।' अतः उससे परितापहरणको कहा।

नोट—१ 'चन्द्रहास' रावणकी महादीप्तिमान् खड्गका नाम है। काष्ठजिह्व देवतीर्थ स्वामीजी लिखते हैं कि यह खड्गकी एक जाति है जो अर्द्धचन्द्राकार होती है। वाल्मी० उत्तरकाण्डमें लिखा है कि रावणपर प्रसन्न होकर उसके माँगनेपर शिवजीने अपना महादीप्तिमान् खड्ग दिया जिसका नाम चन्द्रहास है, यथा—'**एवमुक्तस्ततस्तेन रावणेन स शङ्करः। ददौ खड्गं महादीप्तं चन्द्रहासमिति श्रुतम्**॥' (?)। पुनः, चन्द्रहास खड्गका पर्याय भी है, यथा **अमरकोशे**'''**खड्गे तु निस्त्रिंश-चन्द्रहासासिरिष्टयः। कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्**।'

ॐ पाठपर विचार ॐ

अधिक प्रतियोंमें '**सीतल निसि तव असि**' पाठ है। प्राचीन प्रतियोंमें अक्षर अलग-अलग लिखनेकी रीति है। '**निसि तव हसि**' और '**निसित बहसि**' दोनों पढ़ सकते हैं। 'हसि' का अर्थ न लगनेसे 'असि' हो गया हो। रामायण-परिचर्यामें भी 'निसित बहसि' है। यह चौपाई प्रसन्नराघव नाटक अङ्क ६ श्लोक ३३ की छाया-सी जान पड़ती है। श्लोक यह है—

'**चन्द्रहास हर मे परितापं, रामचन्द्रविरहानलजातम्। त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्णं धारया वहसि शीतलमम्भः**॥'

इस श्लोकका पूर्वार्ध अर्थात् चौपाईके पूर्वार्ध अर्थात् अर्धाली (५) से पूर्णरूपसे मिलता है। श्लोकके उत्तरार्ध-का '**त्वं हि धारया वहसि शीतलं**' ही चौपाईका '**सीतल बहसि धारा**' है और '**कान्तिजितमौक्तिकचूर्णं**' का भाव चौपाईके 'बर' शब्दमें दे दिया गया है। उत्तरार्धका अर्थ है—'तू अपनी धारासे मोतीके चूर्णकी कान्तिको जीतनेवाले शीतल जलको धारण करती है।

यहाँ नदीका रूपक है। नदीकी धारा शीतल और तलवारमें भी धार। जल अग्निको बुझाता है, तलवारकी धारसे विरहाग्नि बुझेगी। यह सादृश्य है। यह पाठ 'प्रसन्नराघवनाटक' के अनुकूल है, भाव भी उत्तम है। अतएव हमने यही पाठ रक्खा है। गौड़जी, लाला भगवानदीनजी एवं पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी भी मुझसे सहमत हैं।

नोट—२ मानसमें '**रघुपति बिरह अनलसंजातं**' और नाटकमें '**रामचंद्र बिरहानलजातम्**।' है, इत्यादि। मानसमें शब्द क्यों बदले गये? उत्तर सुनिये—श्रीरघुनाथजी मर्यादापुरुषोत्तम हैं और श्रीसीताजी पतिव्रताशिरोमणि। अवधवासी उनको युगल सरकार कहते हैं। गोस्वामीजीके चर्मचक्षु और हृदयचक्षु दोनोंके सामने रामायणरचनाके समय युगलमूर्ति विराजमान रहती थी और वह उनकी लेखनीसे मर्यादाके प्रतिकूल कोई बात निकलने नहीं देती थी। आजकलकी प्रथाके अनुसार स्त्रियोंके लिये पतिका नाम लेना बड़ा दोष है। इसलिये श्रीमुखसे 'रामचन्द्र' न कहलाकर 'रघुपति' कहलाया गया। उपर्युक्त श्लोककी तीसरी पंक्तिमें '**कान्तिजितमौक्तिकचूर्णं** है, वह विशेषण छोड़ दिया गया है। अब बचा '**त्वं हि धारया वहसि शीतलमम्भः**।', जिसका 'अम्भः' छोड़कर और अन्वय बदलकर अर्थ हुआ '**सीतल बहसि धारा**।' पर इससे चौपाईका पद पूरा नहीं होता। इसलिये 'सीतल' और 'बहसि' के बीचमें तलवारका परम योग्य विशेषण 'निसित' (=पैनी; तेज) डाल दिया गया और 'धारा' के आगे 'बर' जोड़ दिया गया। 'बर' में '**कान्तिजित**''' वाला भाव भी ग्रहण कर लिया गया।

नोट—३ अन्य टीकाकारोंके भावार्थ ये हैं—(क) श० सुं०—''यहाँ, हे चन्द्रहास! ऐसा सम्बोधनकर तलवारसे सीताजीका कहना यह अर्थ अनुचित है; क्योंकि रावणकी बातोंसे संगति अच्छी बैठती है। वा, हे चन्द्रहास खड्ग! तू रामविरहसे उत्पन्न मेरे परितापको मिटा दे अर्थात् रावणका शिरश्छेद कर। वा, रामविरहाग्निसे उत्पन्न मेरा संताप तेरे चन्द्रहासके प्रतापको हर लेगा, अर्थात् यह खड्ग मेरा कुछ न कर सकेगा''—(यह भाव करुणासिंधुजीसे लिया हुआ है)।

(ख) वीरकवि--रावणसे न कहकर चन्द्रहाससे निवेदन करना 'गूढ़ोक्ति अलंकार' है। प्रस्तुत कथन रावणसे है, तलवारका वृत्तान्त अप्रस्तुत है। यह 'सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार' है।

(ग) मा० त० सु० में यह अर्थ है--'हे हर (शिवजी) के चन्द्रहास०' वे लिखते हैं कि--(१) 'सीताजीने कहा था कि वह भुज मेरे कण्ठमें और घोर असि तेरे कण्ठमें पड़ेगी, उसी उक्तिको यहाँ स्पष्ट कर रही हैं। यहाँ भुजका अभाव है, इसलिये भुज नहीं कहा, खड्ग रावणके हाथमें विद्यमान है, उससे अपना सम्बन्ध जनाती हुई कहती हैं। 'हर चन्द्रहास' का भाव कि तू शंकरजीका है और उनसे मेरा भी सम्बन्ध है—**'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'**। अतः मेरा दुःख हरण कर। 'हर' देहलीदीपकन्यायसे दोनों अर्थका प्रकाशक है। (२) **'सीतल निसि तव असि बर धारा'** में असिका अर्थ 'अस्ति' है अर्थात् मेरे तापको नाश करनेके लिये तेरी धारा श्रेष्ठ है। (३) गुप्तार्थ—इन वाक्योंसे श्रीकिशोरीजीने रावणको यह दिखाया कि तुझसे मेरा दुःख भारी है।'

(घ) प० प० प्र०--'हे चन्द्रहास (अर्थात् चन्द्रतेजविनिन्दक हास्यवाले) रघुपति! अपने विरहानलसे उत्पन्न मेरे परितापको हर लीजिये।' इस प्रार्थनासे भगवान्‌की माया मन्दोदरीमें प्रवेश करके सीताजीको बचा लेती है।

नोट—४ 'हरु' दो बार आया है—**'हरु मम परितापं'** और **'हरु मम दुख भारा'**।' प्रथम बार नामके सम्बन्धसे कहा कि तेरा चन्द्रहास (चन्द्रकिरण) नाम है, अतः मेरे परितापको हर और दूसरी बार रूप अर्थात् शीतल धारावत् होनेसे हरनेको कहा। अथवा, विषादके वचन होनेसे पुनरुक्ति नहीं है। (रा० बा० दा०)।

सुनत बचन पुनि मारन धावा। मयतनया कहि नीति बुझावा॥ ७॥

अर्थ—(ये) वचन सुनते ही फिर मारने दौड़ा (अर्थात् मारनेपर उद्यत हुआ) तब मन्दोदरीने नीति कहकर समझाया-बुझाया॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) **'सपदि मानु मम बानी।'''** रावणके इस वचनको न माना; अतएव वह मारने दौड़ा। पहले मारनेको कह चुका था--**'कटिहौं तव सिर'''**। अतः अब **'पुनि मारन धावा'** कहा। (ख) धावासे सूचित होता है कि रावण दूर था*। (ग) रावण अनीति करता है। मन्दोदरी नीति कहती है। अतएव यहाँ रावणसम्बन्धी मन्दोदरी नाम न दिया वरन् पितासम्बन्धी नाम कहा। मयकी यह कन्या है। (घ) **'कहि नीति बुझावा'** का भाव कि और किसी रीतिसे कहकर समझानेकी राह इस समय न थी। क्योंकि राजाका अपमान किया और आज्ञा भी भङ्ग की। नीति कहकर समझानेका रास्ता अभी है, क्योंकि स्त्रीका वध न करना चाहिये; जैसे जब कंस देवकीका वध करने लगा तब वसुदेव-देवकीने नीति कहकर समझाया था। [स्त्रीहत्या महापातक है, यथा मनुस्मृतौ--'बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः। शरणागतहन्तॄंश्च न संवसेत्॥' अर्थात् बालकका वध करनेवाला, कृतघ्न, शरणागत एवं स्त्रीके मारनेवालोंका संग न करे, चाहे धर्मपूर्वक वे प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो गये हों।]

नोट—१ 'मयतनया'। मय दानव, दैत्य एवं राक्षसोंका विश्वकर्मा है। उसकी कन्या मन्दोदरी है। रावण राक्षस भले ही हो, पर यह तो दानव-कन्या होती हुई भी दैवी सम्पत्तिसे पूर्ण है और प्रातःस्मरणीय मानी गयी है। यह नीति जानती है तभी तो बराबर नीतिका उपदेश करती है, यथा—**'बोली बचन नीतिरस पागी। ५। ३६।'** तथा यहाँ प्र० स्वामीका मत है कि 'मयतनया' शब्द देकर जनाया कि दानव-कन्या होकर भी उसने वह काम किया जो उसके कुल और जाति-स्वभावके विरुद्ध है।

नोट—२ यहाँ भी ईश्वरताने काम किया। भक्तकी रक्षा भगवान् कैसी करते हैं! वह मन्दोदरी जिसे रावण सीताजीकी दासी बनानेकी प्रतिज्ञा करता है वही उनको बचावे! उसे तो रावणका बर्ताव देखकर उनके मारे जानेमें बहुत शीघ्रता करनी चाहिये थी। (रा० शं०)।

* मा० त० सु०—(क) यहाँ 'धावा' पदका अर्थ दौड़ आना नहीं है, क्योंकि जिस वृक्षके नीचे जानकीजी रहती थीं उसी वृक्षपर श्रीहनुमान्‌जी थे और नीचे रावण था। यथा—'तेहि अवसर रावन तहँ आवा।' तो समीपस्थ पुरुषका दौड़ आना कैसे सम्भावित हो सकता है? उसका यहाँ ठीक अर्थ यह है--(ख) गुप्तार्थ—आत्मशुद्ध्यर्थ अति संनिकटमें गमन किया अर्थात् शरणागति चाही। क्योंकि धाव धातुका अर्थ गति और शुद्धि है। मन्दोदरीने नीति समझाया कि इतनी शीघ्रता न करो।'—(नोट—पर 'धावा' पद बहुत ठौर आया है। वहाँ ऐसा अर्थ नहीं है)।

३--समझाना यह भी हो सकता है कि--जो स्त्री अपनेको नहीं चाहती उसकी चाह करनेवाले पुरुष सदा संतप्त ही रहा करते हैं; यथा—'अकामां कामयानस्य शरीरमुपतप्यते । वाल्मी० ५ । २२ । ४२ ।' प्रीति उससे करे जो अपनेसे प्रेम करे । श्रीजानकीजी पतिव्रता हैं तब उन्होंने जो कहा वह योग्य ही है, उनका अपराध क्या ? इत्यादि ।

वि० त्रि०—रावण स्त्रीजनसे परिवेष्टित वहाँ आया था, अतः बहुत सन्निकट नहीं था । इतनी दूरीपर था जहाँसे बातचीत हो सके । मारने दौड़ा अर्थात् मारनेका उपक्रम किया जैसे 'सुनत निसाचर मारन धाए' में मारनेका क्रम ही अर्थ होगा । यदि दौड़ा होता तो मन्दोदरीको नीति कहनेका अवसर नहीं मिलता । जैसे ही उसने दौड़नेका उपक्रम किया, वैसे ही मन्दोदरीने नीति समझाया, यथा--'त्यागहु दीना मानुषी कृपिणा कृशा दुखारि । हैं केतिक गंधर्व सुर किन्नर नागकुमारि ॥ अनुरागिनि तुम पर सदा, मदमाती सुकुमारि । काम कला महँ कुशल अति तिन कहँ भजौ सुरारि ॥ कान कहँ दुखिया तिया, तन की ममता त्यागि । ताहि कान नहिं कीजिये जरत विरह की आगि ॥ समय देहु जामे कछुक हियकी अगिन बुझाइ । तब अवसर किछु कहनको जब दुख घटत लखाय ॥'

नोट—४ 'सुनत०' चण्डी, 'मयतनया०' तामरस है—(व्र० चं०)

टिप्पणी—२ (क) पतिव्रता अपने पतिका अपमान नहीं सह सकती—'सिव अपमान न जाइ सहि हृदय न होइ प्रबोध । सकल सभहिं हठि हटकि तब बोलीं बचन सक्रोध ॥' यहाँ मन्दोदरी आदि रानियाँ रावणके अपमानसे दुखित न हुईं, क्योंकि रावणकी अनीति न अच्छी लगी । इसीसे नीति कहकर उसे समझाने लगीं कि यह बात तुमको नहीं शोभा देती । (ख) 'बुझावा' के यहाँ दोनों अर्थ लगते हैं—समझाना और ठंडा करना । इस शब्दको देकर जनाया कि बड़े क्रोधसे दौड़ा था, समझानेसे शान्त हुआ ।

कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई । सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई ॥ ८ ॥
मास दिवस महुँ कहा न माना । तौं मैं मारब काढ़ि कृपाना ॥ ९ ॥

अर्थ—(तब उसने) सब राक्षसियोंको बुलाकर कहा कि जाकर सीताको बहुत प्रकारसे डरवाओ ॥ ८ ॥ (यदि) एक महीनेमें कहना न माना तो मैं तलवार निकालकर (उसे) मारूँगा ॥ ९ ॥

टिप्पणी—१ 'बोलाई' और 'जाई' से सूचित किया कि मन्दोदरीके समझानेपर फिर रावण वहाँसे चल दिया, ठहरा नहीं । समीप होता तो, 'जाई' का प्रयोजन न था । भाव यह कि जिस कामके लिये बनाव-शृङ्गारसे आया था वह न हुआ बल्कि बिगड़ा-बिगड़ी हो गयी, गाली भी सुनी, तब कौन मुँह लेकर वहाँ ठहरता ।

नोट—१ 'सकल निसिचरिन्ह'—ये यही राक्षसियाँ हैं जो श्रीसीताजीकी रक्षा तथा पहरेके लिये अशोकवाटिकामें रक्खी गयी थीं । यथा--'तब असोक पादप तर राखिसि जतन कराइ । ३ । २९ ।', 'सन्दिदेश ततः सर्वा राक्षसीर्घोरदर्शनाः । वाल्मी० ५ । २२ । ३२ ।' २ --'बोलाई' से यह भी भाव ले सकते हैं कि रावणके आनेपर और श्रीजानकीजीसे बातें प्रारम्भ होनेपर वे वहाँसे हट गयी थीं; अतः उन्हें अलग बुलाकर कहा । 'जाई' से स्पष्ट है कि वे श्रीसीताजीके पास नहीं हैं, रावणने उनसे यह बात सीताजीके सामने नहीं कही । मा० त० सु० में 'जाई' का अर्थ 'मैं जाता हूँ' किया है पर ऐसा प्रयोग अन्यत्र देखनेमें नहीं आता ।

३—'मास दिवस महुँ कहा न माना ।···' इति । ☞ इसके दो प्रकारसे अर्थ हो सकते हैं । एक तो निशाचरियोंके प्रति लेकर और दूसरे निशाचरियोंसे श्रीसीताजीके प्रति कहनेको । निशाचरियोंके प्रति धमकी है कि एक मासमें मेरे वश न करा सकीं तो मैं तुम्हारा वध करूँगा और दूसरे पक्षमें यह अर्थ है कि 'तुम उनसे कहना कि महात्मा रावणने कहा है कि एक मासमें मेरी आज्ञा न मान ली तो मैं अवश्य मार डालूँगा, वह इस भ्रममें न रहे कि मैं मन्दोदरीके कहनेसे मान गया हूँ, अब न मारूँगा ।

४—'मास दिवस' महीना दिन कथनका भाव यह है कि मासकी अवधि बीचमें भी रहती है, उसकी पूर्ति पूर्णिमा एवं संक्रान्तिपर भी हो जाती है । 'मास दिवस' अर्थात् 'मासके पूरे दिन गिनकर तीस दिन'—यह सूचित करने और उपर्युक्त भ्रमनिवारणार्थ 'मास' के साथ 'दिवस' पद दिया । अथवा, 'मास दिवस' बोली है, यथा—'मास दिवस कर दिवस भा··· । १ । १९५ ।', 'मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी । ४ । ६ ।', 'मास दिवस महँ आएहु भाई । ४ । २२ ।' 'मास दिवस महुँ नाथ न आवा । ५ । २७ ।'

५—पंजाबीजी कहते हैं कि पौष आ रहा है, उसमें मंगल कार्य नहीं होते इससे एक मासकी अवधि दी।*

टिप्पणी—२ इस प्रसंगमें रावणने जानकीजीको तीन बार हुक्म दिया—(क) **'एक बार बिलोकु मम ओरा'** यह दान है। (ख) **'नाहि त सपदि मानु मम बानी'** यह भय है। (ग) **'मास दिवस महुँ कहा'** मानै।—यह मोहलत दी और इसपर भी न माना **'तौ मैं मारब…'** यह दण्ड है।

शंका—रावणने ऐसी कड़ी-कड़ी बातें कह डालीं और हनुमान्‌जी तरुपल्लवमें छिपे हुए सुनते रहे। वे कैसे सहन करते रहे?—**'हरिहर निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥'** अंगदजीके सामने जब रावणने निन्दा की तब वे क्रोधवंत हो गये थे।

समाधान—(वेदान्तभूषणजी)—समाधानके पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि निन्दा किसे कहते हैं। किसीके परोक्षमें उसके ऊपर 'मिथ्यादोषारोपण' का नाम 'निन्दा' है और समक्षमें मिथ्यादोषारोपणका नाम गाली है। रावणने श्रीरामजीके परोक्षमें श्रीरामजीपर मिथ्यादोषारोपण किया। यथा—**'बल प्रताप बुधि तेज न ताके।…'** इत्यादि, तब **'क्रोधवंत अति भएउ कपिंदा। ६। ३१। १।'** किंतु उसी रावणने जब रणाङ्गणमें श्रीरामजीको कटु वचन कहे तब साथमें रहते हुए भी अंगदने कोप न किया, क्योंकि उसका प्रत्युत्तर करनेके लिये उसके सम्मुख ही श्रीरामजी उपस्थित थे। इसी तरह रावण जो कुछ कह रहा है वह श्रीजानकीजीके समक्ष और उन्हींसे कह रहा है और वे उसका प्रत्युत्तर कर ही रही हैं। रावण श्रीजानकीजीसे दूरीपर खड़ा है। यदि वह उनके पास पहुँच जाता तो अवश्य हनुमान्‌जीसे रहा न जाता। वे अवश्य रक्षा करते।

दूसरी बात यह भी है कि अङ्गदजीको प्रभुने पूर्णाधिकार देकर भेजा था, यथा—**'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥'** और हनुमान्‌जीको तो इतनी ही आज्ञा दी थी कि **'बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥'** और अधिनायक श्रीजाम्बवान्‌ने भी यही कहा था कि **'एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥'** श्रीहनुमान्‌जी अन्वेषक दूतकी स्थितिमें थे और अङ्गदजी प्रतिनिधि (रामदूत) थे। अतएव दोनोंके दूतत्वमें अन्तर था। इसलिये दोनोंके कार्यमें अन्तर होना ही चाहिये।

तीसरे श्रीहनुमान्‌जी जिस श्रेणीके दूत बनाये गये हैं वे उसके कार्य-गौरवको खूब समझते हैं कि ऐसी स्थितिमें बिना दूरतक सोच लिये सहसा कुछ कर बैठना उचित नहीं। इस सम्बन्धमें आदिकवि प्राचेतस महर्षिने—**'स्वामिकार्थं विनङ्क्ष्यन्ति दूताः पण्डितमानिनः।'** इन शब्दोंमें श्रीहनुमान्‌जीका मन्तव्य स्पष्ट कह दिया। और श्रीहनुमान्‌जीको तो सर्वथा निश्चित ही है कि श्रीजानकीजीका विनाश किसी तरह हो ही नहीं सकता, उन्हींके वचनोंको पढ़िये—**'त्रयाणां भरतादीनां भ्रातॄणां देवता च या। रामस्य च मनः कान्ता सा कथं विनशिष्यति॥'**

दो०—भवन गयउ दसकंधर इहाँ पिसाचिनि बृंद।
सीतहि त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद॥ १०॥

* १ वाल्मीकीयमें दो मासकी अवधि देना कहा है, यथा—'द्वाभ्यामूर्ध्वं तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम्।' 'द्वौ मासौ रक्षितव्यौ०' (५। २२। ९, ८); पर भट्टिकाव्यमें एक मासकी अवधि है, यथा—'न मासे प्रतिपत्तासि मां चेन्मर्तासि मैथिलि'।

२—अर्धाली ८ व ९ पायकुलक है—(ब्र० चं०)।

३—गुप्तार्थ—'सीताजीके वचन सुनकर निजात्मघात (के उपायोंकी ओर) के लिये दौड़ा, मंदोदरीने नीति दिखायी कि इनकी सेवा करो इससे शीघ्र प्रसन्न होंगी; अतएव राक्षसियोंको बुलाकर कहा कि तुम जाकर त्रास अर्थात् कष्ट सहकर इनकी सेवा करो, एक मासमें प्रसन्न न हुईं तो समझूँगा कि तुमने ठीक सेवा नहीं की। तुमको मार डालूँगा। पुनः यदि सीताप्रति ये वचन हैं तो अर्थ होगा कि मैं खड्ग निकालकर अपना सिर काट डालूँगा।

☞ ४—मा० त० सु० लिखती है कि ये (गुप्त) विलक्षण अर्थ श्रीवाल्मीकीय-तिलककार-तीर्थ आदि महात्माओंने दरसाये हैं। प्रयागनिवासी पं० शिवसहायजीने तो स्पष्ट कर दिया है; अतः उन्हीं लोगोंकी शैलीका अवलम्बनकर तथा पुष्पाञ्जलि टीकानुकूल यह व्याख्या लिखी गयी

अर्थ—(ऐसा कहकर) रावण घर गया। यहाँ निशाचरि-समूह सीताजीको भय दिखाती हैं और बहुतसे बुरे-बुरे रूप धारण करती हैं* ॥ १० ॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि **'कहेसि सकल ,निसिचरिन्ह'** और यहाँ **पिसाचिनि बृंद'**; इस तरह दोनोंका पर्याय जनाया। वहाँ 'सकल' है वही यहाँ 'बृंद' हैं। (ख) **'बहु बिधि त्रासहु जाई'** अतएव **'इहाँ धरहिं रूप बहु मंद'** कहा। बहु देहलीदीपक है। बहुत मन्द और बहुत-से रूप धारण करती हैं।

नोट—१—'जब राक्षसियोंको बुलाया तब **'निसिचरिन्ह'** कहा और अब अनेक भयंकर रूप धारणकर करके श्रीसीता-जीको त्रास दे रही हैं अतः अब 'पिसाचिनि' पद दिया। पिशाचिनियोंके ऐसे ही आचरण होते हैं, यथा—**'नाना भाँति पिसाच पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिं नाची** ॥ ६। ५१।' २—**'सीतहि त्रास देखावहिं'**।' वाल्मी० ५ सर्ग २३, २४ में त्रास दिखानेका वर्णन है। ३—'वृन्द' शब्दसे जनाया कि सब एक साथ मिलकर भी डरवाती थीं।

त्रिजटा नाम राछसी एका। रामचरन रति निपुन बिबेका ॥ १ ॥
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना ॥ २ ॥

अर्थ—एक राक्षसी त्रिजटा नामकी थी जिसकी श्रीरामजीके चरणोंमें प्रीति थी और जो विवेकमें निपुण थी ॥ १ ॥ उसने सबोंको बुलाकर स्वप्न सुनाया (और कहा कि) सीताजीकी सेवा करके अपना भला कर लो ॥ २ ॥

नोट—१ 'त्रिजटा'—यह एक बूढ़ी राक्षसी थी जो बड़ी बुद्धिमान् थी। भूषण-टीकाकार लिखते हैं कि यह विभीषणजीकी पुत्री थी। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि तीन गुणोंसे जटित होनेके कारण इसका नाम त्रिजटा हुआ—रामचरणरति, व्यवहार-निपुणता और विवेक—ये ही तीन गुण हैं। स्वप्न सुनाकर श्रीसीताजीकी सेवाका उपदेश करना यह व्यवहारमें निपुणता है। **'सीतहि सेइ करहु हित अपना'** यह भक्ति है। इनकी सेवासे ही कल्याण होता है यह जानना ही विवेक है। सत्-असत्का ज्ञान विवेक है। यह जानती है कि हरिभजन ही सत्य है और सब जगत्-व्यवहार असत्य है। ऐसा विवेक होनेसे उसको श्रीरामचरणोंमें प्रेम है। अतः **'रामचरन रति निपुन बिबेका'** कहा। अथवा **'होइहि सत्य गये दिन चारी।'** यह अनुभवकथन विवेक है (पं०, रा० प्र०)।

टिप्पणी—१ (क) **'राछसी एका'** अर्थात् उस वृन्दभरमें यही एक ऐसी थी। रामप्रेमसे ज्ञानकी और ज्ञानसे भक्तिकी शोभा है। यथा—**'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू'** और **'जुग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहत सहित सुबिरति बिचारा ॥'** (ख)—'रामचरणरति' से उपासना कही और विवेकसे ज्ञान कहा, कर्म न कहा; क्योंकि स्त्रीको कर्म करनेका अधिकार नहीं है। जहाँ तीनोंका अधिकार होता है वहाँ तीनों कहे हैं। यथा—**'धर्मधुरंधर गुननिधि ज्ञानी। हृदय भगति मति सारंगपानी ॥'** यहाँ धर्मधुरंधरसे कर्म, ज्ञानीसे ज्ञान, 'हृदय भगति…' से उपासना, तीनों कहे; क्योंकि ये तीनोंके अधिकारी हैं। (ग) रामचरणमें प्रेम है, इसीसे सीताजीकी सेवा करनेको कहती है और विवेकमें निपुण है इसीसे सबका हित किया, यथा—**'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहिं दृढ़ नेम। सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम ॥'** उसको स्वप्नमें भविष्यका ज्ञान प्राप्त हुआ।

२—(क) **'सबन्हौ बोलि…'** इति। रावणने सबको बुलाकर दुःख देनेकी आज्ञा दी थी, इसीसे इसने 'सब' को बुलाया जिसमें सब सुन लें, कोई दुःख न दे। 'बोलि' से ज्ञात हुआ कि औरोंसे कुछ दूर थी, पर इतनी दूर न थी कि श्रीसीताजी उसकी बात न सुन पातीं। इन्होंने भी सुना तभी तो उससे कहा कि **'मातु बिपति संगिनि तैं मोरी'**। (ख) स्वप्न सुनानेका भाव कि यदि वैसे ही यह मना करती, स्वप्न न सुनाती तो कोई मानता नहीं, स्वप्न सुनानेसे सबको विश्वास होगा। (ग) **'करौ हित अपना'** अर्थात् रावणके हितमें जो तुम तत्पर हो उसे छोड़ो और अपने हितमें लगो। भाव यह कि श्रीसीताजीको दुःख देनेसे तुम्हारा अहित होगा। त्रिजटा रामभक्त है, इसीसे उसने श्रीसीताजीका हित किया और राक्षसियोंसे सेवा कराके उनका हित किया। यह धर्म है। यथा—**'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥'**

नोट—२ **'हित हमार सियपति सेवकाई'** श्रीभरतजीके (२। १७८। १ के) इस वाक्यके अनुसार जीवका अपना

* म० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित है।

हित भी श्रीसीतारामजीकी सेवाहीमें है। यहाँ स्वार्थ और परमार्थका एकीकरण हो जाता है। (लमगोड़ाजी)।

३—'सीतहि सेइ करहु हित अपना' इति। वाल्मी० ५। २७ में स्वप्नका विस्तृत उल्लेख है। श्लोक ९ से लेकर तीस श्लोकोंमें स्वप्न है। यह कहकर उसने हितके वचन कहे हैं कि—'तुम शीघ्र देखोगी कि श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रजीको शीघ्र प्राप्त होती हैं। राक्षसोंको मारकर वे तुम लोगोंको अवश्य मारेंगे क्योंकि अपनी प्राणप्रिय, वनवासमें भी साथ देनेवाली पत्नीका तुम लोगोंद्वारा भर्त्सन और तर्जन वे कदापि नहीं सह सकते, वे कभी क्षमा न करेंगे। अतएव उचित है कि अब तुम श्रीजानकीजीसे क्रूर वाक्य न कहो किंतु उनको कोमल वचनोंसे धीरज दो। मुझे तो यही रुचता है कि हम सब मिलकर उनसे अनुग्रहकी प्रार्थना करें। यद्यपि तुम लोगोंने इनको बहुत त्रास दिया है, तो भी तुम इस बातकी चिन्ता न करो। ये मैथिलीजी प्रणाममात्रसे प्रसन्न हो जायँगी। वे ही इस भयसे हम सबोंकी रक्षा करेंगी।' यथा—'···नश्यध्वं सीतामाप स राघवः ॥ ४० ॥ घातयेत्परमामर्षी सर्वैः सार्धं हि राक्षसैः। प्रियां बहुमतां भार्यां वनवासमनुव्रताम् ॥ ४१ ॥ भर्त्सितां तर्जिता वापि नानुमंस्यति राघवः। तदलं क्रूरवाक्यैर्वः सान्त्वमेवाभिधीयताम् ॥ ४२ ॥ अभियाचाम वैदेहीमेतद्धि मम रोचते। ···भर्त्सितामपि याचध्वं राक्षस्यः किं विवक्षया ॥ ४४ ॥ ···प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा ॥ ४५ ॥ अलमेषा परित्रातुं राक्षसीर्महतो भयात्।'—ये सब भाव 'सीतहि सेइ करहु हित अपना।' से जना दिये।

४—यह स्वप्न त्रिजटाको श्रीरामजीकी इच्छासे हुआ। झूठे ही स्वप्न बनाकर नहीं कहा गया। ☞ भक्त जब बहुत आपत्तिमें पड़ जाता है तब प्रभु ही उसकी रक्षाका उपाय रच देते हैं। त्रिजटाको स्वप्न हुआ और वह भी प्रातःकाल। वह जानती है कि प्रातःकालका स्वप्न प्रायः सत्य होता है। उसको अनुभव है कि यदि दुखियारी स्त्रीके सम्बन्धमें ऐसा स्वप्न हो तो वह अवश्य दुःखोंसे छुटकारा पाकर अपने पतिको पाती है। यथा—'यस्यामेवंविधः स्वप्नो दुःखितायां प्रदृश्यते। सा दुःखैर्विविधैर्मुक्ता प्रियं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ वाल्मी० २७। ४३-४४ ॥'—इसीसे उसे ऐसा स्वप्न हुआ जिससे उसे स्वयं विश्वास हुआ और दूसरोंको वह विश्वास दिला सकी। श्रीहनुमान्‌जीसे भी भेंट करानेके लिये यह स्वप्न हरि-इच्छासे हुआ।

५—'सीतहि' का 'हि' यहाँ निश्चयार्थक अव्यय है जिसमें भाव यह है कि एकमात्र श्रीसीताजीहीकी सेवासे हित होगा, अन्यथा नहीं।

६—वह स्वयं भक्ता और विवेकी है; इसीसे उसने उनको भी दोनोंका उपदेश दिया। 'सेवा करो' भक्ति है और 'इसमें अपना हित जानो' यह विवेक दिया।

सपनें बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी ॥ ३ ॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा ॥ ४ ॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहुँ बिभीषन पाई ॥ ५ ॥

अर्थ—स्वप्नमें (मैंने देखा है कि एक) वानरने लंका जला डाली और राक्षसोंकी सारी सेना मार डाली ॥ ३ ॥ दश सिरोंवाला रावण गधेपर सवार है, नंगा है, (उसके) सिर मुँड़े हुए हैं और बीसों भुजाएँ कटी हुई हैं ॥ ४ ॥ इस प्रकार वह दक्षिण दिशाको जा रहा है और लङ्का मानो विभीषणजीने पायी है ॥ ५ ॥

नोट—१ 'सपने बानर लंका जारी' इति। पूर्व एक बार कह चुके हैं कि 'सबन्हौ बोलि सुनायेसि सपना' और अब फिर कहते हैं कि 'सपने बानर···'। दो बार स्वप्नका कहना लिखकर सूचित किया कि प्रथम यही कहा कि मैंने आज बड़ा भयंकर एवं रोमाञ्चकारी स्वप्न देखा है जिसका फल है—रावणका नाश और श्रीसीताजीके पतिकी विजय। यह सुनकर सब राक्षसियाँ भयभीत हो गयीं और उन्होंने उससे पूछा कि क्या स्वप्न देखा है? तब त्रिजटाने स्वप्न सुनाया। यथा—'स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः। राक्षसानामभावाय भर्तुरस्या जयाय च ॥ वाल्मी० ५। २७। ६ ॥' '···कथयस्व त्वया दृष्टः स्वप्नोऽयं कीदृशो निशि। तासां तु वचनं श्रुत्वा राक्षसीनां मुखाच्च्युतम् ॥ ८ ॥'—वाल्मीकीयके भाव प्रकट करनेको यहाँ दो बार लिखा।

२—प्रथम स्वप्नके वृत्तान्त नहीं सुनाये, केवल स्वप्न देखना कहा और कहा कि 'सीतहि सेइ करहु हित अपना।' इसपर राक्षसियोंने कहा होगा कि रावणके जीते जी हमारा अहित कौन कर सकता है? इसपर उसने स्वप्नका वृत्तान्त सुनाया जो स्वप्नविचारानुसार रावणके नाश और श्रीरामजीकी जयके सूचक हैं।

टिप्पणी—१ 'सपने बानर लंका जारी।…' इति। (क) लंका जलाना अगम है, यथा - 'कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥ ३३। ५।' 'देखत तुम्हहि नगर जेहि जारा। ६। ५५। ४।' लंकापुरी दुर्धर्ष है, रावण त्रैलोक्यविजयी है; ऐसी भी लंकाको रावणके रहते एक बंदरने जला डाला। यथा—'रावन नगर अलप कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥ ६। २३। ८।' 'त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंकानाम महापुरी। कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने॥' (ख) इस चौपाईमें सुन्दरकाण्डकी कथा कही, आगे लंकाकाण्ड है।

२—(क) 'खर आरूढ़ नगन दससीसा।' इति। सेनाका मरना प्रथम कहकर तब रावणका मरण कहा, ऐसा ही हुआ भी और प्रायः ऐसा ही सब राजाओंकी लड़ाइयोंमें होता है। (ख) 'मुंडित सिर' से तो मरण न हुआ ? खंडित सिर कहनेसे मरण जाना जाता सो क्यों न कहा ? कारण कि स्वप्नाध्यायमें लिखा है कि जिनकी मृत्यु देख पड़ती है, उसकी मृत्यु नहीं होती; वरन् दूसरेकी मृत्यु होती है और जिसको सिर मुँड़ाए देखो उसकी मृत्यु अवश्य होती है। (ग) दक्षिण दिशामें यमपुरी है। दक्षिण दिशा या यमपुरको जाना मुहावरा है; मृत्यु होना इसका अर्थ है चाहे कोई स्वर्ग जाय, चाहे नरक, मृत्युसूचक स्वप्न सबोंको एक ही होते हैं। (घ) 'जाई' का भाव यह कि जिसको स्वप्नमें इस प्रकार देखे वह अवश्य मरता है। 'पाई' से जनाया कि जो उसके हाथोंसे निकल गयी थी, उस गयी हुईको पुनः पाया। रावणने विभीषणजीको निकाल दिया था, इससे राज्य मिलनेकी आशा न रही थी; यथा—'करत राज लंका सठ त्यागी। ५३। ५।' वह पुनः मिली। पुनः, जैसे सुग्रीवने किष्किन्धाका राज्य पाया था, यथा—'हरि लीन्हेसि सरबस अरु नारी।' वैसे ही विभीषणजीने गयी हुई सम्पत्ति पायी। 'गई हुई' के ही सम्बन्धसे 'पाई' कहा जाता है; यथा—'गइ मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई। २। ४४।' ('मनहुँ बिभीषन पाई') इति। यहाँ 'मनहुँ' उत्प्रेक्षाका पद दिया क्योंकि यह स्वप्नकी बात है और स्वप्नकी बात कहनेकी ऐसी ही रीति है।—['पाई' के इस भावमें एक दोष यह आता है कि विभीषणका राज्य छीना नहीं गया, वह कभी राजा न थे और न उत्तराधिकारी ही हो सकते थे।]

नोट—३ 'मनहुँ' उत्प्रेक्षालंकारसे मानो कवि उस भेदको भी निबाह देता है जो घटनाओंकी वास्तविकता और स्वप्नके आधारवाली कल्पनामें प्रतीत होता है। (लमगोड़ाजी)।

४—वाल्मी० ५। २७ में भी कहा है—'गर्दभेन ययौ शीघ्रं दक्षिणां दिशमास्थितः। २६।…' 'लंका दृष्टा मया स्वप्ने रावणेनाभिरक्षिता। ३७। दग्धा रामस्य दूतेन वानरेण तरस्विना। ३८।', 'एकस्तत्र मया दृष्टः श्वेतच्छत्रो विभीषणः। ३२।'

५—अर्धाली ३, ४ पायकुलक, 'एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई' कुसुमविचित्रा और 'लंका मनहु…' पायकुलक भेद है।

बाबा हरिदासजी—यहाँ त्रिजटाने दस बातें कहीं—लंकादहन, सेनावध, खंडित भुज, विभीषणराज्य, विजय-घोषणा, सीता-मिलाप, खर-आरूढ़, नग्न, मुंडित सिर और दक्षिण दिशाको गमन। इसमेंसे प्रथम छः तो सत्य हुईं पर अन्तिम चारका होना जान न पड़ा। यह शंका होती है। इसका समाधान यह है—(१) जब अंगदने प्रतिज्ञा की कि 'जौं मम चरन सकसि सठ टारी॥ फिरहिं राम सीता मैं हारी॥', तब सबने हटाना चाहा पर चरण किसीके टाले न टला। इससे रावणकी हार हुई। हारनेपर गधेपर चढ़ानेकी रीति है—(भक्तमालमें इसके प्रमाण हैं), रावणकी यह हार मानो गधेपर सवार होना है। (२) अंगदने हाथ पटका तब सभासहित सब गिर पड़े—'दुहुँ भुजदंड तमकि महि मारी॥ डोलत धरनि सभासद खसे। चले भागि भय मारुत ग्रसे॥' इससे रावणकी लज्जा मर्यादा जाती रही और नग्न होनेसे भी लज्जा-मर्यादा नहीं रहती। अतः यह नग्न होना हुआ। (३) 'भूतल परे मुकुट अति सुंदर।' रावणके सिरपरसे मुकुट गिर पड़े; इनमेंसे कुछको अंगदने उठाकर प्रभुके पास चला दिया, उसका सिर शोभाहीन हो गया। यही सिरका मुंडित होना हुआ। और (४) दक्षिणदिशिसे मरण कहा; क्योंकि मृतकका पैर दक्षिण दिशाकी ओर रखा जाता है; जीवित मनुष्य दक्षिण दिशाकी ओर पैर करके नहीं सोते।

नगर* फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥ ६॥
यह सपना मैं कहौं पुकारी। होइहि सत्य गएँ दिन चारी॥ ७॥
तासु बचन सुनि ते सब डरीं। जनकसुता के चरनन्हि परीं॥ ८॥

* म० चं०—'नगर०' तामरस, 'तब' से 'चारी' तक पायकुलक, 'तासु०' आ० चौ० का ३२१ वाँ भेद, 'जनकसुता' ३४८ वाँ भेद है।

अर्थ—नगरमें रघुवीरकी दोहाई फिरी तब प्रभुने सीताजीको बुला भेजा ॥ ६ ॥ मैं पुकारकर कहती हूँ कि यह स्वप्न चार दिन बीते सत्य होगा ॥ ७ ॥ उसके वचन सुनकर वे सब डरीं और जानकीजीके चरणोंपर पड़ीं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ **'नगर फिरी रघुबीर दोहाई।'''** इति। (क) जिसका राज्य होता है, उसकी दुहाई फिरती है (उसके विजय एवं राज्यकी घोषणा डंके आदिके द्वारा होती है); यथा—**'जब प्रतापरबि भयउ नृप फिरी दोहाई देस। १।१५३।'** सब निशाचर-सेनाको मारकर विजय-घोषणा की, इसीसे 'रघुवीर' कहा। (ख)—'तब' अर्थात् जब विभीषणको राज्य दे चुके। पहले शरणागतका काम किया, उसको निर्द्वन्द्व कर दिया, तब अपना काम पीछे किया—यह श्रीरामजीका स्वभाव है। जैसे पहले सुग्रीवको राज्य देकर तब सीताजीकी खोज करायी, वैसे ही विभीषणजीको राज्य देकर तब सीताजीको बुलाया। इसी प्रकार अवध पहुँचनेपर प्रथम सखाओंको स्नान कराके तब स्वयं स्नान किया। **'तब प्रभु सीतहि बोलि पठाई'** कहनेका तात्पर्य यह है कि तुम सब इनको दुःख देती हो, जब इनको प्रभु बुलाकर पूछेंगे, ये सब हाल उनसे कहेंगी, तब तुम्हारी दुर्दशा होगी।

२—**'यह सपना मैं कहौं पुकारी।'''** इति।—भाव यह है कि स्वप्न सत्य होगा, हमने प्रातःकालमें अभी देखा है। अथवा, औरोंके स्वप्न चाहे असत्य हों परंतु परमभक्तोंके स्वप्न सत्य ही होते हैं। जैसे श्रीपार्वतीजी, श्रीभरतजी और श्रीरामजीने जो-जो स्वप्न देखे, वे सब सत्य हुए। यथा—**'सुनहि मातु मैं दीख अस सपन सुनावौं तोहि। सुंदर गौर सुबिप्रबर अस उपदेसेउ मोहि ॥ १। ७२ ॥ करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी ॥'**, **'देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना ॥२।१५७।'**, **'उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागे सीय सपन अस देखा॥ सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तनु ताए॥ सकल मलिन मन दीन दुखारी। देखीं सासु आन अनुहारी ॥ २। २२६।'**—('होइहि सत्य' कहनेमें भाव यह है कि स्वप्न प्रायः असत्य होते हैं; यथा—**'सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ। जागें लाभु न हानि कछु'''। २। ९२।'**; इसीसे कहती है कि इसे भी असत्य न समझ लेना, यह अवश्य सत्य होगा। 'हि' निश्चयार्थक है।)

३—(क) **'कहौं पुकारी'** इति। अर्थात् पुकारकर कहती हूँ जिसमें सबको भलीभाँति विदित हो जाय, पीछे कोई न कहे कि हमसे नहीं कहा। अब चाहे तुम मानो चाहे न मानो; न माननेसे तुम्हारा अहित हो तो इसमें हमारा दोष नहीं। यथा—**'कालकवलु होइहि छन माहीं। कहौं पुकारि खोरि मोहि नाहीं ॥१।२७४।'** [वाल्मी० ५। २४ में उन राक्षसियोंके नाम दिये हैं जो श्रीसीताजीके पहरेपर थीं। विनता, विकटा, चण्डोदरी, प्रघसा, अजामुखा और शूर्पणखा। इन सबोंने सीताजीको डरवाया। शूर्पणखा कहती है कि जो अजामुखाने कहा वही मेरी भी राय है, शीघ्र सुरा ले आओ, मनुष्यका मांस खाकर हमलोग निकुम्भिलामें नाचें (श्लोक ४३-४७)। श्रीत्रिपाठीजी इसीके आधारपर 'पुकारि' का भाव यह कहते हैं कि 'यह ध्रुव सत्य है, मैं डिमडिम घोषसे कहती हूँ। जाय शूर्पणखा रावणसे कह दे, साँचको आँच क्या ? (वि० त्रि०)।

☞ वचनकी प्रवीणता (eloquence) के नियमसे इसमें अपना स्वयं विश्वास तो है ही; पर वह इतना दृढ़ भी है कि बड़े जोरसे कहा जाना सूचित होता है; दुविधा होती तो मौन रहती। (लमगोड़ाजी)] (ख)—**'गएँ दिन चारी'** इति। चार दिन अल्पकालका वाचक है; यथा—**'बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चारिमें दोउ बीर। मिलहिंगे कपि भालु दल संग जननि उर धरु धीर ॥ गी० सुं० ६।'** [दो-चार दिन, चार-छः दिन, चार दिन, छः-सात दिन इत्यादि मुहावरे (लोकोक्ति) हैं। इनसे दिनोंकी ठीक-ठीक संख्या न समझनी चाहिये। कवितावली, गीतावली और मानसमें इस प्रकारके और भी प्रयोग हैं; यथा—**'दिवस छ सात जात जानिबे न मातु धरु धीर। अरि अंतकी अवधि रही थोरि कै। क० सुं० २७।'**, **'तौं लौं मातु आपु नीके रहिबो। जौ लौं हौं ल्यावौं रघुबीरहि दिन दस और दुसह दुख सहिबो ॥ गी० ५। १४।'**, **'दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा ॥ ७। १९। ८।'**, **'दिन दस गएँ बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई ॥ ६। २१।'** इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि यहाँ दिनकी संख्या विवक्षित नहीं है।]

नोट—१ मानसमें प्रसाद-गुण ही प्रधान है। इस विचारसे ठीक अर्थ यही है तो भी लोगोंने 'दिन चारी' पर मस्तिष्कको पचाया है और अनेक भाव कहे हैं—इनमेंसे दो-एक यहाँ दिये जाते हैं—ये सब वाग्विलास ही हैं—(१) **'होइहि सत्य गये दिन चारी'**=चारी (चारों बातें) सत्य होइहहिं, (कुछ) दिन गये। चार बातें ये हैं—लंकादहन और सेनावध, रावण-वध, विभीषणराज्य, विजयघोषण और श्रीसीताराम-मिलाप। (२) रा० शं०—किसी कामके प्रारम्भसे समाप्तितक जितने

दिन लगते हैं, उनपर ध्यान न देकर जिस दिन वह पूरा होता है उसे त्रिजटा एक दिन गिनती है। लंकादहन एक दिन, सेनाकी लड़ाईके दिन छोड़कर जिस दिन सेनाकी समाप्ति हुई वह एक दिन, रावणके युद्धके दिन छोड़कर उसके मरणका एक दिन, और युद्धके बाद जो दिन बीते, उन्हें छोड़कर विभीषणके राजतिलकका एक दिन। इस प्रकार चार दिन हुए। (१) और (२) में तो कुछ भाव भी हैं, पर आगे कोरी पण्डिताई देखिये। (३) गये दिन=रात्रि, निशि। गये दिनचारी=निशिचरी। अर्थात् हे निशाचरियो! यह स्वप्न सत्य होगा। (४) दिनचारी=वानर। अर्थात् हनुमान्‌जीके जानेपर।''' इत्यादि। (१) का उत्तर यह है कि 'होइहि' एकवचन है और चारी बहुवचन।

मा० त० सु०--'त्रिजटाने लंकादहनसे ही क्यों कहा? वानरका लंकामें प्रवेश, अशोकवाटिकामें आगमन आदि व्यवस्था क्यों न कही?' उत्तर--त्रिजटाको 'विवेकमें निपुण' कहा है; यथा--'रामचरनरति निपुन बिबेका।' उसने विचारा कि यदि इसे कहूँगी तो राक्षस सुनकर वानरको खोजने लगेंगे, जिससे रामकार्यमें बाधा होगी।--[नोट--मा० त० सु०-कार 'सपना' को त्रिजटाका अनुभव समझते हैं, वस्तुतः स्वप्न नहीं। पर औरोंके मतसे यह उसने स्वप्नमें ही देखा, और हरिइच्छासे इतना ही स्वप्न देखा, वही उसने कह दिया। विभीषणजीके सम्बन्धसे केवल यह अनुमान ही है कि उसे वानरका आगमन मालूम है।]

टिप्पणी--४ 'तासु बचन सुनि ते सब डरीं।''' इति। (क)--त्रिजटाका रामभक्त और ज्ञानी होना प्रारम्भमें कहा था, यथा--'रामचरनरति निपुन बिबेका।'; पर 'ते सब डरीं' से जान पड़ता है कि उसने भक्ति और ज्ञान न कहा केवल भय दिखाया कि तुम इनका भर्त्सन और तर्जन कर रही हो अतएव विजय होनेपर श्रीरामजी तुम्हें अवश्य दण्ड देंगे। केवल भयदर्शनका कारण यह है कि निशाचरियाँ भक्ति या ज्ञानकी अधिकारिणी न थीं। (ख)--'जनकसुता के'''' इति। जनकसुताके चरणोंपर अपराध क्षमा-हेतु पड़ीं और जनाया कि हम शरण हैं, इन्हीं चरणोंका अवलम्ब हमको है, हम अत्यन्त दीन हैं। ये जनक-ऐसे महात्माकी कन्या हैं, इन्होंने क्षमा कर दिया।

नोट--२ वाल्मीकीयमें भी श्रीसीताजीको 'प्रणाम' से प्रसन्न होनेवाली कहते समय भी 'जनकात्मजा' ही कहा है; यथा--'प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा। २७। ४५।' वही भाव दरसानेके लिये यहाँ 'जनकसुता' पद दिया। यह भी जनाया कि ऐश्वर्यभावसे ईश्वरी जानकर प्रणाम नहीं किया। उन्होंने क्षमा कर दिया, यथा--'ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता। अवोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः॥ २७। ५३।' श्रीसीताजीने विश्वास दिलाया कि यदि ऐसा हुआ तो मैं अवश्य रक्षा करूँगी। [(पर यह श्लोक प्रक्षिप्त कहा जाता है। चतुर्वेदीजीने नहीं दिया है। श्रीवचन-भूषणमें भी आया है।) त्रिजटाका अनुभव जो 'सीतहि सेइ करहु हित अपना' इन वचनोंमें निहित है, सत्य हुआ। निशाचरियोंको इसका प्रमाण रावण-वधपर मिल ही गया। श्रीहनुमान्‌जीने रावणवधका समाचार देकर इन सबोंके चित्र-वधकी आज्ञा माँगी, और श्रीजानकीजीने इनकी रक्षा की। वाल्मी० ६। ११६। ३०-४६ में यह प्रसंग है।]

प० प० प्र०--१ इस अर्धालीमें प्रत्येक चरणमें एक-एक मात्रा कम करके गतिविच्छेद, लयभंग करके (डरीं) के भाव दिग्दर्शित किये हैं। डरसे घिग्घी बँध गयी, शरीर काँपने लगा इत्यादि भाव पाठसे ही बता दिया।

☞ २ जब राजसत्तान्तर होनेकी परिस्थिति निर्माण होती है तब अत्याचारी अन्यायी राजाकी प्रजा राजाज्ञाको कितना मानती है और क्षणमात्रमें लोगोंकी चित्तवृत्ति कैसी पलटती है यह इस प्रसंगसे स्पष्ट है। धर्मशील न्यायपरायण राजाकी प्रजा विश्वासघात नहीं करती, यह राजा भानुप्रतापके प्रसंगसे शिक्षा मिलती है।

दो०--जहँ तहँ गईं सकल तब* सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीतें मोहि मारिहि निसिचर पोच॥ ११॥

अर्थ--सब (मिलकर एक साथ) जहाँ-तहाँ चली गयीं। तब श्रीसीताजी मनमें चिन्ता करने लगीं कि एक महीने बीतनेपर नीच निशाचर मुझे मारेगा॥ ११॥

☞ नाटकी कलामें कितना सुन्दर Aside है!! (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी--१ 'जहँ तहँ गईं सकल' इति। (क)--सबने सम्मत किया कि 'हमें देखकर इनको भय लगता है',

* मिलि--पाठान्तर। (रा० कु०)।

यहाँसे इधर-उधर चल दें, समीप न रहें। अतएव 'जहँ तहँ गईं।' पुनः यह हरिइच्छासे हुआ कि पास कोई न रहें। 'जहँ तहँ' अर्थात् पास ही इधर-उधर अशोकवाटिकामें रहीं, घर नहीं गयीं। घर केवल त्रिजटा ही गयी, यथा—'**असि कहि सो निज भवन सिधारी।**'; वे भी घर जातीं तो 'निज निज भवन गईं' कहते। वे घर न गयीं; क्योंकि रावणकी आज्ञा उनके पास रहनेकी है। (ख) त्रिजटाने तो सेवा करनेको कहा था—'**सीतहि सेइ करौ हित अपना।**' और ये सब चली गयीं! इनका पाससे चला जाना यही बड़ी सेवा है; क्योंकि वे रावणकी आज्ञासे इनको '**बहु बिधि**' '**त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद।**' पास रहनेसे सीताजीको उनका भय ही रहता, पास न रहेंगी तो भय जाता रहेगा। उपद्रवी उपद्रव न करे, यही उसकी बड़ी सेवा है, यथा—'**यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चुराई**'; अतएव भय दिखाना छोड़ चली गयीं यह सेवा की। [मा० त० सु०—इस समय वे सेवायोग्य अवसर न देख सेवामें प्रवृत्त न हुईं, जब इनका समय आवेगा अर्थात् धर्मात्मा विभीषण राजा होंगे तब ये सेवामें प्रवृत्त होंगी। यथा—'**तब हनुमंत नगर महँ आये। सुनि निसिचरी निसाचर धाये॥ बहु प्रकार तिन्ह पूजा कीन्ही। जनकसुता दिखाइ पुनि दीन्ही॥** ६। १०६।' पुनः यथा—'**तुरतहि सकल गये जहँ सीता। सेवहिं सब निसिचरी बिनीता॥** ६। १०७।']

नोट—१ 'तब' का भाव कि सबके चले जानेपर तो सोच दूर हो जाना चाहिये था और त्रिजटाके वचन सुनकर हर्ष होना चाहिये था, सो न हुआ। निशाचरियोंके त्रासका दुःख गया, 'तब' मासदिवसकी अवधिका और नीच राक्षसके हाथसे मरनेकी बातपर ध्यान आ गया; अतः वे सोच करने लगीं। यथा—'**सा राक्षसेन्द्रस्य वचो निशम्य तद्रावणस्याप्रियमप्रियार्ता। सीता वितत्रास**...।' ५। २८। १।'

टिप्पणी—२ '**सीता कर मन सोच**' इति। पूर्व सीताजीने कहा है कि '**चन्द्रहास हरु मम परितापं**' आगे भी कहती हैं कि '**तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥**' इससे स्पष्ट है कि वे मरनेपर तैयार थीं और आगे भी तैयार दिखती हैं। तब यहाँ बीचमें '**सीता कर मन सोच**' कैसा? अर्थात् यहाँ मरनेका सोच क्यों करती हैं? इसका उत्तर यह है कि यहाँ सोच यह नहीं है कि हम मारी जायँगी, यह तो वे चाहती ही हैं। सोच इस बातका है कि महीनाभर बीत जानेपर मारेगा; तबतक हमको विरह सहना पड़ेगा, जो हमसे अभी ही नहीं सहा जा रहा है। इसीसे आगे कहती हैं कि '**करु बेगि उपाई**' जिसमें शीघ्र मर जाऊँ। इसपर यदि कहा जाय कि हनुमान्‌जीसे भी तो ऐसा ही कहा है—'**मास दिवस महुँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा॥** २७। ६।', तो वहाँ भी उन्होंने अपने मरनेके सोचसे यह बात नहीं कही, वहाँ केवल श्रीरामचन्द्रजीके शीघ्र आकर दुःख हरनेके अभिप्रायसे कहा (कि देर हुई तो आना व्यर्थ हो जायगा)। पुनः, उन्होंने हनुमान्‌जीसे यथार्थ जैसी बात रावणने कही थी वही ज्यों-की-त्यों कही है। अथवा, सोच इससे कि नीचके हाथ मरण होगा। नीचके हाथ मरण होनेसे नरक होता है।

नोट—२ सोच यह है कि राक्षसके हाथसे मृत्यु होगी। यथा—'**हा जीवलोकस्य हितः प्रियश्च वध्यां न मां वेत्सि हि राक्षसानाम्।** वाल्मी० ५। २८। ११।' अर्थात् हे प्राणिमात्रके हितैषी और प्रिय (श्रीराघवजी)! आपको यह नहीं विदित है कि मैं राक्षसोंके हाथसे मारी जानेवाली हूँ। यह भी सह लेती यदि तुरत मार डाली जाती; पर उसके लिये एक मासकी अवधि है। आत्मघात करना चाहती हूँ पर न विष ही मिलता है न शस्त्र। सत्य है कि समय आये बिना मृत्यु नहीं होती। वाल्मी० ५। २८ के ये सब भाव इस दोहेमें भरे हुए हैं। यथा—'**सा जीवितं क्षिप्रमहं त्यजेयं विषेण शस्त्रेण शितेन वापि। विषस्य दाता न हि मेऽस्ति कश्चिच्छस्त्रस्य वा वेश्मनि राक्षसस्य॥ १६॥**' '**सत्यं बतेदं प्रवदन्ति लोके नाकालमृत्युर्भवतीति सन्तः।** ५। २८। ३।'

टिप्पणी—३ '**मारिहि निसिचर पोच**' इति। स्त्री अवध्य है, स्त्रीका वध बड़ी नीचता है, सो भी करनेको रावण उद्यत हुआ, यथा—'**नाहि त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति नत जीवन हानी॥**'; पर यह कहकर भी उसने वचनोंको प्रमाण न किया, शीघ्र मारनेको कहकर फिर भी मारा नहीं वरन् मासभरकी अवधि दे दी; यथा—'**मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारब०॥**' दोनों कारणोंसे 'पोच' कहा। (रा० कु०)।

त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी। मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥ १॥
तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥ २॥

अर्थ—(आत्महत्याका मनमें निश्चय कर वे) त्रिजटासे हाथ जोड़कर बोलीं—'हे माता! तू मेरे दुःखकी

साथिनी है ॥ १ ॥ शरीर छोड़ दूँ; इसका शीघ्र (कुछ) उपाय कर दे । विरह अत्यन्त कष्टदायक है, अब सहा नहीं जाता' ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'त्रिजटा सन बोली' इति । (क) त्रिजटासे क्यों कहा ? वह तो कहना करेगी नहीं, क्योंकि उसे विश्वास है अपने स्वप्नका । दूसरे वह श्रीरामजीकी भक्ता है; वह मारनेका उपाय क्यों करेगी ? और राक्षसियोंसे क्यों न कहा कि खा लें ? कारण कि वे तो खानेको दौड़ती ही थीं पर खाती न थीं, उन्हें रावणने आज्ञा दी थी कि डराओ, इससे वे केवल भयानक रूप धरकर डरवाती थीं । उन्हें खाना होता तो खा क्यों न लेतीं, ये तो मरनेको तैयार ही थीं, ये कब रोकतीं ? अतएव उनसे क्या कहतीं ? (ख) 'बोलीं कर जोरी' हाथ जोड़कर उपकार जनाती हैं । जो बात करनेको वे कहती हैं वह दुष्कर है, अगम है, त्रिजटा उसे न करेगी—वह कैसे कहेगी कि लो हम चिता लगाये देती हैं तुम जल जाओ ? इसीसे हाथ जोड़कर निहोरा करती हैं । अगम बात इसी तरह माँगनेकी रीति है, यथा—'मागउँ दूसर बर कर जोरी । पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ॥ २ । २९ ॥' भरतको राज्य देनेमें राजाको दुःख न होगा इससे भरत-राज्य माँगनेमें हाथ न जोड़ा; यथा—'सुनहु प्रानप्रिय भावत जीका । देहु एक बर भरतहि टीका ॥ २ । २९ । १ ॥'; पर श्रीरामजीको वनवास देनेमें उन्हें बहुत दुःख होगा, वे यह वर दे नहीं सकते; इसीसे इसके माँगनेमें हाथ जोड़कर निहोरा करके तब वर माँगा । (ग) यहाँ श्रीसीताजीकी मन, वचन और कर्म तीनोंसे अत्यन्त दीनता दिखायी है—'सीताकर मन सोच', 'त्रिजटा सन बोलीं', 'कर जोरी' (कर जोड़ना कर्म है) ।

२—(क) 'मातु बिपति संगिनि तैं मोरी' । इति । (भाव यह कि लङ्काभरमें विपत्तिका साथी तेरे अतिरिक्त दूसरा नहीं है, इसीसे तुझसे कहती हूँ) । 'बिपति संगिनि' अर्थात् हे माता ! जैसे तू मेरी एक विपत्ति काटकर मेरी विपत्तिमें सहायिका हुई कि स्वप्न सुनाकर राक्षसियोंको निवारण किया, वैसे ही मेरी दूसरी विपत्तिके निवारणमें सहायक बन । दूसरी कौन विपत्ति है सो आगे कहती हैं । (ख) 'तजौं देह' पहले कहकर तब 'करु बेगि उपाई' कहा । भाव यह कि उपाय करनेमें विलंब है, तन-त्यागमें विलम्ब नहीं । आगे आप ही बताती हैं । (ग) 'बिरह-अनल' नहीं सहा जाता । भाव कि प्राकृत अग्निसे विरहाग्निका ताप कठिन है, अग्निमें जलना सुगम है पर विरहाग्निमें जलना दुष्कर है । मरण सहन योग्य है; विरह असह्य है । (घ) 'अब नहिं सहि जाई' इति । प्रतिकूल बात कहनेसे विरहीका विरह बढ़ जाता है, यथा—'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल भए । लोचन सरोरुह श्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए ॥' माता कौसल्या आदिने राज्य करनेको कहा, यह भरतजीकी भक्तिके प्रतिकूल है । वैसे ही रावणके वचन कि 'एक बार बिलोकु मम ओरा' श्रीजानकीजीके पातिव्रत्यधर्मके प्रतिकूल हैं । अतएव कहा कि 'अब' नहीं सह सकती ।*

आनि काठ रचु चिता बनाई । मातु अनल पुनि देहि लगाई ॥ ३ ॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी । सुनै को श्रवन सूल सम बानी ॥ ४ ॥†

अर्थ—लकड़ी लाकर चिता बनाकर रच और फिर, हे माता ! (उसमें) आग लगा दे ॥ ३ ॥ हे सयानी ! मेरी प्रीति सच्ची कर दे‡ शूलके समान वचनोंको कानोंसे कैसे सुने ॥ ४ ॥

* मा० त० सु०—'दुसह विरह' पदसे अपनेमें उज्ज्वलरस वियोग-शृङ्गार दरसाकर माधुर्यमय अन्तर्लापिका दरसाया है ।

† प्र० चं०—१२ (१) (२) (३) (४) पायकुलक हैं ।

‡ 'मम प्रीति' का साधारण अर्थ ऊपर दिया गया । कुछ लोगोंने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—(१) मेरे प्रति जो तेरा प्रेम है । (२) मेरी प्रीति जो तुझमें है और तेरी प्रीति जो मुझमें है । पं० राजकुमारजीने—'मेरी प्रीति जो श्रीरघुनाथजीमें है'—यह अर्थ किया है और इसकी पुष्टि टिप्पणी २ में की है । बैजनाथजीने भी यही अर्थ किया है । वे लिखते हैं कि पतिवियोगमें प्राण त्याग देना ही योग्य है, शत्रुके वशमें रहनेसे मरण ही उत्तम है । कदाचित् त्रिजटा कहे कि प्रभुका संयोग शीघ्र होगा तो उसपर कहती हैं कि 'सुनैको श्रवन सूल सम बानी ।' अर्थात् यह वचन सहे नहीं जाते । अर्थ (१) व (२) की पुष्टिमें यह कह सकते हैं कि सत्य प्रेम तो वह है जो वियोग होते ही निरुपाय प्राण निकल जायँ, बाहरी कोई साधन न करना पड़े । उसके लिये अग्नि या जलाशय आदिकी आवश्यकता नहीं । 'गीत-गोविन्द' वाले जयदेवकी धर्मपत्नी पद्मावतीजीने यही बात कही है । भक्तमाल देखिये । अतः यहाँ 'श्रीरामजीमें अपना प्रेम' सत्य करनेका भाव न होकर त्रिजटाका श्रीसीताजीमें और श्रीसीताजीका

टिप्पणी—१ 'आनि काठ रचु चिता बनाई ।···' इति (क) 'रचु बनाई' पद मङ्गलवाचक है । पतिके वियोगमें सतीका मरण होना मंगल है । जैसे उत्साहसे (उत्सवोंमें) लोग मंगल रचना रचते हैं, वैसे ही मेरे निमित्त उत्साहसे चिता रच दो । दशरथमरणपर भी इन्हीं शब्दोंका प्रयोग हुआ है, यथा—'सरजुतीर रचि चिता बनाई । जनु सुरपुर सोपान सुहाई ॥' तात्पर्य यह कि जो काम श्रीरामजीको न मिला वह हमको मिला ।—[वहाँ भी रामविरहमें शरीर छूटा था, अतः मङ्गलवाचक पद दिया गया—(मा० सं०)] । चिता बनाकर लगा दे तो मैं उसमें प्रवेश कर जाऊँ; यथा—'श्रीखंड सम पावक प्रवेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली' । (ख)—कोई सम्बन्धी ही चितामें अग्नि लगाता है । यहाँ तुम मेरी माताके समान हो क्योंकि शरीर मातासे मिलता है और तुमने इस समय राक्षसियोंसे बचाकर मुझे मानो दूसरा जन्म दिया है । अतएव तुमको दग्ध करना उचित है । तुम आग लगा दो ।*

नोट—१ 'मातु' इति । एक ओर इस करुणाजनक अपीलसे यह विरोध प्रकट होता है कि मातासे शरीर भस्म करनेको कह रही हैं और दूसरी ओर सूचित करती हैं कि इस समय मातृप्रेमका कर्तव्य है कि दुःखान्त करनेमें सहायक बने । ऐसे समय असाध्य रोगोंमें डाक्टर सकरुण हत्या (pitful killing) तक उचित समझता है । इसी आगामी हितके विचारसे 'सयानी' शब्दका प्रयोग किया गया है । (लमगोड़ाजी)

२—'मम प्रीति' का साधारण अर्थ तो 'मेरी प्रीति' है ।

टिप्पणी—२ 'सत्य करहि मम प्रीति' इति । जबतक प्रियके वियोगमें शरीर न छूटे तबतक प्रीति सत्य नहीं, यथा—'बंदउँ अवधभुआल सत्य प्रेम जेहि रामपद । बिछुरत दीनदयाल प्रिय तन तृन इव परिहरेउ ॥ १ । १६ ॥', 'तनु परिहरेउ पेम पन लागी । २ । २६४ ।', 'ऐसे सुतके बिरह अवधि लौं जौ राखौं यह प्रान । तौ मिटि जाइ प्रीतिकी परमिति अजस सुनौं निज कान ॥ तुलसिदास तनु तजि रघुपतिहित कियो प्रेम परवान । गी० २ । ५९ ।'

टिप्पणी—३ 'सयानी' का भाव कि तुम जानती हो कि पतिविहीन स्त्रीका जीवन व्यर्थ है । अथवा, तुम भी प्रेमिन हो, जानती हो, कि तन छूटनेसे ही प्रीति सत्य होगी अन्यथा झूठी है, यथा—'निंदहिं आपु सराहहिं मीना । धिग जीवन रघुबीर बिहीना', 'तुलसी जियै जो बारि बिनु तौ तु देहि कबि खोरि ॥ दोहावली ३१७ ।'

४ 'सुनै को' अर्थात् श्रवणशूलसम वाणी सुननेसे मरना अच्छा है, यथा—'अरि बस दैव जियावत जाही । मरन नीक तेहि जीवन चाही' ॥

सुनत बचन पद गहि समुझाएसि । प्रभु प्रताप बल सुजस सुनाएसि ॥ ५ ॥
निसि न अनल मिल† सुनु सुकुमारी । अस कहि सो निज भवन सिधारी ॥ ६ ॥

त्रिजटामें जो प्रेम है वही अभिप्रेत है । भाव यह कि अग्निमें जलाकर मेरा दुःख दूर कर तो जानूँ कि तेरा प्रेम सत्य है । विभीषणजीकी स्त्री और लड़कियाँ सब सीताजीसे प्रेम रखती थीं, यह बात वाल्मीकीयसे सिद्ध है । विभीषणजी इनके द्वारा जब-तब ढाढ़स दिया करते थे ।

* मा० त० सु०—(१) जिसके द्वारा श्रीराघवजी प्राप्त हों, वा विरहाग्नि मिटे, वह उपाय सुन्दर ही होना चाहिये । अतः 'रचु बनाई' कहा । (२) एक बार 'माता' सम्बोधन कर चुकीं फिर भी 'मातु-सम्बोधन' करके अति-आर्तता और प्रीति जनायी जिसमें वह भी अधिक स्नेह करे । [विनम्र निवेदन है । दुष्कर कार्य कराना है । अतः बार-बार कहती हैं ।]

† १—मिल—भा० दा०, बं० पा० । मिलु—का०, पं०, मा०, म० । मानसमयंककार और उनके अनुयायी एवं पंजाबीजी अर्थ कहते हैं कि 'रातमें अग्निमें न मिलो अर्थात् न जलो' । वे कहते हैं कि सीताजी अपनेको मृतक मानकर भस्म हुआ चाहती हैं पर रात्रिमें मृतकको भी जलानेका निषेध शास्त्रोंमें है, यथा निर्णयामृते पारिजाते यमः—'सन्ध्यायां वा तथा रात्रौ दाहः पाथेय कर्म च । नवश्राद्धं च नो कुर्यात्कृतं निष्फलतां व्रजेत्' ॥ श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि रात्रिमें अग्नि माँगनेपर किसीको देना मना है इसलिये कि क्या जाने यह अग्नि क्या करेगा । अतः अग्नि नहीं मिलना कहा । यदि त्रिजटा रात्रि विषे अग्निमें जलनेसे मना करती तो फिर सीताजी त्रिजटाके चले जानेपर अग्निकी चाह क्यों करतीं; यथा—'अवनि न आवत एकौ तारा ।', 'सुनहि बिनय मम बिटप असोका ।···' इत्यादि । अतः त्रिजटाने अग्निमें जलनेके लिये नहीं मना किया था । अग्नि रात्रिमें नहीं मिलेगी ऐसा कहकर चली गयी । अतएव 'रात्रिमें अग्नि न मिलो' यह अर्थ गलत है । २—अर्धाली ५ 'सुनत···' १२२० वाँ भेद, 'प्रभु' १२२० वाँ भेद है । अर्धाली ६ से १२ तक पायकुलक है ।—(ब्र० चं०) ।

अर्थ—वचन सुनते ही उसने चरण पकड़कर समझाया; प्रभुका प्रताप, बल और सुयश सुनाया ॥ ५ ॥ हे सुकुमारी! सुनो, रात्रिमें आग नहीं मिलती। ऐसा कहकर वह अपने घर चल दी ॥ ६ ॥

नोट—१ माताकी ममता एक बहाना ढूँढ़ लेती है, नहीं तो रात्रिमें दीपककी आग तो मिल ही सकती थी। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'पद गहि'। श्रीसीताजीने हाथ जोड़कर माता कहा तब त्रिजटाने चरण पकड़कर जनाया कि आप तो मेरी स्वामिनी हैं, मैं तो आपके चरणोंकी दासी हूँ। अथवा, आज्ञा न माननेके लिये अपराध-क्षमा-हेतु चरण पकड़े। अथवा, चरण पकड़कर (शपथपूर्वक) कहती है कि श्रीरामजी आयँगे, राक्षसोंको मारकर तुम्हें ले जायँगे, तुम धैर्य धारण करो, और धीरज देनेके लिये 'प्रभु प्रताप बल सुजस' सुनाया। 'समुझाएसि' और 'सुनाएसि' दो पृथक्-पृथक् क्रियाएँ हैं। (ख) प्रभुका भाव कि वे समर्थ हैं। (ग) प्रताप यथा जयन्तकी कथा, बल यथा धनुषभंगकी कथा, सुयश यथा अहल्योद्धार अथवा यह कि प्रभु एक नारिव्रत हैं। तुमको कदापि नहीं भुला सकते।

नोट—२ प्रताप बल सुयशके विषयमें जनकपुरके दूतोंने श्रीदशरथजीसे अपने आँखों देखी बात कही है; यथा—''जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥ संभु सरासन काहु न टारा। हारे सकल बीर बरिआरा॥ ···जेहि कौतुक सिव सैलु उठावा। सोउ तेहि सभा पराभउ पावा॥ तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिअ महा महिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल ॥ १। २९२॥ सुनि सरोष भृगुनायक आए। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाए॥ देखि रामबल निज धनु दीन्हा।'' मन्दोदरीने भी सीयस्वयंवर, जयन्त, मारीच और लक्ष्मणजीकी खींची हुई रेखके उदाहरण दिये हैं; यथा—'रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाँघेउ असि मनुसाई॥···बान प्रताप जान मारीचा।···जनकसभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला॥ भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥ सुरपतिसुत जानइ बल थोरा। ६। ३५।' विराधवध, खरदूषणादिका वध और बालीका एक ही बाणसे वध सब बलके उदाहरण हैं। पुनः, सुयशसे यहाँ आर्त्तिहरण, दीनदयाल, प्रणतपाल, आश्रयदाता इत्यादि विरदसे जो सुन्दर यश फैल रहा है वह भी अभिप्रेत है; कारण कि इस समय श्रीजानकीजी बहुत आर्त हैं यथा—'जौ प्रभु दीनदयालु कहावा। आरतिहरन बेद जसु गावा॥ १। ५९।', 'निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परागतिः। १९। आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्। वाल्मी० ४। १५। २०।' (अर्थात् वे साधुओंके आश्रयदाता तथा पीड़ितोंके रक्षक हैं, वे दुखियोंके आश्रयस्थान हैं और यशके एकमात्र भाजन हैं), 'श्रवन सुजसु सुनि आयउँ···आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥ ५। ४५।', 'सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयो सरन।···सोक-श्रमसींव सुग्रीव आरति हरन। राम राजीवलोचन बिमोचन बिपति। गी० ५। ४३।', 'दीनहित बिरद पुरानन्हि गायो। आरतबंधु कृपाल मृदुलचित जानि सरन हौं आयो।···जानत प्रभु दुख-सुख दासनि को ताते कहि न सुनायो॥ गी०। ५। ४४।' गीतावलीमें भी श्रीसीताजीका त्रिजटासे बात करना और उसका उत्तर देना पाया जाता है। यथा—'तुलसी त्रिजटा जानी सिय अति अकुलानी मृदु बानी कह्यो ऐहैं दवन-दुवन। तमीचरतमहारी सुरकंजसुखकारी रविकुलरवि अब चाहत उवन ॥ ५। ४८।' इसपर सीताजीने कहा है कि—'तैं प्रभु सुजस-सुधा सीतल करि राखे तदपि न तृप्ति लहे री। ५। ४९।' इसके अनुसार 'दवन दुवन' आदि विशेषण 'सुयश' हैं।

☞उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि त्रिजटाने कहा होगा कि श्रीरामजीने धनुषको तोड़कर आपकी चिन्ता मिटायी थी, रावण तो उठा भी न सका था, आपहीके लिये सहस्रबाहुके मारनेवाले परशुरामका गर्व हरण किया, आपहीके लिये जयन्तपर सींकका बाण चलाया जिससे तीनों लोकोंमें उसकी रक्षा कोई न कर सका, तब उनके बाणोंसे रावणकी रक्षा कौन कर सकता है। आपहीके लिये शूर्पणखाकी नाक काटी गयी और रावण-समान बली खरदूषणादिका संहार क्षणभरमें किया गया। वे सत्यसंकल्प हैं। उन्होंने तुम्हारे सामने ही—''निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'' तब यह प्रतिज्ञा कैसे व्यर्थ हो सकती है। वे अवश्य शीघ्र तुम्हारे दुःखको हरेंगे।

टिप्पणी—२ (क) विरह भारी है, समझानेसे संतोष न हुआ तब अग्नि न मिलनेका बहाना किया। (ख) 'सुकुमारी' अर्थात् तुम्हारा शरीर अग्निका ताप सहने योग्य नहीं है, अत्यन्त कोमल है, यथा—'अति सुकुमार न तनु तप जोगू।' (बा० ७४।)।—[नोट—भाव-मर्मज्ञ कवि 'सुकुमारी' शब्दमें कितना भाव भर देता है—(१) माताके लिये

पुत्री कोमल ही है, चाहे जो अवस्था हो। (२) श्रीसीताजी तो यों ही कोमल हैं, उसपर भी इस समय तो वे विरहजन्य शोकसे अत्यन्त क्षीण हो गयी हैं। (३) श्रीसीताजीको एक भोली-भाली कन्याकी तरह बहानेसे फुसलानेमें कितना वात्सल्य है! (लमगोड़ाजी)] (ग) **'निज भवन सिधारी'** इति।—अर्थात् उसने विचार किया कि जब तक मैं यहाँ रहूँगी तबतक ये ऐसे ही विलाप करती रहेंगी। अथवा, सयानी है, समझती है कि ये बड़ी बुद्धिमान् हैं जो मैं ठहरी तो ये अग्नि मिलनेका कुछ उपाय अवश्य बतायेंगी तब कुछ कहते न बनेगा और आज्ञा भंग होगी। अतएव यह कहकर कि अग्नि न मिलेगी वह तुरंत चल दी। पर, मुख्य तो रामजीकी इच्छा है। श्रीहनुमान्‌जीको संदेशा कहना और मुद्रिका देना है इसके रहते काम ठीक न होगा, प्रभुकी प्रेरणासे वह चल दी।

वि० त्रि०—'सुनत बचन'·····'सिधारी'। त्रिजटाने देखा कि सीताजी प्राण देनेपर उतारू हैं, तब चरण पकड़कर समझाया, यथा—**'सिर पै तुम्हरे रघुनाथसे नाथ, अनाथ सी ह्वै किमि बैन उचारो। दशकंठको कुण्ठित साहस भो, तब चोरन की सरनी निरधारो। जनके पत की जेहि लाज सदा, बिजयानँद सो तुम्हरो रखवारो। आय गये प्रभु देर नहीं, यह जानि के जानकि धीरज धारो।'** तत्पश्चात् उसने निवेदन किया कि रात्रिको आग नहीं मिलती। पूर्वकालमें राजा लोग रात्रिके समय अग्निके बुझा देनेके लिये घण्टा बजवा देते थे। उस समय सब लोग अपने घरोंकी अग्नि बुझा देते थे। अग्निके भयसे ही सम्भवतः ऐसा नियम था। यह शङ्का भी नहीं की जा सकती कि सोनेकी लङ्कामें अग्निसे भय कैसा? सोनेकी लङ्काका अर्थ इतना ही है कि वहाँ स्वर्णका प्रयोग अधिक था, यह अर्थ नहीं है कि वहाँ ईंटा, पत्थर, लकड़ी आदिसे काम ही नहीं लिया जाता था। ऐसा होता तो लङ्का दाह कैसे हुआ?

नोट—☞ १ तुलसीदासजीकी नाटकी-कलामें प्रगतियों तकका संकेत कितना मर्मपूर्ण और फिल्मकलाका कितना साधक व सार्थक है! (लमगोड़ाजी)।

२—कुछ लोगोंका मत है कि त्रिजटा हनुमान्‌जीका आगमन जानती है, अतः वह जान-बूझकर घर चली गयी।

३—'पद गहि' में दूसरा भाव यह है कि आप तो ईश्वर हैं, मैं तो आपकी दासी हूँ। आपका श्रीरामजीसे सदा संयोग है, वियोग कभी नहीं। देखिये आपके चरणोंमें जो चिह्न हैं वे ही श्रीरामजीके चरणोंमें हैं तब वियोग कहाँ? यह वियोग देखनेमात्रको लीला हेतु है। नहीं तो रावणकी क्या बिसात थी कि हरण करता। (शिला)।

४—त्रिजटासे श्रीसीताजीके बातचीतका प्रसङ्ग वाल्मीकीयमें नहीं है।

कह सीता बिधि भा प्रतिकूला। मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला॥ ७॥
देखिअत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकौ तारा॥ ८॥
पावक मय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥ ९॥

अर्थ—(विपत्तियोंमें एकमात्र जो साथिनी थी वह भी चल दी, अतः आतुर होकर) श्रीसीताजी कहती हैं कि विधाता (मुझे) विपरीत हो गया है। न अग्नि मिलेगी न शूल मिटेगा॥ ७॥ आकाशमें अङ्गारे (चिनगारियाँ) प्रकट दिखायी देते हैं पर पृथ्वीपर एक भी तारा नहीं आता॥ ८॥ चन्द्र अग्निमय है पर मानो मुझे अभागिनी जानकर आग नहीं गिराता॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) 'कह' शब्दसे जनाया कि त्रिजटाके जानेके बाद ये बातें श्रीसीताजीने मुखसे कहीं, तब इन्हें सुनकर हनुमान्‌जीने अग्निकी जगह मुद्रिका दी। (ख) विधिकी प्रतिकूलता यह है कि जो एक अपना हित करनेवाली थी, वह चली गयी। यथा—**'मो कहँ तिलकसाज सजि सोऊ। भएँ बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ॥ २। १८२। २।'** (ग) न पावक मिलेगा न दुःख दूर होगा। अर्थात् विरहकी पीड़ा मिटनेका दूसरा उपाय नहीं है, शरीर छूटनेपर ही मिटेगी। शूल, यथा—**'सुनै को स्रवन सूल सम बानी।'**

२—'देखियत प्रगट०' यह विधाताकी प्रतिकूलता दिखाती है कि अङ्गारे दिखाता है, देता नहीं। भाव कि यदि न देख पड़ते तो संतोष होता कि अग्नि नहीं है, क्या करें? 'प्रगट' का भाव कि त्रिजटाने कहा था कि रात्रिमें आग नहीं मिलती; पर आग तो प्रकट दीख रही है, विधिके वाम होनेसे हमको नहीं मिलती। अङ्गारे क्या हैं, यह कवि स्वयं अगले चरणोंमें स्पष्ट करते हैं कि तारे ही को अङ्गार कह रही हैं। 'एकौ' अर्थात् आकाशमें अगणित हैं, पर मिलते एक भी

नहीं। तात्पर्य यह कि एक भी मिल जाता तो काम चल जाता। इससे यह ज्ञात होता है कि वे स्वयं ही चिता लगानेका विचार कर रही हैं। अग्नि ही चाहिये, लकड़ी तो बागमें बहुत है इसीसे त्रिजटाने लकड़ी न मिलनेका बहाना न किया।

नोट—१ कोई उद्योग नहीं फुरता; विरह कैसे मिटे? विरहकी अन्तरज्वालाके कारण अत्यन्त शोक और व्याकुलता है। इसीसे इस समय तारागण अङ्गारे-से और शीतप्रधान शशि भी अग्निमय ही दीखता है। अधिक विरहाग्निके संतापमें ऐसा ही देख पड़ता है। विरहिणियोंको सभी सुखद वस्तुएँ दुःखद होती हैं। यथा—'**सीतलता ससि की रहि सब जग छाइ। अगिनि-ताप है हम कहँ सँचरत आइ॥** बरवै० ३३।' '**डहकु न है उजियरिया निसि नहिं घाम। जगत जरत अस लागु मोहिं बिनु राम॥ ३७॥**' यहाँ विषाद-संचारी भाव है। ☞ तुलना कीजिये श्रीरामजीके सुवेलपर्वतपर शशिकी कालिमा-सम्बन्धी कथनसे। 'मानहुँ' से फिर उत्प्रेक्षा ही तो है। 'देखिअत प्रगट'''' में वीरकविजी 'द्वितीय निदर्शना' और भानुकविजी 'हेत्वापह्नुति' अलंकार मानते हैं।

प० प० प्र०—श्रीसीताजीकी आँखों और चित्तको सब कुछ पावकमय ही देख पड़ता है। कितनी व्यथा और तन्मयताका चित्र यहाँ खड़ा कर दिया है।

टिप्पणी—३ (क) 'पावकमय' है अर्थात् अग्नि भरे हुए बैठा है, पर उगल नहीं देता। अवनिपर तारा आ जाय या चन्द्रमा वहींसे अग्नि टपका दे, गिरा दे, दोनोंमेंसे किसी भी एक प्रकारसे काम चल सकता है। आवे या भवैं। अतः दोनों शब्द दिये। (ख) '**मानहुँ मोहि जानि हतभागी**' इति। पति-वियोग होनेसे हतभाग्य समझता है—अभागेका मनोरथ पूरा नहीं होता, इसीसे मुझे अग्नि देकर मेरा मनोरथ पूरा नहीं करता। (पहले विधाताको दोष दिया फिर भाग्यको, क्योंकि पहले विधाता लिखते हैं तब भाग्य बनता है। भाग्य अपने कर्मानुसार बनता है। 'हतभागी' कहकर विधाताको भी निर्दोष ठहराया, अपने कर्मको ही दोषी ठहराया)।

सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥ १०॥
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि तन[1] करहि निदाना॥ ११॥

अर्थ—(जिस अशोक वृक्षके नीचे बैठी हैं उसीको सम्बोधन करती हुई कहती हैं—) हे अशोक वृक्ष! मेरी विनती सुन। अपना नाम सत्य कर, मेरा शोक दूर कर॥ १०॥ तेरे नये किसलय (कोमल नये निकले हुए पत्ते वा कल्ले) अग्निके समान हैं। अग्नि दे और मेरे शरीरका अन्त कर दे॥ ११॥

टिप्पणी—१ (क) '**सुनहि बिनय मम**''' इति। श्रीसीताजी इस समय बड़ी विरहाकुल हैं इससे जड पदार्थ वृक्षसे सुननेको कहती हैं; यथा—'**भये बिकल जस प्राकृत दीना।'''पूछत चले लता तरु पाँती॥ ३। ३०।**' (ख)—'बिटप' परोपकारी होते हैं, यथा—'**संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥ ७। १२५। ६।**' इसीसे अशोकके साथ 'बिटप' शब्द भी दिया। तात्पर्य यह कि तुम परोपकारी हो, उसपर भी तुम्हारा नाम 'अशोक' है, अपने नामकी लज्जा सबको होती है। (ग) 'सत्य नाम करु' अर्थात् मेरे दुर्भाग्यकी ओर दृष्टि न कर, किंतु अपने नामकी ओर देख और चन्द्रमाकी तरह न कर। मुझे शोकरहित करके अपने नामकी सत्यता प्रकट कर। आगे शोक हरनेका उपाय बताती हैं।

२—'**नूतन किसलय अनल समाना**''' इति। (क) भाव कि तेरे पास अनल बहुत है, उसकी वृष्टि कर दे, उसीसे मेरा शरीर भस्म हो जाय, मुझे लकड़ी जुटाकर चिता भी न बनाना पड़े, न उसमें आग लगाकर स्वयं जलना पड़े। (ख) शङ्का—मरनेके तो बहुत उपाय हैं, यथा—'**तुम्ह सहित गिरि ते गिरउँ पावक जरउँ जलनिधि महँ परउँ।**' ये सबसे अग्नि ही क्यों माँगती हैं? समाधान—अग्नि इससे माँगती हैं कि सती अग्निमें जलकर मरती है, अथवा जहाँ बिम्ब है वहीं प्रतिबिम्ब जाकर मिलना चाहता है। बिम्ब अग्निमें है, यथा—'**तुम्ह पावक महँ करहु निवासा।**' अथवा, [अग्नि माँगना भी प्रभुकी इच्छासे हुआ। पहरेमें हैं, समुद्रमें जाकर डूब नहीं सकतीं। अस्त्र-शस्त्र कोई देगा नहीं। पुनः, यहाँ हनुमान्‌जी अशोकपर मुद्रिका लिये बैठे हैं। सबसे अग्नि माँगते-माँगते अशोकसे भी माँगेंगी। चमकदार अँगूठी वहाँसे

१. तन—१७२१, १७६२, भा० दा०, कोदवराम। जनि—१७०४, छ०, गी० प्रे०, श्र० चं०। भा० दा० में हाशियेपर 'जनि' बनाकर फिर उसपर हरताल लगाया गया है। 'जनि' पाठसे अर्थ होगा—'कुछ सोच-विचार न कर, कारण न विचार।'

वे डालेंगे तब स्वाभाविक उसपर दृष्टि जायगी। यदि अग्नि न माँगतीं तो ऊपरसे अँगूठीके गिरनेपर दृष्टि उस ओर न जाती। यह सब हरि-इच्छासे हुआ। पुनः ये वियोगिनी हैं, पति-वियोगिनीका अग्निमें जलना ही विहित है]।

प० प० प्र०—श्रीसीताजीने त्रिजटासे आग माँगी; यथा—**'मातु अनल पुनि देहि लगाई'** और अशोकसे भी माँगा, यथा—**'देहि अगिनि तन करहि निदाना'**, किन्तु आकाश और चन्द्रमासे माँगा नहीं; इतना ही कहा कि **'देखिअत प्रगट गगन अंगारा।···पावकमय ससि स्रवत न आगी'**, इसका कारण यह है कि चन्द्रमा **'बिरहिनि दुखदाई'** है; वह कदापि अग्नि न देगा, क्योंकि अग्नि देनेसे सीताजीका दुःख मिट जायगा और ऐसा करना उसके स्वभावके विरुद्ध होगा, अतः उससे नहीं माँगा। चन्द्रमा तारागणका पति है, अतः वे भी अपने स्वामीके प्रतिकूल नहीं कर सकते, इसीसे उनसे भी न माँगा।

नोट—१ त्रिजटा और श्रीसीताजीके संवादमें अपने आपको अग्निमें समर्पण कर देनेके लिये सीताद्वारा त्रिजटासे अग्नि-याचनाका वर्णन अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंमें नहीं है। यह भाग प्र० रा० नाटक अंक ६ में भी है। परन्तु दोनों वर्णनोंको बारीकीसे देखनेपर यही दीखेगा कि निपुणता और मार्मिकता गोसाईंजीमें ही विशेष पायी जाती है। (मा० हं०)। यह प्रसंग गोस्वामीजीका ही 'वस्तु-विन्यास-कौशल' प्रकट करता है। (पं० रामचन्द्र शुक्लजी)।

देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥१२॥

सोरठा—कपि करि हृदयँ बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ॥१२॥

अर्थ—(कवि कहते हैं) श्रीसीताजीको विरहसे परम व्याकुल देखकर वह क्षण कपिको कल्पके समान बीता॥१२॥ कपि श्रीहनुमान्‌जीने हृदयमें विचारकर तब अँगूठी गिरा दी, मानो अशोकने अंगारा दिया। श्रीसीताजीने हर्षित हो उठकर उसे हाथमें ले लिया॥१२॥

टिप्पणी—१ **'देखि परम बिरहाकुल सीता।···'** इति। (क) अर्थात् कुछ खबर न रही कि क्या करें। देखा कि अब ये शरीर छोड़ना ही चाहती हैं इसलिये शीघ्र मुद्रिका डाल दी। (ख) पूर्व परम दीन देखकर परम दुखी हुए थे; यथा **'परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन।५।८।'** अब परमविरहाकुल देखकर क्षण कल्पके समान बीता। दोनोंका उत्तरोत्तर अधिक दुःख कहा। जब देखनेवालेको क्षण कल्पसदृश बीत रहा है तब श्रीसीताजीको जैसा बीता वह क्या कहें? तीन लवका एक निमिष, तीन निमिषका एक क्षण; यथा—**'निमिषस्त्रिलवो ज्ञेयःअम्नातस्तु त्रयक्षणम्'**। और हजार चतुर्युगका एक कल्प होता है।

नोट—१ क्षणकी मात्राके विषयमें बहुत मतभेद है। पतञ्जलिके मतानुसार "कालका वह छोटा भाग जिसके विभाग न हो सकें 'क्षण' है"। कोई पल या निमिषके चतुर्थांशको 'क्षण' कहते हैं। मानसमें यह शब्द जहाँ-तहाँ 'बहुत थोड़े काल' के अर्थमें आया है; यथा—**'करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान।३।२०।'**, **'छन महँ सकल कटक उन्ह मारा।३।२२।'**, **'सत जोजन आयउँ छन माहीं।३।२५।'** इत्यादि क्षणभरमें, पलभरमें इत्यादि अत्यन्त अल्पकालवाचक मुहावरे हैं।

पं० रा० कु०—कल्प-समान बीतनेका भाव कि क्षणभर तो कुछ उपाय करते न बना। क्षण कहकर यहाँ कालका नियम भी कर दिया कि यह परमव्याकुलता क्षणभर ही रही कि हनुमान्‌जीने मुद्रिका गिरा दी।

नोट—२ **'तरुपल्लव महँ रहा लुकाई। करइ बिचार करउँ का भाई॥'** विचार करतेहीमें रावण आया, उसकी बातें सुनीं, राक्षसियोंका त्रास देना देखा, त्रिजटाके स्वप्नका वृत्तान्त सुना। यह विचारने लगे कि श्रीसीताजीको तो मैंने ढूँढ़ लिया, 'सीता' यही हैं। पर इनसे बात कैसे करूँ? यदि बिना बात किये लौट जाऊँ और श्रीरामजीको सेनासहित यहाँ लाऊँ तो कहीं इस बीचमें ये आत्मघात ही न कर लें जिससे सब कार्य ही व्यर्थ हो जायगा। इतनेमें निशाचरियाँ भी हट गयीं और त्रिजटा भी चली गयी। एकान्त मिला, पर डर यह था कि यदि प्रकट होकर बातें करूँ तो श्रीसीताजी मुझे रावण समझकर डरकर चीख न मारें जिससे राक्षसियाँ आ पड़ें और काम बिगड़ जाय। भगवत्कृपासे योग लग गया कि वे परमविरहाकुल हो अशोक-

से अंगार माँग रही हैं । इस समय वे मुद्रिकाको अवश्य अशोकका दिया हुआ अंगार समझकर उठा लेंगी । किसीने इनको अग्नि न दी; अब अशोकसे माँगती हैं, यदि अब भी न पावेंगी तो मरण अवश्य ... उन्होंने उसी समय मुद्रिका गिरा दी ।

बाबा हरिदासजी ... । यदि अशोक तरु इनका शोक न हरे ... रामकथा कही और बुलानेपर निकट जायँगे ...

☞ श्रील ... र्युक्त **'कह सीता बिधि भा प्रतिकूला ।** ... शोका' को संबोधन करके कहा गया है वह ... नपर दी हुई) टिप्पणियोंमें देख ही चु ... ता है ।

टिप्पणी—२ (... ई ।' अब वहींसे प्रसंगको फिर उठाते है ... माँग रही हैं, मैं उसके स्थानपर उन्हें मु ... नीचे सोना देकर माणिक्य जड़नेसे ललाई ... मकी सत्यता रह गयी, क्योंकि अशोकसे मु ... गया कि उनका विरह सत्य है, वे हृदयसे ... रमें न थी, इससे उठकर लिया और न दूर ...

३—इस प्रसंगमें ... या । **'देखिअत प्रगट गगन अंगारा'** य ... त्त्व है । भारतमें चन्द्रमाको जलमय कहा है ... न माँगती ही हैं— (४) । इससे अग्नि माँ ... है, (यथा— 'आकाशाद्वायुः । वायोर ... त्र मुद्रिका लिये बैठे ही हैं; अशोकसे माँग ...

नोट—**'कपि करि** ...

तब देख ...

अर्थ—तब उन्होंने ...

नोट—१ भाव कि ... —**'तब लागि सियरे हाथ । यह आगि कौ** ... खा, तो उसे रामनाम अंकित पाया ।

टिप्पणी—१ (क) ... । और यह मुद्रिका उस नामसे अङ्कित है ... की मुहर है । जिसकी मुहर होती है उसीका ... ण करती है । **'अति सुंदर'** का भाव कि ... ङ्ग है । इसके विशेषण **'मनोहरि'** और 'अ ... गोस्वामीजीने यह सूचित किया कि **'मुँदरी'** ... **एहि नाम । कंकनकी पदवी दई तुम बिनु ए** ... थिलाधिपसुते **नामान्तरेणाधुना रामस्त्वद्विरहेण** ... स अँगूठीको श्रीरामचन्द्रजीने कंकणका स्थान दे वि ...

४०

र कठोर वचन सुने, थी खिसिया कर और

तब -- कूल अस्त्र तेहि साखा कपि मन कीन्ह विचार

नारियों को साथ लेकर आया ! वे अंगार लिये

च्छी तरह रखता है । उसने यह नहीं सोचा कि

र दूर छोड़ देता है । (२)

अब वह माता सीता की कृपा कटाक्ष की

ो एक बार ही क्यों ? पर वह तो उन सीता की

ता के लिये देवता तक व्याकुल हैं ।

र -२४ ।।

लवाइ ।।

जाता है । वही दृष्टि रावण एक बार

रह जाय । उस कृपा दृष्टि को प्राप्त

का प्रतिनिधित्व करती है । स्त्री को

है ।

वे डालेंगे तब स्वाभाविक उसपर दृष्टि जायगी। यदि अग्नि न माँगतीं तो ऊपरसे अँगूठीके गिरनेपर दृष्टि उस ओर न जाती। यह ... हरि-इच्छासे हुआ। पुनः ये वियोगिनी हैं, पति-वियोगिनीका अग्निमें जलना ही विहित है]।

...ातु अनल पुनि देहि लगाई' और
...ौर चन्द्रमासे माँगा नहीं; इतना ही कहा कि
...रण यह है कि चन्द्रमा 'बिरहिनि दुखदाई'
...ा और ऐसा करना उसके स्वभावके विरुद्ध
...े स्वामीके प्रतिकूल नहीं कर सकते, इसीसे

...ण कर देनेके लिये सीताद्वारा त्रिजटासे
...प्र० रा० नाटक अंक ६ में भी है। परन्तु
...जीमें ही विशेष पायी जाती है। (मा० हं०)।
...न्द्र शुक्लजी)।

...ल्प सम बीता ॥१२॥

...ा डारि तब।

...ऽ कर गहेउ ॥१२॥

...वह क्षण कपिको कल्पके समान बीता ॥ १२॥
...गारा दिया। श्रीसीताजीने हर्षित हो उठकर

...र्थात् कुछ खबर न रही कि क्या करें। देखा
...) पूर्व परम दीन देखकर परम दुखी हुए थे;
...कुल देखकर क्षण कल्पके समान बीता। दोनोंका
...है तब श्रीसीताजीको जैसा बीता वह क्या कहें?
...ः अस्नातस्तु त्र्यक्षणम्'। और हजार चतुर्युगका

...ुसार ''कालका वह छोटा भाग जिसके विभाग
...मानसमें यह शब्द जहाँ-तहाँ 'बहुत थोड़े काल'
...। २०।', 'छन महँ सकल कटक उन्ह मारा।
...ं, पलभरमें इत्यादि अत्यन्त अल्पकालवाचक

...ाय करते न बना। क्षण कहकर यहाँ कालका
...द्रिका गिरा दी।

...॥' विचार करतेहीमें रावण आया, उसकी बातें
...ारने लगे कि श्रीसीताजीको तो मैंने ढूँढ़ लिया,
...ट जाऊँ और श्रीरामजीको सेनासहित यहाँ लाऊँ तो
...यगा। इतनेमें निशाचरियाँ भी हट गयीं और त्रिजटा
...बातें करूँ तो श्रीसीताजी मुझे रावण समझकर डरकर
चीख न मारें जिससे राक्षसियाँ आ पड़ें और काम बिगड़ जाय। ...कृपासे योग लग गया कि वे परमविरहाकुल हो अशोक-

से अंगार माँग रही हैं । इस समय वे मुद्रिकाको अवश्य अशोकका दिया हुआ अंगार समझकर उठा लेंगी । किसीने इनको अग्नि न दी; अब अशोकसे माँगती हैं, यदि अब भी न पावेंगी तो मरण अवश्य होगा । यह सोचकर उन्होंने उसी समय मुद्रिका गिरा दी ।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जीने सोचा कि अशोक वृक्ष है और वृक्ष वानरकुलका घर है । यदि अशोक तरु इनका शोक न हरे तो हमारे कुलकी निन्दा होगी । अतः यह विचारकर मुद्रिका गिरा दी, फिर रामकथा कही और बुलानेपर निकट जायँगे ।

☞ श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि—वह सारा सीन नाटकी-कलाकी जान ही है यहाँपर भी (उपर्युक्त **'कह सीता बिधि भा प्रतिकूला ।'** से **'मानहु मोहि जानि हतभागी ॥'** तक तथा उसके आगे भी जो **'बिटप असोका'** को संबोधन करके कहा गया है वह) स्वगत वार्ता (Soliloquy) कितनी सुन्दर और उपयोगी है—यह आप (ऊनपर दी हुई) टिप्पणियोंमें देख ही चुके । अब अँगूठीका ठीक समयपर गिराना सोनेमें सुगंधकी तरह कलाको सुन्दर बना देता है ।

टिप्पणी—२ (क) **'विचार'** ही शब्दपर प्रसंग छोड़ा था, यथा—**'करइ बिचार करउँ का भाई।'** अब वहींसे प्रसंगको फिर उठाते हैं । कपिने हृदयमें विचार किया कि यह अच्छा मौका है, श्रीसीताजी अशोकसे अग्नि माँग रही हैं, मैं उसके स्थानपर उन्हें मुद्रिका दे दूँ । मुद्रिकामें माणिक्य-नगीना था; इसीसे उसे अंगारकी उपमा दी । नीचे सोना देकर माणिक्य जड़नेसे ललाई बहुत आ जाती है । (ख) **'जनु असोक अंगार दीन्ह'** इस कथनसे अशोक नामकी सत्यता रह गयी, क्योंकि अशोकसे मुद्रिका गिरी और उसीसे शोकका नाश हुआ । (ग) **'हरषि उठि कर गहेउ'** से पाया गया कि उनका विरह सत्य है, वे हृदयसे चाहती थीं कि अग्नि मिले । उठकर लिया अर्थात् वह मुद्रिका इनके हाथकी पहुँचमें न थी, इससे उठकर लिया और न दूर ही गिरी क्योंकि दूर गिरती तो 'धाय गहे' ऐसा पद लिखते ।

३—इस प्रसंगमें पाँचों तत्त्व कहे गये । इनमेंसे चार तत्त्वोंसे जानकीजीका अग्नि माँगना दिखाया गया । **'देखिअत प्रगट गगन अंगारा'** यह आकाश-तत्त्व है ।—(१) । **'पावकमय ससि स्रवत न आगी'**, यह जलतत्त्व है । भारतमें चन्द्रमाको जलमय कहा है—(२) । **'सुनहि बिनय मम बिटप असोका'**, यह पृथ्वीतत्त्व है—(३) । अग्नि माँगती ही हैं—(४) । इनसे अग्नि माँगा कि जहाँसे न मिल सके और वायु-तत्त्वसे न माँगा कि जिससे अग्निकी उत्पत्ति है, (यथा—'आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । तैत्ति० वल्ली २ अनु० १ ।'), और जहाँसे आग मिल सकती । वायुपुत्र मुद्रिका लिये बैठे ही हैं; अशोकसे माँगते ही मिली ।

नोट—**'कपि करि०'** त्रिकल सोरठा है (व्र० चं०) ।

तब देखी मुद्रिका मनोहर । राम नाम अंकित अति सुंदर ॥ १ ॥

अर्थ—तब उन्होंने श्रीरामनाम अंकित अत्यन्त सुन्दर मनोहर मुद्रिका देखी ॥ १ ॥

नोट—१ भाव कि अग्निके धोखे अँगूठी मुट्ठीमें ली; जब गर्म न लगी तब मुट्ठी खोलकर देखा, यथा—**'तब लागि सियरे हाथ । यह आगि कैसि है नाथ'** इति रामचन्द्रिका । देखा, तो मुद्रिका थी और अच्छी तरह देखा, तो उसे रामनाम अंकित पाया ।

टिप्पणी—१ (क) **'मनोहर'** का भाव कि रामनाम मनोहर है, यथा—**'आखर मधुर मनोहर दोऊ'** । और यह मुद्रिका उस नामसे अङ्कित है, अतः यह भी मनोहर है । (ख) **'रामनाम अंकित'** से पाया गया कि श्रीरामजीकी मुहर है । जिसकी मुहर होती है उसीका नाम लिखा रहता है । अथवा, पतिके प्रियके हेतु पतिके नामकी अँगूठी स्त्री धारण करती है । **'अति सुंदर'** का भाव कि बनाव सुन्दर है, श्रीरामनाम अंकित होनेसे **'अति सुंदर'** है । (ग) मुद्रिका स्त्रीलिङ्ग है । इसके विशेषण **'मनोहरि'** और **'अति सुंदरि'** स्त्रीलिङ्ग होने चाहिये थे, सो न देकर विशेषण पुँल्लिङ्ग दिये । ऐसा करके गोस्वामीजीने यह सूचित किया कि **'मुँदरी'** का नाम अब कंकन हो गया है, यथा—**'तुम पूछति कहि मुद्रिके मौन होति एहि नाम । कंकनकी पदवी दई तुम बिनु एहि कहँराम'** इति रामचन्द्रिकायाम् । पुनश्च यथा हनुमन्नाटके—**'एनां व्याहर मैथिलाधिपसुते नामान्तरेणाधुना रामस्त्वद्विरहेण कंकणपदं ह्यस्यै चिरं दत्तवान् ॥ ६ । १६ ॥'** (अर्थात् आपके वियोगसे इस अँगूठीको श्रीरामचन्द्रजीने कंकणका स्थान दे दिया है) ।

मा० त० सु०—(१) हिन्दीकाव्यमें स्त्रीलिङ्ग-पुँल्लिङ्गका नियम कहीं-कहीं नहीं भी रहता है, यथा—'**रामनाम बिनु गिरा न सोहा**' '**पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी**।' पुनः (२) '**राम नाम अंकित अति सुंदर**' से सूचित हुआ कि कोई स्त्रीलिङ्ग हो या पुँल्लिङ्ग श्रीरामनाम अङ्कित होनेसे वह 'अति सुन्दर' हो जाता है। पुनः (३) 'मनोहर' और 'अति सुन्दर' रामनामके विशेषण भी माने जा सकते हैं।

नोट—१ मिलान कीजिये—'**सुवर्णस्य सुवर्णस्य सुवर्णस्य च मैथिलि। प्रेषितं रामचन्द्रेण सुवर्णस्याङ्गुलीयकम्॥** हनु० ६। १५।' अर्थात् सुन्दर वर्णवाले, सुन्दर वर्ण (रामनामाक्षर) युक्त, सुवर्ण (दस माशे) की यह सुवर्णकी अँगूठी श्रीरामचन्द्रजीने तुम्हारे लिये भेजी है। पुनश्च—'**अत्राङ्गुलीयकमणौ प्रतिबिम्बमासीद्रामस्य सादरमतीव विलोकयन्ती॥१७॥**'

श्रीलमगोड़ाजी—यह सुन्दरकाण्ड ही जो है वह सुन्दर है। इसमें '**एक सुन्दर भूधर**' का दृश्य सुन्दर, श्रीरामनामाङ्कित अँगूठी 'अति सुन्दर' और आगे कवि कहेंगे कि कथा ही 'अति सुन्दर' है।

नोट—२ प्रथम चरण १०९९ वाँ भेद और दूसरा चरण ११९३ वाँ भेद हैं। (व्र० चं०)।

चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी॥ २॥
जीति को सकै अजय रघुराई। माया तें असि रचि नहिं जाई॥ ३॥

अर्थ—अँगूठीको पहचानकर उसे चकित (आश्चर्यान्वित) होकर देख रही हैं। हर्ष और विषादसे मनमें व्याकुल हो गयीं॥ २॥ श्रीरघुनाथजी अजेय हैं, उन्हें कौन जीत सकता है (अर्थात् कोई नहीं)? और मायासे ऐसी अँगूठी बनायी नहीं जा सकती॥ ३॥

टिप्पणी—१ '**चकित चितव**···' इति। (क) 'चकित चितव' का अर्थ चारों ओर देखना नहीं है। जहाँ चारों ओर देखनेका भाव कहना होता है वहाँ कवि चकित लिखकर 'चहुँदिशि' पृथक् लिखते हैं। यथा—'**चितवति चकित चहूँ दिसि सीता**' और '**चकित बिलोकत सकल दिसि**···' (१। २२९) में। यदि 'चितव चकित' से चारों दिशाओंमें देखनेका भी ग्रहण होता तो 'सकलदिशि' या 'चहुँ दिशि' लिखनेका प्रयोजन ही क्या था? यहाँ आश्चर्ययुक्त होकर देखना अर्थ है, यथा—'**जहँ जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ॥** १। २४४।' (ख) मुद्रिका मिलनेका 'हर्ष' और यहाँ कैसे आ गयी यह 'विषाद' हुआ जैसा श्रीसीताजी आगे स्वयं कहती हैं—'**जीति को सकै**···।' (ग) 'हृदय अकुलानी' का भाव कि प्रथम विरहमें व्याकुल थीं तब मुखसे कुछ कहती रहीं, अब हृदयमें जो हर्ष और विषाद हुआ उससे हृदयमें व्याकुल हो गयीं, मुँहसे कुछ कहतीं नहीं, यथा—'**हृदय हरष बिषाद अति पति मुद्रिका पहिचानि। दास तुलसी दसा सो केहि भाँति कहै बखानि॥**' (गी० ५। २)।

नोट—१ 'हरष' इति। यह पहचानकर कि यह अपने प्राणपतिके हाथकी शोभा बढ़ानेवाला आभूषण है, उनको प्रियतमके मिलनेका-सा सुख हुआ; यथा—'**गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषणम्। भर्तारमिव सम्प्राप्तं जानकी मुदिताभवत्॥** ४॥ वाल्मी० ५। ३६।'

२—(क) आश्चर्य, हर्ष, विषाद और व्याकुलता कई भाव एक साथ उदय हुए हैं। यह 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है। (ख) प्रियतमका दिव्य भूषण देख धैर्य, गाम्भीर्य, सौशील्य आदि अनन्त गुणयुक्त मनोहर स्वरूप स्मरणकर हर्ष हुआ। 'राक्षसपुरीमें कैसे आयी' इस बातके जाननेके उद्योगमें असमर्थ होनेसे यहाँ विषादसंचारी भाव हुआ। यह सोचकर 'अकुलानी' कि अब क्या प्राणनाथसे सदाके लिये वियोग हो जायगा? इसीपर विचार करने लगीं कि ऐसा सम्भव नहीं। (मा० त० सु०)। '**चकित**···**पहिचानी**' चण्डी है और '**हरष**···**बरनै लागा**।' पायकुलक है। (व्र० चं०)।

३—'**जीति को सकै**' से प्रकट करती हैं कि वे श्रीरामजीका प्रभाव जानती हैं कि वे अजय हैं। 'अजय रघुराई' से जनाया कि वे उत्साही, पुरुषार्थी, वीर्यवान्, दयालु, कृतज्ञ, विक्रमी और प्रतापी हैं जिन गुणोंसे युक्त होनेसे शत्रु सदा डरते हैं। यथा—'**उत्साहः पौरुषं सत्त्वमानृशंस्यं कृतज्ञता। विक्रमश्च प्रभावश्च सन्ति वानर राघवे॥** वाल्मी० ५। ३७। १५। **चतुर्दशसहस्राणि राक्षसानां जघान यः। जनस्थाने विना भ्रात्रा शत्रुः कस्तस्य नोद्विजेत्॥ १६॥ न स शक्यस्तुलयितुं व्यसनैः पुरुषर्षभः। अहं तस्य प्रभावज्ञा शक्रस्येव पुलोमजा॥ १७॥**'

टिप्पणी—२ 'जीति को सकै'...' इति । (क) ऐश्वर्यमें श्रीजानकीजी जानती हैं कि श्रीरामजी अजय हैं । अर्थात् ईश्वरको जीव कैसे जीत सकता है ? यथा—'**सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा । रामहि समर न जीतनिहारा** ॥ २ । १८९ ।' और माधुर्यमें आँखोंसे देखा है कि १४ हजार सेनासहित खरदूषणको क्षणभरमें जीत लिया । (ख) 'रघुराई' का भाव कि एक रघुवंशीको ही कोई नहीं जीत सकता और ये तो रघुवंशियोंके राजा हैं । यथा—'**रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई । तेहि समाज अस कहै न कोई ॥ कही जनक जसि अनुचित बानी । बिद्यमान रघुकुल मनि जानी** ॥ १ । २५३ ।'

टिप्पणी—३ (क) '**माया तें असि रचि नहिं जाई**' इति । ये जानती हैं कि मायासे नहीं बन सकती; क्योंकि ये सब मायासे परे हैं, सब माया इनकी मायाके भीतर है, यथा—'**लखा न मरम राम बिनु काहू । माया सब सियमाया माहू** ॥' (ख) 'असि' का भाव कि जैसी वह मुद्रिका है, उसके कारणको सीताजी ही जानती हैं, दूसरा नहीं जान सकता; इसीसे ग्रन्थकारने कारण नहीं कहा । (ग) यहाँ सीताजी राक्षसोंके बलको और मायाको 'निवारण' करती हैं कि न तो शरीरके बलसे कोई इसे ला सकता है और न माया ऐसी बना सके । यह सच्ची है और सच्ची मुद्रिकाका आना कैसे सम्भव है ?—यह संदेह हुआ । [(घ) मायिक पदार्थ मेरे मनको नहीं हर सकता पर यह मेरे मनको हर रही है; अतः अवश्य सच्ची है] ।

वि० त्रि०—वह मुदरी पहिचानी हुई है, क्योंकि इसने ब्याहके बाद ही कोहबरमें जाते समय सीताजीके मनको चुराया था, यथा—'**पीत जनेउ महाछबि देई । कर मुद्रिका चोरि चित लेई** ॥' उसी चोरको सरकारने चोरीसे हनुमान्‌जीके द्वारा भेज दिया । यह मुदरी सुनती है, बोलती है, सीताजीके पूछनेपर इसने कहा—'**सदल सलखन हैं कुसल कृपालु कोसलराउ । सील सदन सनेह सागर सहज सरल सुभाउ ॥ नींद भूख न देइ बरहिं परिहरे कर पछिताउ**...... **कियो सीय प्रबोध मुदरी, दियो कपिहि लखाउ** ।' इसीसे भगवतीने कहा '**माया ते अस रची न जाई** ।'

नोट—४ 'रावणने तो मायाके राम-लक्ष्मण-वानर बना लिये तब मुद्रिका बना लेनेमें क्या बड़ी बात है, जो कहा कि '**माया तें असि रचि नहिं जाई** ।' यह शङ्का उठाकर मा० म०, मा० शं०, शिला आदिने इसका समाधान यों किया है—(१) यह रामनाम अङ्कित है । नाम निर्गुण और मायारहित है, वही अँगूठीमें विशेष प्रकाश कर रहा है । जो जैसा प्रभाव नामका जानता है उसको वैसा ही प्रकाश उसमें देख पड़ता है, अतः वे जान गयीं कि यह मायाकी रची नहीं है । (शिला) (२) निशाचरने मायाके राम-लक्ष्मणादि बनाये, पर प्रभुके सामने (बाण लगते) वे नष्ट हो गये । माया उनके समीप रह नहीं सकती—'**जिमि रबि उयें जाहिं तम फाटी** ।' और श्रीसीतारामजी अभिन्न हैं, केवल रूपमात्रका भेद है; तब यदि मायाकी होती तो कर-स्पर्श होते ही वह नष्ट हो जाती । (मा० त० सु०) । (३) कोई ऐसा कहते हैं कि 'अस' अर्थात् अजयका पराजय होना, यह मायासे नहीं हो सकता । पर पाठ 'असि' है । पुनः (४) मुद्रिका निशाचरी मायासे 'अदेख' है, वह माया देखी वस्तु बना सकती है, अनुभवकी बातमें उसका गम्य नहीं । (शिला) ।'

५—वह मुद्रिका श्रीरघुनाथजीकी निजी चीज थी जिसको महारानीजीने हजारों बार अच्छी तरह देखा था । उसकी विशेष रेखाएँ, चिह्न, बनावट आदिकी मुख्य-मुख्य बातें (विशेषताएँ) जो महारानीजीको मालूम हैं वह किसी औरको मालूम नहीं हो सकतीं । हूबहू जैसा-का-तैसा नक़ल करनेवाला भी ठीक वही रूपरेखा जो महारानीजीकी निगाहोंमें जँची हुई है तभी रच सकता है जब महारानीजीके अन्तर हृदयकी बातोंसे अभिज्ञ हो । राक्षसी माया वहाँतक कैसे पहुँच सकती है ? जब उन विशेष चिह्नोंको उन्होंने पहचान लिया तब उन्हें निश्चय हो गया कि मायासे ऐसी नहीं रची जा सकती ।

इस समय राक्षसी माया और ईश्वरी मायाका मुकाबिला है । यदि रावणको यह पता लग जाय कि मैं मायाकी सीताको हर लाया हूँ, ये वास्तविक सीता नहीं हैं, तो वह वृथाके झगड़ेमें क्यों पड़े ? और यदि श्रीरघुनाथजीके दलवालोंको यह पता लग जाय कि वास्तविक सीताहरण नहीं हुआ है तो भगवान्‌की लीलाकी यहीं समाप्ति हो जाय । यहाँ भगवान्‌की माया जो महारानीका अभिनय कर रही है वह बहुत अच्छी तरह जानती है कि राक्षसी माया ईश्वरी मायाके सामने कहाँतक चल सकती है; इसीलिये उसे निश्चय है कि यह मुद्रिका राक्षसी मायाके द्वारा रची नहीं जा सकती; क्योंकि यह मुद्रिका भगवान्‌का पार्षद है, दिव्य है, चेतन है, चिदानन्दमय है । उनके विग्रहमें पार्षद ही आभूषणादिरूपमें रहते हैं जो ईश्वरी मायासे भी परे हैं और सायुज्यमुक्तिपद भोग रहे हैं । उनकी छाँहको भी राक्षसी माया छू नहीं सकती ।

हनु० ना० ६ । १६ में मुद्रिकासे श्रीजानकीजीका प्रश्न करना और उसका उत्तर देना पाया जाता है और गीतावली ५ । ३ व ४ में भी । यथा—'**मुद्रे सन्ति सलक्ष्मणाः कुशलिनः श्रीरामपादाः सुखं । सन्ति स्वामिनि सा विधेहि विधुरं चेतोऽनयाचिन्तया ॥**', '**बोलि बलि मुँदरी ! सानुज कुसल कोसलपालु ॥**…। ३ ।'; '**सदल सलखन हैं कुसल कृपालु कोसलराउ**…**कियो सीय प्रबोध मुँदरी**…॥ ४ ।'—इन उद्धरणोंसे उसका दिव्य और चेतन होना स्पष्ट है । वैसे तो रावणने मायासे रामलक्ष्मणादि रूप बनाकर धोखा देना चाहा और मायाकी सीताने ऐसे अवसरपर राक्षसी मायाकी असलियतको जानते हुए भी विलाप आदिका लीलानाट्य किया है । परंतु यहाँ तो कोई माया है ही नहीं । इसका निश्चय होनेमें ईश्वरी मायाको क्या कठिनाई हो सकती है ?

❀ मुद्रिका ❀

☞ नोट—६ किसी-किसीके विचारसे यह मुद्रिका श्रीसीताजीकी है जो केवटको देनेके लिये उन्होंने उतारी थी । उनके मतसे श्रीरामजी 'विशेष उदासी तापस वेष' के कारण स्वर्णमुद्रिका आभूषण नहीं धारण किये थे । यह मुद्रिका श्रीरामजीकी है यह प्राचीन प्रसिद्ध ग्रन्थों तथा गोस्वामीजीका भी मत है । प्रमाण ये हैं—(१) '**ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामाङ्कोपशोभितम् । अङ्गुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परंतपः** ॥ वाल्मी० ४ । ४४ । १२ ।' इसपर श्रीगोविन्दराजजी भूषण-टीकामें लिखते हैं कि—'**ननु त्यक्तसकलसाधनस्य वनवृत्त्या वर्तमानस्य कुतोऽङ्गुलीयकमिति चेत्, इदमेतत्कार्यार्थरक्षितवान् अत एवांगुलियमुन्मुच्यनोक्तम्** ।…' । (२) '**गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषणम्** ॥ वाल्मी० ५ । ३६ । ४ ।' अर्थात् सीताजीने अपने पतिके हाथकी शोभा बढ़ानेवाली उस अँगूठीको हाथमें लेकर और देखकर । (३) '**अभिज्ञानार्थमेतन्मे ह्यङ्गुलीयकमुत्तमम् । मन्नामाक्षरसंयुक्तं सीतायै दीयतां रहः** अध्यात्म० ४ । ६ । २९ ।' अर्थात् मेरी इस उत्तम एवं मेरे नामके अक्षरोंसे अंकित मुद्रिकाको निशानीके तौरपर सीताजीको देना । (४) '**अङ्गुलीयकमेतन्मे परिज्ञानार्थमुत्तमम् । सीतायै दीयतां साधु मन्नामाक्षरमुद्रितम्** ॥ अध्यात्म० सर्ग ५ । ३ । ३४ ।' (५) **ततो रामो मुद्रिकां स्वां ददौ मारुतिसत्करे** ॥ आनंद० सारकाण्ड० सर्ग ५ । ९३ ।' (६) '**तां राममुद्रिकां दृष्ट्वा नत्वा तामब्रवीत् कपिम्** ॥ आनंद० सार० ९ । ११४ ।' (७) **अपश्यन्मुद्रिकां रम्यां रामनामाङ्कितां शुभाम् । तदातिचकिता सीता ज्ञात्वा तां राममुद्रिकाम्** ॥ वशिष्ठ रा० प्रकरण ३ अ० ९ । २८ ।' (८)—'**अयं मैथिल्यभिज्ञानं काकुत्स्थस्याङ्गुलीयकम् । भवत्याः स्मरतात्यर्थमर्पितः सादरं मम** ॥ भट्टिकाव्य ८ । ११८ ।' (९) '**या शैशवावधिमनोरमरामचन्द्रहस्ताङ्गुली प्रणयिनी सुभगा सुवृत्ता । अन्येव सा जनकराजसुता कथं नु लंकामुपागतवती मणिमुद्रिकेयम्** ॥ प्रसन्नराघवना० ६ । ३८ ।' (१०) '**किमिदं हस्तेऽस्ति ? तन्मुद्रिका दत्ता तेन तवैष तां निजकरात्** ॥ हनु० ना० ६ । १४ ।' (११)—'**निरखि-निरखि पियमुद्रिकहिं बरनति हैं बहु भाइ** । रामचन्द्रिका १३ । ७८ ।' पुनश्च—'**सुखदा सिखदा अर्थदा यशदा रसदातारि । रामचन्द्रकी मुद्रिका किधौं परमगुरुनारि** ॥ १३ । ८३ ।' (१३)-'**लई सिया आतुर हुलसि पियमुदरी पहिचानि** ॥ रामरसायन सर्ग ८ दो० ११९ ।' (१४)—'**करमुद्रिका चोरि चितु लेई** ।' मानस० १ । ३२७ । वैसे ही यहाँ '**तब देखी मुद्रिका मनोहर**' । मनोहर=चित्त चुरा लेनेवाली । (१५) '**पाइ नाथ-कर-मुद्रिका सियहिय हरष बिषाद । प्राननाथ प्रिय सेवकहि दीन्ह सु आसिरबाद** । रामाज्ञाप्र० ५ । १६ ।', (१६)—'**हृदय हरष बिषाद अति पति मुद्रिक पहिचानि** ॥ गी० ५ । ६२ ।'—(पं० रामकुमारदासजी) । विशेष उदासी वेषके कारण यदि प्रथम ही करमुद्रिकाका त्याग कर देना आवश्यक समझा गया होता तो श्रीसीताजीकी मुद्रिका भी तो अपने हाथमें न धारण कर सकते । 'उदासी' से केवल यही अभिप्राय था कि नगरमें न जायँ । यही बात, निषादराज, सुग्रीवजी तथा विभीषणजीसे श्रीरघुनाथजीने कही है । धनुष, बाण, तरकश, तलवार, भाई और स्त्रीको साथ लेना भी तो '**तापस बेष बिसेषि उदासी**' में नहीं आ सकता था । वस्तुतः लीलाकार्यके लिये जो भी आवश्यक था वह सब साथ था ।

सीता मन बिचार कर नाना । मधुर बचन बोलेउ हनुमाना ॥ ४ ॥
रामचन्द्र गुन बरनै लागा । सुनतहि सीता कर दुख भागा ॥ ५ ॥

अर्थ—श्रीसीताजी मनमें अनेक विचार कर रही हैं । (उसी समय) श्रीहनुमान्जी मधुर वचन बोले । ४ । वे रामचन्द्रजीके गुण वर्णन करने लगे (जिसके) सुनते ही सीताजीका दुःख दूर हो गया ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) **'नाना विचार'** का भाव यह कि मुद्रिका मनोहर है। उसने सीताजीका मन हर लिया है। इसीसे उसके विषयमें अनेक विचार कर रही हैं कि यहाँ कैसे आयी। [कहीं ऐसा तो नहीं है कि लक्ष्मण फल-मूल लेने गये हों, श्रीरामजी सो गये हों, कोई पखेरू ले आया हो। वा, श्रीरामजीने हमारे हरणका अपराध समझ उनको त्याग दिया हो, तब अकेले सोते कोई चुरा लाया हो। वा, हमारे वियोगमें उन्होंने प्राण छोड़ दिया हो। तब कोई ले आया हो। वा, व्याकुलताके कारण मैं स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ। इत्यादि, (रा० शं०)] कोई विचार ठीक नहीं होता; इसीसे विचार-पर-विचार उठते जाते हैं नहीं तो **'नाना बिचार'** का प्रयोजन न था।

नोट—१ नाटकीयकलामें इस **'मन बिचार'** और पहलेवाली स्वागत वार्ताका अन्तर विचारणीय है। 'नाना' शब्दसे फिर श्रीतुलसीदासजीकी संकेतकलाका पता लगता है, केवल उदाहरणमात्रके लिये दो विचार लिख भी दिये। (लमगोड़ाजी)। २—मधुर=अमृतसम, यथा—**'श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई।'** भाव यह कि मरती थीं, सो जिलानेके लिये (यथा—**'मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई॥'**) अथवा इसलिये कि श्रवण और मन लगाकर सुने, अमृत वचन कहे। यथा—**'लागी सुनै श्रवन मन लाई॥'**

☞मानसकल्पकी कथामें कवि प्रथम मुद्रिकाका गिराना कहते हैं। अंगारे माँगनेपर अशोकसे मुद्रिकाका गिराया जाना कितना सुन्दर हुआ। यह श्रीरघुनाथजीके हाथसे यहाँ कैसे आयी? इस सम्बन्धके विचारोंको शान्त करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीके चरित कहना भी बड़ा ही उत्तम हुआ है, इससे श्रीजानकीजीके समीप हनुमान्‌जीका प्रकट होना भी कैसा सुगम हो गया। एकके बाद एक कड़ी कितनी स्वाभाविक है। वाल्मीकीय, हनुमन्नाटक इत्यादि ग्रन्थोंमें हनुमान्‌जीका प्रथम ही प्रकट होना और बहुत कुछ विश्वास हो जानेपर मुद्रिकाका दिया जाना वर्णित है।

२—**'मधुर बचन बोलेउ०'** इति। एक तो श्रीरामगुण और वह भी मीठी कोमल वाणीमें वर्णन किया जिसमें वे क्षुब्ध न हों और उनके वचनोंपर विश्वास करें। यथा—**'श्रावयिष्यामि सर्वाणि मधुरां प्रब्रुवन्गिरम्। श्रद्धास्यति यथा'**...। **मधुरमवितथं जगाद वाक्यं...।** वाल्मी० ५। ३०। ४३-४४।' मधुर प्रिय होता ही है। मधुरमें धीमेका भी भाव है जिसमें कोई और न सुन सके। प्र० स्वामीजीका मत है कि यहाँ राम-राम-रामकी ध्वनि ही **'मधुर बचन'** से समझना चाहिये, जब रामनामकी ध्वनिसे चित्ताकर्षित होगा तब कथा सुनानेसे लाभ होगा।

टिप्पणी—२ (क) रामचन्द्र गुणका भाव यह कि सीताजी रामविरहानलसे संतप्त हैं, तापको चन्द्रमा दूर करता है, यथा—**'सरदातप निसि ससि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई॥'** अतएव **'रामचंद्र'** पद दिया। पूर्व रावणके चन्द्रहाससे परिताप हरण करनेकी विनती की थी। पर वह ताप न दूर कर सका। श्रीरामचन्द्रजीके गुण सुननेसे ताप दूर हुआ। श्रीरामजी चन्द्र हैं, उनके 'गुण' किरण हैं। 'गुण' अर्थात् करुणा, कृपालुता आदि; यथा—**'दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई'** (वि० ८१)।

(ख)—जैसे श्रीरामजीके गुणोंके श्रवणसे ताप दूर होनेके कारण उनके नाम (राम) के साथ यहाँ चन्द्र शब्द दिया गया वैसे ही गुणश्रवणसे शीतल हो जानेके सम्बन्धसे 'सीता' नाम दिया गया। 'सीता' से शीतलताके भावका उदाहरण, यथा—**'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥ ५-३६।'**

नोट—३ **'सुनतहि सीता कर दुख भागा।'** इति। (क) 'भागा' अर्थात् शीघ्र डरकर चला गया। इससे जनाया कि उसका नाश नहीं हुआ, श्रीहनुमान्‌जीके चले जानेपर फिर आ जायगा; यथा—**'तोहि देखि सीतल भइ छाती। पुनि मो कहुँ सोइ दिन सो राती॥** ५। ३७।' (ख) 'सुनतहि'' कुसुमविचित्रा है। (ब्र० चं०)

☞यहाँ ग्रन्थकारका उपदेश है कि जैसे श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंके श्रवणसे श्रीसीताजीका दुःख भाग गया, वैसे ही जो भी मन लगाकर सुनता है उसका दुःख भाग जाता है। 'सुनतहि' का भाव कि सुननेहीकी देर है, दुःख भागनेमें देर नहीं लगती। (रा० कु०)। दुःख-सुख सब मनका धर्म है, यथा—**'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥'** श्रीसीताजीने श्रीरामचन्द्रगुणवर्णन सुननेमें ऐसा मन लगाया कि दुःखका कहीं पता न रहा। (वि० त्रि०)।

लागी सुनै श्रवन मन लाई। आदिहुँ तें सब कथा सुनाई॥ ६॥

अर्थ—वे कान और मन लगाकर सुनने लगीं। श्रीहनुमान्‌जीने आदिही से (बालकाण्ड; जन्मसे) सब कथा सुनायी। ६।

टिप्पणी—१ (क) **'श्रवन मन लाई'** का भाव। जबतक कोई दुःख रहता है तबतक कथामें मन नहीं लगता और जो मन लगाकर न सुने, उससे कथा कहनी न चाहिये चाहे कोई भी क्यों न हो; यथा—**'यह न कहिअ सठ ही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि ॥ ७-१२८ ।'** अतएव प्रथम रामचन्द्रगुण सुनाकर दुःख दूर किया जिससे मन जो विचारमें लगा था वह कथा श्रवण करने लगा। पुनः; जब वक्ताके कथनमें रस होता है तभी श्रोताका मन लगता है। श्रीहनुमान्‌जीकी वाणी अमृतसम है। अतएव श्रवण मन लगाकर सुनी। (ख) **'आदिहुँ तें····'** इति। अर्थात् बालकाण्डसे अरण्यकाण्डतक जितनी कथा श्रीजानकीजीकी जानी हुई थी वह सब कही और उसके आगे जैसे सीताहरण हुआ, जिस रीतिसे श्रीरामजी मायामृगको मारकर आश्रमपर आये और जानकीजीको न देखकर विरहसे व्याकुल हो विलाप करते चारों ओर ढूँढ़ते फिरे, वह सब कहा। फिर जटायु और शबरीजीकी सद्‌गति, [वाल्मीकीयके अनुसार सुग्रीवसे मित्रता, बालिवध भी], दूतोंका चारों दिशाओंमें भेजा जाना और उनमेंसे एक दूतका संपातीके बतलानेपर समुद्रको लाँघकर लङ्कामें पहुँचकर घर-घर ढूँढ़ते हुए श्रीविभीषणजीसे पता लगनेपर अशोकवाटिकामें पहुँचकर सीताजीका दर्शन पाना और श्रीरामचन्द्रजीके बताये हुए चिह्नोंसे उनको पहचानना और मुद्रिकाका गिराना—यह सब कथा उन्होंने कही। परन्तु बीचमें सुग्रीवजीसे रामजीकी मित्रताकी कथा न कही, क्योंकि उसके कहनेसे श्रीजानकीजीको संदेह होता। यह उनकी बुद्धिमानीका परिचय है। और श्रीजानकीजीने शङ्का की ही, यथा—**'नर बानरहि संग कहु कैसे। ५-१३।'** तब हनुमान्‌जीके बतानेपर संदेह दूर हुआ। यथा—**'कही कथा संगति भइ जैसे।'** यदि कथा पूर्व कही होती तो यह प्रश्न और उत्तर न होते। [वाल्मीकीयमें सुग्रीवकी मित्रता और कामरूपी वानरदूतोंके भेजनेकी भी बात कही है। हो सकता है कि हनुमान्‌जीने 'सुग्रीव-मिताई' और वालि-वध करके सुग्रीवका राजा बनाया जाना और उनका दूतोंका भेजना कहा हो, केवल वानर-जाति न बतायी हो; यह पूछनेपर कहा हो। क्योंकि दूत कहाँसे मिले, यह भी बताना जरूरी था, नहीं तो उसके विषयमें भी संदेह होता। परन्तु वाल्मीकीयमें भी **'नर बानरहि संग कहु कैसे'** वाला प्रश्न है, यथा—**'क्व ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम्। वानराणां नराणां च कथमासीत्समागमः ॥ ३५। २।'** और यह भी कहा कि श्रीराम-लक्ष्मणजीकी हुलिया फिरसे कहो जिसके सुननेसे मेरे मनको शोक न हो। उत्तरमें सुग्रीवका पटभूषण पाना (जो सीताजीने फेंके थे) और किस तरहसे मित्रता हुई वह पूरी कथा कही। प्रथम बार संक्षेपमें कही थी। अतः यह भी हो सकता है कि परमविरहातुर होनेसे सुग्रीवका वानर होना चित्तसे उतर गया हो। जब हनुमान्‌जी समीप आये तब कपिरूप देखकर और बोली मनुष्योंकी सुनकर संदेह हुआ।]

२ **'आदिहुँ तें सब कथा सुनाई'** इति। श्रीहनुमान्‌जीको सब कथा सबसे पहले तो श्रीरामचन्द्रजीसे ही मालूम हो गयी थी, यथा—**'आपन चरित कहा हम गाई ॥ ४-२ ॥'** तत्पश्चात् लक्ष्मणजीसे भी सब सुन चुके हैं, यथा—**'लछिमन रामचरित सब भाषा ॥ ४-५ ॥'** इसके अतिरिक्त पूर्व ही मुनियोंसे सुन चुके हैं, यथा—**'रामजनम सुभ काज सब कहत देव रिषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमानके प्रेम उमँग न अमाइ ॥ रामाज्ञा सर्ग ४-२२ ॥'** सूर्यसे सुनी है क्योंकि उन्होंने इनको सुग्रीवकी रक्षाके लिये नियुक्त किया था। इसीसे उन्होंने आदिसे पूरी कथा कह सुनायी। [**'आदिहुँ ते'** से **'भइ संगति जैसे'** तक पायकुलक है (ब्र० चं०)]

श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही * सो प्रगट होत किन भाई ॥ ७ ॥
तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ ॥ ८ ॥

अर्थ—(कथा कहकर जब हनुमान्‌जी चुप हो गये तब श्रीसीताजीने कहा—) जिसने कानोंको अमृत (समान लगनेवाली) सुन्दर कथा कही, हे भाई! वह प्रकट क्यों नहीं होता? ॥ ७ ॥ तब हनुमान्‌जी उनके पास चले गये। (हनुमान्‌जीको देखकर) उनके मनमें विस्मय (आश्चर्यसहित भय) हुआ। वे फिरकर (मुँह फेरकर) बैठ गयीं ॥ ८ ॥

नोट—१ (क) 'श्रवनामृत०' इति। श्रीरामजीकी कथा अमृतसमान है, यथा—**'बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी। ···सुनत बचन बिसरे सब दूषा। 'तृषावंत जिमि पाइ पियूषा ॥ ७ २ ॥'** (ख) 'भाई' सम्बोधन प्रेम और प्यारका है। कथा सुनानेसे वे अति प्रिय लगे। ऐसे ही श्रीदशरथजी और श्रीभरतजीने कथा सुनानेपर 'भाई' सम्बोधन किया है। यथा—**'भैआ कहहु कुसल दोउ बारे ॥ १-२९१ ॥'** (दूतोंको 'भैया' कहा), **'तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता ॥ ७-२ ॥'**

* कही—१७२१, १७६२, १७०४, भा० दा०। कहि—छ०, कोदवराम।

(हनुमान्‌जीको 'भ्राता' कहा)। अमृत मृतकको जिलाता है। सीताजी आत्महत्या करने जा रही थीं, इस अवस्थामें कथा कहकर जिला लिया। अतः 'श्रवनामृत कथा' और 'भाई' कहा। भाई दुःखके साथी होते हैं' यथा-- **'होहिं कुठाँय सुबंधु सुहाए ॥ २। ३०६। ८॥'**

टिप्पणी—१ **'प्रगट होत किन'** इति। प्रकट बुलानेका भाव कि रामचरितके वक्तासे महारानीको भी पर्दा नहीं है। त्रैलोक्यकी महारानी भी कथा सुनकर उसे प्रकट होनेको कहती हैं। **'प्रगट होत किन भाई'** का भाव कि जिसने ऐसा भारी उपकार किया है उसको प्रकट होनेमें क्या भय है। तुम्हारे वचन सुनकर श्रवण तृप्त हुए, प्रकट होनेसे नेत्र भी तृप्त होवें, यथा—**'तोहि देखि सीतल भइ छाती।'**

२ (क) 'तब' अर्थात् जब आज्ञा हुई। बिना आज्ञा निकट न जा सके, यथा--**'दूरि ते ताहि सबन्हि सिरु नावा। पूँछें निज बृत्तांत सुनावा'** (कि० २), **'दूरिहि ते प्रनाम कपि कीन्हा। रघुपतिदूत जानकी चीन्हा ॥ ६-१०६॥'** 'चलि गयऊ' अर्थात् दौड़कर या कूदकर नहीं, यह अपराध होता। यथा—**'मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये। तासु निकट पुनि सब चलि आये ॥'** (ख) 'फिरि बैठी' का भाव यह कि मुद्रिका गिरानेपर उठकर लेना कहा था—**'हरषि उठि कर गहेउ'**। खड़े-खड़े उसे देखती रहीं, मनमें अनेक विचार करती रहीं और मन लगाकर कथा सुनी एवं वक्ताको निकट बुलाया। जब हनुमान्‌जी निकट गये तब फिर गयीं और बैठ गयीं। (ग) **'मन बिसमय भयऊ'** क्योंकि कथा सुनी मनुष्यकी बोलीसे और प्रकट हुआ वानर कदाचित् यह रावण है, छल कर रहा है यही विस्मय हुआ।

नोट—२ वाल्मीकीय सर्ग ३० में हनुमान्‌जीके विचार सर्गभरमें दिये हैं। उसीमें यह भी विचार है कि 'मैं बहुत छोटा वानर हूँ; पर मैं मनुष्योंके समान संस्कृतमें वचन कहूँगा, ब्राह्मणोंके समान न बोलूँगा, नहीं तो ये मुझे रावण समझकर डर जायँगी। ये मेरा रूप देखकर और मेरे वचन सुनकर कहीं डरकर चीख उठीं तो राक्षस दौड़ पड़ेंगे, मुझसे युद्ध होने लगेगा, इससे रामकार्य नष्ट हो जायगा। मेरे बोलनेमें यह बुराई है। पर न बोलनेसे इनका प्राण त्याग करना भी निश्चित है।' अतः उन्होंने निश्चय किया कि श्रीरामजीके गुणोंका कीर्तन करनेसे ये उद्विग्न न होंगी, फिर मैं रामजीका संदेश सुनाऊँगा, जिससे वे मुझपर विश्वास करें। यह विचारकर मधुर और सत्य वचन बोले। पुनः स० ३४ में उल्लेख है कि उन्होंने इन्हें रावण ही समझा। **'यथा यथा— समीपं स हनूमानुपसर्पति। तथा तथा रावणं सा तं सीता परिशङ्कते ॥ ९॥'** और बोलीं कि यह अच्छी बात नहीं कि तू मुझे कपटरूप बनाकर दुःख देता है। फिर सोचती हैं कि स्वप्न तो नहीं है? भ्रम या उन्माद तो मुझे नहीं? पर मैं तो प्रत्यक्ष देख-समझ रही हूँ। अनेक विचार करके रावण ही निश्चय कर फिर वानरसे कुछ न बोलीं। यथा--**'रक्षसा कामरूपत्वान्मेने तं राक्षसाधिपम्। एतां बुद्धिं तदा कृत्वा सीता सा तनुमध्यमा ॥ न प्रतिव्याजहाराथ वानरं जनकात्मजा।** वाल्मी० ३४। २६-२७।' रावण एक बार यतीरूपसे छल चुका ही है। अतः ऐसा विस्मय हो सकता ही है।

रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की ॥ ९॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी ॥ १०॥

अर्थ--(हनुमान्‌जीने कहा) हे जानकी माता! मैं श्रीरामजीका दूत हूँ, करुणानिधानकी शपथ करके सत्य कहता हूँ॥ ९॥ हे माता। यह अँगूठी मैं (ही) लाया हूँ। श्रीरामचन्द्रजीने यह तुम्हें निशानी दी है। (तात्पर्य कि इसे देखकर श्रीजानकीजीको विश्वास होगा, हमारा दास जानेंगी सो आप इसीसे निश्चय कर लें)॥ १०॥

वि० त्रि०--सीताजीको परम विरहाकुल देखकर, हनुमान्‌जीको भय हुआ कि यह तो विरहकी दशम दशाको प्राप्त हुआ चाहती हैं, अतः उनकी चित्तवृत्तिको दूसरी ओर फेरनेके लिये मुद्रिका गिरायी। चित्तवृत्ति फिरी। संदेह उठा कि यह सरकारकी अँगूठी यहाँ आयी कैसे? यह अदेय है, बिना जीते कोई इसे पा नहीं सकता, और रामजी अजेय हैं। सीताजी हर्ष-विषादसे फिर व्याकुल हो उठीं। उनकी अवस्था इस समय बड़ी नाजुक हो रही थी, हनुमान्‌जी बहुत सँभालकर काम कर रहे हैं। 'कोई अपने पक्षका पुरुष वहाँ है' इसे जनानेके लिये रामगुण-वर्णन आरम्भ किया, सारी रामकथा सुनायी। इससे मन कुछ स्वस्थ हुआ, तब कहने लगीं कि जिसने कथा सुनायी वह प्रकट क्यों नहीं होता? तब हनुमान्‌जी पास चले गये। रावण समझकर भगवतीने मुँह फेर लिया—तब हनुमान्‌जी बोले—मैं रामदूत हूँ, करुणा-निधानकी शपथ लेकर सत्य कहता हूँ, यह अँगूठी मैं लाया हूँ। संदेह मत करो कि यह अँगूठी अदेय है, इसे रामजीने तुम्हें दिया है, मैं केवल लानेवाला हूँ। तुम्हारे विश्वासके लिये मेरे हाथ भेजा है।

टिप्पणी—१ 'सत्य सपथ···' इति । भाव कि मैं रावण नहीं हूँ, इसके लिये मैं करुणानिधानकी शपथ करता हूँ । पुनः यह कि यदि मैं छल करता हूँ तो मुझपर श्रीरामजीकी करुणा न रहे । यथा—**तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई ।'** हमारे स्नेह और सुकृतकी अवधि श्रीरघुनाथजी हैं, यदि मैं झूठी शपथ करता होऊँ तो मेरे सब सुकृत और स्नेह नष्ट हो जायँ । अथवा भाव यह कि मैं उनका दूत होने योग्य नहीं हूँ, करुणानिधानने कृपा करके मुझे अपना दूत बनाया । यथा—'**जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास ।**' शपथसे बातकी दृढ़ता होती है, यथा—'**तेहि पर राम सपथ करि आई । बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली ।**' शपथ करके अपना वचन मुद्रिकाका लाना पुष्ट किया, क्योंकि जानकीजीको निश्चय विश्वास है कि मुद्रिका रामजीकी है । इससे रामदूत निश्चित हुआ । अब केवल 'नर वानर संग' का संदेह रहा । वह पूछती हैं और हनुमान्‌जी उसे कहेंगे । जब सब संदेह दूर हो गया तब '**जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास ।**' सहिदानी=निशानी, चिह्न; यथा—'**मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा ।**'

नोट—१ 'रामदूत' इति । रामराज्य ही क्या प्राचीन भारतीय शासनप्रणाली मात्रका बड़ा आवश्यक अङ्ग 'दूत' है । डाक्टर बेनीप्रसादजीके State in Ancient India और Theory of Government in Ancient India के आधारपर कुछ लिखता हूँ । ऋग्वेदकालमें वह राजाका प्रतिनिधि (Agent General) ही था, केवल जासूस नहीं । पीछे वैदिक कालमें ही उनका बड़ा समूह और दफ्तर बन गया । महाभारतकालमें तो डाक्टर-महोदयके शब्दोंमें मानो उनकी फौजकी-सी बहुतायत थी (a host) । वे सबकी निगरानी करते थे और शासनविधान, प्रजाकी राय तथा विधानके सम्बन्धमें वे बराबर रिपोर्ट करते थे । मौर्यकालमें और भी बहुतायत लिखी है; कारण कि वह साम्राज्य था । महाराज अशोकके समयमें जिनके 'धर्मचक्र' को अब स्वराज्यके झंडेमें स्थान मिला है, इनको Supervisor (देख-रेख करनेवाला), Reporter (रिपोर्ट करनेवाला) और जासूस तीनों कहा है । मानव धर्मशास्त्र जो श्रीराम-राज्यका ही राज्यधर्म वर्णन करता है, उसके सम्बन्धमें डाक्टर महोदय लिखते हैं—'सब कर्मचारियोंके ऊपर, चाहे वे न्यायविभाग (Judicial) के हों चाहे कर्मविभागके (Executive) या आय-व्यय (Fiscal) विभागके, उन सबोंपर और जनतापर भी राजाको दूतोंद्वारा देख-रेख करनी चाहिये । उन्हें राजाके नेत्र कहा है । उन्हें सबके व्यवहारकी खोज करनी है ।' रामायणमें 'चर' शब्द भी आया है । दूतका राजदूत (ambassador) सफीर, एलची रूप तो सभी जानते हैं । मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानी कालमें भी 'अखबारनवीस' कुछ वैसे ही थे । डाक्टर महोदयकी यह राय भी ठीक ही है कि वे मानो पत्रकार (Journalist) भी थे । जनसत्तात्मक-वैध्य रामराज्य-प्रणालीवाले शासनमें उनका बड़ा हाथ है । श्रीजयदेवशर्माजी विद्यालंकारने अपने सामवेदसंहिताके भाष्यमें तीसरे मन्त्रकी व्याख्याकी पाद-टिप्पणीमें जहाँ और वाक्य उपनिषद् इत्यादिसे उद्धृत किये हैं वहाँ एक यह भी है—'**बहुकार्यसाधको राजभृत्यो वा ।**' (श्रीलमगोड़ाजी) ।

नोट—२ 'मातु' सम्बोधनका भाव कि मैं माता ही मानता हूँ, माताको पुत्रसे पर्दा कैसा ? श्रीरूपकलाजी 'करुणानिधान' का भाव यह बताते थे कि—स्त्रियोंका स्वामीको सम्बोधन करनेके लिये कुछ खास नाम रहता है। महारानीजी सरकारको 'करुणानिधान' विशेषणसे सम्बोधन किया करती थीं । यह गुप्त बात थी, प्रभुने हनुमान्‌जीसे बता दी थी । अतः उन्होंने इस नामका यहाँ प्रयोग किया । मुद्रिका देनेपर भी विश्वास न हुआ पर इस नामके सुननेपर विश्वास हो गया । गोस्वामीजीने सीताजीके साथ इस नामका प्रयोग इसी विचारसे जहाँ-तहाँ किया है । यथा—'**अतिसय प्रिय करुनानिधान की । सरल प्रकृति आप जानियत करुनानिधान की ॥**' (विनय) ।

प० प० प्र०—रामदूत, मातु और करुणानिधान ये तीन संशयनिरासके लिये पर्याप्त थे । दुर्जन ऐसी स्त्रीके लिये 'मातु' शब्दका प्रयोग न करेगा । दुर्जनोंके कोषमें करुणा शब्द है ही नहीं । दूत भेजा यह आपपर कृपा की और मुझे यह सेवा दी यह मुझपर कृपा की यह भी सूचित किया ।

नोट—३ 'मैं आनी' का भाव कि यह अशोकने नहीं दी है । अशोकमें अँगूठी नहीं फलती । मैं रामदूत हूँ। श्रीरामजीने आपको देनेके लिये मुझे दी थी सो मैं ही उसे लाया हूँ । यह विश्वास दिलानेके लिये दी थी । यथा—'**रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम् ॥ २ ॥ प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना ।** वाल्मी० ५ । ३६ । ३ ।'

नर बानरहि संग कहु कैसें। कही कथा भइ संगति जैसें॥ ११॥

दोहा—कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥ १३॥

अर्थ—(श्रीसीताजीने पूछा—) मनुष्य और बंदरका साथ कैसे हुआ? यह कहो। (तब श्रीहनुमान्‌जीने सब) कथा कही कि जिस प्रकार संगति हुई थी॥ ११॥ कपिके प्रेमयुक्त वचन प्रेमपूर्वक सुनकर सीताजीके मनमें विश्वास हुआ। उन्होंने जान लिया कि यह मन, कर्म और वचनसे कृपासागर श्रीरामजीका दास है॥ १३॥

टिप्पणी—१ (क) '**बचन सप्रेम**'। जब कथा कहने लगे तब प्रेमसे दोनों भाइयोंके स्वरूप वर्णन किये, सीताजीके आभूषण गिनाये जो उन्होंने वानरोंको देखकर पर्वतपर गिराये थे और जिस वस्त्रमें वे बँधे थे, जैसा वह वस्त्र था वह बताया, कथा कहते समय बारंबार प्रेम उमड़ आता था। (ख) 'विश्वास उत्पन्न हुआ' इस कथनका भाव यह है कि उन्हें देखकर मनमें विस्मय हो गया था—'**फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ**'। अब विस्मय दूर हुआ। समझती थीं कि रावण न हो, सो अब उन्हें मन-कर्म-वचनसे दास जाना। (ग) प्रेम देखकर मनसे दास जाना। '**रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ**…' इन वचनोंसे दास निश्चय किया। और, '**यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम**…' यह काम करनेसे कर्मसे दास जाना। प्रतीति होनेसे प्रीति बढ़ी, यथा—'**जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।**' (घ) '**कृपासिंधु कर दास**' अर्थात् मैं उनका दास होनेकी योग्यता नहीं रखता, पर उन्होंने मुझपर कृपा करके अपना दास बनाकर भेजा, यथा—'**अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता। ५। ७।**'

❀ नर-वानर ❀

इसपर श्रीगौड़जीका लेख 'सुरसा' के मुख बढ़ानेके प्रसंगमें आ चुका है। श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि—श्रीरामजीके प्रधान उपासक श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामजीसे कहा है कि—'सुन्दरता, वाक्‌चातुरी बुद्धि और श्रेष्ठ योनि—इनमेंसे कोई भी गुण आपकी प्रसन्नताका कारण नहीं हो सकता; यह बात दिखानेके लिये ही आपने इन सब गुणोंसे रहित हम वानरोंसे मित्रता की है।' विचार कीजिये कि इस अवतरणमें '**जाति**' नहीं किंतु '**योनि**' की भिन्नतापर जोर दिया है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि उनके मनुष्य होने और केवल जंगलमें रहनेकी कल्पना कुछ बहुत ठीक नहीं है। यदि ऐसा न होता तो रावण '**नर, वानर**' दो छोड़कर वरदान न माँगता, केवल '**नर**' काफी होता। यह भी ठीक है कि वे केवल कपि न थे, यथा—'**कस रे सठ हनुमान कपि?**' सब ही महाकाव्यकलाकारोंने माना है कि दैवी तथा आसुरी दोनों श्रेणियाँ मनुष्यसे ऊपरकी हैं और दोनोंको अपनी इच्छासे भिन्न-भिन्न रूप धारण करनेकी शक्ति होती है। अँग्रेजी पढ़े सज्जन मिल्टनरचित पैरेडाइज लास्ट Paradise Lost देख सकते हैं। तुलसीदासजीने तो स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्माजीके आदेशानुसार देवताओंने ही वानर-रूप धारण किये। यहाँ कपिरूप है तो श्रीरामराज्याभिषेक-प्रसंगमें श्रीअयोध्यामें सुन्दर मनुष्य-रूप। विश्वसाहित्यसे मेलके लिये देखिये Canon Doyle का उपन्यास The Lost World जो भौतिक विज्ञानके आधारपर कल्पना करके वैसे लोगोंका वर्णन करता है जो बंदरों और मनुष्योंके बीचकी खोयी हुई श्रृङ्खला हैं। हम विस्तारभयसे केवल संकेत करते हैं। डाक्टर ब्रूमने अभी इसी महीने अगस्त १९४७ ई० में कुछ Ape-man (वानर) की हड्डीके ढाँचेकी खोज की है; उससे भी यही पता लगता है कि वह मनुष्यसे पृथक् पर मिलते हुए थे।

मा० त० सु०—यहाँ अनुमान, शब्द, आप्तवाक्य और प्रत्यक्ष इन चारों प्रमाणोंद्वारा जाना कि यह रामजीका दास है। '**जीति को सकै अजय रघुराई। माया ते असि रचि नहिं जाई**' अतः इसके लानेवालेका अवश्य रामजीसे सम्बन्ध है। यह अनुमान है (१) '**आदिहु तें सब कथा सुनाई**', यह शब्द और आप्तवाक्य है (२-३)। और मुद्रिका पहिचानी, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है (४)।

नोट—१ पं० रामकुमारजीने पिछली चौपाईमें कहा है कि 'श्रीरामचरितके वक्तासे परदा नहीं रहता'। पर प्रकट होनेपर उन्होंने मुँह फेर लिया यह क्यों? कारण यह कि कथा सुनकर समझी थीं कि वक्ता कोई सुयोग्य श्रीरघुवंशभूषणसम्बन्धी तत्कृपापात्र अधिकारी श्रेयस्कर दर्शनीय होगा। प्रकट होनेपर भगवत्सम्बन्धीय संस्काररहित देखा अतः फिर बैठीं।

२—मिलानके श्लोक ये हैं—'क्व ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम्। वानराणां नराणां च कथमासीत्समागमः। २॥'''एवं विश्वासिता सीता हेतुभिः शोककर्शिता॥ उपपन्नैरभिज्ञानैर्दूतं तमधिगच्छति। वाल्मी० ।५।३५।८४-८५।'

३—यह वानर-दोहा वैश्या है।—(ब्र० चं०)।

टिप्पणी—२ पूर्व दोहा १२ में सीताजीके कर्म और वचनका व्यवहार बहुत है। यथा—'तजौं देह करु बेगि उपाई', 'आनि काठ रचु चिता बनाई'—यह कर्म है। 'कह सीता बिधि भा प्रतिकूला' से लेकर 'नूतन किसलय अनल समाना' तक वचन है। और इस तेरहवें दोहेमें मनका व्यवहार अधिक है, यथा—'सीता मन बिचार कर नाना', 'लागी सुनै श्रवन मन लाई', 'फिरि बैठी मन बिसमय भयऊ', 'उपजा मन बिस्वास।'

हरिजन जानि प्रीति अति* बाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी॥ १॥
बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भएहु† तात मो कहुँ जलजाना॥ २॥

अर्थ—भगवान्‌का जन (सेवक, दास) जानकर प्रीति अत्यन्त बढ़ी, नेत्रोंमें जल भर आया, शरीर पुलकित हुआ और रोम खड़े हो गये। १। (वे हनुमान्‌जीसे बोलीं) हे तात! हे हनुमान्! विरह-समुद्रमें डूबती हुई मुझको तुम जहाज हुए। २।

टिप्पणी—१ (क) 'हरिजन जानि' का भाव। जैसे हनुमान्‌जीने विभीषणजीको सज्जन पहिचाना, यथा—'राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा'। और, विभीषणजीने उनको हरिदास जाना, यथा—'की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई'। वैसे ही श्रीजानकीजीने इनको हरिजन जाना। (ख) हरिजन जाना, इसीसे प्रीति अत्यन्त बढ़ी। हरिजनके दर्शनसे प्रीति अपने आप हृदयमें बढ़ती है। विभीषणजीने भी कहा है—'की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई।५।६।' ये हरिजन हैं, संत हैं (जैसा कि विभीषणजीने कहा है—'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।') और संतोंमें अत्यन्त प्रेम करना ही चाहिये, यथा—'संत चरन पंकज अतिप्रेमा। ३। १६।' (ग) ['प्रीति अति बाढ़ी' कहकर जनाया कि प्रीति तो पहले ही उत्पन्न हो गयी थी, जब रामचन्द्रजीके गुण वर्णन किये थे, तभी तो प्रकट होनेको कहा था, और 'भाई' सम्बोधन किया था, यथा—'श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई।' जब हनुमान्‌जी प्रकट हुए और अपनेको राम-दूत बताया; सीताजीको माता सम्बोधन किया और कहा कि मैं यह अँगूठी लाया हूँ तब वह प्रीति बढ़ी, पर संदिग्धचित्त होनेसे वह कुछ संकुचित थी। अब निश्चय होनेपर वह प्रीति अत्यन्त बढ़ी कि रोके न रुकी, अश्रु और पुलकद्वारा प्रकट हो गयी। यथा—'मनसो हि मम प्रीतिरुत्पन्ना तव दर्शनात्। यदि रामस्य दूतस्त्वमागतो भद्रमस्तु ते। वाल्मी० ५। ३४। १८।' अर्थात् तेरे दर्शनसे मेरे मनमें तेरे प्रति स्वतः प्रेम उत्पन्न हो रहा है, यदि तू रामदूत है तो तेरा मंगल हो। 'अति बाढ़ी०', यथा—'अतुलं च गता हर्षं प्रहर्षेण च जानकी॥ नेत्राभ्यां वक्रपक्ष्मभ्यां मुमोचानन्दजं जलम्। वाल्मी० ५। ३५। ८५-८६।' अर्थात् दूत जानकर बहुत प्रसन्न हुईं, प्रसन्नताके कारण उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु निकलने लगे। यहाँ हर्ष संचारी भाव है।]

२ (क) 'प्रीति अति बाढ़ी' यह अन्तःकरणका प्रेम हुआ, 'सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी' यह उस प्रेमका सबूत बाहर देख पड़ा। अर्थात् पहले चरणमें जो 'प्रीति अति बाढ़ी' कहा उसकी दशा दूसरे चरणमें दिखायी। तनमें पुलकावली होती है, यथा—'तासु दसा देखी सखिन्ह पुलकगात जल नयन', 'तन पुलकहिं अति हरष हिय देखि देखि दोउ भ्रात'। और, रोमावली खड़ी होती है, यथा—'बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी। १। १०४। २।', 'स्यामल गात रोम भये ठाढ़े।' यहाँ अङ्गके धर्म कहकर अङ्गका ग्रहण कराया। (ख) मन, तन और वचन तीनोंकी दशा यहाँ कही। 'प्रीति बाढ़ी' यह मनकी दशा है, 'सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी' यह तनकी और 'बूड़त बिरह''' जलजाना' यह वचनकी दशा है।

प० प० प्र०—विभीषणजीके हृदयमें विप्ररूप हनुमान्‌जीको देखकर अत्यन्त प्रीति उत्पन्न हुई, इससे उन्होंने अनुमान किया कि यह 'हरिदासन्ह महँ कोई' है, पर यहाँ क्रम उलटा है। इन्होंने जब जाना कि यह हरिजन है तब 'प्रीति अति

* अति गाढ़ी—भा० दा०। उर बाढ़ी—ब्र० चं०। † भएहु—का०, ना० प्र०, ब्र० चं०। भयहु, भयउ पाठान्तर। 'हरिजन' नयमालिनी, 'सजल' चण्डी और (२), (३) पायकुलक है—(ब्र. चं.)।

बाढ़ी'। कारण कि एक तो रावणके वचनोंके कारण श्रीसीताजीको अत्यन्त दुःख है, दूसरे वे सतीशिरोमणि हैं और उनके सामने एक वानर आकर खड़ा होता है, ऐसी दशामें प्रथम ही अति प्रीति होना असम्भव है। इससे उपदेश मिलता है कि जब चित्त सभीत, सशंक या व्यग्र अथवा पूर्वग्रहदूषित होता है तब हरिभक्तका दर्शन होनेपर भी उसमें अत्यन्त प्रीति उत्पन्न नहीं होती।

नोट—१ 'बूड़त बिरह जलधि०' इति। आत्महत्या करना चाहती थीं; यथा—'**तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई**···' यही विरहसागरमें डूबना होता है। २—'हनुमाना' सम्बोधनसे जान पड़ता है कि जब हनुमान्‌जीने '**सब कथा**' सुनायी तब उसीमें यह भी कह दिया था कि हनुमान-नामक दूत समुद्र पार करके अशोकवाटिकामें पहुँचा और परम विरहाकुल देख मुद्रिका उसीने गिरायी। गीतावलीमें मुद्रिकाने भी इनका नाम और परिचय कराया है; यथा—'**बोलि लियो हनुमान करि सनमान जानि समाउ।...दियो सीय प्रबोध मुँदरी दियो कपिहि लखाउ॥** गी० ५।४।' वाल्मी० ५।३५ में भी '**नर बानरहि संग कहु कैसे?**' का उत्तर देते समय हनुमान्‌जीने कहा है—'**रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत। हनूमन्तं च मां विद्धि तयोर्दूतमिहागतम्॥ ५२॥**' अर्थात् इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी और सुग्रीवजीका मेल हुआ। मुझे हनुमान्‌नामक वानर तथा उन दोनोंका भेजा हुआ दूत समझो। पुनः यथा—'**हनुमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा॥ ८३॥**' अतः यहाँ भी '**नरबानरहि संग कहु कैसे।**' के उत्तरमें जब हनुमान्‌जीने '**कही कथा भइ संगति जैसे**' तभी उसके साथ अपना नाम कहा हो, यह भी हो सकता है। इसीसे वे नाम जानती थीं।

३—'**भएहु तात मो कहँ जलजाना।**' इति। 'तात' प्रिय सम्बोधन है, यथा—'**तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥** २। ५३।', '**तात तुम्हारि मातु बैदेही।**···**लेहु तात जग जीवन लाहू॥** २। ७४।' इत्यादि। '**भएहु जलजाना**' जहाज हो गये अर्थात् मुझ डूबती हुईको सहारा हो गये। मुद्रिका देकर, कथा सुनाकर और प्रकट होकर, विश्वास दिलाकर मरतेसे बचा लिया। यथा—'**सुनतहि सीता कर दुख भागा**', '**तोहि देखि सीतल भइ छाती।**'

टिप्पणी—२ जलयान हुए कहकर जनाया कि यद्यपि हनुमान्‌जी आधार मिल गये, डूबतेसे बचा लिया। पर अभी जानकीजी उसके पार नहीं हुईं, पार तब होंगी जब श्रीरामजी मिलेंगे; यथा—'**बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥** ७। ५।' वहाँ भरत प्रसंगमें श्रीरामजीको जलयान नहीं कहते क्योंकि रामजी मिल गये; यही पार होना है।

३ जैसे श्रीहनुमान्‌जीने यहाँ श्रीसीताजीको विरहसागरमें डूबते बचाया, ऐसे ही इन्होंने अंगदादिको, श्रीरामचन्द्रजीको और श्रीभरतादि सबोंको डूबते हुए बचाया। यथा—'**गगन निहारि किलकारी भारी सुनि हनुमान पहिचानि भये सानंद सचेत हैं। बूड़त जहाज बच्यो पथिकसमाज मानों, आजु जाये आनि सब अंकमाल देत हैं।**···**अंगद मयंद नल नील बलसील महा, बालधी फिरावैं मुख नाना गति लेत हैं॥** क० ५। २९।' (श्रीसीताजीका समाचार लाकर अंगदादिके प्राण बचाये, नहीं तो सुग्रीव सबका वध करते, यथा—'**उहाँ गये मारिहि कपिराई**') '**सियबियोगसागर नागर मन बूड़न लग्यो सहित चित चैन। लही नाव पवनज प्रसन्नता बरबस तहाँ गह्यो गुन मैन॥** गी० ५। २१।'—(यह सीताजीका समाचार देकर श्रीरामजीको डूबते बचाया); और, '**रामबिरहसागर महँ भरत मगन मन होत। बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥** ७। २।' (श्रीसीतालक्ष्मणसहित श्रीरामजीका आगमन कहकर श्रीभरतजीको बचाया)।—[श्रीभरत प्रसंगमें 'पोत' कहा है। सूक्ष्म अन्तरपर कला निछावर है; कारण कि तब और बहुधा अब भी 'जलयान' किनारेसे दूर खड़े होते थे और वहाँसे किनारे तक आने-जानेके लिये 'पोत' (छोटी नाव) ही काम देती हैं। जब भरतजीको संदेश दिया है तब मानो जलयानरूपी रामके पाससे पहले नावरूपमें ही हनुमान्‌जी आये और उन्हींके सहारेसे भरतजी स्वागतकी तैयारी करके श्रीरामजीकी अगवानीको जायँगे। (लमगोड़ाजी)]

अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुख-भवन खरारी॥ ३॥

अर्थ—मैं बलिहारी जाती हूँ। अब छोटे भाई लक्ष्मणसहित सुखधाम खरके शत्रु श्रीरावजीका कुशल-मंगल कहो।३।

टिप्पणी—१ (क) 'अबका भाव कि मेरा कुशल तो तुमने, **मुझे विरहसमुद्रमें डूबतेसे बचाकर**' किया; अब दोनों भाइयोंका कुशल कहो। विना कुशल-समाचार पाये व्याकुल हैं, कुशल पूछनेमें बलिहारी जाती हैं; क्योंकि जब मारीचने रामजीके स्वरमें स्वर मिलाकर आर्त्तस्वरसे लक्ष्मणजीको पुकारा था तब उस आर्त्तस्वरको सुन व्याकुल होकर सीताजीने लक्ष्मणजीको

भेजा था। उसी बीच समय पाकर रावणने इनका हरण किया। तबसे आजतक कुछ भी कुशल-समाचार किसीका न मिला। अपने प्राणोंके बचनेसे रघुनाथजीका कुशल-समाचार पाना अधिक है। इसीसे वे अत्यन्त उत्कंठित हैं और कुशल पूछ रही हैं। अपने प्राण बचानेमें बलिहारी न गयीं, स्वामीके कुशल कहने-सुनानेके लिये बलिहारी जाती हैं। पुनः; (ख) 'जाउँ बलिहारी' से अपना उपकार मानना सूचित किया। उपकार न मानतीं तो दोष लगता। उपकार मानकर कृतज्ञ होना सूचित किया। (ग) ☞ऐसा ही उपकार माननेपर रघुनाथजी और भरतजीने गलेसे भेंटकर कृतज्ञता जनायी है; यथा—**'सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि हिय लाए॥** ३०। ७।', **'दीनबन्धु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥** ७। २।'; परंतु यहाँ श्रीजानकीजी न तो भेंट कर मिलीं ही और न उनको हृदयसे ही लगाया। इसका कारण यह है कि स्त्रीका पर पुरुषको भेंटना या हृदयसे लगाना अनुचित है। स्त्री-स्त्रीसे गले लगकर मिलती है और पुरुष-पुरुषसे। (प्र०)।

नोट—१ **'बलि जाना'**, **'बलिहारी जाना'** मुहावरे हैं जो कुर्बान होने, निछावर होनेके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। यह मुहावरा प्रायः किसीपर प्रसन्न होनेपर, किसीसे कुछ मनभावता कार्य होनेपर, आपत्ति टलनेपर या अनुकूल काम करानेके लिये और वात्सल्यभावसे बोला जाता है जिसका भाव यह है कि तुम्हारी बलायें (आपत्तियाँ) अपने ऊपर लेती हूँ, तुम्हारा कल्याण हो, इत्यादि। यथा—**'तात जाउँ बलि बेगि नहाहू।...भइ बड़ि बार जाइ बलि मैया॥'** २। ५३, **'सुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारीं॥'** १। ३५७, **'तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका॥'** २। ५५, **'पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन जेहिं अजसु न होई॥** २। ४३।' वैसे ही यहाँ भी हनुमान्‌जीपर अपनी वात्सल्य भावकी प्रसन्नता वे दिखा रही हैं।

२ लक्ष्मणजीका कुशल पूछनेका कारण यह है कि निर्दोष लक्ष्मणका तिरस्कार करनेका फल ही राम-विरह है यह सीताजी जानती हैं। यथा—**'हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा। सो फल पायउँ कीन्हेउ रोसा॥** ३। २९। ३।', **'जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाए। लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए॥** ६। ९८। ८।'; अतः वे जानना चाहती हैं कि वे मुझपर रुष्ट तो नहीं हैं। जबतक वे क्षमा न करेंगे मुझे यह दुःख भोगना ही पड़ेगा। गी० ५। ३। में मुद्रिकासे पूछती हैं—**'बोलि बलि मुदरी सानुज कुसल कोसलपाल।'''कहत हित अपमान मैं कियो होत हिय सोइ सालु। रोष छमि सुधि करत कबहुँ ललित लछिमन लालु। परस्पर पति देवरहि का होत चरचा चालु॥'** इससे स्पष्ट है कि बस इसी कारण उनको भी पूछती हैं।

३ यहाँ पहले लक्ष्मणजीका नाम दिया तब रामजीका इसके अनेक भाव कहे जाते हैं—(क) सुमित्राजीने कहा है कि **'तात तुम्हारि मातु बैदेही'**। माताका पुत्रपर अधिक स्नेह होता है। पुनः; (ख) इनको कटु वचन कहे थे, उसकी ग्लानि है। अतः उनका नाम प्रथम लिया। (ग) वे रामजीके वनवासमें एकमात्र रक्षक और संगी हैं, ये सकुशल हैं तो स्वामी भी सकुशल होंगे। (घ)—रावणका पराजय बिना मेघनाद-वधके न होगा, मेघनादवध इनके ही हाथों होना है। इत्यादि। (ङ) छन्द-रचनामें सुगमता देखकर शब्द आगे-पीछे रखे जाते हैं। पुनः; **'अनुज सहित'** कहकर जनाया कि हमारे कारण रामजी उनपर कुपित तो नहीं हैं? (प्र०)।

पंडित रामचन्द्रशुक्लजी हनुमान्‌जीको सामने पाकर सीताजी उसी मर्यादाके साथ अपने वियोगजनित दुःखकी व्यञ्जना करती हैं, जिस मर्यादाके साथ माता पुत्रके सामने कर सकती है। वे पहले 'अनुजसहित' रामका (अकेले रामका नहीं) कुशल पूछती हैं, फिर कहती हैं—**'कोमल चित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥'''मृदुगात।'** प्रियके कुशल-मङ्गलके हेतु व्यग्रता भारतीय ललनाओंके वियोगका प्रधान लक्षण है। प्रिय सुखमें है या दुःखमें है, यह संशय विरहमें दया या करुण-भावका हल्का-सा मेल कर देता है। भारतकी कुलवधूका विरह आवारा आशिकों-माशूकोंका विरह नहीं है जिसमें विरह अपना ही जलना और मरना देखता है, प्रिय मरता है या जीता है, इससे कोई मतलब नहीं।

नोट—४ **'कुसल''सुखभवन'** इति। सुख-भवनकी कुशल पूछनेमें भाव यह है कि यद्यपि वे सुखके धाम सदा आनन्दस्वरूप हैं, सुखसे रहने योग्य हैं पर कहीं मेरे वियोगविरह-जन्य-शोकसे संतप्त हो घबड़ा तो नहीं गये? उनका मुखकमल शोकसे मुर्झा तो नहीं गया? वे दुःख तो नहीं पाते? पुनः 'कुशल' प्रश्नका भाव कि यदि वे कुशलसे हैं तो वे इस लङ्कापुरीको भस्म क्यों नहीं कर देते, रावणको दण्ड क्यों नहीं देते? यथा—**कुशली यदि काकुत्स्थः किं न सागरमेखलाम्। महीं दहति कोपेन'''॥** वाल्मी० ५। ३६। १३।' कुशल कहनेसे बलिहारी जाऊँगी, तेरी बलैयाँ **लूँगी**—इस कथनमें भाव यह है कि कुशल सुननेसे मुझे विश्वास हो जायगा कि वे अवश्य मेरा उद्धार करेंगे। **'अनुजसहित'** का भाव कि यदि

वे कुशलसे हैं तो वे क्यों नहीं अपने शस्त्रास्त्रोंसे रावणका वध करके मेरा उद्धार करते। वाल्मी० ५। ३६।' के श्रीसीताजीके वचनोंके भाव इतने ही शब्दोंमें जना दिये गये।

टिप्पणी—३ (क) '**सुख भवन खरारी**' का भाव कि दासोंके लिये दुःखके स्थान हैं और खरके अरि हैं। ये विशेषण देकर अपनी अभिलाषा जनायी कि दुष्टोंको मारकर मुझको भी सुख देंगे। पुनः 'खरारी' का भाव कि खरने इतना ही कहा था कि '**देहु तुरत निज नारि दुराई**' उसके इतने ही अपराधपर आपने अकेले ही सेनासहित उसका वध किया और अब तो रावण मुझे हर लाया तब भी आपने अबतक खबर न ली।—(प्र०)

कोमल चित कृपालु रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥ ४॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक*॥ ५॥

अर्थ—हे कपि! श्रीरघुनाथजी तो कोमलचित्त और कृपालु हैं, रघुकुलके राजा हैं, उन्होंने किस कारण कठोरता धारण कर ली?॥ ४॥ सेवकको सुख देनेवाले हैं यह जिनका सहज स्वभाव है वे रघुनायक क्या कभी मेरी याद करते हैं?॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'कोमलचित कृपाल'—[कोमलचित्तसे अन्तःकरणसे करुणामय और 'कृपाल' से दुःख हरनेमें समर्थ जनाया। यथा—'**उमा राम मृदुचित करुनाकर।**… **अस कृपाल को कहहु भवानी**॥ ६। ४४।' दूसरेका दुःख देख नहीं सकते और समर्थ भी हैं तब—] '**केहि हेतु धरी निठुराई**' इति। अर्थात् निज स्वभावसे जब कोमलचित्त और कृपालु हैं तो निष्ठुरता न होनी चाहिये। यदि कहें कि वंशस्वभावसे निष्ठुर हैं तो कोई भी रघुवंशी निष्ठुर नहीं सुने जाते। सभी रघुवंशी कोमल हृदय हैं और ये तो उस वंशमें शिरोमणि हैं इनमें तो स्वप्नमें भी निष्ठुरता होनेका कोई कारण नहीं हो सकता। अतः तुम हेतु बताओ।

२ (क) 'सहजबानि…' इति। भाव कि कृपा तो सभीपर करते हैं, यथा—'**सब पर मोरि बराबरि दाया**' पर सेवकको सुख देनेकी सहज टेव है। अथवा, कुछ सेवककी सेवा देखकर नहीं सुख देते वरन् स्वाभाविक ही सुख देते हैं, यथा—'**श्रीरघुबीर की यह बानि। नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि।**…**राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिनदानि॥**… विनय २१५।' जब 'सेवक सुखदायक' सहज बान है तो उस बानके बस कभी मेरा स्मरण करते हैं? क्योंकि जो बान पड़ जाती है वह कभी छूटती नहीं। (ख) 'सेवक सुखदायक' कहकर 'सुरति' करनेका प्रश्न करनेका भाव कि मैं सेवकिनी हूँ, मुझे अपने सेवककी तरह कभी स्मरण करते हैं; यथा—'**कहु कपि कबहुँ कृपाल गुसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥** ७। २। १६।' पुनः '**कबहुँक सुरति करत**' ऐसा प्रश्न करना भक्तकी दीनता प्रकट करता है। भक्त अपने कर्म या पुरुषार्थका बल भरोसा नहीं रखते। इसी तरह आपने भी ऐसा ही प्रश्न किया। यथा—'**तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा॥** ५। ७। २।' यह वचन अत्यन्त विरहसूचक हैं।

मा० त० सु०—'कोमलचित' से अन्तःकरणका और 'कृपालु' से बाहरका स्वभाव जनाया। '**केहि हेतु धरी**' अर्थात् यदि इससे कोई अपराध हुआ हो तो मुझे मालूम नहीं, तुम जानते होगे, अतः बताओ। फिर कहती हैं कि अपराध भी हो तो भी वे तो सेवक सुखदायक हैं, यथा—'**रहति न प्रभु चित चूक किये की**' अतः कहो, कभी स्मरण करते हैं?

कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥ ६॥
बचन न आव नयन भरि† बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी‡॥ ७॥

अर्थ—हे तात! क्या कभी श्यामल कोमल शरीर (वाले राघव) को देखकर मेरे नेत्र शीतल होंगे?॥ ६॥ (वे अत्यन्त शोकातुर हो गयीं, अतः मुखसे) वचन नहीं निकलता, नेत्रोंमें जल भर आया। (उन्होंने अत्यन्त दुःखसे कहा) हा नाथ! मैं बिलकुल ही भुला दी गयी!॥ ७॥

टिप्पणी—१ '**कबहुँ नयन मम सीतल ताता**…।' इति। (क) रघुनाथजीकी बान याद कर-करके और स्वरूपकी 'सुरति' कर-करके श्रीसीताजी विरहमें विलाप करने लगीं, यथा—'**बहु बिधि करत बिलाप जानकी। करि करि**

* प्र० चं०—'कोमल…' पायकुलक, 'कपि' तामरस, 'सहज…' ११९४ वाँ भेद, 'कबहुँक…' १२२० वाँ भेद।

† भरे—१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा०। ‡ प्र० चं०—'कबहुँ…' चण्डी, 'होइहहिं…' से १४ (९) तक पायकुलक।

सुरति कृपानिधान की'। ['सीतल होइहहिं' से जनाया कि ये श्रीरामविरहसंतापसे तप्त हैं; श्यामघनके दर्शनसे ही शीतल होंगे, अन्य किसी प्रकार नहीं। 'ताता' शब्द बड़ा ही सुन्दर है, श्लिष्ट पद है। दो अर्थ देता है—'हे तात!' और 'तप्त'। पुनः '**नयन मम सीतल**' का भाव कि वचन और मन तो तुम्हारे वचनामृतसे शीतल हो गये; यथा—'**लागी सुनै स्रवन मन लाई।** '' '**भये सीतल स्रवन तन मन सुने बचन पियूष। दास तुलसी रही नयननि्ह दरस ही की भूख॥ गी० सु० ६।**' अभी नेत्र शीतल नहीं हुए]। यहाँ 'श्याममृदुगाता' के दर्शनकी अभिलाषा प्यास है, यथा—'**लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।**' (ख) 'श्याममृदुगाता' से जनाया कि श्रीरामजीका शरीर मेघ है, दर्शन जल है, लोचन चातक हैं। (ग) प्रथम 'सुरति' कहकर तब दर्शनकी अभिलाषा कहनेका भाव कि दर्शन श्रीरामजीके 'सुरति' के अधीन हैं, जब वे सुरति करें, निशाचरका वध करें, तब दर्शन हो। यथा—'**कबहुँ कपि राघव आवहिंगे। मेरे नयन चकोर प्रीतिबस राका ससि मुख देखरावहिंगे। मधुप मराल मोर चातक होइ लोचन बहु प्रकार धावहिंगे। अंग अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि तहँ तहँ छावहिंगे॥ बिरह अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपादृष्टि जल पलुहावहिंगे। रावन बध रघुनाथ बिमल जस नारदादि मुनिजन गावहिंगे॥ यह अभिलाष रैन दिन मेरे**''गी० सु० १०।' (घ) 'श्याममृदुगात' का भाव कि स्त्रियोंकी अभिलाषा शृङ्गारकी होती है और शृङ्गारका वर्ण श्याम है, यथा—'**श्यामो भवति शृङ्गारः।**' यथा—'**नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत शृङ्गार धरि मूरति परम अनूप॥**' (१। २४१), '**सीता चितव स्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता**'—(आ० २१); '**अब सोइ जतन करहु तुम्ह ताता। देखउँ नयन स्याम मृदुगाता**'—(लं० १०७) तथा यहाँ।

३ (क) '**बचन न आव**''**बिसारी**' से जनाया कि परम विरहाकुल हो गयीं, मरणप्राय अवस्थाको प्राप्त हो गयीं। जब 'श्याममृदुगात' स्मरण किया तब वचन बंद हो गया, कुछ कह न सकीं, यथा—'**राम लषन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी॥ १। २९०।**' तात्पर्य कि मुखसे वचन निकला भी तो अत्यन्त क्लेशसूचक और इतना ही। 'अहह' शब्द अत्यन्त दुःखका सूचक है। '**अहह इत्यद्भुते खेदे।**' अर्थात् बड़ा आश्चर्य है, खेद है। (ख)—'**हौं निपट बिसारी**' का भाव कि नाथके मुझको भुला देनेसे मैं अनाथ हो गयी;—मेरी वे कभी भी '**सुरति**' नहीं करते। (ग) प्रथम पूछा कि क्या कभी करते हैं, यथा—'**कबहुँक सुरति करत०।**' और अब कहती हैं कि कभी नहीं करते, निपट भुला दिया। ये वचन अत्यन्त क्लेशसूचक हैं।

'कहि बल विरह'-प्रकरण

देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु बचन बिनीता॥ ८॥
मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सुकृपानिकेता॥ ९॥

अर्थ—श्रीसीताजीको विरहसे परम व्याकुल देख कपि श्रीहनुमान्‌जी मृदु और विनययुक्त वचन बोले। ८। हे माता! प्रभु भाईसहित कुशलसे हैं। अत्यन्त कृपाके स्थान प्रभु तुम्हारे दुःखसे दुखी हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) '**परम बिरहाकुल**' अर्थात् दसवीं दशाको प्राप्त हैं वा होनेवाली हैं, (विरहकी दस दशाओंका उल्लेख दोहा ३१ में किया गया है), ऐसी दशामें कोई कठोर और अविनीत वचन समझाने या दशासे बचानेके लिये, बोले तो अवश्य तुरन्त मृत्यु हो जाय। अतएव मृदु विनम्र वचन बोले। (ख) '**देखि परम बिरहाकुल सीता**' चौपाईका यह चरण पूर्व भी एक बार इसी प्रसंगमें आ चुका है, यथा—'**देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलपसम बीता॥ १२। १२॥**' अब उसीको यहाँ फिर दोहराकर जनाया कि जैसी वे पूर्व परमविरहाकुल थीं वैसी ही अब फिर हो गयीं जैसे उस समय मरनेपर उद्यत थीं, सबसे अग्नि माँगती थीं वैसी ही इस समय मरणावस्थाको प्राप्त हैं। वहाँ परमविरहाकुल होनेका कारण था—'**सुनै को श्रवनसूल सम बानी।**' और यहाँ '**नाथ हौं निपट बिसारी**' यह कारण है। दोनोंका विरह समान है अतः दोनों स्थलोंपर '**परम बिरहाकुल**' हुई। वहाँ बोलनेका मौका न था, इससे हनुमान्‌जी दुःख सहकर रह गये; यहाँ बोलनेका मौका है, अतः बोले।

२ श्रीहनुमान्‌जी भक्तोंमें एक ही हैं, अद्वितीय हैं, अतः उनके लिये ग्रन्थकार एक वचनका प्रयोग करते हैं।—'**बोला कपि**'।

३—हनुमान्‌जी इस प्रसंगमें तीन बार बोले और तीनों बार तीन भिन्न-भिन्न प्रकारके वचन बोले—(क) प्रथम बार जब सीताजी शरीर त्याग करनेको थीं उस समय उनको जीवित रखनेके लिये अमृतसम 'मधुर' वचन बोले; यथा 'श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई।...' (ख) दूसरी बार, जब सीताजीको संदेह हुआ कि यह वानरवेषमें रावण ही तो नहीं है तब विश्वास उत्पन्न करनेके लिये 'प्रेमसहित' वचन बोले; यथा—'कपिके बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास'। और, (ग) यहाँ धीरज धारण कराना है अतएव समझानेके लिये मृदु विनीत वचन बोले, यथा—'कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहु बिधि राम लोग समुझाए॥ २। ८५।', पुनः यथा—'बोले लखन मधुर मृदु बानी। ग्यान बिराग भगति रस सानी॥ २।९२।', 'राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे॥ २। १३७।', 'कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहिं कहि बिनीत मृदु बैन॥ २। ११२।' अथवा इससे जनाया कि हनुमान्‌जीके वचन इन सब विशेषणोंसे युक्त हैं—मधुर हैं, सप्रेम हैं, मृदु हैं और विनीत हैं। हर जगह सब विशेषण नहीं लिखते बनते; अतएव प्रत्येक स्थानपर कुछ-कुछ लिखकर सर्वत्र इनका ग्रहण जनाया। ☞ पूज्य कविकी यह शैली है कि प्रत्येक स्थानपर सब विशेषण न देकर जहाँ जिसकी प्रधानता होती है वही वहाँ दे देते हैं।

टिप्पणी—४ 'मातु कुसल प्रभु...दुख दुखी सुकृपानिकेता' इति। (क) कुशलके साथ 'प्रभु' कहा और श्रीसीताजीके दुःखसे दुखी होनेमें 'सुकृपानिकेता' कहा। तात्पर्य यह कि वे समर्थ हैं, उनके समीप कोई आपत्ति आ नहीं सकती और आपके ऊपर तो अत्यन्त कृपा करते हैं; इसी कारण वे आपके दुःखसे दुखी हैं। (ख) श्रीजानकीजीने अनुजसमेत प्रभुका कुशल पूछा, अतएव दोनोंका कुशल कहा। [पहले दोनोंका कुशल पूछा, अतः उसे कहा। फिर 'सुखभवन खरारी' कहकर प्रश्न किया था; अतः उसके उत्तरमें कहा कि वे ऐसे होकर भी आपके दुःखसे दुखी हैं। इससे प्रभुमें अधिक प्रेम दिखाया। (रा०श०श०)। सुकृपा=सुन्दर कृपा, अर्थात् बिना स्वार्थ या कारणके। 'निकेत' पद विशेष कृपाका द्योतक है-(मा०त०सु०)]

प० प० प्र०—श्रीसीता-हनुमान्-संवादमें लगभग १४ बार 'मातु', 'जननी' वा 'माता' शब्दका प्रयोग किया गया है परन्तु चौपाईके आरम्भमें 'मातु' शब्द दो ही जगह आया है। एक तो यहाँ दूसरे २७ (१) 'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा' में। वाक्यके आरम्भमें 'मातु' शब्द देकर प्रदर्शित किया है कि श्रीसीताजीकी परम विरहाकुल दशा देख हनुमान्‌जी भी व्याकुल हो गये और गद्‌गद होकर 'मातु' कहकर अवाक् हो गये, फिर धीरेसे कहा 'कुसल प्रभु' और पीछे 'अनुज समेता'।

जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह तें प्रेम राम के दूना* ॥ १० ॥

अर्थ—हे माता! अपने मनमें न्यूनता न लाइये (श्रीरामजीके प्रेमको न्यून या कम न समझिये, ग्लानि न कीजिये), आपसे श्रीरामजी (के हृदय) में दुगुना प्रेम है॥ १०॥

टिप्पणी—१ श्रीजानकीजीने कहा था कि 'अहह नाथ हौं निपट बिसारी' उसीपर श्रीहनुमान्‌जीका यह उत्तर है। जैसे हनुमान्‌जीके (प्रभुसे) कहनेपर कि 'पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान। ४। २।', प्रभुने उत्तरमें कहा था कि 'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥ ४। ३। ३।', वैसे ही यहाँ कहा गया। दोनों स्थलोंपर 'बिसारने' के सम्बन्धसे 'ऊना' पदका प्रयोग किया गया है। ऊन=न्यून; हानि। हानि न मानो, हानि तब मानो जब श्रीरामजीको प्रेम न हो, उनमें तो तुमसे दूना प्रेम है। [गीतावलीमें इस स्थानपर 'दीन' और 'प्रेम पीन' शब्दोंका प्रयोग किया गया है; यथा—'मातु! काहेको कहति अति बचन दीन? तब की तुहीं जानति अबकी हौं ही कहत सबके जियकी जानत प्रभु प्रबीन॥ ऐसे तो सोचहिं न्याय-निठुर-नायक-रत सलभ खग कुरंग कमल मीन। करुनानिधान को तो ज्यों-ज्यों-तनु छीन भयो त्यों-त्यों मनु भयो प्रेम-पीन॥...सुं० ८।'—इस प्रकार 'ऊन' का भाव ग्लानि और दीनता होता है। और] 'प्रेम राम ते दूना' यह समझानेकी रीति प्रतीत होती है; यथा—'अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सुहागु तुम्ह कहुँ दिन दूना॥ २। २१।'; 'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥ ४। ३।' अथवा, (ख) हनुमान्‌जीने दोनोंका प्रेम अपनी आँखोंसे देख लिया है, उसीके अनुसार दूना कहते हैं, यथा—

श्रीजानकीजीको	श्रीरामजीको
'निसि' विपत्ति है, यथा—'पुनि मो कहँ सो दिन सो राती'	१ 'निसि' कालरात्रि है, यथा—'कालनिसा सम निसि'
चन्द्रमा पावकमय है, यथा—'पावकमय ससि स्रवत न आगी'	२ चन्द्रमा भानुसम है, यथा—'ससि भानू'

* म० चं०—'जनि०' कुसुम विचित्रा, 'तुम्ह०', पायकुलक है।

अग्निसे भानु अधिक है। अग्निको पास रखकर तापते हैं और भानुके पास जानेपर संपाती भस्म होने लगे थे।

कमल कमल समान भासित होता है	३ कमल कुन्तबन समान लगता है,
यथा—'**स्यामसरोजदाम सम सुंदर**'	यथा—'**कुवलयबिपिन कुंतबन सरिसा**'
(इनने) मुद्रिका पाकर पहचाना, निश्चय किया, पर उसे हृदयसे न लगाया।	४ (इनने) सुग्रीवसे पट-भूषण माँगकर, पहचाना, हृदयसे लगाया, शोक किया।
इनने चूड़ामणि माँगनेपर दिया,	५ इनने मुद्रिका आपसे ही दी,
यथा—'**मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा**'	यथा—'**कर मुद्रिका दीन जन जानी**'।

☞ यह भाव अक्षरोंकी रीतिसे कहा गया, जैसा सुना वैसा लिखा। दोनोंका परस्पर प्रेम समान है, इन दोनोंके प्रेमको ये ही दोनों जानें; यथा—'**तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥**' अतः वे ही दोनों जान सकते हैं, दूसरा नहीं। यथा—'**राम जोगवत सीय-मनु प्रिय-मनहि प्रानप्रियाउ। परम पावन प्रेम-परमिति समुझि तुलसी गाउ॥ गी० ७। २५॥**' दूना प्रेम आगे संदेसेके द्वारा कहते हैं। श्रीरामजीका प्रेम स्मरण करके हनुमान्‌जी स्वयं प्रेमयुक्त हो गये।

नोट—१ मायापतिका अभिनय मायाके अभिनयसे सदा खरा ही निकलता है। ऊपर जो प्रभुके वियोगजनित दुःखको हनुमान्‌जीने दिखाया है, वह मायाकी सीताके बताये हुए वियोग-दुःखसे दूना है। स्वयं नाटककार जैसा अभिनय कर सकता है, नटी उसको कहाँतक पहुँच सकती है? (गौड़जी)।

२ मा० त० सु०—दू=दूसरा अर्थात् अन्यथा+ना=निषेधवाचक अव्यय। अतः '**तुम्ह तें प्रेम रामके दूना**'= रामजीका प्रेम आपसे दूसरा वा अन्यथा नहीं है! अर्थात् जैसे पहले था वैसा ही बना हुआ है।

३ रा० शं०—द्विगुणका सबूत इससे भी है कि श्रीजानकीजीने जब अपना दुःख अपने मुँहसे कहा तब गद्गद हुईं और यह दशा हनुमान्‌जीकी इतना कहनेपर ही हो गयी कि रघुपतिका संदेश सुनिये। जिसके संदेशके स्मरणसे यह दशा हुई तो उसकी स्वयं क्या दशा होगी? समझ लीजिये।

४ अरण्यकाण्ड श्रीसीताविलापप्रसंगमें '**हा जगदेक बीर रघुराया**' से '**पुरोडास चह रासभ खावा॥**' २९ (१) से (५) तक केवल पाँच अर्धालियाँ हैं और श्रीजानकी-वियोग-विरहमें श्रीरामजीका विलाप '**हा गुनखानि जानकी सीता।**' से '**प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं॥**' ३० (६) से (१५) तक दस अर्धालियोंमें है। एकसे दूसरेके विलापमें द्विगुण अर्धालियाँ हैं। इससे अनुमान होता है कि यह भी एक कारण '**दूना**' कहनेका हो।

५ मा० म०—(क) जानकीजी एक स्थानमें बैठी हैं और रामजी सर्वत्र ढूँढ़ते फिरते हैं, एक निरुपाय दूसरा उपायमें लगा; अतएव दूना। वा, (ख) रामजी लक्ष्मणसमेत दो हैं, दोनोंका प्रेम मिलकर दूना।

६ मा० शं० स०—भाव कि जिसको आपसे क्षणमात्र भी प्रीति है उसपर रामजी दूना स्नेह करते हैं, जैसे गृध्रराज और सुग्रीवपर, तो तुम्हारे ऊपर इतना प्रेम करना कौन बड़ी बात है।

प० प० प्र०—दोनोंके प्रेममें तरतम भाव देखा जाता है पर दोनों भिन्न परिस्थितिमें हैं, इसका भी विचार करना चाहिये—जैसे, (१) श्रीसीताजी दुष्ट रावणकी कैदमें हैं और श्रीरामजी स्वतन्त्र हैं। (२) मुद्रिकाको पहचाननेपर हृदयसे न लगा लेनेका कारण यह है कि सीताजी स्त्री हैं, शंकित हैं, भयभीत हैं, उनका चित्त स्थिर नहीं है। श्रीरामजीकी स्थिति इससे उलटी थी जब उन्होंने '**पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।**'

श्रीसीताजीका प्रेम श्रीरामजीसे अधिक था यह सिद्ध हो सकता है। जैसे, (१) इन्होंने स्नान, निद्रा, आहार इत्यादि सबका त्याग किया है और श्रीरामजीने श्रीशबरीजीके आश्रममें बड़ी प्रसन्नतासे फलाहार किया, पंपासरमें स्नान किया, '**परम सुख पावा**', '**बैठे परम प्रसन्न कृपाला।**' (२) सीताजी मरनेको उद्यत हैं, श्रीरामजीने वालीको मारा है, इधर-उधर घूमते हैं और सीताजी रात-दिन बैठी '**सोच रत अहई।**' श्रीसीताजीने रामचिन्तन छोड़ दूसरी बातका चिन्तन नहीं किया। और श्रीरामजी तो अनेक बातोंकी चर्चा करते रहे। सुग्रीव, हनुमान्, शबरी, नारदादिके साथ परम प्रसन्नताके साथ बात-चीत तथा व्यवहार करते रहे। इत्यादि। अतः '**दूना**' कहना समझानेकी रीति ही है॥ १४॥

दो०—रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भएउ भरे बिलोचन नीर* ॥१४॥

अर्थ—हे माता ! अब धीरज धरकर रघुपतिका सँदेसा सुनिये। यह कहकर श्रीहनुमान्‌जी गद्गद हो गये (कंठ रुँध गया) और दोनों नेत्रोंमें जल भर आया ॥ १४ ॥

टिप्पणी—१ संदेश सुननेको कहकर धैर्य धारण करनेको कहा क्योंकि संदेश सुननेकी अभिलाषासे शीघ्र धैर्य धारण कर लेंगी। परम विरहाकुल थीं अतः धीरज धरनेको कहा। श्रीरामजीका संदेश हृदयमें आते ही कपि गद्गद हो गये, जैसे शिवजीके हृदयमें रामचरितके आते ही वे गद्गद हो गये थे, यथा—'**हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए** ॥ १ । १११ । ७ ॥' चरितसे वक्ता और श्रोता दोनोंको प्रेम उत्पन्न होना चाहिये, यथा—'**कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं । ते सुकृती मन मुदित नहाहीं** ॥ १ । ४१ । ६ ॥' अतः यहाँ वक्ताने हनुमान्‌जीको प्रथम प्रेममें मग्न दिखाया; क्योंकि प्रथम इनके ही हृदयमें संदेशरूपी चरित आया, फिर श्रीजानकीजीको प्रेममें मग्न किया; क्योंकि हमको इस चरितकी प्राप्ति पीछे हुई, यथा—'**प्रभु संदेस सुनत बैदेही । मगन प्रेम तनु सुधि नहिं तेही** ॥' गीतावलीमें श्रीरघुनाथजीकी दशा स्मरणकर प्रेममें मग्न होना कहा है; यथा—'**सियको सनेह रघुबरकी दसा सुमिरि पवनपूत देखि भयो प्रीति लीन** ॥ सु० ८ ॥'

२—प्रथम धैर्य छोड़े रहीं; यथा—'**बचन न आव नयन भरि बारी। अहह**...।' अतएव धैर्य धारण करानेके लिये बारंबार माता संबोधन दिया है, यथा—'**मातु कुसल प्रभु अनुज समेता**', '**जननी जनि मानहु जिय ऊना**' और '**सुनु जननी धरि धीर।**'

३—'**रघुपति कर संदेस अब**' इति। 'अब' का भाव कि प्रथम मैंने श्रीरामजीके गुण कहे, फिर आदिसे सब कथा सुनायी; यथा—'**रामचंद्र गुन बरनै लागा**', '**आदिहु तें सब कथा सुनाई।**' अब संदेश कहता हूँ।

कहेउ राम बियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भए बिपरीता ॥ १ ॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससि भानू† ॥ २ ॥

अर्थ—(सावधान होनेपर हनुमान्‌जी बोले) श्रीरामचन्द्रजीने (यह संदेश) कहा है 'हे सीते ! तुम्हारे वियोगमें मुझे सभी (सुखद पदार्थ) उलटे हो गये ॥ १ ॥ वृक्षोंके नये कल्ले मानों अग्नि हैं, रात्रि कालरात्रि सदृश और चन्द्रमा सूर्यके समान है ॥ २ ॥

वि० त्रि०—'**कहेउ राम**......' इति। '**कहेउ राम**' ऐसा कहकर हनुमान्‌जी, अपने उत्तरदायित्वसे अलग होते हैं। भाव यह कि मैं तो संदेशहर दूत हूँ, मैं रामजीके कहे हुए शब्दोंको दोहराता हूँ। इस सन्देशमें ऐसे वचन हैं, जिनका उच्चारण मेरे लिये उचित नहीं, पर '**दूतो वदति नान्यथा**', मैं रामजीका कहना करता हूँ, मेरा कोई दोष नहीं है। तत्पश्चात् हनुमान्‌जीने संदेश कहना प्रारम्भ किया। '**बियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भए बिपरीता**' से लेकर '**जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं**' तक प्रभुका संदेश है। ऐसा अर्थ करना कि '**अस कहि कपि गदगद भयेउ भरे बिलोचन नीर**' हनुमान्‌जी तो गद्गद हो गये बोल न सके तब स्वयं रामजी ही बोलने लगे, अति साहस है। यदि ऐसी बात होती तो ग्रन्थकार '**प्रभु संदेस सुनत बैदेही**' न लिखकर, लिखते कि '**प्रभुके बचन सुनत बैदेही।**' संदेशका अर्थ ही दूतादिके मुखसे कहे हुए वचन हैं।

टिप्पणी—१ (क) जैसे श्रीजानकीजीने श्रीरामजीके वनवासका समाचार सुनकर साथ ले जानेकी प्रार्थना करते हुए कहा था कि आपके वियोगमें मुझे कुछ और कोई भी सुखद नहीं हो सकता' सब दुःखरूप हो जायँगे, यथा—'**प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं** ॥ २ । ६५ ॥' वैसे ही यहाँ रघुनाथजी कह रहे हैं कि तुम्हारे वियोगमें मुझे सभी दुःखद हो गये हैं। इस प्रकार अपना दुःख कहकर श्रीजानकीजीका दुःख दूर कर रहे हैं। (ख) 'सीता' का भाव कि तुम शीतल करनेवाली हो, तुम्हारे बिना सभी मुझे तापदायक हो तप्त कर रहे हैं, कोई और शीतल करनेवाला नहीं

* म० चं०—मच्छ दोहा है।
† १५ (१) (१०) तक पायकुलक है—(म० चं०)।

है। (ग) '**मो कहुँ**' एकवचनका प्रयोग करके अपनेको दुःखसे दीन जनाया। पुनः भाव कि सब अपने-अपने धर्म ग्रहण किये हैं और लोगोंके लिये दुःखद या विपरीत नहीं हुए, केवल मुझहीको विपरीत हो गये। पुनः विपरीतका भाव कि यद्यपि सुग्रीवादि मित्रगण और सेवकगण उनकी प्रसन्नताके उपाय करते हैं.... परन्तु उन सुखदायक वस्तुओंसे और भी दुःख होता है। यथा—'**घन घमंड नभ गर्जत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥**' '**प्रिया हीन मोहि भय उपजावा**' इत्यादि। (वाल्मीकीयमें भी कहा है—'**काननानि सुरम्याणि नद्यः प्रस्रवणानि च। चरन्न रतिमाप्नोति त्वामपश्यन्नृपात्मजे॥ ५। ३५। ४७।**' अर्थात् हे राजकुमारी! यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त रमणीय वनोंमें, नदियोंमें, झरनोंके तटोंपर विचरते हैं, यथापि तुम्हारे बिना वहाँ उन्हें आनन्द प्राप्त नहीं होता।) (घ) '**सकल**' अर्थात् सभी सुखद पदार्थ इनमेंसे छः को गिनाते हैं। ☞ (ङ) किष्किन्धाकाण्डमें इस संदेशका कोई उल्लेख नहीं हुआ, पर यहाँके कथनसे वहाँ संदेशका हनुमान्जीसे कहना सूचित कर दिया है। यह ग्रन्थकारकी शैली है। वाल्मीकिजीने भी इसी प्रकार जयन्तकी कथा अरण्यमें नहीं कही, पर उसे सुन्दरकाण्डमें कहकर चित्रकूटमें उस चरितका होना सूचित कर दिया। दूसरा कारण किष्किन्धामें न लिखनेका यह है कि वहाँ यह संदेशा श्रीरामजीने हनुमान्जीके कानमें कहा, उन्होंने सबसे गुप्त रक्खा; इसीसे गोस्वामीजीने भी वहाँ गुप्त रखा, जब यहाँ हनुमान्जीने उसे खोला तब कविने उसे लिखा। गुप्तका प्रमाण, यथा—'**कहँ हम पसु साखामृग चंचल बात कहौं मैं विद्यमान की। कहँ हरिसिव अज-पूज्य ज्ञानघन नहिं बिसरति वह लगनि कान की**' (गी० सुं० ११)। —[संकेत अवश्य है, यथा—'**कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु।**']

२ '**नवतरु किसलय मनहुँ कृसानू।....**' इति। (क) श्रीसीताजीकी यही दशा ऊपर कही गयी है, यथा—'**नूतन किसलय अनल समाना।**' (ख) यहाँ नये कोमल पत्तों कल्लोंको प्रथम कहा क्योंकि इन्हींका आसन, इन्हींकी साथरी और इन्हींपर सदा जहाँ-तहाँ दृष्टि पड़ती रहती है। लक्ष्मणजी रातको शयनके लिये नवीन किशलयकी शय्या बनाया करते हैं; यथा—'**तहँ तरु किसलय सुमन सुहाए। लछिमन रचि निज हाथ डसाए॥ ६। ११। ३।**'; वह कोमल साथरी भी मानो जलाये डालती है। दिनमें सूर्य प्रचण्ड किरणोंसे ताप देते हैं ही, यह बात '**ससि भानू**' से जनायी। अर्थात् जब चन्द्रमा रात्रिमें सूर्यके समान संतप्त करता है, तब सूर्य जो तप्त है ही उसके तापदाता होनेकी कथा ही क्या कही जाय? स्वयं समझ लो। छायाके लिये वृक्षके तले जाते हैं तो वृक्ष ही जलाये डालता है, क्योंकि वहाँ तो पत्तोंका समूह है जो अग्निराशि-सरीखे हैं। आगे कहते हैं कि शीतलताके लिये जलाश्रयके पास जाते हैं तो कमलवन कुन्तवन-सदृश दुःख देता है और ऊपरसे जो जल मेघ बरसाते हैं तो वह मानो तप्त तेल ही है। प्रभु वनमें हैं; इसलिये वनके ही पदार्थोंको दुःखदाता कहा; नगरमें होते तो भोगके पदार्थोंको दुःखद कहते। रात्रिका हाल कहकर आगे दिनका हाल कहते हैं।

नोट—१ कालनिशा—अ० ८३ (५) '**मानहु कालराति अँधियारी**' देखिये।

२ मा० त० सु०—(क) '**निसि ससि**' का भाव यह है कि कृष्णपक्षमें चन्द्रमा दिनमें भी कभी-कभी वर्तमान रहते हैं। परंतु दिनके चन्द्रमा शीतल नहीं होते, रात्रिहीके शीतल होते हैं। उसमें भी यह हेमन्तऋतुका समय है जिससे अत्यन्त शीतकारक होना उचित था, पर वह प्रचण्ड-सूर्यसम तप्त किरण हो रहे हैं। (ख) 'इस चौपाईमें '**ससि भानू**' इन दोनों पदोंमें परस्पर विपरीतता दिखायी है; अर्थात् चन्द्रमा सूर्य-समान और सूर्य चन्द्रमाके समान हो रहे हैं, यह अर्थ नहीं करतेसे यह दोषापत्ति होगी कि हिमऋतुकी रात्रिमें अग्नितत्त्व अतिप्रिय होता है, यहाँ सूर्य अग्नितत्त्व ही हैं।',—[परंतु यह पूरा संदेश प्रसन्नराघव नाटकमें भी है जो हम आगे दे रहे हैं—दोहा १५ (५) देखिये। वहाँके '**हिमांशुश्चण्डांशुः**' (प्र० रा० ६। ४३) और हनु० ६। १९। के '**चन्द्रो यत्र दिनेशदीधितिसमः**' के अनुसार तो उपर्युक्त अर्थ और टिप्पणीमें दिया हुआ भावार्थ ठीक ही जान पड़ता है। हनु० ५। १८। के 'रामः—'**सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते।**', लक्ष्मणः—'**चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।**' इस उद्धरणसे भी उसीकी पुष्टि होती है। श्रीरामजी विरह-विलापमें चन्द्रोदय देखकर कहते हैं कि यह सूर्य उदय होता है इससे वृक्षका आश्रय करो।] दोहा १५ (५) भी देखिये।

कुवलय-बिपिन कुंत बन सरिसा। बारिद तप्त तेल जनु बरिसा॥ ३॥
जे हित* रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा॥ ४॥

* जे हित रहे—१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा०, दुलही। जेहि तर रहे—कोदवराम। जेहि तरु।

अर्थ—कमलका वन भालेके वनके समान है, मेघोंने मानों जलता हुआ तेल बरसाया ॥ ३ ॥ (इत्यादि) जो हित करनेवाले थे वे ही पीड़ा दे रहे हैं। तीनों प्रकारकी हवा सर्पकी श्वासोंके समान (विषैली) है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) कमलको भाला कहा। कमलकी नाल उसकी छड़ हुई, फूल ग्रन्थि हैं, फूलकी नोक भालेकी नोक है, मारनेवाला कमलरूपी भालेसे मारकर हृदयको विदीर्ण कर डालता है। कमल भाला है तो भाला चलानेवाला चाहिये। यहाँ कामदेव भाला चलानेवाला है; क्योंकि कमल कामदेवका बाण कहा गया है। इसी विचारसे कमलको भालासे रूपक दिया। (ख) **'बारिद तप्त तेल'''** इति। विरहीको वर्षा अति दुःखदायी होती है, यथा—**'मोर सोर घनघोर जोर दामिनि दमंकन। पावस सीतल पवन गमन जुगुनून चमंकन।'** [तप्त तेल क्यों कहा, तप्त जल क्यों न कहा? उत्तर—तप्त जल भी किसी समय सुखदायक होता है और तपस्वियोंको तेल तो सर्वथा त्याज्य है (तेल भोग्य पदार्थ है)। (मा० त० सु०)] (ग) किसीका (हनुमन्नाटकका) मत है कि सीताहरण चैत्रशुक्लपक्ष मध्याह्नकालमें हुआ और संदेशा शरद्‌में भेजा गया; अतएव चैत्रसे शरद्‌तकके दुःखोंका संदेश कहा गया। (घ) **'नवतरु किसलय'''** यह वसन्त है क्योंकि वसन्तमें वृक्षोंके पुराने पत्ते झड़कर नये पत्ते निकलते हैं। **'कालनिसा सम निसि ससि भानू'** यह ग्रीष्म है क्योंकि ग्रीष्मके सूर्य दुःखदायक होते हैं। **'कुबलय बिपिन'** यह शरद् है क्योंकि कमल शरद्‌में फूलते हैं। और, **'बारिद तप्त तेल'''** यह वर्षा है।—इस प्रकार यहाँ चार ऋतुओंका वर्णन हुआ। (ङ) शरद् वर्षाके बाद होती है और यहाँ वर्षाका दुःख प्रथम न कहकर पहले शरद्‌का दुःख कहा गया; इस व्यतिक्रमसे भी अपनी व्याकुलता प्रकट कर दी है। विह्वल हैं, कुछ सुध-बुध नहीं है, अटपट कहते हैं, अतएव ऋतुक्रमसे दुःख नहीं कहा। पूर्व **'सो कहुँ सकल भए बिपरीता'** कहा है, यहाँ वर्णनके व्यतिक्रमसे भी विपरीतता जनायी। यदि क्रमसे कहते तो व्याकुलता न जान पड़ती। अथवा, स्वयं कपिको ही क्रमका सँभाल न रहा, क्योंकि वह स्वयं उनकी दशाको स्मरण करके गद्‌गद हो गये हैं, यथा—**'अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर।'** इससे वे व्यतिक्रम कर गये।

वि० त्रि०—**'नवतरु किसलय''सभीरा'** इति। हनुमान्‌जीने जो कहा था कि **'तुम्ह तें प्रेम राम कर दूना'**, वह रामजीके इसी उक्तिके बलपर कहा था। सीताजीको शीतल तारा, चन्द्रमा और नूतन किसलय—ये तीन वस्तुएँ दुःखद हो गयीं। रामजीकी उक्तिसे मालूम होता है कि उन्हें छओं ऋतुओंकी छः वस्तुएँ दुःखद हो गयीं। सीताहरण फाल्गुन कृष्ण अष्टमीको हुआ और हनुमान्‌जीको सीता-दर्शन अगहन बदी द्वादशीको हुआ। इस भाँति यद्यपि सीताजीका विछोह हुए दश महीने हुए थे, पर उसका स्पर्श छओं ऋतुओंसे हो गया था। फाल्गुन मास शिशिर ऋतु है। इस महीनेमें वृक्षोंके पुराने पत्ते गिरने और नये कोंपल निकलने लगते हैं, यह बड़ा सुखद महीना माना जाता है, सो वे कोंपल रामजीको आग-से मालूम हुए। हेमन्तकी रात्रि बड़ी होती है, और सुखद होती है, सो कालरात्रिके समान दुःखद हो गयी। ग्रीष्म तो स्वभावसे ही दुःखद है पर रात्रिमें चन्द्रोदयसे कुछ शीतलता आ जाती है, सो रामजीको चन्द्रमा भी भानुकी भाँति तापदायक हो गये। शरद्‌ऋतुमें कुवलयका खिलना अति सुखद है, सो रामजीको भालेके वनकी भाँति दुःखद हो गया। पावसमें वर्षा बड़ी सुखद है, सो रामजीको मालूम हुआ कि गरम तेल बरस रहा है। वसन्तमें त्रिविध समीर अत्यन्त सुखद है सो रामजीको सर्पके फूत्कार-सा दुःख मालूम हुआ। इस भाँति सीताजीके विछोहसे छओं ऋतु दुःखद हो गयीं। विछोहमें सुखकी सामग्री ही दुःखद हो जाती है।

टिप्पणी—२ **'जे हित रहे करत तेइ पीरा'** इति। जो अहित थे उनको यहाँ नहीं कहते, क्योंकि जो हित थे जब वे ही अहित हो गये तब जो अहित थे उनका कहना ही क्या? वे तो प्रथम ही अहित थे। दूसरे, हितका पीड़ा देना इससे कहा कि सुखद वस्तुका स्मरण होनेसे अधिक दुःख होता है कि अरे! ये भी हमारे शत्रु हो गये।

३ **'उरगस्वास सम त्रिबिध समीरा'** इति। त्रिविध समीर अर्थात् शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त। और उसके विपर्ययमें उरगस्वास गर्म, शीघ्रतायुक्त तीव्रगतिवाली और दुर्गन्धित है। त्रिविध वायु शीतलताप्रद, रोगहारक और सुखद है, उरगस्वास गर्मी पहुँचानेवाला, रोगवर्द्धक और दुःखद है।—यहाँतक नवतरुकिसलय, निशि, शशि, कमल, वर्षा, त्रिविध

रहे-छ०, रा० प्र०। ☞ऊपर दिया हुआ पाठ ही उत्तम भी है क्योंकि यहाँ पूर्वसे सुखदायक वस्तुएँ गिनाते आये, अब कहते हैं कि ये सब जो पहले हितकर थे वे अब दुःखकर हो रहे हैं एवं और भी जो जो हित पदार्थ थे वे सभी दुःखदायक हो गये। जैसा नाटकमें कहा है—'विपरीतं जगदिदम्' प्र० रा० ६। ४३ अर्थात् जगत्‌मात्र ही विपरीत हो गया है; वही भाव यहाँ है। 'जेहि तरु रहे०' का अर्थ होगा 'जिस वृक्षके नीचे रहते हैं वही दुःख देता है'।

समीर—ये छः जो सदा सुख देते थे उनको कहा कि ये एवं और भी जितने हित पदार्थ थे वे सब दुःखद हो गये। कृष्णगीतावलीमें गोपियोंके भी ऐसे ही वाक्य हैं; यथा—'**सब बिपरीत भये माधव बिनु हित जो करत अनहित की करनि**···॥ ३०॥'

नोट—१ यहाँतक इन चौपाइयोंमें यह भी दिखाया कि पाँचों तत्त्व भी दुःखदायक हैं—'**नूतन किसलय मनहुँ कृसानू**' यह अग्नितत्त्व, '**कालनिसा सम निसि ससि भानू**' यह आकाश, '**कुबलय बिपिन कुंतबन सरिसा**' यह पृथ्वी (क्योंकि कमलका आधार पृथ्वी है); '**बारिद तप्त तेल जनु बरिसा**' यह जल और '**उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा**' यह पवनतत्त्व है।—(मा० त० सु०)।

कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई॥ ५॥

अर्थ—कह डालनेसे भी दुःख कुछ कम हो जाता है (अर्थात् भभक निकल जाती है), पर कहूँ किससे? यह दुःख कोई जानता नहीं। (अर्थात् कहना तो चाहता हूँ जिसमें घट जाय, पर जो दुःखका जाननेवाला हो वही हमारे हृदयके दुःखको समझ सकता है और उसीसे कहते बने। जो न समझे उससे कहना ही व्यर्थ है। अतएव तुम्हारा दुःख भीतर भरा हुआ, हृदयको जला रहा है)॥ ५॥

टिप्पणी—'कछु' का भाव कि सब दुःख तो प्रियके मिलनेपर ही अच्छी तरह मिटता है, कहनेसे किंचित् घट जाता है; सो यहाँ उसका भी योग नहीं है। जो कहा सो मनमें ही है, यही आगे कहते हैं।

नोट—१ यहाँ ध्वनि यह है कि यद्यपि लक्ष्मणजी साथ हैं पर उनसे ये बातें कहनी उचित नहीं अतः उनसे न कहीं।

२—यह पूरा संदेश प्रसन्नराघवनाटक अङ्क ६ में है, यथा—'**हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहनः, सरिद्वीचीवातः कुपितफणिनिःश्वासपवनः। नवामल्ली भल्ली कुवलयवनं कुन्तगहनं मम त्वद्विश्लेषात्सुमुखि विपरीतं जगदिदम्॥४३॥ कस्याख्याय व्यतिकरममुं मुक्तदुःखो भवेयं को जानीते निभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम्। जानात्येकं शशधरमुखि प्रेमतत्त्वं मनो मे, त्वामेवैतच्चिरमनुगतं तत् प्रिये किं करोमि॥ ४४॥**' मानससे मिलान कीजिये। देखिये, सरसता और गम्भीरता किसमें अधिक है?

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥ ६॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरसु एतनेहि माहीं॥ ७॥

अर्थ—हे प्रिये! मेरे और तेरे प्रेमका तत्त्व एक मेरा मन ही जानता है॥ ६॥ सो वह मन भी सदैव तुम्हारे पास ही रहता है। (बस) इतनेहीमें मेरे प्रेमभावको समझ लो। अर्थात् तुम्हारे बिना दुखी रहता हूँ, रात-दिन मन तुममें लगा रहता है, प्रीतिका रस यही है॥ ७॥

नोट—१ '**तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा।**···' इति। (क) 'तत्त्व'=सार; 'स्वरूप; यथार्थता; वास्तविक स्थिति या भेद। प्रसन्नराघवनाटकमें भी 'स्नेहसारम्' और '**प्रेम तत्त्वं मनो मे**' शब्द आये हैं। श्रीभरताचरणको अयोध्याकाण्डमें '**राम सनेह सुधाकर सारू**' कहा है। 'प्रीतिरस'—जैसे ग्रन्थमें 'प्रेमरस' 'सकोचरस' 'रणरस' इत्यादि आये हैं, यथा—'**राम प्रेमरसु कहि न परत सो। २। ३१८।**' '**सो सकोचरसु अकथ सुबानी। २। ३१८।**' '**रनरस बिटपु पुलक मिस फूला। २। २२९।**' वैसे ही यहाँ 'प्रीतिरस'। अर्थात् जैसे शृङ्गार आदि रस हैं वैसे ही 'प्रीति' भी 'रस' है। प्रीतिरस अन्योन्याश्रित है। प्रेमी और प्रेमास्पद देखनेमें दो देह हैं पर वास्तवमें एक ही हैं। परिपूर्ण मनका लगना ही प्रीतिकी सरसता है। (ख) '**तत्त्व प्रेम**' '**मोर**' का भाव यह है कि प्रिया-प्रियतमका यथार्थ भाव, उनके प्रेमकी वास्तविक स्थिति दूसरे किसीको विदित होना अत्यन्त असम्भव है। हनुमन्नाटक ५। २५ में किंचित् प्रेमतत्त्वका दिग्दर्शन है—श्रीजानकीजीका आलिङ्गन करनेके समय गलेके हारका भी अन्तर श्रीरामजी न सह सकते थे, इसलिये हारको पहनते ही न थे।*

* मा० त० सु०—प्रेमका तत्त्व, यथा हनुमन्नाटके—'हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा। इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः॥ ५। २५।' अर्थात् उस समय मैंने अलग पड़ जानेके भयसे कण्ठमें हारका भी आरोपण नहीं किया और अब तो प्यारीसे और मुझसे अनेक पर्वत, समुद्र, नदी, वृक्षादिकोंका अन्तर पड़ रहा है। ३—'जानु प्रीतिरस एतनेहि माहीं' का भाव कि तुम्हारी विरहाग्निसे संतप्त होकर विदेहावस्थाको प्राप्त हो रहा हूँ।

टिप्पणी—१ (क) **'तत्त्व प्रेम कर'** इति । प्रेमका तत्त्व अर्थात् दुःख यथा—**'स्नेहमूलानि दुःखानि ।'** तत्त्वका भाव कि मेरा मन अच्छी तरह जानता है, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, तुम्हारे पास ही हमारा मन सदा निवास करता है। (ख) **'एक मनु मोरा'** अर्थात् मेरा मन ही एक है जो जानता है, दूसरा कोई जाननेवाला नहीं है। यथा—**'सियराम अवलोकनि परसपर प्रेम काहु न लखि परइ। मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसे कहइ।'** (ग) पहले शरीरका दुःख **'जे हित रहे करत तेइ पीरा'** तक कहा; फिर वचनका दुःख कहा कि **'कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं'**'' और अब मनका दुःख कहते हैं कि **'जानत प्रिया एकु मनु मोरा।'** सबका तात्पर्य यह हुआ कि शरीरसे दुःख सहते हैं, वचनसे किसीसे कुछ कहते नहीं और मन तुम्हारे पास रहता है।

२ (क) श्रीजानकीजीने जो कहा था कि **'कबहुँक सुरति करत रघुनायक'** उसका यहाँ उत्तर हुआ कि **'सो मन सदा रहत तोहि पाहीं।'** अर्थात् जैसा प्रेम हमारा तुमपर है, उसे इतनेहीमें जान लो, अधिक क्या कहूँ ? जिसपर बहुत प्रेम होता है उसीमें दिन-रात मन लगा रहता है, इससे अधिक प्रीति और कुछ नहीं है। (ख) प्रीतिरस=दुःख; यथा—**'भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। राम प्रेमरस कहि न परत सो॥'** भाव कि मेरा मन तुम्हारा प्रेमी है—सदा पास रहता है। अ० ३१७ (४) देखिये। (ग) यहाँतक प्रभुका संदेश है, इसीसे 'प्रिया' सम्बोधन दिया गया। रामजीका यह सम्बोधन है।

नोट—२ **'सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरसु'**'' इति। इससे स्पष्ट कर दिया कि प्रेमास्पदमें मनका निरन्तर बिना विक्षेपके लगा रहना यही 'प्रीतिरस' की कुञ्जी है। वाल्मीकीयमें जो—**'नैव दंशान्न मशकान्न कीटान्न सरीसृपान्। राघवोऽपनयेद्गात्रात्त्वद्गतेनान्तरात्मना॥ ४२॥ नित्यं ध्यानपरो रामो नित्यं शोकपरायणः। नान्यच्चिन्तयते किञ्चित्स तु कामवशं गतः॥ ४३॥ अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः। सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन्प्रतिबुध्यते॥ ४४॥ स देवि नित्यं परितप्यमानस्त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः।''॥ ४६॥ सर्ग ३६।'** अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीका मन आपमें ऐसा लगा हुआ है कि डाँस, मच्छड़, पतङ्गे और सर्प उनके शरीरपर रेंगते रहते हैं पर उनको मालूम ही नहीं होता। वे आपके ध्यानमें, आपके शोकमें और आपकी कामनाहीमें परायण रहते हैं। उन्हें नींद नहीं आती, पर यदि कभी आँखें झपक गयीं तो 'हे सीते! हे सीते!' कहते हुए ही आँख खुलती है।''विशेष क्या कहना ? वे सदा आपके वियोगमें संतप्त रहते और 'सीते! सीते!' कहकर सदा आपको पुकारा करते हैं।—यह हनुमान्‌जीने कहा है, वह सब भाव इस अर्धालीका है और 'प्रीतिरस' की व्याख्या है।

वि० त्रि०—लौकिक प्रेमका तत्त्व दाम्पत्य भाव है, अलौकिक प्रेमका तत्त्व तादात्म्य भाव है, यथा—**'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।'** सरकार संदेशमें कहते हैं कि उस अलौकिक प्रेमके तत्त्वको मैं ही जानता हूँ, संसार उससे अपरिचित है, अतः नहीं समझ सकता। तादात्म्य भावमें मनका पार्थक्य असम्भव है, फिर भी मन प्रकृतिके अन्तर्गत है, पुरुषके नहीं। अतः स्वामी पुरुषका होता हुआ भी, उसका आधार प्रकृति ही है। इसलिये कहते हैं कि **'सदा रहत तोहि पाहीं'** जिसमें यह शङ्का न उठ सके कि 'मुझे भूल गये।'

प० प० प्र०—प्रेमतत्त्व=प्रेमका रहस्य या मर्म। किस प्रकारका प्रेम है यह ज्ञान। प्रेम विविध प्रकारका हो सकता है। जैसे कि (१) अनन्य एकाङ्गी प्रेम जैसे चातकका। (२) सापेक्ष प्रेम, यथा **'तुम्हहि राम प्रिय तुम्ह प्रिय रामहि'**। (३) स्वार्थी वाणिज्य प्रेम, यथा **'सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥'** (४) तादात्म्य प्रेम। ऐसा प्रेम किसीका भी नहीं होता। केवल श्रीसीतारामजीका प्रेम तादात्म्य प्रेम है, कारण कि वे देखनेमें दो हैं पर हैं एक—**'कहियत भिन्न न भिन्न'**। इस प्रकारका प्रेम करना दूसरे किसीके लिये भी असम्भव है, अतः दूसरा कोई उस प्रेमका तत्त्व कैसे जान सकता है ?

'जानु प्रीतिरसु एतनेहि माहीं'—भाव कि यह प्रेम स्वसम्बन्ध होनेसे उसका वर्णन वाणीसे हो ही नहीं सकता। तुम सार जान लो।

श्रीलमगोड़ाजी—**'कहेउ राम बियोग तव सीता।'**''**'जानु प्रीतिरस'**'' इति। मैंने अपनी विश्वसाहित्य रामचरितमानस (काव्य-समीक्षा) में लिखा है कि हनुमान्‌जी केवल सिपाही और कपि ही नहीं थे किन्तु बड़े कुशल कवि भी थे। इसका एक प्रमाण यहाँ भी है। देखिये श्रीरामजीने केवल संकेतरूपमें ही विरह कहा; पर श्रीहनुमान्‌जीने उसे कितने काव्यमय रूपमें वर्णन किया ! यह आक्षेप ठीक नहीं है कि मातासे पिताके वियोगका ऐसा वर्णन क्यों किया ? कवि सब ही विषय लिखता है और कहता है पर उसको दोष नहीं कहा जाता, क्योंकि वह उस वर्णनसे मुग्ध होता है, मोहित नहीं। दूसरे,

श्रीराम और श्रीसीताजीके प्रेममें दूषित अंश है ही नहीं। तीसरे यह वर्णन अलङ्कारों और युक्तियोंद्वारा है, स्पष्ट नहीं। अतः दूषित नहीं कहा जा सकता; विश्वसाहित्यमें तुलसीदासके शृंगाररस सम्बन्धी कलाका कमाल ही यही है; नहीं तो '**सादी**' और '**कालिदास**' भी बच नहीं सके और '**शेक्सपियर**' के शृंगारवर्णन यदि आप उनके असंशोधित संस्करण (Unexpunged Edition) में पढ़ें तो पढ़ा नहीं जाता। इस स्थानसे अधिक कमाल वहाँ है जहाँ भगवान्ने स्वयं भगवतीके अङ्गोंका सांकेतिक वर्णन लक्ष्मणजीके सामने वियोगके पहले ही आवेशमें किया है।

नोट—३ यहाँतक '**बिरह**' हुआ, आगे '**कहि बल**'—प्रकरण है।

प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तनु सुधि नहिं तेही॥ ८॥
कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक सुखदाता॥ ९॥
उर आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई॥ १०॥

अर्थ—प्रभुका संदेश सुनते ही वैदेहीजी प्रेममें मग्न हो गयीं, उनको तनकी सुध न रह गयी॥ ८॥ श्रीहनुमान्जीने कहा कि हे माता! हृदयमें धीरज धरो, सेवकोंको सुख देनेवाले श्रीरामजीका स्मरण करो॥ ९॥ श्रीरघुनाथजीकी प्रभुताको हृदयमें लाओ (स्मरण करो) और मेरे वचन सुनकर कायरताको छोड़ो॥ १०॥

टिप्पणी—१ तनकी सुध न रही, अतः '**बैदेही**' पद दिया। '**तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानु प्रीतिरसु एतनेहि माहीं**' यह प्रेमका संदेशा है; अतएव उसे सुनकर प्रेममें मग्न हो गयीं। मन प्रेममें डूबा है; अतः '**तन सुधि**' नहीं, यथा—'**मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही**'॥ यहाँतक संदेशाकी सीमा है।

२—विपत्तिमें धैर्य धारण करना मुख्य है; इसीसे बारंबार धीरज धरनेको कहते हैं। यथा—'**रघुपति के संदेस अब सुनु जननी धरि धीर**', '**कह कपि हृदय धीर धरु माता**', '**जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु**', '**कछुक दिवस जननी धरु धीरा।**' भाव यह है कि चार बातोंके लिये चार बार धैर्य धारण करनेको कहा।—प्रथम बार संदेश सुननेके लिये, दूसरी बार श्रीरामजीको स्मरण करनेके लिये, तीसरी बार निशाचरोंके मरणके लिये और चौथी बार श्रीरामजीको लंकामें आनेके लिये धीरज धरनेको कहा।

नोट—१ इस प्रसंगमें श्रीहनुमान्जीने '**माता**' या उसका पर्यायी '**जननी**' सम्बोधन प्रयुक्त किया है, '**माता**' और कहीं '**जननी**' यह भी भावसे खाली नहीं है। भिन्न-भिन्न शब्द भी साभिप्राय हैं। जब शरीरकी सुधबुध नहीं रहती, परमविरहाकुल दशा होती है तब परमप्रिय '**माता**' सम्बोधन देकर वह दशा दूर की जाती है तत्पश्चात् '**जननी**' का प्रयोग होता है जब वे सावधान होती हैं। यथा—'**बचन न आव नयन भरि बारी।**···**देखि परम बिरहाकुल सीता।**···**मातु कुसल प्रभु अनुज समेता।**···**जनि जननी मानहु जिय ऊना**···॥ ५। १४॥' कठिन असमंजस दूर करने, विश्वास दिलानेके लिये भी प्यारा '**माता**' शब्द ही सम्बोधनमें आया है। यथा—'**रामदूत मैं मातु जानकी।**' '**यह मुद्रिका मातु मैं आनी।**' '**जननी**' से '**माता**' अधिक सरस है।

२—श्रीजानकीजीके लिये इस संदेशप्रसंगमें '**सीता**', '**प्रिया**' और '**बैदेही**' शब्दोंके प्रयोग भी साभिप्राय हुए हैं, '**कहेउ राम बियोग तव सीता**' में '**सीता**' पदसे जनाया कि आप शीतलत्व प्रदान करती थीं, अतः आपके वियोगसे ताप हो रहा है। प्रेमतत्त्वज्ञ और प्रेमपात्र होनेसे '**प्रिया**' सम्बोधन दिया गया और विदेहदशा होनेसे '**बैदेही**' कहा गया।

टिप्पणी—३ (क) श्रीजानकीजीने श्रीरामजीको '**सेवकसुखदायक**' विशेषण दिया। यथा—'**सहज बानि सेवक सुखदायक**', हनुमान्जी भी वही विशेषण देकर उनका स्मरण करनेको कहते हैं। तात्पर्य कि आप तो जानती ही हैं कि वे सेवक-सुखदाता हैं, उनका स्मरण करनेसे अवश्य दुःख मिटेगा और सुख प्राप्त होगा, यथा—'**जपहि नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥**' (ख) '**उर आनहु प्रभुताई**' और '**तजहु कदराई**' का भाव कि हृदयमें जहाँ कायरता भरी है उसे निकालकर उसकी जगह प्रभुताको धर लो। ऐसा ही संपातीने वानरोंसे कहा था, यथा—'**तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई॥**' '**मम बचन**···'जो आगे कहते हैं।*

* 'उर आनहु' अर्थात् शोकमें उन्हें विसरण न करो। प्रभुताई, यथा—'भृकुटिभंग जो कालहि खाई'; इसके आगे रावणकी प्रभुता क्या चीज है?

दोहा—निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु॥ १५॥

अर्थ—निशाचरसमूह पतंगोंके समान हैं, रघुपतिबाण अग्नि हैं। हे माता! हृदयमें धैर्य्य धारण करो, निशाचरोंको जला हुआ ही समझो॥ १५॥

टिप्पणी—१ (क) पतंगे दीपकमें जला करते हैं, यथा—**'दीपसिखा सम जुबतितन मन जनि होस पतंग'** (आ० ४६)। यहाँ रघुपतिबाणको दीपक न कहकर कृशानु कहनेमें आशय यह है कि वहाँ मनरूपी पतंग अकेला एक ही है। युवतितनरूपी दीपशिखा अकेले ही उस एकको जलानेको समर्थ है! पर यहाँ **'निशाचर निकर'** निकर-पतंगे हैं अर्थात् यहाँ पतंगोंका समूहका समूह है। दीपकमें अधिक पतंगोंके आ जानेसे दीपक बुझ भी जाता है पर अग्नि नहीं बुझती चाहे जितने उसमें आ पड़ें, सभी भस्म हो जाते हैं। अतएव बाणको कृशानु कहा। अथवा, दीपक पवनसे बुझ जाता है और अग्नि पवनसे प्रचण्ड होता है, अतएव कृशानु कहा। दीपक अबल है, कृशानु प्रबल। (ख)—यहाँ **'निसिचर'** नाम साभिप्राय है। पतंगे रात्रिमें ही मोहवश जलते हैं, यथा—**'जरहिं पतंग मोह बस भार बहहिं खर बृंद।** लं० २९।' और, निशाचर मोहरूप हैं, यथा—**'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार', 'महामोह रावन बिभीषन ज्यों हयो हौं'**। ये मोह-निशाको प्राप्त होकर अपने-आप ही अपने नाशमें प्रवृत्त हो रामशरानलमें जलते हैं, यथा—**'प्रभु सन्मुख धाये खल कैसे। सलभसमूह अनल कहँ जैसे॥** ६। ८५।' (ग) **'जरे निसाचर जानु'** का भाव कि प्रभु इनके वधकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं। पतंगे रातमें जलते हैं और ये भी **'निशि'**-चर हैं, अतः पतंगकी उपमा दी गयी। [**'पतंग'** पद यहाँ अनायास जलनेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। बाणको कृशानु कहा, क्योंकि धर्म्मीका गुण धर्ममें भी रहता है, रामजीको **'हेतु कृसानु भानु हिमकर को'** कह चुके हैं, उसीके अनुसार यहाँ कहा। (मा० त० सु०)]

नोट—१ आपसे जल मरनेमें प्रमाण यह है—शूर्पणखा स्वयं पंचवटीमें आकर निशाचरकुलकी नाशक हुई। खरदूषणादि स्वयं आकर लड़े और मरे। रावणने स्वयं अपने मरणका उपाय रचकर सीताहरण किया। अतः पतंगका अग्निमें आकर जल मरना कहा। २—हनुमान्‌जी भी रघुपतिबाणके सदृश हैं। ये लङ्कादहन करेंगे, आपसे-ही-आप निशाचर वहीं अपने जलनेका उपाय कर देंगे। मं० श्लो० ३ का **'दनुज वनकृशानुं'** विशेषण चरितार्थ करेंगे। ३—यह दोहा दोहरा मिश्रित है। —(व्र० चं०)।

जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंबु रघुराई॥ १॥
राम बान रबि उए जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥ २॥

अर्थ—यदि रघुवीर श्रीरामजीने सुध पायी होती तो वे रघुराई (रघुकुलके राजा, रघुकुलमें श्रेष्ठ रामचन्द्रजी) विलंब न करते॥ १॥ हे श्रीजनकनन्दिनीजी! रामबाणरूपी सूर्यके उदय होनेपर राक्षसोंका (सेवारूप) समूह अंधकार कहाँ रह जायगा? *॥ २॥

टिप्पणी—१ **'रघुबीर'** और **'रघुराई'** के भाव—सभी रघुवंशी कृपालु और बंदीछोर हैं और ये तो सब रघुवंशियोंके राजा हैं और वीर हैं; तब कैसे विलंब करते? कोई आर्त्त हो और वीरको उसकी खबर मिल जाय फिर भी यदि वह विलंब करे तो अनीति है। ये रघुराई हैं, रघुवंशी राजा नीतिमें बड़े निपुण होते आये हैं, तब ये कैसे विलंब करते? खबर ही न मिली, इससे कुछ कर न सके। तात्पर्य कि हमने जाकर खबर दी नहीं कि वे आये यथा—**'अब बिलंब केहि कारन कीजे। तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजे॥' 'सिंधु बचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ। अब बिलंब केहि काम करहु सेतु उतरइ कटकु॥'** (लं०)।

* १ 'रामबान रबि उए…' का दूसरा अर्थ—'राक्षससमूहरूपी अंधकारके लिये रामचन्द्रजीके बाणरूपी सूर्य उदय हो चुके हैं।' (तभी तो दण्डकारण्यमें जनस्थानके चौदह सहस्र राक्षसोंका खरदूषणसहित संहार हुआ)। इस अर्थको लेकर यह कहा जाता है कि यहाँ 'रामबान'के उदयसे हनुमान्‌जी अपनी ओर संकेत कर रहे हैं अर्थात् उनके बाणरूप मैं निशिचरनाशके लिये आ गया। यथा—'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना॥ ५। १।'

नोट—१ (क) 'रघुबीर' और 'रघुराई' में पुनरुक्ति नहीं है। दो भावसे दो शब्द कहे गये। पराक्रम करके ले आनेमें रघुबीर कहा, यथा—'एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ। कालहु जीति निमिष महुँ आनउँ ॥ ४।१८॥' राजा जनकी रक्षामें तत्पर रहते हैं, अतः विलंब न करते। (ख) 'रघुराई' शब्दमें लक्षणमूलक अगूढ़ व्यंग है कि रघुवंशी राजा सदासे धर्मात्मा, सत्यसंकल्प, सत्यप्रतिज्ञ, जनरक्षक, वीर, आश्रितपालक, आर्त्तदुःखहरण, परोपकारपरायण, दयालु इत्यादि गुणसम्पन्न होते आये हैं, वे कभी विलंब नहीं कर सकते थे।

टिप्पणी—२ (क) सूर्योदयसे बिना श्रम ही तमका नाश हो जाता है, यथा—'उयेउ भानु बिनु श्रमु तम नासा।' इसी तरह रामबाणसे बिना परिश्रम राक्षसोंका नाश होगा। (ख) यहाँ जातुधानकी सेनाको 'तमबरूथ' कहा है, यथा—'तव बियोग संभव दारुन दुख बिसरि गई महिमा सुबान की। न तु कहु कहँ रघुपतिसायक रबि तम अनीक कहँ जातुधान की॥' (गी० ५। ११)। यहाँ सेना और मायाको प्रकट नहीं कहनेका तात्पर्य यह है कि यहाँ पहले रविका उदय कहा, सूर्योदयपर 'तमबरूथ कहँ'?—वैसे ही रामबाणके उदयपर जातुधानकी 'अनीक कहँ?' जब राक्षसोंकी सेनारूपी अंधकार समूह उदय होते ही रह ही न गया तो दिखलायी कहाँसे दे, जब दिखायी नहीं देता तो लिखकर कैसे दिखायें? इसी विचारसे गोस्वामीजीने यह भाव दिखलानेके लिये कि राक्षसोंका पता ऐसे ही न लगेगा जैसे चौपाईमें 'अनीक' पदका। यहाँ सेना पदको गुप्त रखा, केवल 'जातुधानकी' कहा।

नोट—२ ऊपर टिप्पणी २ (ख) में दिये हुए गीतावलीके उद्धरणके अनुसार 'उए' (उदय होनेपर) का भाव यह भी हो सकता है कि आपके वियोगजन्य विरह-दुःखमें वे अपने सुन्दर 'बान' (स्वभाव, बाना एवं बाण) को ही भूल गये, इसीसे 'रघुपतिसायकरवि' (रामबाणरूपी रवि) का उदय न हुआ, अब समाचार पाकर वे उदय होंगे। बस, उनके उदय होते ही निशिचरतमका सहज ही नाश है। यह भाव वाल्मीकीयके—'त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे॥ ५। ३८। ५०॥' (अर्थात् मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि आपके वियोगजन्य शोकके कारण वे विषयान्तरसे पराङ्मुख हो रहे हैं।); तथा 'रामे दुःखाभिभूते तु लक्ष्मणः परितप्यते॥ ५। ४०। १३॥' (अर्थात् और श्रीरामजीका दुःख देखकर श्रीलक्ष्मणजी भी सन्तप्त रहा करते हैं)—इन उद्धरणोंसे भी सिद्ध होता है।

प्र० सं०—'जौं''जानकी' पायकुलक और 'तम बरूथ कहँ जातुधान की' प्रियंवदा है।

टिप्पणी ३—यहाँ राक्षसोंका नाश दो बार कहा। प्रथम 'रघुपतिबाणकृशानु' में पतंगसरीखे आ मरना दिखाया और अब दूसरा दृष्टान्त 'रामबाणरवि' से निशाचर अनीक-तमबरूथका नाश कहा। दो दृष्टान्त देनेका हेतु यह है कि—प्रथम उपमासे राक्षसोंका निःशेष नाश न हुआ क्योंकि अग्निमें सब पतंगे नहीं मरते; जो उसमें आकर गिरते हैं वही मरते हैं। अतएव निःशेष-नाश-सूचक दूसरा दृष्टान्त दिया। सूर्योदयसे सर्वत्र अंधकारका नाश हो जाता है। अथवा, प्रथम दृष्टान्तसे राक्षसोंके शरीरका नाश कहा और दूसरेसे उनकी मायाका। यथा—'एक बान काटी सब माया। जिमि दिनकर हर तिमिर निकाया॥ ६। ५१॥', 'प्रभु छन महुँ माया सब काटी। जिमि रबि उए जाहिं तम फाटी। ६। ९६॥', 'अथवा, एक दृष्टान्त रात्रिका दिया (पतंगे रात्रिमें ही अग्निमें आकर जल मरते हैं, दिनमें नहीं) और दूसरा दिनका (सूर्योदयसे दिनका प्रारम्भ होता है)। जो प्रथम दृष्टान्तसे अर्थात् रात्रिके दृष्टान्तसे बच गये उनका नाश दिनके दृष्टान्तसे हो गया। तात्पर्य यह है कि रामबाण राक्षसोंका दिन और रात्रि दोनोंमें अर्थात् निरन्तर नाश करेगा। यथा—'छीजहिं निसिचर दिनु अरु राती। निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती॥ ६। ७१॥' [रामबाणपर रविका आरोप कर राक्षसवृन्दपर तमबरूथका आरोपण किया, क्योंकि सूर्योदयसे अंधकारका नाश अनायास और अवश्यम्भावी है। यहाँ परस्परितरूपक अलंकार है। लंकाके राक्षसोंको अभीसे मरे हुए मानना अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है]।

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥ ३॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥ ४॥

अर्थ—हे माता! मैं अभी तुमको लिवा ले जाऊँ; पर 'रामदोहाई' प्रभुकी आज्ञा नहीं है। ३। हे माता! कुछ ही दिन धैर्य धारण करो, वानरोंसमेत रघुबीर श्रीरामजी आयेंगे। ४।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम विश्वास दिलानेके लिये शपथ खायी थी, यथा—'रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥ १३। १९।' यहाँ 'रामदोहाई' की। पहले शपथका प्रयोजन था, इससे वहाँ शपथ की और यहाँ 'दोहाई'

का ही प्रयोजन है। 'दोहाई' में द्रोहताका भी भाव भरा हुआ है। अर्थात् बिना आज्ञाके यदि मैं ले जाऊँ तो स्वामिद्रोही होऊँगा। आज्ञाभंग होगी और आज्ञाभंग वधके समान है; यथा—'**आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामशस्त्रवधमुच्यते।**' तात्पर्य कि यदि मैं झूठ कहता हूँ तो स्वामीकी द्रोहताको प्राप्त होऊँ। अथवा, दोहाई और शपथ पर्याय हैं। वे कहते हैं कि मैं अभी ले जाऊँ। पर 'इस लघुरूपसे हनुमान्‌जी कैसे लंकासे ले जा सकेंगे ? इनसे यह कार्य होना असंभव है'—ऐसा सन्देह कदाचित् जानकीजीके हृदयमें हो तो वे उसका समाधान प्रथम 'रामदोहाई' अर्थात् रामशपथ करके मिटाना चाहते हैं। अर्थात् यह कहते हैं कि मैं इसके लिये समर्थ हूँ, पर क्या करूँ प्रभुकी आज्ञा नहीं है। इसपर उनको विश्वास न हुआ, यथा—'**हैं सुत सब कपि तुम्हहिं समाना...**'। पुनः प्रथम हनुमान्‌जीने रावणका माहात्म्य कहा और अब '**अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई.**', अपनी इस उक्तिसे रामबाणका प्रभाव अपनेमें जनाया और यथार्थ आप रामबाणसम हैं भी, यथा—'**जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना॥**' (ख) '**प्रभु आयसु नहिं**', यथा—'**कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु।**' अर्थात् सन्देशा कहकर लौट आना, साथ न लाना। अध्यात्ममें भी ऐसा ही कहा है। 'प्रभु' का भाव कि जब वे स्वयं समर्थ हैं तब मुझको ले जानेकी आज्ञा कैसे दें? [आज्ञा न होनेका कारण यह भी है कि प्रभु सत्यप्रतिज्ञ हैं। यदि हनुमान्‌जी श्रीसीताजीको ले जाते तो '**निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।** ३। ९' यह श्रीरामजीकी प्रतिज्ञा असत्य हो जाती; क्योंकि निशाचरोंका नाश न हो पाता। अतः श्रीसीताजीको लानेकी आज्ञा नहीं दी गयी। वाल्मीकीय कल्पकी कथा इससे कुछ भिन्न है। वहाँ हनुमान्‌जी श्रीसीताजीसे कहते हैं कि मेरी पीठपर बैठ लो, मैं अभी ले चलूँ। पर सीताजी स्वयं पर-पुरुषके स्पर्शको राजी न हुईं; इससे हनुमान्‌जी साथ न ले जा सके। और यहाँ, हनुमान्‌जी अपनेको समर्थ बताते हुए भी प्रभुकी आज्ञाके अधीन होनेसे नहीं ले जाते। गी० ५। ६। में भी ऐसा ही कहा है; यथा—'**निदरि अरि रघुबीर बल लै जाउँ जौं हठि आज। डरौं आयसुभंग तें अरु बिगरिहै सुरकाज॥**']

नोट—'**कछुक दिवस जननी धरु धीरा**' इति। 'कछुक दिवस' अल्पकालका वाचक है। जिसे गीतावलीमें '**तौ लौं मातु! आपु नीके रहिबो। जौ लौं हौं ल्यावौं रघुबीरहिं दिन दस और दुसह दुख सहिबो॥** ५। १३।' '**बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चारि में दोउ बीर। मिलहिंगे कपि-भालु-दल सँग जननि उर धरु धीर॥** ५। ६।' और कवितावलीमें '**दिवस छ सात जात जानिबे न मातु धरु धीर अरि अंतकी अवधि रही थोरि कै।** ५। २३।' कहा है; उसीको यहाँ 'कछुक दिवस' कहा है। दस, चार, छ, सात वस्तुतः गिनतीके लिये नहीं हैं। धीरज बँधानेके लिये थोड़े ही दिनके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। वाल्मीकीयमें भी ऐसा ही कहा है—'**न ते चिराद्गागमनं प्रियस्य क्षमस्व मत्सङ्गमकालमात्रम्।** ५। ३९। ५४।', (अर्थात् आप तबतक प्रतीक्षा करें जबतक मैं उन्हें जाकर लिवा लाऊँ। अब उनके आनेमें देर नहीं), '**तदाश्वसिहि भद्रं ते भव त्वं कालकाङ्क्षिणी।** ५। ३९। ४४।' (अर्थात् आपका मङ्गल हो। आप धीरज धरें और कालकी प्रतीक्षा करें) इत्यादि। इस तरह 'कछुक दिवस' का तात्पर्य यही है कि बस मेरे जानेकी देर है, मैं गया, उनको समाचार मिला कि सेना लेकर वे आये—बस आप इतने समयकी प्रतीक्षा करें। वे आये और रावणका नाश हुआ।

टिप्पणी—२ 'कछुक दिवस'। यथा—'**बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चार में दोउ बीर।** गी० ५। ६।' प्रथम जब (दोहा १५ में) कहा था कि '**जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु**' तब उसमें दिनोंका कुछ प्रमाण नहीं कहा; अब 'कछुक दिवस' कहकर दिनका प्रमाण किया कि चार दिनमें आवेंगे इतने दिन धीरज धरो।

३—'**कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा**' इति। पूर्व राक्षसोंके नाशके सम्बन्धमें रामबाणको कृशानु और भानु कहा। पर इससे यह निश्चय न हुआ कि किस प्रकारसे मारेंगे। वहींसे बाण छोड़ेंगे या यहाँ आकर युद्ध करेंगे? इस बातको यहाँ स्पष्ट करते हैं कि '**कपिन्ह सहित**...।' 'रघुबीर' का भाव कि 'कपिन्ह सहित' राक्षसोंपर चढ़ाई करेंगे, निशाचरोंको मारेंगे और तुमको ले जायँगे।—[वाल्मी० ५। ३९। १४—१६ का भाव 'रघुबीर' शब्दमें यहाँ भर दिया है। अर्थात् मनुष्य, देवता, दैत्य, सूर्य, इन्द्र और यमराज भी उनके सामने नहीं ठहर सकते]।

मा० त० सु०—भाव कि प्रबल प्रचण्ड वीरधुरीण और समस्त निशिचरोंके नाशके लिये समर्थ होकर भी सुग्रीवकृत सेवाको स्वीकार करते हुए और '**हम काहूके मरहिं न मारें। बानर मनुज जाति दुइ बारें**' इस वरदानको सत्य करनेके लिये 'रघुबीर' वानरोंके साथ आवेंगे। [नोट—जाम्बवन्तजीने इसका कारण किस सुन्दरतासे कहा है, देखिये—'**कौतुक लागि संग कपि सैना।**' इससे ईश्वरता भी प्रकट न होगी।]

टिप्पणी—४ 'कह कपि हृदय धीर धरु माता' से यहाँ 'कछुक दिवस जननी धरु धीरा'''।' तक 'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु' इस संदेशको चरितार्थ किया।

निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं। तिहुँ पुर नारदादि जसु गैहहिं ॥ ५ ॥
हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना[1]। जातुधान अति[2] भट बलवाना ॥ ६ ॥
मोरें हृदय परम संदेहा। सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा* ॥ ७ ॥

अर्थ—निशाचरको मारकर तुम्हें ले जायँगे। तीनों लोकोंमें नारदादि यश गावेंगे ॥ ५ ॥ श्रीसीताजी बोलीं—हे पुत्र! सब वानर तो तुम्हारे ही समान हैं और राक्षस तो अत्यन्त योद्धा और अत्यन्त बलवान् हैं ॥ ६ ॥ मेरे मनमें परम संदेह है। यह सुनकर कपिने अपना शरीर प्रकट किया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ हनुमान्‌जीने प्रथम बालकाण्डकी सब कथा कही; यथा—'लागी सुनै स्रवन मन लाई। आदिहुँ तें **सब कथा सुनाई** ॥' अयोध्या और अरण्य भी कहा। किष्किन्धाकी कथा न कही थी, वह श्रीसीताजीके पूछनेपर कही—'**नर बानरहिं संग कहु कैसे। कही कथा भइ संगति जैसे** ॥' सुन्दर वर्तमान है; इसकी कथा न कही, क्योंकि कथा तो वे स्वयं देख रही हैं।—(मेरी समझमें किष्किन्धाकाण्डकी भी कथा कही थी पर बहुत संक्षिप्त। दूतोंका भेजा जाना, स्वयंप्रभाद्वारा सिंधुतटपर पहुँचना और सम्पातीसे सीताजीका पता मिलना यह किष्किन्धामें ही है। समुद्रलङ्घन, सीताजीको लङ्कापुरीमें रावणके महल तथा घर-घरमें खोजते हुए अशोकवाटिकामें पहुँचना और मुद्रिकाका गिराना—यह सुन्दरकाण्डकी कथा कही)।—रही लङ्का और उत्तरकी सो यहाँ कही। '**निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं**' यह लङ्काकाण्ड है और '**तिहुँपुर नारदादि जसु गैहहिं**' यह उत्तरकाण्ड है। यथा—'**राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुरमुनि बरबानी** ॥ १। २५।' '**बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम जे गावहिं** ॥ ७। ४२।' पुनश्च यथा अध्यात्मे—'**यस्यावतारचरितानि विरिंचिलोके गायन्ति नारदमुखाभवपद्मजाद्याः**' तथा '**नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं** ॥ ७ ॥ ४२।'—['**निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं।**' यथा—'**हत्वा तु समरे क्रूरं रावणं सहबान्धवम्। राघवौ त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रापयिष्यतः** ॥ वाल्मी० ५। ४०। १६।']

२—☞ जाम्बवन्तजीके वचन जो उन्होंने हनुमान्‌जीसे कहे थे वे हनुमान्‌जीको अत्यन्त भाये थे, यथा—'**जामवंत के बचन सुहाए। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए** ॥ ५। १।' इसीसे हनुमान्‌जीने उन्हींके वचन श्रीजानकीजीसे कहे।—

जाम्बवन्तके वचन		हनुमान्‌जीके वचन
कपि सेन संग	१	**कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा**
सँहारि निसिचर	२	**निसिचर मारि**
राम सीतहि आनिहैं	३	**तोहि लै जैहहिं**
त्रैलोकपावन सुजस	४	**तिहुँ पुर**
सुरमुनि नारदादि बखानिहैं	५	**नारदादि जसु गैहहिं**

नोट—१ (क) प्रथम निशाचरका मारना कहकर तब ले जाना कहा। क्योंकि अवतारका मुख्य प्रयोजन निशिचर-वध है। '**तोहि लै जैहहिं**' अर्थात् अवश्य ले जायँगे, पर मुख्य कार्य करके। (ख)—यहाँ '**गैहहिं**' का अन्वय '**तिहुँपुर**' के साथ है। अर्थात् अभीतक तो केवल अनुभवसिद्ध नारदादि ही उसको गाते थे, किंतु अब तीनों लोकोंके लोग गावेंगे। 'आदिसे याज्ञवल्क्य एवं और भी त्रिकालदर्शी महात्माओंको सूचित कर दिया; यथा—'**यह सब जागबलिक कहि राखा।**' नारद गानविद्यामें अग्रगण्य हैं। उनके द्वारा यश सबको सुलभ हो जायगा। अतः उनको प्रथम कहा। (मा० त० सु०)।

२—'**हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना।**' इति। यहाँ 'सुत' सम्बोधन अत्यन्त स्नेहसूचक

१ तुम्हहिं—का०, ना० प्र०, गी० प्रे०। तुम्हहिं—भा० दा०। तोहि—रा० गु० द्वि०। २ भट अति—रा० प्र०।

* 'निसिचर मारि'''।' १०३४ वाँ भेद है। 'तिहुँ पुर'''११७८ वाँ भेद है। अर्धाली ६ से ९ तक पाठभेदक है। (ब्र०चं०)।

वात्सल्य भावमें है। उनको तरस आता है कि यह और इनके साथ सब इतने छोटे हैं, ये सब तो निशाचरोंके एक बारके आहार हो जायँगे। वात्सल्यवश वे नहीं चाहतीं कि ये मारे जायँ।

३—**'जातुधान अति भट बलवाना।'** इति। 'जातुधान' शब्दसे स्वाभाविक जातीय उत्कटता और 'भट' से समरके योग्य उत्कटता जनायी। यथा—**'एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय।** १। १८०।' और **'अति बलवाना'** से मायिक बलमें निपुणता जनायी; यथा—**कामरूप जानहिं सब माया।**'—(मा० त० सु०)।

टिप्पणी—३ **'जातुधान अति भट'** इति। श्रीरामजी वानरोंसहित आयेंगे और राक्षसोंको मारकर ले जायँगे, इस विषयमें श्रीसीताजीको संदेह नहीं है। इसीसे इनके विषयमें वे संदेह नहीं करतीं। वानर सब बहुत छोटे डील-डौलके हैं, ऐसा अनुमान करके उनको वानरोंके विषयमें संदेह है। इसीसे इसकी शंका की। संदेह यह है कि वानर-भालु तो निशाचरोंके आहार हैं, इनमें राक्षसोंसे युद्ध करनेकी योग्यता नहीं है, तब सब बेचारी वानरी सेना व्यर्थ क्यों मारी जाय? उनको लानेकी आवश्यकता क्या? श्रीरामजी तो अजेय हैं, वे समस्त राक्षसोंके लिये अकेले ही बहुत हैं, यथा—**'जीति को सकै अजय रघुराई।'** सेना मारी जायगी तो श्रीरामजीको अपयश होगा।

४—**'मोरे हृदय परम संदेहा'** इति। भाव कि तुम्हारा 'लघु' शरीर देखकर युद्धकी योग्यतामें 'संदेह' है। और राक्षस **'अति भट बलवान्'** हैं। कहाँ **'परम लघु'** और कहाँ **'अति भट'**···? अतः **'परम संदेह'** है।

५ **'सुनि कपि प्रगट कीन्ह निज देहा।'** इति।—देह प्रकट करनेका भाव कि हनुमान्‌जीने विचार किया कि मैं मुखाग्र (जबानी, वचनमात्रसे) कितना ही कहूँगा कि मेरा बहुत बड़ा रूप है, मैं बड़ा बलवान् हूँ, तो कोरी बातसे इनको विश्वास न होगा। अतएव अपना रूप दिखाया, यथा—**'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आप।'** **'निज देह'** का भाव कि यह उनका सहज रूप है जिसमें वे सदैव रहा करते हैं और अन्य छोटे-बड़े रूप तो कार्यानुसार समय समयपर इच्छानुसार धारण किया करते थे, पर वे असली रूप नहीं हैं।

नोट—४ वाल्मीकीयमें श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीताजीसे कहा है कि आप मेरी पीठपर सवार हो लें, मैं अभी आपको श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचाता हूँ। उस समय उन्होंने ऐसा ही संदेह प्रकट किया है। यथा—**'तदेव खलु ते मन्ये कपित्वं हरियूथप॥** ५। ३७। ३१ **॥ कथं चाल्पशरीरस्त्वं मामितो नेतुमिच्छसि।**···॥ ३२॥' अर्थात् तुम्हारे इन वचनोंसे तो तुम्हारा वानरपना प्रकट होता है। भला इतने छोटे शरीरसे तुम मुझे कैसे वहाँ पहुँचा सकते हो? तब हनुमान्‌जीने बहुत आगा-पीछा सोचकर शत्रुनाशकारी अपना रूप वैदेहीको दिखलाया।

कनकभूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा॥ ८॥
सीता मन भरोस तब भयऊ। पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ॥ ९॥

अर्थ—स्वर्ण-पर्वतके आकारका वह शरीर था, जो संग्राममें (शत्रुको सहज ही) अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाला, अत्यन्त बली और वीर था (एवं जो अत्यन्त बलवान् वीरोंको भी रणमें भय उत्पन्न करनेवाला था) ॥८॥ (इसे देखकर) तब श्रीसीताजीके मनमें भरोसा आया। हनुमान्‌जीने पुनः लघु रूप कर लिया॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीसीताजीने कहा था कि **'हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना'**, इसके उत्तरमें यह रूप दिखाया। और, जो कहा था कि **'जातुधान अति भट बलवाना'** उसके सम्बन्धसे **'समर भयंकर अति बल बीरा'** विशेषण दिया गया। अर्थात् अति भटके लिये अति वीर हैं और बलवान्‌के लिये अति बली हैं। **'समर भयंकर'** यह उनसे अधिक गुण है, यथा—**'हनूमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥'** (६। ४६)।

नोट—१ श्रीजानकीजीने राक्षसोंमें तीन गुण और इनके द्वारा तीन प्रकारके भय सुनाये थे—जातुधान, अति भट, अति बलवान्। इन तीनोंका प्रतिकार हनुमान्‌जीके **'कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा॥'** इस रूप और इस अर्धालीमें कथित गुणोंसे हो गया। उनको कुछ कहना न पड़ा। वहाँ 'जातुधान' (पर्वताकार विशाल देहवाले, यथा—**कहुँ माल देह बिसाल सैल समान**···') और यहाँ **'कनक भूधराकार'** (अर्थात् सुमेरु पर्वतके समान। सुमेरु पर्वतके समान कहकर राक्षसोंसे बहुत बड़ा और साथ ही परम सुन्दर तेजोमय जनाया)। सुमेरु सब पर्वतोंसे बड़ा है। **'अति बल बीरा'** से यह भी जनाया कि राक्षस मायावी होते हैं तो हनुमान्‌जी उनकी मायाके नाश करनेमें भी समर्थ हैं। वाल्मीकीयके **'मेरुमन्दरसङ्काशो बभौ दीप्तानलप्रभः।** ५। ३७। ३७।' के भाव **'कनकभूधराकार'** में हैं। अर्थात् सुमेरुकी तरह लम्बे-

चौड़े, ऊँचे और दहकती हुई अग्निकी कान्तिके समान दीप्तिमान् । '···ताम्रवक्त्रो महाबलः । वज्रदंष्ट्रनखो भीमो। श्लो० ३८ ।' 'सपर्वतवनोद्देशां साट्टप्राकारतोरणाम् । लंकामिमां सनाथां वा नयितुं शक्तिरस्ति मे ॥ ३९ ॥' के भाव 'समर भयंकर अति बल बीरा' में हैं अर्थात् लालमुख, महाबलवान्, वज्रसमान दाँतों और नखोंवाले भयंकर रूपधारी, लंकापुरीको त्रिकूटाचल तथा वन, महल इत्यादि सहित रावणको भी उठा ले जानेको समर्थ— ऐसा उनका रूप था।

टिप्पणी—२ 'समर भयंकर' इति । इस विशेषणसे जनाया कि हनुमान्जीका दर्शन भयंकर नहीं है, वे केवल समरमें भयंकर हैं, शत्रु इन्हें देखते ही भयके मारे भाग जाते हैं। यही रूप देखकर भीमसेन भी डर गये थे, यथा—'कौन के तेज बलसीम-भट भीमसे भीमता निरखि कर नयन ढाँके । क० लं० ४५ ।' 'जयति भीमार्जुन ब्यालसूदन गर्बहर···। विनय २८ ।'

नोट—२ 'सीता मन भरोस तब भयऊ' इति । (क) श्रीहनुमान्जीका यह रूप देखकर वे शीतलता (शान्ति) को प्राप्त हुईं, अतः 'सीता' शब्द दिया । (ख)—पूर्व कहा था कि 'मोरे हृदय परम संदेहा' 'सीता मन···।' इस तरह हृदय और मनको पर्यायी जनाया । यथा—'स्वान्तं हृन्मानसं मनः ।' (ग) भरोसा यह हुआ कि ये अकेले ही निस्संदेह राक्षसोंको मार डाल सकते हैं; यथा—'कामं त्वमसि पर्याप्तो निहन्तुं सर्वराक्षसान् । वाल्मी० ५ । ३७ । ५७ ।', और अन्य समस्त वानर भी अवश्य ऐसे ही समर्थ हैं । जब वे सब-के-सब साथ होंगे तब कहना ही क्या ? अतः संदेह दूर हो गया। (घ) –'तब' अर्थात् जब यह रूप देख लिया तब । ☞ यह रूप श्रीसीताजीने ही देखा और किसीने नहीं ।

३—'पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ' इति । (क) 'पुनि' अर्थात् जिस कामके लिये बड़ा रूप धारण किया था जब वह कार्य हो गया तब 'पुनः' छोटे हो गये । दूसरे अभी इस विशाल शरीरकी अधिक आवश्यकता भी नहीं है और औरोंसे यह रूप छिपाना है । (ख)—छोटा रूप धारण करनेमें 'पवनसुत' नाम दिया । पवन अत्यन्त सूक्ष्म है, वैसे ही इन्होंने सूक्ष्मरूप कर लिया । (पं० रा० कु०) । अथवा, अत्यन्त शीघ्रतासे लघु हो जानेसे पवनसुत पद दिया । (प्र० स्वामीका मत है कि हनुमान्जी रामदूत हैं, रामकृपांकित हैं, समुद्र लाँघकर आये हैं, इतनेपर भी उनके पराक्रममें संदेह हुआ। भक्तानामाग्रगण्यके विषयमें होनेसे यह संदेह पापरूप है । इस संदेहरूपी पापका निरास करनेसे 'पवन सुत' नाम दिया)। (ग)—बृहत् रूपसे एकदम लघुरूप होकर यह भी जनाया कि मायाको जीतनेमें भी समर्थ हैं । बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा हो जाना भी तो माया ही है ।

दो०—सुनु माता साखामृग* नहिं बल बुद्धि बिसाल ।
प्रभुप्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल† ॥ १६ ॥

अर्थ—(हनुमान्जीने कहा—) हे माता ! सुनो । वानरोंमें बल और बुद्धि बहुत नहीं होती; (पर) प्रभुके प्रतापसे परम लघु सर्प गरुड़को खा सकता है ॥ १६ ॥

टिप्पणी—१ (क) भाव यह कि जो मैंने अपना विशाल और अत्यन्त बलवीर रूप दिखाया और बुद्धिसे आपको समझाया-बुझाया यह बल-बुद्धि वानरोंमें नहीं होती । यह प्रभुका प्रताप है । इसमें देहके बड़े-छोटे होनेसे कुछ प्रयोजन नहीं, बल और बुद्धिका भी प्रयोजन नहीं । राम-प्रताप विशाल है, उसीसे सब काम होता है । प्रभु-प्रतापसे गरुड़ लघु व्यालके समान हो जाता है और परम लघु व्याल गरुड़के समान हो जाता है, यथा—'देखि प्रताप न कपि मन संका । जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका ॥ ५ । २० ॥' जैसे गरुड़का आहार गरुड़को खा ले; वैसे ही हम सब राक्षसोंके आहार हैं, यथा—'नर कपि भालु अहार हमारा'; पर हम राक्षसोंको भी खा जायँगे । श्रीजानकीजीको संदेह हुआ था कि वानर राक्षसोंसे लड़ भी सकेंगे ? इसीसे गरुड़ और व्यालका दृष्टान्त दिया । अर्थात् युद्धकी क्या कही, वानर तो राक्षसोंको खा जायँगे ।—[यहाँ 'गरुड़' से रावणादि निशाचर और 'परम लघु व्याल' से अपने तथा समस्त वानर-भालु आदिको जनाया । यहाँ वानरोंमें बल और बुद्धिका निषेध इसलिये किया कि इन धर्मोंको 'प्रभु-प्रताप' में स्थापन करना अभीष्ट है ।—यह 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार है ।]

* साखामृग—१७०४, १७२१, छं० भा० दा० । साखामृगन—१७६२ । साखामृगहि—कोदवराम ।
† दोहा दोहरा मिश्रित है—(प्र० चं०) ।

श० सुं० दा०—पुराणोंमें कथा है—एक बार गरुड़जी कैलाशसे निकलकर कहीं जाने लगे कि शिवजीके लँगोटेमें बैठे हुए और इधर-उधर लिपटे हुए साँपोंने बड़े जोर-जोरसे फुफकारना आरम्भ किया; गरुड़ने कहा—जो शङ्करका आशय छोड़कर मैदानमें आकर फुफकारो तो समझूँ। अथवा, एक बेर भगवान्की शरण गये हुए सर्पको गरुड़ने खानेकी इच्छा की, तब विष्णुने सर्पको समर्थ बना दिया जिससे वह गरुड़जीको ही खाने दौड़ा, फिर प्रार्थना करने-पर भगवान्ने उनको छुड़ाया।

टिप्पणी—२ इसी तरह जब श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्जीसे पूछा—**'कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥ ५। ३३॥'**, तब उन्होंने उसका उत्तर भी इसी प्रकार प्रभुप्रतापका द्योतक दिया है, यथा—**'ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं जापर तुम्ह अनुकूल। तव प्रभाव बड़वानलहि जारि सकहि खलु तूल॥ ५। ३३॥'** जहाँ जैसा प्रयोजन पड़ा तहाँ तैसा उत्तर दिया; दोनों जगह प्रतापको मुख्य रक्खा। वहाँ लङ्का जलानेमें संदेह किया गया इसीसे वहाँ 'तूल' (रूई) से बड़वानलका जलना कहा और यहाँ संदेह हुआ कि वानरोंको राक्षस भक्षण न कर डालें, इससे यहाँ कहा कि लघु सर्प गरुड़को खा सकता है। जलानेके प्रसङ्गमें जलानेका दृष्टान्त दिया और खानेमें खानेका।

नोट—१ (क) **'साखामृग०'** इति। बल बुद्धिकी हीनता दरसानेमें नरयुक्त वानर शब्दका प्रयोग न करके पशुत्व और चंचलता आदि सूचक शब्द शाखामृग दिया, यथा—**'कहँ हम पसु साखामृग चंचल बात कहौं मैं बिद्यमान की। गी० ५। ११।'**; भाव यह कि एक डालीसे दूसरीपर कूदकर जाना बस इतना ही मात्र तो उसका पुरुषार्थ है; यथा—**'साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा ते साखापर जाई॥'** (ख)—**'नहिं बल बुद्धि'** इति। शत्रुको जीतनेके लिये बल और बुद्धि दोनोंकी आवश्यकता है; यथा—**'देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु। ५। १७।'**, **'बुधिबल निसिचर परइ न पारयो। तब मारुतसुत प्रभु संभारयो॥ ६। ९४॥'** अतएव इन दोनोंकी कमी बतायी। (ग) 'बिसाल' नहीं हैं अर्थात् थोड़ी-सी कूदने-फाँदने इत्यादि वाली बुद्धि और बल है। (घ) **'नहिं बल बुद्धि बिसाल'** ऐसा कथन कार्पण्य शरणागतिका लक्षण है। ☛श्रीरामभक्त स्वयं समर्थ होते हुए भी जो कुछ कार्य करते हैं उसमें श्रीरामप्रताप, श्रीरामकृपाहीको मुख्य मानते-जानते हैं। कभी उसमें अपने पुरुषार्थका अभिमान मनमें नहीं आने देते। इन शब्दोंसे अभिमानरहितत्व दिखाया। यथा—**'बोला बचन बिगत अभिमाना।···सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥ ५। ५३॥'**, **'तोरौं छत्रकदंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।१।२५३।'** शङ्करजीका भी यही सिद्धान्त है, यथा—**'बाँधा सेतु नील नल नागर।···बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भए उपल बोहित सम तेई॥ महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी॥ श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान। ६। ३।'** और श्रीहनुमान्जी रुद्रावतार हैं ही। अतः दोनोंके सिद्धान्त एक ही हैं। पुनः अङ्गदपदारोपणप्रसङ्गमें भी इसी सिद्धान्तको उन्होंने पुष्ट किया है; यथा—**'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई॥ ६। ३४॥'** श्रीभुशुण्डिजीका भी यही सिद्धान्त है, यथा—**'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहिं मसक ते हीन। ७। १२२।'** (ङ)—**'नहिं बल बुद्धि'** से सर्वथा अपनी असमर्थता जनाकर **'प्रभुप्रताप ते···'** इस उक्तिसे परम दुष्कर कार्यका भी श्रीरामसेवकोंद्वारा सौकर्य जनाया। (मा० त० सु०)।

(च) बाबा हरिदासजी कहते हैं—बड़े बरगदके वृक्षमें बन्दरोंको भागनेका अवकाश कम होता है इसीसे शिकारी लोग वटपर भगाकर घेरकर पकड़ लेते हैं; बुद्धि होती तो उसपर क्यों जाते। (एक मुट्ठी चनाके लिये घटमें हाथ डालकर पकड़ जाते हैं; समझते हैं कि घटने हमारे हाथको पकड़ लिया। इतनी भी बुद्धि नहीं कि मुट्ठी खोलकर हाथ निकाल लें)।

मन संतोष सुनत कपि बानी। भगति प्रताप तेज बल सानी॥ १॥

अर्थ—भक्ति, प्रताप, तेज और बलसे सानी हुई (संयुक्त, मिश्रित) कपिकी वाणी सुनते ही (श्रीसीताजीके) मनको संतोष (आनन्द) हुआ॥ १॥

टिप्पणी—१ **'मन संतोष सुनत कपि बानी'** इति। श्रीहनुमान्जीकी वाणी ऐसी श्रेष्ठ है कि श्रोता प्रसन्न हो जाता है—यह इस प्रसङ्गके चारों बारके उनके भाषणोंसे स्पष्ट है। उन्होंने (१) श्रीसीताजीको ऐसी कथा सुनायी कि **'लागी सुनै स्रवन मन लाई'** और वक्ताको उन्होंने प्रकट होनेकी आज्ञा दी।—**'स्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही सो**

प्रगट होत किन भाई ॥ ३ । ७ ॥' (२) ऐसी बात की कि विश्वास हो गया, यथा—'कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।' (३) ऐसा संदेश सुनाया कि प्रेममें मग्न हो गयीं, यथा—'प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही ॥' और, (४) ऐसा धीरज देकर समझाया कि संतोष हो गया, यथा—'मन संतोष सुनत कपि बानी।'

मा० त० सु०—'मन संतोष'। पहले केवल बाह्य प्रीति बढ़ी थी, अब भक्ति-प्रतापादि संयुक्त वाणी सुनकर आभ्यन्तरिक प्रसन्नता हुई।

टिप्पणी—२ 'भक्ति प्रताप तेज बल सानी' के उदाहरण क्रमसे सुनिये।—(क) भक्ति, यथा—'कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक सुखदाता ॥ उर आनहु रघुपति प्रभुताई।' (ख) 'प्रताप, यथा—'राम बान रबि उएँ जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की ॥' 'प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल'। (ग) तेज, यथा—'निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु ॥' कृशानुसे तेज सूचित किया, यथा—'तेज कृसानु रोष महिषेसा'। (घ) बल, यथा—'अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई' से 'निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं' तक।

शिला—दोहा १७ में हनुमान्‌जीने चार बातें कहीं।—जातिकी हीनता; यह दीनता भक्ति है। 'नहिं बल' यह निर्बलताकथन प्रताप है। 'नहिं बुद्धि' यह तेज है और 'रामप्रताप तें···' यह बल है। श्रीजानकीजीने उनको यह सब देकर परिपूर्ण कर दिया।

टिप्पणी—३ अब इस प्रसङ्गमें जो प्रश्नोत्तर हुए उन्हें दिखाते हैं—

श्रीसीताजीके प्रश्न	श्रीहनुमान्‌जीके उत्तर
१ अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी।	मातु कुसल प्रभु अनुज समेता।
अनुज सहित सुखभवन खरारी ॥	तव दुख दुखी सुकृपानिकेता ॥
२ कोमल चित कृपालु रघुराई।	जनि जननी मानहु जिय ऊना।
कपि केहि हेतु धरी निठुराई ॥	तुम्ह तें प्रेम राम के दूना ॥
३ सहज बानि सेवक सुखदायक।	सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं।
कबहुँक सुरति करत रघुनायक ॥	जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं ॥
४ कबहुँ नयन मम सीतल ताता।	कछुक दिवस जननी धरु धीरा।
होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता ॥	कपिन्ह सहित ऐहहिं रघुबीरा ॥
५ बचन न आव नयन भरि बारी।	जौं रघुबीर होति सुधि पाई।
अहह नाथ हौं निपट बिसारी ॥	करते नहिं बिलंब रघुराई ॥

६—'सुनि मम बचन तजहु कदराई' से 'मन संतोष सुनत कपि बानी' तक हनुमान्‌जीके वचनोंकी सीमा है। यही 'बहु प्रकार' समझाना है।

नोट—१ श्रीरामजीकी आज्ञा थी कि 'बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह···।' समझाना सब है। बल ऊपर बताया गया। विरह 'कहेउ राम बियोग तव सीता' से 'जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं।' तक हुआ।

नोट—२ श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि 'इसीसे तो मेरी धारणा है कि तुलसीदासजी अपने ही बड़े सुन्दर आलोचक भी हैं। ऐसे कवि संसारमें विरले ही होते हैं। प्रत्येक प्रसंग वा वक्तव्यपर पहले या पीछे ऐसी आलोचना होती है जिससे सब रहस्य खुल जाता है। यही कारण है कि जहाँ ब्रैडले महोदयको कहना पड़ता है कि शेक्सपियर हमें भूलभुलैयोंमें-सा डाल देता है, वहाँ तुलसीदासजी हमारे पथप्रदर्शक हैं। चरित्रोंपर उनके नोट (रामायणके प्रारम्भमें) अपना जवाब नहीं रखते। सारे आध्यात्मिक रहस्य श्रीरामनामवन्दना-प्रकरणमें खोल दिये हैं और मानस-सरयूवाला रूपक तो मानो सारे ग्रन्थकी धारावाहिक आलोचना ही है। आधिदैविक और दार्शनिक रहस्य 'बालको बाल' (आदि ?) और 'उत्तरको अन्त' में समझाये गये हैं। तुलसीदासका रहस्यवाद—('राम रहस्य मनोहर गाऊँ।') रहस्यको सुबोध बनाता है; यह नहीं कि श्री जी० पी० श्रीवास्तव्यजीके व्यंग शब्दोंमें यह कहना पड़े कि यदि समझमें आ जाय तो रहस्यवाद ही क्या? बरनार्डशा (Bernard Shaw) महोदयने अभी हालमें (सन् १९४७ ई० में) लिखा है कि उनके प्रस्तावना और उपसंहार तथा

बीचकी आलोचनाएँ एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही होते हैं, कारण कि जनता Pamphlet (आलोचनात्मक उपदेशपूर्ण पुस्तक भी नाटकके साथ पढ़ना चाहती है। सोचिये तो शा महोदयके वे अंश कितने रूखे-सूखे हैं और तुलसीदासजीके कितने काव्यकला और भावपूर्ण। जनताकी रुचि तो सभ्य देशमें वैसी होनी स्वाभाविक ही है।'

३—'मन संतोष सुनत कपि बानी' पायकुलक है 'भगति···' नयमालिनी है। (ब्र० चं०)।

आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील* निधाना ॥ २ ॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ† बहुत रघुनायक छोहू‡ ॥ ३ ॥

अर्थ—श्रीरामजीका प्रिय जानकर उन्होंने आशीर्वाद दिया—हे तात! तुम बल और शीलके निधान (खानि, खजाना) हो ॥ २ ॥ हे पुत्र! अजर (बुढ़ापारहित, सदा एकरस युवावस्थावाले), अमर (जिसकी मृत्यु न हो) और गुणोंके समुद्र वा खजाना हो, श्रीरघुनाथजी तुमपर बहुत कृपा करें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'रामप्रिय जाना।' जो श्रीरामजीका परम प्रियपात्र होता है उसीमें ये गुण होते हैं, दूसरेमें नहीं। इन गुणोंसे रामप्रिय जाना। रामप्रियपर सभी प्रसन्न होते हैं, यथा—'राम सुहाते तोहि जो तू सबहि सुहातो'—(विनय०)। अतएव प्रसन्न हुईं, आशीर्वाद दिया। [पूर्व हनुमान्‌जीको हरिजन जाना था, यथा—'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।' और अब रामप्रिय जाना। अर्थात् केवल हरिजन नहीं किन्तु श्रीरामजीका 'निज दास' जाना। निज दास रामजीको प्रिय है; यथा—'तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥ ७। ८६।' इसीसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ आशीर्वादपर आशीर्वाद देती चली गयीं।]

नोट—१ 'होहु तात बलसील निधाना' इति। (क) महाभारतमें कहा है कि—'मन-कर्म-वचनसे किसीसे भी द्रोह न करे। सबपर दया करे। शक्तिके अनुसार दान दे। जिस तरह जिस कार्यके करनेसे मानव-समाजमें प्रशंसा हो वह कार्य उसी तरह करे।'—यही शीलका स्वरूप है। साधारण अर्थ 'सौम्य' वा 'सज्जनताका स्वभाव' है। धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मी ये सब शीलके ही आधारपर रहते हैं। यदि शील नहीं है तो बल आदि व्यर्थ हो जाते हैं। इसीसे बलके साथ शील भी दिया। इसीसे 'धर्मरथ' प्रसङ्गमें शीलको दृढ़ पताका कहा है। पताका गिरनेपर हार होती है। पताका ही विजयका चिह्न है। (ख) विना शीलके बलकी शोभा नहीं होती, यथा—'रिपुसूदन पदकमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी ॥'; अतएव बल और शील दोनोंका आशीर्वाद दिया।

टिप्पणी—२ (क) हनुमान्‌जीको प्रसन्न करनेके लिये इतने आशीर्वाद दिये। जबतक वे प्रसन्न न हुए तबतक आशीर्वाद देती ही गयीं। 'बलसीलनिधान हो', इसपर न बोले। 'अजर हो, अमर हो, गुणनिधान हो' इसपर भी उनकी प्रसन्नता न देख पड़ी। तब कहा कि 'करहुँ बहुत रघुनायक छोहू' यह सुन वे प्रसन्न हो गये। श्रीरघुनाथजीकी कृपाका आशीर्वाद सबसे पीछे दिया, क्योंकि जबतक कुछ भी वासना हृदयमें बाकी रहती है तबतक रघुनाथजीकी भक्ति नहीं मिलती, यथा—'बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय नहिं कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बर देइ। २। १०२।' (ख) 'बहुत छोह' का भाव कि कृपा तो तुमपर है ही, यथा—'आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना।' अब हमारे आशीर्वादसे बहुत कृपा करें। पुनः ☛ यहाँ छः आशीर्वाद दिये हैं, क्योंकि हनुमान्‌जीने छः काम किये। एक-एक कार्यके बदले एक-एक आशीर्वाद दिया। छः काम ये हैं—(१) मुद्रिका दी, (२) श्रीरामचन्द्रजीके गुण वर्णन किये, (३) कथा कही, (४) विश्वास उत्पन्न किया, (५) संदेश कहा और (६) धीरज दिया। आशीर्वाद भी छः हैं—बल, शील, अजर, अमर, गुणनिधि और रघुनायक बहुत छोह करें।

गौड़जी—हनुमान्‌जीके बुद्धि, बल, विनय, शील और सेवापर माताका हृदय रीझ गया, आशीर्वाद-पर-आशीर्वाद निकलने लगे, गिनतीकी कोई बात नहीं। पुत्रको माता जब अजर, अमर, बल, शील, गुणनिधान कर चुकी तब सिवाय इसके कोई और बात बाकी न रही कि उसपर 'सियाराम' का बहुत छोह हो। इसलिये हनुमान्‌जी कृतकृत्य हो गये। और लघु

* प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें 'सील' है। 'बुद्धि' आधुनिक।

† करहुँ—भा० दा०, रा० गु० द्वि०, गी० प्रे०। करहु—का०।

‡ 'आसिष···।' पायकुलक; 'होहु···।' स्वागता; 'अजर···' पायकुलक और 'करहु बहुत···' चण्डी है। (ब्र० चं०)।

बालककी तरह माताके सामने भूखकी शिकायत करने लगे।

नोट—२ 'सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू।' एवं 'करहुँ कृपा प्रभु' इति। (क) गौड़जी—रामचरितमानसमें जिस भाषाका प्रयोग हुआ है उसके व्याकरणके अनुसार 'करहु' और 'करहुँ' दोनों रूप होते हैं; परंतु 'करहुँ' स्वभाववाचक उत्तम पुरुष एकवचन वर्तमानकालके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है—'मैं या हौं करहुँ' का अर्थ है 'मैं करता हूँ' या 'मैं करती हूँ' यहाँ 'करहुँ' से दोनों प्रयोजन सधते हैं और अन्वय यों भी हो सकता है जिसमें दीपदेहरी अलंकारसे 'करहुँ' का विवक्षित 'हौं' के साथ भी सम्बन्ध है। 'हौं करहुँ बहुत छोहू' 'करहुँ रघुनायक बहुत छोहू' (मैं स्वयं बहुत छोह करती हूँ, रघुनायक बहुत छोह करें)। इसी तरह 'हौं करहुँ कृपा, 'करहुँ कृपा प्रभु' (मैं कृपा करती हूँ और प्रभु कृपा करें)। ('सीताराम' दोनोंकी कृपा कानोंसे सुनकर हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न हो जाते हैं)।

महारानीने यहाँ 'गुननिधि सुत होहू' कहकर हनुमान्‌जीके पुत्रत्वको स्वीकार कर लिया और अपनी कृपाके साथ-साथ रघुनायककी कृपाका भी आशीर्वाद दिया। माताके इसे स्वीकार कर लेनेपर और अमोघ आशीर्वाद पा लेनेपर हनुमान्‌जी निर्भर प्रेममें मग्न हो गये। श्रीरामकी कृपा तो निश्चित थी ही उसीसे तो माततक पहुँचनेका श्रेय मिला था। यहाँ माताकी भी कृपा हो गयी और रघुनायकका बहुत छोह करना हर तरह सुनिश्चित हो गया।

(ख) 'करहुँ'=करें।—इस प्रकारका प्रयोग मानस द्वितीय सोपानमें बहुत आया है और विनय आदिमें भी। यथा—'प्रान जाहुँ बरु बचन न जाहीं। २। २८।,' 'जानहुँ राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥ जलद जनम भरि सुरति बिसारउ।'''। २। २८।', 'सोवहुँ समर सेज दोउ भाई। २। २३०।', 'लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहुँ बिश्राम। २। २४८।' 'लखनु राम सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु। २। २८२।'; 'बसहुँ राम सिय मानस मोरें।' (विनय० १), 'सुनि खल छलबल कोटि किये बस होहुँ न भगत उदार।' (विनय० १८८), 'सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहिं रामु करहुँ जुबराजा॥ २। २७३।'

नोट—३ पं० रामकुमारजीके खर्रेसे ऐसा जान पड़ता है कि 'उन्हें 'बलबुद्धि निधान' पाठ अधिक अच्छा लगता था। क्योंकि उन्होंने उस पाठके भी भाव दिये हैं, जो ये हैं— 'बलबुद्धि निधान' पाठ हो तो बलबुद्धिनिधान होनेका आशीर्वाद इसलिये दिया कि हनुमान्‌जीने कहा था कि—'सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल', अतएव बल-बुद्धिका आशीर्वाद दिया। शत्रुबल और बुद्धिसे ही जीते जाते हैं। पुनः बल, बुद्धि आदिके क्रमका भाव—सीताजी शक्ति हैं, यथा—'परम सक्ति समेत अवतरिहौं'। इसीसे बल (शक्ति) दिया। बलकी शोभा बुद्धि है, वह भी शक्तिके देनेसे प्राप्त होती है, यथा—जनकसुता जगजननि जानकी।'''जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।' बुद्धिकी शोभा अजर होनेमें है, बुढ़ापेमें बुद्धि नष्ट हो जाती है, यथा—'लिखा बिरंचि जरठ मति भोरे'। अजरकी शोभा अमरसे है। अजर-अमर होकर बैल-सरीखा बना रहे, गुण कुछ न हों तो शोभा नहीं; अतः 'गुण निधि हो' यह कहा। सर्वगुणसम्पन्न हो और प्रभुकी कृपा न हो तो सब गुण व्यर्थ हैं। गुणोंकी शोभा रघुनायक-छोह है, यथा—'सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई। बिनु हरिभजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई॥ कीरति कुल करतूति भूति भलि सील सरूप सलोने। तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलोने॥'—(विनय० ७५); 'भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥ ७। ८४॥' प्रभुकी कृपासे भक्ति मिलती है, अन्यथा नहीं, यथा—'अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥'''देहु दया करि राम॥ ७। ८४॥' अतएव 'रघुनायक छोह' का वरदान पानेपर प्रसन्न हुए।

नोट—४ इस प्रसङ्गमें हमें उपदेश मिलता है कि श्रीरघुपति-कृपा-प्राप्तिके बिना अपनेको कभी कृतार्थ न समझें।

करहुँ * कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन † हनुमाना॥ ४॥
बार बार नाएसि पद सीसा। बोला बचन जोरि कर कीसा‡॥ ५॥

अर्थ—'प्रभु कृपा करें' ऐसा कानोंसे सुनकर श्रीहनुमान्‌जी पूर्ण प्रेममें डूब गये। ×॥ ४॥ कपि (हनुमान्‌जी) ने

* करहु—का०। करहिं—आधुनिक। † हरख—कोदवराम। ‡ 'करहुँ कृपा''' अर्धाली ४ से ७ तक पायकुलक है। (म० चं०)। × अर्थान्तर—'प्रेममें मग्न हो निर्भर हो गये अर्थात् अपने देहकी सुध भूल गये।'निर्गतः भरो देहस्वभावो यस्य असौ निर्भरः।"

बारंबार चरणोंमें सिर नवाया और हाथ जोड़कर वचन बोले ॥ ५ ॥

टिप्पणी--१ (क) 'अस सुनि' अर्थात् लौकिक आशीर्वाद सुनकर प्रेम न हुआ, अलौकिक आशीर्वाद सुनकर प्रेममें मग्न हुए। (ख) श्रीहनुमान्‌जीने संदेश सुनाकर श्रीसीताजीको प्रेममें डुबा दिया था; यथा—'प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥' इसके बदलेमें श्रीजानकीजीने आशीर्वाद देकर श्रीहनुमान्‌जीको प्रेममें डुबा दिया। (ग) 'करहुँ बहुत रघुनायक छोहू' ये श्रीसीताजीके वचन हैं; उसीको ग्रन्थकार यहाँ 'करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि' लिखकर छोहका अर्थ स्पष्ट करते हैं। अर्थात् छोह=कृपा। (घ) श्रीहनुमान्‌जी बल, शील आदि अलौकिक आशीर्वादोंसे प्रसन्न न हुए; क्योंकि लौकिक वस्तुओंकी प्राप्तिसे जीव कृतार्थ नहीं होते; यथा— 'जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥ भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥' (ङ)— 'निर्भर प्रेम मगन···' इति। अर्थात् तन-मनकी सुध न रह गयी; यथा—निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥ ३। १०।'—मं० श्लो० २ में 'निर्भर' के अर्थ देखिये।—

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि श्रीरामकृपाकी तो हृदयमें सदा ही इच्छा है पर उसकी पूर्ति करनेवाली सीताजी ही हैं, अतः उनके मुखसे उसका आशीर्वाद मिलनेसे प्रेममें मग्न हो गये। मा० त० सु० का मत है कि श्रीहनुमान्‌जीको संदेह था कि श्रीकिशोरीजी मुझे नहीं अपनायेंगी और इसीसे मैं अभी अपनेको श्रीरघुनाथजीकी कृपाका पूर्णाधिकारी नहीं समझता था, पर अब 'करहुँ कृपा प्रभु' यह सुनकर वह सन्देह दूर हुआ। क्योंकि जबतक श्रीजनकनन्दिनीजी स्वीकार नहीं करतीं तबतक प्रभु दासको शरणमें नहीं रखते और न दास अपनेको उनकी कृपाका पूर्ण अधिकारी समझ सकता है।

टिप्पणी--२ 'बार बार नाएसि पद सीसा' इति। चरणोंमें बार-बार मस्तक नवानेका कारण पूर्ण प्रेम (एवं कृतज्ञता) है; यथा—'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥ ७। १२५।', 'देखि राम छबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि पुनि पग लागीं॥' (१। ३३६), 'प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिरु नावा॥ ३। ३४।' 'पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा॥'

३ यहाँ तन, मन, वचन तीनोंसे कृतार्थ होना दिखाया, यथा—'बार बार नाएसि पद सीसा' यह तन 'निर्भर प्रेम मगन···मुख बचन न आवा' यह मन और 'बोला बचन जोरि कर कीसा' यह वचन है।

अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥ ६॥

अर्थ—हे माता! अब मैं कृतार्थ हो गया। आपका आशीर्वाद अमोघ (निष्फल न होनेवाला) प्रसिद्ध है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'अब' अर्थात् 'बल, शील, अजर, अमर, गुणनिधि' से मैं कृतकृत्य न हुआ, अब श्रीरामजीकी कृपाका आशीर्वाद पाकर कृतकृत्य हुआ।* (ख) 'बिख्यात' का भाव कि आप आदिशक्ति हैं। आदिशक्तिका आशीर्वाद वेदोंमें विख्यात है। अमोघ है; अतएव अब अवश्य प्रभु मुझपर कृपा करेंगे। मैं किसी भी साधनसे इस कृपाको न प्राप्त कर सकता और न कृतार्थ होता पर आपकी कृपासे दोनों बातें होंगी, यथा--'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥

नोट--१ इसी प्रकार श्रीभरतजी कातर हो रहे थे कि प्रभु मेरा त्याग तो न कर देंगे, यथा--'करत कुतर्क कोटि मन माहीं। राम लषन सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥···२। २३३।' पर जब चित्रकूटमें पहुँचनेपर श्रीसीताजीको प्रणाम करनेपर उन्होंने 'सिर कर कमल परसि बैठाए। सीय असीस दीन्हि मन माहीं॥···' तब 'सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥ २। २४२।' अर्थात् श्रीसीताजीकी अनुकूलतासे उन्हें विश्वास हो गया कि श्रीरघुनाथजी अब अवश्य अपना लेंगे।—इससे श्रीसीताजीका पुरुषकारत्व सिद्ध है। वैष्णवाचार्योंका यही सिद्धान्त भी है।

२ 'अमोघ' शब्द पाँच बार आया है। उसमेंसे तीन बार इसी काण्डमें। आदिमें श्रीरामबाणको अमोघ कहा,

* यथा—'कामसे रूप, प्रताप दिनेससे, सोमसे सील, गनेससे माने। हरिश्चन्द्रसे साँचे, बड़े बिधिसे, मघवासे महीप, बिषय सुख साने॥ सुकसे मुनि, सारदसे बक्ता, चिरजीवन लोमस ते अधिकाने। ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै राजिवलोचन राम न जाने॥ क० उ० ४३।'

यथा—'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना', मध्यमें श्रीसीताजीके आशीर्वादको अमोघ कहा और अन्तमें श्रीरघुनाथजीके दर्शनको अमोघ कहा। यथा—'मोर दरस अमोघ जग माहीं। ४९। ९।' श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरामजीका दर्शन किष्किन्धामें हुआ, उसका फलस्वरूप श्रीसीताजीका आशीर्वाद मिला। इस आशीर्वादका फल आगे मिला है—'प्रभु कर पंकज कपिके सीसा।''कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥ ३३। २, ४।''नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी।''' एवमस्तु तब कहेउ भवानी॥ ३४। १-२।'

'पुनि सीतहि धीरज जिमि दीन्हा'—प्रकरण समाप्त हुआ।

'बन उजारि रावनहि प्रबोधी'—प्रकरण

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा॥ ७॥
सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी। परम सुभट रजनीचर भारी*॥ ८॥

अर्थ—हे माता! सुनिये। सुन्दर वृक्षोंमें सुन्दर फल (लगे हुए) देखकर (वा, सुन्दर फलों और वृक्षोंको देखकर) मुझे अतिशय भूख लग आयी है (अर्थात् भाँति-भाँतिके मेवोंसे लदे हुए वृक्ष देखे, इससे भूख हो आयी, न देखता तो भूखकी सुध भी न आती)॥ ७॥ (श्रीसीताजी बोलीं) हे पुत्र! परम सुभट भारी-भारी निशिचर वनकी रखवाली कर रहे हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'भूख लागि' इति। स्वयंप्रभाके स्थानमें फल खाये थे। समुद्र-तटपर पहुँचे तब अनशन किया। उस समयसे अबतक फल खानेको न मिले, अब देखा तो याद आ गयी कि हमने उस दिनसे कुछ भी भोजन नहीं किया और भूख भी पीड़ित करने लगी, यथा—'चितइ मातु लागी अति भूखा।' (ख)—फल तो सिन्धु-तटपर भी देखे थे, यथा—'नाना तरु फल फूल सुहाये।', पर वहाँ भूख न लगी, क्योंकि रामकाजमें मन लवलीन था, भूखकी सुधि भी न थी और बिना रामकार्य किये विश्राम भी नहीं चाहते थे, यथा—'रामकाज कीन्हें बिनु मोहिं कहाँ बिश्राम।', जब रामकार्य बिना किये बैठनेका भी अवकाश नहीं था, तब फल खानेका अवकाश कैसे हो सकता? वाल्मीकीयसे ज्ञात होता है कि श्रीहनुमान्‌जीने प्रतिज्ञा की थी कि जबतक श्रीजानकीजीका दर्शन न कर लूँगा, जल भी ग्रहण न करूँगा। [यथा—'त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्तते। प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा॥ ५। १। १२४।' ये वचन मैनाकसे उन्होंने कहे हैं। अर्थात् एक तो मुझे कार्य करनेकी त्वरा है, दूसरे समय भी बहुत बीत चुका है और तीसरे मैंने वानरोंसे प्रतिज्ञा भी की है कि मैं बीचमें कहीं भी विश्राम न करूँगा।] इसीसे अबतक भूखकी खबर भी न थी। अब श्रीसीताजीके दर्शन हो गये, उनको मुद्रिका दे दी गयी, प्रभुका सन्देश सुना दिया गया, श्रीरामजीने जो कहा था कि—'बहु प्रकार सीतहि समुझायहु। कहि बल बिरह'''॥ ४। २३।', वह सब कार्य सिद्ध हो गया—यह जानकर कृतकृत्य हुए तब भूखकी सुध हुई।

नोट—१ वाल्मीकीयकल्पवाली कथामें श्रीहनुमान्‌जी यहींपर श्रीसीताजीसे चूड़ामणि लेकर विदा होकर चल दिये हैं। उसके पश्चात् उनके विचार हैं कि अभी शत्रुके बलका अटकल लेना यह कार्य बाकी है। अटकल बिना सम्मुख युद्धके नहीं हो सकता। मेघनादसे भी अधिक रावणको प्रिय जो अशोकवन है उसके नाशसे ही शत्रुका सामना हो सकता है; अतः वे वनमें घुसकर उसे उजाड़ने लगे। यथा—'अल्पशेषमिदं कार्यं'''॥ २॥ परात्मसंमर्दविशेषतत्त्ववित्'''॥ ७॥ कथं नु खल्वद्य भवेत् सुखागतं प्रसह्य युद्धं मम राक्षसैः सह'''॥ ८॥ इदं विध्वंसयिष्यामि शुष्कं वनमिवानलः। अस्मिन्भग्ने ततः कोपं करिष्यति दशाननः॥ ११॥' (वाल्मी० ५। ४१)। कवितावलीमें कहा है कि अशोकतले बैठी हुई श्रीसीताजीकी दशा देखकर वह 'अशोक' नहीं, किंतु शोकसार ही जान पड़ा, इससे उन्होंने उसको वैसा ही अर्थात् शोकवन बना दिया। यथा—'सीयकी दसा बिलोकि बिटप असोकतर, तुलसी बिलोक्यो सो तिलोक सोक सारु सो। ५। १। मेघनादतें दुलारो प्रान तें पियारो बाग, अति अनुराग जिय जातुधान धीरको। तुलसी सो जानि सुनि सीयको दरस पाइ, पैठो बाटिका बजाइ बल रघुबीरको।'''॥ २॥' पुनः गीतावलीमें भी संकेत है। मुद्रिकाने जो सन्देश दिया है, उसीमें कहा है कि—'देखि दुर्ग बिसेषि जानकि जानि रिपुगति आउ। ५। ४।' अर्थात् हमारा कुशल सुनाकर धैर्य देकर फिर किलोंको देखना और शत्रुकी थाह लेकर आ जाओ।

* धारी'''कोदवराम। 'सुनहु'''रखवारी।' पायकुलक है और 'परम सुभट'''।' चण्डी है। (प्र० चं०)

इन उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें अशोकवनके विध्वंसद्वारा रिपुसैन्यमर्दन तथा रावणदर्पभंजन एवं शत्रुबल-परीक्षाकी बात कुछ पूर्वसे ही थी। मानसकल्पमें 'अतिशय भूखको' निमित्त करके उसकी पूर्ति चाही है। माता बालकको भूखा देख नहीं सकती, फिर अतिशय भूख सुन आतुर हो क्यों न तुरत आज्ञा देगी। अतएव अतिशय भूख जताते हुए आज्ञा माँगते हैं। आज्ञा होनेसे मनोरथ निर्विघ्न सफल होगा।—इस तरह यहाँ 'पर्यायोक्ति अलंकार'का द्वितीय भेद' है! फललदे वृक्षोंको देखकर भूख लग आनेमें दूसरा 'सम अलंकार' है। मा० त० सु० का मत है कि युद्धादि कार्य करनेमें आज्ञा विरुद्ध होनेके भयसे श्रीकिशोरीजीकी आज्ञा ले बागमें जाना चाहा। परंतु वाल्मीकीयमें इस कार्यको 'अविरुद्ध' कहा है और रामकार्य ही माना है। म० अ० दीपककारका मत है कि 'वृक्षों और फलोंको देखकर' का भाव ही यह है कि वृक्षोंको तोड़नेकी इच्छा हो रही है और फलोंको खानेकी। इससे वृक्षोंको तोड़ने और फलोंको खाने दोनोंकी आज्ञा माँगी गयी और मिली। अतएव उन्होंने दोनों कार्य किये—'फल खाएसि तरु तोरै लागा।'

टिप्पणी—२ 'देखि सुंदर फल···' इति। (क) 'देखि' से पाया गया कि अब सवेरा हो गया, वृक्षोंके फल दिखायी देने लगे। इस पदसे काल सूचित किया। (ख) वानरोंका स्वभाव है कि उन्हें वृक्षोंमें लगे हुए फलोंके खानेकी अधिक इच्छा रहती है, गिरे-पड़े फलोंमें उतनी रुचि नहीं होती।

नोट—२ **'सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी।···'** इति। (क) 'करहिं रखवारी' से जनाया कि उस प्रिय वनकी रक्षामें राक्षस सुभट सदा सन्नद्ध रहते थे। यथा—**'रहे तहाँ बहु भट रखवारे।'** (ख) 'परम सुभट' से युद्धमें उनकी परम निपुणता जनायी। 'भारी' से परम विकरालस्वरूप, भयंकर दर्शन जनाया।

टिप्पणी—३ शंका—श्रीसीताजीको हनुमान्‌जीने अपना रूप दिखाकर बलका विश्वास करा दिया था, तब उन्हें क्यों फिर संदेह हुआ जो उन्होंने ऐसा कहा कि 'करहिं बिपिन रखवारी···?' समाधान—यद्यपि रूप देखकर भरोसा हो गया था तथापि वात्सल्यभावसे (सुनु सुत!) छोह करके भयकी जगह जानेकी आज्ञा नहीं देतीं; यथा—**'हृदय बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति मारा॥ अति सुकुमार जुगुल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे॥** ७। ७। ७-८।' अर्थात् वात्सल्यमें विचार करती हैं कि इसको राक्षसोंका भय न प्राप्त हो जाय। जैसे माताको संदेह हुआ कि मेरे रामलक्ष्मणने रावणको कैसे मारा।

तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं* ॥ ९ ॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी बोले) हे माता! मुझे उनका भय नहीं है, यदि आप मनमें सुख मानें (अर्थात् यदि आप सुख न मानें तब सर्वभय है)॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) 'मोहि नाहीं' से जनाया कि मुझसे उनको भय होगा, उनसे मुझे नहीं हो सकता। क्योंकि **'समर भयंकर अति बल बीरा'** यह रूप श्रीसीताजीको दिखा चुके हैं और वचनोंसे कह चुके हैं कि **'प्रभुप्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल।'** (ख) **'तिन्हकर भय'** इति। 'जौं तुम्ह···' के सम्बन्धसे इसका भाव यह भी है कि उनका तो नहीं है पर एकमात्र आपका भय है कि आप दुःख न मानें क्योंकि वानर-स्वभावसे फल खानेसे वृक्ष अवश्य टूटेंगे, जिससे रखवाले अवश्य मेरे फल खानेमें विघ्न डालेंगे, तब मैं अवश्य ही उन्हें मारूँगा। आप यह मनमें न लावें कि यह फल खाने गया और उत्पात करने लगा और यह कि वनके विध्वंस होनेसे अब रावण और राक्षसियाँ और अधिक दुःख देंगी। अथवा, यह दुःख न मानें कि हमारी आज्ञा नहीं मानता, इसीका भय है।

२ **'जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं'** इति। (क) इसमें ध्वनि यह है कि यदि आप किसी प्रकारका भी दुःख मानें तो मैं अतिशय क्षुधातुर होते हुए भी फल न खाऊँगा, क्योंकि **'जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥ सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥** २। २६८।' पुनः **'सुख मानहु'** अर्थात् यदि आप हृदयसे सुख मानें और आज्ञा दें तो मैं वनमें जाऊँ और मन-माने फल खाऊँ। ☞ हनुमान्‌जी उत्तम दूत हैं, स्वामीकी प्रसन्नता जिसमें हो वही काम करना चाहते हैं। (ख) 'मन माहीं' का भाव कि मेरी खातिरीके लिये ऊपरसे न कहियेगा, अन्तःकरणसे प्रसन्न होकर यदि आप आज्ञा दें तो मैं खाऊँ।

* यह पायकुलक है। (ब्र० चं०)।

३ श्रीजानकीजीने पहले जब राक्षसोंको बड़ा कहा था, यथा—'जातुधान भट अति बलवाना', तब हनुमान्‌जीने अपना रूप दिखाकर संदेह दूर किया था; क्योंकि तब वचनमात्रसे कहनेसे संदेह दूर न होता। और यहाँ जब पुनः उन्होंने राक्षसोंको बड़ा कहा, यथा—'**परम सुभट रजनीचर भारी**', तब वचनमात्रसे उनका संदेह दूर कर दिया कि '**तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं**'; क्योंकि अब कहनेसे ही पूर्व रूपका स्मरणकर संदेह दूर हो जायगा।

दो०—देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु।
रघुपतिचरन हृदय धरि तात मधुर फल खाहु* ॥ १७ ॥

अर्थ—बुद्धि और बलमें कपिको निपुण देखकर जानकीजीने कहा कि जाओ। हे तात! रघुनाथजीके चरणोंको हृदममें धारण करके मधुर फल खाओ ॥ १७ ॥

टिप्पणी—१ (क) '**देखि बुद्धि बल निपुन**' का भाव कि जो आशीर्वाद दिया था उसको यहाँ चरितार्थ देख लिया। '**तिन्ह कर भय नाहीं**' यह बल है और '**जो तुम्ह सुख मानहु**' यह बुद्धि है। (ख) बुद्धि-बलमें निपुण देखकर तब जानेकी आज्ञा दी। क्योंकि जबतक बल और बुद्धि दोनों न हों तबतक शत्रुके समीप जाना उचित नहीं। शत्रुको पराजय करनेके लिये इन दोनोंकी आवश्यकता होती है। यथा—'**नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों** ॥ ६। ६ ॥'—दोहा १६ भी देखिये। समयोचित कर्तव्य बिना बुद्धिके नहीं जाना जा सकता। माताके वचनोंका उत्तर किस खूबीसे दिया—'**जौं तुम्ह सुख मानहु**'—कि माताने तुरत आज्ञा दे ही तो दी।—['**कहेउ जानकी जाहु**'—'जाहु' कहकर जनाया कि तुम जो कुछ भी करोगे वह उचित ही होगा और उससे मुझे सुख ही होगा। (मा० त० सु०)]

२—'**रघुपतिचरन हृदय धरि···**' इति। (क)—'रघुपति'=रघुकुलके स्वामी श्रीरघुनाथजी। वनमें भेजते हुए 'रघुपति' शब्दका प्रयोग साभिप्राय किया गया है। रघु=जीव। पति=रक्षक। पा रक्षणे। 'पा' धातु रक्षार्थक है। ये जीवमात्रके रक्षक हैं; अतः इनके चरणोंको हृदयमें धारण करनेसे ये अवश्य तुम्हारी भी रक्षा करेंगे।

नोट—१ श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण करके कोई भी कार्य करना यह भगवद्भक्तोंकी भक्तिका एक लक्षण है। तभी तो प्रभु सब प्रकारसे उनकी रक्षा करते हैं। इसी विचारसे किष्किन्धासे प्रस्थानके समयसे लेकर यहाँतक बारम्बार प्रभुका हृदयमें धारण करना दिखाया गया है। यथा—'**चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना**। ४। २३।', '**चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा**। ५। १।', '**लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी**। ५। ४।', '**पैठा नगर सुमिरि भगवाना**। ५। ५।' तथा यहाँ '**रघुपति चरन हृदय धरि**।' प्रत्येक बार पृथक्-पृथक् नाम दिये गये हैं—कृपानिधान, रघुनाथ, नरहरि, भगवान् और रघुपति। ये सब साभिप्राय हैं। इनके भाव दिये जा चुके हैं। चरणोंका धारण करना अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—'**रामचरन पंकज उर धरहू**। ६। १।' (जाम्बवान्‌ने सेतुबन्धन-समय कहा), '**बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चले···**॥ ६। १८ ॥', '**रामचरन पंकज उर धरहू। लंका अचलु राजु तुम्ह करहू** ॥ ५। २३ ॥', '**चरन नलिन उर धरि गृह आवा**। ७। २०।'—इस तरह यह हम सबोंके लिये उपदेश है। (ग) ☞ जहाँ रारकी सम्भावना होती है वहाँ 'चरण' के साथ 'पंकज' आदि कोमलतासूचक विशेषण नहीं दिये जाते। अतः यहाँ भी केवल 'चरन' कहा।

२—'**तात मधुर फल खाहु**' इति। (क) हनुमान्‌जीने 'मातु' सम्बोधनकर अतिशय भूखा होना कहा था, उसके सम्बन्धसे 'तात' सम्बोधन बहुत उपयुक्त हुआ। यह प्यार-सूचक सम्बोधन है। (ख) '**मधुर फल खाहु**।' माताको सदा यही इच्छा रहती है कि पुत्रको मधुर-मधुर पदार्थ खिलावे; यथा—'**तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू** ॥ २। ५३ ॥' अथवा, वानर मधुर ही फल खाते हैं, यथा—'**मज्जन कीन्ह मधुर फल खाए**। ४। २५।', '**खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं**। ६। ५।'; अतएव '**मधुर फल खाहु**' कहा। (पं० रा० कु०)।

चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा। फल खाएसि तरु तोरै लागा† ॥ १ ॥

* दोहा दोहरा मिश्रित है—(प्र० चं०)।
† 'चलेउ···।' द्रुतपा। 'फल खाएसि···' से ८ तक पायकुलक।

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी श्रीसीताजीको) मस्तक नवा (प्रणाम) कर चले और बागमें प्रवेश किया, फल खाये और वृक्षोंको तोड़ने लगे ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'नाइ सिरु' इति । श्रीरघुपतिचरणोंको हृदयमें धारण किया और श्रीजानकीजीके चरणोंमें सिर नवाया । इस प्रकार भीतर-बाहर दोनोंसे रक्षित हुए, क्योंकि यहाँ युद्धका मङ्गलाचरण है । (ख) 'चलेउ' अर्थात् धीरे-धीरे गये । कूदते-फाँदते नहीं; जिसमें अभी कोई जाने नहीं । पहले पेटभर फल खा लें तब लोग जानें, नहीं तो फल खाते ही युद्ध होने लगेगा, खा न सकेंगे । (ग) 'पैठेउ बागा । फल खाएसि', से जनाया कि बागमें जाते भी किसीने न देखा और न फल खाते ही जाना । जब वृक्ष तोड़ने लगे तब रक्षकोंने जाना ।

मा० त० सु०—'पैठेउ' अर्थात् कूदकर मध्यमें प्रवेश किया । पुनः, पहले चुपचाप पैठे थे, अब श्रीरघुनाथजीका जयजयकार करते हुए पैठे, यथा—'पैठो बाटिका बजाइ बल रघुबीर को'—(क) । पुनः, पहिले महारानीजीके दर्शनार्थ पैठे थे, अब राक्षस-बल-परीक्षार्थ और रावण मानभंजनार्थ पैठे ।

टिप्पणी—२ शंका—बागमें तो हनुमान्‌जी श्रीसीताजीके समीप बैठे ही थे, अब यह कौन बाग है जिसमें पैठना कहते हैं ? समाधान—अभीतक हनुमान्‌जी अशोकके उपवनमें थे जहाँ श्रीसीताजी बैठी हुई थीं । यथा—'तहँ असोक उपबन जहँ रहई । सीता बैठि सोच रत अहई ॥ ४ । २८ ॥' और अब उन्होंने बागमें प्रवेश किया जहाँ फलोंसे लदे हुए वृक्ष थे; क्योंकि इन्हें प्रथम फल ही तो खाना है । पूर्व 'बन असोक सीता रह जहवाँ । ५ । ८ । ६ ।' में बताया गया है कि इसमें चार भाग हैं, पर चारोंमें 'अशोक' ही मुख्य है; इसीसे अशोकवाटिका, अशोकउपवन, अशोकबाग और अशोकवन सब एक ही कहलाते हैं । यह बड़ा ही अनुपम अद्भुत बाग है; इसकी जोड़का दूसरा नहीं है । इसके भीतर पृथक्-पृथक् वन, बाग, उपवन और वाटिका चारों ही हैं ।

३ 'तरु तोरै लागा' इति । (क) यह वानरोंका स्वभाव है, यथा—'कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा । २२ । ३ ।' अथवा, (ख) श्रीसीताजीको अशोक वृक्षके तले बहुत शोकमें देखा था, इसलिये अशोक विटप उखाड़े, यथा—'सीय की दसा बिलोकि बिटप असोक तर तुलसी बिलोक्यो तिलोक सोकसार सो । क० ५ । १ ।'; अथवा, (ग) रावणने श्रीसीताजीको बड़ा दुःख दिया । अतएव अशोकवाटिका उजाड़ी । जिसमें रावणको सुनकर बहुत दुःख हो । यह बाग रावणको प्राणप्रिय था; यथा—'मेघनाद तें दुलारो प्रान पियारो बाग अति अनुराग जिय जातुधान धीरको । क० ५।२।'; अथवा; (घ) ये पवनपुत्र हैं, इन्होंने अपने पिता पवनदेवको बागकी रक्षामें अति कष्ट देखा, यथा—'समय पुराने पात परत डरत बात पालत लालत रति मार को बिहारु सो । क० ५ । १ ।' अथवा, (ङ) श्रीहनुमान्‌जीने सोचा कि जिसका फल खाया, उसको कुछ फल देकर उसका उपकार करना उचित है । अतएव उनको चौरासी योनिसे छुटकारा देनेके लिये उनको उखाड़ा । अथवा, (च)—इन्होंने विचारा कि रावणके पास चलकर कुछ बातचीत करनी चाहिये । सामसे यह कार्य न होगा, क्योंकि राक्षस प्रीति नहीं जानते । दामसे भी काम न चलेगा क्योंकि उनको द्रव्यकी कमी कहाँ । भेदसे भी काम न होगा क्योंकि बलवान् हैं । बलवान्‌से भेद उपायसे काम नहीं चल सकता; यथा—'भेद लेन पठवा दससीसा । तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥ जग महँ सखा निसाचर जेते । लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते ॥'? रहा भय वा दण्ड । इससे काम चलेगा । हम जब कोई भारी कसूर (अपराध) करें तब सब उसकी खबर देंगे, हमको वहाँ बाँधकर ले चलेंगे । अतएव 'तरु तोरै लागा ।'—विशेष १७ (७), १८ (२-४) देखिये ।

रहे तहाँ बहु भट रखवारे । कछु मारे* कछु जाइ पुकारे ॥ २ ॥
नाथ एक आवा कपि भारी । तेहि असोकबाटिका उजारी ॥ ३ ॥
खाएसि फल अरु बिटप उपारे । रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे ॥ ४ ॥

अर्थ—वहाँ बहुत योद्धा रक्षक थे । कुछको तो उन्होंने मार डाला और कुछने (रावणसे) जाकर पुकार की ॥ २ ॥ 'हे नाथ ! एक भारी वानर आया है । उसने अशोकवाटिका उजाड़ डाली ॥ ३ ॥ फल खाये और वृक्ष उखाड़े और रक्षकोंको मल-मलकर पृथ्वीपर डाल दिये ॥ ४ ॥

* मारेसि—१७०४, गी० प्रे० ।

टिप्पणी—१ (क) 'भट रखवारे' का भाव कि उन्होंने बागकी रक्षाके लिये युद्ध किया । रक्षक थे, अतः रक्षा की । यह बाग रावणको प्राणप्रिय था और यहीं श्रीजानकीजी भी हैं; अतएव यहाँ 'बहुत भट' रक्षाके लिये थे, जिसमें कोई उनके समीप जा न सके । (ख) भट तो बहुत-से थे, उनमेंसे कुछ मारे गये और 'कछु जाइ पुकारे' तो बाकी सब क्या हुए ? जो बाकी रहे उनमेंसे कुछ या सब हनुमान्‌जीके सामने हैं । इसी तरह जब अक्षयकुमार अपार सुभटोंको लेकर आया तब उनमेंसे कुछ मारे, कुछ मसले गये और कुछ धूलिमें मिला दिये गये । कुछका ही फिर रावणके पास जाना कहा है । यथा—'चला संग लै सुभट अपारा ।'''कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि । कछु पुनि जाइ पुकारे''' ॥ १८ ॥' [इससे जान पड़ता है कि जो सामने आ गये वे मार डाले गये और जो प्रधान-प्रधान योद्धाओंको मारे गये देख डरकर प्राण बचाकर भाग गये उनमेंसे कुछने रावणको जाकर खबर दी । सम्भव है कि मैदानमें कुछ योद्धा अभी रहे हों, जब रावणको सूचना दी गयी । और यह भी हो सकता है कि अब वहाँ कोई नहीं रह गये । वाल्मीकिजीके मतसे तो अशोकवाटिकामें केवल राक्षसियाँ थीं और उन्होंने रावणको उसके विध्वंसकी खबर दी तब रावणने अस्सी हजार 'किंकर' नामक योद्धा भेजे थे । हनुमान्‌जीने सबको मार डाला, केवल कुछ भागकर बचे थे । उन्होंने जाकर खबर दी । वहाँ कोई न रह गया तब हनुमान्‌जी आगे फिर भी युद्धकी इच्छासे तोरणपर जा बैठे थे । यथा—'युद्धाकांक्षी पुनर्वीरस्तोरणं समुपाश्रितः ॥ ५ । ४२ । ४२ ।' ऐसा ही यहाँ भी हो सकता है । यह भी हो सकता है कि प्रधानोंने ही कुछको समाचार देनेके लिये भेज दिया हो जब उन्होंने देखा हो कि हमलोग वानरसे पार न पायँगे । पुनः 'कछु मारेसि कछु''' का भाव कि वहाँ थे तो बहुत भट परंतु श्रीहनुमान्‌जीकी दृष्टिमें वे कुछ ही थे ।] (ग) कुछको कैसे मारा ?—यह आगे खबर देनेवाले स्वयं कहते हैं—'रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे ।'

२—'नाथ एक आवा कपि भारी' इति । (क) [नाथ' का एक अर्थ 'स्वामिन् !' तो है ही तथापि यह 'उपताप' अर्थ भी सूचित करता है । यथा पाणिनि—'नाथनाधृ याच्ञोपतापैश्वर्येषु' । भाव कि बड़े शोककी बात है । (मा० त० सु०) । पुनः, भाव कि उसने हम सबोंको अनाथकी तरह मारा है । 'एक आवा' का भाव कि अकेला ही है, उस अकेलेने ही समस्त रक्षकोंको मार डाला, उसे ऐसा वैसा साधारण न समझिये । (ख) 'कपि भारी' इति । इससे वानरका विकराल पर्वताकार रूप और अमित पराक्रम-बलशील एवं तेजस्वी होना जनाया । यथा—'गिरिसङ्काशमतिकायं महाबलं' 'विरूपं वानरं भीमं' (वाल्मी० ५ । ४२ । ५, १२) इससे जनाया कि बागमें प्रवेश करनेपर श्रीहनुमान्‌जीने विशाल रूप धारण कर लिया था; क्योंकि हजारों वृक्षोंके फल खाना, वृक्षोंको उखाड़ना और युद्ध करना छोटे वानरका काम नहीं है, यह बड़े ही रूपसे सम्भव है । आगे 'भारी' का स्वरूप दिखाते हैं कि—'तेहि'''' । (ख) 'असोक बाटिका उजारी' इति । रावणके बाग-वाटिकाएँ आदि बहुत हैं अतएव जिसको उजाड़ा उसका नाम बताया जिसमें उसे फिर प्रश्न न करना पड़े । ['अशोकवाटिका' कहकर यह भी जनाया कि जो नन्दनकाननसे भी उत्तम था; इन्द्र, वरुण एवं ब्रह्माजीके भी वनोंसे अधिक सुहावना था, जो रावणका प्राणप्रिय था, उसीको उजाड़ डाला; यथा—'बासव बरुन बिधि बन तें सुहावनो, दसाननको कानन बसंतको सिंगारु सो । समय पुराने पात परत डरत बात, पालत लालत रति मारको बिहारु सो । देखे बर बापिका तड़ाग बागको बनाव, रागबस भो बिरागी पवनकुमार सो ॥ क० ५ । १ ।'; ऐसे अशोक वनको उजाड़ डाला । नाम इससे प्रथम ही कह दिया कि जिसमें रावणको अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हो जाय और वह उद्दण्ड वानरको दण्ड देनेके लिये तुरत भारी भट भेजे । पुनः 'अशोकावटिका उजारी' में ध्वनि यह भी है कि उसने 'अशोक' उजाड़ डाला और आपके लिये 'शोकवाटिका' लगा दी, शोक बसा दिया । यथा—'सा विह्वलाशोकलताप्रताना वनस्थली शोकलताप्रताना । जाता दशास्यप्रमदावनस्य कपेर्बलाद्धि प्रमदावनस्य ॥ वाल्मी० ५ । ४१ । २० ।' अर्थात् अशोककी विशाल लताओंके मुरझानेसे वह वनस्थली मदयुक्त रावणकी स्त्रियोंके लिये शोककी विस्तृत लता बन गयी ।

टिप्पणी—३ 'खाएसि फल अरु बिटप उपारे ।''' ' इति । (क) यह 'कपि भारी' का स्वरूप दिखाते हैं कि जो हजारों वानरोंके खानेसे भी न चुक सकते थे, वह सब फल इस एकने ही खा डाले; सभी वृक्ष उखाड़ डाले और रक्षकोंको हाथसे ही मसल-मसलकर पृथ्वीपर डाल दिया । युद्धके लिये हाथमें एक वृक्ष भी न लिया । (ख) 'महि डारे' कहकर जनाया कि इन भटोंको उसने कुछ भी न समझा तभी तो उनको अपने अन्य अंगोंसे मर्दन करने योग्य न जानकर हाथसे ही मसलकर डाल दिया । आगे रावणने जब महाभट भेजे तब उनके मर्दन करनेमें अङ्गोंसे काम लिया है; यथा—'रहे महाभट

ताके संगा। गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा ॥ १९ । ६ ।' (ग) 'मर्दि-मर्दि' का भाव कि बड़ा फुर्तीला है, जरा-सी देरमें इतने रक्षकोंको मसल डाला, किंचित् भी परिश्रम न हुआ, रक्षक पास आया नहीं कि मार डाला गया।

शंका—हनुमान्‌जीने तो वृक्षोंको तोड़ा और राक्षसोंने कहा कि 'बिटप उपारे' अर्थात् उखाड़े; यह क्यों? समाधान—पहले हनुमान्‌जीको क्रोध न था, वानर-स्वभावसे वृक्ष तोड़ने लगे। जब रक्षक लड़नेको सामने आये तब वे क्रोधसे वृक्षोंको उखाड़ने लगे। कहनेवालेने उखाड़ते देखा, अतः उखाड़ना कहा।

शंका—वनका उजाड़ना तो फल खानेसे ही सिद्ध हो गया, यथा—'जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज', तब फल खाना और बिटप उखाड़ना दोनों क्यों कहा? समाधान—दोनों न कहता तो समझा जाता कि केवल फल खाये हैं, वृक्ष सब हैं। अतः दोनोंको कहा।

प० प० प्र०—'नाथ! एक आवा!! कपि। भारी!!!' ऐसा पदच्छेद करनेसे यह भाव स्पष्ट हो जाता है कि समाचार देनेवाले भयग्रस्त हैं, हाँफते-हाँफते आये हैं, ऊर्ध्व साँस ले-लेकर बोलते हैं। मानस नाट्य काव्य है। हर एक उद्गारके पीछे रावणने कुछ टेढ़े वचन सुनाये होंगे जिनकी कल्पना रावणके स्वभावानुसार पाठक कर सकते हैं।

नोट—१ अशोकवाटिका क्यों उजाड़ी गयी इसका कारण वाल्मी० स० ४१ में यों लिखा है कि हनुमान्‌जी श्रीसीताजीके पाससे चलकर विचार करने लगे कि मैंने श्रीसीताजीका दर्शन पाया, संदेश सुनाया, धीरज दिया, यह सब कार्य हुआ, अब थोड़ा-सा बाकी रहा अर्थात् शत्रुके बलका अटकल लेना। इस कार्यमें साम, दाम, भेदसे काम न चलेगा। दण्ड ही उचित उपाय जान पड़ता है। मेरे हाथों वीर जब मारे जायँगे तब चाहे शत्रु नर्म पड़े। प्रधान कार्य करके जो सेवक उसके अविरोधी और भी कार्य करता है वही यथार्थ कार्यकर्त्ता है। यदि मैं यहींसे शत्रुविनाशके सम्बन्धमें पूरी जानकारी और उपाय निश्चित करके जाऊँ तो स्वामीकी आज्ञाका यथार्थ पालन होगा। तभी मेरा आना सफल होगा। राक्षसोंसे मेरा युद्ध कैसे हो! रावण अपने बलके साथ मेरे बलको कैसे तोल सकेगा! युद्धसे रावण, उसके मन्त्री और उसकी सेनाके बल, बुद्धि और आन्तरिक अभिप्राय सबका पता लग जायगा। यह वन रावणको प्राणप्रिय है, इसके नष्ट-भ्रष्ट होनेपर वह कुपित होकर सेना लेकर आवेगा तब मैं सबको मारकर किष्किन्धा लौट जाऊँगा। यह सोचकर पवनके समान कुपित होकर पवन-सुत वनको विनष्ट करने लगे। १७ (७-८) भी देखिये।

सुनि रावन पठए भट नाना। तिन्हहि देखि गर्जेउ हनुमाना ॥ ५ ॥
सब रजनीचर कपि संघारे। गए पुकारत कछु अधमारे ॥ ६ ॥

अर्थ—यह सुनकर रावणने अनेक योद्धा भेजे। उन्हें देखकर श्रीहनुमान्‌जी गर्जे ॥ ५ ॥ कपिने सब निशिचरोंको मार डाला, कुछ जो अधमरे थे वे पुकार करते हुए गये ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) रक्षकोंने कहा था कि 'भारी' कपि है, इसीसे 'नाना भट' भेजे, नहीं तो साधारण जानकर कोई साधारण वीर भेजा जाता। 'भट नाना' इति।—['नाना' शब्दसे बहुत और अनेक प्रकारके (अर्थात् विविध प्रकारकी युद्ध-कलाओंमें कुशल) दोनों भाव सूचित किये। 'भट नाना'—पदसे यहाँ वाल्मीकीय सुन्दरकाण्डके पाँच सर्ग (४२ से ४६ तक) के भटोंको कह दिया। अस्सी हजार किंकरनामक शूरवीर, चैत्यप्रासादके सैकड़ों रक्षक, प्रहस्तपुत्र, जम्बुमाली, अत्यन्त पराक्रमी और बलवान् सप्त मन्त्रिपुत्र, विरूपाक्ष, यूपाक्ष, दुर्धर, प्रघस और भासकर्ण नामक पाँच सेनापति और सेना जो रावणने भेजी—यही सब 'नाना भट' हैं।] (ख)—'तिन्हहि देखि' इति। [देखना कहकर इनकी सावधानता दर्शित की। सर्वत्र दृष्टि है। इससे यह भी जनाया कि वे किसी बहुत ऊँचे स्थलपर (जैसे कि बागका फाटक) बैठे हुए इनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। यथा—'युयुत्सुरेको बहुभिर्महाबलैः श्रिया ज्वलंस्तोरणमास्थितः कपिः ॥ ५ । ४१ । २१ ।', 'युद्धाकांक्षी पुनर्वीरस्तोरणं समुपाश्रितः ॥ ५ । ४२ । ४२ ।,' 'युयुत्सुरन्यैः पुनरेव राक्षसैस्तदेव वीरोऽभिजगाम तोरणम् ॥' वाल्मी० ५ । ४५ । १७ ।] (ग) 'देखि गर्जेउ हनुमाना' इति। 'गर्जेउ' से भटोंको देखकर प्रसन्न होना और युद्धके लिये उत्साही जनाया। [क्या गर्जन करते थे, इसका उल्लेख वल्मीकीयमें है, यथा—(सुन्दरकाण्ड सर्ग ४२) 'जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ ३३ ॥ दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः। हनूमान् शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥ ३४ ॥ न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्। शिलाभिश्च

प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः ॥ ३५ ॥ अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्। समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम् ॥ ३६ ॥' अर्थात् अत्यन्त बलवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जय, महाबलवान् लक्ष्मणजीकी जय, श्रीराघवद्वारा पालित राजा सुग्रीवजीकी जय। जिनके लिये कोई भी कार्य कठिन नहीं है उन कोसलपति श्रीरामजीका मैं दास हूँ। मैं शत्रुसैन्यका संहार करनेवाला पवनपुत्र हनुमान् हूँ। जब मैं शिलाओं और वृक्षोंसे बार-बार प्रहार करने लगता हूँ तब सहस्रों रावण भी मेरा सामना नहीं कर सकते। मैं समस्त राक्षसोंके सामने लंकापुरीको ध्वंसकर और श्रीमैथिलीजीको प्रणाम कर अपना कार्य सिद्धकर चला जाऊँगा।—यह घोषणा उन्होंने प्रत्येक बार भट, सुभट और महाभटोंके आनेपर की है। वही घोषणा यहाँ जान पड़ती है। इस गर्जनका प्रभाव यह पड़ता था कि कितने ही राक्षस भयके मारे त्रस्त हो जाते थे। यथा—'तस्य सन्नादशब्देन तेऽभवन्भयशङ्किताः। वाल्मी० ५। ४२। ३७।' 'ननाद भीमनिर्ह्रादो रक्षसां जनयन्भयम् ॥ ४३। १२।' एक बारके गर्जनमें यह भी घोषणा की थी कि अमित बलशाली वानरोंकी सेना लेकर यहाँ सुग्रीवजी आयेंगे तब न तुम बचोगे, न लंका और न रावण ही। यह श्रीरामजीसे वैर बाँधनेका फल है।]

२ (क)—'संघारे' इति। यहाँ न तो मर्दन करना ही कहा गया और न वृक्षोंसे ही मारना कहा। तात्पर्य यह कि निशिचरको निशिचरसे, हाथीको हाथीसे, घोड़ेको घोड़ेसे, रथको रथसे मारकर सबका संहार किया; यथा—'हाथिन सों हाथी मारे घोरे घोरेसों सँघारे रथनिसों रथ बिदरनि बलवानकी। क० ६। ४०।' तथा 'बलं तदवशेषं च नाशयामास वानरः। अश्वैरश्वान् गजैर्नागान्योधैर्योधान्रथै रथान्॥ वाल्मी० ५। ४६। ३७।'—वाल्मीकीय तथा कवितावलीवाले भावको सूचित करनेके लिये यहाँ 'संघारे' पद दिया। (ख)—'गए पुकारत…' इति। 'पुकारत' अर्थात् दुःख और शोकके वचन, हा-हा इत्यादि, उच्चारण करते हुए शरीरसे पीड़ित फर्याद करते हुए चिल्लाते हुए गये; यथा—'तात मातु हा सुनिय पुकारा। एहि अवसर को हमहिं उबारा ॥ ५। २६।' गुहार मारते चले जाते हैं; क्योंकि किसीका सिर फट गया है, रक्त बह रहा है, किसीका हाथ-पैर टूट गया है, लँगड़ाते चल रहा है, कोई पँजरी पकड़े हुए चला जाता है। सब अधमरे हैं।

३ (क) पहली लड़ाईमें 'जाइ पुकारे' पद दिया। यथा—'कछु मारे कछु जाइ पुकारे।' आगे अक्षयकुमारके युद्धमें जो मरनेसे बचे उनका भी जा पुकारना कहा है, यथा—'कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बलभूरि।' पर इस युद्धमें यहींसे पुकार करते जाना लिखा—'गए पुकारत कछु'; क्योंकि ये अधमरे हैं। (ख) प्रथम बार जिन्होंने रावणसे जाकर पुकार की, उन्होंने पूरा ब्योरा कह सुनाया कि एक वानर आया है, वह बहुत भारी है इत्यादि। अब इन सब बातोंका कोई प्रयोजन न रहा, इससे अब पुकारनामात्र कहते हैं।

शंका—जब प्रथम यह कह दिया कि 'सब रजनीचर कपि संघारे', तब कुछ अधमरे कहाँसे आ गये जो पुकारते हुए गये? समाधान—जो मुख्य-मुख्य थे, जैसे कि किंकर, जम्बुमाली, सप्त मन्त्रीपुत्र इत्यादि, वे सब मारे गये। फौजमेंसे कुछको पुकार करनेके लिये, रावणको समाचार देनेके लिये, सम्भवतः अधमरा छोड़ दिया गया (ये भी तो अब मरे ही तुल्य हैं; अतः 'सब संघारे' कहा। अथवा, यह लेखशैली है, मुहावरा है। इने-गिने ही बचे इसीसे सबका मारा जाना कहा।)

श्रीलमगोड़ाजी—प्रत्येक अवसरपर तुलसीदासजीके फिल्मकलाके संकेत और चित्रण अति उत्तम हैं; जैसे—'रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं। धरु धरु मारु मारु गोहरावहिं ॥'

पुनि पठएउ तेहिं अच्छ* कुमारा। चला संग लै सुभट अपारा ॥ ७ ॥
आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा ॥ ८ ॥

अर्थ—फिर उसने (रावणने) अक्षयकुमारको भेजा। वह अगणित सुन्दर योद्धाओंको साथ लेकर चला ॥ ७ ॥ इसे आता देख एक वृक्षको पकड़ (हाथोंमें ले) कर उन्होंने उसको डाँटा-डपटा और तड़पे। और उसे मारकर महाध्वनिसे गर्जन किया ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'पुनि पठएउ तेहि अच्छ…' इति। पहले मन्त्रियोंके पुत्रोंको भेजा था। मन्त्रीके ऊपर राजा है। अतएव अबकी बार अपने पुत्रको भेजा। पहले 'नाना भट' भेजे गये थे, जो मारे गये। अतः अब 'सुभट' साथ लेकर गया और वह भी अपार। (ख)—'अच्छकुमार' इति। यह रावणका लड़का है। 'कुमार' से जनाया कि छोटी अवस्थाका है। लघुवयस्क होनेसे उसे अपने बल-पराक्रमका बड़ा गर्व था। पराक्रम और उत्साहसे इसका मन बढ़ा-चढ़ा

* अक्ष—भा० दा०।

था। युद्धके लिये सदा उद्यत रहता था और उद्धत था। यथा—'समरोद्धतोन्मुखं कुमारमक्षं। वाल्मी० ४७। १।' 'पराक्रमोत्साहविवृद्धमानसः।' अर्थात् जिसका पराक्रम और उत्साह कभी क्षीण न होता था। (ग)—'संग लै' अर्थात् अपनी रक्षाके लिये इनको साथ लिया। भारी सेनापति है, अतः उसकी सेना भी भारी है।

२—'बिटप गहि तर्जा' इति।—यहाँ वृक्षको उखाड़ना न कहा, अनेक वृक्ष उखड़े पड़े हैं, उन्हींमेंसे एकको हाथमें लेकर उसका वध किया।

☞ अक्षयकुमार वीर है। वीरको देखकर गर्जना उत्साह सूचित करता है, अतः गर्जे। यथा—'सुनि रावन पठए भट नाना। तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना॥' पहले वीरको देखकर गर्जे, फिर उसे मारकर भी गर्जना कहा। तात्पर्य कि यह भारी वीर था इसीसे इसे मार डालनेपर अधिक उत्साह हुआ; अतएव अन्तमें पुनः जोरसे गर्जे। यह विजयका गर्जन है, यथा—'भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा॥ ४। ८। २।' इसके सामने और सब सुभट सामान्य ही थे, इससे उनके मारनेसे उत्साह न हुआ।

३—महाध्वनिसे गर्जन करनेमें भाव यह है कि जितने बलसे लड़नेका विचार था उतना बल न लगाना पड़ा और वह मर गया। वह बल मनमें भरा हुआ था; अतएव महाध्वनि करके उत्साहको पूरा किया। यथा—'जयति राम जय लछिमन जय कपीस सुग्रीव। गर्जहिं सिंहनाद कपि भालु महाबल सींव॥ ६। ३८।' पुनः इससे विजयघोषणा जनायी और ललकार भी की और जो इससे भी बली हों उनको भेज।—विशेष चौ० ५ देखिये।

दो०—कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि।
कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि॥ १८॥*

अर्थ—(उन्होंने) कुछको तो मारा और कुछको मसल डाला, कुछको पकड़कर धूलमें मिला दिया और कुछने पुनः जाकर पुकार की कि 'हे प्रभो! वानर बलका समूह अर्थात् परम बलवान् है'॥ १८॥

टिप्पणी—१ अक्षयकुमार अपार सेना लेकर आया, उसको 'कुछ' लिखनेका भाव यह कि हनुमान्जीको सब राक्षस कुछ ही जान पड़ते हैं। सभीको इन्होंने जीत लिया। यह सिद्धान्त वर्णन कर दिया। राक्षसोंका पराक्रम विस्तारके भयसे वर्णन न किया।

२ (क) अबतक तीन बार युद्ध हुआ। प्रथम युद्धमें मर्दन करना कहा, यथा—'रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे।' दूसरेमें संहार, यथा—'सब रजनीचर कपि संघारे।' कहा और तीसरेमें सेना अपार थी इससे उसमें कई क्रियाएँ कीं-मारा, मर्दन किया, धूलमें मिलाया।

३ (क) तीनों क्रियाओंके भाव—जब राजकुमार मर गया तब सेना अनाथ हो गयी। जो उत्तम वीर थे वे सम्मुख आकर लड़े, अतएव उनको मारा। जो मध्यम श्रेणीके अर्थात् सामान्य वीर थे उनको मर्दन कर डाला और जो निकृष्ट थे उन्हें मींज (मलमसल) कर धूलमें मिला दिया। यथा—'कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा। कोटिन्ह मींजि मिलाएसि गर्दा॥ ६। ६६।' (कुम्भकर्ण)। (ख) 'मिलाएसि गर्दा' का भाव कि प्रथम पकड़कर हाथसे मींजा। जब हाथ रुधिरसे भर गया तब अंजलिभर गर्द लेकर हाथ साफ किये तब मर्दे हुए गर्दमें मिल गये।

मा० त० सु०—जिन्होंने दूरसे बाणादिका प्रहार किया उन्हें दौड़-उछल-कूद धर-पकड़कर मारा। जो शरीरमें लिपट गये उनको शरीरहीमें मर्दन कर डाला। और जो दौड़ने-उछलने आदिमें पैरों तले पड़े वे धूलमें मिल गये। जो भाग बचे उन्होंने जा पुकारा।

प्र०—वृक्षादिसे मल डाला, एकसे एकको टकरा दिया और लातसे धूलमें मिला दिया।

टिप्पणी—४ 'कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि।' (क) 'मर्कट बल भूरि'। जब भारी सरदार और उनकी अपार सेनाको मारा तब कपिका बल जाकर कहा। तात्पर्य कि अब उसके सामनेके लिये उसीको भेजिये जिसके 'भूरि बल' हो। (ख)—'प्रभु' का भाव कि समर्थ आप भी रहे पर उसके बल बहुत है। वा, आप भी समर्थ हैं,

* म० चं०—दोहरा है।

उसकी जोड़का बलवान् भट भेज सकते हैं। हमलोग उसका मुकाबला नहीं कर सकते, व्यर्थ ही उसके हाथों सेनाका नाश न कराइये। जो अत्यन्त बलवान् हो उसे ही भेजिये। (ग) 'मर्कट' इति। अभीतक समाचार देनेवालोंने 'कपि' शब्दका प्रयोग किया था, यथा—'नाथ एक आवा कपि भारी। ३।', 'सब रजनीचर कपि संघारे। ६।'; पर इस बार 'मर्कट' कहा। यह भी साभिप्राय है। इससे जनाते हैं कि वह मारता भी है और काटता भी है।

प० प० प्र०—'प्रभु' शब्दमें व्यंग यह है कि आपका प्रभुत्व तो अब समाप्त हो गया; आपसे भी भूरि बल मर्कट अब 'प्रभु' हो गया।

टिप्पणी—☞ इस अशोकवनके युद्धमें चार आवृत्तियाँ हैं—

१—पहली लड़ाईमें नहीं गर्जे। दूसरीमें गर्जे। तीसरीमें महाध्वनिसे गर्जे। चौथीमें कटकटाकर गर्जे। यथा क्रमसे—'रहे तहाँ बहु भट'। इनसे विशेष 'नाना भट' हैं; इनको देखकर गर्जे।'···भट नाना। तिन्हहिं देखि गर्जेउ।' इनसे विशेष 'सुभट' हैं; इन्हें देखकर महाध्वनिसे गर्जे; यथा—'आवत देखि···ताहि निपाति महाधुनि गर्जा'। आगे इनसे भी विशेष दारुण भट आया; उसे देखकर कटकटाकर गर्जे; यथा—'कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा···'। इति प्रथमावृत्ति।

२ (क) 'भट, सुभट, महाभट, दारुण भट। क्रमसे उदाहरण; यथा—(१) 'रहे तहाँ बहु भट रखवारे' और 'सुनि रावन पठये भट नाना'। (२) 'पुनि पठयेउ तेहिं अच्छकुमारा। चला संग लै सुभट अपारा॥' (३) 'रहे महाभट ताके संगा'। और, (४) 'कपि देखा दारुन भट आवा'। (ख) (दोहा)—'भट अरु गर्जब तरुग्रहण युद्ध अक्षरन जानु। मेघनाद कपि सम समर चार आवृत्ति बखान॥' उत्तरोत्तर विशेष कहा। इति द्वितीयावृत्ति।

३ भटके मारनेमें वृक्ष न लिया, यथा—'रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारे···'। पुनः यथा—'सुनि रावन पठये भट नाना।···सब रजनीचर कपि संघारे' (१)। सुभटोंको वृक्ष लेकर मारा, यथा—'चला संग लै सुभट···आवत देखि बिटप गहि तर्जा।'—(२)। दारुण भटको अति विशाल तरुसे मारा। यथा—'अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ···'। इस प्रकारसे उत्तरोत्तर विशेष कहा। इति तृतीयावृत्ति।

४ रक्षक पाँच अक्षरोंमें मारे गये। अर्थात् इनके मारनेमें पाँच अक्षरोंका प्रयोग हुआ। यथा—'कछु मारेसि' (१) दूसरे युद्धके वीर १२ अक्षरोंमें मारे गये। यथा—'सब रजनीचर कपि संघारे'।—(२) तीसरी लड़ाईके वीर ३२ अक्षरोंमें मारे गये; यथा—'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥ कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि—(३) चौथी लड़ाईमें मेघनाद और हनुमान्जीसे बराबरका युद्ध हुआ। दोनोंको क्रोध हुआ, दोनों गजराजोंके समान लड़े, दोनोंने परस्पर एक-दूसरेको मारकर मूर्च्छित किया। यथा—

बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा	१	कटकटाइ गर्जा अरु धावा
भिरे जुगल मानहु गजराजा।	२	(जुगलमें दोनों आ गये।)
ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहि मारा	३	मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई
ताहि एक छन मुरुछा आई	४	तेहि देखा कपि मुर्छित भयऊ

इति चतुर्थावृत्ति। इस प्रकारसे भी उत्तरोत्तर विशेष कहा।

नोट—इन आवृत्तियोंका बोध निम्न नकशेसे शीघ्र होगा—

१ भट—'रहे तहाँ बहु भट रखवारे'	इनके युद्धमें गर्जे नहीं	बिना वृक्ष लिये 'कछु मारेसि'	'कछु मारेसि' में पाँच अक्षर हैं
२ नाना भट—'सुनि रावन पठये भट नाना'	यहाँ गर्जे। 'तिन्हहिं देखि गर्जेउ'	बिना वृक्ष लिये 'सब संहारे'	'सब रजनीचर कपि संहारे' में १२ अक्षर हैं
३ सुभट—पुनि पठयेउ तेहि अच्छकुमारा। चला संग लै सुभट···'	आवत देखि बिटप गहि तर्जा ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥	यहाँ 'बिटप गहि तर्जा' वृक्ष लेकर लड़े	३ { तीसरेके मारनेमें ३२ अक्षर आये हैं—'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा। कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि'
४ महाभट और दारुनभट—'रहे महाभट ताके संगा'	यहाँ 'कटकटाइ गर्जा अरु धावा'	यहाँ 'अति बिसाल तरु	

'कपि देखा दारुनभट आवा' एक उपारा' चौथी सुद्ध असवर हुआ।

सुनि सुतबध लंकेस रिसाना। पठएसि मेघनाद बलवाना॥ २॥
मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही। देखिअ कपिहि कहाँ कर आही*॥ ३॥

अर्थ—पुत्रका वध सुनकर लंकेश (रावण) क्रोधित हुआ और बलवान् मेघनाद को भेजा॥ १॥ (और उसे समझाया कि-) हे पुत्र ! मारना नहीं (वरन्) बाँध लाना। उस बंदरको देखें तो कि कहाँका है !॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि सुतबध' से स्पष्ट किया कि अक्षयकुमार उसका पुत्र था। इसीसे उसके मरनेपर क्रोध उत्पन्न हो गया। मंत्री आदिके पुत्रों और भट-सुभटोंके मरनेपर क्रोध न आया था। (ख)—पुत्रका वध सुनकर शोक न किया; क्योंकि यह विषादका अवसर नहीं है। इस समय विषादसे कुछ हाथ न लगेगा, शत्रु सिरपर चढ़ा है, उसे मारनेका यह समय है अतएव क्रोध किया। जब मेघनादने शत्रुको बाँध ले जाकर उसके सामने खड़ा कर दिया, अर्थात् जब काम हो गया, शत्रु बँध गया, तब सुतवधका स्मरण करके दुखी हुआ; यथा—'**सुतबध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदय बिषाद।** २०।' (ग)—'लंकेस रिसाना' इति। [वाल्मीकीयसे स्पष्ट है कि उसे प्रिय पुत्रके मारे जानेसे बहुत दुःख हुआ पर उसने मनको सावधानकर उस समय धैर्य धारण किया, दुःख प्रकट न होने दिया, पर दुःख रोषरूपसे बाहर निकल पड़ा। यथा—'मनः समाधाय **तदेन्द्रकल्पं समादिदेशेन्द्रजितं स रोषात्॥ ५। ४८। १।**' दूसरा कारण क्रोधका 'लंकेस' नामसे जनाते हैं कि त्रैलोक्यविजयीके लंकापतित्वमें लंकामें ही, जहाँ कि जगत्-मात्रको अकेले ही जीत लेनेवाले अनेक वीर उपस्थित हैं वहीं उसका पुत्र मारा गया, अतः उसको क्रोध आना चाहिये ही कि पुत्रवध करनेवालेको समूल नष्ट कर डाले।] पुनः, भाव कि यह लंकाका रक्षक है, लंकामें यदि कोई किसीका अपराध करता है तो रावण उसको दण्ड देता है और इसने तो उसके पुत्रको ही मार डाला तब क्योंकर न रुष्ट हो ? [प० प० प्र० का मत है कि 'बध' शब्दका प्रयोग प्रायः वहीं किया जाता है जहाँ किसी अपराधके लिये देहान्त दण्ड दिया जाता है। '**सुत बध**' और 'लंकेस' शब्दोंका भाव यह है कि यह एक असम्भव और अद्भुत घटना है कि रावणके जीते जी उसका प्रिय वीरपुत्र 'अपराधीके समान मारा जाय'। ऐसा विश्वमें कौन है ?]

वि० त्रि०—'**सुनि सुत बध**' इति। पुकारनेवालोंने तो इतना कहा कि '**प्रभु मर्कट बल भूरि**'। अक्षकुमार मारा गया, यह कहनेका किसीको साहस नहीं। पुकार करते समय बंदरके बलकी प्रशंसाका अर्थ ही यह था (कि उसके बलके आगे अक्षकुमारका बल न चला, वह मारा गया) अतः कहते हैं कि '**सुनि सुत बध लंकेस रिसाना**'। बिगड़ा कि उसे अभी तुरंत दण्ड देना चाहिये।

टिप्पणी—२ 'पठएसि मेघनाद बलवाना' इति। (क) क्रोध करके मेघनादको भेजा। इससे जान पड़ा कि अभी मेघनादको न भेजता। अनिप, अकंपन, अतिकाय, महोदर आदि वीरोंको भेजकर तब कहीं मेघनादको भेजता; जैसे लंका-काण्डमें ये सब वीर जब युद्धमें काम आ चुके तब मेघनाद आया। (ख) पुकार करनेवालोंने आकर पुकार की कि वानर बड़ा बलवान् है। अतः अबकी 'पठएसि मेघनाद बलवाना।' तात्पर्य कि रावणने समझ लिया कि और कोई वीर उसके समान बलवान् नहीं जान पड़ता और जो कोई जायगा वह मारा जायगा। मेघनाद बलवान् है, यह समझकर उसे भेजा। (सुतवध किया है, अतः तुरंत दण्ड देना है। इसीसे जिसकी योद्धाओंमें प्रथम लीक संसारमें है उसे भेजा। वि० त्रि०।)

नोट—१ रावणको मेघनादके बलका पूरा भरोसा है, यह उसने उससे स्वयं कहा है; यथा वाल्मी० ५। ४८— '**ममानुरूपं तपसो बलं च ते पराक्रमश्चास्त्रबलं च संयुगे। न त्वां समासाद्य रणावमर्दे मनःश्रमं गच्छति निश्चितार्थम्॥ ६॥**' अर्थात् तपबोल, शारीरिक बल, पराक्रम, अस्त्रबल और युद्धकलामें तुम मेरे समान हो; रणसंकटमें तुम्हारा स्मरण करते ही मुझे विजयका निश्चय हो जाता है, चिन्ताएँ और विषाद दूर हो जाते हैं। रावणको विश्वास है कि यह सबको मार सकता है, यथा—'**जे सुर समरधीर बलवाना। जिन्हके लरिबे कर अभिमाना॥ तिन्हहिं जीति रन आनेसु बाँधी॥** १। १८२।; अतएव मेघनादको भेजा।

२—'मेघनादका भाव कि जैसे हनुमान्‌जी गरज रहे हैं वैसे ही यह भी मेघ-समान गरजता है। अतः जोड़का है। जब वह पैदा हुआ था तब ऐसी जोरसे गर्जा था कि पृथ्वी काँप उठी थी।

* 'सुनि'''।' पायकुलक, पठएसि''' नयमालिनी। (२), (३), (४) पायकुलक। (म० चं०)।

नोट—३ 'बलवाना'=अतुलित योधा (यथा—'चला इंद्रजित अतुलित जोधा ॥ ३ ॥),=दारुण भट; यथा—'कपि देखा दारुन भट आवा ॥ ४ ॥' वाल्मीकिजी लिखते हैं कि अक्षकुमारको मारकर हनुमान्‌जीने राक्षसाधिपतिको बहुत विस्मित कर दिया। यथा—'महाकपिर्भूमितले निपीड्य तं चकार रक्षोऽधिपतेर्महद्भयम्। ५। ४७। ३७।'—इसीसे उसने तुरंत मेघनादको ही भेजा। मेघनादको आज्ञा देते हुए उसने जो कहा है कि—'तुम ब्रह्मास्त्रवित् हो, शस्त्र चलानेवालोंमें श्रेष्ठ और सुरासुरको शोकदाता हो, त्रैलोक्यमें कोई ऐसा नहीं है जो तुमसे परास्त न हुआ हो। तुम अपने भुजबल और तपोबलसे सर्वप्रकार सुरक्षित हो। तपोबल आदिमें तुम मेरे समान हो। तुम उस वानरकी अन्तःशक्ति और पुरुषार्थ तथा अपना बल विचारकर सामर्थ्यानुसार अपना बल दिखलाओ। तुम्हारे युद्धक्षेत्रमें जाते ही, ऐसा करो कि, मेरी सेनाका नाश होना बंद हो जाय। तुम अकेले ही जाओ; क्योंकि कोई उस बलवान् शत्रुके सामने ठहर नहीं सकता। इत्यादि।'—यह सब 'बलवान','अतुलित योधा' एवं 'दारुण भट' की व्याख्या ही समझिये। और जो कहा है कि तुमको युद्धमें भेजना निश्चय ही ठीक नहीं है, परंतु किया क्या जाय? यथा—'न खल्वियं मतिः श्रेष्ठा यत्त्वां संप्रेषयाम्यहम्। ५। ४८। १३।' इससे उसका अत्यन्त विस्मित और विवश होकर मेघनादको ही भेजना स्पष्ट है, यह समझकर कि यही उसको कम्पायमानकर बाँध ला सकता है।

टिप्पणी—३ (क) 'मारसि जनि सुत बाँधेसि ताही।' इति। अक्षकुमारादिसे ऐसा न कहा था, मेघनादसे ही क्यों कहा? क्योंकि (जम्बुमाली, मन्त्रिपुत्र और अक्षकुमारादिके संहारसे उसको ज्ञात हो गया कि वानरपर वज्र और अस्त्र-शस्त्र भी व्यर्थ हो जाते हैं। दिव्यास्त्रवित् ही उसको परास्त कर सकेगा और मेघनाद ब्रह्मास्त्रवित् है इससे) रावणको उसके बलका भरोसा है। विशेष ऊपर टि० २ और नोटमें आ चुका है। (ख)'मारसि जनि' कथनसे स्पष्ट है कि रावणको यह निश्चय था कि यह वानरको मार सकता है, मार डालेगा, इसीसे कहा कि उसका वध न करना। क्योंकि मार डालनेसे तो फिर असली शत्रुका पता न चलेगा कि किसने इसे भेजा है अथवा जो इस रूपसे आया है। दण्ड तो वस्तुतः असली शत्रुको देना उचित है। अतः बाँध लानेको कहा। (ग) 'देखिय कपिहि कहाँ कर आही।' इति। देखें तो कि वह कहाँसे आया है। तात्पर्य कि हमारा वैरी तो तीनों लोकोंमें कोई न था; (यथा—'सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं ॥ ३। २३।); यह कौन है और कहाँसे पैदा हो गया? जिसने इसे भेजा हो उसे कुलसमेत मारना चाहिये। उसे उसकी करनीका मजा चखाना चाहिये। इसी भावसे रावणने प्रथम हनुमान्‌जीसे यही पूछा कि—'कवन तैं कीसा। केहिके बल घालेसि बन खीसा ॥'

नोट—४ 'देखिय' के अनेक भाव हैं। देखें तो; देखना चाहिये (अर्थात् युक्तिसे पता लगाना चाहिये कि किसने भेजा है); मजा चखाना या दण्ड देना चाहिये—'देख लेंगे' इस अर्थमें मुहावरा है। वाल्मीकीयमें जो रावणने वीरोंको (५ सेनापतियोंको) भेजते समय समझाया है कि मेरा मन कहता है कि यह वानर नहीं है, इन्द्रादिने इसे अपने तपोबलसे हमारी बुराई करनेके लिये यहाँ भेजा होगा। वानर समझकर इसकी उपेक्षा न करना। मैंने विपुल पराक्रमी वाली, सुग्रीव, जाम्बवान्, नील आदिको देखा है; पर वे ऐसे भयङ्कर वेगवाले नहीं हैं, न उनमें ऐसा तेज या पराक्रम है और न बुद्धि, बल और ऐसा उत्साह है। और न उनमें रूपकल्पनाकी ऐसी बुद्धि है। अवश्य ही वानररूपमें यह कोई महाबलवान् प्राणी है। उसकी करनीपर विचार करनेसे मुझे यही जान पड़ता है। यथा—'न ह्यहं तं कपिं मन्ये कर्मणा प्रतितर्कयन्। सर्वथा तन्महद्भूतं महाबलपरिग्रहम् ॥ ६ ॥ भवेदिन्द्रेण वा सृष्टमस्मदर्थं तपोबलात्। ७। नावमान्यश्च युष्माभिर्हरिर्धीरपराक्रमः। ९। दृष्टा हि हरयः पूर्वं मया विपुलविक्रमाः। वाली च सहसुग्रीवो जाम्बवांश्च महाबलः ॥ १० ॥ नीलः सेनापतिश्चैव ये चान्ये द्विविदादयः। नैवं तेषां गतिर्भीमा न तेजो न पराक्रमः ॥ ११ ॥ न मतिर्न बलोत्साहो न रूपपरिकल्पनम्। महत्सत्त्वमिदं ज्ञेयं कपिरूपं व्यवस्थितम् ॥ १२ ॥ वाल्मी० ५। ४६।'—वे सब भाव 'देखिय कपिहिं···' में आ जाते हैं। दोहा २१ (१) (३) भी देखिये।

चला इंद्रजित अतुलित जोधा। बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा ॥ ३ ॥
कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा ॥ ४ ॥

अर्थ—अतुलित योद्धा, इन्द्रको भी जीतनेवाला, मेघनाद चला। भाईका वध सुनकर उसे क्रोध उत्पन्न हो गया ॥ ३ ॥ कपिने देखा कि बड़ा भयानक और कठिन योद्धा आया है (तब दाँत) कटकटाकर क्रोध करके गर्जा और दौड़ा ॥ ४ ॥

टिप्पणी--१ '(क) इंद्रजित' का भाव कि जैसे इन्द्रको जीतकर बाँध लाया था, वैसे ही हनुमान्‌जीको बाँधकर पिताके आगे हाजिर करेगा। (ख) 'अतुलित'=जिसके तुल्य कोई नहीं। यथा--'बारिदनाद जेठसुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू॥ जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहि परावन होई॥ १। १८०।' ['इंद्रजित' और 'अतुलित जोधा' विशेषण देकर इसको हनुमान्‌जीकी जोड़का जनाया। हनुमान्‌जीने तो बालकेलिही-से इन्द्रके वज्रको तुच्छ कर दिया था, यथा—'राहु रबि सक्र पबि गर्व खर्बी करन' (विनय २५), 'जाकी चिबुक चोट चूरन कियो रद मद कुलिस कठोर को।' (विनय ३१)। और 'अतुलित बल धाम' हैं ही, यह मं० श्लोक २ में कहा गया है। पर मेघनादने इन्द्रको अपनी मायासे जीता था और इन्होंने पैदा होते ही बाल-क्रीड़ासे ही उनके दाँत खट्टे कर दिये थे। अथवा 'इंद्रजित' कहकर जनाया कि उसने वैसा ही पराक्रम दिखाया जैसा इन्द्रको जीतनेमें किया था।] (ग) 'चला इंद्रजित' कहकर जनाया कि वह अकेला ही चल दिया। उसके साथ किसी औरका चलना नहीं लिखते। भाव यह कि वह अतुलित योद्धा है, किसीकी सहायता नहीं चाहता। यथा --'मेघनाद सुनि श्रवन अस गढ़ पुनि छेका आइ। उतरेउ बीर दुर्ग तें सन्मुख चल्यो बजाइ॥ ६। ४८।' इत्यादि। अन्य वीर सेनाकी सहायता चाहते हैं, यथा--'पुनि पठएउ तेहि अच्छकुमारा। चला संग लै सुभट अपारा॥' इन्द्रजित्‌के साथ जो महाभट संगमें आये, वह अपनी इच्छासे उन्हें संग नहीं लाया। [वाल्मीकीयमें रावणने इसे अकेले ही जानेको कहा। इसीसे सम्भवतः यहाँ भी चलते समय अकेला कहा गया। इससे उसकी निर्भीकता सिद्ध होती है। पीछे रावणने रक्षाके लिये तुरत ही महाभटोंको भी भेज दिया होगा जैसे कि लक्ष्मणजीसे युद्धके समय भेजा था; यथा—'इहाँ दसानन सुभट पठाए। ६। ५२।'

टिप्पणी--२ 'बंधु निधन सुनि' इति। भाईका मारा जाना सुनकर क्रोध हुआ। इन्द्रको जीतनेवाले मुझ अद्वितीय योद्धाके रहते मेरे भाईका वध एक वानरने किया, यह समझकर क्रोध हुआ। जैसे रावणको क्रोध हुआ यह समझकर कि इतना बड़ा राजा मैं सो मेरे पुत्रको उसने मारा। 'चला इंद्रजित' कहकर तब 'बंधुनिधन' का सुनना कहा। इससे सूचित होता है कि अक्षका वध किसीने उसे रास्तेमें सुनाया। [रावणका 'सुत बध' सुनना कहा और मेघनादका 'बंधु निधन' सुनना कहते हैं। वहाँ वध और यहाँ निधन शब्दका प्रयोग करके जनाया कि मेघनादका भाव है कि वह युद्धमें मारा गया, अतः शोच्य नहीं है। उसे सद्‌गति प्राप्त होगी। पर रावणको तो ऐसा लगा कि मैंने जो सीतापहरण अपराध किया है उसका दंड मेरे पुत्रको दिया गया। 'औरु करै अपराध कोउ और पाव फल भोग।' (प० प० प्र०)]

३ (क) 'कपि देखा दारुन भट आवा' इससे ज्ञात होता है कि भटको देखते ही ये जान लेते हैं कि उसमें कैसा बल है।* (ख)--'कटकटाइ गर्जा' इति। कटकटाना कपिकी क्रोधमुद्रा है, यथा--'कटकटान कपि कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि महि मारी॥ ६। ३१। ३।', 'कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओंठ काटहिं अति तर्जहिं॥ ६।४०।६।', 'कटकटाइ डारहिं ता ऊपर। ६। ६४। ४।' ['कटकटाइ'=क्रोधसे दाँतोंसे कटकट शब्द करते हुए। 'गर्जा', यथा--'आयान्तं सरथं दृष्ट्वा तूर्णमिन्द्रजितं कपिः। विननाद महानादं ...॥ वाल्मी० ५। ४८। २४।' गर्जनसे यह जनाया कि आओ, हम तुम्हारे लिये तैयार हैं।] (ग) 'धावा' से जनाया कि दारुणभट समझकर किञ्चित् भी शंकित न हुए, दौड़कर आगे पहुँचे अर्थात् भट और सुभटके आनेपर उनको मारा और दारुणभटको देखकर उसको पासतक आने भी न दिया, स्वयं ही उसके पास दौड़कर पहुँच गये। इससे हनुमान्‌जीका बल, वेग, निर्भीकता, युद्धोत्साह आदि प्रकट होते हैं।

अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ कीन्ह लंकेसकुमारा॥ ५॥
रहे महाभट ताके संगा। गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा†॥ ६॥

अर्थ—एक अत्यन्त विशाल वृक्ष उखाड़ा और लंकेश्वरके पुत्रको बिना रथका कर दिया (अर्थात् रथ नष्ट करके उसको रथसे गिरा दिया)॥ ५॥ उसके साथ (जो) बड़े-बड़े योद्धा थे, उनको पकड़-पकड़कर कपि अपने अंगोंसे मळ देते हैं (वा, मर्दन करने लगे)॥ ६॥

* 'देखा' से सावधानता भी दिखायी। बहुत दूरसे उसे देख लिया यह बात 'धावा' से स्पष्ट है। 'दारुण भट'--टि० १ 'अतुलित' और दोहा १९ (१) 'बलवाना' देखिये।

† 'अति बिसाल...।' द्रुतपा, 'बिरथ...अंगा। पायकुलक है।

टिप्पणी—१ (क) अक्षयकुमारकी तरह वधकी इच्छा करके बड़ा विशाल वृक्ष लेकर चलाया, मेघनाद आकाशमें चला गया। रथ, सारथी और घोड़े नष्ट हो गये; यथा—'देखि पवनसुत कटक बिहाला। क्रोधवंत जनु धायेउ काला॥ महासैल एक तुरत उपारा'''। आवत देखि गयउ नभ सोई। रथ सारथी तुरग सब खोई॥ ६। ५०।' यह विद्या अक्षकुमारमें न थी। मेघनाद राक्षसी विद्या (=माया) में अत्यन्त निपुण है। (ख) 'अति बिसाल' का भाव कि जैसा भारी वीर है, वैसा ही भारी शस्त्र लिया। वहाँ अनेक शस्त्र पड़े थे पर वे इनको नापसन्द थे, और पर्वत वहाँ था नहीं, इसीसे 'अति बिसाल' वृक्ष उखाड़ा। 'विशालमें यह भी ध्वनि है कि ऐसा बड़ा कि जो लंकेशकुमारको विशेष शाल (पीड़ा, कसक) दे। (ग) 'बिरथ कीन्ह'''' का भाव कि राजकुमारकी शोभा रथमें बैठे होनेसे थी। उसकी शोभा नष्ट कर दी कि ले, बहुत सज-धजकर आया था, अब पैदल बनकर लड़।* [(घ) वृक्षका उखाड़ना कहकर मेघनादको रथरहित करना कहा। रथपर चलाना न कहकर केवल उसका परिणाम कहा। इससे अत्यन्त शीघ्रता दिखायी। जैसे श्रीरामजीकी शीघ्रता ''लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥ तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।' में दिखायी, वैसे ही यहाँ श्रीहनुमान्‌जीकी फुर्ती दिखायी है। (प० प० प्र०) लं० १३ में इसी तरह श्रीरामजीका 'चाप चढ़ाइ बान संधाना॥ ८॥ कहकर उसका कार्य भर कहा गया कि 'छत्र मुकुट ताटंक तब हते एकहीं बान। सबके देखत महि परे मरम न कोऊ जान॥ अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आइ निषंग।' (ङ) 'लंकेसकुमारा' कहा, नाम न दिया। इससे जनाया कि इसका बल पराक्रम लंकेशके समान था। (प० प० प्र०) हनुमान्‌जीके सामने आनेपर इसका नाम न देनेका भाव यह भी हो सकता है कि उनको इसका नाम नहीं मालूम है।]

२ 'रहे महाभट ताके संगा।''' इति। (क) मेघनादको छोड़कर दूसरेसे युद्ध होने लगा इससे पाया जाता है कि वह अन्तर्धान हो गया है; अभी प्रकट नहीं हुआ। क्षणभर अन्तर्धान रहा, उतने हीमें इन्होंने सेनाका नाश कर दिया। रथ और महाभट पीछे वर्णन करके जनाया कि ये दोनों उसके चलनेके पीछे आये। घरसे वह पैदल ही चला था, बीचमें रथपर सवार हुआ और वहीं सेना आकर मिली। (ख) और सरदारोंके मारे जानेपर राक्षस भागकर रावणके पास जाते थे, यथा—'कछु मारे कछु जाइ पुकारे। गए पुकारत कछु अधमारे' और 'कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि', पर यहाँ अभी मेघनाद जूझा नहीं है, आकाशमें चला गया है; इसीसे साथके महाभट भाग न सके, सभी मारे गये। (ग) 'अति''संगा' से हनुमान्‌जीका अत्यन्त वेग, अप्रमेय पराक्रम, निर्भयता और युद्धकौशल दिखाया।

तिन्हहिं निपाति ताहि सन बाजा। भिरे जुगल मानहु गजराजा॥ ७॥
मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई†॥ ८॥

अर्थ—उन्हें (महाभटोंको) मारकर (फिर) उससे (मेघनादसे) मल्लयुद्ध किया। (ऐसा मालूम होता था—) मानो दो गजराज भिड़े हों॥ ७॥ हनुमान्‌जी (एक) घूँसा मारकर वृक्षपर जा चढ़े। उसको एक क्षणभर मूर्छा आ गयी॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) महाभटोंको मच्छड़ सरीखा अङ्गमें मल दिया और मेघनादसे मल्लयुद्ध किया। इससे ज्ञात हुआ कि मेघनाद लाखों महाभटोंसे विशेष बलिष्ठ है। पूर्व पहले सरदारोंको मारकर तब सेनाको मारा करते थे, पर यहाँ सेनाका नाश करके तब सरदारसे भिड़े—'तिन्हहिं निपाति ताहि सन बाजा।' कारण कि प्रथम मेघनादको जब विरथ किया तब वह आकाशमें जा छिपा; इससे सेनाका ही नाश प्रथम करना पड़ा। पुनः, मेघनादको बलका गर्व था; यथा—'पठयेसि मेघनाद बलवाना'। इसीसे उसने आकर मल्लयुद्ध किया। (ख)—शङ्का—मेघनादका रथ टूट गया तो वह दूसरा रथ क्यों न तैयार करके चढ़ा? मल्लयुद्ध क्यों किया? समाधान—उसने सोचा कि यदि दूसरा रथ तैयार करके चढ़ूँगा तो ये भारी वृक्षसे फिर मारेंगे, और यदि मल्लयुद्ध करूँ तो यह मुझसे जीत न सकेगा। क्योंकि वानर ही तो है, कहाँतक बली होगा? इस तरह यह धोखेमें आकर भिड़ पड़ा; हनुमान्‌जीके बलका मर्म न जान पाया था। यदि मर्म जानता तो न भिड़ता; यथा—'बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरमु सो जाना॥ ६। ५०॥' (ग) मल्लयुद्ध पशुयुद्ध है; इसीसे दोनोंको गजराज कहा। दोनोंका बराबरका युद्ध हुआ।—दोहा १८ आवृत्तियाँ टि० ४ में

* 'लंकेसकुमारा' का भाव कि इनमें लंकेश होनेकी योग्यता है। (रा० प्र०)।
† 'तिन्हहिं''''।' नयमालिनी है। 'भिरे''' और (८), (९) पायकुलक है। (व्र० चं०)

देखिये ।* 'बाजा' जनकपुरकी बोली है ।

वि० त्रि०—'तिन्हहिं निपाति ·····' इति । महाभटोंको मारकर हनुमान्‌जी मेघनादसे भिड़ गये । 'निपाति' और 'बाजा' का कर्त्ता एक ही है । मेघनादको भी बलपरीक्षाकी इच्छा थी । राक्षसोंने पुकारा था 'प्रभु मरकट बलभूरि', इसलिये रावणने बलवान् मेघनादको भेजा । दोनों गजराजकी भाँति भिड़े । गजराज शुण्ड-में-शुण्ड लपेटकर मस्तकमें मस्तक भिड़ाकर बल प्रदर्शन करते हैं । इसी भाँति हनुमान्‌जी और मेघनादकी भुजाएँ लिपटी हुई हैं, माथामें माथा भिड़ा हुआ है । मल्लयुद्धमें अस्त्र-शस्त्र नहीं चलते, मुष्टि प्रहार होता है । हनुमान्‌जीने हाथ छुड़ाकर ऐसा घूँसा मारा कि मेघनाद गिर गया । हनुमान्‌जीने समझा कि मर गया, इसलिये पेड़पर चढ़े कि देखें अब कौन आता है, पर वह मरा नहीं, क्षणभरके लिये मूर्छामात्र हुई ।

टिप्पणी—२ (क) 'मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई ।···' इति । भाव कि मेघनादसे मल्लयुद्धमें पार न पाया तब उसे मुष्टिका मारकर गिराया, यथा—'बुधि बल निसिचर परइ न पारयो । तब मारुत सुत प्रभुहि सँभारयो ॥ संभारि श्रीरघुबीर धीर प्रचारि कपि रावन हनेउ । महि परत पुनि उठि लरत देवन्ह जुगल कहुँ जय जय भनेउ ॥ ६ । ९४ ॥' [वा, 'मुठिका मारि' का भाव कि भिड़ते ही उसको मारा, यह इनका मल्लयुद्ध कौशल दिखाया । कैसी फुर्तीसे भिड़े, मार गिराया और वृक्षपर जा चढ़े कि आगेके लिये सावधान रहें । यहाँ 'देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहा जानकी जाहु' का चरितार्थ है । भिड़ते ही मारना यह बुद्धि है । एक घूँसेसे ऐसे वीरको मूर्च्छित करना बल है ।] (ख) मल्लयुद्धमें मुष्टिका मारनेकी विधि है, यथा—'भिरे उभौ बाली अति तर्जा । मुठिका मारि महाधुनि गर्जा ॥' (४ । ८) । (ग)—'चढ़ा तरु जाई' यह क्यों ? यह डरसे नहीं, किंतु इससे कि मेघनाद मूर्च्छित है, मूर्छितको क्या मारें ? मूर्छितको मारना प्राचीनकालमें धर्मविरुद्ध माना जाता था, यथा—'मुरुछा भई सक्ति के लागें । तब चलि गयउ निकट भय त्यागें ॥ ६ । ५३॥', 'अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव । काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बलसींव ॥ ६ । ६४ ॥', 'मुठिका ताहि एक कपि मारा । परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा ॥ मुरुछा गै बहोरि सो जागा । ६ । ८३ ।', 'पुनि सत सर मारा उर माहीं । परेउ धरनि तल सुधि कछु नाहीं ॥ उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी । ६ । ८२ ।', इत्यादि प्रसंगोंसे विदित है कि मूर्च्छा होनेपर शत्रुको वीर योद्धा मारते नहीं । उस नीतिका पालन दिखाया । और वीर जो संग थे उनको प्रथम ही समाप्त कर दिया था, अब कोई है नहीं, जिससे लड़ते । अतएव वृक्षपर चढ़ गये । वहाँसे देखेंगे भी कि और कोई तो नहीं आता और इसकी मूर्च्छासे जगनेकी प्रतीक्षा भी करेंगे ।

३ श्रीहनुमान्‌जीकी मुष्टिका और मेघनादका ब्रह्मास्त्र दोनोंको बराबरका दिखाया । मेघनादको मुष्टिकासे मूर्छा हुई और हनुमान्‌जीको ब्रह्मास्त्रसे । (पर हनुमान्‌जी ब्रह्मास्त्रसे स्वयं बँधे, नहीं तो चाहते तो वह बाँध न सकता था) ।

प० प० प्र०—यहाँ हनुमान्‌जीका वृक्षपर चढ़ना प्रथम कहा—'चढ़ा तरु जाई'; और मेघनादका मूर्च्छित होना पीछे—'ताहि एक छन मुरुछा आई' । इस प्रकार दिखाया कि श्रीहनुमान्‌जीका आत्मविश्वास कितना गहरा था । उनको दृढ़ विश्वास था कि मेरे इस घूँसेसे उसको अवश्य मूर्छा आयेगी । इसीसे घूँसा मारकर वे वृक्षपर चढ़ गये ।

उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया । जीति न जाइ प्रभंजनजाया ॥ ९ ॥

अर्थ—फिर उठकर उसने बहुत माया की । पवनपुत्र जीते नहीं जाते ॥ ९ ॥

टिप्पणी—१ (क) उठनेपर फिर न भिड़ा; क्योंकि अब इनके बलका मर्म पा गया कि लड़कर पार न पाऊँगा । शरीरके बलसे हार गया तब माया की । मायासे हारेगा तब ब्रह्मास्त्र चलावेगा । (ख) 'बहु माया' से जनाया कि जितनी माया आती थी वह सब की । (ग) 'जीति न जाइ' का भाव कि जो-जो माया वह करता उसे हनुमान्‌जी निवारण कर देते, काट डालते । इसीसे 'प्रभंजनजाया' कहा । प्रभंजनका अक्षरार्थ है—जो प्रकर्ष करके भंजन करे ।

* १—मा० त० सु०—गजराजसे उपमा देनेका तात्पर्य यह है कि जैसे ये कपिराज वैसे ही वह राक्षसराज, ये नरराजके आज्ञाकारी और वह राक्षसराजका । पुनः, गजराज=सिंह ।—(नोट—परंतु गोस्वामीजीने गजराजको गजेन्द्र, मतवाले श्रेष्ठ हाथीके अर्थमें प्रयोग किया है । यथा—'चितवत मनहुँ मृगराज प्रभु गजराज घटा निहारि कै' (आ०) । मृगराज=सिंह) ।

२—यहाँ उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है ।

उसके ये पुत्र हैं; अतएव इन्होंने भी मायाको भंजन किया। भाव यह कि जितने भूत-पिशाचादि हैं वे सब पवनसे उड़ जाते हैं; इसीसे नजर टोना झाड़नेके पीछे फूँक देते हैं। [जब द्रोणाचलसे संजीवनी लानेको गये हैं तब कालनेमिकी मायाको तोड़ा है; इसलिये वहाँ भी यही शब्द आया है। यथा—'चला प्रभंजनसुत बल भाषी। ६। ५५।']

नोट—१ (क) मायाका विस्तार लंकाकाण्डमें लिखेंगे, इससे यहाँ नहीं लिखा। (ख) मा० त० सु०—मेघनादकी माया न लगी क्योंकि ये मायापतिके सेवक हैं, और 'नट सेवकहिं न व्यापइ माया'।। (ग) बहुत माया करनेपर भी जीते नहीं जा सकते, इससे जनाया कि उसको श्रीहनुमान्‌जीमें कोई भी छिद्र न देख पड़ा। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि दोनोंमें किसीको एक दूसरेका छिद्र नहीं जान पड़ा, दोनों समान पराक्रमशाली थे। यथा—'हनूमतो वेद न राक्षसोऽन्तरं न मारुतिस्तस्य महात्मनोऽन्तरम्। परस्परं निर्विषहौ बभूवतुः'''॥ ५। ४८। ३३॥' तब मेघनाद विचार करने लगा कि यह अस्त्र-शस्त्रसे अवध्य हैं, इनको किस उपायसे पकड़ा जाय। यथा—'ततस्तु लक्ष्ये स विहन्यमाने शरेष्वमोघेषु च संपतत्सु। जगाम चिन्तां महतीं महात्मा''' ॥ ५। ४८। ३४॥'''अवध्यतां तस्य कपेः समीक्ष्य कथं निगच्छेदिति निग्रहार्थम्। ३५।' यह सोचकर उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया।

दो०—ब्रह्म अस्त्र तेहिं साधा कपि मन कीन्ह बिचार।
जौं न ब्रह्मसर मानौं महिमा मिटइ अपार॥ १९॥

शब्दार्थ—ब्रह्मास्त्र—यह एक मन्त्र है। गायत्री मन्त्र उलटा 'त्यादचाप्रनो''' इत्यादि पढ़नेसे और कुछ विशिष्ट बीजाक्षरोंके लगानेसे बनता है। इस मन्त्रके सामर्थ्यमें त्रैलोक्यका विनाश करना सुलभ है। पर यह तब सिद्ध होता है जब ब्रह्माजी प्रसन्न होते हैं। द्वापरके अन्तमें भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा और अर्जुन ही इसका प्रयोग कर सकते थे; पर अश्वत्थामा इसका उपसंहार नहीं जानते थे। (प० प० प्र०)। यह समस्त अस्त्रोंसे श्रेष्ठ और अमोघ है। साधना=संधान करना; प्रयोग करना।

अर्थ—उस (मेघनाद) ने ब्रह्मास्त्र साधा (तब) कपि हनुमान्‌जीने मनमें विचार किया कि यदि मैं ब्रह्मास्त्रका मान न करूँ (अर्थात् जैसे मैंने सब राक्षसी माया व्यर्थ कर दी वैसे ही ब्रह्मास्त्रको भी व्यर्थ कर दूँ) तो उसकी अपार महिमा मिट जायगी॥ १९॥

टिप्पणी—१ (क) ब्रह्मास्त्र साधारणतः नहीं चलाया जाता। जब मेघनाद सब तरह हार गया तब उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। यथा—'नाना बिधि प्रहार कर सेषा। राच्छस भयउ प्रान अवसेषा॥ ६। ५३', 'सोऽविषह्यं हि मां बुद्ध्वा स्वसैन्यं चावमर्दितम्। वाल्मी० ५। ५८। १२८।' अर्थात् इन्द्रजित्‌ने अपनी सेनाको मर्दित देख और मुझे अपने मानका न जान 'ब्राह्मेणास्त्रेण स तु मां प्राबध्नाच्चातिवेगितः। १२८।' बड़ी शीघ्रतासे ब्रह्मास्त्रसे मुझे बाँध लिया। जब लक्ष्मणजीसे युद्ध हुआ तब भी 'रावन सुत निज मन अनुमाना। संकट भयउ हरिहि मम प्राना॥ बीरघातिनी छाँड़ेसि साँगी'। (ख) पूर्व दोहा १२ में दिखा आये हैं कि हनुमान्‌जी सब काम विचारकर करते हैं; वैसे ही यहाँ भी उन्होंने ब्रह्मास्त्रके विषयमें विचार किया। (ग) 'जौं न मानौं' से जनाया कि हनुमान्‌जी इसके वशमें नहीं हैं, चाहते तो न मानते। पुनः, इसके साधते ही इनको मालूम भी हो गया कि हमपर वह ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करता है। (घ) 'महिमा मिटइ अपार' से जनाया कि ये उसके बलसे न हारे, न उसकी मायासे पराजित हो सके, ब्रह्मास्त्रकी महिमाके विचारसे हारे।—'मर्यादाभेदमिच्छन्ति प्रलयेऽपि न साधवः।' 'अपार महिमा' यह कि देवता, मनुष्य, राक्षस इत्यादि जितने भी जीव त्रिलोकमें हैं वे सब ब्रह्मास्त्रके वशमें हैं। हम इसका सम्मान न करेंगे तो ब्रह्मास्त्रकी यह बड़ाई संसारमें न रह जायगी।

नोट—१ वाल्मी० सर्ग ४८ में ब्रह्मास्त्र चलानेमें मेघनादके विचार और उसके माननेमें हनुमान्‌जीके विचार इस प्रकार हैं—(क) अमोघ बाणोंके भी निष्फल होनेपर मेघनादने विचार किया कि ये अवध्य हैं, इनको किस प्रकार पकड़ा जाय। यह सोचकर ब्रह्मास्त्र चलाकर उनको बाँध लिया।—(श्लो० ३४—३७)। (ख) श्रीहनुमान्‌जी चिन्तित और पीड़ित न हुए वरन् ब्रह्माके वरपर विचार करते हुए सोचने लगे। ब्रह्मास्त्रमें अपनी श्रद्धा और उस ब्रह्मास्त्रके तोड़नेकी अपनी शक्ति और ब्रह्माकी कृपाको विचारकर यही निश्चय किया कि उसे मानना ही चाहिये। अस्त्रसे बँध जानेपर भी मुझे भय नहीं है क्योंकि मैं ब्रह्मा, इन्द्र और वायुके द्वारा रक्षित हूँ। मेरे पकड़े जानेमें भी मुझे यह गुण दिखायी पड़ता है

कि रावणसे सम्भाषण होगा; अतएव ये लोग मुझे पकड़ ले जायँ यही अच्छा है। हनुमान्‌जीने अपना बाँधा जाना और राक्षसोंद्वारा तिरस्कार इस विचारसे अच्छा समझा कि कदाचित् रावण कौतूहलवश मुझे देखना चाहे तो मेरी उससे बातचीत हो जायगी। (५ । ४८ । ३९--४७) । यथा—'स वीर्यमस्त्रस्य कपिर्विचार्य पितामहानुग्रहमात्मनश्च । विमोक्षशक्तिं परिचिन्तयित्वा पितामहाज्ञामनुवर्तते स्म ॥ ४२ ॥' यही बात रावणसे भी उन्होंने कही है—'वनं राक्षसराजस्य दर्शनार्थे विनाशितम् ।'''अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि । पितामहादेष वरो ममापि हि समागतः ॥ राजानं द्रष्टुकामेन मयास्त्रमनुवर्तितम् ॥ विमुक्तोऽप्यहमस्त्रेण राक्षसैस्त्वभिवेदितः । केनचिद्रामकार्येण आगतोऽस्मि तवान्तिकम् ॥' (सर्ग ५० श्लो० १५--१८) । अर्थात् मुझे ब्रह्मासे वर मिला है, मैं किसी भी अस्त्रसे बाँधा नहीं जा सकता और न उससे बँधा हूँ, मैंने तो केवल तुम्हारे दर्शनार्थ वनको उजाड़ा और यहाँ रामचन्द्रजीका कुछ कार्य करनेके लिये आया हूँ।

२—प्रभु मर्यादापुरुषोत्तम हैं, वे स्वयं ब्रह्माके दिये हुए वरदानोंकी मर्यादाकी रक्षा करते हैं और मैं उनका दास हूँ, अतएव मुझे भी उसकी मर्यादा रखनी चाहिये; नहीं तो आगे कोई भी उनके वर देनेपर विश्वास न करेगा, उनका महत्त्व जो प्रभुने उन्हें दे रखा है, उठ जायगा।

३—हनुमन्नाटकमें कहा है कि प्रथम हनुमान्‌जीने मेघनादके प्रहारको निष्फल कर दिया तब उसने ब्रह्माजीकी निन्दा की, तब ब्रह्माजीके कहनेसे चतुर हनुमानजी स्वयं ब्रह्मपाशसे बँध गये। यथा--'तत्कोपारुणलोचनेन्द्रजयिना प्राङ् निष्फलत्वाद्धतं ब्रह्मास्त्रेण विगर्हितेन विधिना बद्धो विदग्धः कपिः । ६ । २१ ।'

४—ब्र० चं०—यह दोहरा है।

ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहि मारा। परतिहु बार कटकु संघारा॥ १॥
तेहि देखा कपि मुरुछित भएऊ। नागपास बाँधेसि लै गएऊ॥ २॥

अर्थ—उसने (मेघनादने) कपिको ब्रह्मबाण मारा। (वे वृक्षपरसे नीचे गिरे) गिरते समय भी उन्होंने कटकका नाश किया (अर्थात् जितनी दूरतक सेना थी, उतनी दूरतक शरीर बढ़ाकर ऐसे गिरे कि सब पिस गये) ॥ १ ॥ (जब) उसने देखा कि कपि मूर्च्छित हो गया (तब) नागपाशमें बाँधकर ले गया ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) ब्रह्मास्त्रने कपिको गिराया, कपिने सेनाका संहार किया। भाव कि गिरतेमें भी ब्रह्मास्त्रसे अधिक काम किया, तब सचेत अवस्थाकी क्या कही जाय ? (ख) 'परतिहु बार'। अर्थात् युद्धमें तो कटकका संहार किया ही था, गिरतेमें भी किया। (ग) शंका—कटकका नाश तो प्रथम ही हो चुका—(यथा—तिन्हहिं निपाति, ताहि सन बाजा') अब कटक कहाँ था जिसका संहार किया ? समाधान—यह कटक पीछेसे आया। रावणपुत्रकी सहायताके लिये सुभटोंको भेजता रहा। यथा--'इहाँ दसानन सुभट पठाए। नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाए॥ ६ । ५२ ।' (घ) यहाँ कपिके गिरनेपर कटकका संहार कहते हैं और लंकाकाण्डमें राक्षसोंके गिरनेपर वानर-कटकका दबना लिखते हैं, यथा--'परे भूमि जिमि नभ ते भूधर। हेठ दाबि कपि भालु निसाचर॥ ६ । ७० ।', 'धरनि परेउ दोउ खंड बढ़ाई। चापि भालु मर्कट समुदाई॥ ६ । १०२ ।' तात्पर्य कि इनका संहार हुआ, ये तो मर गये और वहाँ केवल दबे, प्राण बने ही रहे, पीछे वे निकल आये [कोई मरे नहीं। इससे हनुमान्‌जीकी उत्कृष्टता दिखायी। गिरनेमें भी स्वकार्य साधन ही हेतु है, ब्रह्मास्त्र नहीं। सेनाका संहार करनेके लिये भी गिरे।]

२ (क) 'तेहि देखा' का भाव कि चारों वक्ताओंमें कोई भी यह नहीं कहता कि कपि मूर्च्छित है। और, वह मूर्च्छित है भी नहीं। वे ब्रह्मास्त्रका मान रखे हैं; इसीसे मेघनादको मूर्च्छित दिखते हैं। जब अच्छी तरह समझ लिया कि ये मूर्च्छित हैं तब पास गया; क्योंकि समझता है कि यदि कपि केवल दम साधे हुआ और मैं पास गया तो अबकी मुष्टिकासे प्राण ही ले लेगा। अतएव जब निश्चय देख लिया कि मूर्च्छित है तब निकट गया। (ख) 'नागपास बाँधेसि'—मूर्च्छित दशामें ही बाँध लिया; क्योंकि मूर्च्छासे जगनेपर बाँधना सम्भव नहीं। बाँधा इससे कि मूर्च्छा दूर होनेपर फिर बड़ा उपद्रव करेगा और फिर ब्रह्मास्त्र भी न लगेगा। (ग) 'लै गएऊ' से जनाया कि ये आपसे गये उसके सामर्थ्यसे नहीं; यथा--'दसमुख सभा दीख कपि जाई'।

मा० त० सु०--(१) नागपाशसे बाँधा क्योंकि जैसे ब्रह्मास्त्र व्यर्थ नहीं हुआ, वैसे ही यह भी व्यर्थ न होगा। (२)—यहाँ सर्वोपरि प्रभावशाली ब्रह्मास्त्र तथा नागपाशके प्रयोगसे मेघनादका यह अन्तिम युद्ध-कौशल और श्रीहनुमान्-

जीका अजेयत्व प्रतिपादित हुआ। अत्यन्त प्रबल-पराक्रमीसे युद्ध होनेमें नागपाश-बन्धन ही समर्थ होता है; यथा—**'व्यालपास बस भए खरारी। ६। ७२।'**

वंदनपाठकजी—जब मेघनाद इन्द्रको जीतकर बाँध ले गया, तब ब्रह्माजीने इन्द्रको जाकर छुड़ाया और बदलेमें ब्रह्मास्त्र दिया और कहा कि यह अमोघ है। और, हनुमान्‌जीको यह आशीर्वाद दिया कि ब्रह्मास्त्र भी तुम्हारा कुछ न कर सकेगा और यदि कुछ करेगा भी तो केवल ढाई दण्डतक, तत्पश्चात् तुम उससे विमुक्त हो जाओगे।

नोट—१ नागपाश वरुणका दिया हुआ है। बाबा हरिदासजीका मत है कि उसने सोचा कि यदि ब्रह्मपाशमें मैं इनको बाँध ले गया तो इसमें मेरी कौन वीरता कही जायगी, क्योंकि ब्रह्मपाशसे तो सभी फाँस सकते हैं; इससे नागपाशसे बाँधकर ले गया।

२—वाल्मीकिजीके मतानुसार **'परतिहु बार'** और **'तेहि देखा कपि मुरुछित भयऊ'** का भाव यह होगा कि ब्रह्मास्त्रमर्मवेत्ता मेघनादने अब यह जान लिया कि हनुमान्‌जी इससे भी अवध्य हैं, नहीं तो मर ही जाते, केवल मूर्च्छित न होते; अतः उनको ब्रह्मास्त्रसे तुरत बाँध लिया। यथा—**'अवध्योऽयमिति ज्ञात्वा तमस्त्रेणास्त्रतत्त्ववित्। निजग्राह महाबाहुर्मारुतात्मजमिन्द्रजित्॥ ५। ४८। ३७।'**

जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव बंधन काटहिं नर ज्ञानी॥ ३॥
तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा॥ ४॥

अर्थ—हे भवानी! सुनो! जिसका नाम जपकर ज्ञानवान् मनुष्य भव-बन्धन काट डालते हैं, उसका दूत क्या बन्धनमें आ सकता है? (अर्थात् भव-बन्धनके आगे नागपाश तो कुछ भी नहीं है।) प्रभुके कामके लिये कपिहीने अपनेको बँधाया था॥ ३-४॥

नोट—१ **'जासु नाम जपि सुनहु भवानी।...'** इति। श्रीशिव-पार्वती, श्रीभुशुण्डि-गरुड़ और श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाजके जोड़े बीच-बीचमें सांकेतिक रूपसे अपने विचार उसी प्रकार प्रकट करते जाते हैं, जैसे महाकाव्यसम्बन्धी नाटकोंमें दूसरे उज्ज्वल गोलेमें कृष्ण भगवान् द्रौपदीके चीरहरणके समय अपना दुपट्टा फेरते दिखाये जाते हैं। महाकाव्यकलाका मेल नाटकीयकलासे करानेकी यह युक्ति सराहनीय है। पर संकेत इतने छोटे होते हैं कि रस भंग नहीं होता, हम उसे तनिक ही देरमें भूल-सा जाते हैं। २—रणका फिल्म-कलाको मात करनेवाला चित्र तो आपने देख ही लिया है।—(लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) **'नर ज्ञानी'** पदसे यह मालूम होता है कि ज्ञान होनेपर नाम जपे तब भव-बन्धन कटता है और नामका तो बड़ा महत्त्व नामवंदना-प्रकरण आदिमें कह आये हैं। दोनोंका समन्वय कैसे हुआ? उत्तर—यहाँ ग्रन्थकारका उपदेश है कि मुक्त, मुमुक्षु और विषयी तीनों नाम जपकर ही भव-बन्धन काटते हैं, नाम प्रधान है, यथा—**'गिरिजा जासु नाम जपि मुनि काटहिं भवपास। ६। ७२।'**, **'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। ७। ५८।'** मुमुक्षु और नर विषयी हैं।* तथा यहाँ **'भवबंधन काटहिं नर ज्ञानी'**॥ ज्ञानी जीवन्मुक्त जीव हैं, मुनि मुमुक्षु हैं और नर विषयी जीव हैं। इनमेंसे कोई भी बिना नामजपके भवपार नहीं हो सकता। यह भव-बन्धन ऐसा कठिन है। [प० प० प्र० का मत है कि 'ज्ञानी नरके समान भव-बन्धनको काटते हैं, ऐसा अर्थ करना चाहिये; क्योंकि केवल ज्ञानसे भी मुक्ति होती है—**'ज्ञान मोच्छ प्रद बेद बखाना'**। भाव यह है कि जिस भव-बन्धन-बिनाशके लिये ज्ञानदीपकमें कथित अपार कष्ट उठाने पड़ते हैं वही भवबन्धन जिनका नाम जपनेसे नष्ट होता है।]

२ (क) **'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा'**। तात्पर्य कि इनके बँधनेसे प्रभुका कार्य हुआ। दशमुख-सभा देखी, लंका जलायी, राक्षसोंका मान मर्दन किया। यह सब प्रभुका कार्य है। यथा—**'मोहि न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा'**॥ पुनश्च यथा—**'किं तु रामस्य प्रीत्यर्थं विषहिष्येऽहमीदृशम्। वाल्मी० ५३। १४।'** अर्थात् श्रीरामजीकी प्रसन्नताके लिये मैं इस प्रकारके (बन्धन, पूँछमें आग लगाकर घुमाया जाना, गाली आदि) अनादरको भी

* मा० त० सु०—'ज्ञानी' शब्दसे ज्ञानाचार्य श्रीशिवजीने ज्ञानसम्पन्न जनोंको नामावलंबी होनेका उपदेश दिया। 'नर' शब्द अल्पज्ञवाचक है अर्थात् पापी मनुष्य।

सह लूँगा । विशेष दोहा १९ में देखिये । (ख) 'कपिहि बँधावा'=कपिने अपनेको बँधाया । जैसे 'रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो' रणकी शोभाके लिये प्रभुने अपनेको बँधाया । 'अपनेको' पदका अध्याहार करना होगा । (ग) शंका—यह कैसे निश्चय हुआ कि 'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा' ? समाधान—जब आगे आपही नागपाशसे छूट गये । यथा—'निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी', तो क्या इस समय न छूट सकते ? (घ) 'तासु दूत' का भाव कि और लोग तो नाम जपकर बन्धन काटते हैं, जिनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है और ये तो उनके दूत हैं, अथवा, इनका तो स्वामी-सेवकका नाता है । तब भला ये बन्धनसे मुक्त न हो सकते ?

नोट—२ 'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा' इति । इसपर दोहा १९ के नोटमें लिखा जा चुका है । ☞ यहाँ उपदेश मिलता है कि स्वामीके कार्यके निमित्त स्वार्थका त्याग करके अपने यश और प्राणोंकी भी परवा न करके उसमें प्रवृत्त होना चाहिये । निषादराजने भी कहा है—'ठाटहु सकल मरै के ठाटा । सनमुख लोह भरत सन लेऊँ ।'''रामकाजु छनभंगु सरीरा ॥''' स्वामि काज करिहउँ रन रारी ।'''तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें ।' इत्यादि । २ । १९० ।

☞ 'सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा' से 'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा' तक 'बन उजारि' प्रसङ्ग है ।

'रावनहि प्रबोधी'-प्रसंग

कपिबंधन सुनि निसिचर धाए । कौतुक लागि सभा सब आए ॥ ५ ॥
दसमुख सभा दीखि कपि जाई । कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई ॥ ६ ॥

अर्थ—कपिका बँध जाना सुनकर निशिचर दौड़े (कि अब कुछ भय नहीं है, अभीतक हनुमान्‌जीके भयसे छिपे बैठे थे) । कुतूहलके कारण सब सभामें आये ॥ ५ ॥ कपिने जाकर रावणकी सभा देखी । उसकी अति प्रभुता कुछ भी कही नहीं जा सकती । (अर्थात् देखते ही बनती है । ऐसी साहिबी और सभा कपिने न देखी थी, सभा देखकर आश्चर्य हुआ) ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि धाए' क्योंकि कौतुक देखनेकी उत्कण्ठा है । जिसकी जिस चीजके देखनेकी इच्छा होती है वह उसके लिये दौड़ता ही है, यथा—'धाए धाम काम सब त्यागी । मनहुँ रंक निधि लूटन लागी ॥ १ । २२० ।', 'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई । प्रमुदित फिरहिं जनम फलु पाई ॥ २ । १२१ ।', 'जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं । बालबृद्ध कहँ संग न लावहिं ॥ ७ । ३ ।' [पहले अक्षकुमारके वधसे अति शोकातुर होकर जहाँ-तहाँ छिपे वा बैठे हुए थे । अब अति आनन्दित हो दौड़े । (मा० त० सु०) । बड़ा कौतुक कपिके देखनेका है, पर सैनिकोंका बार-बार पलायन देखकर, भयसे कोई युद्धस्थलमें देखने नहीं जाता था । जब सुना कि बन्दर बँध गया, राजसभामें लाया जा रहा है, तब तो सब दौड़े और राजसभामें आये । रास्तेमें देखने नहीं गये कि कहीं बीचमें ही बन्धन न तोड़ डाले । सभामें स्वयं रावण हैं, अतः वहाँ कोई भयकी बात नहीं है । (वि० त्रि०)] (ख) 'कौतुक लागि' । अर्थात् ऐसा भारी और बलिष्ठ वानर न देखा था न सुना, देखने योग्य है, अवश्य शीघ्र चलकर देखना चाहिये । (ग) यहाँ 'कौतुक' शब्दपर प्रसङ्ग छोड़ते हैं, बीचमें हनुमान्‌जीका सभामें आना और रावणसे संवाद होना कहकर तब फिर इसी 'कौतुक' शब्दसे प्रसङ्ग मिलावेंगे—'कौतुक कहँ आये पुरबासी ।'

नोट—श्रीलमगोड़ाजीने अपने 'विश्वसाहित्यमें श्रीरामचरितमानस' अन्तर्गत 'हास्यरस' में खेलाड़ी श्रीहनुमान्‌जीके करतब दिखा ही दिये हैं । जो कौतुक देखने आये हैं, वे भरपेट कौतुक देख लें । ये अभी हँसते हैं, पर कभी रोवेंगे ।

टिप्पणी—२ 'दसमुख सभा दीखि कपि जाई' इति । भाव कि चारों ओर स्वर्णके हजारों खम्भे लगे हैं, ऊपर रत्नमण्डप है, नीचे स्फटिकमणिका फर्श है, मध्यमें रावणका सिंहासन है । सब खम्भों आदिमें रावण आदिका प्रतिबिम्ब झलक रहा है । पहचान नहीं पड़ता कि इसमेंसे कौन असली रावण है, कौन प्रतिबिम्ब । यहाँ हनुमान्‌जीकी बुद्धिमानी देखिये । उन्होंने देखा कि अमुक रावणके प्रथम हाथ उठानेसे अन्य सबका हाथ उठता है, उसीके सिर हिलानेसे सबके सिर हिलते हैं । इत्यादि । अतः अमुक ही असली रावण है और सब प्रतिबिंब । रामचन्द्रिका देखिये ।

नोट—वह 'अति प्रभुताई' क्या है, इसे आगे कहते हैं ।

कर जोरे सुर दिसिप बिनीता । भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥ ७ ॥
देखि प्रताप न कपि मन संका । जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका ॥ ८ ॥

अर्थ—देवता और दिक्पाल हाथ जोड़े बड़ी नम्रतासे भयसहित सब रावणकी भौंह ताक रहे हैं ॥ ७ ॥ यह प्रभुता देखकर कपिके हृदयमें (कुछ भी) शंका (डर) न हुई (वे वैसे ही निश्शंक देख पड़ते थे) जैसे सर्पोंके बीचमें गरुड़ निश्शंक रहते हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) सुरसे सामान्य देवता और दिशिपसे विशेष, इस प्रकार छोटे-बड़े सभी देवता सूचित किये। 'सभीता' का भाव यह कि उसकी भृकुटी अवलोकन करते हैं, उससे भयभीत रहते हैं, तब भी रावणकी भृकुटी चढ़ी ही रहती है। यथा—'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। ··आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥ १। १८२।' (ख) दशमुखकी सभामें कपि श्रीहनुमान्‌जीका जाना सुनकर सब निशाचरोंका दौड़कर जाना कहा, पर देवताओंका आगमन न कहकर केवल यही कहा कि 'कर जोरे सुर दिसिप··।' इस भेदसे यह जनाया कि देवता आठों पहर हाजिर रहते हैं। सभाके प्रारम्भमें ही वे आकर खड़े हो जाते हैं।* (ग) पहले जिसे 'अति प्रभुताई' कहा, उसीको यहाँ 'प्रताप' कहा। दोनोंको पर्यायी जनाया।

नोट—१ मिलान कीजिये—'अप्यष्टौ ते लोकपाला मम भयचकिताः पादरेणुं ववन्दुः। हनु० ८। १९।', 'इन्द्रं माल्यकरं सहस्रकिरणं द्वारि प्रतीहारकं चन्द्रं छत्रधरं समीरवरुणौ सम्मार्जयन्तौ गृहान्। पाचक्ये परिनिष्ठितं हुतवहं किं मद्गृहे नेक्षसे। हनु० ८। २३।', 'ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः। स्तोत्रं संहर नारद स्तुतिकथालापैरलं तुम्बरो० ॥...॥ हनु० ८। ४५।'—अर्थात् रावण अङ्गदसे कहता है कि अष्टलोकपाल भयसे चकित होकर मेरे चरणरेणुकी वन्दना करते हैं ॥ १९ ॥ इन्द्र तो माली है, सूर्य ड्योढ़ीदार है, चन्द्रमा छत्र धारण करनेवाला है, पवन और वरुण झाड़ूबरदार हैं, अग्नि रसोई बनानेमें मेरे यहाँ स्थित रहता है—क्या तू यह नहीं देख रहा है? ॥ २३ ॥ रावणका एक प्रतीहार ब्रह्मादिको फटकार रहा है कि—'हे ब्रह्मन्! यह पठनका समय नहीं है, चुप होकर बाहर बैठो। हे जड़मति बृहस्पति! यह इन्द्रकी सभा नहीं है, थोड़ा बोलो। हे नारद! स्तोत्रोंको रहने दो।···॥ ४५ ॥ पुनः' यथा—'बेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत, पुजावन रावन सो नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि तें सिर नावैं॥ ऐसेउ भाग भगे दसभाल ते जो प्रभुता कबि कोबिद गावैं। क० ७। २।'—यही सब 'अति प्रभुताई' वा 'प्रताप' है।

टिप्पणी—(क) प्रताप देखकर शंका न हुई, यह कहकर सूचित किया कि हनुमान्‌जीका पराक्रम समस्त देवताओं और समस्त राक्षसोंसे अधिक है; यथा—'पंचमुख छमुख भृगुमुख्यभट असुर सुर सर्ब सरि समर समरत्थ सूरो। बाँकुरो बीर बिरुदैत बिरुदावली बेद बंदी बदत पैज पूरो॥' (बाहुक), 'कामं खल्वहमप्येकः सवाजिरथकुञ्जराम्। लङ्कां नाशयितुं शक्तस्तस्यैष तु न निश्चयः॥ ३२ ॥ वाल्मी० ५। ५१।' अर्थात् मैं अकेला ही निस्सन्देह सारी लङ्काको घोड़ों और हाथियोंसहित नाश कर सकता हूँ, 'सर्वेषामेव पर्याप्तो राक्षसानामहं युधि। ५। ५३। १३।' अर्थात् मैं अकेला ही सब राक्षसोंसे युद्ध करनेको समर्थ हूँ। 'न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च। कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः। वाल्मी० ७। ३५। ८।', 'देखी मैं दसकंठ सभा सब मोतें कोउ न सबल तो। गी० ५। १३।' (ख) प्रथम कहा कि 'दसमुख सभा दीखि कपि जाई।' देखना कहकर प्रभुता कहने लगे। प्रभुता कहकर तब फिर 'देखि' पदसे प्रारम्भ किया।

३ (क) 'देखि प्रताप न कपि मन संका' का दूसरा भाव यह है कि रावणका प्रताप सुनकर ही भय उत्पन्न होता है, यथा—'की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखउँ अति असंक सठ तोही॥ २१। २।' पर हनुमान्‌जी प्रताप देखकर भी शंकितहृदय न हुए। (ख) 'जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका।' अहिगणको देखकर गरुड़को भक्षण करनेका उत्साह होता है वैसे ही राक्षसोंको देखकर हनुमान्‌जीको इनके 'वध' का उत्साह होता है। यथा—'देखी मैं दसकंठसभा सब मोतें कोउ न सबल तो'—(गीतावली)। पुनः जैसे गरुड़को देखकर सर्पोंको भय होता है, वैसे ही हनुमान्‌जीको देखकर राक्षस शंकित हुए कि ऐसा न हो कि छूट जाय तो फिर बड़ा उत्पात वा अनर्थ करे। ☞ रावणका प्रताप देखकर शंका न हुई क्योंकि उनके हृदयमें प्रभुका प्रताप भरा हुआ है जो इसके प्रतापसे अधिक है। यथा—'प्रभु प्रताप ते

* २० (१) से २० (८) तक पायकुलक है। (प्र० चं०)।

गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल', 'प्रभु प्रताप कपि सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका ॥ ६। १८।' ['जिमि अहिगन...' में उदाहरण अलंकार है]

दो०--कपिहि बिलोकि दसानन बिहँसा कहि दुर्बाद।
सुत बध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदय बिषाद ॥ २०॥

अर्थ--कपिको देखकर रावण दुर्वचन कहकर दसों मुखोंसे खूब हँसा। फिर सुतवधका स्मरण किया तो हृदयमें शोक और दुःख उत्पन्न हो गया ॥ २० ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिहँसा कहि दुर्बाद' अर्थात् इस प्रकार हनुमान्‌जीका तिरस्कार किया। (ख) दुर्वादका स्वरूप गोस्वामीजीने प्रायः कहीं प्रकट नहीं लिखा, यथा— 'लषन कहेउ कछु बचन कठोरा। २। १५२।'; 'मरम बचन सीता जब बोला। ३। २८।'; 'कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर। ६। ९०।'; और 'तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद। ६। १०७।' इत्यादि। (ग) यहाँ रावणकी तन, वचन और मनकी दशाएँ दिखायी हैं। 'कपिहि बिलोकि दसानन' यह तनकी दशा, 'कहि दुर्बाद' यह वचन और 'उपजा हृदय बिषाद' यह मनकी दशा है। (घ) पहले जब सुतवध सुना था तब क्रोध हुआ था। अब क्रोधका काम हो चुका, शत्रु बँध आया, उसे देखकर स्मरण हो आया कि इसीने हमारे पुत्रका वध किया है।--१९ (१) देखिये। अथवा, जब अक्षकुमार मारा गया तब उसने मेघनादको भेजा, पर मनमें चिन्तित रहा कि कहीं यह भी न मारा जाय। अतएव तबतक अक्षवधका शोक न हुआ। जब कपि बँधकर आ गया, चित्त स्वस्थ हुआ, तब सुतवधका स्मरण किया। पहले सुनना कह चुके हैं; यथा--'सुनि सुतबध लंकेस रिसाना।'; इससे अब सुनना न कहा किंतु 'कीन्हि सुरति' कहा।

नोट--१ प्रारम्भमें 'दससुख सभा दीखि कपि जाई' कहा और यहाँ 'कपिहि बिलोकि दसानन बिहँसा' कहा। इससे पाया गया कि रावण सभामें जब बैठता है तब दशों शिरोंको धारण किये रहता है। इससे प्रभुता सूचित होती है। इससे यह भी जनाया कि उसने दशों मुखोंपर त्योरी चढ़ाकर बीसों नेत्रोंसे, जो क्रोधके मारे लाल हो रहे थे, घूरकर क्रूरदृष्टिसे देखा। यथा—'स रोषसंवर्तितताम्रदृष्टिर्दशाननस्तं कपिमन्यवेक्ष्य। वाल्मी० ५। ४८। ६०।' वाल्मीकिजी भी यहाँ 'दशानन' शब्द दे रहे हैं।

२—प्रायः लोग यह शंका कर बैठते हैं कि—'क्या रावणके दस सिर थे? दस सिर थे तो सोता कैसे था?' गोस्वामीजीका मत है कि जन्मसे ही रावणके दस सिर थे। यथा--'काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा ॥ दस सिर ताहि बीस भुज दंडा। रावन नाम...॥ १। १७६।' और वह ही क्या, सभी निशिचर कामरूप थे। वे जिस समय जैसा रूप चाहते धारण कर सकते थे; यथा—'काम रूप खल जिनस अनेका। १। १७६।'; 'कामरूप जानहिं सब माया। १। १८१।,' 'नाना रूप धरहिं करि माया। १। १८३।', अतएव सोते समय उसके एक सिर रहता था, यह मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं आ सकती। सहस्रार्जुनके सम्बन्धमें बालकाण्डमें लिखा गया है कि वह सदा द्विभुजधारी था, पर संध्यातर्पण और युद्धादिमें उसके एक हजार भुजाएँ हो जाती थीं। वाल्मीकीयमें हनुमान्‌जीने जब रावणको सोते देखा तब एक ही सिर और दो ही भुजाएँ देखीं। यथा—'ददर्श स कपिस्तस्य बाहू शयनसंस्थितौ। मन्दरस्यान्तरे सुप्तौ महाही रूषिताविव ॥ ५। १०। २१।' अर्थात् बिछौनेपर फैली हुई दोनों भुजाओंको हनुमान्‌जीने देखा। उस समय वे दोनों भुजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानो मन्दराचलपर्वतकी तलेहटीमें दो क्रुद्ध सर्प सो रहे हों। 'बाहू' संस्कृतभाषामें दो बाहुओंका वाचक है। दो सर्पोंकी उपमा भी इसीसे दी गयी है।

३--'बिहँसा' इति। इसके साथ भी 'दशानन' है। श्लेषार्थक होनेसे 'दशों मुखोंसे' हँसा--यह अर्थ देता है। 'बिहँसना' इससे भी हो सकता है कि बँधकर आया है, उपद्रव करते न डरा, ले अब अपनी करनीका फल चक्खेगा। अथवा इस तरह उसने अपने हृदयका अन्तर्भाव छिपाया कि सभासद ग्लानिभावको न जान पायें। यथा—'बिहँसि बाम कर लीन्ही रावन। ५। ५६।', 'बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी। ६। ६।', 'बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई। ६। १४।', 'बिहँसा नारि बचन सुनि काना। ६। १६।', इत्यादि।

४—वानरके बन्धनसे प्रसन्नता और सुतवध स्मरणसे विषाद दोनों भावोंके एक साथ उत्पन्न होनेसे 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है ।

टिप्पणी—२ 'बिहँसा कहि दुर्बाद' और 'उपजा हृदय बिषाद' दोनों कहकर जनाया कि मुँहसे हँसता है, हृदयमें दुःख है। [यह दोहरा छंद है ।]

कह लंकेस कवन तइँ कीसा । केहि के बल घालेहि बन खीसा ॥ १ ॥
कीधौं श्रवन सुनेहि* नहिं मोही । देखौं अति असंक सठ तोही ॥ २ ॥
मारे† निसिचर केहि अपराधा । कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा‡ ॥ ३ ॥

अर्थ—लंकेश्वर रावणने कहा (पूछा) 'हे वानर ! तू कौन है ? किसके बलसे तूने वनको उजाड़ डाला (विनष्ट किया) ! ॥ १ ॥ क्या तूने मुझे कभी कानोंसे नहीं सुना ? रे शठ ! मैं तुझे अत्यन्त निःशंक देख रहा हूँ ॥ २ ॥ निशिचरोंको किस अपराधसे तूने मारा ? अरे शठ ! कह, (क्या) तुझे प्राणोंका भय नहीं है ? ॥ ३ ॥

नोट—१ 'कवन तइँ' अर्थात् तेरा क्या नाम है ? तेरे बापका क्या नाम है ? तू किस जातिका वानर है ? तेरा घर कहाँ है ? किस देशका रहनेवाला है ? किसका सेवक है ? किसके राज्यमें रहता है ? इत्यादि।

२ (क) 'कवन तइँ कीसा' इति । वानर ! तू कौन है ? इस कथनमें भाव यह है कि यद्यपि तू रूपसे वानर देख पड़ता है तथापि वानरोंमें ऐसा विक्रम नहीं होता जैसा तुझमें देखा गया, अतः निश्चय ही तू वानररूपधारी कोई तेजस्वी पुरुष प्रतीत होता है । सच-सच बता कि तू वानर ही है या वानररूपधारी कोई और है ? यथा—'न हि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम् । वाल्मी० ५ । ५० । १० ।'—विशेष 'देखिअ कपिहि कहाँ कर आही' १९ (२) में टिप्पणी ३ और मेरा नोट देखिये । यदि वानर ही है तो बता कि कहाँका है ? अर्थात् मैं सब देशोंके वीर वानरोंको जानता हूँ । हनुमन्नाटकमें भी यही प्रश्न किया गया है;—'रे रे वानर ! को भवान् ? (६ । २२) । वाल्मीकीयमेंके 'जातिरेव मम त्वेषा वानरोऽहमिहागतः । ५ । ५० । १४ ।' मैं 'सचमुच वानर ही हूँ' इस उत्तरसे भी स्पष्ट है कि रावण इनको वानर नहीं समझता । इनकी बाल्यावस्थामें जब ये सूर्यसे विद्या पढ़ रहे थे तब 'कौतुक बिलोकि लोकपाल हरिहरबिधि' का अनुमान भी यही था कि यह 'बल कैधौं बीररस धीरज कै साहस कै तुलसी सरीर धरे सबनि को सार सो ।' है । तब रावणको भी संदेह हुआ तो आश्चर्य क्या ? (ख)—'तइँ' इति । अक्षयकुमारके वधसे हृदयमें विषाद होनेके कारण अनादरसूचक एक वचन 'तइँ' का प्रयोग कर रहा है ।

३—'केहि के बल घालेहि बन खीसा' इति । (क)—'केहि के बल' अर्थात् 'क्या इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, विष्णु इत्यादिके बलपर उनकी प्रेरणासे आये हो ?', यह 'अब्रवीन्नास्मि शक्रस्य यमस्य वरुणस्य वा । धनदेन न मे सख्यं विष्णुना नास्मि चोदितः ॥ वाल्मी० ५ । ५० । १३ ॥' हनुमान्‌जीके इस उत्तरसे स्पष्ट है जो उन्होंने प्रहस्त द्वारा किये गये (वाल्मी० ५ । ५० में) रावणके इन प्रश्नोंका दिया है—'समाश्वसिहि भद्रं ते न भीः कार्या त्वया कपे ॥ ७ ॥ यदि तावत्त्वमिन्द्रेण प्रेषितो रावणालयम् । तत्त्वमाख्याहि मा भूत्ते भयं वानर मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥ यदि वैश्रवणस्य त्वं यमस्य वरुणस्य वा । चाररूपमिदं कृत्वा प्रविष्टो नः पुरीमिमाम् ॥ ९ ॥ विष्णुना प्रेषितो वापि दूतो विजयकाङ्क्षिणा । न हि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम् ॥ १० ॥ तत्त्वतः कथयस्वाद्य ततो वानर मोक्ष्यसे ।' अर्थात् 'हे वानर ! तुम्हारा कल्याण हो ! तुम सच-सच बता दो कि तुमको किसने भेजा है ? इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण या विष्णुने भेजा है ? क्योंकि वानरोंमें यह तेज नहीं, तुम वानररूपधारी हो, वानर नहीं हो, बतलानेसे तुम छोड़ दिये जाओगे, भय न करो' । भाव यह कि तुमको छोड़कर हम वन नष्ट कर डालनेका बदला उसीसे लेंगे । पुनः भाव कि यदि तेरे अपराधोंका हम तुमको दण्ड दें तो तेरा सहायक कौन होगा ? अतएव सत्य कह दे तो तुझे छोड़ दें । यह हनुमान्‌जीको वह प्राणरूपी दान कर रहा है । पुनः 'केहि के बल' का भाव कि जगत्‌मात्रमें कोई नहीं है जो मुझसे तेरी रक्षा

* सुने—१७०४, १७२१, १७६२, कोदवराम । सुनेहि—छ०, भा० दा० ।
† मारेहि—१७०४, कोदवराम । मारे—भा० दा०, १७२१, १७६२, छ० । मारेसि—रा० बा० दा० ।
‡ २१ (१) (२) (३) (४) (५) पायकुलक हैं । (ब्र० चं०) ।

कर सके। (ख)—'घालेहि बन''' इति। सर्वप्रथम वन उजाड़नेका कारण पूछनेसे भी ज्ञात होता है कि यह वन उसे प्राणप्रिय था।

श्रीलमगोड़ाजी—एक आधुनिक आलोचकने लंकाके दरबारोंपर आलोचना करते हुए लिखा है कि 'ऐसा जान पड़ता है कि तुलसीदासजीको गाँवके जमींदारोंके चौपालोंका ही अनुभव था, राजदरबारोंका नहीं।'—यह ठीक नहीं है। अयोध्याके राजसभाओं और चित्रकूटकी कान्फ्रेन्सों (दरबारों) पर सभ्यता निछावर है। पशुबलगर्वित लंकेशके दरबारोंमें भी श्रीरामदूतोंने पहले सभ्य व्यवहार ही किया है, पर जवाबमें अवश्य ही मुँहतोड़ उत्तर है। भाई! हमें भ्रम इस कारण होता है कि पत्रोंमें Frank talk दिलखुली वार्ता ही कहकर बातको टाल दिया जाता है, नहीं तो जैसी वार्ताएँ म्यूनिच Munich इत्यादिकी बैठकोंमें हुईं उनका पता चले तो Civilization सभ्यता ही दाँतके नीचे उँगली दबा बैठती हैं, फिर Parliament पार्ल्यामेंटमें भी आस्तीनें चढ़ जाती हैं और तू-तू-कारकी नौबत आ ही जाती है। अभी अन्तर-राष्ट्रीय U. N. की बैठकवाले नगरमें रूसी और अन्य प्रतिनिधिकी वैसी गुत्थम-गुत्थाकी मुठभेड़ छपी ही है—सन् १९४७ ई० में ही। (अयोध्याकाण्डमें भी इस सम्बन्धके लेख आ चुके हैं)।

टिप्पणी—१ (क) **'की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही'** इति। भाव कि यदि सुना होता तो ऐसा काम न करता और न ऐसा निर्भय रहता। यह बात भी अपनी बड़ाई रखनेके लिये कही। वनके उजाड़े और अक्षकुमारके मारे जानेसे रावणकी बड़ी बेइज्जती (अप्रतिष्ठा) हुई; इसीसे सभामें अपनी इज्जत (प्रतिष्ठा) को सँभालता है। (ख) रावणके रूपसे रावणका नाम अधिक भयंकर है। उसका रूप देखनेसे उतना भय नहीं होता, जितना उसका नाम सुननेसे; यथा—**'तब रावन निजरूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा॥ ३। २८॥'** अतः कहा कि **'सुनेहि नहिं मोही'**। (ग) पूर्व कहा कि **'देखि प्रताप न कपि मन संका'**, उसी चेष्टाको देखकर रावणने यहाँ वैसा ही कहा। 'असंक' का भाव कि जहाँ तेरे सामने सब देवता और दिक्पाल सशंक हाथ जोड़े खड़े हैं, वहाँ तू वानर होकर ऐसा 'असंक' है? [पुनः भाव कि जो भी मेरा नाम सुन लेते हैं उनके होश-हवास ठिकाने नहीं रह जाते, वे डरके मारे काँप उठते हैं, यथा—**'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥ १। १८२॥'**, **'जाके डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥ ३। २८॥'**, तूने भी सुना होता तो ऐसा निडर न रहता। अथवा, इससे जनाया कि मुझे सारा जगत् जानता है; यथा—**'रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाकें बंदीखाना॥ ६। ८९॥'**; तब तूने न सुना हो यह समझमें नहीं आता। 'असंक' पूर्व कह आये हैं, यथा—**'जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका।'**]

२—**'मारे निसिचर केहि अपराधा'** इति। रावणके हृदयमें पुत्रका शोक है तो भी वह पुत्रवधका कारण नहीं पूछता और राक्षसोंके वधका कारण पूछता है। यह उसकी बुद्धिमानी और चतुरताका प्रमाण है। पुत्रके विषयमें प्रश्न करनेसे उसकी हीनता होती, उसकी निर्बलता जानी जाती कि सुनकर भी उसका किया कुछ नहीं होता। इसी कारण उस बातको छिपाकर अपनी वीरता प्रकट करता है। इससे लोग जानेंगे कि अक्षवधका समाचार इसको नहीं मिला है। 'केहि अपराधा' अर्थात् उन्होंने तेरा क्या बिगाड़ा था?

नोट—४ **'कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा'** का दूसरा अर्थ भी हो सकता है कि—'हे शठ! तू बता दे; तेरे प्राणोंकी बाधा न करेंगे, तुझे छोड़ देंगे। और यदि न बतायेगा तो तेरे प्राण लिये जायँगे।' यथा—**'तत्त्वतः कथयस्वाद्य ततो वानर मोक्ष्यसे। अनृतं वदतश्चापि दुर्लभं तव जीवितम्॥'** वाल्मी० ५। ५०। ११॥' अर्थात् सत्य बोलनेसे छोड़े जाओगे, झूठ बोलनेसे जीवन दुर्लभ हो जायगा। पुनः 'तोहि न प्रान कै बाधा' कहकर जनाया कि बिना अपराध राक्षसोंको मारने तथा वन उजाड़नेका दण्ड वध है, तेरे प्राण लिये जायँगे।

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥ ४॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥ ५॥*

अर्थ—(हनुमान्‌जीने कहा) हे रावण! सुन। जिसका बल पाकर ब्रह्माण्डसमूहोंको माया रचती है॥ ४॥ जिसके बलसे हे दशशीश! ब्रह्मा, विष्णु, महेश उत्पन्न, पालन और संहार करते हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) जैसे रावणने कहा 'कहु सठ', वैसे ही हनुमान्‌जीने कहा—**'सुनु रावन'**। (ख) **'पाइ जासु बल बिरचति माया'**; यथा—**'लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥ १। २२५।'** माया

* पालत सृजत हरत—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सिरजत पालत हर-कोदवराम।

करोड़ों ब्रह्माण्डोंको उनके बलसे पलभरमें निर्माण कर डालती है, यह भारी बात है। यह कहकर प्रभुका बल दिखाते हैं। पुनः, भाव कि वह अपने बलसे नहीं रच सकती, ईश्वरका बल पाकर रचती है; यथा—'**एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके** ॥ ३ । १५ ।' (ग) 'बिरचति' का भाव कि यह न समझो कि पलभरमें ब्रह्माण्डके ब्रह्माण्ड रचती है तो शीघ्रताके कारण अच्छे न बनते होंगे, वह पलभरमें ही विशेष-रचनायुक्त करके बना डालती है; यथा—'**बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि सत जोजन बिस्तार। श्रीनिवास पुर तें अधिक रचना बिबिध प्रकार** ॥ १ । १२९ ।' [इससे रावणके लंकापुरीकी विचित्र रचनाके गर्वको भंजन किया (श० सु०)]

नोट—१ '**सुनु रावन**' यहाँ कहा और आगे 'दससीसा' सम्बोधन दिया। 'रावण' का भाव कि तुझे बड़ा अभिमान है कि तू लोकोंको रुलानेवाला है, इसीसे तूने पूछा कि '**केहि के बल !**' अर्थात् जगत्मात्रको तो मैं रुलानेवाला हूँ, मेरे आगे किसका बल चल सकता है—सो सुन। (जगत्मात्रको रुलानेका प्रमाण, यथा— **रोषेण महताविष्टो रावणो लोकरावणः** ॥ वाल्मी० ५ । ५० । १ ।')। 'दससीसा' का भाव कि तुझे अभिमान है कि तेरे दश शिर हैं जिन्हें काट-काटकर शिवजीको बलि देकर उनसे यह ऐश्वर्य प्राप्त किया है। इस जरासे ऐश्वर्यपर जो तू इतना इतरा रहा है सो सुन। ☞ इन सब वचनोंसे रावणका अत्यन्त निरादर और तिरस्कार तथा हनुमान्‌जीकी निश्शंकता प्रकट हो रही है।

२ (क) रावणने उलटा प्रश्न किया; पहले सेवकको पूछा तब स्वामीको। हनुमान्‌जीने सीधा उत्तर दिया, पहले स्वामीका बल कहकर पीछे अपना नाम कहा।—[दूसरे प्रश्नको प्रथम और पहलेको दूसरेमें परिवर्तित करके शेषको यथाक्रम कहनेसे यहाँ गूढ़ोत्तर और भंगक्रम यथासंख्यका संकर है।—(वीर)] (ख) उसने पूछा '**केहि के बल**', इसीसे सब चौपाइयोंमें 'बल' शब्द कहा।—['बल' शब्दकी पुनरुक्तिमें अंग्रेजी पढ़े महानुभावोंको बर्क Burke की वाक्-चातुरी (वचनकी प्रवीणता Oratory) का मजा आ जाता है।—(लमगोड़ाजी)] (ग) ब्रह्माण्डोंकी रचना कहकर आगे ब्रह्माण्डोंके भीतर काम करनेवालोंको कहते हैं।

३ '**पालत सृजत**···' इति। यहाँ '**बिरंचि हरि ईसा**' के क्रमानुसार 'सृजत, पालत, हरत' कहना चाहिये था। क्रमभंग हुआ है। पाठक्रमसे अर्थक्रम बली होता है, अर्थ करनेमें क्रमानुसार अर्थ कर लेना चाहिये। छन्द बिठानेके लिये उलट-फेर कर लिया जाता है। अथवा, क्रमभंगसे यह जनाते हैं कि ब्रह्माण्ड अनेक हैं, सबका क्रम एक ही नहीं है। जैसे अनेक ब्रह्माण्ड, वैसे ही अनेक क्रम; यह भी ईश्वरकी अद्भुत लीलाका प्रतिपादक है; यथा—'**उद्भव पालन प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी** ॥ १ । १६३ ।' कहीं ब्रह्मा पालन करते हैं, कहीं शंकर। कहीं शंकर उत्पन्न करते, कहीं विष्णु, कहीं ब्रह्मा। कहीं ब्रह्मा ही तीनों काम करते हैं। यथा—'**जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बालकेलि सम बिधि मति भोरी** ॥ २ । २८२ ।' कहीं विष्णु ही सब काम करते हैं, यथा—'**आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा** ॥ ६ । १५ ।' और, कहीं शंकर ही सब करते हैं, यथा—'**जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा** ॥' अर्थात् ये क्रियाएँ प्रत्येकके लिये हैं। बिरंचि पालत सृजत हरत, हरि पालत सृजत हरत और ईश (शिव) पालत सृजत हरत।—(भंग क्रमसे 'पालत सृजत' कहना यथासंख्यालंकार है)।

४ बिरंचि आदि अपने तप-बलसे सब काम करते हैं, यथा—'**तप बल तें जग सृजइ बिधाता। तपबल बिष्नु भए परित्राता** ॥ **तपबल संभु करहिं संघारा** । १ । १६३ ।' तब यहाँ '**जाके बल**' कैसे कहा ? यह शंका यदि की जाय तो उसका समाधान यह है कि ब्रह्मादिने तप किया, पर किसका ? उन्हीं प्रभुका न। उनका तप करके तब ऐसे समर्थ हुए। जिसको प्रभुने जो काम सौंपा उसीके करनेकी उसको सामर्थ्य भी दी, दूसरा उस कार्यको नहीं कर सकता। ब्रह्मादि उन्हीं प्रभु श्रीरामजीके अंशसे उत्पन्न होते हैं और उन्हें जो ब्रह्मत्व, हरत्व आदि अधिकार मिले हैं वह सब उन्हीं प्रभुके देनेसे मिले हैं; यथा—'**संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना** ॥ १ । १४४ ।', '**हरि हरहिं हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सो जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई** ॥ विनय १३५ ।'

जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन ॥ ६ ॥
धरै* जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता† ॥ ७ ॥

* धरै—मा० दा०; ब्र० चं०। धरइ···ना० प्र०, गी० प्रे०। † 'जा बल···।' १२११ वाँ भेद, 'अंडकोस···।' १२८० वाँ भेद, २१ (७) (८) (९) 'पायकुलक हैं—(ब्र० चं०)।'

अर्थ—जिसके बलसे सहस्रमुखवाले शेषजी पर्वत और वनसहित ब्रह्माण्डको अपने सिरपर धारण करते हैं (भाव यह कि तुझे जरासे कैलाश उठा लेनेसे ही बड़ा अभिमान हो गया है), जो देवताओंकी रक्षाके लिये अनेक प्रकारके शरीर धारण करता है और तुम्हारे ऐसे मूर्खोंको सिखावन (शिक्षा एवं दण्ड) देनेवाला है ॥ ६-७ ॥

टिप्पणी—१ (क) **'सीस धरत'** का भाव कि ब्रह्मादिक श्रीरामजीके प्रतापसे केवल संकल्पद्वारा उत्पत्ति आदिका काम करते हैं, उन्हें हाथसे नहीं गढ़ना पड़ता। पर शेषजीको शरीरसे काम करना पड़ता है, श्रीरामजीके बलसे उनके शरीरमें ब्रह्माण्ड धारण करने योग्य बल हो जाता है और श्रीरामजीके प्रतापसे बोझ नहीं जान पड़ता। (ख) 'सहसानन' का भाव कि इनके हजार सिर हैं; हजार ब्रह्माण्डोंके धारण करनेकी इनको शक्ति है। वे केवल एक सिरपर ब्रह्माण्ड धारण किये हैं, यथा—**'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी** । ६ । ८२ ।' (ग) ब्रह्माण्डकी गुरुता दिखानेके लिये **'समेत गिरि कानन'** पद दिया।

२ यहाँतक यह कहा कि जिसके बलसे मैंने यह सब किया वह वही है जिसके बलसे शरीरमें प्रताप होता है, शरीरमें बल होता है। माया और विधिहरिहर प्रतापसे काम करते हैं और शेषजी शरीर-बलसे ब्रह्माण्ड धारण करते हैं।

३ तीनों चौपाइयोंमें ब्रह्माण्डको कहा। अर्थात् आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें ब्रह्माण्डको कहा। आदिमें ब्रह्माण्डका निर्माण कहा, मध्यमें ब्रह्मादिका उसके भीतर काम करना कहा और अन्तमें उसका धारण करना कहकर ब्रह्माण्डकी इति की कि बस ब्रह्माण्ड इतना ही है। यहाँतक प्रभुसे बल पाये हुए माया, ब्रह्मादि और शेष इन लोगोंका वर्णन किया। आगे अब स्वयं उन्हीं प्रभुका अवतार कहते हैं या यों कह सकते हैं कि अब उनके शरीरका बल और संग्रामका बल कहते हैं।

४ **'बिबिध देह'**, यथा—**'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी'**। **'सुरत्राता'**, यथा—**'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइ नसायो** ॥ ६। १०९।'—(**धरै जो बिबिध देह**...' की जोड़का श्लोक गीतामें भी है। यथा—'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ४। ८।')

५ **'तुम्ह से सठन्ह'** यह तुर्की बतुर्की जवाब है, जैसेको तैसा। उसने हनुमान्‌जीसे कहा था कि **'कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा'**, इन्होंने भी वैसा ही कहा **'तुम्हसे सठन्ह'**...।' शठ शठतासे ही मानता है, दूसरी तरह नहीं। **'सिखावन दाता'**, यथा—'**जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी** ॥...**तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा** ॥ १। १२१।' यह अवतारका हेतु कहा। पूर्वार्धमें अवतार कहा था। ('सिखावनदाता' में यह भी भाव है कि वे लोकमात्रको शिक्षा देनेके लिये ही तुम-ऐसे शठोंको दण्ड देते हैं।)

हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृप दल मद गंजा ॥ ८ ॥
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसने शिवजीका कठिन धनुष तोड़ा और तुझ समेत सब नृप-समूहका गर्व नाश किया। ॥ ८ ॥ खर, दूषण, त्रिशिरा और वालीको मारा जो सभी अतुलित बलसे पूर्ण थे। (भाव यह कि जब ऐसोंको मार डाला, तब तू किस गिनतीमें है?) ॥ ९ ॥

टिप्पणी—१ (क) **'कठिन कोदंड'**—क्योंकि दस हजार राजा भी लगकर तिलभर भूमि न छुड़ा सके। उसे इन्होंने बिना परिश्रम तोड़ डाला। (ख) **'तोहि समेत'** अर्थात् उस सभामें तुम भी पराभवको प्राप्त हुए, यथा—**'जेहिं कौतुक सिवसैल उठावा। सोउ तेहिं सभा पराभउ पावा** ॥ १। २९२।'

नोट—१ **'हर कोदंड'** कहनेसे कोदंड (धनुष) का हर (शिव) से सम्बन्ध सूचित हुआ। जिस प्रकार सर्व-संहारकर्ता होनेसे हर (शिव) कठिन हैं; उसी प्रकार उनका धनुष भी कठिन था। उसको जिन्होंने तोड़ डाला। भाव कि सर्वसंहारक तेरे स्वेष्टदेव रुद्रजीसे भी मेरे स्वामी अजेय हैं, तो तेरी क्या गिनती है? इस चौपाईद्वारा देवता, मनुष्य और राक्षस इन सबोंसे श्रीराघवजीकी अजेयता दिखायी। (मा० तं० सु०)। जनकपुरके दूतोंने कहा भी है—**'संभु सरासन काहु न टारा। हारे सकल भूप बरिआरा। तीनि लोक महँ जे भट मानी। सभ कै सकति संभु धनु भानी** ॥ १। २९२।'—इस प्रकार श्रीरामजीको त्रैलोक्यविजयी बताया। मन्दोदरीजीने भी कहा है—**जनक सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला ॥ भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही** ॥ ६। ३५।'—ये सब भाव श्रीहनुमान्‌जीके शब्दोंसे प्रकट कर दिये।

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीमद्गोस्वामीजीकी कलामें शब्दगुण (Sound force) हर जगह विचारणीय है। प्रसङ्गके अनुसार अक्षर आते हैं जैसे कि यहाँ ओजगुण है। रस्किन Ruskin की कहावत, कि 'कुशल कवि वा लेखकको शब्द-शब्द नहीं किन्तु अक्षर-अक्षर पढ़ना चाहिये', तुलसीदासजीकी कलामें पूर्णरूपसे लागू होती है। अँग्रेजी भाषामें तो साहित्य-मर्मज्ञको इसीसे Mane of Letter कहते हैं।

टिप्पणी—२ प्रथम चार अर्धालियोंमें 'सुनु रावन ब्रह्मांड···' से धरै जो बिबिध देह सुरत्राता। ···' तक अवतारीका बल कहा। अब अवतारका बल कहते हैं। धनुषका तोड़ना शरीरबल है और खरदूषणादिका वध युद्धबल है—यही यहाँ दिखा रहे हैं।

३ (क) रावणको अवतारमें सन्देह है, भ्रम है, यथा—'जौं भगवंत लीन्ह अवतारा। तौ···जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ॥ ३। २३।' इसलिये प्रथम अवतार होना निःसन्देह किया और प्रमाण दिया कि मनुष्य होते तो धनुष कैसे तोड़ते और खरदूषणादिको कैसे मार सकते? यथा—'सकल अमानुष करम तुम्हारे', 'खर-दूषण मोहि सम बलवंता। तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता॥ ३। २३।', 'सो नर क्यों दसकंध बालि बधेउ जेहि एक सर। ६। ३२।' (ख) प्रथम 'हरकोदंड' का भंजन कहा जिसमें स्वयं रावणका गर्व चूर-चूर हो गया था, तब खरदूषणको कहा जिन्हें रावण अपने समान बली स्वीकार करता है, फिर वालीको जो रावणसे भी अधिक बली था, क्योंकि उसने रावणको छः मासतक बगलमें दबाये रखा। यथा—'एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालिकी काँख'—(लंका २४)।

नोट—२ वाल्मीकीयमें भी कहा है कि—'त्वया विज्ञातपूर्वश्च वाली वानर पुङ्गवः। रामेण निहतः संख्ये शरेणैकेन वानरः॥ ५। ५१। ११।' अर्थात् तुम तो वानरश्रेष्ठ वालीके बलपराक्रमको भलीभाँति पहलेसे जानते ही हो। उस वालीको श्रीरामजीने युद्धमें एक ही बाणसे मार डाला। अङ्गदने कहा है—'कृत्वा कक्षागतं त्वां कपिकुलतिलको बालिनाम्ना बलीयान्। श्रान्तः सप्ताब्धितीरे क्षणमिव चरितं स्नानसंध्यार्चनं च॥···' (हनु० ८। १४ अर्थात् वानरश्रेष्ठ वाली तुझे काँखमें दबाकर क्षणमात्रमें सातों समुद्रोंके तीरपर फिरकर संध्यावन्दनादि करता रहा, वह भी एक ही बाणसे मारा गया। भाव कि तू गर्व छोड़कर शरण जा, क्योंकि जब तुझे जीतनेवाला मारा गया तब तू क्या है?—ये सब भाव यहाँ जनाये।

दो०—जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु* प्रिय नारि†॥ २१॥

अर्थ—जिसके बलके लवलेशसे सारे चराचरमात्रको तुमने जीता और जिसकी प्रिय स्त्रीको तुम हर लाये हो, मैं उसीका दूत हूँ॥ २१॥

टिप्पणी—१ (क) 'लवलेश' एक शब्द है, यथा—'जासु बिलोकि भगति लवलेसू', 'जाकी कृपा लवलेस तें मतिमंद तुलसीदासहू', इत्यादि। लवलेश=किंचित् अंश; लेशमात्र। तात्पर्य कि भगवान्‌के कामदार आदिका भी बल तुझमें नहीं है। (ख) 'जितेहु चराचर झारि' इति। यथा—'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बस बरती नर-नारी'॥ पुनः, भाव यह कि—(ग) ब्रह्मादिने बल पाया और तूने बलका लवलेश पाया; दूसरे, ब्रह्मादिने प्रभुसे बल पाया और तूने ब्रह्मादिसे पाया, इसीसे तुझमें प्रभुके बलका लवलेश है। (घ) झारि=झाड़पोंछकर, सम्पूर्ण, समस्त, एकमात्र। चराचर-मात्रको लवलेश बलसे जीत लिया यह प्रभुके बलकी शोभा है।

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्यकलामें राक्षस भगवान्‌के बल-वीर्यरूप हैं ही; पर नाटकी कलामें हनुमान्‌जीकी कितनी उदारता प्रकट है कि शत्रुकी भी यथार्थ प्रशंसा कर ही देती हैं, पर वाक्‌चातुरी यहाँ भी बनी ही है कि 'लवलेश' ही है।

नोट—१ मां० त० सु० का मत है कि "यहाँ 'जाके' पद पूर्वोक्त 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥···' चौपाईसे सम्बन्ध रखता है। यहाँ बल श्रीराघवजीका है और उस बलके लवमात्रके अधिकारी ब्रह्मादिक हैं, तपस्या द्वारा उनसे पाये हुए लवमात्र बलका अधिकारी तू है। इस लवके लेशमात्र बलसे तूने सब चराचरको जीता।"

२—यहाँ तक हनुमान्‌जीने परब्रह्म परमात्माके जाननेकी रीति, शब्द, अनुमान, प्रमाण और प्रत्यक्ष चारों प्रकारसे दिखायी। 'सुनु सवन ब्रह्मांड निकाया' से 'तोसे सठन्ह सिखावनदाता' तक शब्द, 'हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि०

* आनिहु—भा० दा०' आनेहु—प्रायः औरोंमें' † दोहा दोहरामिश्रित है—(ब्र० चं०)।

...' यह अनुमान, 'खरदूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे...' यह प्रमाण और 'जाके बल लवलेस' यह प्रत्यक्षके उदाहरण हैं।

३—मा० म०, मा० शं, में इस दोहेका अन्वय यों किया है—'वे (माया, विरंचि, आदि जो ऊपर कहे गये) जाके बल लवलेस ते चराचर झारि जितेहु तासु दूत मैं (हूँ)'। वे लिखते हैं कि पूर्व चार जगह जो बल लिख आये उसका मतवाद इस दोहेमें प्रसिद्ध है—उन रामजीके लवलेश बलसे मायाने ब्रह्माण्डोंको उत्पत्ति द्वारा जीत लिया। ब्रह्माने चराचरको उत्पत्तिद्वारा, विष्णुने पालन और शिवने संहारद्वारा जीत लिया, इत्यादि।'—(पाठक स्वयं विचार कर लें। मा० सं०)। पुनः, दूसरा भाव लवलेशका उन्होंने यह लिखा है कि 'राम' शब्दका रकार तेरे नाममें है। उसके बलसे तूने चराचरको जीता। यह भाव करुणासिंधुजीने लिखा है।

टिप्पणी—२ (क) 'तासु दूत मैं' अर्थात् मैं उसीका दूत हूँ जिसके बलकी शोभा (महिमा) ऊपर कही। तात्पर्य यह कि मुझे उसीका बल है जिसके बलका किंचित् ही भाग तुझमें है। अपने बलको साक्षात् न कहा, केवल अभिप्रायसे जना दिया। (ख) 'प्रिय नारि' अर्थात् पतिव्रता स्त्रीको। 'हरि आनहु' (अर्थात् जबरदस्ती ले आये), ऐसा कहकर रावणपर उन्होंने कसूर साबित किया। (ग) 'तासु दूत'—इस पदका सम्बन्ध उपर्युक्त सब चौपाइयोंसे भी है। 'जाके बल' तासु, 'जा बल...' तासु, 'धरे जो...' तासु० इत्यादि। (घ) यहाँ अपने आनेका प्रयोजन भी लक्षित कर दिया कि मैं खोज लगानेको ही यहाँ आया हूँ। चराचरमात्रको जीतनेके अभिमानसे एवं मोहवश तुमने उनकी स्त्रीका हरण किया; यह समझकर कि हम उनको जीत लेंगे, वे भी चराचरमें ही हैं। इसीसे आगे सीताजीको लौटा देनेकी प्रार्थना करेंगे। अंगदने भी रावणके प्रश्नोंत्तरोंको पूरा करके और ऐसा ही कहकर सीताजीको देनेको कहा है, यथा—'बरपायहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा॥ नृप अभिमान मोहबस किंबा। हरि आनिहु सीता जगदंबा॥ अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा...॥ ६। २०।'

नोट—४ 'हरि आनेहु' में यह भी भाव आ जाता है कि तुम धर्म और अर्थको भलीभाँति जानते हो, तपःप्रभावसे तुमने यह ऐश्वर्य सम्पादन किया है। अतः तुमको परायी स्त्री अपने घरमें चोरीसे लाकर बन्द कर रखना उचित नहीं। इस धर्मविरुद्ध कार्यसे तुम्हारा जीवन और ऐश्वर्य नष्ट हो जायगा। यथा—'तद्भवान्दृष्टधर्मार्थस्तपःकृतपरिग्रहः। परदारान्महाप्राज्ञ नोपरोद्धुं त्वमर्हसि॥ वाल्मी० ५। ५१। १७॥ तपस्सन्तापलब्धस्ते योऽयं धर्मपरिग्रहः। न स नाशयितुं न्याय्य आत्मप्राणपरिग्रहः॥ २५॥'

५ उत्तरार्द्धका समानार्थी श्लोक अध्यात्म रा० ५। ४ में यह है—'रामस्य दूतोऽहमशेषहृत्स्थितेः। यस्याखिलेशस्य हृताधुना त्वया भार्या स्वनाशाय शुनेव सद्धविः॥ ८॥'

टिप्पणी—४ यहाँतक रावणके दो प्रश्नोंका उत्तर हो गया—कौन हो? और किसके बलसे वन उजाड़ा? आगे 'की धौं, श्रवन सुनेहि नहिं मोही।...' का उत्तर देते हैं कि—'जानउँ...।'

जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई। सहसबाहु सन परी लराई॥ १॥
समर बालि सन करि जसु पावा। सुनि कपि बचन बिहँसि बहरावा*॥ २॥

अर्थ—मैं तुम्हारी प्रभुता जानता हूँ कि सहसबाहुसे लड़ाई पड़ी॥ १॥ (फिर तुमने) वालिसे समर करके यश पाया। कपिके वचन सुनकर उसने खूब हँसकर बहला दिया (टाल दिया)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई' इति 'जानउँ' का भाव कि तुम पूछते हो कि मैंने तुम्हारा नाम और यश सुना है कि नहीं, उसपर मेरा उत्तर यह है कि तुम्हारी प्रभुता सुननेकी तो बात ही क्या है, मैं तो उसे भलीभाँति जानता हूँ कि कैसी है। उस प्रभुताको जानकर मैंने यह सब किया है। (ख)—'सहसबाहु सन परी लराई' अर्थात् तुम लड़ने गये, पर कुछ लड़ाई न हुई; उसने तुमको दौड़कर पकड़ लिया। सहस्रबाहुसे हारना कहकर जनाया कि तू सहस्रार्जुनसे हारा, वह परशुरामसे हारा और परशुराम श्रीरामजीसे हारे। यथा—'सहसबाहुभुज छेदनिहारा। १। २७२।', 'एक बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा॥ कौतुक लागि भवन लै आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोड़ावा॥ ६। २४।' (इसमें अंगदजीने सहस्रार्जुनसे रावणका पराजय कहा है और) 'सहसबाहु भुज गहन अपारा।

* २२ (१) से २२ (६) तक पायकुलक है। (ब्र० च०)।

दहन अनल सम जासु कुठारा ॥ जासु परसु सागर खर धारा । बूड़े नृप अगनित बहु बारा ॥ तासु गर्ब जेहि देखत भागा । सो नर क्यों दससीस अभागा ॥७।२६।' (इसमें सहस्रार्जुनका परशुरामद्वारा पराजय, भुजच्छेदन और वध कहकर परशुरामजीका विना युद्ध ही श्रीरामजीके सम्मुख गर्व चूर हो जाना कहा है। इस प्रकार जनाया कि तब तू किस बलपर घमण्डकर उन श्रीरामजीसे विरोध कर रहा है ? उनके आगे तू क्या चीज है जब कि तेरे जीतनेवालेके जीतनेवाले भी उनसे देखते ही हार मान गये। 'परी लराई' में भाव यह भी है कि लड़ाईका अवसर आया था, तुम लड़ने गये थे, पर थोड़ी ही लड़ाईमें तुम हार गये। इसमें ऊपरसे प्रशंसा यह है कि बीस ही भुज होनेपर भी हजार भुजवालेसे लड़ाई ठानी थी और व्यंगसे अपयश होना प्रकट किया है।)

टिप्पणी--२ (क) वालिसे समर करके यश पाया। यह व्यंग है। भाव कि समर कुछ न हुआ, उसने जाते ही काँखमें दबा लिया जिससे तुझे बड़ा अपयश हुआ। तब हम तुझे क्या डरें कि जो तू कहता है कि **'देखौं अति असंक सठ तोही।'** क्योंकि जिस वालिसे तू हारा उसीको एक बाणसे श्रीरामजीने मार डाला। (ख) **'बिहँसि बहरावा'** इति।—हनुमान्‌जीने कहा कि तुमने चराचरको जीता, तुम्हारी प्रभुता मैं जानता हूँ, सहस्रबाहुसे लड़ाईमें तुम्हारी प्रभुता रही, वालिके समरमें तुमने यश पाया। रावणने सोचा कि अभी तो सभावाले ऐसा ही अर्थ समझेंगे क्योंकि इनमें स्पष्ट बड़ाई है, व्यंगसे निन्दा भरी हुई है; इसीसे वह खूब हँस भी दिया जिसमें सभावाले समझें कि अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुआ है, व्यंग वे लोग न समझ पावें।

नोट—१ हास्यकलामें जोरसे हँसकर झेंप मिटानेकी चतुराईपर ध्यान दीजिये। दोनों एक दूसरेके दाँव-पेंचको समझ गये। श्रीहनुमान्‌जीके व्यंगकी विजय हुई कि उन्होंने प्रसंग बदला। इसीसे अब आगेके 'प्रभु' और 'स्वामी' शब्द रावणके राजा होनेके सम्बन्धसे सरल अर्थके ही वाचक हैं और जो चार्ज (फर्देजुर्म) उनपर रावणने लगाया था उसका चतुराईपूर्ण, पर स्वाभाविक, उत्तर कितना सुन्दर है कि वकीलोंके अभियुक्त-सम्बन्धी बयान तहरीरी भी निछावर हों ! विशेषकर स्वरक्षा Selfdefence वाली बात ! क्या arrest बन्धन वा गिरफ्तारी गैरकानूनी न हुई ? (लमगोड़ाजी)।

सहस्रबाहु और रावणकी कथा

सहस्रार्जुन कृतवीर्यका पुत्र और माहिष्मतीका राजा था। भगवान् दत्तात्रेयके आशीर्वादसे इसे, जब यह चाहता, हजार भुजाएँ हो जाती थीं। एक बार जब यह नर्मदामें अपनी स्त्रियोंके साथ जलविहार कर रहा था, संयोगसे उसी समय रावण भी उसी स्थानके निकट जो यहाँसे दो कोसपर था, आया और नर्मदामें स्नान करके शिवजीका पूजन करने लगा। उधर सहस्रबाहुने अपनी भुजाओंसे नदीका बहाव रोक दिया जिससे नदीमें बाढ़ आ गयी और जल उलटा बहने लगा। शिवपूजनके लिये जो पुष्पोंका ढेर रावणके अनुचरोंने तटपर लगा रक्खा वह तथा सब पूजनसामग्री बह गयी। बाढ़के कारणका पता लगाकर और पूजन-सामग्रीके बह जानेसे क्रुद्ध होकर रावण सहस्रार्जुनसे युद्ध करनेको गया। उसने कार्तवीर्यकी सारी सेनाका नाश किया। समाचार पाकर राजा सहस्रार्जुनने आकर राक्षसोंका संहार करना प्रारम्भ किया। प्रहस्तके गिरते ही निशाचर सेना भगी तब रावणसे गदायुद्ध होने लगा। यह युद्ध बड़ा ही रोमहर्षण अर्थात् रोंगटे खड़ा कर देनेवाला भयंकर युद्ध हुआ। अन्तमें अर्जुनने ऐसी जोरसे गदा चलायी कि उसके प्रहारसे वह धनुषभर पीछे हट गया, और चोटसे अत्यन्त पीड़ित हो वह अपने चार हाथोंके सहारे बैठ गया--**'स त्वर्जुनप्रमुक्तेन गदाघातेन रावणः। अपासर्पद्धनुर्मात्रं निषसाद च निष्टनन्।'** वाल्मी० ७। ३२। ६२।' रावणको विह्वल देख इसी बीचमें अर्जुनने उसे अपनी भुजाओंसे इस तरह पकड़ लिया जैसे गरुड़ सर्पको पकड़ लेता है और फिर उसे इस तरह बाँध लिया जैसे भगवान्‌ने बलिको बाँधा था। रावणके बँध जानेपर प्रहस्त आदि उसे छुड़ानेके लिये लड़े, पर कुछ कर न सके, भागते ही बना। तब सहस्रार्जुन रावणको पकड़े हुए अपने नगरमें आया। अन्तमें श्रीपुलस्त्यमुनिने जाकर उसे छुड़ाया और मित्रता करा दी।—यह कथा वाल्मी० प्रक्षिप्त सर्ग ३१-३३ में है। विशेष **'एक बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा।** लं० २४। १५।' में देखिये।—इस कथाके अनुसार यह भी व्यंगसे जनाते हैं कि तू वही तो है जिस, सहस्रबाहुके कारागारमें बँधे पड़े हुएको तेरे पितामह पुलस्त्यजी दीन होकर भिक्षा माँग लाये थे--**'जितं मन्ये कारागृहविनिहितं हैहयपतेः पुलस्त्यो यद्भिक्षामकृतकृपणं'**··· । हनु० ना १४। २५।'

वालि और रावणकी कथा

रावण दिग्विजयके समय वालिको जीतनेके लिये किष्किन्धा गया। यह मालूम होनेपर कि वह दक्षिण समुद्रतटपर

सन्ध्यावन्दन करने गया है, रावण वहाँ गया और चाहता था कि चुपचाप पीछेसे जाकर उसे पकड़ ले। वालि रावणकी धूर्तताको ताड़ गया और जैसे ही वह निकट आया वालिने तुरत फिरकर उसे पकड़कर बगल (काँख) में दबा लिया और दाबे हुए ही वहाँकी शेष सन्ध्या पूरी करके आकाशमार्गसे उड़कर शेष तीन दिशाओंके समुद्रोंपर जा जाकर उसने संध्याएँ कीं। फिर वैसे ही दबाये हुए वालि किष्किन्धामें आया और इसे बगलसे गिराकर पूछा कि 'तुम कौन हो? कहाँसे आये हो?' रावणने लज्जित हो अपना परिचय दिया और वालिकी भूरि-भूरि प्रशंसाकर उससे मित्रताकर उसके यहाँ एक मासतक उसके छोटे भाई सुग्रीवकी तरह रहकर तब लंकापुरीको लौट गया। यह कथा वाल्मी० उ० सर्ग ३४ में है। कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख है कि छः मासतक वालि इसे काँखमें दाबे रहा। हनुमन्नाटकमें अङ्गदने कहा है कि तुझे वालिने मेरे पालनेके ऊपर मेरी बालक्रीडाके लिये बाँध दिया था। मैं तुझे लातोंसे मारा करता था। यह तेरी बड़ी भूल और मोह है। यथा—'आस्तेऽत्रापि तवाऽस्ति विस्मृतिरहो मोहो महानीदृशः। पर्यङ्के निजबालकेलिकृतये बद्धोऽसि येनोपरि॥ हनु० ८। ११॥'—'जसु पावा' में व्याजनिन्दा अलंकार है कि दशशिरों और बीस भुजाओंवाले रावणको एक वानरने काँखमें दबा रक्खा और उसका लड़का अङ्गद अपने चरणोंके ताड़नसे उस रावणके शिरोंको गेंदकी तरह उछाल-उछालकर खेला करता था। यथा—'''तातकक्षावशिष्टः। प्रोद्धृत्योद्धृत्य पादप्रहत बहुशिरःकन्दुकैः क्रीडतोऽस्मि॥ हनु० ना० ८। ४६॥'

टिप्पणी—३ (क) 'बहरावा' इति। बहला दिया। क्योंकि यहाँ बहलानेका योग है। यदि कपिने खोलकर कहा होता तो बहलाते न बनता। 'बहरावा' अर्थात् अन्यत्र देखने लगा, दूसरेसे बात करने या दूसरेकी बात सुनने लगा जिसमें हनुमान्‌जी चुप हो रहें; उस प्रसंगकी चर्चा छोड़ दें; नहीं तो यदि सम्मुख सुनता ही रहता तो ये कहते ही जाते। (ख) रावणका पराजय खोलकर क्यों न कहा? क्योंकि पराये छिद्रोंको खोलकर कहना खलता है। श्रीहनुमान्‌जी संत हैं; अतएव उन्होंने छिद्रको गुप्त रीतिसे जनाया—'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा'।

खाएउँ प्रभु फल लागी भूखा। कपि सुभाउ ते तोरेउँ रूखा॥ ३॥
सब के देह परम प्रिय स्वामी। मारहिं मोहि कुमारगगामी॥ ४॥
जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे। तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे॥ ५॥

अर्थ—हे प्रभो! मुझे भूख लगी थी, इसलिये मैंने फल खाये। (अर्थात् आपके नगरमें आनेपर भूख लगी तो क्षुधानिवारणार्थ कहाँ जाता? अतः खाने लगा)। वानर-स्वभावसे वृक्ष तोड़े॥ ३॥ हे स्वामी! देह (अपना-अपना शरीर) सबको परमप्रिय होती है। कुमार्गपर चलनेवाले आपके निशाचर मुझे मारने लगे॥ ४॥ जिन्होंने मुझे मारा, उन्हें मैंने (भी) मारा। इसपर भी आपके पुत्रने मुझे (नागपाशमें) बाँधा॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'खाएउँ फल प्रभु लागी भूखा।''' यह रावणके 'केहि के बल घालेहि बन खीसा' का उत्तर है। इस उत्तरमें कैसी चतुरता भरी हुई है? यदि कहते कि जिसका बल ऊपर कह आये उसके बलसे हमने वन उजाड़ा तो कसूर अपने ऊपर साबित हो जाता। इसीसे प्रभुका बल प्रथम कहकर वन उजाड़नेका उत्तर बड़ी युक्तिसे दे रहे हैं कि 'क्षुधा निवारणार्थ खाया''।', इसमें मैंने क्या अपराध किया? तुम 'प्रभु' हो; स्वयं विचार सकते हो कि मेरा कोई अपराध नहीं था। यदि वह कहे कि वानर-देह कौन उत्तम है कि जिसके लिये लाखोंका वध तुमने किया, (न खाते) तो उसपर कहते हैं कि देह सबको परमप्रिय है, चाहे कोई भी देह क्यों न हो! 'परम प्रिय' का भाव कि अन्य पदार्थ प्रिय हैं और देह परम प्रिय। यथा—'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।' (ख)—भूखेको फल खानेमें मारा इसीसे 'कुमारगगामी' हैं। 'मोहिं' का भाव कि मैं वानर हूँ, वानर वनमें फल-फूल खाते ही हैं, तब भी मुझे मारा। यही बात मन्दोदरीने भी कही है, यथा—'कानन उजारयौ तौ उजारयौ न बिगारयौ कछु बानर बिचारो बाँधि आन्यो हठि हार सों।' (क० ५। ११)। ['कुमारगगामी' कहकर यह भी जनाया कि कुमार्गपर चलनेसे तेज, बल, बुद्धि, जिनसे रणमें जीत होती है, नष्ट हो जाते हैं, यथा—'इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥ ३। २८। १०॥' इसीसे आपके कुमार्गगामी राक्षस अपने पापसे मरे। रावण भी कुमार्गगामी है, यथा—'रे त्रियचोर कुमारगगामी। ६। ३२। ५।' अतः 'कुमारगगामी' शब्द देकर यह भी जनाया कि तेरा भी तेज और बल नष्ट हो गया

है, यथा—'सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं ॥ ३ । २८ । ९ ॥' तू भी अपने पापसे शीघ्र ही नष्ट होगा। यथा—'बिस्व द्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारगगामी ॥ ६ । १०१ । ४।']

नोट—१ यहाँ प्रभु और स्वामी शब्दमें कोई शंकाकी बात नहीं है। दूतको उचित है कि जब जहाँ जैसा उचित समझे वैसा कठोर या कोमल शब्दोंका प्रयोग करे। पहले रावणको 'शठ' कहा, यह उसके 'सुनु सठ' के उत्तरमें। दूसरे, रामदूतकी हैसियतसे अपने स्वामीका बल यहाँ कह रहे थे उस सम्बन्धसे 'तुम्हसे सठन्ह' कहा। अब अपने ऊपर बात लेकर उत्तर देते हैं तब सभ्यता और धर्मशास्त्रकी मर्यादासे उत्तर देते हुए 'प्रभु' और 'स्वामी' सम्बोधन किये गये। 'प्रभो' सम्बोधन वाल्मीकीय और अध्यात्मादि रामायणोंमें भी आया है। यथा—'श्रूयतां चापि वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो। वाल्मी० ५ । ५० । १९ ।', 'दृष्टा मया पद्मपलाशलोचना सीता कपित्वाद्विपिनं विनाशितम्। दृष्ट्वा ततोऽहं रभसा समागतान्, मां हन्तुकामान्धृतचापसायकान्। मया हतास्ते परिरक्षितं वपुः, प्रियो हि देहोऽखिलदेहिनां प्रभो। ब्रह्मास्त्रपाशेन निबध्य मां ततः समागमन्मेघनिनादनामकः ॥' (अध्यात्म० रा० ५ । ४ । १२-१३)। अर्थात् हे प्रभो! मेरे हित वचन सुनिये ॥ १९ ॥ मैं कमलनयनी श्रीजानकीजीका दर्शन कर चुका हूँ। कपिस्वभावसे मैंने वन उजाड़ा। अस्त्र-शस्त्र लिये मुझे मारनेको राक्षस आये, अतः मैंने उनको मारकर अपने शरीरकी रक्षा की। हे प्रभो! अपना शरीर तो सभी देहधारियोंको प्रिय होता है। फिर यह मेघनाद मुझे ब्रह्मपाशमें बाँध लाया। पुनः देखिये कविने रावणके लिये भी 'अवतार' शब्दका प्रयोग किया है, यथा—'कहेसि बहुरि रावन अवतारा।' और इस समय वह बड़ा भारी राजा भी है। तब 'प्रभु, स्वामी' सम्बोधन अनुचित नहीं हैं। तथापि करुणासिंधुजी और मयंककार आदिने इस प्रकार अर्थ किये हैं—(१) प्रभु=स्वामी=राजन्। (२)—हे फल प्रभु! अर्थात् फलोंके मालिक एवं हे कुमार्गगामी लोगोंके स्वामी! कुमार्गगामी मोहि मारहिं। (करु०)। (३) प्रभु (जो हमारे हृदयमें बसे हैं उन) को भूख लगी तब हमने फल खाये। वा, (४) अपने प्रभुके फल हमने खाये। (मा० म०, मा० शं०)। (५) व्यंगभावसे अथवा निर्भयता और निरादरके भावसे। (मा० शं० मो०)। (६)—अपने प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके फल खाये। भक्त सारी सृष्टि और पदार्थोंको प्रभुका ही जानते मानते हैं—इस भावसे ऐसा कहा। (पं०)। इत्यादि।—पर ये सब भाव क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं, खींचतान और वाग्विलास ही हैं।

टिप्पणी—२ 'जिन्ह मोहिं मारा ते मैं मारे।...' इति। (क) तात्पर्य कि हमने किसीको नहीं मारा, अपने प्राण बचानेके लिये मारा। (ख) पहले कहा कि कपिस्वभावसे हमने वृक्ष तोड़े। इसपर यह कहा जा सकता है कि सब वृक्षोंको उखाड़ डालना, यह कौन वानरी स्वभाव है? उसका उत्तर भी इसीमें आ गया। राक्षसोंने हमको अस्त्र-शस्त्रसे मारा, तब हम वृक्ष उखाड़-उखाड़कर मारने लगे।—[वाल्मी० ५ । ५० में भी यही कहा है कि जो लड़नेके लिये मेरे पास आये उनसे मैं भी शरीररक्षार्थ लड़ा। 'ततस्ते राक्षसाः प्राप्ता बलिनो युद्धकाङ्क्षिणः। रक्षणार्थं तु देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे ॥ १५ । १६ ॥' इससे यह भी जनाया कि मैं उनसे कुछ निर्बल तो था नहीं कि मार खाता और न बोलता। पुनः, भाव कि आपके अनुचरोंने मुझे मार डालनेकी नीयतसे मुझपर अस्त्र-शस्त्रसे आघात किया, पर मैं न मर सका और अपनी रक्षाके लिये मैंने तो वृक्षमात्रसे उनपर प्रहार किया, इसीमें वे मर गये तो मेरा इसमें क्या अपराध? (ग) 'तेहि पर बाँधेउ' का भाव कि हमको विना अपराध मारते रहे और फिर हमको ही बाँधा, इससे यह तुम्हारा पुत्र भी कुमार्गगामी है। (घ) 'तनय तुम्हारे' का भाव कि राजाका पुत्र होकर भी इसने अधर्म और अनीति किया जो उसे न चाहिये था। अथवा, जब तुम अधर्मी हो तो तुम्हारा पुत्र क्यों न अधर्म करे? पुनः भाव कि—(ङ) जिन्होंने मुझे मारा उनको मैंने मारकर बदला चुका लिया; पर तुम्हारे लड़केने जो मुझे बाँधा इसका बदला अभी लेना है; अभी मैंने कुछ नहीं किया आगे करूँगा, यह आगेके 'कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा। ६।' में निहित है। अंगदजीने भी इसी तरह कहा है—'याको फल पावहिगो आगे। ६ । ६२।'

नोट—२ लङ्कापुरीको जलाना, रावणके दुर्गका नाश करना, बढ़िया-बढ़िया भवनोंको, अन्न-वस्त्र-द्रव्यादिको, अस्त्र-शस्त्र-यन्त्रालयों इत्यादिको भस्मकर अग्निको तृप्त करना, इत्यादि जो कुछ आग लगनेपर करेंगे वह सब इसी बन्धनका बदला है। प्रमाण वाल्मीकीयमें इसका मिलता है—'भूयः सचिन्तयामास मुहूर्तं कपिकुञ्जरः। (कथमस्मद्विधस्येह बन्धनं राक्षसाधमैः ॥ ३४ ॥ प्रतिक्रियास्य युक्ता स्यात्सति मह्यं पराक्रमे।') अर्थात् पूँछ जलनेपर वे विचार करने लगे कि (मुझसे

व्यक्तिका इन राक्षसोंद्वारा बन्धन कैसे हुआ ? यदि मुझमें पराक्रम है तो इसका बदला लेना चाहिये। (सर्ग ५३)। पर कोष्ठ-कान्तर्गत विचार प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। प्रामाणिक प्रतियोंमें नहीं हैं। विशेष आगे (६) में देखिये।

मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा ॥ ६ ॥
बिनती करौं जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन* ॥ ७ ॥

अर्थ—मुझे कुछ अपने बाँधे जानेकी लज्जा नहीं है। मैं तो अपने स्वामीका काम किया चाहता हूँ ॥ ६ ॥ हे रावण! मैं हाथ जोड़कर विनय करता हूँ; अभिमान छोड़कर मेरा सिखावन सुनो ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१(क) 'न कछु बाँधे कइ लाजा'''।' इससे यह सूचित करते हैं कि हमने अपनेसे अपनेको बँधाया है, इससे मेरे स्वामीका काम निकलेगा। यथा—'करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई ॥ २। १९६।' 'न कछु लाजा' कहनेका भाव कि शत्रुसे परास्त होनेमें वीरको बड़ी लज्जा होती है; यथा—'मेघनाद कै मुरछा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी ॥ ६। ७४।' (ख) प्रभुका कौन काम है जो करना चाहते हैं ? यहाँ कार्यका नाम नहीं बताया क्योंकि नाम लेनेसे सब सजग हो जायँगे, पूँछमें अग्नि न लगावेंगे; लंकादहन न हो सकेगा यही काम है। इसपर यह प्रश्न होता है कि वन उजाड़ना, युद्ध करना और लंकादहन इनकी आज्ञा तो प्रभुने दी नहीं थी तब यह उनका कार्य कैसे मान लें ? इसका उत्तर यह है कि इसमें हनुमान्‌जीकी इच्छा है। उन्हें 'तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा' इसका बदला लेना है। अथवा इसमें भी हरि-इच्छा है, यथा—'हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास। २५।' अथवा, श्रीसीताजीको लौटानेकी वार्ता करेंगे यह 'प्रभु-काज' है। रावणको उपदेश करना, यह प्रभुके मनकी बात है, यथा—'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥' वही आगे हनुमान्‌जी कहते भी हैं। यथा—'बिनती करौं'''। हनुमान्‌जी उत्तम दूत हैं। उन्होंने रामजीके मनका काम किया। 'मोहि न कछु बाँधे''' यहाँतक प्रश्नोत्तर है, आगे शिक्षा है।

नोट—१ वाल्मीकीयमें भी ऐसा ही कहा है—'केनचिद्रामकार्येण आगतोऽस्मि तवान्तिकम् ॥ १८ ॥ (सर्ग ५०), 'वीक्षमाणस्ततो लङ्कां कपिः कृतमनोरथः। वर्धमानसमुत्साहः कार्यशेषमचिन्तयत् ॥१॥ किं नु खल्ववशिष्टं मे कर्तव्यमिह साम्प्रतम्। यदेषां रक्षसां भूयः संतापजननं भवेत् ॥ २ ॥ वनं तावत्प्रमथितं प्रकृष्टा राक्षसा हताः। बलैकदेशः क्षपितः शेषं दुर्गविनाशनम् ॥ ३ ॥ दुर्गे विनाशिते कर्म भवेत्सुखपरिश्रमम् ॥ ४ ॥ (सर्ग ५४)। अर्थात् कुछ काम रामचन्द्रजीका है जिसके लिये तेरे पास आया हूँ। (वह कुछ कार्य एक तो समझानेका है, अतः उससे कहा कि) हमारे हितकारी वचन सुनो। पुनः आग लगनेपर सोचा कि हमारा काम अब इतना शेष है कि किलेका नाश करूँ। पुनः, सर्ग ५३ में कहा है कि मैं अकेला लंकाभरके लिये समर्थ हूँ पर रामकार्यके लिये मैं यह बन्धनका अपमान सह रहा हूँ। यथा—'छित्त्वा पाशान्समुत्पत्य हन्यामहमिमान्पुनः। यदि भर्तृहितार्थाय चरन्तं भर्तृशासनात्। ५। ५३। १२। बध्नन्त्येते दुरात्मानो न तु मे निष्कृतिः कृता। सर्वेषामेव पर्याप्तो राक्षसानामहं युधि ॥ १३ ॥ किं तु रामस्य प्रीत्यर्थं विषहिष्येऽहमीदृशम्। लङ्का चारयितव्या वै पुनरेव भवेदिति ॥ १४ ॥'—प्रथम कार्य तो यही होगा कि ये लोग मुझे नगरमें घुमावेंगे तो मैं दिनमें नगरके सारे गुप्तस्थान जिनको मैं रातमें नहीं देख सका था भलीभाँति देख लूँगा। २—☞ श्रीहनुमान्‌जीद्वारा हम सबोंको यह उपदेश मिल रहा है कि प्रभुके कार्यसिद्धिके लिये, उनके प्रीत्यर्थ हमें अपने शरीरापमानकी लज्जा न करनी चाहिये। मिलान कीजिये 'मोहि न सोच जग कहइ कि पोचू।' इस श्रीभरतवचनामृतसे।

वि० त्रि०—'मोहि न कछु''काजा' इति। 'देखउँ अति असंक सठ तोही' का उत्तर देते हैं कि यदि मैंने कोई अपराध किया होता, तो बाँधे जानेकी लज्जा होती, मैं सिर झुकाकर खड़ा होता, मैं तो बँधकर अपने मालिकका काम किया चाहता हूँ। यदि मैं बाँधा न जाता, तो जो बातें मैं तुमसे करना चाहता हूँ, न कर पाता। मैं तो बँधकर प्रभुका काम कर रहा हूँ। यह सेवकके लिये गौरवकी बात है, लज्जाकी नहीं। यदि कहा जाय कि बँधकर अपने प्रभुका कौन-सा काम करना चाहते हो, तो इसपर कहते हैं कि कुछ अर्ज (निवेदन) करना है। आगेकी चौपाईमें स्पष्ट है।

श्रीलमगोड़ाजी—उपर्युक्त अर्धालियाँ हमारे सत्याग्रह-आन्दोलनके समय जन-श्रुति ही बन गये थे और कितने ही चित्र भी इनपर बन गये। विनम्र निवेदन सत्याग्रहका, विशेषकर जब वह सत्य+शील आग्रह—हो तो कितने प्रबल आयुधका

* 'बिनती'''।' ११७७ वाँ भेद है। 'सुनहु'''।' ११६० वाँ भेद है—(प्र० चं०)।

काम करते हैं—यह १७ जुलाई सन् १९४४ ई० के गांधीजीके उस छोटेसे पत्रसे, जो उन्होंने चर्चिल महोदयको इन्हीं भावोंसे लिखा था, और उसके अंग्रेज जातिपर प्रभावसे विदित ही हो गया है। गांधीजी भी नंगे फकीर (Naked Faqir) कहे जानेसे लजाते नहीं, वरंच प्रसन्न होते हैं और कहते हैं कि मुझे मिलानेसे यह अच्छा है कि आप मुझसे अपनी जाति और उसके द्वारा सारे संसारकी सेवा लें। ☞ हाँ, रामचरितमानसके सत्य-शीलाग्रहमें प्रत्युत्तरमें बलका प्रयोग वर्जित नहीं है।

टिप्पणी—३ 'बिनती करौं जोरि कर रावन''' इति। (क) तात्पर्य कि अपने प्रभुके कार्यके लिये बँधवाया है और तुम्हारे कार्यके लिये विनय करता हूँ (ख) 'कर जोरि' का भाव कि बड़े लोग नम्रता एवं प्रार्थना-पूर्वक उपदेश करते हैं; यथा—'औरौ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि। ७। ४५।', 'कहै बिभीषन पुनि कर जोरी॥ ५। ४०।' हनुमान्‌जी संत हैं। संत शत्रुका भी भला ही करते हैं, यथा—'उमा संत कइ इहै बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥ ५। ४१।'—[हाथ जोड़नेका भाव ऊपर दिया गया और पूर्व चौपाइयोंमें भी विनम्र निवेदनसे उपदेश लगनेकी आशा रहती है। हाथ जोड़ना भयका सूचक नहीं है। यह भी सभ्यता है। लोगोंने इसमें भी खींचतान की है, यथा—(१) 'जोरि कर।' रामजीके चलकर हाथ जोड़ो (क्षमा माँगो)। (२) मैं जोर देकर कहता हूँ। (३) मैं तुझको बिन (बिना) ती (स्त्री) का कर दूँगा—(मा० शं०)। पर ये सब वाग्विलास हैं, इनका प्रमाण कहीं नहीं मिल सकता। रोज देखनेमें आता है कि दुष्टोंके भी लोग समझानेमें हाथ जोड़ते ही हैं। इसी प्रकार दोनों हाथ जोड़नेके भाव यह कहे जाते हैं कि–इस तरह जनाते हैं कि—मेरा सिखावन लोक और परलोक दोनोंके लिये हितकारी है। अथवा ब्रह्माजी और शिवजी दोनोंने तुम्हें वरदान दिया है; तुम उन दोनोंकी प्रतिष्ठा रखनेके लिये मेरी शिक्षा सुनो। इत्यादि। पर ये सब क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।]—'सुनहु' अभीतक 'सुनु' निरादरसूचक पद देते आये, अब 'सुनहु' आदरसूचकपद देते हैं। कारण कि उपदेश देनेमें विनती करते हैं। हाथ जोड़ते हैं: अतएव आदरसूचक शब्द दिया और पूर्व प्रश्नोत्तर और भयदर्शन था इससे वहाँ निरादरका शब्द दिया। (घ) मानी उपदेश नहीं सुनते, यथा—'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारिसिखावन करेसि न काना॥ ४। ८।' अतः मान छोड़नेको कहा। पर रावणने अभिमान न छोड़ा, यथा–'बोला बिहँसि महा अभिमानी।' इसीसे उसे उपदेश न लगा। शिक्षा देते हैं, इसीपर रावण कहेगा कि 'लागेसि अधम सिखावन मोही।'

गौड़जी—हनुमान्‌जी इस स्थलपर किसी राजाके मन्त्रीकी हैसियतसे एक दूसरे राजा रावणको सिखावन देते हैं और वह भी निहायत अदबके साथ जैसा दस्तूर है। हनुमान्‌जी सुग्रीवके मन्त्री हैं और भगवान् रामचन्द्रजीके भी मन्त्री हैं, राजनीतिके महान पण्डित हैं।

देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी। भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी॥ ८॥
जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥ ९॥
तासों बयरु कबहुँ न नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै*॥ १०॥

अर्थ—तुम अपने कुलहीको विचारकर देखो और भ्रमको छोड़कर भक्तोंके भयको दूर करनेवाले प्रभुको भजो॥ ८॥ जिसके डरसे काल अत्यन्त (एवं महाकाल) डरता है, जो सुर, असुर और चराचर-मात्रको खा लेता है॥ ९॥ उससे वैर कदापि न कीजिये, मेरे कहनेसे जानकीजीको दे दीजिये॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) कुलको विचार देखो कि तुम्हारा कुल कैसा है? तुम कैसे उत्तम कुलके हो? यथा—'उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।' ६। २०।' ['कुलहि बिचारी' में यह भी भाव है कि तुम ब्रह्माजीके अत्युत्तम वंशमें उत्पन्न हुए हो तथा पुलस्त्यनन्दन विश्रवाके पुत्र और कुबेरके भाई हो। अतः देख-विचार लो, तुम देहात्मबुद्धिसे भी राक्षस नहीं हो। तुम्हारे पिता, चाचा, पितामह, परपितामह सभी भगवद्भक्त हैं। यथा—'त्वं ब्रह्मणो ह्युत्तमवंशसम्भवः पौलस्त्यपुत्रोऽसि कुबेरबान्धवः। देहात्मबुद्ध्यापि च पश्य राक्षसो नास्यात्मबुद्ध्या किमु राक्षसो नहि॥ अध्यात्म रा० ५। ४। १६।']—ईश्वरका भजन करना तुम्हारा कुलधर्म है। अतएव तुम्हें भी उस कुलधर्मका पालन करना कर्तव्य है। (ख)—'भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी'। इति। रावणको श्रीरामजीके ब्रह्म होनेमें भ्रम है, वह उनको प्राकृत नर जानता है। यथा—'जो भगवंत लीन्ह अवतारा।', 'जौं नररूप भूपसुत कोऊ। ३। २३।' 'जान्यो मनुज करि दनुज कानन दहन

* २२। (८-१०) पायकुलक है—(म० चं०)।

पावक हरि स्वयं। ६। १०३।' जबतक संदेह रहेगा तबतक भक्ति नहीं हो सकती। इसीसे 'भ्रम' को त्याग करनेको कहा। भ्रमके कारण ही उसने वैर किया इसीसे 'बयरु नहिं कीजै' भी आगे कहते हैं। 'भगतभयभारी' का भाव कि जो उनका भजन करते हैं उनका भय वे भक्तवत्सल हरण करते हैं। यथा—'विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां भजस्व रामं शरणागतप्रियम्।'''विमुच्यसे भयात्॥ अध्यात्म० ५। ४। २३' (ग) यदि वह कहे कि मुझे किसका भय है, सभी तो हमारे डरसे डरते हैं, यथा—'पावक पवन पानी भानु हिमवान जम काल लोकपाल मेरे डर डँवाडोल हैं।' (क० सुं० २१)। उसपर कहते हैं कि 'जाके डर अति''' अर्थात् जो काल सुर-असुरको खाता है वह तुमको भी खा सकता है, यह न समझो कि काल तुमसे डरता है। वह अपना अवसर ताक रहा है। तुम कालके वश हो। काल श्रीरामजीको नहीं खा सकता, उनसे डरता है, वे कालके वश नहीं हैं, यथा—'ऊमरितरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥ ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥ आ० १३।' अतएव उनसे वैर न करो। [जो काल रावणसे डरता है, वह शाश्वत काल नहीं है। और यहाँ जिस कालको ये कह रहे हैं वह शाश्वत काल है। 'अहमेवाक्षयः कालः। गीता १०। ३३।', 'काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥ ७। ४१। ५।' भाव यह कि जब रावणादि यम, धर्मराज, कृतान्त, काल इन नश्वर कालको नहीं डरते तब अक्षय काल ही उनको मारता है। (प० प० प्र०)। काल जो लोकपाल वा दिक्पाल देवता है उसको रावणने जीता है। ये देवता तो नश्वर हैं। मन्वन्तरोंमें बदलते रहते हैं। 'लव निमेष परमानु जुग बरष कलप', कला-मुहूर्तादि विभागवाला जो काल है वह अविनाशी है। गोस्वामीजीने स्वयं कहा है कि काल श्रीरामजीका धनुष है और लव-निमेष आदि प्रचण्ड बाण हैं। ये सब अक्षर हैं। यह काल दुरतिक्रम है।] पुनः, भाव कि तुमको डरता है पर रामजीको 'अति' डरता है, अतः उनके आगे वह तुम्हें खा ही लेगा। (घ)—'मोरे कहे जानकी दीजै' इति। यह वैर मिटानेका उपाय बताया। इस तरह वैर मिटाकर शरण हो, तब वे स्नेह करेंगे क्योंकि शरणार्थी उनको बहुत प्रिय है। यथा—'जो सभीत आवा सरनाईं। रखिहौं ताहि प्रानकी नाईं'।—[पुनः, 'मोरे कहे' का भाव कि तुमने मेरा पराक्रम देख लिया कि लंकाका कोई वीर सामने न ठहर सका तब अनेक वानर-यूथपतियों और सुग्रीव तथा श्रीराम-लक्ष्मणके आनेपर तुम्हारी क्या दशा होगी यह समझकर मेरा कहना मान लो। मैं तुम्हारे गुरुका अवतार हूँ, अतः तुम्हें शिक्षा माननी चाहिये।] पुनः, 'वैर कभी भी न करो' का भाव कि वैरके अनेक कारण होते हैं, यदि विरोधका कारण भी कुछ हो तो भी वैर न करो, क्योंकि वैरसे भलाई नहीं, यथा—'तिन्ह सन बयरु किये भल नाहीं। ३। २५।' (ङ) 'मेरे कहनेसे दो।' का भाव यह भी है कि इससे तुम्हारा मान भी रहेगा कि रामदूतने आकर हाथ जोड़कर विनती की तब रावणने जानकीजीको दिया।

☞ रावणको अभिमानी जानकर सभी समझानेवालोंने ऐसा ही कहा है। यथा—'जनकसुता रघुनाथहि दीजै। एतना कहा मोर प्रभु कीजै॥ ५। ५७।' 'तात चरन गहि माँगउँ राखहु मोर दुलार। सीता देहु राम कहँ अहित न होइ तुम्हार॥ ५। ४०।', आगे शरण होनेको कहते हैं। तात्पर्य यह कि बड़ेसे वैर न करो और न बराबरका दर्जा मानकर प्रीति करो; क्योंकि प्रीति और विरोध समानसे किया जाता है, यथा—'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति अस आहि। ६। २३।' [प० प० प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ 'जानकी दीजै' कहनेपर भी रावण रुष्ट न हुआ। कारण कि हनुमान्‌जीके वचन संदिग्ध हैं। 'भजहु भगत भय हारी' से रावणने यह अर्थ लिया कि भक्तभयहारी शिवजीको भजनेको कहता है सो मैं उन्हें भजता ही हूँ, उनसे मेरा वैर है ही नहीं, उनको यह जानकी देनेको कहता है यह पागलपन है। दोहेमें 'रघुनायक खरारि' की शरण जानेको कहा है पर रावण सोचता है कि रघुनायक तो भरत हैं और वे खरारि नहीं हैं। जब 'भजहु राम रघुनायक' कहेंगे तब क्रोध करेंगे।]

☞ ३ (क) सिखावनके लिये मान बाधक है, अतः कहा कि 'सुनहु मान तजि मोर सिखावन'। भ्रम भजनका बाधक है, अतः कहा कि 'भ्रम तजि भजहु भगतभयहारी'। वैर जानकीजीके लौटा देनेमें बाधक है, अतः कहा कि 'तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै॥' (ख) 'जानकी दीजै' का भाव कि जैसे जनक-महाराजने अर्पण किया वैसे ही सुताभावसे दो। यथा—'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई। तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई॥ १। ३२४।'; इसी भावसे औरोंने भी कहा है, यथा—

'जनकसुता रघुनाथहिं दीजै। ५ । ५७ ।' (शुकवाक्य), 'रामहि सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ । ६ । ६ ।' (मन्दोदरीवाक्य) और 'सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे ॥ ६ । २० ।' तथा यहाँ 'मोरे कहे जानकी दीजै' । [पुनः भाव कि जैसे श्रीजनकमहाराजने श्रीजानकीजीको श्रीरामजीके करकमलोंमें समर्पण करके जगत्‌में कीर्ति पायी, वैसे ही तुम भी श्रीरामजीकी खोयी हुई श्रीजानकीजीको अर्पण कर संसारमें कीर्ति लाभ करो। (मा० त० सु०)] वाल्मी० ५ । ५१ । में यही कहा है, 'तत्त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुबन्धि च । मन्यस्व नरदेवाय जानकी प्रतिदीयताम् ॥ २१ ॥' अर्थात् मैंने जो कुछ कहा है वह तीनों कालोंमें हितकर, धर्मयुक्त और शास्त्रसम्मत है । अतः मेरा कहना मानकर, नरेन्द्र श्रीरामजीको श्रीजानकीजी लौटा दो ।

दो०—प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु खरारि ।
गए सरन प्रभु राखिहैं* तव अपराध बिसारि† ॥२२॥

अर्थ—रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी प्रणत (अर्थात् प्रणाममात्र करनेवाले, विनम्र वा दीन होकर आनेवाले प्राणियों) के पालनेवाले, करुणा (अर्थात् पराया दुःख देखकर स्वयं दुखी हो जाने और दुःख दूर करनेमें तत्पर होनेका भाव) के समुद्र हैं, खरके शत्रु हैं, शरणमें जानेपर तेरा अपराध भुलाकर प्रभु शरणमें रखेंगे ॥ २२ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'रघुनायक' विशेष्य है और प्रणतपाल, करुणासिंधु और खरारि उसके विशेषण हैं । (ख) तीन विशेषण देकर जनाया कि (१) प्रणतके लिये ये तीनों गुण धारण करते हैं । उसे पालते हैं, पालन रजोगुण है । उसपर करुणा करते हैं, यह सत्त्वगुण है । उसके लिये खर आदिको वा खलोंको मारते हैं, यह तमोगुण है । वे रघुनायक हैं, अतः प्रणतको सब कुछ देते हैं—यह विशेष्यका भाव हुआ ।—[नोट—यहाँ 'प्रनत' शब्द देकर जनाया कि शरणागतकी तो बात ही कौन, केवल विनम्र होनेसे, एकमात्र उनको प्रणाम करनेसे वे पालनमें तत्पर हो जाते हैं । यथा—'सकृत प्रनामु किहें अपनाए । २ । २९९ ।' 'रघुनायक' अर्थात् वे जीवमात्रके स्वामी हैं, वे प्रणत जीवमात्रपर करुणा करते हैं, एवं रघुकुलमें जितने राजा हुए हैं उन सबमें वे श्रेष्ठ हैं तथा उस रघुकुलके स्वामी हैं जिसमें सभी राजा शरणागत-पालक हुए, अपने हानि-लाभका विचार छोड़कर सदा धर्मपर दृढ़ रहे; यथा—'सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा । सहे धरमहित कोटि कलेसा ॥'; तब ये क्योंकर प्रणतपाल आदि न होंगे ! 'करुनासिंधु' से जनाया कि कितना ही अपराध किया हो तो भी कोप नहीं करते, यथा—'अपराधिहु पर कोह न काऊ । २ । २६० ।' 'खरारि' से जनाया कि वे भगवान् ही हैं, खरादि किसी और से न मर सकते थे; यथा—'खर दूषन मोहि सम बलवंता । तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता ॥ ३ । २३ ।'—(ये स्वयं रावणके विचार हैं) । भगवान् हैं, अतएव शरण जानेमें तुमको लज्जा न होनी चाहिये । शरण न जाओगे तो तुम भी मारे जाओगे । शरणागतके लिये वे करुणासिंधु हैं और विमुखोंके लिये 'खरारी' रूप हैं ।] अथवा, प्रणतपाल बिरद हैं, रघुनायक हैं अर्थात् उत्तम कुल है, करुणासिन्धु स्वभाव हैं, खरारी हैं, दुष्टोंको मारते हैं यह आचरण है । अतएव शरण होनेपर 'राखिहैं' अर्थात् रक्षा करेंगे, वध न करेंगे, यथा—'नाथ दीनदयाल रघुराई । बाघउ सनमुख गए न खाई ॥' पुनः 'राखिहैं' अर्थात् त्याग न करेंगे, यथा—'कोटि बिप्र बध लागहि जाहू । आए सरन तजउँ नहिं ताहू ॥ ४४ । १ ।' (ग) 'तव अपराध' अर्थात् तूने जो अपराध किया है यह क्षमा करने योग्य नहीं; पर वे 'प्रभु' हैं, समर्थ हैं, वे ऐसे भी अपराधको, क्षमाकी कौन कहे, भुला ही देते हैं ।

रामचरन पंकज उर धरहू । लंका अचल राजु तुम्ह करहू ॥ १ ॥
रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका । तेहि ससि महुँ जनि होउ‡ कलंका ॥ २ ॥

अर्थ—श्रीरामजीके चरणकमलोंको हृदयमें धारण करो और लंकाका अचल राज्य तुम करो ॥ १ ॥ पुलस्त्यऋषिजीका यश निर्मल चन्द्रमा है, उस चन्द्रमें कलंक (रूप) मत हो§ ॥ २ ॥

* राखिहैं—भा० दा०, छ० १७२१ । राखिहैं—१७६२ । राखिहै—को० रा० । राखिहि—१७०४, का० ।
† दोहरा दोहा मिश्रित है ।
‡ होउ—भा० दा० । होहु—रा० प्र०, गी० प्र०, ना० प्र० ।
§ २३ (१), 'रिषि''मयंका'—पायकुलक । 'तेहि'' चण्डी है । ब्र० चं० ।

नोट—१ 'प्रनत पाल रघुनायक'... ॥ २२ । रामचरन पंकज उर धरहू ।' इति । इसमें जो श्रीहनुमान्‌जीने उपदेश किया है वह वस्तुतः चरममंत्रका अर्थ ही है । चरममंत्रमें चार अर्थ होते हैं—तात्पर्यार्थ, वाक्यार्थ, प्रधानार्थ तथा अनुसंधानार्थ, यथा—'तात्पर्यार्थोऽस्य विज्ञेय आचार्यरुचिसंश्रयः । वाक्यार्थस्तु मतोऽभिज्ञैरेष निर्णीयते बुधैः ॥ प्राप्य-प्रापकसम्बन्धस्वरूपाभिनिरूपणम् । प्रधानार्थस्तु तद्युग्मकैंकर्यस्य प्रधानता । स्वदोषाण्यनुसन्धानमनुसन्ध्यर्थ उच्यते । एवमेवानुसन्धेयं मोक्षकामैरहर्दिवम् ॥' श्रीहनुमान्‌जीके इस उपदेशका तात्पर्य यही है कि इसको ग्रहण करनेसे श्रीरघुनाथजी प्रसन्न होंगे—यही 'आचार्यरुचिसंश्रय' या 'तात्पर्यार्थ' है । मंत्रके 'प्रनतपाल' 'रघुनायक' शब्दोंमें प्राप्य ब्रह्मका स्वरूप कहा और 'सब अपराध' में प्रापक जीवका स्वरूप कहा । इन्हींमें दोनोंका सम्बन्ध भी दिखा दिया—जीव अपराधी है और प्रभु 'सब अपराध बिसारि' रख लेते हैं, क्योंकि वे रघु (जीवमात्र) के स्वामी हैं, करुणासिंधु हैं एवं प्रणाममंत्रसे पालन करनेवाले हैं ।—यही वाक्यार्थ है । ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण जो 'प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु ...गये सरन प्रभु राखिहैं' में है तथा प्रभुके कैंकर्य 'रामचरन पंकज उर धरहू ।' का उपदेश इस मंत्रका प्रधानार्थ है । जीवका अपनेको सदा दोषयुक्त अपराधी समझना—यह भाव 'तव अपराध बिसारि' में निहित है और प्रभुकी ओरसे प्रणत एवं शरणागतके रक्षण-पालनकी आतुरता 'करुनासिंधु' और 'खरारि' शब्दोंमें स्पष्ट झलक रही है । प्रभु करुणावश तुरंत द्रवीभूत होकर सोचने लगते हैं कि क्या उपाय करूँ कि जिससे इसका दुःख तुरत दूर हो जाय और उसके शत्रुओंके नाशके लिये सदा धनुष-बाण लिये तैयार रहते हैं ।—यही अनुसंधानार्थ है ।

टिप्पणी—१ (क) रामचरणकमलको हृदयमें धारण करनेको प्रथम कहकर श्रीरामचरणारविन्दको लंकामें राज्य करनेका आधार जनाया । चरणको उरमें धरनेका भाव कि चरणोंका धर्म चलना है, इन्हें 'उर धरहु' अर्थात् हृदयसे ये चलायमान न होने पावें तभी लंकाका राज्य भी अचल होगा । पुनः भाव कि अभी तुम्हारे हृदयमें मान और भ्रम भरा है, उनका त्याग करो और उनकी जगह चरणकमलोंको बसाओ । पुनः, चरणको कमल कहकर उरमें धरने और अचल राज्य करनेका भाव कि कमलमें लक्ष्मीका बास है और चरणोंकी उपासना भी लक्ष्मीजीकी है अर्थात् वे सदा चरणोंके समीप ही बसती हैं । अतएव चरणोंको हृदयमें धारण करनेसे तुमको अचल राज्यकी प्राप्ति होगी । (ख) 'अचल राज करहू' का भाव कि 'श्री' परम चंचल है, वह स्थिर नहीं रहती; यथा—'जद्यपि परम चपल श्रिय संतत थिर न रहति कतहूँ । हरिपद पंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ ॥' (विनय ८६ । ३) । वे भी हरिपद प्राप्त करके ही अचल हुई हैं । तुम लंकाका राज्य तो करते हो पर वह अचल नहीं है । इसको अचल करना चाहते हो तो 'रामचरण-पंकज' को अचलरूपसे हृदयमें बसाओ । श्रीरामजीके चरणकमलमें लक्ष्मीजी चरण-चिह्नरूपसे अचल बसी हुई हैं । अतएव हृदयमें श्रीरामचरणारविन्दोंको बसा लेनेसे तुम्हारे यहाँ श्रीजी अचल होकर रहेंगी । इससे यह जनाया कि तुमने जिनसे यह ऐश्वर्य पाया है वे ब्रह्मा और शिव भी तो अचल नहीं हैं, तब उनका दिया हुआ ऐश्वर्य कब अचल हो सकता है और तुम्हारे इष्टदेवोंने भी तो इन्हीं चरणोंकी सेवासे सिद्धि प्राप्त की है । यथा—'जाके चरन बिरंचि सेइ सिधि पाइ संकरहूँ ।'''सकल सुर असुर ईस सब खाये उरग छहूँ ॥' (विनय ८६) । (ग) चरणकमलोंको हृदयमें धारण करनेसे अचल हो जाओगे, कालका भय न रह जायगा, यथा—'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही । सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही' ॥—(मा० त० सु०) । (घ) बंदनपाठकजी—भाव कि जिस उरमें परद्रव्य, परद्रोह और परनारि धरे हो, उसमेंसे उन सबोंको निकालकर रामचरण-कमलको रखो जिसमें हृदय शीतल हो ।] २—'राम चरन पंकज उर धरहू' से परलोकका सुधरना और 'लंका अचल राज तुम्ह करहू' से इह लोकका बनना कहा ।

३—'रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका', यथा—'मुनि पुलस्ति के जस मयंक महँ कत कलंक हठि होहि । गी० ६ । १ ।' प्रथम कहा कि 'देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी', उसीके अर्थको यहाँ स्पष्ट करते हैं कि तू पुलस्त्यकुलोद्भव है इसीसे पौलस्त्य नाम भी है और पुलस्त्यकुलमें सभी भजनानन्दी होते आये हैं, यही विमलयश चन्द्र है, इसमें कलङ्क न बन । इस कुलमें भगवान्‌का वैरी उत्पन्न होना, परतियगामी होना, उस निर्मलयश-चन्द्रमें धब्बा लगाना है, इन आचरणोंसे वह कुल कलङ्कित हो जायगा, कोई पुलस्त्यजीका नाम भी न लेगा, सभी इसे कलङ्की चन्द्रके समान त्याग करेंगे । पुनः—['बिमल मयंक' का भाव यह कि वह मयंक परम स्वच्छ रहनेपर भी गुरुपत्नीगमन-रूपी कलङ्कसे कलङ्कित है किन्तु पुलस्त्य-यशो-मयंक विमल और निष्कलङ्क रहा है] । 'शशि कलङ्क' पर 'चले जहाँ रावन ससि राहू । ३ । २८ । ६ ।' देखिये ।]

रामनाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥ ३॥
बसनहीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥ ४॥
रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई*॥ ५॥

अर्थ—श्रीरामनाम बिना वाणी शोभित नहीं होती। मद और मोहको त्यागकर विचार देखो॥ ३॥ हे सुरारि (देवताओंके शत्रु)! सब (अर्थात् बारहों) भूषणोंसे भूषित सुन्दर श्रेष्ठ स्त्री बिना वस्त्रके (नंगी) नहीं शोभित होती॥ ४॥† रामविमुखकी 'रही, पाई और बिनु पाई' सभी सम्पत्ति और प्रभुता व्यर्थ है॥ ५॥

टिप्पणी १—'रामनाम बिनु···' इति। रावण रामनाम कभी नहीं लेता था। क्योंकि वह उनको शत्रुभावसे भजता था। इसीसे वह श्रीरामजीके लिये नृप, रिपु, नर, तापस, भूप, मनुज, इत्यादि ही शब्दोंका प्रयोग करता था। यथा—'होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनौं नृप नारी॥' (३। २५), 'रिपु उतकरष कहत सठ दोऊ।' (५। ४०), 'रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा।···मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।' ५। ४१), 'कहु तपसिन्हकै बात बहोरी।' (५। ५३), 'कहसि न रिपुदल तेज बल···' (५। ५३), 'रिपु कर रूप सकल तैं गावा।' (६। १६)' 'निज मुख तापस दूत कहाएहु।' (६। २१), 'तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान।' (६। २५), 'भूप सुजस खल मोहि सुनावा' (६। २८), 'जिन्हके बल कर गर्ब तोहि ऐसे मनुज अनेक।' (६। ३० ×), 'हौं मारिहउँ भूप द्वौ भाई।' (६। ७८), 'देहउँ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा।' (६। ७७), 'सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं।'···'जौं रन भूप भाजि नहिं जाहीं।' (६। ८९) इत्यादि। इसीपर कहते हैं कि बिना नामके शोभा नहीं। अर्थात् कुलको अशोभित न करो। पुनः, भाव कि तुम्हारी वाणी जो वेद भाष्य है सो भी बिना रामनामके नहीं शोभित है। 'भनित बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ॥ बिधु बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥' (१। १०) में इसकी व्याख्या देखिये।—[श्रीरामनामसे विमुख होनेसे वेदादिका पण्डित होना भी व्यर्थ है; यथा—'कीबे कहा पढ़िबेको कहा, फल बूझि न बेदको भेद बिचार्‌यो। स्वारथको परमारथको कलि कामद रामको नाम बिसार्‌यो···। क० ७। १०४।' रामनामरहित वाणीकी, चाहे वह शास्त्र, स्मृति, संहिता आदि कोई भी काव्य क्यों न हो, गणना वाणीमें नहीं है। यथा पद्मपुराणे—'शास्त्रं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः काव्यं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः। न संहिता यत्र न रामदेवो न सा स्मृतिर्यत्र न रामचन्द्रः।···' अतः कहा कि 'रामनाम बिनु गिरा न सोहा।'; भाव कि तब जीव बिना रामनामके कैसे शोभित हो सकता है? (वै०)। इसीसे कहते हैं कि 'देखु बिचारि'। अर्थात् बिना ज्ञान-वैराग्यरूपी हृदयके चक्षुओंसे देखे यह न समझ पड़ेगा और ये नेत्र बिना मद-मोह त्यागे नहीं खुलते; यथा—'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।' मोहसे मनुष्य अंधा बना रहता है, पुनः मद और मोह विचारके बाधक हैं, अतः उनको छोड़नेको कहा]।

२ (क) जैसे वस्त्रहीन स्त्री नहीं शोभा पाती, वैसे ही वाणी सब आभूषणों (अर्थात् अलंकार, लक्षण, व्यंजना, ध्वनि आदि) से युक्त हो तो भी बिना रामनामके नहीं शोभा पाती। 'बर नारी' अर्थात् युवावस्थावाली, स्वरूपसे सुन्दर और सौभाग्यवती। सब आभूषणोंके पहननेका अधिकार सावित्रीको ही है; अतः 'बर नारी' कहा। 'बसनहीन' का भाव कि जैसे नग्न स्त्रीको न देखना चाहिये, वैसे ही रामनामरहित कविताको भी न देखना चाहिये। 'सुरारी' का भाव कि ऐसा विद्वान् होकर देवताओंसे वैर करना शोभा नहीं देता। पुनः, [(ख) 'सब भूषन भूषित' का भाव कि बुद्धिरूपी स्त्री सोलहों प्रकार पूजोपचारमें निपुण हो, द्वादशगुण (शील, लज्जा, सत्य, धर्म, स्वच्छता, साधुता, सहनशीलता, संतोष, दया, ज्ञान, वैराग्य, गुरुसेवा) रूपी विभूषणोंसे युक्त हो, बत्तीस अंगरूपी आभरणोंसे युक्त हो, तो भी श्रीराघवजीकी शुद्ध शरणागतिरूपी वस्त्रके बिना नहीं शोभित होती। (मा० त० सु०)। यहाँ 'रामनाम' वस्त्र है, रावण वा रावणकी वाणी 'वर नारी' है, तपार्जित समस्त ऐश्वर्य एवं वेदपाण्डित्य, कुल, बल, वीरता आदिकी श्रेष्ठता इत्यादि 'सब भूषण' हैं। 'रामनाम बिनु गिरा न सोहा' उपमेय वाक्य है और बसनहीन··'बरनारी' उपमान वाक्य है, 'न सोहना' यही दोनोंका एकधर्म है। यह

* 'रामनाम··मोहा' (३), 'सब भूषन भूषित' से 'सुखाहीं।' (६) तक पायकुलक है; 'बसनहीन··।' द्रुतपा है। (ब्र० च०।)
† यथा वैष्णव धर्मरत्नाकरे रामनाममाहात्म्ये—'रामनामविहीनास्तु न शोभन्ते गिरस्तथा। सर्वभूषाभूपितास्तु यथा नार्यो निरंशुकाः।'

'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार है। (वीर)। दीपककारका मत है कि--'गिरा कुमारी रेफ पट, पँच रँग ते रँग धारि। सुने पुन्य रित नग्नवत, शठ तूं गिरा उघारि ॥ ३५ ॥' अर्थात् तेरी वाणी 'कुमारी' स्त्री है, 'रेफ' वस्त्र है, पंचरंगविशिष्ट रामनाम पँचरँगी चुनरीवत् है--प्रथमाकार पीत, द्वितीयाकार श्याम, व्यंजन श्वेत, बिन्दु अरुण तड़ितवत्, अन्तिम अकार नील। (दीपकचक्षुसे)]।

टिप्पणी—३ 'जाइ रही पाई बिनु पाई'। (क)। 'रही'=भूतकालमें मिली हुई। 'पाई'=वर्तमान कालमें जो प्राप्त है। 'बिनु पाई'=जो भविष्यमें प्राप्त होनेवाली है। जाइ (जाय)=व्यर्थ, यथा—'जाय जीव बिनु देह सुहाई'। अथवा, (ख)—'जाइ रही'=चली जायगी। 'पाई' (=पाई हुई; पूर्वकालमें वा वर्तमानकालमें प्राप्त की हुई सम्पत्ति) 'बिनु पाई' (मानो पायी ही नहीं थी) सी हो जायगी। यही बात आगे कहते हैं--'बरषि गये पुनि तबहि सुखाहीं।' अर्थात् वर्षा होनेपर नदीमें जलका आ जाना (किसी सुकृतसे) 'पाई' (हुई सम्पत्ति) के समान है और फिर वर्षाके हो जानेपर नदीके जलका सूख जाना (पुण्योंके क्षीण हो जानेपर) 'बिनु पाई' सम्पत्तिके समान है; मानो वर्षा हुई ही न थी, जल कभी था ही नहीं, सम्पत्ति कभी थी ही नहीं।--[नोट--इसके और भी अनेक प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं।— (ग) 'रही' अर्थात् जो सम्पत्ति है वह 'जाइ' (जाती रहती है), पाई (जो किसी प्रकार पाई है) वह न पाई समान हो जाती है। (पं०)। (घ)--रामविमुखकी सम्पत्ति जो 'रही' वह भी 'जाइ' (व्यर्थ ही है)। क्योंकि परमार्थका साधन नहीं है। और जो प्रभुता 'पाई' अर्थात् हुई भी वह न हुईके समान है क्योंकि संतोंके मतमें वह नहीं ही है। (पं०) (ङ)--'पाई' (=जिसके पाँव हैं अर्थात् जंगम जैसे हाथी, घोड़े आदि) और 'बिनु पाई' (=जिनके पैर नहीं हैं, जैसे कि भूमि, महल आदि); चर और अचर दोनों जाते रहेंगे। (पां०)। (च)--सम्पत्ति और प्रभुताई जाती रहेगी और 'बिनु पाई' (जो तूने नहीं पाई है अर्थात् दुःख और विपत्ति वा, मोक्ष आदि वह तू) 'पाई (पायेगा)। (पां०)। (छ)—जो तूने इस समय पाई है वह 'बिन पाई' अर्थात् विभीषणजीके यहाँ 'जाइ रही' जाकर रहेगी। यथा—'सो संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ।' (मा० त० सु०)। (ज) 'बिनु पाई'=शून्य (०) बराबर। (करु०) ☞अन्तिम चार अर्थ तो वाग्विलासमात्र हैं।]

४—प्रथम 'रामनाम बिनु गिरा न सोहा।' कहकर वाणीकी अशोभा कही और अब 'राम बिमुख बिनु पाई' से लक्ष्मीकी अशोभा कहते हैं। 'सम्पति प्रभुताई' लक्ष्मीजीके ही कृपाकटाक्ष हैं। दोनोंके कथनका अभिप्राय यह है कि दोनों भगवान्‌की शक्तियाँ हैं, भगवान्‌के बिना वे शोभा नहीं पा सकतीं। भगवान् गिरापति हैं, यथा—'तदपि जथाश्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।' वाणीका सम्बन्ध रामनामसे है, वाणीसे रामनाम उच्चारण किया जाता है; इसीसे रामनाम बिना वह शोभा नहीं पाती। श्रीरामजीके लिये लक्ष्मीका खर्च कर तब उसकी शोभा है।--(श्रीलक्ष्मीजी भगवान्‌की पत्नी हैं, अतः माता हैं। जीव उन जगज्जननीका स्वयं पति बन बैठता है। कितना घोर पाप करता है। इसीसे वे रुष्ट हो जाती हैं। उनको प्रभुकी जानकर समस्त सम्पत्ति और प्रभुत्वको प्रभुके ही अर्पण कर देने, उन्हींके कार्यमें लगा देने, सत्कर्मोंमें उसको खर्च करनेसे ही उसकी शोभा है। स्वयं उसका एक ट्रस्टी, अमानतदार, रक्षक आदि बनकर रहे; यथा—'संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही ॥ २। १८। ५।')। (ग) विमुख होनेमें सम्पत्ति चली जाती है, इसीसे 'जाइ रही' कहा। रामनाम बिना वाणी लक्ष्मीकी तरह चली नहीं जाती, किन्तु बनी रहती है, पर उसकी शोभा नहीं रहती; अतः इसके लिये 'न सोहा' कहा। पुनः (घ) '''राम चरन पंकज उर धरहू' यह हृदयका भजन है, 'रामनाम बिनु गिरा न सोहा' यह वचनका भजन है और सम्पत्तिसे सत्कर्म करके रामजीको अर्पण करे यह कर्मका भजन है। इन तीन बातोंको कहकर जनाया कि मन, वचन, कर्मसे भजन करो। वह मन, कर्म, वचनसे हरि विमुख है। इसीसे ऐसा कहा।

सरित* मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं ॥ ६ ॥

* सरित—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सजल-१७०४, कोदवराम, गी० प्रे०। 'सजल' पाठसे अर्थ होगा—'जिन नदियोंके मूल सजल नहीं हैं।' वा 'जिन नदियोंमें जलसंयुक्त मूल (जहाँसे जल निरन्तर बहता ही रहे) नहीं है।' ''सरित'' पाठमें 'सरितमूल' एक शब्द है जिसका अर्थ 'नदीका मूल=जलस्रोत=पहाड़, सर आदि जहाँसे निरन्तर जल बहनेपर भी वह अगाध ही बना रहता है।' पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि प्राचीन पाठ 'सजलमूल' है। 'सरितमूल' पाठ माननेसे भी घूमकर सजलमूल ही अर्थ करना पड़ता है।

सुनु दसकंठ कहौं पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी ॥ ७॥
संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही* ॥८॥

अर्थ—जिन नदियोंमें 'सरितमूल' (अर्थात् पहाड़ या सर जहाँ अथाह जल भरा है और सदा बहता रहता है) नहीं है (केवल वर्षाजल पाकर ही जो बहती हैं) वे वर्षा हो जानेपर फिर तुरंत ही सूख जाती हैं (मानो पानी कभी रहा ही नहीं) ॥ ६ ॥ हे दशग्रीव! मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि श्रीरामजीसे विमुख होनेपर कोई भी रक्षक नहीं हो सकता (अर्थात् तुम्हारे राज्य, कुल और सुन्दर वाणी अर्थात् विद्या, सम्पत्ति और शरीर सभी नष्ट हो जायँगे) ॥ ७ ॥ हजारों शङ्कर, हजारों विष्णु और हजारों ब्रह्मा भी श्रीरामजीके शत्रुकी रक्षा नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'सरितमूल जिन्ह''' इति। सम्पत्तिकी उपमा नदीसे देकर जनाया कि रामविमुखकी सम्पत्ति निर्मूल नदीके सदृश है, जिसका सब पानी बह जाता है। 'सरित-मूल' मूल स्रोत श्रीरामजी हैं, सम्पत्ति और प्रभुता नदी है, यथा—'रिधि सिधि संपति नदीं सुहाई।' सुकृत मेघ हैं, यथा—'सुकृत मेघ बरषहिं सुखबारी।' भाव यह कि किसी सुकृतसे सम्पत्ति-प्रभुताई हुई भी तो शीघ्र ही नष्ट भी हो जाती है जैसे निर्मूल नदी। पुण्य क्षीण हुए कि सब ऐश्वर्यादि गये। पुनः, रामभजन, श्रीरामजीकी शुद्ध शरणागति, श्रीरामसम्मुखता ही अचल सम्पत्ति एवं प्रभुतारूपिणी नदियोंका अचल 'सरितमूल' है जो सदा परिपूर्ण ही बना रहता है। समूल नदी अचल रहती है। वैसे ही जो सम्पत्ति या प्रभुता श्रीरामजीसे सम्बद्ध है वही अचल है। यहाँतक 'सिखावन' है। आगे भयदर्शन है।

२ (क) 'दसकंठ' का भाव कि (कोई रक्षक नहीं है, अतएव) तेरे दसों सिर काटे जायँगे। (यथा—'सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता ॥ ३। २॥') 'कहौं पन रोपी' का सम्बन्ध 'संकर''' से भी है। पहले कहा कि रामविमुखका कोई रक्षक नहीं और अब कहते हैं कि तू तो विमुख ही नहीं, किंतु द्रोही है; अतएव तेरी रक्षा तो त्रिदेव भी यदि आ जायँ तो भी नहीं कर सकते; यथा—'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै रामकर द्रोही॥' (३। २)। (ख) हजारों त्रिदेव भी रक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि श्रीरामजीके ही बलसे उन सबोंमें बल है; यथा—'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत हरत सृजत दससीसा॥' पुनः ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब रामजीके अधीन हैं, यथा—'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥' (१। ५४)। (ग)—रावणकी सम्पत्ति सब शिवजीकी दी हुई है; यथा—'जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिये दस माथ।' शरीरका बल भी शिवजीने ही दिया; यथा—'सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाए। एक एक के कोटिन्ह पाए॥' (६। ९३)। अतएव रक्षकोंमें श्रीशिवजीका नाम आदिमें दिया।

नोट—१ 'त्राता नहिं कोपी।''' राम कर द्रोही॥' इति। वाल्मी० ५। ५१ में भी श्रीहनुमान्‌जीके ऐसे ही वचन हैं। वे कहते हैं 'देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र गन्धर्वविद्याधरनागयक्षाः। रामस्य लोकत्रयनायकस्य स्थातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे॥ ४४॥ ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा त्रातुं न शक्ता युधि रामवध्यम्॥ ४५॥' अर्थात् हे राक्षसराज! देव, दैत्य, गन्धर्व, विद्याधर, नाग और यक्ष कोई भी युद्धमें त्रैलोक्यनायक श्रीरामचन्द्रजीके सामने खड़े रहनेको समर्थ नहीं। स्वयम्भू चतुरानन श्रीब्रह्माजी, त्रिपुरासुरके संहारकर्ता त्रिलोचन रुद्र अथवा देवताओंके राजा महेन्द्र इन्द्र ही क्यों न हों, युद्धमें श्रीराघवके सामने कोई भी रामवध्यकी रक्षा करनेको समर्थ नहीं है। भाव यह है कि जबतक तू चराचर द्रोही रहा तबतक भी शिवादि वरप्रदानादि द्वारा तेरी रक्षा करते रहे, पर जब तू रामविमुख हुआ, वरदाताओंके स्वामीका ही अपराध तूने किया तब वे कैसे रक्षा कर सकते हैं? उनसे बिगाड़ कर तू सुखी नहीं रह सकता। 'न चापि त्रिषु लोकेषु राजन् विद्येत कश्चन। राघवस्य व्यलीकं यः कृत्वा सुखमवाप्नुयात्॥ वाल्मी० ५। ५१। २०॥' ☞ 'त्राता नहिं कोपी' में उपर्युक्त श्लोक ४४ का भाव आ गया और 'संकर सहस''' में श्लोक ४५ से विशेषता यह है कि वहाँ तो ब्रह्मा, स्वयम्भू और चतुरानन तीन नाम देकर तीन ब्रह्मा और रुद्र, त्रिनेत्र और त्रिपुरान्तकसे तीन शङ्कर कहे गये हैं और यहाँ सहस्र शङ्कर, सहस्र ब्रह्मा

* 'सुनु'''।' तामरस; 'बिमुख''', 'संकर''' पादाकुलक और 'सकहिं''द्रोही' नयमालिनी है। (प्र० सं०)

और सहस्र विष्णु कहे गये। विष्णुका नाम श्लोकोंमें नहीं है। विष्णुको भी यहाँ कहकर गोस्वामीजी यहाँ अवतारी श्रीरामजीका अवतार होना सूचित कर रहे हैं। 'सकर' नाम देकर यह भी जनाया कि जिनको तू अपना कल्याणकर्ता मानता है वे भी रक्षा नहीं कर सकते। मिलान कीजिये— 'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही॥ ३। २। ४-५॥'

दो०—मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान। भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान॥ २३॥

अर्थ—मोहका मूल कारण, (वा, मोह जिसका मूल है), बहुत शूलोंका देनेवाला तमोगुणी अभिमान छोड़ दो। रघुनायक (रघुकुल एवं जीवमात्रके स्वामी), दयासागर, भगवान् (षडैश्वर्यसम्पन्न) श्रीरामजीका भजन करो॥ २३॥

नोट—१ 'मोहमूल' का दूसरा अर्थ इससे किया गया कि मोहको 'सकल ब्याधिन्ह कर मूला' कहा है और अहंकार और मानको व्याधियोंमें गिनाया गया है। यथा—'अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नहरुआ॥ ७। १२१॥' रावणमें मोह और अभिमान दोनों हैं। मोहवश श्रीरामजीको मनुष्य समझता है और अभिमानवश है कि समस्त देव-दानव मेरे वश हैं; मुझसे कौन जीत सकता है। इसीसे सीताहरण किया। यथा—'नृप अभिमान मोह बस किंबा। हरि आनिहु सीता जगदंबा॥' (अङ्गदवाक्य)। वही हनुमान्‌जीने कहा है—'हरि आनेहु…'।

२—काम, क्रोध और लोभ आदि शूल हैं जिनसे सन्निपात हो जाता है, जिसका परिणाम मरण है। रावणमें यह सब कहे गये हैं; यथा—'सन्यपात जल्पसि दुर्बादा। भएसि काल बस खल मनुजादा॥ ६। ३२॥' (अङ्गदवाक्य); 'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ। सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥ ५। ३८॥' (विभीषणवाक्य) 'परिहरि' से सूचित किया कि ये सब दोष रावणमें हैं।

३—मोहको मूल कहकर 'तामसी अभिमान' को वृक्ष और 'बहु सूल' को उसके फल जनाये।

टिप्पणी—१ (क) अभिमान समस्त शोकोंका देनेवाला है, यथा—'संसृतमूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥ ६। ७४॥' (ख) 'तम अभिमान' का भाव कि अभिमान सतोगुणी भी होता है जो ग्राह्य है, यथा—'अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें॥ ३। ११॥' तमोगुणी अभिमान त्याज्य है। (ग) 'राम रघुनायक…' इति। 'राम' अर्थात् इनमें सब योगी रमते हैं; यथा—'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते॥' (रा० ता० पू०)। अतएव तुम भी इनका भजन करो। इस कथनसे निर्गुण-उपासना पायी गयी। अतः कहते हैं कि रघुनायक (जो रघुकुलमें दशरथनन्दनरूपसे अवतरे हैं उन सगुण) रामका भजन करो। वे कैसे हैं कि कृपाके समुद्र हैं, भगवान् हैं। अर्थात् कृपालु और सब लायक दोनों हैं, यथा—'प्रभु अकृपाल कृपालु अलायक जहँ जहँ चितहिं डुलावौं'—(विनय०)। श्रीरामजी ऐसे नहीं हैं जैसे और सब हैं; ये तो कृपालु हैं और सब कुछ देनेकी योग्यता भी इनमें है। अथवा, जब कहा कि रामको भजो तब संदेह हुआ कि कौनसे राम? इसपर कहा कि रघुनायक जो कृपा करके सब ऐश्वर्य देते हैं। अथवा, राम हैं, सबके हृदयकी जानते हैं। रघुनायक हैं, अतएव बड़े दाता हैं। कृपासिन्धु हैं, कृपा करते हैं अर्थात् सब कुछ दे सकते हैं। भगवान् हैं अर्थात् अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न हैं। ☞ रावणको ईश्वरत्वमें भ्रम है, इसीसे प्रसंगभरमें ईश्वरत्व वर्णन किया गया है।—['भजहु राम…' कहा क्योंकि बिना भगवद्भजनके जीवका कल्याण नहीं। यथा—'तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहुँ…' (५। ४६)।]

वि० त्रि०—'मोह मूल…भगवान' इति। जिस मोहके वशमें पड़कर तुमने जगदम्बाका हरण किया है, उसे छोड़ो, और जिस अभिमानके कारण तुम्हें मोहका आवरण बना हुआ है, किसीकी शिक्षापर तुम ध्यान नहीं देते उसे छोड़ो। भावार्थ यह कि मेरे सिखावनपर ध्यान दो और जानकीको देकर रामजीको भजो। यदि कहिये कौन राम तो जिसे श्रुति कहती है 'चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ। रघोःकुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः॥' रघुकुलमें जो अवतीर्ण हैं, अवतारका कारण उनकी कृपा है, वे कृपासिंधु हैं, भगवान् हैं। 'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥' प्राणियोंकी उत्पत्ति-प्रलयको जानते हैं, उनके आने-जानेको जानते हैं, और

बन्ध-मोक्षको जानते हैं। वे ही भगवान् आराध्य हैं।

टिप्पणी—२ (क) उपक्रममें अभिमान त्याग करनेको कहा और यहाँ उपसंहारमें भी; यथा—'**सुनहु मान तजि मोर सिखावन**' और '**त्यागहु तम अभिमान।**' (ख)—उपक्रम-उपसंहार दोनोंमें भजन करनेको कहा। यथा—'**भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी। २२। ८।**' और '**भजहु राम रघुनायक**···।' (ग) उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें तीन-तीन विशेषण दिये; यथा—'**प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु खरारि**' और '**राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान।**'

नोट—४ यहाँ उपक्रम 'बिनती करौं···' और उपसंहार 'मोह······भगवान' के बीचमें श्रीहनुमान्‌जीने जीवोंके कल्याणार्थ नौ बातें कही हैं।—(१) जीवके उपदेशक आचार्यका स्वरूप (निरभिमान, सर्वशास्त्रवेत्ता, ज्ञान-वैराग्य-भक्ति-सौशील्यादिगुणोंसे युक्त होना)। '**बिनती करउँ जोरि कर रावन**' इसका उदाहरण है। (२) ऐश्वर्य (ईश्वरत्व अर्थात् सर्वकारण, सर्वनियन्ता और सर्वसृष्टिके आधारभूत परमेश्वरका प्रताप और प्रभाव)। यथा—'**जाके डर अतिकाल डेराई।**···', '**सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया। २१। ४।**' से '**जितेहु चराचर झारि। २१।**' तक। (३) भगवान्‌का स्वाभाविक गुण (प्रणतपालकत्व, शरणागतवत्सलत्व आदि। यथा—'**प्रनतपाल··· गएँ सरन प्रभु राखि हैं···।**' (४)—शरणागत-फल-प्राप्ति। यथा—'**रामचरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू॥**' यह शरणागत होनेका तात्कालिक फल होगा। (५) परम्परागत धर्म (कुलधर्म)। यथा—'**रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होउ कलंका॥**' (६) भगवत्सम्बन्ध-बिना समस्त कृत्योंकी व्यर्थता। यथा—'**रामनाम बिनु गिरा न सोहा**' से '**जाइ रही पाई बिनु पाई।**' तक। (७)—भगवत्-शरणागति बिना अन्य सब साधनोंका अल्पफलदातृत्व। यथा—'**सरितमूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं॥**' (८)— श्रीरामविमुख रामद्रोहीका त्रैलोक्यमें शरणाभाव। यथा—'**बिमुख राम त्राता नहिं कोपी।**' से '**राम कर द्रोही**' तक (९) सिद्धान्त, यथा—'**भजहु राम रघुनायक···**'। (मा० त० सु०)।

२—इस दोहेतक 'भयदर्शन' हुआ। '**कपि बंधन सुनि निसिचर धाए।**' २० (५) से यहाँतक '**रावनहिं प्रबोधी**' प्रसंग है। ३ दोहरा मिश्रित है। (ब्र० चं०)

'बन उजारि रावनहिं प्रबोधी'—प्रसंग समाप्त हुआ।

'पुर दहि नाँघेउ बहुरि पयोधी'—प्रकरण

('पुर दहि'-प्रसंग)

जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी॥ १॥
बोला बिहँसि महा अभिमानी। मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी*॥ २॥

अर्थ—यद्यपि कपि (श्रीहनुमान्‌जी) ने अत्यन्त भलेकी (हितकर), भक्ति, विवेक, वैराग्य और नीतिसे भरी हुई (अर्थात् आदर करने योग्य) वाणी कही॥१॥ तो भी वह महाअभिमानी रावण बहुत हँसकर (ठट्ठा मारकर निरादरपूर्वक) बोला—'हमें बड़ा ज्ञानी वानर गुरु मिला'॥ २॥

नोट—१ '**जदपि कही कपि अति हित बानी।**···' इति। श्रीहनुमान्‌जीके वचन अत्यन्तहितकर हैं। यथा—'**तत्त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुबन्धि च। वाल्मी० ५। ५१। २१।**' अर्थात् मेरा वचन तीनों कालोंमें हितकर धर्मयुक्त और शास्त्रसम्मत है। वाल्मीकिजीने भी इन वचनोंको 'सुन्दर, अदैन्य और अनुपम' कहा है, यथा—'**स सौष्ठवोपेतमदीनवादिनः। वाल्मी० ५। ५१। ४६।**'

टिप्पणी—१ (क) '**अतिहित बानी।**' हनुमान्‌जी संत हैं। संतका धर्म है पराया हित करना; यथा—'**संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥**' अतएव उन्होंने हितके वचन कहे। पुनः, (ख) हित तो एकहीसे हो सकता है पर यहाँ वाणी, भक्ति, विवेक, विरति और नय चारोंसे संयुक्त है; अतएव वाणी 'अतिहित' है। ☞ इन चारोंके धारण करनेसे जीवका अत्यन्त हित होता है—यह उपदेश है।

☞ इस प्रसंगमें छः आवृत्तियाँ हैं; उनको क्रमसे दिखाते हैं।

* अर्धाली (१) से (५) तक पायकुलक है। (ब्र० चं०)।

दो०—'प्रश्नोत्तर अरु कांडक्रम करहु प्रसंग बिभाग। अपराधी तुम्ह असुर सब मोहि अपराध न लाग ॥ १ ॥
त्याग ग्रहण फल तीन को करहु बिभाग बिचारि। भक्ति विवेक विरति नय पृथक पृथक निर्धारि ॥ २ ॥

(१)—प्रश्न	उत्तर
केहिके बल	(१) 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया' से 'जाके बल लवलेस तें जितेहु···' तक
कह लंकेस कवन तैं कीसा	(२) 'तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि।'
की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही	(३) 'जानौं मैं तुम्हारि प्रभुताई' से 'समर बालि सन करि जसु पाव' तक
केहि के बल घालेहि बन खीसा	(४) 'खायेउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि सुभाउ तें तोरेउँ रूखा॥'
मारे निसिचर केहि अपराधा	(५) 'सब के देह परमप्रिय स्वामी' से 'जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे' तक

यहाँ तक प्रश्नोत्तर हुए। आगे सिखावन है—'बिनती करौं जोरि कर रावन।' इत्यादि। इति प्रथमावृत्तिः।

(२)—द्वितीयावृत्तिमें रूप, अवतार, हेतु और लीला कही।—

(क) प्रथम भगवान्‌का निज रूप कहा—'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया' से 'अंडकोस समेत गिरि कानन' तक

(ख) फिर अवतार कहा—　　'धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता'

(ग) अवतारका हेतु कहा—　　'तुम्ह से सठन सिखावनदाता।'

(घ) अवतारकी लीला कही। इसमें बाल, अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डोंके चरित कहे। 'हरकोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृपदल मद गंजा॥' यह बालकाण्ड हुआ। 'खरदूषन त्रिसिरा' का वध अरण्यकाण्ड है। वालिवध किष्किन्धाकाण्ड है। 'खायेउँ फल प्रभु लागी भूखा' से 'तेहि पर बाँधेउँ तनय तुम्हारा' तक सुन्दरकाण्ड है। इतनी लीला अभी तक हुई सो कही।

बीचमें अयोध्याकाण्ड क्यों छोड़ दिया ? उत्तर—अयोध्याकाण्ड भरतचरित है, यथा—'भरतचरित करि नेम···।' हनुमान्‌जी रामचरित कहकर उसको श्रीरामजीका बल दिखा रहे हैं, इसीसे अयोध्याकाण्ड न कहा। इसी प्रकार नाम-वन्दना-प्रकरणमें भी जहाँ रामसे रामनामको अधिक कहा है वहाँ भी सब काण्ड कहे पर बीचका अयोध्याकाण्ड नहीं कहा; यथा— 'भंजेउ राम आपु भवचापू।'—(बाल), 'दंडकबन प्रभु कीन्ह सुहावन···' (अरण्य), 'सबरी गीध सुसेवकनि' (किष्किन्धा), इत्यादि—बा० दोहा २३-२४ (८ देखिये। इसी तरह मन्दोदरी आदिके वाक्योंमें अयोध्याकाण्डका चरित नहीं है, यथा—'भंजि धनुष जानकी बिबाही।···सुरपतिसुत जानइ बल थोरा॥' (६। ३५)। इत्यादि। पुनः, यथा—'जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड। खरदूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड॥ ३। २५।'

(३) तृतीयावृत्तिमें सबका अपराध और अपनी सफाई कही—
राजाका अपराध—'तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि।'
राक्षसोंका अपराध—'मारहिं मोहिं कुमारगगामी।'
मेघनादका अपराध—'तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा।'
अपनी सफाई—'खायउँ फल प्रभु लागी भूखा' इत्यादि।

(४) चतुर्थावृत्तिमें तीन बार 'सुनु' पद देकर इस प्रसंगमें तीन भाग जनाये। यथा—'सुन रावन ब्रह्मांड निकाया', 'सुनहु मान तजि मोर सिखावन', 'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी।' प्रथम भागमें प्रश्नोत्तर दिया, दूसरे भागमें शिक्षा दी और तीसरे भागमें भय दिखाया। इति चतुर्थावृत्तिः।—यह 'प्रसंग विभाग' है।

(५) पञ्चमावृत्तिमें त्याग, ग्रहण और फल तीनोंका विभाग है—(क) मान, भ्रम, वैर, मद, मोह, तम और अभिमान इन छः का त्याग कहते हैं; यथा क्रमसे—'सुनहु मान तजि···', 'भ्रम तजि भजहु···', 'तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजे', 'देखु बिचारि त्यागि मद मोहा', 'मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।' (ख) ग्रहण पाँच वस्तुओंका कहा। (१) भजन करो; (२) अपना भय दूर करो; (३) श्रीजानकीजीको देकर शरण हो; (४) रामचरण उरमें धरो; (५) भजन करके ईश्वरके कृपापात्र बनो। क्रमसे इनके उदाहरण, यथा—'भजहु', 'भगतभयहारी', 'मोरे कहे जानकी दीजे', 'गए सरन प्रभु राखिहैं,' 'राम चरनपंकज उर धरहू' और 'भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु।' (ग) अब इन पाँचोंका फल कहते हैं। क्रमसे यथा—(१) अचलराज; यथा—'लंका अचलराज तुम्ह करहू।' (२) कुलकी शोभा

यथा--'रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होउ कलंका॥' (३) वाणीकी शोभा, यथा—'रामनाम बिनु गिरा न सोहा।' (४) संपत्तिकी स्थिरता, यथा--'रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥' (५) शरीरकी स्थिरता' यथा—'संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही।' इति पंचमावृत्तिः।

(६)—षष्ठावृत्तिमें भक्ति और विवेक आदिका विभाग करते हैं।—

भक्ति--'देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी' से 'रामचरनपंकज उर धरहू' तक।

विवेक--'रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका' से 'बसन हीन नहिं सोह सुरारी' तक।

विरति--'राम बिमुख संपति प्रभुताई' से 'बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं' तक।

नीति--'सुनु दसकंठ कहौं पन रोपी' से 'भजहु राम रघुनायक''भगवान' तक।

☞नीतिशास्त्र कहता है कि जो अपनेसे बल-बुद्धिमें बड़ा हो उससे वैर न करे।--[श्रीहनुमान्जीके उत्तरमें सामादि चारों नीतियाँ दिखायी गयी हैं। 'बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥' में साम, 'लंका अचल राज तुम्ह करहू' में दाम, 'रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होउ कलंका॥' में भेद और 'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी' से 'सकहिं न राखि राम कर द्रोही' तक दण्ड है।]

नोट--२ मा० त० सु० का मत है कि यहाँ तीन आवृत्तियोंमें भक्ति, विवेक, वैराग्य और नीति समझायी गयी है। 'बिनती करउँ' से 'अपराध बिसारी' तक प्रथम आवृत्ति, 'रामचरन पंकज' से 'भूषित बर नारी' तक द्वितीय और 'रामबिमुख संपति' से 'कृपासिंधु भगवान' तक तृतीयावृत्ति है। और प्रत्येक आवृत्तिमें भक्ति आदि चारों हैं। जैसे कि प्रथमावृत्तिमें 'प्रनतपाल''बिसारि' भक्ति है, 'सुनहु मान तजि''' विवेक है, 'भ्रम तजि भजहु' वैराग्य और 'तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै।' नीति है। द्वितीयमें 'रामचरन''' भक्ति, 'बसनहीन''' विवेक, 'त्यागि मद मोहा' विरति और 'रिषि पुलस्ति'''कलंका' नीति है। इसी प्रकार तृतीयावृत्तिमें 'भजहु राम''' भक्ति, 'रामबिमुख त्राता नहिं कोपी' विवेक, 'त्यागहु तम अभिमान' विरति और 'रामबिमुख संपति पाई' नीति है।☞इस प्रकार तीन-तीन बार प्रत्येक वस्तुको कथनकर उपदेश देते हैं कि यदि इतना कहनेपर भी मनुष्य अपने आचार्यवाक्यका निरादर करे तो रावणके समान क्लेश पाता है।

प० प० प्र०—(क) "हनुमान्जीके उत्तरोंमें ग्रथित अन्य सिद्धान्त"—(१) ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि देवताओंकी शक्ति रामशक्तिका ही अंश है। अन्य बलवानोंका बल भी रामबलका अंशांश है।

(२) उद्भव, पालन, प्रलय और प्रलय, उद्भव, पालनका चक्र अनादिकालसे चला आ रहा है।

(३) क्षुधा शमन करनेवाले पशु-पक्षी आदिका विरोध करना पाप है, अपराध है।

(४) अभिमान विनाशका मूल है।

(५) स्वामिकार्यमें लोकलज्जा, अपमान, दण्ड आदिकी परवा न करनी चाहिये।

(६) आत्म-संरक्षणमें प्राणिवध या मनुष्य-हत्या पाप या अपराध नहीं है।

(७) निष्प्रभ हुए अभिमानी सत्ताधीश अपना अपमान हँसीमें उड़ाते हैं।

(ख) हितोपदेशकमें ये लक्षण होने चाहिये- -विनय; दयाशीलता, परहितकी तीव्र इच्छा; निर्भयता, स्वार्थ-विमुखता; अनीति-विमुखता; नीति, विरति, ज्ञान-भक्ति-निपुणता इत्यादि।

टिप्पणी--२ बोला बिहँसि''' इति। (क) वाणीके निरादरार्थ हँसकर बोला क्योंकि महा अभिमानी है। अभिमानी उपदेश नहीं मानते, यथा--'अस कहि चला महा अभिमानी। तृनसमान सुग्रीवहि जानी॥४।८।१।' (ख) 'महा अभिमानी' का भाव कि हनुमान्जीने अभिमान त्याग करनेको कहा तो भी इसने उसे न छोड़ा। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि वह 'महा अभिमानी' है, वह अभिमान नहीं त्याग सकता। [☞अभिमानी, कामी, क्रोधी आदिको भगवत्तत्त्वका उपदेश करनेका निषेध किया गया है, यथा—'कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि।' इत्यादि। तब हनुमान्जीने क्यों उपदेश किया? इससे कि वे महारुद्रावतार होनेसे उसके भी गुरु हैं। शंकरजी त्रिभुवनके गुरु हैं, यथा--'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना।१।१११।' गुरुका कर्तव्य है उपदेश करना, शिष्य माने या न माने। यथा—'गुर नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम। मोहि उपजहि अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई॥७।१०५॥''मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती। गुर कर द्रोह करउँ दिन राती॥' (भुशुण्डि वाक्य)। इसी तरह मानी रावणको उपदेशपर क्रोध हुआ।] (ग) 'मिला हमहि कपि गुर' का भाव

कि आजतक वानर गुरु किसीको न मिला था, हमको मिला। सरस्वती जनाये देती है कि हनुमान्‌जी शिवजीके अवतार हैं। पर अभिमानका मारा रावण न जान पाया।

नोट—३ 'कपि गुर' कथनसे स्पष्ट है कि रावण समझ गया कि जो वचन हनुमान्‌जी कहे हैं वे सद्‌गुरु-उपदेशके समान हैं। मोह, भ्रम, मान, अभिमान आदि कुरोगोंका नाश तभी होता है जब सद्‌गुरु मिलें और उनके उपदेशमें श्रद्धा और विश्वास हो और वे श्रीरघुपति-भक्तिरूपी औषध देवें। यथा—'**रामकृपा नासहिं सब रोगा।**'''**सद्‌गुर बैद बचन बिश्वासा।**'''**रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा**'''। ७। १२२।'— यहाँ श्रीहनुमान्‌जी सद्‌गुरुरूपसे हितोपदेश कर रहे हैं, पर वह ग्रहण नहीं करता।

४—हास्यकालमें अभिमानजनित हँसी और व्यंग्य वचन कितने सुन्दर हैं। (लमगोड़ाजी)।

प० प० प्र०—'**मिला हमहिं कपि गुर बड़ ग्यानी**' इति। रावणके अन्तरंगमें तो ये वचन यथार्थ हैं। रावणके मनमें जो संशय था कि ये राम भगवान् हैं या नहीं वह इनके उपदेशसे नष्ट हो गया, 'सद्‌गुरु मिले जाहिं **जिमि संसय भ्रम समुदाइ**। ४। १७।'; अतः पूर्वकी हुई प्रतिज्ञापर, कि '**तौं मैं जाइ बैर हठि करऊँ**। ३। २३। ४।', वह अब परम दृढ़ हो गया। इसीसे आगे अब जो कोई 'जानकी दीजै' कहता है उससे रुष्ट होता है—इसमें अपवाद केवल मंदोदरी है।

सद्‌गुरुके उपदेशसे विरोधी-भक्ति दृढ़ हो गयी। विरोधीभक्ति प्रथानुसार गुरुकी दक्षिणा भी देनी चाहिये। रामविरोधभक्तिकी सिद्धिके लिये 'गुरुविरोधभक्ति' भी करना क्रमप्राप्त हो गया। आगे '**मृत्यु निकट आई खल तोही**' में का 'खल' आवाहनकी पुष्पाञ्जलि है। 'मृत्यु निकट' दक्षिणा है, पूँछ जलाना धूपदीप है। नैवेद्य तो पहले ही भक्षण कर चुके हैं। '**उलटा होइहि**' यह देवताका आशीर्वाद है। गुरुपूजन मन्त्रोपदेशके पूर्व ही किया जाता है पर रावणकी पूजाविधि उल्टी है।

वि० त्रि०—रावण हनुमान्‌जीका उपदेश चुपचाप सुनता रहा। जब उन्होंने '**भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान**' कहकर समाप्त किया, तब हँसा कि स्वयं बन्दर होके उपदेष्टा बना है, और मनुष्यके भजन करनेका उपदेश दे रहा है। रावणने सदा मनुष्य और बन्दरको हेय दृष्टिसे देखा। सो बन्दरका इतना बड़ा साहस कि मुझे उपदेश दे। '**उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये**'। रावणकी यह हँसी प्रसन्नताकी हँसी नहीं है, क्रोधकी हँसी है। वह महाअभिमानी है, उपदेशके पथ्यापथ्यका विचार नहीं करता, यथा—'**मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥**' इसी भाँति हितोपदेश देनेवाले मारीचपर बिगड़ गया, यथा—'**गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा॥**'

मृत्यु निकट आई खल तोहीं। लागेसि अधम सिखावन मोहीं॥ ३॥
उलटा होइहि कह हनुमाना। मति भ्रम तोहि * प्रगट मैं जाना॥ ४॥

अर्थ—अरे दुष्ट! तेरी मृत्यु निकट आ गयी है। अरे अधम! तू (अधम होकर भी) मुझे सिखाने लगा है॥ ३॥ हनुमान्‌जीने कहा कि इसका उलटा होगा। (अर्थात् तेरी मृत्यु होगी, मेरी नहीं)। मैं प्रत्यक्ष जान गया कि तुझे बुद्धिमें भ्रम हो गया है॥ ४॥

टिप्पणी—१ '**मृत्यु निकट**' इति। (क)—भाव कि तूने हमें उपदेश दिया, हम तुझको गुरुदक्षिणामें 'मृत्यु' देते हैं। यथा—'**कह कपि मुनि गुर दछिना लेहू। पाछे हमहिं मंत्र तुम देहू॥** ६। ५७।' (कालनेमिप्रति श्रीहनुमत्-वचन) [श्रीहनुमान्‌जीने कालनेमिको गुरुदक्षिणामें '**सिर लंगूर लपेटि पछारा**' अर्थात् मृत्यु दी है! 'निकट' का भाव मेरी मृत्यु तो बहुत दूर है, पर तुझे मैं अभी तुरंत मृत्युके हवाले करता हूँ। (ख) '**लागेसि अधम**''' इति। छोटे मुँह बड़ी बात कहनेसे रावणने 'अधम' सम्बोधन किया। यथा—'**रे कपि अधम मरन अब चहसी। छोटे बदन बात बड़ि कहसी॥** ६। ३०×।' (अंगद प्रति रावणवाक्य)। क्रोधमें परुष वचन निकलते ही हैं, यथा—'**क्रोधके परुष बचन बल**'। खिसियाया हुआ है क्योंकि उत्तर नहीं सूझता। अथवा, वानर-शरीरके विचारसे कहा। यथा—'**अधम सरीर राम जिन्ह पाये**'। अधम, यथा—'**अस मैं अधम सखा सुनु**'''।' (ग) 'सिखावन मोही' का भाव कि मैंने वेदोंपर भाष्य किया, मुझ पण्डितको एक पशु शिक्षा दे। इसकी सजा वध है। अतः कहा कि तेरी मृत्यु निकट आ गयी। वा, मैं जगत्-मात्रको शिक्षा देनेवाला हूँ, तू मुझे सिखाता है? शिक्षा देनेपर रावणको क्रोध होता है; यथा—'**गुर जिमि मूढ़ करसि मम**

* तोरि—ना० प्र०, म० चं०। तोहि—छा०, का०। भा० दा०, १७२१, १७६२, १७०४। तोर—कोदवराम।

बोधा'। कहु जग मोहि समान को जोधा ॥ ३ । २६ ।' (रावणवचन मारीचप्रति); 'सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहि तोहि सिखाई ॥ ··· ६ । १० ।' (प्रहस्तप्रति), 'रे कपिपोत बोलु संभारी। मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी ॥ ६ । २१ ।' (अंगदप्रति) 'बूढ़ भएसि न त मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही ॥ ६ । ४८ ।' (माल्यवान्-प्रति), 'सुनि दसकंठ रिसान अति तेहि मन कीन्ह बिचार। रामदूत कर मरौं बरु यह खल रत मल भार ॥ ६ । ५५ ।' (रावण-कालनेमि-प्रसङ्ग)। इत्यादि।

२—'मति भ्रम तोहि···', इति। (क) श्रीहनुमान्‌जीको बुद्धिमान् देखकर रावण इनकी किसी वाणीका उत्तर न दे सका। उसने समझ लिया कि उत्तर देते ही यह सभाभरमें हमको बेवकूफ (मूर्ख) बनायेगा; क्योंकि जितने प्रश्न हमने किये उनका उत्तर इसने तुरंत दिया, हमारी सब बातोंको काट डाला। रावणका यह कहना कि तूने हमको शिक्षा दी अतः तू वध योग्य है, गलत है; क्योंकि शिक्षा देना मृत्युका चिह्न नहीं है। 'मृत्युका यथार्थ चिह्न क्या है', इसे हनुमान्‌जी उत्तरमें कहते हैं कि 'तेरे बुद्धिमें भ्रम हो गया है, इससे तुझे उलटा समझ पड़ता है, मरेगा तो आप और कहता है मुझको।' (ख) 'प्रगट' का भाव कि शास्त्रमें कहा है कि जिसकी बुद्धिमें भ्रम होता है उसकी मृत्यु होती है। अब हमने तेरी बुद्धिमें भ्रम प्रकट देख लिया कि हितोपदेश भी तुझे अहित समझ पड़ा, इसीसे निश्चय हो गया कि तेरी मृत्यु होगी। यथा—'तकइ नीच जो मीच साधुकी सो पामर तेहि मीचु मरै'—(विनय) ※ 'हित मत तोहि न लागत कैसें। काल बिबस कहुँ भेषज जैसें ॥ ६ । १० ।' (प्रहस्त-वचन)। हितको अहित, अहितको हित समझना यह भ्रम है। भ्रम होनेपर उलटा ही सूझता है, यथा—'जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ॥ ७ । ७३ ।' भ्रम, और अभिमान दोनों मृत्युके चिह्न हैं, यथा—'मंदोदरी हृदय अस जाना। कालबस्य उपजा अभिमाना ॥ ६ । ८ ।' 'मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहि काल बस मति भ्रम भयऊ ॥ ६ । १६ ।', 'निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥ ६ । ३६ । इत्यादि। हनुमान्‌जीने इन दोनोंको त्याग करनेको कहा, पर वे दोनों उसमें अब भी प्रकट दिख रहे हैं, यथा—'बोला महा अभिमानी' और 'मति भ्रम तोहि'। पूर्वापर दोनों जगह मृत्युका हेतु कहा।

सुनि कपि बचन बहुत खिसिआना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना ॥ ५ ॥
सुनत निसाचर मारन धाए। सचिवन्ह सहित बिभीषन आए† ॥ ६ ॥

अर्थ—कपिके वचन सुनकर (रावण) बहुत खिसियाया (लज्जित हुआ और लज्जाके कारण कुपित होकर राक्षसोंसे कहा कि) इस मूर्खके प्राण शीघ्र ही क्यों नहीं हरण कर लेते ? ॥ ५ ॥ सुनते ही निशाचर मारने दौड़े। (उसी समय) विभीषणजी मंत्रियोंसहित आये ॥ ६ ॥

नोट—'हास्यकलामें 'खिसिआना' की झेंप और हँसीसे निर्हंस (क्रोध) स्वाभाविक ही है।' वाल्मीकिजी लिखते भी हैं कि क्रोधके मारे रावणके नेत्र लाल हो गये। २—नाटकीय कलामें रंगमंचपर कितना सुन्दर दृश्य बन पड़ा ? फिर मंत्रियोंके आनेका अवसर (Enter) तो नाटकी और महाकाव्य दोनों कलाओंकी जान ही है ३—फिल्मकला भी निछावर है। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'बहुत खिसिआना'। भाव कि खिसियाया हुआ तो पूर्व ही था जब उत्तर न बन पड़ा था और अब अपने वचनका प्रत्युत्तर सुनकर 'बहुत खिसिआना'। तात्पर्य कि उत्तर बन पड़ता तो खिसिआता नहीं, उत्तर देता अथवा, कठोर वचन सुनकर बहुत खिसियाया, यथा—'परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन ॥ ५ । ९ ।' वहाँ भी तो सीताजीके वचनोंका उत्तर न बन पड़ा था। (ख) 'बेगि न हरहु' का भाव कि यदि शीघ्रता न करोगे तो यह फिर कुछ कहेगा। (ग) 'मूढ़' का भाव कि जो शास्त्रमर्यादाको जानता है, वह राजाका अपमान करनेवाले वचन राजासे नहीं कहता, यह शास्त्र कुछ नहीं जानता, कुछ पढ़ा नहीं है, मूढ़ है। (घ) शरीरसे 'अधम' है, विद्याहीन होनेसे मूढ़ है, और कटुवादी है, अतः वध योग्य है, यथा—'कटुबादी बालक बध जोगू।' अतएव शीघ्र प्राण लेनेको कहा। अथवा, (ङ) पूर्वमें वह कह चुका है कि 'मृत्यु निकट आई खल तोही'; अतएव प्राण हरनेको कहा।

※ यथा—'मुमूर्षूणां हि मन्दानाम् नतु स्युर्विप्लुता गिरः'। यहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ बराबर होनेसे 'तुल्यप्रधान गुणीभूत' व्यङ्ग है।

† प्र० चं०—'सुनत०' तामरस, 'सचिवन्ह०' 'चण्डी'।

२ (क)—शीघ्र प्राण हरनेको कहा, अतः 'धाए' । पुनः, 'धाए' से जनाया कि राक्षस हनुमान्‌जीके डरसे दूर बैठे थे, क्योंकि वे जानते हैं कि उसने 'परतिहुँ बार कटक संहारा', गिरतेमें भी लाखोंका नाश किया था; ऐसा न हो कि उचककर गिरे तो हमारा मरण हो जाय । राक्षस हनुमान्‌जीके पास नहीं पहुँच पाये थे कि विभीषणजी वहाँ पहुँच गये और उन सबोंको मना कर दिया, तब रावणके पास गये । उनका प्रथम ही राक्षसोंको निवारण करना सूचित होता है; क्योंकि यदि वे पहले रावणके पास जाते और प्रार्थना करते तो तबतक राक्षस हनुमान्‌जीके पास पहुँचकर मारने लगते ।—(वाल्मीकीय और अध्यात्मके अनुसार श्रीविभीषणजी सभामें पूर्वसे ही विराजमान थे । उन्होंने रावणके पार्श्व (बगल) में खड़े हुए राक्षसोंको मारनेके लिये तैयार देख उन राक्षसोंको रोककर रावणसे प्रार्थना की । यथा अध्यात्मे—पार्श्वे स्थितं मारय खण्डशः कपिं ···। निवारयामास ततो विभीषणो महासुरं सायुधमुद्यतं वधे ॥ ५ । ४ । ३० ।' गोस्वामीजी मन्त्रियोंसहित विभीषणजीका ठीक उसी समय आगमन कहकर रावणसे बातचीत करना प्रारम्भकर जनाते हैं कि विभीषणजीने कितनी शीघ्रता की । इसीसे उन्होंने राक्षसोंको रोकना कहा । अथवा, प्रथमसे ही प्रार्थना की कि दूतको न मारिये यह नीतिके विरुद्ध है—यह रावणके भाईके मुखसे सुनकर राक्षस स्वयं रुक गये; इससे न लिखा गया । (ख) 'सचिवन्ह सहित' से जनाया कि प्रत्येक दिन मन्त्रियोंसहित आया करते थे । आगे भी लिखते हैं कि 'सचिव संग लै नभपथ गयेऊ' । (ग) ठीक इसी समयके आगमनसे ज्ञात होता है कि विभीषणजी पता लगाये रहे थे । जब उन्होंने सुना कि हनुमान्‌जीको बाँधकर मेघनाद सभामें ले गया है, तब हनुमान्‌जीकी सहायताके लिये आये और युक्तिसे सहायता की । अथवा, परमेश्वरकी इच्छामें इस समय आना हुआ । रामकृपासे भक्तोंको दुर्योगमें भी सुयोग हो जाता है । जैसे, (१) 'लागि तृषा अतिसय अकुलाने' तब स्वयंप्रभा मिली जिससे समुद्रतटपर जानेका योग लगा । यथा—'नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा । ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा ॥ ४ । २५ ॥'; (२) समुद्रके तटपर वानर सोच करने लगे तब सम्पाती मिल गया; यथा—'जो नाँघइ सत जोजन सागर । करइ सो रामकाज मति आगर ॥ ४ । २९ ॥'; (३) हनुमान्‌जी मनमें तर्क करने लगे, उसी समय विभीषणजी मिले जिससे सीताजीके समीप पहुँचनेका योग लगा । यथा—'तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता । देखी चहौं जानकी माता ॥ ५ । ८ ॥'; (४) तरुपल्लवमें छिपकर हनुमान्‌जी विचार करने लगे तब रावण आया जिससे मुद्रिका देने और वार्ता करनेका योग लगा । तथा यहाँ (५) राक्षस हनुमान्‌जीको मारने दौड़े, तब विभीषणजी आये, अब लङ्का जलानेका योग लगा ।

नाइ सीस करि बिनय बहूता । नीति बिरोध न मारिय दूता ॥ ७ ॥
आन दंड कछु करिअ गोसाँई । सबहीं कहा मंत्र भल भाई* ॥ ८ ॥

अर्थ—रावणको सिर नवाकर उन्होंने बहुत विनती की कि दूतको न मारिये; यह (कर्म) नीतिके विरुद्ध है ॥ ७ ॥ हे स्वामी ! कोई दूसरा (साधारण) दण्ड दीजिये । यह सुनकर सभीने कहा—'भाई ! यह मन्त्र (सलाह, सम्मति) उत्तम है' ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'नाइ सीस करि बिनय बहूता ।···' इति । (क) [अपनेसे बड़ेसे बोलनेमें अथवा अपने मनोरथकी सिद्धि एवं यों भी विशेष विनयके पूर्व मस्तक नवानेकी रीति है । यथा—'चरन बंदि करि बिनय बिसाला', 'नाइ सीस पुनि कह कर जोरी', 'माथ नाइ पूछत अस भयऊ', 'तब सिरु नाइ भरत कर जोरे', 'करि प्रनाम बोले भरत जोरि···' ।] (ख) बहुत विनय वाल्मीकि और अध्यात्ममें स्पष्ट है । बहुत विनतीका कारण यह है कि उस समय रावणको बहुत क्रोध था, सामान्य विनयसे वह कहना न मानता । इसीसे पहले बहुत विनय करके विभीषणजीने उसे प्रसन्न किया, तब नीतिका विरोध दिखाया ।

नोट—१ वाल्मी० ५ सर्ग ५२ में विभीषणजीका पूरे सर्गमें विनय है । जिसका खुलासा यह है—क्षमा कीजिये, क्रोध छोड़िये, प्रसन्न हूजिये । मेरी बात सुनिये । दूतका वध करना धर्म-विरुद्ध, लोकव्यवहारसे निन्दित और राजधर्ममें निपुण राजाओंके अयोग्य है । योग्य-अयोग्यका विचार करके आप दण्ड दें । इतना सुनकर उसने क्रोधसे उत्तर दिया कि पापीके वधमें पाप नहीं है । मैं अवश्य इसका वध करूँगा । विभीषणजीने फिर निश्चित सिद्धान्तके वचन कहे—'प्रसीद लंकेश्वर राक्षसेन्द्र धर्मार्थतत्त्वं (युक्तं) वचनं शृणुष्व । दूता न वध्या समयेषु राजन्सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति संतः ॥ १३ ॥'

* पायकुलक है—(मा० चं०) ।

सज्जन कहते हैं कि दूत सब कालोंमें और सर्वत्र अवध्य है। यह शत्रु बहुत बढ़ा हुआ है। इसने अप्रमेय अप्रिय काम किया है तथापि **'न दूतवध्याः प्रवदन्ति सन्तो दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः। १४।'** उनके लिये और अनेक दण्ड हैं पर वधका दण्ड कहीं सुननेमें नहीं आया।...आपके समान शास्त्रज्ञानमें एवं लौकिक व्यवहारमें दूसरा नहीं है। सुर-असुर सबमें आप श्रेष्ठ हैं, बलवान् हैं, आपको क्रोध न करना चाहिये। दूसरे इसके वधसे लाभ क्या? जिसने इसे भेजा है उसे दण्ड दीजिये। **'साधुर्वा यदि वासाधुः परैरेष समर्पितः। ब्रुवन्परार्थं परवान्न दूतो वधमर्हति॥ २१॥'** भला है या बुरा, यह दूसरेका भेजा हुआ और दूसरेकी बात कहनेवाला पराधीन है; अतः वधयोग्य नहीं है। तीसरे इसके वधसे हानि है; क्योंकि आपकी शत्रुसे युद्ध करनेकी प्रवृत्तिका नाश हो जायगा। कारण कि इसके वधपर दूसरेका साहस नहीं जो समुद्र पार करके इस पार आ सके और फिर इसके स्वामीको खबर देकर यहाँ आपसे युद्ध करनेको ला सके। आप गुणी, श्रेष्ठ शस्त्रधारी सेनाको भेजकर उन राजकुमारोंको कैद करा लें, पर दूतको न मारें। इस वानर-यूथपतिके मार डालनेसे सब लोग आपकी सर्वत्र निन्दा करेंगे। इसके वधसे मुझे तो आपके लिये न तो कोई यशकी और न कोई भलाईकी ही बात देख पड़ती है। प्रत्युत इससे संसारभरमें आपकी निन्दा फैल जायगी। आपके राक्षस योद्धा आपके हितैषी हैं। आप इस वानरका वध करके अपने शूरवीर योद्धाओंके युद्धोल्लासको भंग न करें। रावणने इनके वचनोंको अपने कामका जानकर मान लिया।—इसीको गोस्वामीजीने **'बिनय बहूता'** शब्दोंसे जना दिया है।

अध्यात्मरामायण ५। ४। श्लोक ३०–३३ में विभीषणजीका मारनेके लिये उद्यत हुए राक्षसोंको रोकना, रावणको समझाना कि दूतको न मारना चाहिये, इसके मारनेसे फिर आपके वैरी 'राम' को कौन समाचार देकर लायेगा, इसे और कोई दण्ड दीजिये, इत्यादि वर्णित है।

मा० त० सु०—कार नीतिका प्रमाण यह देते हैं—**'उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा। सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः॥'** अर्थात् उसको मारनेके लिये हथियार उठाकर धमकानेसे भी दूत कुछका कुछ नहीं कह सकता। उसे कभी नहीं मारना चाहिये, क्योंकि वह यथार्थ (ठीक-ठीक) कहनेवाला है।

टिप्पणी—२ विभीषणजीने आते ही विनय करना प्रारम्भ कर दिया। खड़े-ही-खड़े विनय की और विनय करके चले गये। इसीसे आनेपर उनका बैठना नहीं लिखा जैसे कि अन्य अवसरोंपर लिखते हैं; यथा—**'अवसर जानि बिभीषनु आवा। भ्राताचरन सीस तेहि नावा॥ पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन'**। यहाँ बैठना नहीं लिखा; क्योंकि यहाँ वे बैठे नहीं; न बैठनेका कारण यह है कि वे महात्माको दण्ड दिया जाना आँखोंसे न देख सके। प्राण लेते थे, उसको बंद कराके विनती करके दूसरा कुछ दण्ड देनेको कहा; पर दूसरा भी दण्ड देखना न सह सके; अतः चल दिये।

३ **'आन दंड कछु करिय गोसाईं'**। इति। (क) राजाकी आज्ञा भंग न करनी चाहिये, इसीसे अन्य दंड करनेको कहा। समझाया कि इसमें आपकी आज्ञा भी रहेगी और नीतिविरुद्ध भी न होगा। (ख) 'कछु' अर्थात् साधारण। (ग) 'गोसाईं' का भाव कि आप पृथ्वीके स्वामी अर्थात् राजा हैं। आपको बहुत प्रकारके दंड मालूम हैं, उनमेंसे कोई दूसरा दंड दीजिये।

४—शंका—विभीषणजीने स्वयं क्यों न बताया कि यह दण्ड करो। समाधान—(क) उन्होंने श्रीहनुमान्‌जीके प्राण बचानेके लिये दूसरा दंड करनेको कहा। (प० प० प्र० का मत है कि ऐसा मानना कि उनके बचानेके लिये विभीषणजीने ऐसा कहा, क्योंकि मानसके विभीषण जानते हैं कि वे परम रामभक्त हैं, उनपर श्रीरामजीकी पूर्ण कृपा है, उनका बाल बाँका करनेको कोई समर्थ नहीं। वे इस समय केवल प्रभुकी प्रेरणासे आये)। दण्डका नाम लेनेसे ये भी उस दण्डमें शामिल हो जाते। अतः नाम न लिया। अथवा, (ख) नाम लेनेसे लंकादहनपर सब निशाचर इन्हींकी अपकीर्ति करते, इन्हींको दोष देते कि इन्हींके सम्मतिसे यह हुआ, न वे पूँछ जलानेकी सम्मति देते न हमारे घर जलाये जाते। लंकादहन तो हरि-इच्छा-भावी ही था, पर दंडका प्रकार न बताना श्रीरामकृपासे ही हुआ। प्रभुने उनको अपकीर्तिसे बचा दिया।

नोट—२ अध्यात्मरामायणके विभीषणजीने यह कहते हुए कि अन्य दण्ड निश्चय कीजिये, यह भी कहा है कि 'दंड ऐसा हो कि जिसका चिह्न लेकर वह वानर जाय और सुग्रीवसहित श्रीरामजीको ले आवे।'—**'अतो वधसमं किञ्चिद्दन्यच्चिन्तय वानरे। सचिह्नो गच्छतु हरिर्यं दृष्ट्वा यास्यति द्रुतम्॥** अ० रा० ५। ४। ३२॥' **'रामः सुग्रीवसहितस्ततो युद्धं भवेत्तव।'** वाल्मीकिजीके विभीषणजी इनसे महात्मा हैं, वे केवल इतना कहते हैं कि—'दूतके लिये ये दण्ड बतलाये गये हैं—उसको अङ्गभङ्ग कर देना, चाबुक लगवाना, सिर मुँड़वा देना, शरीरमें कोई चिह्न दगवा देना, इत्यादि। पर दूतका वध कहीं नहीं

सुना है। आप कोई भी अन्य दण्ड दें।'—'**दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः ५ । ५२ । १४ । वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो मौण्ड्यं तथा लक्षणसन्निपातः। एतान्हि दूते प्रवदन्ति दण्डान् वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽपि ॥ १५ ॥** पर मानसके विभीषणजी उपर्युक्त दोनोंसे श्रेष्ठ हैं।

लमगोड़ाजी भी इससे सहमत हैं। वे कहते हैं कि यदि कलाकी कल्पना ही समझी जाय तो भी वही ठीक जान पड़ता है जो 'प्रबंध' हमारे पूज्य कवि कर रहे हैं। क्या महाकाव्यकला और क्या नाटकीकलाके दृष्टिकोणसे भी 'विनय बहूता' चाहे जितनी की हो पर 'मित्र' के लिये दुःख देनेवाले दण्ड तो उन्होंने कभी न बताये होंगे, चाहे बात टालनेके लिये 'कुछ' और दण्डकी बात कह दी हो। इसमें रावणके कौतुकपूर्ण और राजनीति-सम्बन्धी चतुराईके प्रकटीकरणका अवसर भी अधिक है। इस समय नायक और प्रतिनायक दो खेलाड़ी रावण और पवनसुत ही तो हैं। बहुत विस्तारसे मन्त्रणा देनेमें यह भी भय था कि कहीं क्रोध अभी उधर उलट न पड़े कि मुझे सिखाने आये हैं। इससे सूत्ररूपमें ही मन्त्रणा अति उत्तम है।

टिप्पणी—५ '**सब ही कहा मंत्र भल भाई**' इति। सभीने कहा, क्योंकि यह मन्त्र नीति-विरुद्ध नहीं है, वरंच नीतिशास्त्रसम्मत है और वध नीतिविरुद्ध था। अथवा, सभी राक्षस कौतुक देखनेके लिये सभामें आये थे; यथा—'**कपिबंधन सुनि निसिचर धाए। कौतुक लागि सभा सब आए ॥ ५ । २० ।**' रावणकी पूर्वाज्ञापर वानरके मारे जानेका कौतुक देखनेको लालायित थे, राक्षसोंका मारने दौड़ना यह कौतुक देखा। अब इस मन्त्रसे अधिक कौतुक देखनेको मिलेगा। (अबसे लेकर विभीषण-राज्यतकका कौतुक देखेंगे)। अतः सभीने इस मन्त्रको भला कहा। अथवा, जो मारने दौड़े थे वह यह सोचकर सहमत हुए कि वानर हमें अवश्य मार डालता, पर विभीषणकी सलाहसे हमारी जान बच गयी। नहीं तो रावणकी आज्ञा पालन न करनेसे वे दण्डके भागी होते और कायर समझे जाते। इस मन्त्रमें युद्ध न करना पड़ेगा, अतः 'भल' कहा। अथवा, पहले रावणके वचनका प्रतिपालन किया कि '**मारन धाए**', और अब विभीषणके वचनका प्रतिपालन करते हैं कि यह मन्त्र भला है; क्योंकि दोनों बड़े हैं। इस प्रकार दोनोंमें उनका सद्भाव सूचित हुआ।

सुनत बिहँसि बोला दसकंधर। अंगभंग करि पठइअ बंदर* ॥ ९ ॥

अर्थ—दसकंधर (रावण) सुनते ही हँसकर बोला कि बंदरको अङ्गभङ्ग करके भेजो ॥ ९ ॥

टिप्पणी—१ 'बिहँसि' इति। विभीषणजीकी विनय सुनकर प्रसन्न हुआ। यहाँ हँसना प्रसन्नताका सूचक है। अथवा, वह पूँछ जलानेकी आज्ञा देना ही चाहता है, यह समझकर खूब हँसा कि इसमें बड़ा कौतुक होगा और इस अपमानके द्वारा इसका स्वामी भी देखनेमें आयेगा। अथवा, विभीषणके मन्त्रको सबने भला कहा, इसीसे उसने स्वयं भी उनको प्रसन्न करनेके लिये हँसकर जनाया कि तुमने बहुत अच्छा कहा। दूतके मारनेसे क्या लाभ ? इसके स्वामीको मारना चाहिये। यही बात पूर्वमें भी रावणने स्वयं ही मेघनादसे कही थी; यथा—'**मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही। देखिअ कपिहि कहाँ कर आही ॥ ५ । १९ ।**' अर्थात् इसके वधसे क्या लाभ ? जिसने इसे भेजा है उसे दण्ड देना चाहिये जिसमें फिर कोई ऐसा साहस न कर सके।—[वाल्मीकीय एवं अध्यात्म रा० में राक्षसोंका विभीषणजीके मतको समर्थन करनेका उल्लेख नहीं है, पर रावणने विभीषणजीके उत्तम वचनोंको अपने कामका जानकर उनका आदर किया और कहा है कि आपका कथन ठीक है, दूतका वध निन्द्य कर्म है, पर इसको अन्य दण्ड अवश्य ही दिया जायगा।—'**निशाचराणामधिपोऽनुजस्य विभीषणस्योत्तमवाक्यमिष्टम्। विभीषणोक्तं वचनं सुपूज्य० ॥ ५ । ५२ । २८-२९ ।**' '**सम्यग्युक्तं हि भवता दूतवध्या विगर्हिता। ५ । ५३ । २ ।**' 'बिहँसि' से विभीषणजीके मन्त्रका आदर और स्वीकारत्व सूचित किया कि इन्होंने मुझे अनीति और अपकीर्तिसे बचा लिया। (२) बिहँसि' में प्रसन्नताके साथ कौतुकका भाव भी है; मानो हास्य-कलामें उसे 'खिलाड़ी' हनुमान्‌पर विजयका दाँव मिल गया। इसीसे विस्तारसे समझाकर कहा है जो उपर्युक्त टिप्पणियोंमें आ गया है। (लमगोड़ाजी)। (३) अथवा, मेरे सामने भी, इस वानरका निर्भय वचन सुनकर सब इसे मारनेमें डर रहे थे, किंतु विभीषणजीका वचन इन सबोंके अनुकूल होनेसे सबोंने उसे एक मुखसे स्वीकार किया—यह समझकर हँसा।]

२ (क) 'दसकंधर'=दस मस्तकोंवाला। '**अंग भंग करि पठइअ बंदर**' इति। सबको देह और प्राण परम प्रिय होते हैं, यथा—'**देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ॥ १ । २०८ ।**' (श्रीदशरथ-वाक्य विश्वामित्र प्रति)। उनमेंसे प्राणदण्ड तो नीतिविरुद्ध ठहरा। रहा शरीर सो यह भी सबको प्रिय है, यह स्वयं इस वानरने

* 'सुनत...' ११४४ वाँ भेद है। 'अंग भंग...' १२१४ वाँ भेद है। म० चं०।

अभी-अभी कहा है, यथा—'**सबके देह परम प्रिय स्वामी।**' अतएव इसके शरीरका कोई अङ्ग भंग कर दिया जाय। यह कहकर फिर स्वयं ही बताता है कि कौन अङ्ग भंग किया जाय और किस तरह।

दो०—कपि के* ममता पूँछ पर सबहि कह्यौं† समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ‡॥ २४॥

अर्थ—उसने सबको समझाकर कहा कि 'कपिकी ममता पूँछपर होती है। वस्त्रोंको तेलमें डुबाकर (पूँछमें लपेटकर) बाँध दो और फिर आग लगा दो'॥ २४॥

टिप्पणी—१ '**कपि के ममता पूँछ पर**' इति। [वानरोंका ममत्व अपनी पूँछपर होता है, अर्थात् पूँछ ही उनका अत्यन्त प्यारा भूषण है, अपनी लांगूलपर ही उनको बड़ा अभिमान रहता है, प्रसन्नतामें वे पूँछको उठाकर घुमाते-फिरते हैं, उसीसे वे बड़ी चोट करते हैं, इत्यादि। यथा—'कपीनां किल लांगूलमिष्टं भवति भूषणम्। वाल्मी० ५।५३।३।' (रावणवचन), '**वानराणां हि लांगूले महामानो भवेत्किल।** अध्यात्म० ५।४।३४।'; '**अंगद मयंद नल नील बलसील महा, बालधी फिरावैं मुख नाना गति लेत हैं। क० सुं० २९॥**', 'आयो हनुमान प्रानहेतु अंकमाल देत, लेत पगधूरि एक चूमत लंगूल हैं। ३०।' (लंकासे सीताजीका समाचार लेकर लौटनेपर वानरोंने अपनी प्रसन्नता इस प्रकार प्रकट की है।)]

२ '**सबहि कह्यौ समुझाइ**' इति। [पूर्व '**सुनत बिहँसि बोला**' कहा और यहाँ '**सबहि कह्यौ**' ऐसा कहकर जनाया कि पूर्वके वचन विभीषणजीके उत्तरमें कहे गये और दोहेके वचन सब राक्षसोंसे कहे गये। ऐसा ही वाल्मीकिजीका भी मत जान पड़ता है। वहाँ विभीषणजीसे रावणने यही कहा कि '**अवश्यं तु वधादन्यः क्रियतामस्य निग्रहः॥** वाल्मी० ५।५३।२।' वध न करके अन्य दण्ड अवश्य इसे दिया जायगा। और पूँछ जलानेकी आज्ञा राक्षसोंको दी।] सबको समझाना यह कि तुम सब मिलकर यह काम करो। [ऐसा न हो कि कुछ लोग काममें लगें शेष तमाशा देखनेमें रहें; आग लगाते समय यह कोई उपद्रव न कर बैठे। सावधानतापूर्वक काम करो। तुम लोग कपड़ा बाँधनेमें डरो मत। यह इस समय बेबस है, नागपाशमें बँधा हुआ है, और मेरे समक्ष है, अतः यह कुछ कर नहीं सकता। (मा० त० सु०)] क्या समझाया यह कवि स्वयं कहते हैं—

३ '**तेल बोरि पट बाँधि**...' इति। (वाल्मीकीयमें यह समझाना नहीं है, केवल पूँछको आग लगाकर जला देना कहा है और अध्यात्ममें यत्नपूर्वक वस्त्र लपेटकर आग लगानेको कहा है। हनुमन्नाटकमें अवश्य 'तेलसे भिगोये हुए पुराने वस्त्र और बहुत सनसे लपेटी हुई पूँछ' ये शब्द मिलते हैं। यथा—'**लांगूले चैलतैलप्लुतबहुलशणैर्वेष्टिते दीप्यमानो।** ६।२४।' कवितावलीमें भी मानस कविने तेलमें डुबाकर बाँधना लिखा है, यथा—'**बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर खोरि-खोरि धाइ आइ बाँधत लँगूर हैं।** (सुं० ३)।' पर रावणका ऐसा राक्षसोंको समझाना वहाँ भी नहीं कहा गया है। मानसकी ही यह विशेषता है कि रावणने समझाया कि पहले कपड़ा बाँधकर तब तेल न डालना, क्योंकि ऐसा करनेसे बीचमें कपड़ा सूखा रह जायगा, प्रथम तेलमें डुबोकर तब बाँधो जिसमें सूखा न रहे। बन्दरका ममत्व पूँछमें है, आग लगा दो तो जल जाय। तब स्वामीके पास जाकर स्वामीको ले आयेगा।

वि० त्रि०—'**सुनत बिहँसि**...**देहु लगाइ।**' इति। विभीषणजीने जब कहा कि दूतको मारना नीतिविरुद्ध है, कोई दूसरा दण्ड दीजिये, सारी सभाने अनुमोदन किया; पर रावण साधारण खल नहीं है, वह हँसा कि आज तो सभी विभीषणकी बात मान गये। अच्छा, देखो सबको उल्लू बनाता हूँ। ये सब लोग वध दण्ड नहीं चाहते। मैं ऐसी बात कहूँगा, जिसमें सब लोग समझें कि हम लोगोंकी राय महाराजने मान ली, और हो यह कि बन्दर तड़प-तड़पकर मरे। अतः कहता है कि '**अंग भंग करि पठवहु बंदर।**' अब प्रश्न यह होता है कि कौन-सा अंग भंग किया जाय। इसपर कहता है कि 'बन्दरकी ममता पूँछपर रहती है। इसलिये इसे पूँछहीन कर दो। अब उसकी विधि बतलाता है कि पहले कपड़ेको तेलसे तर करो, तब पूँछमें लपेटो, उसके बाद आग लगाओ। इस भाँति उसकी पूँछ जल जायगी, तब यह पूँछहीन होकर जायगा, और अपने

* के—१७२१, १७६२, १७०४, भा० दा०। कैं—गी० प्रे०। के—ना० प्र०। † कह्यौ—छ०, भा० दा०। कह्यो—१७२१, १७६२। कहेउ—ना० प्र०, गौड़जी। कहा—कोदवराम। कहौं—१७०४। कहउँ—गी० प्रे०।
‡ चल दोहा है—म० चं०। (११ गुरु और २६ लघु इस प्रकार ४८ मात्राका चल दोहा होता है)।

मालिकको ले आवेगा। मानो वह पूँछ जलकर राख होते तक जीता रहेगा। सारी लंका जल गयी और हनुमान्‌जीकी पूँछ न जली यह बात दूसरी है। पर वह महादुष्ट तो अपनी समझमें बुरी मौत मार चुका था।

नोट—१ ☞ हमको उपदेश है कि जिसकी जिसमें ममता हो उसमें आग लगा देनेसे **'ममता मल जरि जाइ'**। तब भगवान्‌के पास यह जीव पहुँच जाता है, स्वामी तो सर्वत्र और सबमें हैं ही। (मा० त० सु०)।

पूँछ* हीन बानर तहँ† जाइहि। तब सठ निज नाथहि लइ आइहि॥ १॥
जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई‡॥ २॥

अर्थ—जब पूँछरहित वानर वहाँ जायगा तब यह शठ अपने स्वामीको ले आयेगा॥ १॥ जिनकी इसने बहुत बड़ाई की है, मैं उनकी प्रभुता देखूँ॥ २॥

नोट—१ **'पूँछहीन बानर'** कहनेका भाव कि अपनी अत्यन्त प्यारी वस्तु (पूँछ) के न रहनेसे यह बहुत दीन-दुखी हो जायगा। यथा—'ततः पश्यन्त्विमं दीनमङ्गवैरूप्यकर्शितम्। वाल्मी० ५। ५३। ४।' पुनः भाव कि इस बातका प्रत्यक्ष चिह्न सभी इसके इष्ट-मित्र, भाई-बंधु आदिको देख पड़ेगा कि इसे दण्ड दिया गया है। यह चिह्न दूरसे ही बिना बताये देख पड़ेगा।

२ बाबा हरीदासजीका मत है कि रावणने अग्नि लगाकर पूँछ जला डालनेको इसलिये कहा कि श्रीरामजीने श्रीसुग्रीवजीसे अग्निको साक्षी करके मित्रता की है इस विचारसे कि दोनोंमेंसे जो भी दूसरेसे छल करेगा उसे अग्निदेव जला देंगे क्योंकि वे दंड देनेमें समर्थ हैं। हनुमान्‌जी सुग्रीवके मन्त्री सुग्रीवरूप हैं। अग्निदेव जो इनकी पूँछ जला देंगे तो श्रीरामजी स्वाभाविकही चौंक पड़ेंगे, समझ जायँगे कि सुग्रीवने वाली और अंगदसे छल किया और हमारे साथ भी यह छल करनेको है—यह विचारकर वे उसका साथ छोड़ देंगे। दोनोंमें भेद पड़ जायगा। अतः जलानेको कहा, नहीं तो जलानेको न कहकर अस्त्रसे काट डालना सुगम था। (मेरी समझमें जलानेकी आज्ञा हरि-इच्छासे हुई। त्रिजटाका स्वप्न सत्य होना है कि—**'बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी॥'** वही बात श्रीहनुमान्‌जीके **'भइ सहाय सारद मैं जाना'** से सिद्ध होती है)।

३ पूँछहीको जलानेको कहा, नेत्र आदि अन्य अंगोंको विकृत क्यों न किया? कारण तो स्वयं उसने बताया है कि कपिका ममत्व पूँछपर होता है। जैसे मनुष्योंमें नाक और मूँछ वैसे ही वानरमें पूँछ। पुनः रावणकी बहिनकी नाक और कान लक्ष्मणजीने काटे थे। हो सकता है कि इसीसे रावणको 'अंग-भंग' करनेकी सूझी हो।

टिप्पणी—१ (क) **'तहँ जाइहि'** इति। 'हि' निश्चयवाचक है। अर्थात् पूँछ न रहनेपर अपनी दीन-दशा दिखाने अवश्य जायगा, अन्य प्रकार न जाने जाता या न भी जाता, यहीं फल-फूलहीमें लुभाकर रह जाता। अब अवश्य जाकर जली पूँछ दिखावेगा और कहेगा कि रावणने यह मेरी दुर्गति की। (ख) **'तब सठ निज नाथहिं'''** इति। (भारी अपराध करके भी अपराध नहीं स्वीकार करता;—**'मारे निसिचर केहि अपराधा?'** के उत्तरमें कहता है कि **'जिन्ह मोहिं मारा ते मैं मारे।'** और बड़ा निडर है; अतः 'सठ' कहा। यथा—**'कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा'**, **'देखउँ अति असंक सठ तोही।'** मेरा प्रताप देखकर भी क्षमाकी प्रार्थना नहीं करता, यथा—**'देखि प्रताप न कपि मन संका।'**)। **'निज नाथ'** अर्थात् जिनके विषयमें कहा था कि **'मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥ २२। ६।'** (ग) **'लइ आइहि'** इति। [भाव यह कि मेरा बल और प्रताप सुनकर इसका स्वामी कहीं लौट न जाता; यथा—**'की भइ भेंट कि फिरि गए श्रवन सुजसु सुनि मोर**। ५। ५३। (रावणवाक्य शुक प्रति)। किंतु इस वानरने मुझसे बदला लेनेकी प्रतिज्ञा की है; यथा—**तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे**। ५। २२।' (५) देखिये। इस पुच्छहीनताका बदला यह स्वयं तो ले नहीं सकता, किंतु इसके स्वामीकी इच्छा न रहनेपर भी यह उसे किसी-न-किसी प्रकार अवश्य ले आवेगा। (मा० त० सु०)]

२ (क) **'जिन्ह कै'**। पहले कहा कि 'निज नाथ' को ले आयेगा, पर **'निज नाथ'** सुग्रीव भी हैं। अतः उनसे पृथक् श्रीरामजीको सूचित करनेके लिये वह पुनः कहता है कि **'जिन्ह कै'''** अर्थात् जिनकी प्रथम इसने बड़ाई की है उनको लावेगा। रावण रामका नाम कभी नहीं लेता। यथा—**'जिन्हके बल कर गर्ब तोहि ऐसे मनुज अनेक।'** अतएव यहाँ भी नाम न लिया [नोट—गोस्वामीजी 'निज नाथ' से उपर्युक्त **'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा'** वाले **'निज प्रभु'** की ओर

* पुच्छ-(ब्र० चं०)। † जब-कोदवराम। ‡ 'पुच्छहीन''' ११९३ वाँ भेद, 'तब सठ'''१०५५ वाँ भेद, और (२) (३) पायकुलक हैं—(ब्र० चं०)।

संकेत तो कर ही रहे हैं, पर इतना ही नहीं है। इससे वे अन्य रामायणोंका भी मान रख देते हैं। अध्यात्मरामायणमें इस चौपाईकी जोड़का श्लोक यह है—'सचिह्नो गच्छतु हरिर्यं दृष्ट्वायास्यति द्रुतम्। ५।४।३२। रामः सुग्रीवसहितस्ततो युद्धं भवेत्तव॥३३॥' ये विभीषणके वाक्य हैं। वे कहते हैं कि कोई दण्ड ऐसा दीजिये जिसका चिह्न लेकर यह जाय जिसे देखकर सुग्रीवसहित राम तुरंत आवें, फिर उनसे आपका युद्ध हो। सम्भव है कि 'सुग्रीव सहित राम' के संकेतके लिये 'निज नाथ' पद दिया हो। अथवा, प्रथम 'निज नाथ' से सुग्रीवको कहा फिर 'जिन्ह कै···' से श्रीरामजीको भी कहा।] (ख)—'बहुत बड़ाई' यह कि 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा।···' इत्यादि। इस कथनका भाव यह है कि यह सब कोरी बड़ाई है, ऐसा हो नहीं सकता कि सारा ब्रह्माण्ड उनका बनाया हो। आगे शुक-सारन भी यही बात कहेंगे; यथा—'राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सहस सेष सत सकहिं न गाई।' इस वचनको भी झूठा कहेगा, यथा—'मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई। रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई॥' पर यहाँ यही कहता है कि बहुत बड़ाई की यह नहीं कहता कि झूठी बड़ाई की; क्योंकि हनुमान्‌जीका वचन ऐसा पुष्ट है कि उसे झूठा कहनेका साहस नहीं पड़ता। यथा—'हर को दंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृपदल मद गंजा॥ खरदूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥' इस वचनको कैसे कहे कि झूठ है?

बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना॥ ३॥

अर्थ—(रावणके) वचन सुनते ही हनुमान्‌जी मनमें मुस्कुराये कि मैं समझ गया कि सरस्वतीजी सहाय हुई। (भाव यह कि शारदाकी सहायता वाणीद्वारा ही होती है। सरस्वतीके दोनों रूप हैं—वाणी और देव। यहाँ वाणीरूप मन्त्ररूपसे सरस्वतीकी सहायता हुई। जो हमारा अभीष्ट था, वही उन्होंने रावणसे कहला दिया। पूँछहीन तलवारसे भी हो सकते थे पर तलवारसे काटनेको न कहकर 'तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ' कहला दिया।) ॥ ३॥

नोट—१ हास्यकलामें 'सुनत' की अपूर्ण क्रियासे बुद्धिकी तीव्रता और मनमें मुस्करानेकी चातुरी सराहनीय है। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ 'बचन सुनत' 'मुसुकाना' इति। रावणकी मूर्खतापर हँसे, यह अगली चौपाईसे स्पष्ट हो जाता है; यथा—'जातुधान सुनि रावन बचना। लागे रचै मूढ़ सोइ रचना॥' जब उसके वचन माननेवाले 'मूढ़' कहे गये तब रावणकी मूढ़ता तो आप ही सिद्ध हो गयी। अथवा, अपने अनुकूल कार्य समझकर 'मुसुकाने'। अथवा, शारदाकी सहायता समझकर मुस्कुराये। [वा, देवताओंकी चतुरतापर हँसे कि वे सदा ही इसीके द्वारा रावणको हानि पहुँचाया करते हैं। कुम्भकर्णसे क्या-का-क्या कहला दिया। (मा० त० सु०)] अथवा, इससे कि रावण कहता है कि 'देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई'। आपने सोचा कि पहले तो इसने मुझे ही देखनेको कहा था, यथा—'देखिय कपिहि कहाँ कर आही। १९। २।', सो पहले मेरी 'प्रभुताई'' तो देख ले, तब पीछे हमारे प्रभुकी प्रभुता देखना। जिस अग्निसे तू मेरी पूँछ जलानेकी सोच रहा है उससे मैं पहले तेरे नगरको जलाऊँगा और मेरी पूँछ तो जलेगी ही नहीं।—यह सोचकर हँसे।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जी मुस्कुराये कि अपनी समझमें तो यह मुझे वध-दण्ड दे रहा है, पर यह नहीं समझ रहा है कि इस भाँति वह मुझे 'आग लगानेके' दोषसे मुक्त कर रहा है। आग लगानेवाला आततायी है। पर बन्दरकी पूँछमें आग लगनेसे उसका चारों ओर भागना तथा जहाँ-तहाँ पूँछ पटकना स्वभावसिद्ध है। इस भाँति लंका-दाह भी हो जायगा और मुझे पाप भी स्पर्श नहीं करेगा।

नोट—२ वाल्मी० सु० ५। ५३ में लिखा है कि रावणकी आज्ञा पाकर जब राक्षस कपड़ा लपेटने लगे तब हनुमान्‌जी बहुत ही उत्साहित हुए और विचार करने लगे कि इनकी जो हानि मैंने की है उसका बदला ये लोग मुझसे न ले सके। मैं रातमें लंका अच्छी तरह देख भी न सका था, अब नगरमें मैं बँधा हुआ घुमाया जाऊँगा, इस प्रकार मुझे सब गुप्त प्रकट स्थान देखनेमें आ जायँगे।

२—बाबा हरिदासजीने आठ भाव लिखे हैं जिनमेंसे कुछ ये हैं—(क) इस कार्यसे रावणको विस्मय होगा कि मणि-जटित सोनेकी लंका जल रही है और वानर न जला, अवश्य मेरा समय फिर गया। (ख)—सिद्ध, मुनि, देवताओंको आनन्द होगा। दो भाव टिप्पणीमें आ गये हैं।

टिप्पणी—२ 'भइ सहाय सारद'··' इति। इससे जाना जाता है कि इनको पूर्वसे ही लंकादहनकी इच्छा थी। यह इच्छा वा प्रतिज्ञा इन्होंने कब की? उत्तर—जब इन्होंने श्रीजानकीजीको अपना शरीर जलानेके लिये सबसे अग्निकी याचना करते देखा था तब 'सो छन कपिहि कलप सम बीता' था। उस समय क्षणके कल्पसमान बीतनेका कारण यही था कि

वे इसी सोचमें निमग्न हो गये कि कब मैं इस विरहाग्निका बदला रावणसे लूँगा ? इसीसे शोकमें क्षणभर भी महान् सा हो गया था। बदला लेनेकी इच्छा उस समय हुई थी और अब बदला लेने योग्य अवसर सरस्वतीजीकी प्रेरणासे मिला। **'मैं जाना'** अर्थात् इसे मैं ही जानता हूँ, दूसरा नहीं। [जो दूसरेका अनभल ताकता है उसीका अनभल होता है—यह सिद्धान्त मैं ही जानता हूँ, ये लोग नहीं। यथा--**'तकै नीच जो मीचु साधु की सो पामर तेहि मीचु मरै।'** (विनय)—(मा० त० सु०)] इसीसे हनुमान्‌जी मनमें हँसे, जिसमें राक्षस इनके हर्षको न लख सकें। यह बात इन्हींने अपने मनमें निश्चित की। यदि राक्षस जानते कि इसमें हमारी हानि है तो यह काम कदापि न करते।

प० प० प्र०—यह देख रहा है कि ब्रह्मास्त्रसे भी मरा नहीं और नागपाशमें बँधनेपर भी निःशंक है तब भी ऐसी आज्ञा रावणने दी। अतः निश्चय हुआ कि यह मति उसकी नहीं है। उरप्रेरक रघुवंशविभूषणने सरस्वती द्वारा ऐसा कहला दिया।

जातुधान सुनि रावन बचना। लागे रचै मूढ़ सोइ रचना॥ ४॥
रहा न नगर बसन घृत तेला। बाढ़ी पूँछ* कीन्ह कपि खेला॥ ५॥†

अर्थ—रावणका वचन सुनकर मूर्ख राक्षस वही रचना रचने लगे॥ ४॥ नगरमें वस्त्र, घी और तेल न रह गया; कपिने ऐसा खेल किया कि पूँछ बढ़ गयी॥ ५॥

नोट—१ अक्षरोंका क्रम शब्दगुणके विचारसे सराहनीय है। पहले 'च' की चाशनी (पाग) से रचना की, कौतुकी सरसता है। पर आगे ब, ढी, छ में कुछ भयानकता आती जाती है, पर इतनी नहीं कि खेलाड़ी हनुमान्‌के खेलमें विघ्न पड़े। यहाँ तो कविने भी 'खेल' लिख ही दिया। (लमगोड़ाजी)।

२ 'जातुधान सुनि''' इति। 'यातुधान' शब्द यहाँपर साभिप्राय है। 'यातुधान' शब्द यत् धातुसे बना है जिसका अर्थ है--यातना वा पीड़ा पहुँचाना। 'यातुधान' का अर्थ हुआ पीड़ाओंका खजाना अथवा जो यातनाएँ पहुँचावे। यहाँ रावणकी आज्ञा पालन करनेवाले श्रीहनुमान्‌जीको यातना पहुँचानेका यत्न कर रहे हैं; इसीसे 'जातुधान' कहे गये। (गौड़जी)।

३ 'लागे रचै' और 'रचना' शब्दोंसे प्रकट करते हैं कि अत्यन्त स्नेह और उत्साहपूर्वक वे रावणके वचनकी पूर्णतामें तत्पर हो गये। उत्साह इससे है कि आज वे अपनी समझमें वानरद्वारा मारे गये हुए अपने सम्बन्धियोंका बदला चुका लेंगे। उनको इनपर बड़ा क्रोध है इसीसे तन-मन-धनसे 'रचना' में लगे हैं। 'रचना' का प्रयोग प्रायः उत्साहके समय होता है। जनकपुरमें मण्डप-रचनामें इस शब्दकी भरमार देखने योग्य है।

टिप्पणी—१ 'मूढ़' क्योंकि अपने हाथों अपने घर जलानेका उपाय करने लगे, यह विचार किसीने न किया कि बहुत अग्नि पाकर यह नगर जला देगा। रावणका नाम यहाँ सत्य हुआ। जो सबको रुलावे वह रावण। सबके घर जलेंगे, सब रोवेंगे।

२ 'रहा न नगर बसन घृत तेला' इति। भाव यह कि राक्षसोंको ऐसा उत्साह हुआ कि वे अपने-अपने घरोंसे सब वस्त्र, घृत और तेल उठा लाये, क्योंकि कौतुक देखना है। वा, सबके घरके राक्षस मारे गये हैं; अतः जब सबने सुना कि वानरकी पूँछ आग लगाकर जलायी जायगी तब सबने कहा कि जितना वस्त्र, घी, तेल हो सब ले जाओ, घरमें न रहे तो न सही। रावणने घी लगानेका हुक्म नहीं दिया, वह यह न समझता था कि तेलसे पूरा न पड़ेगा। जब तेल न पूरा पड़ा तब सब लोग अपने-अपने घरोंसे घी लाने लगे पर इसकी भी इति श्री हो गयी। जब घर-घरमें कहीं वस्त्र, तेल और घी न रह गया तब सबने हारकर छोड़ दिया। (स्मरण रहे कि नगरके राक्षसोंका उत्साह है। रावण तो आज्ञा देकर अलग हो गया। हमारी समझमें राजमहल इस रचनामें शामिल नहीं है।)

टिप्पणी—३ (क) नगरभरसे **'बसन घृत तेल'** आया; इसीसे नगर भर जलेगा। विभीषणजीके घरसे न आया; इसीसे वह न जला।—**'जारा नगर निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥'** (ख) **'कीन्ह कपि खेला'** का भाव कि एकदमसे पूँछ नहीं बढ़ा ली, नहीं तो सब जान जाते, सचेत हो जाते (आग न लगाते) इसीसे धीरे-धीरे बढ़ाते गये। [यथा—**'संवेष्ट्यमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः। शुष्कमिन्धनमासाद्य वनेष्विव हुताशनः।'** वाल्मी० ५। ५३। ७।' अर्थात् ज्यों-ज्यों हनुमान्‌जीकी पूँछमें वस्त्रादि लपेटे जाते थे, त्यों-त्यों हनुमान्‌जी वैसे ही बढ़ते जाते थे, जैसे सूखे ईंधनको पाकर वनमें अग्नि बढ़ती है।]

* पूँछि—ना० प्र०। पुच्छ—ब्र० चं०। † 'जातुधान०' चन्द्रवर्तम, 'लागे' से 'तारी' तक पायकुलक—ब्र० चं०।

नोट—४ यहाँ लोग शंका करते हैं कि—'यह कैसे सम्भव है कि लंकामें वस्त्र, घी और तेल न रह गया?' इसका समाधान मानस कवि स्वयं ही कर देते हैं कि 'कीन्ह कपि खेला।' जब श्रीहनुमान्‌जीको कौतुक करना ही मंजूर (इच्छित) है और निशाचर 'कौतुक लागि सभा सब आए' ही हैं तब घी-तेलके न रह जानेमें आश्चर्य क्या? यह महिमा हनुमान्‌जीके खेलकी वाल्मीकीय, आनन्द आदि रामायणोंमें भी ठीक ऐसी ही लिखी है, सबमें वस्त्रादिके लिये चिल्लपों मच गयी। इसके समाधानके लिये कुछ लोग यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार कहते हैं। और कुछ इसका अर्थ अवरेवसे करते हैं कि कपिने वस्त्र-घी तेलसे खेल किया कि नगर ही न रह गया। पर ये भाव रामायणोंके अनुसार नहीं हैं।

श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि यहाँ लक्ष्मीजीने सहायता की कि उस नगरका वस्त्र, घी और तेल उस समय समाप्त हो गया। रावणको रामविमुख जानकर यह सहायता की। प्रमाण यथा—'रामबिमुख संपति प्रभुताई जाइ रही पाई बिनु पाई।' इस तरह हनुमानजीकी पूँछ बढ़ानेमें विजय हुई।'

लमगोड़ाजी कहते हैं कि 'तुलसीदासजीकी अतिशयोक्तियोंका चमत्कार ही यह है कि तनिक सावधानीसे अर्थ किया जाय तो स्वाभाविकता भी नहीं जाती और 'मुबालिगा' (अतिशयोक्ति) का मजा बना ही रहता है। सोचिये तो कि यदि किसी नगरमें बड़ी रोशनी हो और कोई कहे कि रूई और तेल नगरमें न बचा तो अर्थ यही होगा कि जो रूई और तेल ऐसे कामके योग्य थी वह सब लग गयी; तब यहाँ बहुत शाब्दिक अर्थ क्यों लिया जाय कि पहननेवाला कपड़ा भी न रहा; आखिर जो लोग हनुमान्‌जीको चारों ओर घेरे खड़े थे वे कपड़ा पहने ही थे, क्या नंगे थोड़े ही हो गये थे।'

☞ वाल्मीकिजीने तो स्पष्ट शब्दोंमें लिख दिया है कि—'वेष्टयन्ति स्म लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासकैः पटैः। ५। ५३। ६।' अर्थात् पुराने सूती कपड़े लपेटने लगे। रेशमी और ऊनी भी नहीं, नये या पहनने योग्य भी नहीं, केवल 'पुराने' और 'सूती'—वही यहाँ समझना चाहिये और यही स्वाभाविक और यथार्थ है।

नोट—५ 'बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला' से यह जनाते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी बड़े उत्साहपूर्वक सीधे-सादे भोले-भाले बने हुए तेलमें भिगोये हुए वस्त्र बँधवा रहे थे, जिसमें लंका जलानेके लिये प्रचण्ड प्रज्वलित अग्नि मिल सके। गीतावलीके 'कानन दलि होरी रचि बनाइ, हठि तेल बसन बालधि बँधाइ॥ ५। १६।'—इससे भी यही बात सिद्ध होती है।

कौतुक कहँ आए पुरबासी। मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी॥ ६॥
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी। नगर फेरि पुनि पूँछ* प्रजारी॥ ७॥

अर्थ—कौतुकके लिये पुरवासी आये। वे हनुमानजीको लात मारते हैं और (उनकी) बहुत हँसी करते हैं॥ ६॥ ढोल बज रहे हैं। सब तालियाँ देते हैं। नगरमें इनको फिराकर तब (उन्होंने) पूँछमें आग लगा दी॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) लात मारना, हँसी उड़ाना, गाली देना इत्यादि सब कौतुक है; जिसके लिये पुरवासी आये। (ख) प्रथम कौतुकके लिये राक्षस (जो डरसे छिपे थे) आये, यथा—'कपि बंधन सुनि निसिचर धाए। कौतुक लागि सभा सब आए॥' जब घर-घरसे तेल, वस्त्र आदिकी उगाही हुई तब यह सुनकर कि बानरकी पूँछ जलायी जायगी, बड़ा कौतुक होगा, छोटे-बड़े सभी पुरवासी आये।

२—'इस कौतुकके वर्णनकी यहाँ क्या आवश्यकता थी?' यह प्रश्न यहाँ हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि हनुमान्‌जी नगरको जलानेवाले हैं, लोग पीछे यह दोष न लगावें कि 'क्यों नगर जला डाला' इस विचारसे पुरवासियोंका अपराध प्रथम ही वर्णन कर दिया। सब पुरवासियोंने प्रथम अपराध किया, इसका बदला हनुमान्‌जीने पीछे नगर जलाकर चुकाया, सबको उनकी करनीका फल दिया। स्मरण रहे कि वस्त्र और तेल लाकर पूँछको जलाना, यह अपराध पुरवासियोंका नहीं है; इसके लिये तो रावणकी आज्ञा है और लात मारना इत्यादि पुरवासियोंके किये हुए अपराध हैं। यह रावणका हुक्म नहीं था।

३—'करहिं बहु हाँसी' का तात्पर्य यह कि जब लात मारते हैं तब हनुमान्‌जी ऐसा बनते हैं, मानो डरते हैं, तब सब राक्षस हँसते हैं। यथा—'तैसो कपि कौतुकी डरात ढीलो गात कै कै, लात के अघात सहै जीमें कहै कूर हैं॥' (क० ५। ३)।

* पूँछि=ना० प्र०। पुच्छ=व्र० चं०।

लमगोड़ाजी—१ इस हास्यकलापर कि हजरत (श्रीमान्जी) लातोंकी मार भी सहते जा रहे हैं। मुँहसे निकल ही जाता है कि 'वाह रे खेलाड़ी पवनसुत !!', दबे तो इतना और बढ़े तो लंका-दाह 'बिकट रूप धरि लंक जरावा'। २—फिल्मकला तो निछावर है ही। ३—'बहु हाँसी' पर कला निछावर है। विरोधको कैसा उभारा है ! क्षण ही भरमें सब रोवेंगे।

नोट—१ 'मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी'—फिर भी श्रीहनुमान्जी चुपचाप सब सह रहे हैं और नगरमें घुमाये जाते समय अपमान सहते हुए सुखपूर्वक चले जा रहे हैं, इसका कारण है'''कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा। २२। ६।' (विशेष २२। ६ में देखिये)। इससे उनका गूढ़ स्वभाव दरसाया कि इन सब राक्षसोंसे अकेले लड़नेको पर्याप्त होते हुए भी आगेका कार्य विचार कर चुप हैं।

टिप्पणी—४ (क) 'पुनि पूँछ प्रजारी' इति। 'प्रजारी' पदसे जनाया कि बहुत जगह आग लगायी जिसमें हाथसे न तो बानर उसे छुड़ा सके और न बुझा ही सके, यथा—'बालधी बढ़न लागी ठौर ठौर दीन्हीं आगि, बिंध्य की दवारि कैधौं कोटि सत सूर हैं। क० ५। ३।', 'लाइ लाइ आगि भागे बाल जाल जहाँ तहाँ। क० ५। ४।' (ख) जहाँ वानरका तमाशा होता है वहाँ बाजा बजता है, इसीसे ढोल बजाते हैं। जहाँ हँसी होती है, वहाँ लोग ताली देते हैं; इसीसे ये सब ताली देते हैं। (ग) 'नगर फेरि'। नगर भरमें बाँधकर घुमाना यह भी एक दण्ड है; यथा—'सुनि सुग्रीव बचन कपि धाए। बाँधि कटक चहुँ पास फिराए॥ बहु प्रकार मारन कपि लागे'। अथवा नगरमें फिराया कि सब जान लें कि राजाका अपराधी ऐसी सजा (दण्ड) को प्राप्त होता है। अथवा, इससे फिराया कि जिस-जिस घरके राक्षसोंको इसने मारा है, उनकी स्त्रियाँ भी इसकी दुर्दशा देख प्रसन्न हो जायँ। (मा० त० सु०)।

नोट—२ रावणने स्वयं ही यह आज्ञा दे रक्खी थी कि इसकी पूँछमें आग लगाकर इसको सारे नगरमें घुमाओ। यथा—'आज्ञापयद्राक्षसेन्द्रः पुरं सर्वं सचत्वरम्। लांगूलेन प्रदीप्तेन रक्षोभिः परिणीयताम्॥ वाल्मी० ५। ५३। ५।'; मानसकल्पमें नगरमें घुमानेके पश्चात् पूँछमें आग लगायी गयी। नगरमें घुमाते समय ढोल आदि बजा-बजाकर इनका अपराध (कि अशोकवनको इसने उजाड़ा, रक्षकोंको मारा, अक्षकुमार, मंत्रिपुत्रों आदिको मारा, तुम्हारे भाई-बन्धु, पुत्र-पिता आदिको मारा है, इत्यादि) सबको सुनाते थे। और अध्यात्मरामायणमें तो 'यह चोर है' ऐसा कहते हुए घुमाना लिखा है। यथा—'समन्ताद् भ्रामयामासुश्चोरोऽयमिति वादिनः। तूर्यघोषैर्घोषयन्तस्ताडयन्तो मुहुर्मुहुः॥ ५। ४। ३८।' वाल्मीकिजी लिखते हैं कि हनुमान्जीको जासूस (भेदिया) बतला-बतलाकर वे राक्षस घोषणा करते जाते थे। 'घोषयन्ति कपिं सर्वे चार इत्येव राक्षसाः। ५। ५३। २३।' लमगोड़ाजी कहते हैं कि मुझे तो तुलसीदासजीका प्रबन्ध ही उचित जान पड़ता है कि कौतुकके लिये ही नगरमें फिराया, ढोल बजाये और तालियाँ दीं।

पावक जरत देखि हनुमंता। भयउ परम लघु रूप तुरंता॥ ८॥
निबुकि चढ़ेउ कपि कनकअटारी। भईं सभीत निसाचर नारी*॥ ९॥

अर्थ—अग्नि जलती हुई देखकर श्रीहनुमान्जी तुरंत परम लघु रूप हो गये। (अर्थात् पूँछ छोड़ और सब अङ्गोंको छोटा कर लिया कि जो बँधे हुए थे; क्योंकि पूँछ छोटी करते तो कपड़ा जो बाँधकर जलाया गया वह भी निकल जाता। बँधे हुए अङ्गोंको छोटा करके बन्धनसे निकल आये॥ ८॥ कपि हनुमान्जी बन्धनसे निकलकर सोनेकी अटारीपर चढ़ गये। (यह देखकर) निशाचरोंकी स्त्रियाँ भयभीत हो गयीं॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) 'जरत देखि' का भाव कि अब देख लिया कि अग्नि अच्छी तरह प्रज्वलित हो गयी, दौड़ने-कूदने-फाँदनेसे बुझेगी नहीं। (ख)—'तुरंता' क्योंकि किंचित् भी विलम्ब होता तो राक्षस पकड़ लेते' कार्यमें विघ्न होता। ['ये लोग मुझे नगरमें घुमावें और आग लगावें तो मेरा बड़ा काम होगा' यह पूर्वका सोचा हुआ मनोरथ सिद्ध हो गया, इसीसे वे उत्साहसे भरकर 'तुरंत' लघुरूप हो गये।—'कपिः कृतमनोरथः वर्धमानसमुत्साहः' (वाल्मी० ५। ५४। १)।' 'तुरंता' से यह भाव भी जना दिया।]

२ (क) 'निबुकि चढ़ेउ' कहकर 'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा' इस वाक्यको यहाँ चरितार्थ किया। अपनेसे ही बँधाया और अपनेसे ही बन्धनसे निर्मुक्त हो गये।—[बन्धन तोड़नेसे देवताका तथा नागपाशका अपमान होता, मर्यादा

* म० च०—'पावक०' पायकुलक, 'भयउ०' चण्डी' (९) पायकुलक।

भंग होती, अतएव उसे तोड़ा नहीं; स्वयं छोटे हो गये, जिससे बन्धन ढीले पड़ गये और वह आप ही छूट गया। पं० रामकुमारजीका मत है कि पूँछ छोटी नहीं की, क्योंकि यदि पूँछ छोटी करते तो लपेटे हुए कपड़े निकल जाते। गौड़जी कहते हैं कि—'निबुक' में यह भाव है कि श्रीहनुमान्‌जीने अपने शरीरको एकदम छोटा कर लिया जिससे सहज ही बन्धनके बाहर हो गये, साथ ही पूँछ भी छोटी हो गयी, जिससे बँधा हुआ अत्यन्त लंबा कपड़ोंका पुछल्ला जलता हुआ रह गया। इसीको लेकर वे कनक अटारीपर चढ़ गये और यद्यपि उन्होंने अपना आकार बहुत लंबा-चौड़ा कर लिया तथापि अब उन्हें पूँछ बढ़ानेकी आवश्यकता न थी। 'परमलघु रूप', यथा—'ह्रस्वतां परमां प्राप्तो बन्धनान्यवशातयत' ॥ वाल्मी० ५। ५३। ४२।', 'सूक्ष्मो बभूव बन्धेभ्यो निःसृतः' (अध्यात्म० ५। ४। ४०)।] (ख)—'कनक अटारी' से रावणका भवन अभिप्रेत है; यथा—'कौतुकी कपीस कूदि कनक कँगूरा चढ़ि रावनभवन जाइ ठाढ़ो तेहि काल भो।' (क० ५। ४)। पूँछ जलानेकी आज्ञा रावणने ही दी थी इसीसे प्रथम उसके महलपर चढ़े। निशाचरियाँ श्रीजानकीजीको डरवाती थीं, इसीसे उनको डरवाया। (ग)—'भईं सभीत' से जनाया कि सब स्त्रियाँ तमाशा देखनेके लिये अटारियोंपर बैठी थीं।—[त्रिजटाका स्वप्न सुनकर निशाचरियाँ जो वहाँ थीं वे सब डरी थीं, यथा—'सपनें बानर लंका जारी।''' यह सपना''' होइहि सत्य'''॥ तासु बचन सुनि ते सब डरीं।' (५। ११। ३-८)। उनसे औरोंने भी सुना। अब वानरको प्रत्यक्ष अटारीपर देख स्वप्नको सत्य जानकर 'सभीत' अत्यन्त भयभीत हुईं। वा, रावणके महलपर चढ़े हैं, अतः 'निशाचर-नारी' से रावणकी स्त्रियाँ ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं। 'सभीत' हुईं कहकर वाल्मी० ५। ५४ के 'क्रन्दन्त्यः सहसा पेतुः स्तनन्धयधराः स्त्रियः ॥ २६ ॥ काश्चिदग्निपरीतांग्यो हर्म्येभ्यो मुक्तमूर्धजाः। पतन्त्यो रेजिरेऽभ्रेभ्यः सौदामिन्य इवाम्बरात् ॥ २७ ॥ इन श्लोकोंका भाव जनाया है। अर्थात् वे ऐसी भयभीत हुईं कि दुधमुँहे शिशुओंको गोदमें लिये रोती हुई सहसा आगमें गिर पड़ती थीं, बहुत-सी स्त्रियाँ चारों ओरसे अग्निसे घिरकर सिरके बाल खोले अटारियोंपरसे नीचे कूद पड़ती थीं। पुनः यथा—'पानी पानी पानी, सब रानी अकुलानी कहैं, जाति हैं परानी, गति जानि गजचालि है। बसन बिसारैं मनि भूषन सँभारत न, आनन सुखाने कहैं क्यों हूँ कोऊ पालिहै?', (क० ५। १०)। 'रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहिं, सकै ना बिलोकि बेष केसरीकुमार को। मींजि-मींजि हाथ धुनैं माथ दसमाथतिय'''।' (क० ५। १२)।—यह रानियोंके भयका स्वरूप है।]

☞ ३ उस समयका रूप ध्यान करके देखिये। एक तो त्रिकूटाचल ऊँचा, उसपर लंकापुरी बसी है, सो भी बड़ी ऊँची, उसमें भी रावणका भवन सबसे ऊँचा—इसके भी कँगूरेपर जाकर हनुमान्‌जी खड़े हुए और इस समय बड़ा विशाल रूप धारण कर लिया है; यथा—'कपि बढ़ि लाग अकास'। समस्त आकाश इस समय अग्निमय हो गया है, मानो आकाशरूपी समुद्रमें पूँछ वड़वानल है, यथा—'बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानों, लंक लीलबेको काल रसना पसारी है। कैधौं ब्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु, बीररस बीर तरवारि सी उघारी है॥ तुलसी सुरेसचाप कैधौं दामिनी कलाप, कैधौं चली मेरु तें कृसानुसरि भारी है। देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं, कानन उजार्‍यो अब नगर प्रजारी है॥'—(क० ५। ५)।

दो०—हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास* ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—मरुत—वेदोंमें इन्हें रुद्र और वृश्निका पुत्र लिखा है और इनकी संख्या ६० की तिगुनी मानी गयी है, पर पुराणोंमें इन्हें कश्यप और दितिका पुत्र लिखा गया है जिसे उसके वैमात्रिक भाई इन्द्रने गर्भ काटकर एकसे उनचास टुकड़े कर डाले थे, जो उनचास 'मरुत' हुए। वेदोंमें मरुद्गणका स्थान अंतरिक्ष बताया है। उनके घोड़ेका नाम प्रषित बतलाया है तथा इन्हें इन्द्रका सखा कहा है। (श० सा०) अट्टहास=खिलखिलाकर उच्चस्वरसे हँसना।

अर्थ—उस समय भगवान्‌की प्रेरणासे उनचासों पवन चलने लगे। हनुमान्‌जी अट्टहास करके (खिलखिलाकर हँसकर उच्चस्वरसे) गर्जे और बढ़कर आकाशसे जा लगे॥ २५॥

नोट—१ ओज गुणसम्बन्धी अक्षरोंके शाब्दिक प्रभावको विचार कीजिये। (लमगोड़ाजी)।

* यह दोहा दोहरा है—(ब्र० चं०)।

टिप्पणी—१ (क) 'हरि प्रेरित···', यथा—'वायुर्वहति मद्भयात्'। 'भयादिन्द्रश्चवायुश्च···' (कठ २।३।३)। 'हरि' शब्द बहुत अर्थोंका बोधक है—वानर, इन्द्र, भगवान्, पवनके अधिकारी देवता। 'हरिप्रेरित' का भाव यह कि उनचासों पवन प्रलयमें ही चलते हैं और कभी नहीं चलते। 'चले पवन उनचास' कहनेका भाव कि अग्नि पवनका सहारा पाकर अत्यन्त वेगसे कालाग्निकी तरह अत्यन्त प्रचण्ड होकर बढ़ने और एक घरसे दूसरे घरमें पहुँचने लगा। यथा—'श्वसनेन च संयोगादतिवेगो महाबलः। कालाग्निरिव सन्दीप्तः प्राबर्धत हुताशनः॥ २१॥ प्रवृद्धमग्निं पवनस्तेषु वेश्मस्वचारयत्। अभूच्छ्वसनसंयोगादतिवेगो हुताशनः।'(वाल्मी० ५।५४।२२)।···'युगान्तकालानलतुल्यवेगः समारुतोऽग्निर्ववृधे दिविस्पृक्॥ ३३॥' पं० शिवलालपाठकजी 'हरि' का यहाँ 'वानर' अर्थ ग्रहण करके यह भाव लिखते हैं कि हनुमान्‌जीने रावणके बंदीखानेमें बँधे पड़े हुए उनचासों पवनोंके बन्धन खोल दिये, इसीसे उनचासों पवन चलने लगे। वायु बंधनमुक्त होनेपर आकाशमें जा लंकादहनकी शोभा देख 'अट्टहास करि अर्थात् हँसा, ।* (ख) 'अट्टहास' करके गर्जनेका भाव यह कि पहले सरस्वतीकी सहायता समझकर मुस्कराये थे, अब उनचासों पवनोंकी सहायता समझकर 'अट्टहास' किया कि अब काम खूब अच्छा बनेगा। [पूर्व इस विचारसे कि कार्यमें विघ्न न पड़ जाय वे मनमें मुस्कराये थे, अब पवनकी सहायता पाकर मनोरथकी विशेषरूपसे एवं शीघ्र सिद्धि देखकर खिलखिलाकर हँसे कि लो तुमने 'बहु हाँसी' की थी उसका बदला लो। बाबा हरिदासने हँसनेके सात भाव और लिखे हैं। अट्टहासकर गर्जे जिसमें श्रीसीताजीको विश्वास हो जाय कि उनकी कृपासे मुझे अग्नि शीतल हो गया है, मैं जल नहीं रहा हूँ। (सीतायाश्चानृशंस्येन तेजसा राघवस्य च।' वा० ५।५३।३८)। जलता हुआ होता तो हँसता नहीं।—(१)। रावण विस्मित हो जाय कि इसके अद्भुत अभूत कार्य हैं, अब मेरा काल आ गया।—(२)। सिद्ध मुनि और देवताओंको आनन्द और विश्वास हो कि रावण अब अवश्य मारा जायगा।—(३)। रावणने सीताजीको संताप दिया, अब वह जान ले कि रामभक्तको संताप देनेवाला तुरंत दुःख पाता है।—(४)। श्रीरामनाम और श्रीरामभक्तिका प्रभाव दिखाते हैं कि देख, अग्नि मुझे न जलाकर तेरे नगरको जला रहा है।—(५) वाटिकामें तू सीताजीको दुर्वचन कहता था और मैं छिपा सुनता था। मेरी इस करनीको धिक्कार है—उस कालिमाको मैंने धोनेकी प्रतिज्ञा की थी सो श्रीरामकृपासे पूरी होनेको है।—(६)। ('कहौंगो मुखकी समरसरि कालि कारिख धोइ। करत कछू न बनत हरि हिय हरष सोक समोइ। कहत मन तुलसीस लंका करहुँ सघन घमोइ॥' (गीता ५।५)—सम्भवतः इन वचनोंको लेकर यह भाव कहा गया है)। जो वस्तु श्रीरामजीसे विमुख हो उसे जलानेमें शोच संकोच न करना चाहिये, यथा—'जरउ सो संपति सदन सुख···'। जलतेमें हँस-हँसकर देखना उचित है। अतः हँसे। (७)] (ग) पहले बन्धनसे निकलनेके लिये 'परम लघु रूप हो गये थे, अब बढ़कर आकाशमें जा लगे; जिसमें राक्षस भयसे निकट न आवें। बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया। पहले एक अङ्गका बढ़ना कहा; यथा—'बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला' और अब 'कपि बढ़ि लाग अकास' अर्थात् पूँछके योग्य शरीर भी हो गया। (घ) राक्षसोंकी करनीसे श्रीहनुमान्‌जीकी करनीका मिलान—

राक्षसोंकी करनी	कपिकी करनी
कौतुक लागि सभा सब आए	१ बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला
मारहिं चरन	२ जातुधान पुंगीफल जव तिल धान हैं
करहिं बहु हाँसी	३ अट्टहास करि
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी	४ गर्जे
पूँछ प्रजारी	५ मंदिर मंदिरमें आग लगाई
सबकी ममता घरमें	६ कपि कै ममता पूँछ पर
नगरकी प्रदक्षिणा कराई	७ नगर जलाकर सबको नगरके बाहर दौड़ाया
कपि बंधन सुनि निसिचर धाये	८ मंदिर ते मंदिर चढ़ि धाई

इस मिलानका भाव यह है कि कपिजी कहते हैं कि तुम हमें हँसे, पूँछमें आग लगायी, मारा, कौतुक देखा; अब हम

* प्र० प० प्र० का मत है कि 'वानर' अर्थ होनेसे 'ईशित्व' सिद्धि प्रकट होती है। मा० त० सु०—एक ही पवनसे काम चल जाता. उनचासों क्यों चलाए गये? उत्तर—इससे भक्तपर अनुकूलता दिखायी। पुनः, हनुमान्‌जीके 'राखि न सकहिं राम कर द्रोही' इस वचनको सत्य करनेके लिये। पुनः, हनुमान्‌जीके प्रताप और बलकी वृद्धि एवं रावणके भयके लिये।

तुमको हँसते हैं, घर-घर आग लगाते हैं; तुमको मारते और तुम्हारा कौतुक देखते हैं।

नोट—२ 'कपि बढ़ि लाग अकास' इति। वैज्ञानिक दृष्टिसे इसपर गौड़जीका लेख पूर्व 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा' में आ चुका है। अब विश्व-साहित्यके नातेसे यहाँ श्रीलमगोड़ाजीका मत दिया जाता है।

महाकाव्य कलाके समझने और उससे आनन्द उठानेमें हमारी कल्पनाशक्ति ऐसी होनी चाहिये कि खूब घट और बढ़ सके। रबड़ क्या, गैसका-सा बढ़ना और सिकुड़ना हो तब ठीक लगे। इसीसे मिलटनने भी 'पैरेडाइज लास्ट' में दानवोंके वैसे सम्मिलनको उनकी राजसभामें बाँधा है कि या तो बहुत-सी जनता बाहर थी या जब सूक्ष्म हुए तो सब अन्दर आ गये और जगह खाली रह गयी।

हमारे यहाँ तो योगदर्शनमें वैसी स्थितियोंको योगद्वारा प्राप्त करनेके उपाय तक दिये हुए हैं। हाँ, दिव्य योनियोंमें वे स्वाभाविक होती हैं। देव, असुर, नाग इत्यादि योनियाँ सब दिव्य ही हैं, किसीमें दैवी सम्पत्तिका विकास है और किसीमें आसुरीका। फिर हनुमान्‌जी तो पवनसुत ही ठहरे। वायु (गैस) का घटाव-बढ़ाव उनमें होना कौन-सी बड़ी बात है?

देह* बिसाल परम हरुआई। मंदिर ते मंदिर चढ़ धाई॥ १॥
जरइ नगर भा लोग बिहाला। झपट† लपट बहु कोटि कराला॥ २॥
तात मातु हा सुनिय पुकारा। एहि अवसर को हमहिं उबारा॥ ३॥

अर्थ—देह परम विशाल और परम हलकी है, एक मन्दिरसे दूसरेपर दौड़कर चढ़ जाते हैं॥ १॥ नगर जल रहा है, लोग विह्वल और व्याकुल हो गये; बहुतेरी करोड़ों (असंख्य) भयङ्कर लपटें झपट रही हैं॥ २॥ हा तात! हा माता! इस अवसरपर हमें कौन बचानेवाला है? यही पुकार (चारों ओर) सुनायी पड़ती है॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'देह बिसाल।...' इति। (क) विशाल देहमें हलकापन नहीं होता, वह भारी होती है; अतः विशाल देह कहकर 'परम हरुआई' कहा। अर्थात् यद्यपि देह विशाल है पर अत्यन्त हलकी है; इसीसे दौड़-दौड़कर एक मन्दिरसे कूदकर दूसरेपर, दूसरेसे तीसरेपर, इस प्रकार जा-जाकर उनमें आग लगाते हैं। (ख) जितनी ही देह विशाल है उसीके अनुमानसे उतना ही वह हलकी है। परम विशाल ऐसी कि आकाशसे लगे हैं, यह वृद्धिकी अवधि है, और, 'परम हरुआई' यह हलकेपनकी अवधि है। (ग) एक बार चढ़ना प्रथम कह चुके हैं—'निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी', अब यहाँ पुनः चढ़ना कहकर जनाते हैं कि मन्दिर उत्तरोत्तर ऊँचे हैं, इसीसे एकसे दूसरेपर चढ़ना कहा। एकसे दूसरा ऊँचा न होता तो 'चलि जाई' कहते। (घ) 'धाई' से जनाया कि बड़े जोरसे दौड़कर लङ्काको क्षणमात्रमें जलाया, यह शीघ्रता आगे कवि स्वयं दिखाते हैं—'जारा नगर निमिष एक माहीं।' घी-तेल पूँछसे टपकता जाता है और आग लगती जाती है, जैसे मोमसे रूईमें और बारूदमें आग लगे, इसी प्रकार आग छूते ही मणियों और स्वर्णके स्थान भी जल उठे। कपि तो दौड़ते मात्र हैं, आग लगती जाती है, उसके लगानेका यत्न नहीं करना पड़ता।

[मिलान कीजिये—'भवनाग्रेषु लङ्काया विचचार महाकपिः। ६। गृहाद्गृहं राक्षसानां...'। (वाल्मी० ५। ५४)। वाल्मीकिजीने जो श्लोक ६ से १६ तकमें लिखा है कि हनुमान्‌जी भवनोंकी अटारियोंपर घूमने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने फिर क्रमसे प्रहस्त, महापार्श्व, वज्रदंष्ट्र, शुक, सारण, मेघनाद इत्यादि समस्त प्रधान-प्रधान राक्षसोंके घर फूँके—यह सब भाव 'मंदिर ते मंदिर...' से जना दिया है।]

प० प० प्र०—'मंदिर ते मंदिर...' इति। यहाँ गोस्वामीजी अपनी भावना प्रकट कर रहे हैं। पाषाणादिकी प्रतिमा होनेसे स्थान मन्दिर बन जाता है और यहाँ तो साक्षात् श्रीहनुमान्‌जी खड़े हैं तब वह उनकी भावना उपासनाके अनुकूल मन्दिर है ही। प्रथम तो हनुमान्‌जीने 'मंदिर मंदिर प्रति सोधा' करके राक्षसभवनोंको भीतरसे पवित्र किया और अब अपने स्पर्शसे उन्हें बाहरसे पवित्र करके अग्निदेवको समर्पण करते हैं। इस पावककी ज्वालासे समस्त निशाचरोंके अन्तःकरण पवित्र होंगे और वे रावणके प्रतिकूल तथा रामकार्यानुकूल बन जायँगे।

टिप्पणी—२ 'जरइ नगर भा लोग बिहाला...' इति। (क) यहाँ 'भा' एक वचन पद दिया—जातीत्वके विचारसे

* 'देह'...।', जरइ...।', (३), (४) पादाकुलक हैं। 'मन्दिर...।', अनुकूल और 'झपट'...' चण्डी भेद हैं। (प्र० सं०)।

† दपट—कोदवराम। जरत—रा० प्र०।

अथवा यह जनानेके लिये कि प्रत्येक राक्षस, जनतामेंका प्रत्येक जन व्याकुल है एक वचन क्रिया दी। (ख) ['जरइ नगर' से यह भी जनाया कि हीरा, मूँगा, पन्ना, मोती, चाँदी और स्वर्ण आदि अनेक धातुएँ भी अग्निके तापसे पिघलकर बहती थीं; यथा—'**वज्रविद्रुमवैदूर्यमुक्तारजतसंहितान्। विचित्रान् भवनाद्धातून्स्यन्दमानान्ददर्श सः ॥ ५। ५४। २८॥**' लङ्का सोनेकी थी, अनेक रत्नजटित उसमें भवन थे। सभी जलकर पिघल गये—यह अग्निकी करालता है।] (ग) आदिमें 'जरइ नगर', अन्तमें 'झपट लपट बहु'' और मध्यमें 'भा लोग बिहाला' कहकर जनाया कि सब लोग अग्निके बीचमें हैं; अग्निसे घिरे हुए हैं। अथवा, यह कि लोग इससे व्याकुल हैं कि नगरभरमें एकबारगी अग्नि लग गयी, लोग निकलकर भाग न सके, जहाँके तहाँ ही रह गये। (घ) उनचासों पवन चले इसीसे 'झपट बहुत' और बहुत जगह आग लगी इसीसे 'बहुकोटि लपट' कहा। करालसे अग्निकी विलक्षणता दरसायी। यथा—'**युगपट भानु देखे प्रलयकृसानु देखे, सेषमुख अनल बिलोके बार बार हैं। तुलसी सुन्यो न कान सलिल सर्पी समान अति अचरज किये केसरीकुमार हैं ॥**'—(क० ५। २०)। ऐसी अग्नि नहीं देखी कि पानी पड़नेसे ऐसी बढ़े जैसे घी पड़नेसे। कहाँ तो हनुमान्‌जीको जलाने गये और जल गये आप ही! (ङ) यहाँतक बड़ोंका बेहाल होना कहा, आगे छोटोंकी व्याकुलता कहते हैं।

टिप्पणी—३ (क) उबारना=बचाना। यथा—'**उबरा सो जनवासहि आवा**'। 'तात मात हा'' कहकर '**को हमहिं उबारा**' कहनेका भाव कि जो हमें इस समय बचा ले वह माता पितासे भी अधिक है। 'हा' इति कष्टे। बड़े कष्टसे पुकारते हैं, बहुत व्याकुल हैं। (ख) 'पुकारा' का भाव कि हाय हमारी पुकार तो सुनिये, कोई भी नहीं सुनता! (ग) 'तात' पद पिता, पुत्र, भाई, मित्र इत्यादि सभीका वाचक और बोधक है। एक ही शब्दसे सबका ग्रहण करा दिया। यथा—'**धीय को न माय बाप पूत न सँभारहीं**'—(क० ५। १५)।

नोट—१ 'भा लोग बिहाला''सुनिय पुकारा' का स्वरूप वाल्मीकीय और कवितावलीमें बड़ा सुन्दर दिखाया गया है। स्त्रियोंका सभीत होना ऊपर दिखाया जा चुका है। –२५ (९) देखिये। नगरनिवासी सभी व्याकुल हैं, रोते चिल्लाते हैं, यथा—'**रुरोद दीना तुमुलं सशब्दम्।** वाल्मी० ५। ५४। ३९।' तथा '**हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र हा जीवितेशाङ्ग हतं सुपुण्यम्। रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः शब्दः कृतो घोरतरः सुभीतः ॥** वाल्मी० ५। ५४। ४०॥' अर्थात् हा तात! हा पुत्र! हा कान्त! हा मित्र! हा जीवितेश! आज हमारे समस्त शुभ पुण्य नष्ट हो गये। इस प्रकार सब राक्षस डरे हुए बहुत बक रहे हैं। पुनः कवित्तरामायणे यथा—'**हाट बाट कोट ओट अटनि अगार पौरि, खोरि, खोरि दौरि दौरि दीन्ही अति आगि है। आरत पुकारत सँभारत न कोऊ काहू, व्याकुल जहाँ सो तहाँ लोग चले भागि हैं ॥** ५। १३।', '**लागि लागि आगि भागि भागि चले जहाँ तहाँ, धीयको न माय बाप पूत न सँभारहीं। छूटे बार बसन उघारे धूमधुंध अंध, कहैं बारेबूढ़े बारि बारि बारबार हीं।''नाम लै चिलात बिललात अकुलात अति, तात तात! तौंसियत झौंसियत झारहीं ॥** १५॥', '**लपट कराल ज्वालजालमाल दुहुँ दिसि, धूम अकुलाने पहिचानैं कौन काहि रे। पानी को ललात बिललात जरे जात गात, परे पाइमाल जात भ्रात! तू निबाहि रे ॥ प्रिया तू पराहि नाथ नाथ! तू पराहि, बाप बाप! तू पराहि, पूत पूत! तू पराहि रे। तुलसी बिलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहैं, लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे ॥ १६॥**'— (देखिये, 'तात मातु हा'' का कैसा सुन्दर दृश्य है)। व्याकुल ऐसे हैं कि सर्वत्र वानर ही देख पड़ता है, नेत्र मूदनेपर भी वह सामने देख पड़ता है। यथा—'**बीथिका बजार प्रति अटनि अगार प्रति, पँवरि पगार प्रति बानर बिलोकिए। अध ऊर्द्ध बानर बिदिसि दिसि बानर है, मानहु रह्यो है भरि बानर बिलोकिए। मूँदे आँखि हीय में, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो, धाइ धाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को बिलोकिए ॥ १७॥**'

२—मा० त० सु०—'**को हमहिं उबारा**' का भाव कि जिसको पुकारा जाता है वह स्वयं ही उसीमें पड़कर पुकार रहा है अर्थात् अपनी-अपनी सबको पड़ी है तब कौन किसको बचावे।

हम जो कहा यह कपि नहिं होई। बानर रूप धरे सुर कोई ॥ ४ ॥
साधु अवज्ञा कर फल ऐसा। जरै नगर अनाथ कर जैसा* ॥ ५ ॥

अर्थ—हमने जो कहा कि यह वानर नहीं है या हो सकता, यह कोई देवता ही वानररूप धरे हुए है (वही ठीक निकला) ॥ ४ ॥ साधुकी अवज्ञा (अनादर, अवहेलना) का ऐसा ही फल होता है कि (यह) नगर अनाथके (नगरके) समान जल

* 'साधु'' अनुकूल, 'जरै नगर'' से (८) तक पादाकुलक है। (त्र० चं०)

रहा है। अर्थात् लंकाका नाथ रावण बैठा है तब भी यह अनाथ-नगर-सा जल रहा है) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—'कपि नहिं होई'…।' वानरमें इतना पराक्रम नहीं होता। ऐसा पुरुषार्थ देवतामें ही है और रावणसे देवताओंसे ही वैर है; यथा—'हमरे बैरी बिबुध बरूथा।' अतएव हमारा अनुमान ठीक है कि यह वानर नहीं देवता है।—यह उक्ति मंदोदरीकी है। रावणको अशोकवनके उजड़नेका बड़ा कष्ट है; उसपर मंदोदरी कहती है—'कानन उजार्‌यो तो उजार्‌यो न बिगार्‌यो कछू, बानर बिचारो बाँधि आन्यो हठि हार सों। निपट निडर देखि काहू न लख्यो बिसेषि, दीन्हों ना छुड़ाइ कहि कुलके कुठार सों॥ छोटे औ बड़ेरे मेरे पूतऊ अनेरे सब, साँपिन सों खेलै मेलैं गरे छुराधार सों। तुलसी मदोवै रोइ रोइ कै बिगोवै आपु, बार बार कह्यो मैं पुकारि दाढ़ीजार सों'—(क० ५। ११)।

नोट—१ (क) 'हम जो कहा'…' यह वचन किसके हैं। इसमें मतभेद है। बाबा हरिप्रसादजीका मत है कि पूर्व जो राक्षस रावणके पास पुकारते आये थे उसने ऐसा कहा होगा यह सम्भव है। 'प्रभु मर्कट बलभूरि', 'कपिभारी' आदिमें भी यही भाव झलकता है। इसीपर रावण और उसके मन्त्रियोंने भी यही कहा कि यह वानर नहीं हो सकता। मा० त० सु० का मत है कि पुरवासियों या मन्त्रियोंने पहले इस विषयमें राय दी थी। पुनः, विपत्तिकालमें इस प्रकारके प्रलाप प्रायः लोगोंके मुखसे निकल पड़ते हैं। पुनः, अति उत्कट अधर्म करनेवालेको दुःख ही पड़नेपर चिन्ता होती और सूझती है, यथा—'जमपुरपंथ सोच जिमि पापी।' वाल्मीकीयके अनुसार तो अशोकवाटिकाकी राक्षसियोंने प्रथम-प्रथम रावणसे कहा था कि यह इन्द्र या कुबेर आदिका दूत जान पड़ता है जो वानररूपसे आया है। मेघनादद्वारा लाये जानेपर प्रहस्तने रावणके कहनेसे भी हनुमान्‌जीसे ऐसे ही प्रश्न किये हैं कि तुम वानररूपमें किसके भेजे हुए आये हो? इन्द्र, यम, कुबेर, विष्णु आदिके दूत हो। पर लंका-दहनपर वाल्मीकिजी कहते हैं कि उस समय अनेक समझदार राक्षसनेता एकत्र होकर ऐसी कल्पनाएँ कर रहे थे। यथा—'नूनमेषोऽग्निरायातः कपिरूपेण हा इति।५।५४।२६।' अर्थात् लोग चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि हाय! निश्चय ही कपिका रूप धरकर यह अग्निदेव ही आये हैं। 'वज्री महेन्द्रस्त्रिदशेश्वरो वा साक्षाद्यमो वा वरुणोऽनिलो वा। रुद्रोऽग्निरर्को धनदश्च सोमो न वानरोऽयं स्वयमेव कालः॥३६॥ किं ब्राह्मणः सर्वपितामहस्य, सर्वस्य धातुश्चतुराननस्य। इहागतो वानररूपधारी रक्षोपसंहारकरः प्रकोपः॥ ३७॥ किं वैष्णवं वा कपिरूपमेत्य रक्षोविनाशाय परं सुतेजः।…आगतं वा॥ ३८॥ इत्येवमूचुर्बहवो विशिष्टा रक्षोगणास्तत्र समेत्य सर्वे। वाल्मी० ५। ५४। ३९।'-(अर्थात्) लंकापुरीको प्राणियों, घरों इत्यादि सहित भस्मसात् हुई देख समझदार राक्षस नेता एकत्र हो इस प्रकार कह रहे थे कि—यह या तो वज्रधारी देवराज इन्द्र है, या साक्षात् यम है, या वरुण, पवन, रुद्र, अग्नि, सूर्य, कुबेर अथवा सोम है। यह वानर नहीं है, प्रत्युत साक्षात् काल है। या सबके पितामह चार मुखवाले ब्रह्माका क्रोध ही अथवा विष्णु भगवान्‌का महातेज कपिरूपसे आया है।—गोस्वामीजीने यह सब 'हम' बहुवचन पद देकर जना दिया है कि बहुतसे लोग ऐसा कह रहे हैं। 'हम' से नगर-निवासी पुरुषोंके अतिरिक्त राक्षसियों और मंदोदरीका भी ग्रहण हो सकता है। 'कहा' को भूतकालिक क्रिया लेनेसे ही यह प्रश्न उठता है कि पूर्व किसने कहा था। परंतु 'हमने जो कहा' यह बोलचालका मुहावरा भी है। आपसमें बात करते समय आगे-पीछे ऐसा कहा जा सकता है (ख) 'सुर कोई' कहनेसे वाल्मीकीयके उपर्युक्त सभी अनुमानोंका ग्रहण हो गया। 'हम जो कहा''कोई' में भाव यह कि हमारी सम्मति न थी कि इसे दण्ड दें पर रावणके दुराग्रहका फल हमें भी भोगना पड़ रहा है। (मा० त० सु०)

टिप्पणी—२ (क) 'साधु अवज्ञा'…' हनुमान्‌जी साधु हैं। लड़ना, चरण प्रहार करना, हँसना, पुच्छमें आग लगाना, यह सब उनका अनादर है (ख) 'अनाथ कर जैसा'। भाव कि लड़की-लड़के 'तात मातु' कहकर पुकारते हैं, कोई सुनता ही नहीं। वस्तु जलती है, कोई सँभाल नहीं करता। घर जलता है मानो इनका कोई नाथ (मालिक, स्वामी, रक्षक) नहीं है।—यह वक्ताओंकी उक्ति है। यहाँ माल असबाबका जलना कहा।

नोट—२ जिसके माता-पिता न हों वह पुत्र अनाथ, जिस 'अबला' के पति वा पुत्र न हो वह विधवा अनाथ, जो हाथ, पैर और नेत्र आदिसे रहित हो वह भी एक प्रकारसे अनाथ ही है। जिस पशु-पक्षी, भवन आदिका कोई मालिक न हो वह अनाथ, जिस नगरका शासन करनेवाला राजा आदि कोई न हो वह भी अनाथ है—इनको कोई लूटे, जलावे, संताप दे तो कोई सहायक नहीं होता है, कोई रक्षा नहीं करता। यहाँ रावण राजा होते हुए भी नगर उसके देखते-देखते भस्म कर दिया गया और वह कुछ न कर सका। इसीसे 'अनाथ कर जैसा' कहा। अनाथ कर जैसा' से जनाया कि अनाथ नहीं होते हुए भी 'अनाथका-सा' जल रहा है। कवितावलीमें मन्दोदरीजीने रावणको समझाते हुए भी ऐसा ही कहा है, यथा—'नगर प्रजार्‌यो

सो बिलोक्यो बल कीसको । तुम्हें बिद्यमान जातुधान मंडली··· । ६ । २२ ।' '**सहित समाज गढ़ राँड़ कैसो भाँड़िगो।२४।**' (यह अंगदके सम्बन्धमें कहा है पर भाव अनाथका ही है); '**ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की सी झोपरी । २७ ।**'—यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है ।

लमगोड़ाजी—श्रीतुलसीदासजीके उपदेश कितने मौकेके हैं, पर कैसे भावपूर्ण होते हैं । 'शा' महोदयकी तरह गद्यात्मक और रूखे नहीं ।

जारा नगर निमिष एक माहीं । एक बिभीषन को* गृह नाहीं ॥ ६ ॥
ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा । जरा न सो तेहि कारन गिरिजा ॥ ७ ॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जीने) नगरको निमिषमात्रमें जला डाला । एक विभीषणका ही घर नहीं जलाया ॥६॥ हे गिरिजे ! जिसने अग्निको पैदा किया, उसीके दूत हनुमान्‌जी हैं; इसी कारण वह (श्रीहनुमान्‌जी) न जले ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ (क) '**निमिष एक माहीं**' अर्थात् बड़ी शीघ्रता जलानेमें की, जबतक लंका न जली तबतक पलक न मारी । जो 'सर्षप' शब्द उच्चारण होनेसे भी कम समयमें ६० लक्ष योजन जा और लौट सकते हैं, उनका पलभरमें लंका जला डालना क्या बड़ी बात है !† अथवा, निमिष 'अल्पकाल' का वाचक है । 'पलभरमें' यह मुहावरा है, लोकोक्ति है । अथवा, साधु-अवज्ञाका फल शीघ्र मिलता है इसीलिये '**निमिष एक माहीं**' कहकर शीघ्रता दर्शित की । यथा—'**साधु अवज्ञा तुरत भवानी । कर कल्यान अखिल कै हानी ॥ ५ । ४२ ।**' (ख)—'**एक बिभीषण**'—अर्थात् इस एक घरको छोड़ कोई और स्थान लंकाभरमें न बचा । ये विभीषणका घर जानते हैं, क्योंकि पूर्व ही हो आये हैं । वहाँ हरिमन्दिर, तुलसी, रामायुध आदि हैं । पुनः, विभीषण सनाथ हैं उन्होंने 'साधु अवज्ञा' नहीं की, इत्यादि कारणोंसे उनका घर बचा । अवज्ञाका फल है कि धातुमें और पाषाणमें भी आग लगती है । और पासके घर जले तो भी उन मन्दिरोंसे विभीषणके मन्दिरमें आग न पहुँच सकी ।

२ (क) '**अनल जेहि सिरिजा ।**' अग्नि भगवान्‌के मुखसे उत्पन्न हुआ यथा—'**मुखादग्निर्जायत**', '**आनन अनल अंबुपति जीहा**', '**हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥**' (ख) '**गिरिजा**' सम्बोधनका भाव कि तुम हिमाचलकी कन्या हो, हनुमान्‌जीको अग्नि तुम्हारे पिताके समान शीतल हो गयी । यथा—'**गोपद सिंधु अनल सितलाई ।**' पुनः, जनाया कि उनको यह सुनकर शंका हुई कि 'हनुमान्‌जी अग्निसे कैसे बचे ?' उसीका समाधान शिवजी करते हैं । (ग) ☞ '**साधु अवज्ञा कर फल ऐसा । जरै नगर अनाथ कर जैसा ॥**' इसमें साधुका और '**ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा । जरा न सो तेहि कारन ॥**' इसमें भगवान्‌का प्रताप कहा । साधुकी अवज्ञासे लोगोंके स्थान जले, साधुके आदरसे विभीषणजीका स्थान बचा, और श्रीरामकृपासे हनुमान्‌जी बचे । '**जारा न सो**', सो कौन ? '**जारा नगरु**' जो (हनुमान्) सो '**जरा न**' । '**सो**' का अन्वय पिछली चौपाईसे है । '**तेहि कारन**'—कारण पूर्वार्द्ध '**ताकर दूत**···' में कहा गया ।

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्यकलाकी इस युक्तिकी ओर ध्यान दिलाया जा चुका है कि कितना संक्षिप्त संकेत आधिदैविक रहस्यकी ओर होता है; पर होता है अवश्य । मसनवी मौलाना रूममें भी जब एक संत अग्निमें नहीं जले तो कविने कहा है कि—'तुम इस ओरसे देखते हो, इसीसे अग्नि जड़ दिखती है । परदेके उस ओर देखो तों चैतन्य शक्ति दिखे ।'

---

* कर—ब्र० चं० ।

† यह चरित उस समयका है जब शक्तिसे लक्ष्मणजी मूर्छित पड़े थे और यह समस्या उपस्थित थी कि धवलागिरि, जो लंकासे साठ लक्ष योजनपर है, पर कौन जाकर रात्रिमें ही संजीविनी ला सकता है ? यथा हनुमन्नाटके—'नलस्त्रिरात्रं पुनरेति गत्वा तत्रैव मैन्दद्विविदौ द्विरात्रम् । सुग्रीवनीलौ पुनरेकरात्रं वीरांगदो यामचतुष्टयेन ॥ १९ ॥ नीत्वा लंकां सुषेणं पुनरनिलसुतः प्रार्थयामास रामं देवाज्ञां देहि वीरस्तव हितकरणोपस्थिताः सन्ति सर्वे । लक्षाणां षष्टिरास्ते द्रुहिणगिरिरितो योजनानां हनूमाँस्तैलाग्नेः सर्षपस्य स्फुटनरवपरस्तत्र गत्वाऽत्र चैमि । १३ । २० ।' अर्थात् नल तो द्रुहिणगिरिपर जाकर तीन रात्रिमें लौट सकते हैं, मैन्द और द्विविद दो रात्रिमें, सुग्रीव और नील एक दिनरात्रिमें और वीर अंगद चार पहरमें ही लौटकर आ सकते हैं ॥ १९ ॥ सुषेणको लंकामें पहुँचाकर पवनसुतजी श्रीरामजीसे विनय करने लगे कि—स्वामिन् ! आज्ञा दीजिये । वह पर्वत यहाँसे साठ लाख योजनपर है । अग्निपर धरे हुए तेलकी ज्वालामें डाले हुए सरसोंके फूटनेका शब्द जितनी देरमें हो उतने ही बीचमें मैं वहाँ जाकर पर्वतको लेकर आ जाऊँगा ॥ २० ॥—यह आपका वेग और सामर्थ्य है ।

टैगोरजीका कहना है कि हम चित्रके बाहरी अंशको देखते हैं, कैनवस (Canvas) के उस ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती, जिधरसे विधाता चित्र खींचते हैं।

नोट—१ मा० त० सु० और अन्य भी कुछ टीकाकारोंने 'सो' को विभीषणका बोधक माना है। इसके उत्तरमें वीर कविजीका लेख उद्धृत किया जाता है—'जब जलनेवालेने स्वयं विभीषणजीका घर नहीं जलाया, जान-बूझकर उसे बचाया, तब पार्वतीजीको इसमें संदेह करनेका कोई कारण नहीं है। हनुमान्‌जीके साथमें जो उपकार विभीषणजीने किया था उसको पार्वतीजी सुन चुकी हैं, प्रत्युपकार करना हनुमान्‌जीका धर्म है।' अतः यहाँ विभीषणजीके घरके विषयमें शंका करनेकी कोई बात नहीं है। अतएव 'सो' को विभीषणमें खींचकर लगानेकी आवश्यकता नहीं है। अध्यात्मरामायणमें शिवजीने कहा है कि—'विभीषणगृहं त्यक्त्वा सर्वं भस्मीकृतं पुरम् ॥४४॥' 'यन्नामसंस्मरणधूतसमस्तपापास्तापत्रयानलमपीह तरन्ति सद्यः। तस्यैव किं रघुवरस्य विशिष्टदूतः संतप्यते कथमसौ प्रकृतानलेन ॥ अध्यात्मे ५। ४। ४७।' अर्थात् जिनके नामस्मरणसे मनुष्य समस्त पापोंसे छूटकर तुरन्त ही तापत्रयरूप अग्निको पार कर जाते हैं, उन श्रीरघुनाथजीके विशिष्ट दूतको यह प्राकृत अग्नि भला किस प्रकार संताप पहुँचा सकता था! (अध्यात्मरामायणमें भी विभीषणजीके विषयमें शंका नहीं है। शंका केवल हनुमान्‌जीके विषयमें है और उसका समाधान है। उसके ही अनुकूल गोस्वामीजीने भी आगे-पीछे कहा है। पर मानसकविकी उक्ति अध्यात्मसे अधिक श्रेष्ठ है। श्रीरामनामके प्रभाव कथनकी उक्ति यहाँ उतनी सुन्दर नहीं है। पाठक स्वयं विचार कर लें।)

वाल्मीकीये सुं० स० ५४ श्लो० २८ से ३३ पर्यन्त अग्नि प्रज्वलित होनेपर हनुमान्‌जीने स्वयं तर्कवितर्क किया है कि अग्नि इतने वेगसे बलती है, किंतु वह मुझे नहीं जलाती, इसका क्या कारण है? यद्यपि भयंकर ज्वाला देख पड़ती है, तो भी पूँछमें ठंढक प्रतीत होती है। जब श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे समुद्रमें मैनाक पर्वत विश्राम देने आया तब क्या अग्निदेव कुछ भी अनुग्रह न करेंगे? अग्नि मेरे पिताके मित्र हैं। श्रीरामचन्द्रजीके प्रताप और श्रीसीताजीके अनिन्द्यत्वके प्रभावसे वे मुझे नहीं जलाते हैं। इस आवश्यक प्रश्नको भला गोस्वामीजी क्यों छोड़नेवाले थे, उन्होंने एक ही चौपाईमें कह दिया।

वाल्मी० ५। ५५। २५ में भी हनुमान्‌जीके विचार यही हैं; यथा—'नूनं रामप्रभावेण वैदेह्याः सुकृतेन च। यन्मां दहनकर्मायं नादहद्धव्यवाहनः ॥ यह निश्चय है कि श्रीरामजीके प्रताप और श्रीसीताजीके पुण्यप्रभावसे मैं न जला।

नोट—२ प्रत्येक धर्म (मजहब) में ऐसी घटनाएँ अधिदैवी व्यक्तियोंके सम्बन्धमें मानी जाती हैं। जैसे, 'शबेमेराज' की कथा मुसलमानी धर्ममें। डाक्टर ऐनीबेसेन्ट और शंकराचार्य दोनोंके उसूल (कथन) मिलते हैं कि 'हमें अपनी मौतिक कसौटीपर ऐसी घटनाओंको न परखना (कसना) चाहिये; कारण कि वह बहुत सीमित है।'

प० प० प्र० का मत है कि यहाँ 'दूत' का अर्थ 'सेवक' करना चाहिये जिसमें विभीषण और हनुमान् दोनोंका अन्तर्भाव होगा। और 'एक' का अर्थ 'केवल' लेना अनुचित है क्योंकि ऐसा करनेसे कुम्भकर्णका घर और सब शिवमंदिरोंका भी भस्म होना मानना पड़ेगा। कुम्भकर्ण नारदोपदिष्ट रामभक्त है। अतः दूतका अर्थ 'सेवक' माननेसे शंकाका स्थान नहीं रह जाता।

उलटि पलटि लंका सब जारी। कूदि परा पुनि सिंधु मझारी॥ ८॥

अर्थ—उलट-पलटकर सारी लंका जलाकर तब (हनुमान्‌जी) समुद्रमें कूद पड़े॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'उलटि पलटि' से जाना गया कि एक बार ओरसे छोरतक (एक ओरसे दूसरी छोरतक) आग लगाकर फिर उलटे और उलटकर जलानेपर फिर वहाँसे पलटे फिर तीसरी बार आग लगायी। एक बार एक ओरसे छोरतक गये फिर उधरसे जलाते हुए उलटे (लौटे) और दूसरी छोरतक पहुँचकर फिर जलाते हुए पलटे। इस प्रकार तीन फेरेमें लंका भस्म हो गयी।

श्रीनंगे परमहंसजी—'उलटि पलटि' का अर्थ यह है कि 'एक किनारे (से) आग लगाते गये, फिर बीचसे वापस आये, उसीका नाम है उलटा। फिर किनारेसे आग लगाते गये, उसीका नाम है पलटा।'

वि० त्रि०—लंकाभरके पुराने वस्त्र और तेल पूँछके बाँधनेमें खर्च हो चुका था, अतः पूँछकी आग शीघ्र बुझनेवाली नहीं थी। तीन फेरेमें लंका भस्म हो गयी, यथा—'जारत प्रचारि फेरि फेरि सो निसंक लंक, जहाँ बाँको बीर तोसो सूर सिरताज है।'

लंकादाहका विस्तृत वर्णन कवितावलीमें दिया हुआ है। निविष्ट चित्तसे देखनेसे, उसमें तीनों फेरों का वर्णन पृथक्-पृथक् मालूम होता है। पहिले फेरेका वर्णन कवित्त नं० ३ से १३ 'बसन बटोरि बोरि बोरि तेल तमीचर' से 'याही बल

बालिसो बिरोध रघुनाथ सो' तक।

दूसरे फेरेका वर्णन क० नं० १४ से २१ 'हाट बाट कोट ओट अटनि अगार पौरि' से माल्यवान् रावरेके बावरेसे बोल हैं' तक। तीसरेका १५ से २५ 'भूमि भूमिपाल, 'व्यालपालक पताल' से 'रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो' तक।

हनुमान्जीका बड़ा विशाल शरीर है, अतः गहरे समुद्रमें कूदे जिसमें पूँछ भी बुझे और अवगाह स्नान भी हो।

नोट—१ भाव यह है कि जिसमें कुछ बच न जाय। जो पहले बच गये उसे दूसरे फेरेमें जलाया। 'उलट-पलट कर' यह मुहावरा है अर्थात् अच्छी तरहसे, एवं घूमफिरकर। इसमें दोनों भाव हैं। कुछ टीकाकारोंने और भी भाव लिखे हैं।—

(१) रा० शं०—प्रत्येक नगर दो श्रेणियोंमें बसा होता है, पूरब-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण, और बीचमें सड़क होती है। महावीरने पहले एक ओरसे जलाना आरम्भ किया और आखीरतक जलाकर दूसरी तरफ भी जलाया।

(२) प्र०—'उलटि' अर्थात् ऊपरसे नीचे, नीचेसे ऊपर। पलटि='घूमघामकर'।

(३) बाबू श्यामसुन्दरदासने एक कथा कहींसे शनिके उखाड़ने और पुनः गाड़नेकी यहाँ लिखी है, उसीसे उलटि और पलटि कहा। पर न तो कोई प्रमाण है और न यह यहाँ अर्थ है।

☞ लंकादहन क्यों हुआ इसका उत्तर इस प्रसङ्गमें पूर्वमें बीच-बीचमें आ चुका है। रामचन्द्रिकामें जो कारण दिया है, वह इस ग्रन्थके अनुकूल नहीं है। अतः यहाँ नहीं लिखा गया।

नोट—२ 'सब जारी' से जनाया कि नगरके मणि-सुवर्णमय घर ही नहीं किन्तु खाने, पीने, पहनने, व्यसन और शौकके सब साज-सामान, हाथी, घोड़े, रथ, रत्न इत्यादि सब कुछ भस्म कर दिया। यथा—'झपट लपट भरे भवन भँडारहीं। तुलसी अगार न पगार न बजार बच्यो, हाथी हथिसार जरे घोड़े घोरसारहीं ॥ २३ ।' (क० सुं०) लंकाके पर्वत, वृक्ष और बहुतेरे प्राणी भी भस्म हो गये यथा—'ततस्तु लंकापुरपर्वताग्रे समुत्थितो भीमपराक्रमोऽग्निः।···। ३२ ।', 'सप्राणिसङ्घां सगृहां सवृक्षां दग्धां पुरीं तां सहसा समीक्ष्य। ४०। 'ततस्तु लंका सहसा प्रदग्धा सराक्षसा साश्वरथा सनागा। सपक्षिसंघा समृगा सवृक्षा···॥ ४१ ॥'; 'दग्ध्वा पुरीं तां गृहरत्नमालिनीं···। ४५ ।' (वाल्मी० ५ । ५४)

टिप्पणी—'कूदि परा पुनि···' इति। (क) भाव कि पूँछ बुझाने और श्रम खोनेके लिये समुद्रमें कूद पड़े जैसा आगे कहते हैं, यथा—'पूँछ बुझाइ खोइ श्रम···।' (ख) समुद्रने समुद्र पार करते समय श्रम दूर करनेकी इच्छा प्रकट की थी, यथा—'तैं मैनाक होहि श्रमहारी'। उसकी इच्छा पूरी करनेको उसमें कूद पड़े। स्नानसे श्रम दूर होता ही है; अतः 'खोइ श्रम' कहा; नहीं तो 'पूँछ बुझाइ' इतना ही लिखते। इसपर प्रश्न होता है कि 'उन्हें क्या श्रम हुआ?' प्रथम सौ योजन समुद्र लाँघनेका, दूसरे राक्षसोंसे युद्धमें और तीसरे लंकादहनमें जो परिश्रम हुआ वह सब स्नान करके दूर किया। (ग) यह अवभृथस्नान है जो यज्ञके अन्तमें किया जाता है। यज्ञका रूपक कवित्त रामायणमें है। यथा— 'तुलसी समिधसौंज लंक जग्यकुंड लखि, जातुधान पुंगीफल जव तिल धान हैं। स्रुवा सो लँगूल बलमूल प्रतिकूल हवि, स्वाहा महा हाँकि हाँकि हने हनुमान हैं ॥ ७ ॥' यह यज्ञ है। (२) 'हाट बाटहाटक पिघिलि चलो घी सो घनो, कनक कराही लंक तलफति ताप सों। नाना पकवान जातुधान बलवान सब, पागि पागि ढेरी कीन्हीं भली भाँति भाय सों। पाहुने कृसानु पवमान सो परोसो, हनुमान सनमानि कै जँवाये चित्त चाय सों ॥ २४ ॥'—यह भोजन है। (३) 'तुलसी निहारि अरिनारि दै दै गारि कहैं, बावरे सुरारि बैर कीन्हों रामरायसों ॥ २४ ॥' यह गाली गान है। और 'कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी' यह अभिमन्त्र स्नान है। मँझारी=में, यथा—'कैकइ कत जनमी जग माँझा', 'मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा।'

दो०—पूँछ * बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि।
जनकसुता के आगे ठाढ़ भएउ कर जोरि † ॥ २६ ॥

अर्थ—पूँछ बुझाकर, थकावट दूर करके और फिरसे लघुरूप धारण करके श्रीजानकीजीके आगे हाथ जोड़कर आ खड़े हुए। (और बोले—) ॥ २६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'धरि लघुरूप बहोरि' यह पूर्वार्धमें ही 'पूँछ बुझाइ' और 'खोइ श्रम' के साथ देकर जनाया

* पूँछि—ना० प्र० 'पुच्छ बुझाई—ब्र० चं०' † दोहा दोहरा मिश्रित है' (ब्र० चं०)'

ये तीनों बातें सिन्धुके तीर ही हुईं। वहीं स्नान करके वहीं लघुरूप हो गये तब श्रीजानकीजीके पास आये। ['बहोरि' के दोनों अर्थ यहाँ लगते हैं—एक तो 'तत्पश्चात्, उसके बाद'; दूसरे 'फिर, दुबारा, तिबारा···'। हनुमान्‌जी पाँच बार लघुरूप पूर्वमें धारण कर चुके हैं, यथा—'अति लघुरूप पवनसुत लीन्हा। २। १०।' 'अति लघुरूप धरौं···। ३।', 'मसक समान रूप कपि धरी। ४ (१)।' (लंकामें प्रवेशके लिये), 'अति लघुरूप धरेउ हनुमाना। ५ (२)।' (लंकिनीके शासनके पश्चात्), 'करि सोइ रूप गयउ पुनि तहँवा। ८ (६)।' (विभीषणके यहाँसे अशोकवाटिकामें जाते समय), 'पुनि लघुरूप पवनसुत लयऊ। १६ (९)।' (श्रीसीताजीको विशालरूप दिखानेके पश्चात्)। और अब छठी बार लंकादहनके पश्चात् पुनः लघुरूप हो गये। अतः 'बहोरि' कहा। पर यह वह लघुरूप है जिस रूपसे वे श्रीजानकीजीके समीप फल खानेकी आज्ञा माँगनेके समय थे।] (ख) 'ठाढ़ भयउ कर जोरि' इति। यहाँ हाथ जोड़कर खड़े होना प्रार्थनाके निमित्त है, क्योंकि इनसे चिह्न माँगने आये हैं। लंकादहन आदि अपना पुरुषार्थ जानकीजीसे न कहा। क्योंकि शूर-वीर अपनी करनी अपने मुखसे नहीं कहते। 'फल खानेकी आज्ञा लेकर गये थे सो फल खाकर अब आ गये', बस इतनी ही बात सामने खड़े होनेसे प्रकट हुई। अब आवृत्ति कहते हैं—

२—प्रथमावृत्ति—पाँचों तत्त्वोंने हनुमान्‌जीकी सहायता की—

(१) पवनतत्त्व—'हरिप्रेरित···चले पवन उनचास'—अग्नि बढ़ायी।

(२) आकाश—'अट्टहास करि गर्जा···'—अवकाश देकर शब्द बढ़ाया।

(३) पृथ्वी—'देह बिसाल परम हरुआई'—देहकी गुरुता न रही।

(४) अग्नि—'ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा। जरा न···'—जलाया नहीं।

(५) जल—'कूदि परा पुनि सिंधु···पूँछ बुझाइ···'—आग बुझायी, श्रम दूर किया।

३—अब दूसरी आवृत्ति कहते हैं। (क) 'खोइ श्रम' से मज्जन सूचित किया, क्योंकि स्नानसे श्रम दूर होता है यथा—'मज्जन कीन्ह पंथश्रम गयऊ', 'मज्जन करिय समर श्रम छीजै'। पुनः (ख) इससे समुद्रकी इच्छाकी पूर्ति हुई। उसने मैनाकसे कहा था, मैनाकने हनुमान्‌जीसे कहा था, तब इन्होंने उत्तर दिया था कि 'रामकाज कीन्हें बिनु मोहिं कहाँ बिश्राम'। अब कार्य करके समुद्रमें श्रम दूर किया। (ग) श्रीजानकीजीके समीपसे फल खानेको लघुरूपसे चले थे, उसी रूपसे पुनः उनके पास जा खड़े हुए, अपना वृत्तान्त कुछ न कहा, क्योंकि अभिमानरहित हैं। (घ) हाथ जोड़कर खड़े हुए जैसे राजाके सामने सेवक खड़े होते हैं, मानो कुछ करनी की ही नहीं, फल खाकर ही चले आये। अपनी करनी मानते तो लौटकर प्रणाम करते। यहाँ प्रणाम नहीं किया। —[वाल्मीकीय और अध्यात्ममें तथा हनुमन्नाटकमें भी प्रणाम करना कहा गया है; यथा—'ततस्तां शिंशुपामूले जानकीं पर्यवस्थिताम्। अभिवाद्य···' (वाल्मी० ५। ५६। १) 'ततः सीतां नमस्कृत्य···' (अध्यात्म ५। ५। १) 'जानकीं प्रणम्य रामाभिज्ञानम्' याचते स्म हनूमान्। हनु० ना० ६। ३१।' —प्रणाम करनेका भाव 'कर जोरे' से ले सकते हैं। तरुपल्लवसे उतरकर जब सामने आये थे, तब प्रणामका उल्लेख नहीं है—'तब हनुमंत निकट चलि गयऊ'। फल खानेको जाते समय प्रणाम किया है। कवितावलीमें भी प्रणाम किया है, यथा—'नाइ माथा पगनि ठाढ़ो कर जोरि कै (५। २६)।

४—☛ हनुमान्‌जीको अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हैं, यथा—

	उदाहरण
अणिमा (छोटा हो जाना)	१ भयउ परम लघुरूप तुरंता
महिमा (बड़ा होना)	२ कपि बढ़ि लाग अकास
गरिमा (भारी होना)	३ जेहि गिरि चरन देइ, चलेउ सो गा पाताल···
लघिमा (हलकापन)	४ देह बिसाल परम हरुआई
प्राप्ति (अलभ्य लाभ)	५ पावक जरत देखि। अग्नि अलभ्य थी
प्राकाम्य (कामनापूर्ण होना)	६ उलटि पलटि लंका सब जारी
ईशित्व (निर्भय होना)	७ देखि प्रताप न कपि मन संका
वशित्व (वश करना)	८ पाँचों तत्त्वोंका वशमें करना

नोट—'जदपि कही कपि अति हित बानी' से 'पूँछ बुझाइ···' तक 'पुर दहि' प्रसंग है।

लमगोड़ाजी—भौतिक-विज्ञान-दर्शनने हमारे विचार इतने संकुचित कर दिये हैं कि हम योगको मानते हुए भी जब कहीं पुराणोंमें वैसे सिद्धियोंवाले व्यक्तिका वर्णन देखते हैं तो नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं। हम अंग्रेजी पढ़े महानुभावोंका ध्यान 'शा' महोदयके Back to Mathuselas नामक नाटक और उसकी भूमिकाकी ओर फेरना चाहते हैं जिसने धुँधली तरह ही सही, पर Science of Metabiology के आधारपर अब विकासवादको भी केवल भौतिक नहीं किन्तु रचनात्मक (creative) और संकल्पात्मक माना है।

प० प० प्र०—दोहा २६ के तीसरे चरणमें केवल १२ मात्राएँ हैं। मात्रा कम करके जनाया कि इस समय श्रीजानकीजीको सजीव देख हनुमान्‌जीको हर्ष हुआ और विपत्तिमें छोड़कर जाना है इससे विषाद भी है। अतः उनकी वाणी रुक गयी, वे श्रीसीताजीके चरणोंमें मस्तक नवाना भी भूल गये, हाथ जोड़कर चित्रलिखितसे तटस्थ हो गये 'मातु! मोहि दीजै! कछु! चीन्हा!!' ऐसा पदच्छेद करनेसे भाव स्पष्ट हो जाता है। 'नाथ, एक आवा, कपि, भारी। १८। ३।', 'मातु! कुसल प्रभु! अनुज समेता। १४। ९।' देखिये।

'नाँघेउ बहुरि पयोधि'-प्रसङ्ग

मातु मोहि दीजै* कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा॥ १॥
चूडामनि उतारि तब दएऊ। हरष समेत पवनसुत लएऊ†॥ २॥

अर्थ—हे माता! मुझे कुछ चिह्न दीजिये, जैसे रघुनायकजीने मुझे दिया था। (भाव कि अब रघुनाथजीके पास चला ही चाहता हूँ)॥ १॥ तब (श्रीसीताजीने) चूडामणि उतारकर दिया। हनुमान्‌जीने हर्षसहित उसे लिया॥ २॥

टिप्पणी—१ 'दीजै कछु चीन्हा'। (क) चिह्न माँगा, आज्ञा न माँगी; क्योंकि कहीं प्रेमवश आज्ञा न दें तो बड़ा असमंजस होगा। अथवा, ये विरहसे व्याकुल हैं, यदि जानेको न कहें तो आज्ञाभंग करते न बन पड़ेगा और बिना गये भी नहीं बनता। यह बात जानकीजीकी उक्तिमें स्पष्ट है, इसीसे चलना अपने अधीन रखा और यहीं समझकर जानकीजी दीन होकर कहती हैं—'कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना॥ तोहि देखि सीतल भइ छाती। पुनि मो कहँ सो दिन सो राती॥', ['ततः प्राह हनूमन्तं जानकी दुःखकर्शिता॥ ४॥ त्वां दृष्ट्वा विस्मृतं दुःखमिदानीं त्वं गमिष्यसि। इतः परं कथं वर्ते रामवार्ताश्रुतिं विना॥ ५॥ अध्यात्म ५। ५।' हाथ जोड़कर खड़े होकर चिह्न माँगनेसे ही जना दिया कि जानेको तैयार हैं, 'जाने' का वियोगसूचक कष्टदायक अप्रिय वचन न कहा। अध्यात्ममें जानेको भी कहा है—मानसकवि बाजी मार ले गये।]—विशेष २७ (७) देखिये। (ख) 'कछु' का भाव कि जानकीजी दीन हैं, इनके पास विशेष वस्तु नहीं है। अध्यात्ममें भी 'किञ्चित्' शब्द है। यथा—'देवि किञ्चिदभिज्ञानं देहि मे येन राघवः॥ ५०॥ विश्वसेन्मां प्रयत्नेन ततो गन्ता समुत्सुकः।' (५। ३। ५१)। अर्थात् हे देवि! मुझे कोई ऐसा चिह्न दीजिये जिससे श्रीरघुनाथजी मेरा विश्वास करें। उसे लेकर मैं बड़ी सावधानीसे उत्सुकतापूर्वक जाऊँगा।] (ग) 'जैसे रघुनायक दीन्हा' अर्थात् आपके विश्वासके लिये उन्होंने मुद्रिका दी थी, वैसे ही आप भी मुझे कुछ दें जिससे उनको विश्वास हो।—[पुनः भाव कि रघुनाथजीने चिह्न दिया, उसीकी सहायतासे मैं सब विघ्नोंका अन्त कर आपके समीप पहुँच सका—'स्वयंसिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियो। ६। १७।' (अङ्गदवाक्य)। वैसे ही आपका दिया हुआ चिह्न मुझे कुशलपूर्वक प्रभुके पास पहुँचावेगा। (पं०)।]

नोट—१ चूडामणि सिरका भूषण है। इसे शीशफूल भी कहते हैं। अध्यात्म ५। ३। ५२। में शिरकी लटोंमेंसे निकालकर इस मणिका देना लिखा है, यथा—'विमुच्य केशपाशान्ते स्थितं चूडामणिं ददौ।' वाल्मीकि रा० में महारानीजी कहती हैं कि 'यह मणि आजतक मैंने बड़े यत्नसे रखी है। इसे देखकर इस दुःखमें भी तुम्हारे देखनेके समान मैं सुख पाती हूँ।—'एतं दृष्ट्वा प्रहृष्यामि व्यसने त्वामिवानघ॥ ७॥ एष निर्यातितः श्रीमान्मया ते वारिसम्भवः।'—(५। ४०)। इस भूषणको रामचन्द्रजी अच्छी तरह पहिचानते हैं। इसे देखकर वीर राम माताको, मुझको और राजा दशरथको अवश्य

* दीजै··'ना० प्र०, भ० चं०। † पायकुलक है (भ० चं०)।

स्मरण करेंगे। इसे देखकर राघव समुत्साहित होंगे और तुमको प्रेरित करेंगे। पुनः सर्ग ६६ में श्रीरामजीने इसे पानेपर कहा है कि जनक महाराजने विवाहके समय इसे सीताजीको दिया था। यह समुद्रसे उत्पन्न हुआ। देवताओंद्वारा प्रशंसित है। इन्द्रने जनक महाराजपर यज्ञमें प्रसन्न होकर यह मणि उनको दिया! सीताजीके मस्तकपर बँधनेसे इसकी बड़ी शोभा होती थी। इसे देखकर मैंने अपने पिता और श्वसुरका दर्शन पाया है। आज उसे देखकर मैं सीताजीको ही आयी हुई समझता हूँ। यथा—'मणिरत्नमिदं दत्तं वैदेह्याः श्वशुरेण मे। वधूकाले यथा बद्धमधिकं मूर्ध्नि शोभते ॥ ४ ॥ अयं हि जलसम्भूतो मणिः प्रवरपूजितः। यज्ञे परमतुष्टेन दत्तः शक्रेण धीमता ॥ ५ ॥ इमं दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं यथा तातस्य दर्शनम्। अद्यास्म्यवगतः सौम्य वैदेहस्य तथा विभो ॥ ६ ॥ अयं हि शोभते तस्याः प्रियाया मूर्ध्नि मे मणिः। अद्यास्य दर्शनेनाहं प्राप्तां तामिव चिन्तये ॥ ७ ॥' वाल्मीकिजीके मतानुसार श्रीजानकीजीने इसे बड़े यत्नसे अपने आँचलमें बाँधकर रक्खा था, इसका दर्शन करती थीं। और आँचल खोलकर ही हनुमान्‌जीको यह चूडामणि दी थी। यथा—'ततो वस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूडामणिं शुभम्। ५। ३८। ६९।' 'मणिवरमुपगृह्य तं महार्हं जनकनृपात्मजया धृतं प्रभावात् ॥ ७३ ॥' हनुमन्नाटकमें शिरसे ही निकालकर देना कहा है' 'शिखां धूमशिखां शत्रोः कालव्यालवधूमिव। उद्यम्यास्य शिरोरत्नं संज्ञानं स्वामिनं ददौ ॥ ६। ३१॥' अर्थात् शत्रुको कालरूप सर्पकी स्त्रीके सदृश, धूमशिखाके तुल्य अपनी शिखाको खोलकर इस अपने शिरके रत्नको स्वामी श्रीरामचन्द्रजीके लिये सहदानी दी। मानसकविका 'उतारि' शब्द अध्यात्म और नाटकके मतसे मिलता है।

२—'जनकराय तपसे एहि पाएउ मोहि सम याहि दुलारत। करहि रामचन्द्र जेहि परसत त्रिभुवन नहिं पारत॥ अपनो रूप जानि चूडामनि सिय कपि करमें डारत। इष्टदेव तेहि जान महाकपि दृगसे अँसुआ ढारत॥'

टिप्पणी—२ 'चूड़ामनि उतारि तब दयऊ'। (क) जैसे रघुनाथजीने अमूल्य, दिव्य आभूषण चिह्नके लिये दिया, वैसे ही इन्होंने अमूल्य दिव्य आभूषण दिया। (ख) 'उतारि' अर्थात् सिरसे निकालकर। 'चूडामणि' शिरोरत्न। (ग) श्रीरामजीने हाथका भूषण देकर जनाया कि हम तुम्हें हाथसे ग्रहण किये हैं, श्रीजानकीजीने शिरका भूषण देकर सूचित किया कि मैं अपना मस्तक आपके चरणोंपर रखती हूँ, मुझे दासी जानकर उबारिये। हाथका धर्म ग्रहण करना और मस्तकका नमित होना है। यथा—'ते सिर कटु तुंबरि सम तूला। जे न नमत हरिगुरपदमूला' और 'सीस नवहिं सुरगुरद्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी।' [नोट...'चूडामणि क्यों दिया?' इसपर महानुभावोंने अनेक भाव लिये हैं। जैसे कि''(१) और कोई आभूषण पास न था जो देतीं। (पं०)। (२) शिरोभूषण देकर जनाया कि मेरा सिर आपकी भेंट है, नजर है, अब जीवनकी आशा नहीं है। इस आशयमें सहायता हेतु अत्यन्त आर्त्तता प्रकट हो रही है। (पं०)। (३) शिरके तुल्य शिरोभूषण भेजती हूँ, सशरीर शिर आपके निकट जाना आपके पराक्रमके अधीन है। (मा० त० सु०)। (४)—हाथकी मुद्रिका भेजकर स्वामीने अपने हाथोंकी सहायताका संदेश ही मानो भेजा है, अतएव शिरोरत्न भेजकर महान् कृतज्ञतासहित आत्मसमर्पण जनाती हैं। (५)—वन्दनपाठकजी—चूड़ामणि देकर जनाया कि मैं दुःखसमुद्रमें केशपर्यन्त डूबी हूँ, शीघ्र उबारिये। मुद्रिका भेजकर जनाया कि तुमको न ले जाऊँ तो राज्यसे बाज आऊँ।

३—'हरष समेत' लिया यह जानकर कि ऐसी वस्तु लोकमें नहीं है और इसे पाकर रामजीको विश्वास होगा कि यह सीताजीका दिया है, वे बहुत प्रसन्न होंगे।—(वाल्मीकिजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जी चूड़ामणिको पाकर ऐसे प्रसन्न हुए जैसे पर्वतशिखरपर पवनके झोंकेसे मुक्त हुआ पुरुष प्रसन्न होता है।—'गिरिरिव पवनावधूतमुक्तः सुखितमनाःप्रतिसंक्रमं प्रपेदे। ५। ३८। ७३।' सुफल-मनोरथ होनेसे हर्ष हुआ। अथवा, यह सोचकर कि मुद्रिका लानेसे मैं माता श्रीजानकीजीका कृपापात्र हुआ, उन्होंने दुर्लभ आशीर्वाद दिये; अब चूड़ामणि ले जाकर प्रभुको देनेसे मैं उनका भी विशेष कृपापात्र बनूँगा और आशीर्वाद पाऊँगा। इसे पाकर वे मुझे बहुत मानेंगे (जैसा कि श्रीजानकीजीने उनसे कहा है) यथा—'अथ मामब्रवीत्सीता गृह्यतामयमुत्तमः। मणिर्येन महाबाहू रामस्त्वां बहु मन्यते ॥ ५। ५८। १०१ ॥' (वाल्मीकीयमें यह हनुमान्‌जीने वानरोंसे बताया है। यह तथा युगल सरकारोंकी परमकृपाका लाभ समझकर हर्षित हुए।)

कहेहु* तात अस मोर प्रनामा। सब प्रकार प्रभु पूरन कामा॥ ३॥
दीन दयालु बिरिदु† संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी‡॥ ४॥

* कहेउ—ब्र० चं०। † बिरिदु—मा० दा०, १७२१, १७६२, छ०, गी० प्रे०। बिरद—कोदोराम। बिरुद—रा० प०, १७०४, ना० प्र०। ‡ 'दीनदयालु''।' पायकुलक, 'हरहु नाथ''' द्रुतपा। (ब्र० चं०)।

अर्थ—(तब श्रीसीताजीने कहा—) हे तात ! मेरा इस प्रकार प्रणाम कहना (प्रणामकी चेष्टा करके बताया। अर्थात् राम-लक्ष्मणका ध्यान करके, चरन पकड़कर प्रणाम किया—'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना' से यह भाव स्पष्ट है) । और ऐसा कहना कि प्रभु सब प्रकारसे पूर्णकाम हैं (अर्थात् आपको किसी बातकी इच्छा नहीं है, किसीसे कुछ चाहते नहीं, अतएव हमारे बिना आपको कुछ कमी नहीं है, पर) ॥ ३ ॥ दीनदयाल आपका बाना है (मैं दीन हूँ); उसे याद करके, हे मेरे नाथ ! मेरे भारी संकटको दूर कीजिये ॥ ४ ॥

नोट—१ 'अस' इस अंगुल्यानिर्देशसे और अगले विनयसूचक पदोंसे यह भाव निकला कि श्रीकिशोरीजीने अति आर्त्ततापूर्वक गलेमें अञ्चल डाल, पृथ्वीपर अपना मस्तक झुका, स्वचरणादि स्पर्शकर और शीघ्रप्रसादिनी बद्धाञ्जल आदि मुद्रा हनुमान्‌जीको दिखाकर कहा कि हे पुत्र ! मेरी ओरसे ऐसी ही मुद्रा दिखाते हुए सन्देसा कहना ।—पूर्णकाम हैं अर्थात् आप भावग्राहक हैं, हमारे भावको ग्रहण कीजिये । (पं०, मा० त० सु०) । २—'अस' शब्द देकर यह भी जनाती हैं कि मेरा संदेसा ज्यों-का-त्यों कह देना । 'अस' दीपदेहरी है ।

टिप्पणी—१—(क) 'पूर्णकाम' हैं; अर्थात् मुझसे आपका कोई स्वार्थ नहीं सिद्ध होगा पर बाना स्मरणकर क्लेश-हरण कीजिये । 'प्रभु' अर्थात् आप समर्थ हैं, आपकी प्रभुता रहते हुए भी मैं दुखी रहूँ, यह उचित नहीं । सामर्थ्य न होता तब दुःख सहना ठीक था । (ख) 'सब प्रकार' अर्थात् यावत् ऐश्वर्य, यावत् सद्गुण हैं सबसे पूर्णकाम हैं, कुछ एक दासियोंके सम्बन्धमें नहीं; पुनः आप सबके प्रभु हैं, ब्रह्मादिक आपके सेवक हैं, ऋद्धि-सिद्धि सब दासी हैं, समस्त ब्रह्माण्डोंके आप पति हैं, यथा—'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी । ब्रह्म सकल उर अंतरजामी ॥'

२ (क) 'मम' देहलीदीपक है । मेरे नाथ और मेरा संकट । तात्पर्य कि मुझपर दया करनेसे आपका विरद रहता है, संकट दूर करनेसे यश रहता है, यथा—'जौं प्रभु दीनदयालु कहावा । आरति हरन बेद जसु गावा ॥' (१ । ५९); 'सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयो सरन । उपल केवट गीध सबरी संसृतसमन, सोक-श्रम-सीव सुग्रीव आरति हरन ॥ राम राजीवलोचन बिमोचन बिपति', 'दीनहित बिरद पुरानन्हि गायो । आरतबंधु कृपाल मृदुलचित जानि सरन हौं आयो ॥' (गी० ५ । ४३-४४) । 'सँभारी' से जनाया कि आपका 'दीनदयाल' बाना गिरनेको है, उसे सँभालिये । (ख) 'भारी' अर्थात् जिन-जिन दीनोंका आपने सङ्कट हरा उन सबसे मेरा संकट भारी है । [पुनः भाव कि पूर्व जो-जो मेरे संकट आपने दूर किये; जैसे कि रंगभूमिमें धनुष तोड़कर संकट हरा, यथा—'मन ही मन मनाव अकुलानी ।''' अति परिताप सीय मन माहीं । लव निमेष जुग सय सम जाहीं ॥ १ । २५७ । ८ ॥' 'देखी बिपुल बिकल बैदेही । निमिष बिहात कलप सम तेही ॥ १ । २६१ ।', उस समयका संकट थोड़ी देरका था और उन्हींके मनमें था; दूसरोंपर प्रकट न था और यह संकट सीताहरणसे बराबर चल रहा है, सालभरसे प्रत्येक निमेष कल्प-कल्प समान बीत रहा है । इसे देखकर देखनेवालेको भी एक क्षण कल्प-समान बीतने लगता है । यथा—'परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन । ५ । ८ ।', 'देखि परम बिरहाकुल सीता । सो छन कपिहि कलप सम बीता ॥ ५ । १२ ॥', इत्यादि; फिर वनमें विराध, कबन्ध, शूर्पणखा आदिद्वारा जो संकट उपस्थित हुए, वे दूर किये ।); उनसे यह 'भारी' है । भारीका स्वरूप गीतावली पद १७-१८ में तथा आगे दोहा ३०-३१ में देखिये । मा० त० सु० का मत है कि 'भारी' इससे कहा कि श्रीजनकपुरमें आपके मिलनेमें सन्देहरूपी वियोग दुःख था, वह वियोग दैवाधीन और पितृप्रतिज्ञाजन्य सुखमय था और उस समय मैं पिताके घरमें थी; और यह संकट कालाधीन और प्रबल-शत्रुसङ्कल्पजन्य है, इस समय मैं आपकी विवाहिता स्त्री हूँ और शत्रुके घरमें हूँ ।] (ग) जैसे कोई आर्त्त पहले कुछ भेंट देता है, पैरों पड़ता है तब अपना दुःख छुड़ानेकी प्रार्थना करता है, उसी रीतिसे गोसाईंजी सीताजीमें यह सब बातें क्रमसे दिखाते हैं । 'चूड़ामनि उतारि तब दयऊ' यह भेंट है, 'कहेहु तात अस मोर प्रनामा' यह पाँव पड़ना है और 'हरहु नाथ मम संकट' यह दुःख निवेदन है ।

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु । बानप्रताप प्रभुहि समुझाएहु ॥ ५ ॥
मास दिवस महुँ नाथ न आवा* । तौ पुनि मोहि जिअत नहिं पावा† ॥ ६ ॥

* आवै पावै १७६२, कोदवराम ।

† ब्र० चं०—'तात०' ११२५ वाँ 'बान०' १२११ वाँ भेद (६-८) पायकुलक ।

अर्थ—हे तात ! इन्द्रके पुत्र जयन्तकी कथा सुनाना और बाणका प्रताप (कहकर) प्रभुको समझाना ॥ ५ ॥ यदि महीनेभरमें नाथ न आये तो फिर मुझे जीवित न पावेंगे (क्योंकि यह रावणकी प्रतिज्ञा है कि महीनेभरमें कहना न माना तो सिर काट लूँगा । वा, उसके हाथसे वध होनेके पहले ही मैं शरीर छोड़ दूँगी) ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'सक्रसुत कथा' यह केवल श्रीरामजानकीजी जानते हैं और कोई नहीं जानता, इसीसे यह भी चिह्न दिया ।—['शक्रसुतकथा' से उस समयका ऐकान्तिक गुप्त रहस्य लक्षित कराया है जो अरण्यकाण्डमें लिखा गया है । श्रीरघुनाथजी श्रीजानकीजीकी गोदमें सिर रखकर सो रहे थे । यह एकान्तकी बात थी । उसी समय शक्रसुत जयन्त परीक्षाकेलिये आया था । इस एकान्त रहस्यको कोई न जानता था । केवल बलकी परीक्षाकी चाहसे जयन्तका वहाँ जाना और बाणप्रतापका हाल मन्दोदरी आदि भी जानती थीं, यथा—'सुरपति सुत जानइ बल थोरा । राखा जिअत आँखि गहि फोरा ॥ ६ । ६५ ॥'—कथा अरण्यकाण्ड दोहा १ व २ में देखिये । 'सक्रसुत' से जनाया कि उसने इन्द्रके समान करतूत की थी । छली, कुचाली, मलीन और किसीपर विश्वास न रखनेवाला था । यथा—'काक समान पाकरिपु रीती । छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥ २ । ३०२ ॥', 'कपट कुचालि सींव सुरराजू' । वह कौआ बनकर आया था । वाल्मीकीयमें यह कथा सर्ग ३८ श्लोक १२ से ३९ तक विस्तारसे है । शक्रसुतकथाको वहाँ श्रीसीताजीने सर्वश्रेष्ठ चिह्न कहा है—'इदं श्रेष्ठमभिज्ञानं ब्रूयास्त्वं तु मम प्रियम् । ५ । ३८ । १२ ।', ☞ शक्रसुतकथासे ही मनसिलके तिलक लगानेवाली गुप्त बात भी सूचित की है; 'मनः शिलायास्तिलको गण्डयोश्च निवेशितः ॥ २३ ॥ त्वया प्रनष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि । ५ । ६५ । २४ ।' तथा—'सिय अंग लिखैं धातुराग सुमननि भूषन बिभाग, तिलक करन का कहौं कला निधानकी । माधुरी हासबिलास'''॥, (गी० १ । ४४), 'मनः शिलायास्तिलकं तथा मे गण्डस्थले पाणितलेन मृष्टम् । स्मरेति संज्ञानमपि प्रयच्छ जीवाम्यतो राघव मासमात्रम् ॥ हनु० ६ । ३३ ।' अर्थात् जब मनशिलका तिलक मेरे कपोलस्थलमें हाथके रखनेसे छूट गया था, उस समयके पहचानको याद कीजिये—यह मेरा चिह्न तुम लेकर जाओ ।]

२—कथा सुनाएहु । बान प्रताप समुझाएहु' अर्थात् कहना कि मेरे लिये थोड़ेसे अपराधपर भी उनको भारी दंड दिया अर्थात् थोड़े संकटमें भारी पुरुषार्थ किया था और अब तो मैं भारी संकटमें हूँ । (यथा—मत्कृते काकमात्रे तु ब्रह्मास्त्रं समुदीरितम् । कस्माद्यो मां हरेत्त्वत्तः क्षमसे तं महीपते ॥' वाल्मी० ५ । ३८ । ३९ ।' अर्थात् मेरा छोटा-सा अपराध करनेपर आपने एक कौए मात्रपर ब्रह्मास्त्र चलाया था तब जिसने मुझे चोरीसे हर लिया ऐसे महान् अपराधीको क्यों क्षमा कर रहे हैं ? उसपर अपना अति प्रबल उत्साह दिखाइये) । अथवा, शक्रसुतकथाके भीतर बाणप्रताप, है, उसे समझाना कि जयन्तपर सींकका बाण छोड़ा तब उसको तीनों लोकोंमें कोई न रख सका ।—['बाण प्रताप' यह कि आपके एक कुशके बाणमें जब यह शक्ति है कि त्रैलोक्यमें समस्त दिशा-विदिशाओंमें, सुर-नर-मुनि, असुर, सुरराज एवं त्रिदेव भी इन्द्रपुत्रको शरण न दे सके, यथा—'त्राणकाम इमं लोकं सर्वं वै विचचार ह । स पित्रा च परित्यक्तः सुरैः सर्वैर्महर्षिभिः ॥ ३३ ॥ त्रीँल्लोकान्संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः ।' (वाल्मी० ५ । ३८ । ३४); 'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका ।'''काहू बैठन कहा न ओही । राखि को सकइ राम कर द्रोही ॥ ३ । २ ।'; तब आपके दिव्यास्त्रोंके प्रभावका तो कहना ही क्या ? समझाना यह कि आप इस प्रकारके अस्त्रोंके जाननेवाले, महाबलवान्, पराक्रमी और शीलवान् होकर भी राक्षसोंपर उन अस्त्रोंका प्रयोग क्यों नहीं करते ? यथा—'एवमस्त्रविदां श्रेष्ठः सत्त्ववाञ्शीलवानपि ॥ १८ ॥ किमर्थमस्त्रं रक्षःसु न योजयति राघवः ।' (वाल्मी० ५ । ६७) । पुनः भाव कि किंचित् अपराधपर पाँचमुखवाले सर्पके समान क्रोध आया था कि शरण आनेपर भी उसकी एक आँख ले ही ली थी; यथा—'आशाविष इव क्रुद्धः'''॥ २६ ॥ कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना । वाल्मी० ५ । ३८ । २७ ।' तब रावण ऐसे अपराधीपर वह क्रोध क्यों नहीं प्रकट करते ?] पुनः भाव कि निशानीके लिये कथा सुनाना और उनको यहाँ लानेके लिये बाणप्रताप समझाना । पुनः, समझानेको इससे कहा कि हनुमान्‌जीने यह कहा था कि 'तुव बियोग संभव दारुन दुख बिसरि गई महिमा सुबान की । गी० ५ । ११ ।'; अथवा इससे समझानेको कहा कि प्रभु अपने पुरुषार्थके अभिमानी नहीं हैं । [अथवा, शक्रसुतकथा सुनानेका यह प्रयोजन है कि रावणवधमें वे इस बातकी शंका न करें कि वह ब्रह्मवीर्य है । क्योंकि जयन्त भी तो देवता था । (मा० शं०)]

३—'मास दिवस महुँ नाथ न आवा ।''' इति । (क) भाव यह कि रावणने एक मासकी प्रतिज्ञा की है और

मैं तो अब भी प्राण नहीं रख सकती, यथा—'कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना।' (ख) मासके साथ 'दिवस' पद देनेका भाव कि मासकी अवधि बीचमें भी रहती है। सौर मास संक्रान्तिपर समाप्त होता है और चान्द्रमास पूर्णिमापर और कहीं-कहीं अमावास्यापर मासकी पूर्त्ति होती है। भ्रम न हो, इस विचारसे 'दिवस' शब्द भी साथ दिया। मास-दिवस=मासके तीस दिन। गिनकर=जिस दिन कहा है उससे तीस दिन गिनकर। अर्थात् पूरे दिन गिननेके निमित्त यह पद दिया। अथवा, मासदिन वर्षदिन यह बोली है, यथा—'मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी।'

४ यहाँ 'आवा, पावा' हलका पद एकवचन देनेका भाव यह है कि एकमासके भीतर यदि न आवेंगे तो 'गुरुता' कहाँ रह जायगी, रावण मारेगा तो बड़ी ही 'हलकाई' (अप्रतिष्ठा) हो जायगी। यही सूचित करनेके लिये एकवचन-पद दिया।

५ 'तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा' इति।—यहाँ यह नहीं कहतीं कि रावण हमको मार डालेगा, केवल यही कहा है कि हमको जीवित न पायँगे।

नोट—१ ऐसा ही वाल्मीकीयमें भी है, यथा—'जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ॥६७॥ ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते। ५। ३८। ६७।' अर्थात् मैं सत्य कहती हूँ कि एक मास बीतनेपर मैं जीवित न बचूँगी। पुनश्च 'धारयिष्यामि मासं तु जीवितं शत्रुसूदन। मासादूर्ध्वं न जीविष्ये त्वया हीना नृपात्मज॥ ५। ४०। १०।' में जो कहा है कि एक मासतक मैं आपकी राह देखती रहूँगी, इतनेमें दर्शन न हुए तो मैं प्राण त्याग दूँगी, वही भाव इस चरणमें है। रावणके हाथ मारा जाना स्वीकार नहीं है यथा—'रावणाद्विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया। ५। ६५। १५।' (हनुमद्वाक्य श्रीरामप्रति)। उन्होंने कहा है कि मैं रावणकी सूरत देखना नहीं चाहती। यदि आपके आनेमें विलंब मैंने सुना तो एक क्षण न जिऊँगी।—'त्वां च श्रुत्वा विषज्जन्तं न जीवेयमहं क्षणम्। ५। ४०। ११।'

१—'नाथ न आवा' कहकर 'जियत नहिं पावा' कहनेका भाव कि आप ऐसे नाथके रहते हुए मैं अनाथिनी-सी हो रही हूँ। एक मास बीतनेपर मैं अनाथिनीकी तरह मर जाऊँगी फिर आप मुझे न देख पावेंगे। यथा—'न मां द्रक्ष्यति काकुत्स्थो म्रिये साऽहमनाथवत्। वाल्मी० ५। ५८। १०६।' (यह जाम्बवानादिसे हनुमान्‌जीने बताया है)।

३—'तौ पुनि' का भाव कि अबकी बार तो उनके भेजे तुमने मुझे जीवित पा लिया पर यदि विलंबसे नाथ आये तो अब दूसरी बार जीवित न पायेंगे। क्योंकि रावण कह चुका है (और तुमने सुना भी है) कि 'मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना॥' हनुमान्‌जीने स्वयं कानोंसे सुना है यह बात उन्होंने श्रीसीताजीसे कही है। यथा—'मैं सुनी बातैं असैली जे कही निसिचर नीच। क्यों न मारैं गाल बैठो काल डाढ़नि बीच॥ गी० ५। ६।

मा० त० सु०—'पुनि' का भाव कि जैसे जनकपुर जाकर मेरा प्राणान्त कष्ट देखकर धनुषको खण्डित करके मुझे जीवित पा लिया था, (यथा—'देखी बिपुल बिकल बैदेही।'''तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा॥ मुये करै का सुधा तड़ागा। अस जिय जानि जानकी देखी।) वैसे ही यदि एकमासके भीतर न आवें तो फिर मुझे जीवित न पावेंगे।

कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना॥ ७॥
तोहि देखि सीतलि भइ छाती। पुनि मो कहुँ* सो दिन सो राती॥ ८॥

अर्थ—हे कपि! कहो तो मैं किस प्रकार प्राण रक्खूँ? हे तात! तुम भी तो अब जानेको कहते हो (अर्थात् महीने भरके बाद तो मरनेका ठिकाना हुआ, पर महीनेके भीतर किस आधारसे प्राण रक्खूँ? तात्पर्य कि तुम्हारा बिछुड़ना प्राण हरनेवाला है; यथा—'बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। १। ५।')॥ ७॥ तुझे देखकर छाती ठंढी हुई थी, फिर मुझको वही (दुःखके) दिन और वही (दुःखकी) रातें (हैं)!॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना' इति। श्रीसीताजी हनुमान्‌जीसे तीन बातें कह रही हैं। (क) नाथका वियोग 'मास दिवस कहुँ नाथ न आवा'। (ख) तुम्हारा बिछुड़न—'तुम्हहू तात कहत अब जाना'। और, (ग) रातदिन राक्षसोंकी साँसति—'पुनि मोकहुँ सो दिन सो राती॥' किस प्रकार प्राण रक्खूँ, तुम तो बुद्धिमान् हो, तुमही विचारकर बताओ। कोई उपाय सम्भव समझते हो? भाव कि अब कौन अवलंब रह जायगा? पहले भी न था, तब

* 'मोकहुँ सोइ दिन सोइ राती' (का०, ना० प्र०)। 'मोकहु सो दिन सो राती'—(भा० दा०। पहले 'सोइ दिन' और 'कहुँ' था पीछे 'इ' और अनुस्वारपर हरताल लगाया है।)। 'मो कहुँ सोइ दिनु सो राती।' (गी० प्र०)।

तुम आकर अवलंब हो गये थे; यथा—'बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयउ तात मोकहँ जलजाना ॥' वह अवलंब फिर न रहनेसे कैसे प्राणकी रक्षा हो सकेगी ?

२ (क) 'सीतलि भइ छाती' इति। भाव यह कि रामदर्शन बिना छाती जल रही थी, तुझे देखकर शीतल हुई। ऐसा ही श्रीभरतजीने भी श्रीहनुमान्‌जीसे कहा है, यथा—'कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥' ☞ इससे जनाया कि श्रीहनुमान्‌जीके आगमनसे उनको श्रीरामजीके दर्शनके समान सुख प्राप्त हुआ था। (ख) 'सो दिन सो राती' अर्थात् जो तुमने देखा है, यथा—'देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥' पुनः, इसमें व्यंग यह है कि तुम्हारे दर्शनके बाद फिर हमको दुःखके दिन क्या आने चाहिये ? आशय यह कि हमारे क्लेश-को भूल न जाना, तुरंत उसके हरणका उपाय करना।

नोट—१ वाल्मी० ५। ३९ में लिखा है कि श्रीहनुमान्‌जीको तैयार खड़े देखकर कहा कि 'यदि ठीक समझो तो एक दिन और यहीं कहीं किसी गुप्त स्थानमें ठहर जाओ। विश्राम करके कल चले जाना। क्योंकि तुम्हारे मेरे पास रहनेसे मेरा अपार दुःख कुछ देरके लिये अवश्य घट जायगा। तुम्हारे यहाँसे लौट जानेपर और पुनः यहाँ आनेके समयतक मुझे सन्देह है कि मैं जीती रहूँ या न रहूँ। तुम्हारे न देखनेका शोक भी मुझे संतप्त करेगा, दुःख मुझे भस्म ही कर डालेगा। यथा—ततस्तं प्रस्थितं सीता वीक्षमाणा पुनः पुनः ॥१९॥ यदि वा मन्यसे वीर वसैकाहमरिन्दम। कस्मिंश्चित्संवृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि ॥२०॥ मम चैवाल्पभाग्यायाः सांनिध्यात्तव वानर। अस्य शोकस्य महतो मुहूर्तं मोक्षणं भवेत् ॥ २१ ॥ गते हि हरिशार्दूल पुनरा-गमनाय तु। प्राणानामपि सन्देहो मम स्यान्नात्र संशयः ॥ २२ ॥ तवादर्शनजः शोको भूयो मां परितापयेत्। दुःखाद्दुःख-परामृष्टां दीपयन्निव वानर ॥ २३ ॥' और अध्यात्ममें भी कहा है कि तुम्हें देखकर मैं अपना दुःख भूल गयी थी, तुम्हारे जानेपर अब श्रीरामवार्ता सुने बिना मैं कैसे रहूँगी ? २७ (१) टि० १ देखिये।

२—'केहि बिधि···राती।' से जनाते हैं कि हनुमान्‌जीके चलनेकी तैयारी समझकर श्रीसीताजी बहुत घबड़ा गयीं। यथा—'ममोत्पतनसम्भ्रान्ता शोकवेगसमाहता ॥ वाल्मी० ५। ६७। ३४।', 'अश्रुपूर्णमुखी दीना वाष्पसन्दिग्धभाषिणी ॥ ३३ ॥' अर्थात् चलनेको तैयार देख वे घबड़ा गयीं, आँखोंमें आँसू भर लायीं और उनका कण्ठ गद्गद् हो गया। यह चौपाईके भाव कवितावली ५। २६। से भी स्पष्ट हो जाते हैं, यथा—'कहा कहौं तात देखे जात ज्यों बिहात दिन, बड़ी अवलंब ही सो चले तुम तोरि कै। तुलसी सनीर नैन नेह सों सिथिल बैन बिकल बिलोकि कपि कहत निहोरि कै।' इसीसे आगे 'बहु बिधि' समझाना कहा है। २७ (१) टिप्पणी और दोहा २७ देखिये।

३—गर्गसंहितामें राधिकाजीके ऐसे ही वचन ('तोहि देखि···') हैं। वहाँ उन्होंने इसी प्रसंगका दृष्टान्त दिया है—'दृष्ट्वा क्षणं त्वां मम हृच्छीतलं जातं प्रसन्नाऽस्मि समागते त्वयि। यथा प्रसन्ना जनकात्मजा पुरा, लंकापुरे वायुसुते समागते।' (मथुरा खण्ड अ० ५ श्लोक ११)।

दो०—जनकसुतहि समुझाइ करि बहु बिधि धीरजु दीन्ह।
चरनकमल सिरु नाइ कपि गवनु राम पहिं कीन्ह* ॥ २७ ॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने श्रीजानकीजीको समझाकर बहुत तरहसे धीरज दिया। चरण-कमलोंमें सिर नवाकर हनुमान्‌जी श्रीरामजीके पास चले ॥ २७ ॥

टिप्पणी—१ हनुमान्‌जीके चलनेके समय सीताजी बहुत विरहाकुल हो गयीं, उनका हृदय भर आया, इत्यादि; यथा—'कपि के चलत सिय को मनु गहबरि आयो। पुलक सिथिल भयो नीर नयननि छायो। कहन चह्यो संदेस नहिं कह्यो पियके जियकी जानि हृदय दुसह दुख दुरायो। देखि दसा ब्याकुल हरीस···।' (गी० ५। १५) अतएव समझाया। पुनः श्रीजानकीजी धैर्य छोड़कर बोलीं कि 'मास दिवस महँ··· केहि बिधि राखौं प्राना', इससे 'बहु बिधि धीरज दीन्ह'। और इसीसे ग्रन्थकारने भी बहुत बार लिखा। १५ (९) कह कपि हृदय धीर धरु माता' से 'तिहुँ पुर नारदादि जसु गइहहिं ॥ १६। ५।' तक समझाना पूर्व लिखा गया है। वही यहाँ है।

नोट—१ 'बहु बिधि'—बानर-भालु—सहित श्रीरामलक्ष्मणजी तुरंत आवेंगे, शत्रुको जीतकर आपको ले जायँगे।

* यह शार्दूल दोहा है। (प्र० चं०)।

त्रैलोक्यमें सुर, असुर, मनुष्यादि सबका मिलकर भी यह सामर्थ्य नहीं कि रामबाणके आगे ठहर सकें। वे आपके लिये यम, काल आदिसे भी युद्ध कर सकते हैं। सुग्रीवने आपके उद्धारके लिये अग्निको साक्षी देकर प्रतिज्ञा की है। महापराक्रमी, मानसिक संकल्पके साथ ही काममें लगनेवाले, वायुके मार्गमें चलनेवाले, मुझसे कहीं अधिक बलवाले असंख्यों वानरोंको लेकर सुग्रीव साथ आवेंगे। सुग्रीवकी सेनामें मुझसे छोटा कोई नहीं है, सब एक छलाँगमें लंका आ पहुँचेंगे। मेरी पीठपर श्रीरामलक्ष्मणजी आयेंगे। आप धैर्य धारण करें। श्रीरामजीसे बड़ा कौन है? लक्ष्मणजीके समान कौन है? वे दोनों आपके रक्षक हैं। इत्यादि जो वाल्मी० ५ सर्ग ३९, ४० और ५६ एवं ६८ में कहा है वह सब 'बहु बिधि' में आ गया। और भी जिसमें जिस प्रकार लिखा हो उस सबका समावेश इसमें हो गया।

२ पुनः यथा--(गीतावली ५ । १४)—'तौ लौं मातु आपु नीके रहिबो। जौलौं हौं ल्यावौं रघुबीरहिं दिन द्वै (दस?) और दुसह दुख सहिबो॥ १॥ सोखि कै खेत कै बाँधि सेतु करि उतरिबो उदधि न बोहित चहिबो। प्रबल दनुज दल दलि पल आधिमें जीवत दुरित दसानन गहिबो॥२॥ बैरिबृंद बिधवा बनितनिको देखिबो बारिबिलोचन बहिबो। सानुज सैन समेत स्वामिपद निरखि परम मुद मंगल लहिबो॥ ३॥ लंकादाह उर आनि मानिबो साँच रामसेवक को कहिबो। तुलसी प्रभु सुर सुजस गाइहैं मिटि जैहैं सकल सोच दव दहिबो।'; पुनः यथा—'मातु काहे को कहति अति बचन दीन। तब की तुहीं जानति, अब की हौं ही कहत, सबके जिय की जानत प्रभु प्रबीन। ऐसे तो सोचहिं न्याय-निठुर-नायक रत सलभ खग कुरंग कमल मीन॥ गी० ५।८।' पुनः यथा कवितावल्यां 'दिवस छ सात जात जानबी न मातु धरु धीर अरिअंत की अवधि रही थोरिकै। बारिधि बँधाइ सेतु ऐहैं भानुकुलकेतु सानुज कुसल कपि कटक बटोरि कै। बचन बिनीत कहि सीताको प्रबोध करि'''(५।२७)।

वि० त्रि०—जानकीजीको समझाकर बहुत प्रकारसे धैर्य दिया, यथा—'अब मोहि यहँ ते चलनमें होइहि बेर जितेक। प्रभु प्रयानमें जानबी जननी देर तितेक॥ तोहि खोजन हित कपि कटक गयउ चहूँ दिसि धाय। सीता सुधि पायो नहीं कहे होयँगे आय॥ दक्षिण दिसि जे कपि गये तिनपर आस लगाय। बाट जोहते होयँगे अति आरत रघुराय। समाचार तेरो सुनत प्रभुको धीरज होय। घटै पीर रघुबीर हिय उचित करन अब सोय॥ मेरो लंक प्रवेश कोउ सके न निशिचर जानि। ताते मम गति बिधि समुझि रहिहैं ते भय मानि॥ लंक शंक आतंक अति दशकंधर उर माहिं। अब तोको दुख देन हित कोउ आइ है नाहिं॥ यामें मोहि अब एक छन जानि रोके तू माय। जाइ बेगि रघुबीर को आवौं तुरत लवाय॥'

नोट—३ ☞ बाबा हरिदासजीने 'बहु बिधि' के कई भाव लिखे हैं जो माधुर्य प्रसंगके अनुकूल नहीं हैं। एक प्रकार यह कि—''आप 'जनक' की सुता हैं, केवल पिताके मिष प्रकट हुई हैं, माता रहित हैं, गर्भवासरूपी विधिबन्धनसे रहित अगर्भा हैं; आपका जन्म अलौकिक हुआ, आप पृथ्वी फोड़कर प्रकट हुई हैं; आप जीवोंके मंगल-कल्याणके लिये उन्हें भवबन्धनसे छुड़ानेके लिये अवतरी हैं, आप परमशक्ति हैं तब आपका तुच्छ रावणके बन्धनमें पड़ा होना कैसे घटित हो सके?—यह 'जनकसुता' का भाव है।' अन्य भाव क्लिष्ट कल्पनाएँ जानकर नहीं लिखता। पुनः, जनक सुतहि''' का भाव कि आप जनक ऐसे धीर योगीकी कन्या हैं, आपको ऐसा अधीर होना उचित नहीं। (पं०)।

४ 'गमन राम पहिं कीन्ह'। भाव कि तन यहाँ है और मन श्रीराघवजीके निकट पहुँच गया। (मा० त० सु०)। यथा—'हृदयेन गतोरामं शरीरेण तु निष्ठितः। (वाल्मी० ५। ३८। ७२)।

टिप्पणी—२ चरन कमल सिरु नाइ कपि गवनु ''' इति। यहाँ श्रीहनुमान्‌जीका प्रणाम तो कहा पर उनको श्रीसीताजीका आशीर्वाद देना नहीं लिखा गया। क्योंकि बिछुड़नसे वे शिथिल हो गयी थीं। दोहा (२७ (८) नोट २ देखिये)। उनके मुखसे बचन नहीं निकला पर उन्होंने हनुमान्‌जीको मन-ही-मन आशीर्वाद दिया, यथा—'कपि के चलत सियको मन गहबरि आयो। पुलक सिथिल भयो सरीर नीर नयनन्हि छायो॥१॥'''कै प्रबोध मातु प्रीति सों असीस दीन्हीं होइहै तिहारोइ मन भायो॥ ३॥—(गी० सु० १५)। [वाल्मीकीयमें आशीर्वाद देना कहा गया है, यथा—'शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर॥ ५। ४०। २४।' अर्थात् तुम्हारी यात्रा निर्विघ्न हो। परंतु लंकादहनके पश्चात् चलते समय श्रीहनुमान्‌जीका प्रणाममात्र है—'गमनायमतिं कृत्वा वैदेहीमभ्यवादयत्। ५। ५७। २२।' आशीर्वाद नहीं है। नाटकमें भी प्रमाण भर है। हनु० ६। ३४। यथा—'नत्वा पादारविन्दद्वयमपि जनकस्यात्मजाया हनूमान्। पाणिभ्याम-

ङ्घ्रियुग्मम्""अर्थात् श्रीजनकसुताके दोनों चरणकमलोंको प्रणाम करके दोनों हाथोंसे उनके चरणोंको छूकर। गीतावलीके उद्धरणमें आसिष देना कहा है पर 'मन' शब्द अपनी ओरसे ही लगाया गया है]।

चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ श्रवहिं * सुनि निसिचर नारी † ॥ १ ॥

अर्थ—चलते समय श्रीहनुमान्‌जीने महाध्वनिसे भारी गर्जन किया, जिसे सुनकर निशाचरोंकी स्त्रियोंके गर्भ गिर जायँ ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'भारी' गर्जनसे अपनी उपस्थिति प्रसिद्ध की और श्रीसीताजीका भय नाश किया। श्रीजानकीजीने जो कहा था कि मुझको फिर वैसे ही दिन और वैसे ही रातें बीतेंगी, राक्षस रात-दिन दुःख देंगे; उसीपर हनुमान्‌जीने गर्जकर धीरज दिया कि निर्भय रहिये, अब राक्षस आपके पास न आवेंगे। यथा—'**हनुमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे**' ॥ अथवा, (ख) भारी गर्जनसे जनाया कि लंका जलाकर हम चले नहीं गये, अभी हम बैठे हैं। तात्पर्य यह कि कोई यह न समझे कि "चोरीसे चला गया। बाग उजाड़ा राक्षसोंको मारा, उसकी सजा मिली कि 'बाँधा गया', जलाया गया, जो चोरीसे चला न जाता तो लंका जलानेकी सजा पाता"। गर्जन द्वारा रावणको चुनौती देते हैं कि लंका-दहनका बदला चुका सकते हो तो चुका लो, नहीं तो मैं सफल-मनोरथ होकर अब जाता हूँ। यदि कुछ कर सकते हो तो कर लो। (पं०)। अथवा, (ग) हनुमान्‌जीने सब काम गर्ज-गर्जकर किये; इसीसे चलते समय भी गर्जे। यथा—'**तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना**'।—(१) '**ताहि निपाति महाधुनि गर्जा**'—(२)। '**कट कटाइ गर्जा अरु धावा**'—(३)। '**अट्टहास करि गर्जा**'—(४)। तथा यहाँ '**चलत महाधुनि गर्जेसि**' (५)। अथवा, (घ) शरीरके बलसे करोड़ों राक्षसोंको मारा और महाध्वनिसे अब गरजकर निशाचरवंशकी वृद्धि रोक दी (ङ) प्रथम भी तो महाध्वनिसे गर्जे थे, तब गर्भका गिरना नहीं कहा गया? इसका समाधान कविके शब्दोंमें ही है। पूर्व केवल एक शब्द 'महाधुनि' ही गर्जनका विशेषण है—'**ताहि निपाति महाधुनि गर्जा**'। और यहाँ गर्जनके साथ दो विशेषण दिये हैं—'**महा धुनि**' और 'भारी'। महाध्वनिकी गर्जनसे गर्भ न गिरे थे और अब गर्भ गिरना तथा आगेके लिये गर्भाधानकी स्थितिको रोकना अभिप्रेत है इससे 'भारी महाध्वनि' से गर्जे। जैसे यहाँ 'भारी' विशेषण अधिक वैसे ही '**गर्भ स्रवहिं**' यह कार्य अधिक है। अथवा, शब्दमें कुछ और कारण कर दिया हो जिससे गर्भ गिर गये।

नोट—१ गर्जन वही है जो पूर्व १८ (५) में लिखा गया—'जयत्यतिबलो रामो""अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्। समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्। वाल्मी० ५। ४२। ३३-३६।' कवितावलीमें इस प्रकार है—"**बचन बिनीत कहि सीताको प्रबोध करि, तुलसी त्रिकूट चढ़ि कहत डफोरि कै। 'जय जय जानकीस दससीस-करि केसरी', कपीस कूद्यो बात घात बारिधि हलोरि कै** ॥ ५। २७।"

मा० त० सु० कार लिखते हैं कि '**गर्भ स्रवहिं**' से ग्रन्थकारने हनुमान्‌जीके बलकी पराकाष्ठा दिखायी। इस गर्जन द्वारा समस्त लंकानिवासियोंको भयभीत करते हुए भविष्यके लिये उनके हृदयमें इन्होंने चिन्ता उत्पन्न कर दी। रा० शं० व्यासका मत है कि गर्जनका कारण यह है कि महावीरजीने सोचा कि प्रभुकी प्रतिज्ञा है कि '**निसिचर हीन करउँ महि**'। जो युद्धमें जायँगे, उन्हें तो वे अवश्य मारेंगे; पर उनके मरनेपर जो गर्भ उनकी स्त्रियोंके हैं, उनसे फिर राक्षस पैदा होंगे तो प्रतिज्ञा पूर्ण न होगी। अतः गर्भोंका प्रथम ही नाश किया।

नोट—२ यहाँ 'स्रवहिं' वर्तमान कालकी क्रिया देकर जनाया कि जो थे वे गिर गये और गिरते जाते हैं, आगे चले जानेपर भी इसका प्रभाव पड़ेगा, यथा—'**समुझत जासु दूत कै करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी** ॥ ५। ३६।' (मन्दोदरीवाक्य रावण प्रति)।

वि० त्रि०—रुद्रावतार हनुमान्‌जीने रावणके किये हुए प्रायः सभी महा अनर्थोंका बदला चुकाकर दण्ड दिया। '**चलत दसानन डोलत अवनी। गर्जत गर्भ स्रवहिं सुररवनी** ॥' सो ये चलते समय ऐसे गर्जे कि निशाचरियोंका गर्भस्राव होने लगा। रावणने जिस-जिस देशमें गो-ब्राह्मणको पाया, उस नगर, ग्राम और पुरको जला दिया, यहाँ बदलेमें 'उलट पलटि

* स्रवहिं सुनि निसिचर—१७०४,, १७२१, १७६२, भा० दा०, छ०। स्रवहिं रजनीचर—कोदवराम।

† 'चलत"' तामरस, 'गर्भ"' पायकुलक। (प्र० चं०)।

लंका कपि जारी।' सीताजीको 'क्रोधवंत पुनि रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ' तो इधर 'धरि केस नारि निकारि बाहिर तेऽति दीन पुकारहीं', इत्यादि।

नाघि सिंधु एहि पारहिं आवा। सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा॥ २॥
हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जनम कपिन्ह तब जाना॥ ३॥
मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा। कीन्हेसि रामचन्द्र कर काजा*॥ ४॥

अर्थ—समुद्र लाँघकर श्रीहनुमान्‌जी इस पार आये और किलकिला शब्द वानरोंको सुनाया। (किलकिल शब्द वानरोंकी आनन्दसूचक हर्षध्वनि है। इसे किया जिसमें सब वानर जान लें कि रामकार्य कर लाये)॥ २॥ श्रीहनुमान्‌जीको देखकर सब हर्षित हुए और तब वानरोंने अपना नया जन्म समझा॥ ३॥ मुख प्रसन्न है, तनमें तेज विराजमान है। (इसीसे जाना कि) श्रीरामचन्द्रका कार्य किया है॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'नाँघि सिंधु एहि पारहिं आवा सबद···' इति। (क) महाध्वनिसे गर्जकर निशाचरियोंके गर्भ गिराये और किलकारीसे वानरोंको जिलाया यथा—'गगन निहारि किलकारी भारी सुनि, हनुमान पहिचानि भये सानंद सचेत हैं। बूड़त जहाज बच्यौ पथिकसमाज मानो, आज जाये जानि सब अंकमाल देत हैं।'—(क० ५। २९) 'एहि पारहि आवा' से जनाया कि शब्द न पहुँचा और हनुमान्‌जी पहुँच गये। इससे उनका भारी वेग दिखाया, यथा—'मारुत-नंदन मारुतको मनको खगराज को वेग लजायो।' (क० लं० ५३)।—यह वेग द्रोणाचल लानेके समयका है जिसका उदाहरण दिया गया। उस समय कालनेमि द्वारा विघ्न उपस्थित हुआ और श्रीअवधमें श्रीभरतके बाणकी महिमाका प्रभाव भी पड़ा था तब यह वेग था कि आपके वेगसे पवनदेव, गरुड़ एवं मन भी लज्जित हो गये थे और इस समय तो मार्ग साफ है, कोई विघ्न करनेवाला नहीं है, अतः इस समय उससे भी अधिक वेगसे उड़कर इस पार पहुँचे हैं। जैसे तोपका गोला पहले पहुँचता है और शब्द पीछे होता है वैसे ही यहाँ जानिये।—यह बात अगली अर्धाली 'हरषे सब बिलोकि हनुमाना' से सिद्ध होती है; उसमें शब्द सुनकर हर्षित होना नहीं लिखते किन्तु श्रीहनुमान्‌जीको देखकर हर्षित होना कहते हैं।

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब हनुमान्‌जीको उत्तरतटवर्त्ती महेन्द्रपर्वत कुछ ही दूर रहा देख पड़ा तब वे बड़े जोरसे गर्जे। उनका वह सिंहनाद समस्त दिशाओंमें प्रतिध्वनित हुआ। गरजते हुए वे उत्तर तटपर जा पहुँचे। रीछ-वानर जो उनके लौटनेकी प्रतीक्षामें बैठे थे, उन्होंने गर्जनका घोष सुना। सुनकर सब प्रसन्न हुए। हनुमान्‌जी गर्जे और उन वानरोंने आकाशमें उन्हें चले आते हुए देखा। यथा—स किंचिदनुसंप्राप्तः समालोक्य महागिरिम्॥ १४॥ महेन्द्रं मेघसंकाशं ननाद हरिपुङ्गवः। स पूरयामास कपिर्दिशो दश समन्ततः॥ १५॥ नदन्नादेन महता मेघस्वनमहास्वनः। सतं देशमनुप्राप्तः सुहृद्दर्शनलालसः॥ १६॥···पूर्वं संविष्टिताः शूराः वायुपुत्रदिदृक्षवः॥···शुश्रुवुस्ते तदा घोषमूरुवेगं हनूमतः॥ २०॥···निशम्य हरयो हृष्टाः···२५।···एवं जगर्ज बलवान्हनूमान्मारुतात्मजः। तमभ्रघनसङ्काशमापतन्तं महाकपिम्॥ २८॥ (वाल्मी० ५। ५७)।' अध्यात्मरामायणमें भी प्रथम सिंहनाद सुनना है, साथ ही तुरत हनुमान्‌जीका दर्शन हुआ।—जैसे वाल्मीकीयमें 'स तं देशमनुप्राप्तः' वैसे ही यहाँ 'एहि पारहि आवा', जैसे-शुश्रुवुस्ते···'निशम्य हरयो' वैसे ही यहाँ 'कपिन्ह सुनावा', जैसे 'आपतन्तं०' वैसे ही 'बिलोकि'। 'सुनावा' से यह भाव ले सकते हैं कि वानरोंने इसे सुना, सुनते ही आकाशकी ओर दृष्टि डाली तो हनुमान्‌जी भी देख पड़े। दोनों कार्य ताबड़तोड़ तले-ऊपर हुए, इसीसे 'हरषे सब बिलोकि' कहा। कवितावलीके उपर्युक्त उद्धरणसे भी ऐसा ही जान पड़ता है, क्योंकि वहाँ भी 'किलकारी सुनि' 'हनूमान् पहिचानि' है अर्थात् उनके शब्दसे उनको पहचाना।—'हनुमानेव पश्यध्वं वानरा वानरर्षभम्। अ० रा० ५। ५। १३।' इस प्रकार प्राचीन रामायणोंके साथ समन्वय भी हो जाता है। लमगोड़ाजी भी इससे सहमत हैं। सरल भाव यही है कि सुनकर उस ओर देखा कि स्वयं हनुमान्‌जी देख पड़े।

नोट—२ 'हरषे सब' इति। वृक्षोंकी डालियोंको हाथमें ले कपड़ेकी तरह हिला रहे थे। श्रीहनुमान्‌जीको देखकर सब वानर हाथ जोड़े हुए खड़े हो गये। और आ जानेपर वे फलों और फूलोंकी भेंटें ला-लाकर उनका पूजन करने लगे। यथा—'वासांसीव प्रशाखाश्च समाविध्यन्त वानराः।···२७। दृष्ट्वा ते वानरा सर्वे तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा।···२९। प्रहृष्टवदनाः सर्वे

* 'नाँघि···' स्वागता, 'सबद···', (३), पाथकुलक। 'मुख···' द्रुतपा। 'कीन्हेसि···' पायकुलकः (म० चं०)।

तमरोगमुपागतम्। उपायनानि चादाय मूलानि च फलानि च ॥ ३३ ॥ प्रत्यर्चयन्हरिश्रेष्ठं हरयो मारुतात्मजम्। ३४।' (वाल्मी० ५। ५७)। पुनः यथा कवितावल्यां—'बूड़त जहाज बच्यो पथिकसमाज मानो आजु जाये जानि अंकमाल देत हैं। 'जय जय जानकीस जय जय लषन कपीस' कहि कूदैं कपि कौतुकी नटत रेत रेत हैं। अंगद मयंद नलनील बलसील महा बालधी फिरावैं मुख नाना गति लेत हैं ॥ ५। २९ ॥', 'आये हनुमान प्रानहेतु अंकमाल देत लेत पगधूरि एक चूमत लँगूल हैं। एक भूखे जानि आगे आने कंदमूल फल एक पूजैं बाहुबल मूल तोरि फूल हैं ॥ एक कहैं तुलसी सकल सिधि ताके जाके कृपापाथ-नाथ सीतानाथ सानुकूल हैं। ३०।'

३ 'नूतन जनम कपिन्ह तब जाना' इति। श्रीसुग्रीवजीने कहा था कि 'अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आइहि बनिहि सो मोहि मराये ॥' अब सुध पा गये, अतः नया जन्म हुआ। समुद्रतटपर सब मरनेके लिये बैठे थे—'बैठे कपि सब दर्भ डसाई', कि अवधि बीत गयी सुध भी न मिली, अब अवश्य मारे जायँगे; इससे यहाँ स्वयं ही प्राण देनेपर उद्यत थे। अतएव कहा कि 'नूतन जनम…'। नोट २ भी देखिये।

टिप्पणी—२ 'हरषे सब बिलोकि…' इति। (क) महाध्वनि पूरी न हो पायी कि इस पार आ गये। जब समुद्र थोड़ा पार करनेको रह गया तब वानरोंको शब्द सुन पड़ा और हनुमान्‌जी आकाशमें पहले ही देख पड़े। यह बात अगली चौपाईसे स्पष्ट करते हैं कि 'मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा'। यह देखकर सब प्रसन्न हुए और यह समझकर कि रामकार्य कर लाये हैं सबने अपना नया जन्म जाना। इससे सूचित हुआ कि संतदर्शनसे नया जन्म होता है। (ख) 'रामचन्द्रकर काजा।' इति। श्रीसुग्रीवजीने वानरयूथपोंसे कहा था—'रामकाजु अरु मोर निहोरा। बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ॥'…'रामचन्द्र कर काज सँभारेहु।'; और 'पाछे पवनतनय सिरु नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा ॥' (कि० २२-२३)। जाम्बवन्तजीने भी कहा है कि 'रामकाज लगि तव अवतारा। (कि० ३०)।'—उसी सम्बन्धसे कहा कि 'कीन्हेसि रामचन्द्र कर काजा।' [तीन ही पदार्थ तेजोमय माने गये हैं—चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि। सूर्य और अग्नि तापदायक हैं, चन्द्रमा शीतलत्व प्रदान करनेवाला है। अमृतमय भी है। सब वानर मरणप्राय थे उनको शीतल किया, जिलाया। अतः यहाँ तेजके सम्बन्धसे 'चन्द्र' विशेषण दिया। अग्नि और सूर्य नहीं कहा। 'रामचंद्र कर काज' अर्थात् सब काम किये जो कहे गये थे—'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥ ४। २३ ॥' यथा—'सर्वथा कृतकार्योऽसौ हनूमान्नात्र संशयः। वाल्मी० ५। ५७। २३।' ☞ 'सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा' से 'रामचंद्र कर काजा' तक जो कुछ कहा गया वह आकाशमें उड़ते हुए समयका है। आगे 'मिले सकल' यह नीचे वानरोंके मध्य उतरकर आ जानेपरकी बात है। प्रसन्न देख कार्य-सिद्धिका निश्चय करना 'अनुमान प्रमाण अलंकार' है।]

मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जिमि* बारी† ॥ ५ ॥

अर्थ—सब वानर श्रीहनुमान्‌जीसे मिले और (ऐसे) अत्यन्त सुखी हुए जैसे तड़पती हुई मछली जल मिल जानेसे (सुखी होती है) ॥ ५ ॥

नोट—१ 'मिले सकल अति भये सुखारी।' इति। इससे जनाया कि वानरोंने उन्हें अत्यन्त हर्षपूर्वक गले लगाया। किसीने उनकी पूँछ चूमी और कोई मारे खुशीके अति उत्साहसे नाचने लगे। कोई सिंहनाद करने लगे, कोई गर्जने लगे, कोई किलकिलाने लगे, कोई पूँछोंको खड़ी कर प्रसन्नता प्रकट करने लगे, कोई पूँछोंको बार-बार फटकारने लगे।—'अति सुखारी' से ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जीने कह दिया है कि हम सीताजीको देख आये। इसीसे अत्यन्त सुख हुआ। यथा—'इत्युक्ता वानराः सर्वे हर्षेणालिङ्ग्य मारुतिम्। १६। केचिच्चुचुम्बुर्लाङ्‌गूलं ननृतुः केचिदुत्सुकाः। १७।' (अध्यात्म० ५। ५); 'ततो दृष्टेति वचनं महार्थममृतोपमम्। निशम्य मारुतेः सर्वे मुदिता वानराऽभवन् ॥ ४० ॥ क्ष्वेलन्त्यन्ये नदन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये महाबलाः। चक्रुः किलकिलामन्ये प्रतिगर्जन्ति चापरे ॥ ४१ ॥ केचिदुच्छ्रितलाङ्गूलाः प्रहृष्टाः कपिकुञ्जराः। अञ्चितायतदीर्घाणि लाङ्गूलानि प्रविव्यधुः ॥ ४२ ॥' (वाल्मी० ५। ५७)।

टिप्पणी—१ 'तलफत मीन पाव जिमि बारी।' इति। (क) भाव यह कि इनके बिना व्याकुल और दुखी थे,

* जनु—१७०४, कोदवराम। जिमि—भा० दा०, १७२१, १७६२, छ०, गी० प्र०।—नोट २ देखिये। † 'मिले…' पायकुलक। 'तलफत' नयमालिनी—(भ० चं०)।

इनको पाकर सुखी हुए। यथा—'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानै सोई॥' (ख) प्रथम हनुमान्‌जी-को देखकर सुखी हुए—'हरषे सब बिलोकि'। अब गले मिले, तब 'अति सुखी' हुए। (ग) मीनके जल पानेकी उपमा देकर जनाया कि हनुमान्‌जी सबके प्राणोंके रक्षक हुए, यथा—'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥' (घ) 'तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ जब लगि आवौं सीतहि देखी।' इन चरणों वा वचनोंका यहाँ चरितार्थ है। सब अत्यन्त दुःख सहकर यहीं बने रहे और हनुमान्‌जीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। हनुमान्‌जीने आकर उनको यहाँ पाया और 'होइहि काजु' जो कहा था उसकी पूर्तिकी सूचना दी।

नोट—२ 'तलफत मीन पाव जिमि बारी' इति। श्रीदशरथमहाराजके प्रसंगमें भी कुछ ऐसा ही कहा है—'तलफत मीन मलिन जनु सींचत सीतल बारि। २। १५४।'; पर यहाँ 'जिमि' है और वहाँ 'जनु'; यहाँ उदाहरण है और वहाँ उत्प्रेक्षा। मानसकविका सँभाल प्रशंसनीय है। 'जिमि' और 'जनु' का भेद साभिप्राय है, भावपूर्ण है। वहाँ राजाको वस्तुतः जीवनदान हुआ नहीं, क्योंकि कार्यसिद्धि नहीं हुई, श्रीरामजी लौटे नहीं। और, यहाँ कार्यसिद्धिरूपी जीवनदान हुआ। अतएव 'जिमि' पाठ उत्तम है।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जी सब वानरोंको परमप्रिय हैं। हनुमान्‌जी इस बातको जानते हैं। जाते समय सबको सहेज गये हैं 'तब लग मोहि परखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ जब लगि आवहुँ सीतहिं देखी।' भाव यह कि मेरे विरहके दुःखको सहकर मेरी प्रतीक्षा करना, मेरी सहायताके लिये समुद्र पार जानेका साहस न करना। अथवा मेरे लिये अनशन न करना; दुखी होनेपर भी फल-मूल खाना। सो हनुमान्‌जीके विरहसे सब दुखारी थे, मिलकर सब सुखारी हुए। जैसे तड़पती हुई मछलियोंको जल मिल जाय। मछलियाँ बहुत हैं, अकेला जल सबसे मिलकर सबको सुखी करता है, इसी भाँति हनुमान्‌जीसे मिलकर सब सुखी हुए।

☞ 'जनकसुता के आगे ठाढ़ भयउ कर जोरि' दोहा २६ से यहाँतक 'नाँघेउ बहुरि पयोधी' प्रसंग है।

'आये कपि सब जहँ रघुराई'—प्रकरण।

चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत कहत नवल इतिहासा॥ ६॥

अर्थ—सब हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीके पास चले। नवीन इतिहास पूछते कहते (चले जा रहे) हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'चले हरषि'...पूछत कहत' इति। (क) विनयपत्रिकामें कहा है कि श्रीरामकृपासे संतोंका दर्शन होता है। संतके दर्शन, स्पर्श और समागमसे पापसमूह नाशको प्राप्त होते हैं, सुख प्राप्त होता है। यथा—'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये। जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये॥ १३६।' श्रीहनुमान्‌जी भगवद्भक्तशिरोमणि हैं, संत हैं। अतः इस प्रसंगमें 'हरषे सब बिलोकि हनुमाना।' से यहाँतक साधु हनुमान्‌जीका दर्शन, स्पर्श और समागम क्रमशः दिखाया गया है। पहले दर्शन और स्पर्श हुआ। 'हरषे सब बिलोकि' दर्शन है, 'मिले सकल' स्पर्श है। अब इस अर्धालीमें 'पूछत कहत नवल इतिहासा' यह समागम कहा है। (ख) दर्शन, स्पर्श और समागमसे प्रभुकी प्राप्ति होती है, इसीसे श्रीरामजीके पास चलना कहा, सुग्रीवके पास नहीं। (ग)—उत्तरोत्तर वानरोंके हर्षकी वृद्धि दिखाते हैं—देखकर 'हर्ष' हुआ; मिले तब सुखी हुए और श्रीरामजीके पास चले तब और हर्ष हुआ।

प० प० प्र०—'चले हरषि' इति। वाल्मीकिजीके 'प्रीतिमन्तस्ततः सर्वे वायुपुत्रपुरःसराः। महेन्द्राग्रं परित्यज्य पुप्लुवुः प्लवगर्षभाः॥ ५। ६१। २। राघवे चार्थनिर्वृत्तिं कर्तुं च परमं यशः। समाधाय समृद्धार्थाः कर्मसिद्धिभिरुन्नताः॥५॥ प्रियाख्यानोन्मुखाः सर्वे सर्वे युद्धाभिनन्दिनः। सर्वे रामप्रतीकारे निश्चितार्था मनस्विनः॥ ६॥' अर्थात् समस्त वानर हनुमान्‌जीको आगे कर प्रसन्न होते हुए महेन्द्राचलको छोड़ उछलते-कूदते चल दिये। श्रीरामचन्द्रका कार्य करके सफल-मनोरथ और यशको प्राप्त होनेसे वे अपनेको अन्य दिशाओंमें भेजे हुए वानरोंसे उत्कृष्ट समझ रहे थे। सभी वानर श्रीरामजी-को शुभ संवाद सुनानेको उत्सुक हो रहे थे। सब-के-सब युद्धका अभिनन्दन करनेको तत्पर थे। वे मनस्वी वानर श्रीरामचन्द्रजीका बदला रावणसे लेनेका दृढ़ संकल्प किये हुए आकाशमें उछलते-कूदते चले जा रहे थे।—इस उद्धरणके सब भाव 'चले हरषि' में हैं। पुनः, हर्षपूर्वक चले इससे कि—(क) श्रीसीताजीका समाचार पाकर अब श्रीरामजी हम सबोंपर विशेष प्रसन्न होंगे।

(ख) दर्शनकी उत्कंठा है। (ग) यात्राके समय हर्ष शकुन है। (घ) पूर्व जो सुग्रीवका भय था कि **'उहाँ गए मारिहि कपिराई ॥ ४। २६।'**, वह भय जाता रहा। सुग्रीवजी भी हमपर विशेष प्रसन्न होंगे। (ङ) इस प्रसंगका उपक्रम **'हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना। नहिं जैहैं जुबराज प्रबीना।** कि० २६।' है, उस प्रतिज्ञाकी पूर्त्तिसे प्रसन्न हैं, अतः **'चले हरषि'**। (च) श्रीरामजीका वियोगजनित शोक दूर होगा, यह समझकर **'हरषि चले।'** (छ) किष्किंधासे जब यह वानर-यूथ चला तब हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीका स्मरण करते हुए चला था, यथा—**'चले हरषि सुमिरत रघुराई'** और श्रीहनुमान्‌जीने तो रामकार्य सौंपे जानेसे अपना जन्म सुफल समझा और हृदयमें कृपानिधानको धारण करके प्रस्थान किया था। यथा—**'हनुमत जन्म सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना।'** इसीसे कार्य श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा हुए, ये कभी कृपानिधानको भूले नहीं, इसीसे इनको किसी प्रकारका कष्ट और भय नहीं हुआ। वानरयूथ हर्षित होकर प्रभुका स्मरण करते चला था, अतः इस वानरयूथको भी इस कार्यका यश प्राप्त हुआ। और इसीसे लौटते समय सब **'चले हरषि रघुनायक पासा।'** इससे उपदेश मिलता है कि जिस कार्यका प्रारम्भ हर्षित होकर और भगवत्स्मरणयुक्त किया जाता है उस कार्यमें विघ्न उपस्थित होनेपर भी भगवान्‌की कृपासे कार्य सुफल होता है।

टिप्पणी—२ **'नवल इतिहास'**—लंकाका वृत्तान्त, यथा—**'सीय को सनेह सील कथा तथा लंक की चले कहत चाय सो सिरानो पथ छन में।'**—(क० सुं० ३१)। श्रीहनुमान्‌जी अपना पुरुषार्थ अपनी ओरसे अपने मुखसे नहीं कहना चाहते। इसीसे **'पूछत कहत'** लिखा अर्थात् जब सब पूछते हैं, तब जितना पूछते हैं, उतना कहते हैं। ऐसा न होता तो **'पूछे कहत'** ऐसा लिखते। वे बारंबार पूछते हैं और ये बार-बार उत्तर देते हैं।

नोट—१ वाल्मी० ५। ५८ में जाम्बवान्‌जीका प्रश्न करना वर्णित है। यथा—**'जाम्बवान्कार्यवृत्तान्तमपृच्छदनिलात्मजम्॥ २॥ कथं दृष्टा त्वया देवी कथं वा तत्र वर्तते। तस्यां वा स कथंवृत्तः क्रूरकर्मा दशाननः॥ ३॥ तत्त्वतः सर्वमेतन्नः प्रब्रूहि त्वं महाकपे।...श्रुतार्थाश्चिन्तयिष्यामो भूयः कार्यविनिश्चयम्॥ ४-५।'** अर्थात् पूछा कि—तुमने देवी श्रीसीताजीको कैसे देखा? वे वहाँ किस प्रकार हैं? क्रूरकर्मा रावणका उनके प्रति कैसा व्यवहार है? समस्त वृत्तान्त बताओ जिससे हम आगेका कर्त्तव्य निश्चय करें। इसके पूर्व सर्ग ५७ में भी लिखा है कि हनुमान्‌जीने प्रथम संक्षेपसे सब वृत्तान्त कह दिया। फिर वानरोंके पूछनेपर पुनः श्रीसीताजीके दर्शन पानेकी बात कही। (दो श्लोकोंमें)। फिर वानरोंने उनके समुद्रलंघन' लंकामें प्रवेश, सीताशोध, रावणके दर्शन, लंकादहन, श्रीसीताजीसे वार्तालाप आदि सब वृत्तान्त सुननेकी इच्छा प्रकट की। तब जाम्बवान्‌जीने प्रश्न किया और उन्होंने विस्तृत उत्तर दिया जो सर्ग ५८ में है।—इसीसे ग्रन्थकारने 'पूछत' 'कहत' शब्द दिये। ☞ परंतु वाल्मीकीयमें यह सब पूछना और कहना महेन्द्राचल समुद्रतटपर ही है। मानसकल्पके वानर श्रीरामकार्यमें विशेष लवलीन हैं, स्वामीका वियोगजनित दुःख शीघ्र दूर करनेकी उत्कंठा है, अतएव वे अब समुद्र-तटपर समय बिताना नहीं चाहते, रास्तेहीमें सब वृत्तान्त सुन लेंगे, और रास्ता भी शीघ्र कट जायगा। अध्यात्म ५। ५में भी तुरंत चल दिये हैं। यथा—**'इदानीमेव गच्छामो रामसुग्रीवसन्निधिम्॥ १६॥'**—श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि हम सब इसी समय श्रीराम और सुग्रीवजीके पास चल देंगे।

तब मधुबन भीतर सब आए। अंगद संमत मधु फल खाए॥ ७॥
रखवारे जब बरिजइ * लागे। मुष्टि प्रहार हनत सब भागे† ॥ ८॥

अर्थ—तब सब मधुबनके भीतर आये और अङ्गदजीके सम्मतिसे मीठे-मीठे फल खाये एवं मधुपान किया॥ ७॥ जब रखवाले मना करने-डाँटने लगे तब घूँसेका प्रहार करते ही सब (रक्षक) भाग गये॥ ८॥

नोट—१ **'मधुबन भीतर सब आए'** इति। (क) यह सुग्रीवजीका विहार-उपवन था। यह इन्द्रके नन्दनवनके समान वृक्षों और लताओंसे युक्त था। इसमें कोई भी वानर जाने न पाता था। यह अपनी शोभासे सभीका मन हर लेता था। श्रीसुग्रीवजीका यह अत्यन्त प्यारा महावन था। यह उनके बाप-दादाके समयका था। देवता लोग भी इसके भीतर न जा सकते थे—**'पितृपैतामहं दिव्यं देवैरपि दुरासदम्॥** वाल्मी०। ५। ६२। ३३।' देवताओं द्वारा यह श्रेष्ठ मधुबन प्राप्त हुआ था—

* बरजन—का०, ना० प्र०, मी० प्र०। बरजइ—भा० दा०। बरजै—ब्र० चं०।
† पायकुल्क—(ब्र० चं०)।

'वनं दत्तकरं दिव्यम्' (५ । ६२ । २७), 'ऋक्षरजसे ब्रह्मणा दत्तमित्यवगम्यते ।' हजारों वानररक्षकोंसहित सुग्रीवका मामा दधिमुख इसकी रखवाली करता था । (ख) 'सब आए' का भाव कि कहाँ तो उसमें अङ्गदजी भी बिना आज्ञाके न जा सकते थे और कहाँ सब-के-सब वानर घुस पड़े ।

२ 'अंगद संमत' से जनाया कि वानरोंकी इच्छा थी कि आज भरपेट फल खाकर और मधुपान करके तृप्त हो जायँ । इच्छा प्रकट करनेपर युवराजने आज्ञा दी । यथा—'क्षुधिताः स्मो वयं वीर देह्यनुज्ञां महामते । भक्षयामः फलान्यत्र पिबामोऽमृतवन्मधु । अध्यात्म० ५ । ५ । १९ ।' (अर्थात्) हे वीर ! हम सब बहुत भूखे हैं; हमें आज्ञा दीजिये कि हम इस वनके फल खायें और अमृततुल्य मधु पियें । पुनश्च यथा—'कुमारमभ्ययाचन्त मधूनि'''॥ ११ ॥ '''अनुमान्य ददौ तेषां निसर्गं मधुभक्षणे ॥ १२ ॥ (वाल्मी० ५ । ६१) । अर्थात् उन्होंने अङ्गदजीसे मधुफलोंका मधु पीनेकी आज्ञा देनेके लिये प्रार्थना की । उन्होंने सबको मधुवनमें जानेकी तथा मधु फल खानेकी आज्ञा दे दी ।

३ यहाँ 'मधु फल' पाठ है । यही पाठ सब प्राचीन प्रतिलिपियोंका है । आधुनिक कुछ टीकाकारोंने 'अंगद सहित मधुर फल खाए' पाठ कर दिया है । 'मधु फल' का भाव यह है कि 'मधु पान किया और मीठे फल खाए ।' यह बात वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणोंसे भी सिद्ध होती है । यथा—'अव्यग्रमनसो यूयं मधु सेवत वानराः ॥ १ ॥ प्रत्युवाच प्रसन्नात्मा पिबन्तु हरयो मधु । अवश्यं कृतकार्यस्य वाक्यं हनुमतो मया ॥३॥', 'पपुः सर्वे मधु तदा रसवत्फलमाददुः ॥७॥' इत्यादि । (वाल्मी० ५ । ६२) । अर्थात् हनुमान्जीने कहा कि सब मधुपान करो, अङ्गद भी सहमत हुए । मधुपानकी आज्ञा दे दी और सब मधुपान करने लगे एवं फल खाने लगे । 'मधु=मकरन्द, फूल-फलका रस । शहद, ताड़ी । गीतावलीमें भी मधुका पीना कहा है, यथा—'पीवत मधु मधुवन मगन मोद' (सुं० १६) ।

टिप्पणी—१ (क) 'अंगद संमत' देहलीदीपक है । उनके सम्मतिसे बागमें गये और सम्मतिसे ही फल खाये । तात्पर्य कि इस बागमें जाना और इसके फल खाना दोनों दुर्लभ हैं; अतएव युवराजकी सम्मतिसे गये और खाया । यथा—'कह्यो जुबराज बोलि बानर समाज आजु खाइ फल सुनि पेलि पैठे मधुबन में । मारे बागबान ते पुकारत दिवान गे उजारे बाग अंगद दिखाए घाय तन में ॥' (क० ५ । ३१) । (ख) 'नवल इतिहास' कहते-सुनते मधुवनमें आ गये, विलम्ब न लगा । इस कथनसे दिखाया कि रामचरित कहते-सुनते-मात्र रास्ता 'सिराइ' (शीघ्र चुक) जाता है । यथा—'बरनत पंथ बिबिध इतिहासा । बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा ॥' (१ । ५८), 'पंथ कहत निज भगति अनूपा । मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा ॥ ३ । १२ ।' (ग) 'भीतर सब आए' से जनाया कि वन बहुत बड़ा था । (घ) 'अंगद संमत''' से जनाया कि जबसे ये वानर अनशनव्रत करके समुद्रतटपर बैठे थे, तबसे अबतक फल न खाये थे, बहुत भूखे थे, तब भी अपनी ओरसे ये फल न खा सके; जब युवराजने आज्ञा दी तब खाया । क्योंकि युवराज भी मालिक ही होता है । यथा—'युवराजस्त्वमीशश्च वनस्यास्य महाबल । वाल्मी० ५ । ६४ । ७ ।' (यह दधिमुखने स्वयं अङ्गदजीसे कहा है) ।

२ (क) 'रखवारे' और 'लागे' बहुवचन हैं । इससे जनाया कि रक्षक बहुत थे । उनको मारा; क्योंकि उन्होंने युवराजका भी हुक्म कुछ न समझा, न रामजीको माना न वानरोंको । वानरोंको रामकार्य करनेका बल है, इसीसे उन्होंने फल खाये । प्रमाण, यथा—'जौं न होति सीता सुधि पाई । मधु बन के फल सकहि कि खाई ।' दूसरे, अङ्गदकी सम्मतिका बल है और तीसरे क्षुधार्त्त थे ही; अतः फल खाये । रोकनेपर क्रोध हुआ, अतः मारा । यथा—'अतिसर्गाच्च पटवो दृष्ट्वा श्रुत्वा च मैथिलीम् । पपुः सर्वे मधु तदा रसवत्फलमाददुः ॥ उत्पत्य च ततः सर्वे वनपालान्समागतान् । ताडयन्ति स्म शतशः सक्तान्मधुवने तदा । '''पिबन्तः सहिताः सर्वे निघ्नन्ति स्म तथापरे ॥' (वाल्मी० ५ । ६२ । ७-९) । अर्थात् अङ्गदकी आज्ञा पाने, सीताजीका समाचार लानेसे सब अत्यन्त उद्दण्ड हो मधु पीने और फल खाने लगे । जो रक्षक उनको बर्जते थे उनको इकट्ठे होकर मारते थे । (ख)—'जब बरजै लागे' से जनाया कि रखवालोंने जब मना किया तब इन्होंने मारा, पहलेहीसे नहीं मारा । रखवालोंका किसीको मारना नहीं कहते; क्योंकि रखवाले सबको जानते हैं कि अङ्गद युवराज हैं और जाम्बवान्जी एवं हनुमान्जी मन्त्री हैं जो इनके साथ हैं । (ग) 'मुष्टि प्रहार हनत सब भागे' यथा—'तेऽपि तैर्वानरैर्भीमैः प्रतिषिद्धा दिशो गताः ।' वाल्मी० ५ । ६२ । १५ ।'

दो०—जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज।
सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभु काज* ॥ २८ ॥

अर्थ—उन सबोंने जाकर पुकार (फरियाद) की कि युवराज वनको उजाड़ रहे हैं। यह सुनकर सुग्रीव हर्षित हुए कि वानर प्रभुका कार्य कर लाये ॥ २८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सब भागे' पूर्वमें और यहाँ 'पुकारे ते सब' कहकर जनाया कि वानरोंने सभी रक्षकोंको मारकर निकाल दिया। ☞ इससे यह उपदेश मिला कि उत्तम कार्य करनेवालेको उत्तम फल मिलता है और विघ्नकर्त्ताको दण्ड होता है। रामकार्य करनेवाले सेवकोंके कार्यमें विघ्न डालनेवालोंको यही फल मिलता है। (ख) 'पुकारे ते सब' इति। सभीने पुकार की, कारण कि जो न खबर देता, उससे जवाब माँगा जाता कि क्यों आकर खबर न दी। पुनः सबने मना किया और सबने पुकार की, इससे ज्ञात हुआ कि यह वन बहुत भारी है; इसमें ठौर-ठौरपर रक्षक नियुक्त थे।—(इसमें दधिमुखके नीचे हजारों वनरक्षक थे, यथा—'**वीराः पालास्तत्र सहस्रशः**' वाल्मी० ५। ६२। २४), जब जिसकी हदमें वानर गये तब उसने मना किया और मार खाते ही भागा।

नोट—१ '**बन उजार जुबराज**' इति। 'उजार' से जनाया कि अघा-अघाकर मधु पान किया, फल खाये, मधुपानसे मतवाले हो जो फल बचे उन्हें भी नष्ट कर डाला, पत्ते तोड़ डाले इत्यादि। यथा—'**एभिः प्रधर्षितास्चैव वानरा वनरक्षिभिः। मधून्यचिन्तयित्वेमान्भक्षयन्ति पिबन्ति च। शिष्टमत्रापविध्यन्ति भक्षयन्ति तथापरे॥** वाल्मी० ५। ६३। ६-७।' पुनः भाव कि अब भी उजाड़ रहे हैं, आपका उनको किंचित् भी भय नहीं है। अपना मारा जाना नहीं कहा। अध्यात्म० ५। ५। २५ में भी ऐसा ही है—'**नष्टं मधुवनं तेऽद्य कुमारेण**...।'

टिप्पणी—२ पूर्व 'अंगद संमत' ऐसा कहा और यहाँ 'युवराज' पद दिया। भाव यह कि पूर्व सेनामें अङ्गद सेनापति थे और दूसरा कोई इस नामका न था और यहाँ किष्किन्धामें इस समय असंख्य वानर हैं, उनमें न जाने कितनेका नाम अङ्गद होगा। अतः यहाँ 'युवराज' कहा, जिसमें यह न पूछना पड़े कि कौन अङ्गद? क्योंकि इनके आनेकी तो अभी सूचना थी ही नहीं। पुनः इन्होंने हुक्म दिया कि फल खा लो। राजाका हुक्म चलता है, इसीसे सबने खाया। यह कहकर अङ्गदका दोष दिखानेके लिये 'युवराज' कहा।

नोट—२ वाल्मी० स० ६२ में मधुवनके दारोगा दधिमुखने सब रक्षकोंसे कहा है कि सब दोष हम लोग अङ्गदपर डालेंगे जिससे अमर्षी सुग्रीव सबको दण्ड देंगे, यथा—'**सर्वं चैवांगदे दोषं श्रावयिष्यामि पार्थिवे। अमर्षी वचनं श्रुत्वा घातयिष्यति वानरान्॥ ३२॥ घातयिष्यति दण्डेन सुग्रीवः ससुहृज्जनान्॥ ३३॥ वध्या ह्येते दुरात्मानो नृपाज्ञापरिपन्थिनः। अमर्षप्रभवो रोषः सफलो नो भविष्यति॥ ३४॥**' अर्थात् सुग्रीवजी इसे नहीं सह सकेंगे; वे इन सबोंको बन्धु-बान्धवोंसहित मार डालेंगे, इनके मार डाले जानेपर हम लोगोंका यह अक्षमाजन्य क्रोध सार्थक होगा।—अतएव 'युवराज' अङ्गदका नाम लिया। 'युवराज' पदसे यह भी जनाया कि युवराज-पदके अभिमानमें अपना मालिकपना दिखानेके लिये उन्होंने मधुवन उजाड़ा। इनका नाम इससे भी लिया होगा कि इससे सुग्रीवको बालिकी शत्रुता स्मरण हो आयेगी और वे मधुवनके मिष इनको मारकर निष्कण्टक होनेकी चेष्टा अवश्य करेंगे।

वि० त्रि०—मधुवनके रखवारोंने जब बंदरोंको रोका, तो वे रुके नहीं, घूँसा चलाने लगे। रखवारे भाग खड़े हुए। उन सबोंने जाकर सुग्रीवके यहाँ पुकार मचायी कि युवराजने वन उजाड़ डाला। अङ्गद न कहकर युवराज कहनेका भाव यह कि दूसरा कोई होता तो हम लोग युद्ध करते। पर जब स्वयं युवराज ही उजाड़ रहे हैं, उनपर प्रहार कैसे करें? मना तो किया, पर जब उधरसे घूँसा चलने लगा तो हमलोग सरकारको समाचार देने आये हैं। उन सबोंने आशा की थी कि सुनकर सुग्रीव नाराज होंगे। दण्डविधान करेंगे सो कुछ न हुआ।

लमगोड़ाजी—'**सुनि सुग्रीव हरष**...' इति। नाटकीय विरोधाभास (Dramatic Irony) अति उत्तम है। कहनेवालोंका भीतरी अभिप्राय तो यह है कि सुग्रीवजी अप्रसन्न हों, पर वे उल्टे प्रसन्न होते हैं।

* दोहरा है—(म० चं०)।

टिप्पणी—३ **'सुनि सुग्रीव हरष कपि'...** से जनाया कि जबतक यह समाचार न मिला तबतक सुग्रीवको बड़ी चिन्ता रही। 'प्रभुकाज' का भाव कि वे समर्थ हैं; जिससे चाहते हैं उससे अपना कार्य करा लेते हैं।

नोट—३ ☞ यहाँ उपदेश है कि रामकार्यमें अपने परमप्रिय स्वार्थसम्बन्धी पदार्थकी हानिकी भी परवा न करनी चाहिये।

जौं न होति सीता सुधि पाई। मधुबन के फल सकहिं कि खाई॥ १॥
एहि बिधि मन बिचार कर राजा। आइ गए कपि सहित समाजा*॥ २॥

अर्थ—जो श्रीसीताजीकी सुध न पायी होती तो मधुवनके फल कौन खा सकता? (अथवा, क्या कोई खा सकते?) अर्थात् कदापि नहीं॥ १॥ इस प्रकार राजा मनमें विचार कर ही रहे थे कि वानर समाजसहित आ गये॥ २॥

टिप्पणी—१ **'जौं न होति सीता सुधि पाई।'...** यह अनुमान सुग्रीवजीका बहुत पुष्ट है। इस कथनसे यह जाना गया कि सुग्रीवको मधुवन अत्यन्त प्रिय है। वहाँ किसीको जानेकी आज्ञा नहीं।

२ **'जौं न मधुबन'...'सकहि कि'...** इति। [भाव कि श्रीसीताजीकी सुधि न पायी होती तो मधुवनके फल खाना, मधुपान करना, तो दूर रहा उसकी ओर ताक भी न सकते। यथा—**'दृष्टागतो न सन्देहः सीतां पवननन्दनः।२६। नो चेन्मधुवनं द्रष्टुं समर्थः को भवेन्मम।'** (**अध्यात्मे ५। ५। २६-२७; सुग्रीववाक्यं श्रीरामं प्रति**)]।

शंका—रखवालोंने वनका उजाड़ना कहा, यथा—**'जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज'**, तब सुग्रीवने उससे मधुवन कैसे समझ लिया? समाधान—रखवालोंको पहचानते हैं, जानते हैं, कि ये मधुवनके रक्षक हैं।

३ **'एहि बिधि मन बिचार कर राजा।'...** तात्पर्य कि इस प्रकारके विचार करते हुए शोभाको प्राप्त हुए—मन प्रसन्न हुआ, सोच मिटा; इसीसे **'राजा'** कहा। **'राजृ दीप्तौ'**। पुनः, जब जाना कि रामकार्य कर आये तब जाकर मधुवनमें ही सबसे मिलते, यह नहीं किया; क्योंकि ये **'राजा'** हैं। राजाको ऐसा न करना चाहिये कि दौड़कर सिपाहियोंसे जाकर मिले; यह नीतिविरुद्ध है; इससे न गये। मनमें विचार करते बैठे रहे। (ख)—मनमें विचार करनेका भाव यह कि अनुमान मनमें ही किया जाता है। **'आइ गए'** से जनाया कि बहुत शीघ्रतासे फल खाये और सुग्रीवजीके पास आ गये।

नोट—१ वाल्मी० ५।६३ और ६४ में सुग्रीवजीने विचार यों प्रकट किये हैं—"बिना कार्य किये यह साहस नहीं हो सकता कि वनको उजाड़ दें और रक्षकोंको मारें। निस्संदेह हनुमान्‌हीने पता लगाया है, दूसरेने नहीं। और कोई इस कार्यको सिद्ध नहीं कर सकता, उन्हींमें यह शक्ति और बुद्धि है। उद्योग, बल और ज्ञान भी उनमें हैं। प्रतिष्ठित जाम्बवान् जिसके संचालक, महाबली अङ्गद जिसके नेता और हनुमान्‌जी अधिष्ठाता हों वह दल अन्याय नहीं करेगा। निश्चित है कि उन लोगोंने पता लगा लिया है, तभी हमारे उपभोगके वनमें जाकर वे मधु पान कर रहे हैं बिना श्रीसीताजीको देखे ऐसा कदापि न करते, देवता भी इस वनपर दृष्टि नहीं डाल सकते। और रक्षकोंसे बोले कि हम प्रसन्न हैं कि उन्होंने कार्य करके वनको खा डाला। हम उनके अनुचित व्यवहारको क्षमा करते हैं। तुम जाकर उन्हें शीघ्र भेज दो। दधिमुखके विनम्र वचन सुनकर अङ्गदजी सबको लेकर चल दिये। और इधर सुग्रीव फिर भी वही विचार करते रहे कि अवधि बीत गयी, ऐसी दशामें अङ्गद कभी न लौटते यदि कार्य सिद्ध न होता। इत्यादि। इतनेमें ही सब आ पहुँचे।" मा० त० सु० का मत है कि विचार यह कर रहे हैं कि यह समाचार जाकर श्रीरामजीको सुनाऊँ, कि मधुवनमें जाकर तुरंत वानरोंसे मिलूँ, या सबको साथ लेकर रामजीके पास जाऊँ इत्यादि। ☞ मानसमें ये सब सुग्रीवजी अपने मनमें विचार कर रहे हैं। वाल्मीकीयमें ये विचार उन्होंने श्रीलक्ष्मणजी एवं श्रीरामजीसे कहे हैं।

आइ सबन्हि नावा पद सीसा। † मिलेउ सबन्हि अति प्रीति कपीसा॥ ३॥
पूँछी कुसल कुसल पद देखी। रामकृपा भा काजु बिसेषी‡॥ ४॥

* पायकुलक—(ब्र० चं०)।

† 'मिलेउ प्रीति'—भा० दा०, १७२१, १७६२, छ०। प्रेम—१७०४, कोदवराम, गी०प्रे०। मिले—रा०प्र०, कोदवराम।

‡ 'मिले...'—चण्डी, 'आइ...।', (४), (५) पायकुलक—(ब्र० चं०)।

अर्थ—सभीने आकर (सुग्रीवजीके) चरणोंमें माथा नवाया । कपिराज सुग्रीव सभीसे अत्यन्त प्रेमसे मिले ॥ ३ ॥ और कुशल पूछी । (उन्होंने उत्तर दिया कि) आपके चरणोंके दर्शनसे कुशल है। श्रीरामजीकी कृपासे विशेष कार्य हुआ॥४॥

टिप्पणी—१ **'आइ सबन्हि नावा पद सीसा'''** इति । (क) **'आइ'** का भाव कि जाते समय सुग्रीवके चरणोंमें सिर नवाना भूल गये थे। कारण कि उस समय बड़ा उग्र हुक्म हुआ था, उसे सुनकर प्रणाम करना भूल गये, तुरंत चल दिये । यथा—**'बचन सुनत सब बानर जहँ तहँ चले तुरंत'** । अब जब लौटे तब प्रणाम किया । (ख) पुनः, **'सबन्हि नावा'** का भाव कि पहले केवल अङ्गदादिने प्रणाम किया था; यथा—**सुनहु नील अङ्गद हनुमाना । जामवंत मतिधीर सुजाना ॥''' आयसु माँगि चरन सिरु नाई । चले हरषि सुमिरत रघुराई ॥ ४ । २३ ॥'** और सबने न किया था पर अब आकर सबने प्रणाम किया, कोई न छूटा । (ग) **'मिलेउ अति प्रीति'** का भाव कि वानर आकर सेवक-स्वामि-भावसे चरणोंपर झुके और सुग्रीवने उनको बराबरका मानकर उनसे गले लगाकर भेंट की । क्योंकि ये सब रामकार्य कर लाये हैं; यथा—**'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति असि आहि'** ॥ ६ । २३ ।', **'अति प्रीति'** का भाव कि प्रीति तो सबपर प्रथमहीसे थी, पर अब रामकार्यके सम्बन्धसे **'अत्यन्त'** प्रीति हुई ।

नोट—१ **'मिलेउ सबन्हि अति प्रीति'** इति । **'अति प्रीति'** से सूचित करते हैं कि उन्होंने जो अवधि बिताने और प्राणप्रिय मधुवनके उजाड़नेका अपराध किया था वह सब इस कार्यके आगे क्षम्य और तुच्छ समझकर वे इनके अपराधपर अति प्रसन्न हैं—**'प्रीतोऽस्मि सोऽहं यद्भुक्तं वनं तैः कृतकर्मभिः ॥ मर्षितं मर्षणीयं च चेष्टितं कृतकर्मणाम् ॥** वाल्मी०५।६३।२९-३०।' (यह सुग्रीवजीने दधिमुखसे कहा है) । **'अति प्रीति'** उनके हृदयका महामोद प्रकट कर रहा है—**'उजारे बाग अंगद दिखाए घाय तन में । कहैं कपिराज करि काज आये कीस, तुलसीस की सपथ महामोद मेरे मन में ।'** (क० ४ । ३१) । पुनः, पूर्व जो **'मास दिवस महुँ आएहु भाई । ४ । २२ । ७ ।'** में जो भाव कह आये हैं कि जो सीताजीको देखकर आवेगा वह हमारा **'भाई'** होगा, उससे बढ़कर हमारा प्रिय कोई न होगा, बहुत अपराध करनेपर भी वह **'भाई'**और प्राणप्रिय होगा—**'ततः प्रियतरो नास्ति मम प्राणाद्विशेषतः । कृतापराधो बहुशो मम बन्धुर्भविष्यति ॥** वाल्मी० ४ । ४१ । ४८ ।' उसको **'अति प्रीति मिलेउ'** कहकर यहाँ चरितार्थ किया । अर्थात् इस प्रकार भेंटकर उनको अपना बंधु मान लिया । पुनः, आज इन कृतकर्मा वानरोंद्वारा सुग्रीवकी प्रतिज्ञा सत्य हुई कि—**मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी । सब प्रकार करिहउँ सेवकाई । जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ॥ ४ । ५ ।'**, अतः अत्यन्त प्रीति उमड़ आयी है ।

टिप्पणी—२ शंका—सब वानर रघुनाथजीके पास चले, ऐसा पूर्व कहा गया है, यथा—**'चले सकल रघुनायक पासा'**, तब यहाँ प्रथम सुग्रीवके पास क्यों आये ? समाधान—सुग्रीवके पास प्रथम आये, क्योंकि इससे सुग्रीवकी कीर्त्ति बढ़ेगी, उनकी शोभा इसमें होगी कि वे श्रीसीताजीका समाचार मँगवाकर हाजिर हुए, नहीं तो यही कहा जाता कि वानरोंने खबर लाकर दी और सुग्रीव प्रमादवश घरमें ही बैठे हैं । [यह भी कारण हो सकता है कि सुग्रीवजीने वानर रक्षकोंसे कहा हो कि जाकर सबको शीघ्र मेरे पास भेज दो । उनके कहनेसे सब सीधे तुरंत सुग्रीवजीके पास आये । मानसकविने शीघ्रता दरसानेके कारण यह न लिखा हो । वाल्मीकीय और अध्यात्म आदिके अनुसार दधिमुखसे सुग्रीवने उनको तुरंत भेजनेको कहा है । वह क्षणभरमें वहाँ पहुँच गया और उनसे सँदेसा कहा । यथा—**'प्रहृष्टो मां पितृव्यस्ते सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ शीघ्रं प्रेषय सर्वांस्तानिति होवाच पार्थिवः ।** वाल्मी० ५ । ६४ । ११-१२ ।' दधिमुखने अङ्गदजीसे कहा—'आपके चाचा कपिराज सुग्रीवजीने अत्यन्त प्रसन्न हो मुझसे कहा है कि समस्त वानरोंको शीघ्र मेरे पास भेज दो ।', अतः वे सब तुरंत गये । अथवा, यह भी हो सकता है कि अङ्गदादिने यह विचारकर कि दधिमुख आदि सुग्रीवजीसे शिकायत करने गये हैं वा थे । प्रथम उन्हींके पास चलना उचित है, उनके पास गये ।]

३—यहाँ **'नावा'** एकवचन पद देकर जनाया कि प्रत्येक वानरने आकर प्रणाम किया । पर 'जब एक-एकसे मिले तो बहुत देर लगी होगी ?' यह शंका होती है, क्योंकि यहाँ इसका समाधान कवि या वक्ताने नहीं किया, जैसे रामजीसे मिलनेपर किया है; यथा—**'यह नहिं कछु प्रभु कै अधिकाई । बिस्वरूप ब्यापक रघुराई ।।'** इसका समाधान यह है कि जिनको राजासे मिलनेका अधिकार था वे ही भीतर गये जहाँ राजा बैठे थे, राजा उन सबसे मिले । सब सेना भीतर नहीं जा सकती । नील, नल, अङ्गद, हनुमान्, जाम्बवन्त आदि गये ।

नोट—२ मा० त० सु०—कारका मत है कि यद्यपि श्रीसुग्रीवजी महलमें थे तो भी वानर रक्षकोंके आनेपर वे बाहर दरबारमें आ वनध्वंस सुनकर विचार करने लगे। इतनेहीमें सब आ गये। समूहमें आदरदृष्टिसे देखना और कुशल-प्रश्न करना यही मिलना है। प्रत्येक व्यक्तिसे एक साथ मिलना, यह तो ईश्वरहीका धर्म है, जीवका नहीं; यथा—'**छन महँ सबहि मिले भगवाना ॥ ७ । ६ ।**'—(यहाँ 'सबन्हि' का प्रणाम करना और 'सबन्हि' से मिलना लिखकर, केवल कुछसे मिलनेका निषेध किया है)।

नोट—३ '**पूँछी कुसल कुसल पद देखी**' इति।' कुशल पूछना शिष्टाचार है यथा—'**पूँछी कुसल निकट बैठाई ॥ नाथ कुसल पद पंकज देखे ॥ २ । ८८ ।**' (श्रीरामजीने निषादराजसे पूँछा), '**रामसखहि मिलि भरत सप्रेमा । पूँछी कुसल सुमंगल खेमा । २ । १९५ । कुसलमूल पद पंकज पेखी ।**', '**पूँछी कुसल नाथ अब कुसल देखि पद कंज । सुं० २९ ।**', '**कहु लंकेस सहित परिवारा । कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥ ५ । ४६ ।**', '**बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि**···। ७ । ५ ।' इत्यादि। दूसरे यह रीति अब भी देखनेमें आती है कि किसी दुर्गम कार्यके लिये जब कोई जाता है तब उसके लौटनेपर पूछते हैं—**कहो कुशल तो है ?**' जिसका आशय यह है कि कार्य कुशलतापूर्वक सिद्ध हो गया ? मधुवनका उजाड़ना सुन सुग्रीवके मनमें जो अनुमान उठ रहे थे उनकी शीघ्र पुष्टिके लिये ऐसा प्रश्न उचित ही था।

मा० त० सु०—'**कुसल पद देखी**' यह उत्तर सुग्रीवके '**अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाए । आवइ बनिहि सो मोहि मराए ॥ ४ । २२ ।**' इस वचनपर लक्ष्य करके कहा। तात्पर्य कि कुशल न रहता तो चरणोंका दर्शन कैसे करते ? फिर उनके अभिप्रायको लखकर स्पष्ट कहा कि '**रामकृपा**···'।

टिप्पणी—४ '**रामकृपा भा काजु बिसेषी**' इति। (क) अर्थात् सब कार्य हो गया। ['**काज बिसेषी**' से यह भी सूचित किया कि श्रीहनुमान्‌जी उत्तम दूत हैं। मुख्य कार्यको प्रथम करके जो दूत और भी कई एक कार्योंको, जिनसे शत्रुके बलाबलका ठीक विचार किया जा सके, करके आवे वही दूत वास्तवमें दौत्यकर्मयोग्य और स्वामीके आदेशका यथावत् पालन करनेवाला कहा जा सकता है। यथा—**कार्ये कर्मणि निर्दिष्टे यो बहून्यपि साधयेत् । पूर्वकार्याविरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति ॥** वाल्मी० ५ । ४१ । ५ ।···**परात्मसंमर्दविशेषतत्त्ववित्ततः कृतं स्यान्मम भर्तृशासनम् ॥ ७ ॥**'] यथा—'**प्रभुकी कृपा भयउ सब काजू**'—[सुग्रीवजीकी आज्ञा थी—'**रामकाजु**···। **जनकसुता कहँ खोजहु जाई** । कि० २२ ।', '**रामचंद्र कर काजु सँवारेहु ॥ ४ । २३ ।**' और श्रीरामजीने हनुमान्‌जीसे कहा था कि—'**बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥ ४ । २३ ।**' तथा जामवन्तजीने कहा था कि '**सीतहि देखि कहहु सुधि आई ॥ ४ । ३० ।**' इसके अनुसार 'काजु' केवल इतना ही था श्रीसीताजीको खोजना, उनका दर्शन करके मुद्रिका देना, प्रभुका बल, विरह आदि कहना तथा प्रबोध करना, और शीघ्र लौट आना। वह सब 'काज' विशेषरूपसे हो गया। और कुछ कार्य विशेष भी हुआ जिसके लिये स्पष्ट कहा नहीं गया था। अशोकवन-विध्वंस करना, अक्षकुमार आदि सेनापतियों एवं राक्षसोंको मारना, लंकापुरीको जलाना इत्यादि विशेष कार्य हैं। (ख)—यहाँ वानरोंने रामकार्य होनेमें 'रामकृपा'को ही कारण कहा। उन्होंने श्रीरामकृपाका अनुभव बराबर किया है—प्यासे सब मरने लगे तब स्वयंप्रभाके दर्शन हुए जिसने समुद्रतटपर पहुँचाया; मरण निश्चय कर '**बैठे कपि सब दर्भ डसाई ।**', तब सम्पाती मिला; उससे श्रीसीताजीका पता और आशीर्वाद मिला—'**बचन सहाइ करबि मैं पैहहु खोजहु जाहि ॥ ४ । २७ ।**' हनुमान्‌जीको श्रीरामकृपाका पूर्ण अनुभव सुन्दरकाण्डमें पूर्व बराबर टीकामें दिखाया ही गया है जब-जब वे असमंजसमें पड़े। विभीषणजीका मिलना, त्रिजटाका स्वप्न और राक्षसियोंका हट जाना, नागपाशके मिष रावणतक पहुँचना, राक्षसोंहीद्वारा स्वयं उनके नाशका और लंकादहनका उपाय रचा जाना, स्वयं न जलना और न अशोकवाटिकाका जलना—इत्यादि सब रामकृपासे हुए। अतः उन्होंने सत्य ही कहा। पुनः, रामकृपासे हुआ कहनेका भाव कि रामकार्य सब स्वयं-सिद्ध हैं, हम लोगोंके करनेसे उनकी सिद्धि नहीं हुई, किंतु उन्होंने हमको कृपा करके कार्य सौंपकर हमें मान दिया। यथा—'**स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियऊ ॥ ६ । १७ ।**' (अङ्गदवाक्य), '**जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया ।**···**तासु सुजसु त्रैलोक उजागर ।**'; बिना प्रभुकी कृपाके कार्य सिद्ध न होता।] सुग्रीवसे यह न कहा कि आपकी कृपासे सब काम हुआ, क्योंकि यदि वे ऐसा कहते तो सुग्रीव नाराज होते कि श्रीरामजीको छोड़कर हमको क्यों कहा ? कारण कि वे सब कार्योंकी सिद्धि श्रीरामकृपासे ही मानते-जानते हैं। उनको सब कामोंमें रामकृपाका ही भरोसा रहता है; यथा—'**उपजा ज्ञान बचन तब बोला । नाथ कृपा मन भयो अलोला**', '**अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती । सब तजि भजन करौं दिन राती**', '**यह गुन साधन ते**

नहिं होई । तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई । (ग)—सुग्रीवके सम्मान-हेतु 'चरणोंको देखकर कुशल है' ऐसा कहा । यथा—'**कुसलमूल पद पंकज देखी । मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी**'—(निषादराज) । (घ) सुग्रीवका तन, मन, वचन वानरोंमें लगा हुआ है—'**मिले सबन्हि अति प्रीति कपीसा**' यह तन, '**एहि बिधि मन बिचार कर राजा**' यह मन, '**पूछी कुसल**' वचन हैं ।

नाथ काजु कीन्हेउ हनुमाना । राखे सकल कपिन्ह के प्राना ॥ ५ ॥
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ । कपिन्ह सहित रघुपति पहिं चलेऊ* ॥ ६ ॥

अर्थ—(जाम्बवन्तजीने कहा—) हे नाथ ! (सब) कार्य हनुमान्‌जीने किया और सब वानरोंके प्राणोंकी रक्षाकी ॥ ५ ॥ यह सुनकर सुग्रीवजी उनसे फिर मिले और वानरोंसमेत श्रीरघुनाथजीके पास चले ॥ ६ ॥

नोट—१ दक्षिण जो समाज गया था उसमें सबसे वृद्ध जाम्बवान् ही थे । ये ब्रह्माके अंशावतार और सुग्रीवजीके मन्त्री भी हैं । यह कथन उन्हींका जान पड़ता है । आगे श्रीरघुनाथजीके समीप पहुँचनेपर भी ये ही बोले हैं, यद्यपि सुग्रीवजी साथ हैं । अतएव यहाँ भी इन्हींके वचन समझना चाहिये ।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि '**रामकृपा भा काजु बिसेषी ।**' इस कथनसे फिर भी पूछनेकी अपेक्षा बाकी रही कि कौन कृपापात्र है जिसके द्वारा कार्य हुआ ? उसीपर कहते हैं कि '**नाथ काज**…' अर्थात् इस कार्यसाधनके यशके पात्र श्रीहनुमान्‌जी ही हैं, ये ही वह परम कृपापात्र हैं जिन्होंने वह कार्य किया । (ख)—'**राखे सकल**…' इति । (अर्थात् केवल रामकार्य ही नहीं किया किंतु हमारे प्राण भी बचाये । हम सब भी इनके कृतज्ञ हैं, इनसे उऋण नहीं हो सकते) । सबका जीवन रामकार्यकी सिद्धिके अधीन था । यही बात आगे फिर जाम्बवन्तजी श्रीरघुनाथजीसे कहेंगे, यथा—'**जापर नाथ करहु तुम्ह दाया ।**' से '**पवन तनयके चरित सुहाए । जामवंत रघुपतिहि सुनाए ।**' तक । सुग्रीवजीकी प्रतिज्ञा थी कि '**अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये । आवै बनिहि सो मोहि मराये ।**' सो उसका संयोग आ बना था, अवधि बीत गयी थी, पता न लगा था, अतः सबके प्राण गये ही थे; पर इन्होंने इससे बचा लिया । अतः कहा कि '**राखे सकल**…।' । पुनः '**राखे प्राना**', यथा—'**मन हनुमान कीन्ह अनुमाना । मरन चहत सब बिनु जल पाना ॥ ४ । २४ ।**', वहाँ जल पिलाकर प्राण बचाये थे । और रामकाज होनेसे जन्मका सफल होना श्रीरामजीसे कहेंगे । यथा—'**प्रभु की कृपा भयउ सब काजू । जनम हमार सुफल भा आजू ।**' ☞ यहाँ उपदेश है कि श्रीरामजीका कैंकर्य (सेवा) करनेसे जन्म सुफल होता है । यही उपदेश सुग्रीवजीने प्रथम दिया था, यथा—'**देह धरे कर यह फल भाई । भजिय राम सब काम बिहाई ॥ ४ । २३ ।**' भज सेवायाम् । इस उपदेशका अनुसरण यहाँ दिखाया ।

२ (क) '**बहुरि तेहि मिलेऊ**' इति । पुनः मिलना कार्य करनेका उपकार मानकर हुआ । इससे यह जनाया कि सब वानर प्रिय हैं । प्रिय होनेसे लोग हृदयसे लगाते हैं । हनुमान्‌जी सबसे अधिक प्रिय हैं; इससे उन्हें दो बार हृदयसे लगाया । यदि उनसे पुनः न मिलते तो कृतघ्नता पायी जाती । [पुनः, '**बहुरि मिलेऊ**' क्योंकि कार्यसिद्धि करके अपने वचन—'**सो सीता कर खोज कराइहि**'—सत्य करके हमारी प्रतिष्ठा बढ़ायी और हमारी प्रतिज्ञाको भी सत्य किया '**मिलिहि नाथ मिथिलेस-कुमारी**' । '**सब प्रकार करिहौं सेवकाई**…'—इस प्रकार हमको कृतघ्नतासे बचा लिया । इसी प्रकार पहले भी हमको बचाया था जब हम विषयमें मग्न हो गये थे । यथा—'**रामकाज सुग्रीव बिसारी**' । और मित्रने जो कहा था कि '**सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी ।**', उस पापसे बचा लिया । अतएव कृतज्ञतापूर्वक मिले । (मा० त० सु०)] (ख)—'**रघुपति पहिं चलेऊ**' से जनाया कि पैदल गये । जैसे सब वानर अपनी-अपनी सेनासहित अपने स्वामी श्रीसुग्रीवजीसे मिलने आये थे—'**आइ गए कपि सहित समाजा॥**' वैसे ही सुग्रीवजी सबके सहित अपने स्वामी श्रीरघुनाथजीसे मिलनेको चले । यथा—'**हरषि चले सुग्रीव तब अङ्गदादि कपि साथ । रामानुज आगे करि आए जहँ रघुनाथ ॥ ४-२० ।**' (इस प्रकार पूर्व श्रीरघुनाथजीके पास श्रीलक्ष्मणजीके साथ गये थे । तात्पर्य यह कि वानरोंके राजा सुग्रीव हैं और कपिपतिके राजा रघुपति । '**कपिन्ह सहित**' से जनाया कि सुग्रीवजी आगे हैं ।)

राम कपिन्ह जब आवत देखा । किए काजु मन हरष बिसेषा ॥ ७ ॥
फटिकसिला बैठे द्वौ भाई । परे सकल कपि चरनन्हि जाई ॥ ८ ॥

* 'सुनि…' पायकुलक, 'कपिन्ह…' मनिगुन है । (ब्र० चं०) ।

दो०—प्रीति सहित सब भेंटे रघुपति करुनापुंज।
पूँछी कुसल नाथ अब कुसल देखि पद कंज* ॥ २९ ॥

अर्थ—जब श्रीरामचन्द्रजीने वानरोंको कार्य किये हुए मनमें विशेष आनन्दित आते देखा तब उनके मनमें विशेष हर्ष हुआ ॥ ७ ॥ (गुफा या पर्णशालासे निकलकर) दोनों भाई स्फटिकशिलापर (आकर) बैठे। सब वानर जाकर चरणोंपर पड़े ॥ ८ ॥ करुणाके समूह श्रीरघुनाथजी सबसे प्रीतिसहित मिले और कुशल पूछी। उन्होंने कहा—) हे नाथ ! आपके चरणकमलके दर्शन पानेसे अब कुशल है ॥ २९ ॥

टिप्पणी—१ **'राम कपिन्ह जब आवत देखा···।'** इति। (क)—कार्यसिद्धि होनेसे सबको ऐसा ही हर्ष हुआ है, यथा—**'हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जनम कपिन्ह तब जाना'**, **'सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभु काज'** ॥ तथा यहाँ **'किए काजु मन हरष बिसेषा।'** (ख) श्रीरामजी वानरोंकी राह देखते रहे कि कब वे आवें और जानकीजीका समाचार मिले। इसीसे रामजीका प्रथम देखना लिखते हैं—**'आवत देखी'** वानरोंका उन्हें देखना नहीं लिखा। (ग) **'हरष बिसेषा'** का भाव कि रामजी आनन्दमूर्ति हैं, उन्हें सदा हर्ष रहता है, अब कार्यसिद्धिसे माधुर्यमें उन्हें विशेष हर्ष है।

नोट—१ यहाँ **'मन हरष बिसेषा'** वानरों और श्रीरामजी दोनोंमें लगता है। यह अर्थ उत्तम और विशेष ठीक है। कि० २४ (९) **'जानि काज···'** उपक्रम है और यहाँ **'किए काज···'** उपसंहार है।

टिप्पणी—२ (क) फटिकशिलापर बैठे जिसमें सबसे भेंट करते बने। दूसरे, यहाँ बैठनेसे यह भी जनाया कि इस समय सावकाशसे बैठे हैं; इस समय उनसे मिलनेका मौका है। यथा—**'सावकास सुनि सब सिय सासू। आयउ जनकराज रनिवासू ॥ २। २८१।'** शिष्ट लोग सावकाश देखकर दूसरेके पास आते-जाते हैं। पुनः, इससे यह भी ज्ञात होता है कि वानर श्रीरामजीके पास पहरभर दिन रहे पहुँचे थे। प्रायः सब नित्य-कृत्यसे सावकाश होकर पहरभर दिन रहे श्रीरामजी बैठा करते हैं, यथा—**'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजन बिश्राम। बैठे प्रभु भ्राता सहित दिवस रहा भरि जामु'**। (बा०२१७)। [प्रथम श्रीरामजीका वानरोंको देखना कहा तब दोनों भाइयोंका फटिकशिलापर बैठना कहकर जनाते हैं कि हर्षमें गर्जन करते हुए आये थे, ध्वनि सुनकर श्रीरामजीने देखा कि यहीं आ रहे हैं, अतः बाहर आकर बैठे। वाल्मीकीय और अध्यात्म आदि रामायणोंमें कथामें अन्तर है। वहाँ सुग्रीवजी श्रीरामलक्ष्मणजीके पास ही बैठे थे जब ये सब बानर आये; यथा—**'निपेतुर्हरिराजस्य समीपे राघवस्य च।** वाल्मी० ५। ६४। ४०।', **'राम सुग्रीवयोरग्रे निपेतुर्भुवि सत्वरम् ॥** अध्यात्म० ५।५।३५।'] (ख) **'परे सकल कपि चरनन्हि'** इति।' **'परे'** से जनाया कि लेटकर साष्टाङ्ग दण्डवत् की। सब वानरोंने सुग्रीवजीके चरणोंमें मस्तक नवाया था, यथा—**'आइ सबन्हि नावा पद सीसा।'** और श्रीरामचन्द्रजीको सबने साष्टांग दण्डवत् की, यह विशेषता है। पुनः, सुग्रीवके चरणोंके लिये **'कंज'** विशेषण नहीं दिया और यहाँ **'पदकंज'** कहा, यह विशेषता है। पुनः, जब यहाँसे गये थे तब व्यग्रचित्त थे, इससे उस समय आतुरतामें केवल मस्तक नवाकर चले गये थे—**'आयसु माँगि चरन सिरु नाई'**; और अब स्वस्थचित्त हैं, अतः अब साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। (ग) **'चरनन्हि जाई'** कहा। **'जाई'** पदसे दरसाया कि कविकी बुद्धि सेवकोंके साथ है, रामजीके साथ होती तो **'आई'** कहते। वे अपनेको श्रीहनुमान्‌जी आदिके साथ जना रहे हैं।

३ **'प्रीति सहित सब भेंटे···'** इति। (क) प्रीतिसहित भेंट की, क्योंकि सबको अपना मानते हैं; यथा—**'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे ॥ ७। ८। ७।'** [पुनः, सबका मन रामकार्यमें लवलीन रहा है, यथा—**'रामकाज लवलीन मन बिसरा तनकर छोह ॥ ४। २३।'**; उसपर भी कार्य करके आये हैं; प्राणप्रिया श्रीजनकनन्दिनीजीका समाचार लाये हैं और सेवक श्रीसरकारको अतिप्रिय है ही, यह स्वयं उन्होंने श्रीमुखसे कहा है—**'मोरे अधिक दासपर प्रीती। ७। १५।'** **'मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं। ७। ८६।'**—अतएव **'प्रीतिसहित भेंटे'**। पुनः **'प्रीति-सहित'** भेंटका कारण कवि स्वयं बतलाते हैं कि वे **'रघुपति'** (जीवमात्रके एवं रघुकुलके स्वामी) हैं और **'करुनापुंज'** हैं।] (ख) **'सब भेंटे'**। लाखों वानरोंसे एक ही साथ कैसे मिले ? इसका समाधान वक्ता पहले ही कर आये हैं; वही समाधान यहाँ भी कर लें। भगवान् राम शक्तिमान् हैं। जितने वानर-भालू आये हैं उतने ही रूप धारणकर उन सबोंसे एक साथ एक ही समय क्षणमात्रमें प्रभुने भेंट कर ली। यहाँ

* ब्र० चं०—(७) (८) पायकुलक; २९ दोहरा है।

उनका ऐश्वर्य दिखाया है। यथा—'**अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछी नाहीं। यह कछु नहिं प्रभु कइ अधिकाई। बिस्वरूप ब्यापक रघुराई** ॥ ४ । २२ ।' तथा '**मिलेउ सबन्हि अति प्रीति कपीसा** ५ । २९' (३) देखिये पुनः यथा—**प्रेमातुर सब लोग निहारी। अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला** ॥ ७ । ६ ।' (ग) '**करुनापुंज**' का भाव कि जो मुनियोंको ध्यानमें भी दुर्लभ हैं वे ही वानरोंसे भेंट कर रहे हैं। भेंटमें करुणा ही प्रधान है, यथा—'**मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद** ॥ ६ । ११६ ।' (घ) '**कुसल देखि पद**' यथा—'**अब पद देखि कुसल रघुराया**'। दोहा २९ (४) देखिये।

प० प० प्र०—दोहेके प्रथम चरणमें एक मात्रा कम रखकर जनाया कि श्रीरघुनाथजी सत्त्वभावापन्न हो गये। इस भावकी पुष्टि '**करुनापुंज**' शब्दसे होती है। यह भाव दरसानेके लिये जान-बूझकर मात्रा कम की गयी, नहीं तो '**भेंटेउ**' लिखकर मात्रा पूरी कर सकते थे। '**पुंज**'-'**कंज**' यह तुकान्तकी विषमता भी आश्चर्यका भाव प्रकट करती है। '**प्रभु तरुतर कपि डारपर ते किय आपु समान** ॥ १ । २९ ।' यह वचन यहाँ चरितार्थ किया गया।

'**चले हरषि रघुनायक पासा** । २८ । ६ ।' से यहाँतक '**आये कपि सब जहँ रघुराई**' यह प्रकरण है।

'बैदेही कै कुसल सुनाई'—प्रकरण

जामवंत कह सुनु रघुराया। जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया ॥ १ ॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर ॥ २ ॥
सोइ बिजई बिनई गुनसागर। तासु सुजसु त्रैलोक उजागर* ॥ ३ ॥

अर्थ—जाम्बवन्तजी कहते हैं—हे रघुराज! सुनिये। हे नाथ! जिसपर आप कृपा करें। १। उसको सदा ही कल्याण है और निरन्तर उसकी कुशल है। सुर, नर, मुनि सभी उसपर निरन्तर प्रसन्न रहते हैं। २। वही विजयी है, वही विनयी और गुणसागर है, उसीका सुयश तीनों लोकोंमें प्रकाशित रहता है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) '**जामवंत कह**'। यहाँ जाम्बवान्‌जीका नाम कहकर जनाया कि पूर्व जो '**कुसल देखि पदकंज**' कहा गया, वह सब वानरोंकी उक्ति है और यह जाम्बवन्तजीकी उक्ति है। यहाँ जाम्बवन्तजीकी उक्ति कहकर यह भी जनाया कि सुग्रीवसे भी जो वचन कहे गये थे कि '**नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना**' वह भी इन्हींकी उक्ति थी। (ख) '**जापर नाथ करहु तुम्ह दाया**' अर्थात् हम सबोंपर आपकी दया है। आपने करुणा करके हम सबोंको हृदयसे लगाया और कुशल पूछा, यही दया है।

प० प० प्र०—'**सुनु**' एकवचन है पर आगे '**करहु**' '**तुम्ह**' बहुवचनके प्रयोग हैं। श्रीरामजी '**प्रीति सहित सब भेंटे**' थे, इससे सब आनन्दविभोर हो गये। उस आनन्दमें भेदभाव नहीं रह गया—'**ते किये आपु समान**।' समान प्रेमी मित्र परस्पर भाषणमें एकवचनका उपयोग करते हैं। [पर पीछे अपनी चूक समझ गये; सावधान हो गये। श्रीशङ्करजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीभरतजी और श्रीलक्ष्मणजी बड़े सावधान रहते हैं। यथा—'**आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ पाइ पति ते सनेह सावधान रहत**' डरत। वि० २५१।'] शरभङ्गजीने भी ऐसा ही प्रयोग किया है। यथा—**कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला।**···**तब लगि रहहु दीन हित लागी॥ जब लगि मिलौं तुम्हहि तनु त्यागी**। ३।८।१,६।' ['**सुनु**' का प्रयोग अनेक स्थानोंमें आया है। यथा—'**सुनु सर्बग्य कृपा सुखसिंधो**। ७। १८। १।' '**कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी**। ३। ११। १।' इत्यादि प्रेमी पाठक विचार करें]।

टिप्पणी—२ '**ताहि सदा सुनु**···' इति। (क) तात्पर्य कि आपकी दयाका फल 'सदा शुभ और निरन्तर कुशल' है और किसीकी दयासे सदा शुभ और निरन्तर कुशल नहीं हो सकती। यथा—'**सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती** ॥' (४। १२)। (यहाँ निरन्तरसे तात्पर्य 'प्रतिक्षण' वा 'किसी समय अन्तर न पड़नेवाला' से है। कोई 'शुभ' को 'कुशल' का विशेषण मानते हैं अर्थात् शुभकुशल=पारमार्थिक कुशल)। (ख) जब सुर, नर आदिकी स्वार्थसिद्धि न हुई तो वे प्रसन्न नहीं रहते; पर आपकी दया होनेसे ये सब भी प्रसन्न हो जाते हैं। यथा—'**सीतापति सनमुख सुखी सब ठाँव समातो। राम सुहाते तोहि जौं तू सबहि सुहातो। काल करमकुल कारनी कोऊ**

* (१) पायकुलक, फिर क्रमसे १२११,१०,४२, ११५७ वाँ भेद और पंक अवली हैं। (त्र० चं०)।

न कोहातो ॥''' **'होतो मंगल मूल तू अनुकूल बिधातो ।'** (विनय० १५१), **'जा पर कृपा राम कै होई । तापर कृपा करइ सब कोई ॥'** सुर, नर, मुनि—इन तीनकी प्रसन्नतासे मनुष्य तीन ऋणसे छूट जाता है । अथवा 'सुर मुनि' से जनाया कि तीनों गुणोंवाले जीव प्रसन्न रहते हैं—सुरसे रजोगुणी, नरसे तमोगुणी और मुनिसे सतोगुणी ।

नोट—१ श्रीहनुमान्‌जीपर श्रीरामजीकी कृपा हुई थी । उन्हींको **'जानि काज प्रभु निकट बोलावा । परसा सीस सरोरुह पानी । कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी ॥'** इत्यादि । उसीपर लक्ष्य करके जाम्बवन्तजीने ये वचन कहे हैं । वहाँके 'जनजानी' और यहाँके 'करहु तुम्ह दाया' से जनाया कि जिसे आप जन जानकर शरणमें लेते हैं वह तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाता है । यथा—**'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥** भा० ११ । ५ । ४१ ।' अर्थात् हे राजन् ! जो समस्त कार्योंको छोड़कर सम्पूर्ण रूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरण जाता है, वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बीजन अथवा पितृगण किसीका भी दास वा ऋणी नहीं रह जाता ।

टिप्पणी—३ **'सोइ बिजई'** इति । (क) विनयकी शोभा विनयसे है और गुणकी शोभा यशसे; अतएव क्रमसे कहा । पुनः विजयी, विनयी कहकर गुणसागर कहनेका भाव कि वह विजयी और विनयी ही नहीं वरन् सब गुणोंसे पूर्ण हो जाता है । तात्पर्य यह कि हनुमान्‌जीपर आपकी दया हुई, इससे वे सर्वगुणसम्पन्न हो गये (ख) जो-जो गुण देख रहे हैं वही-वही यहाँ कहते हैं—हनुमान्‌जीने लङ्कामें सबपर विजय पायी, अतः 'बिजई' कहा । विजयसे अभिमान हो जाता है, पर इनको अभिमान नहीं है, इनमें विशेष नम्रता है; अतः 'बिनई' कहा । तीनों लोकोंमें इनके लङ्कादहन आदि कर्मोंसे उज्ज्वल यश दीप्तिमान् है, अतः **'त्रैलोक उजागर'** कहा । यथा—'ततस्तु **तं वानरवीरमुख्यं महाबलं मारुततुल्यवेगम् । महामतिं वायुसुतं वरिष्ठं प्रतुष्टुवुर्देवगणाश्च सर्वे ॥'''** देवाश्च सर्वे मुनिपुङ्गवाश्च गन्धर्वविद्याधरकिन्नराश्च । भूतानि सर्वाणि महान्ति तत्र जग्मुः परां प्रीतिमतुल्यरूपाम् ॥ वाल्मी० ५ । ५४ । ४८–५१) ।' पुनश्च—**'अहो खलु कृतं दुष्करं हि हनूमता । ५ । ५५ । ३१ ।'**—देव, मुनि, गन्धर्व, विद्याधर, किन्नर, चारण आदि सभी लङ्कादहनपर हनुमान्‌जीकी प्रशंसा कर रहे थे । मैनाक, सुरसा, सिंहिका और लङ्किनी आदिके सम्बन्धमें इनके बल, बुद्धि, शील आदि देखे; अतः **'गुणसागर'** कहा ।

मा० त० सु०—बिजई=विश्वविजेता । यथा—**'महा अजय संसाररिपु जीति सकै सो बीर । ६ । ७९ ।'** 'बिनई' यथा—**'सोइ पंडित सोइ पारखी सोई संत सुजान । सोई सूर सचेत सो सोई सुभट प्रमान ॥'**—(वै० सं०) ।

प० प० प्र०—इस अर्धालीका भाव **'दोउ बिजई बिनई गुन मंदिर । हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर ॥ ७ ॥** २५ । ७ ।' इस चौपाईसे प्रकट हो जाता है । लव और कुश दोनोंको जैसे 'बिजई, बिनई, गुन-मंदिर' कहा वैसे ही यहाँ हनुमान्‌जीको ये तीनों विशेषण देकर जनाया कि ये भी मानो हरि-प्रतिबिम्ब ही हैं, आपका ही दूसरा रूप हैं ।

प्रभु की कृपा भयउ सबु काजू । जन्म हमार सुफल भा आजू ॥ ४ ॥
नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी । सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी ॥ ५ ॥
पवनतनय के चरित सुहाए । जामवंत रघुपतिहि सुनाए* ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रभु (आप) की कृपासे सब कार्य हुआ । आज हमारा जन्म सफल हुआ ॥ ४ ॥ हे नाथ ! पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जीने जो करनी की वह हजारों मुखोंसे एवं जिनके हजार मुख हैं उन शेषजीसे भी वर्णन नहीं की जा सकती ॥ ५ ॥ जाम्बवन्तजीने पवनपुत्रके सुन्दर चरित रघुपति श्रीरामजीको सुनाये ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) **'प्रभु की कृपा'** का भाव यह कि आप प्रभु अर्थात् समर्थ हैं; अतः आपकी कृपासे कार्य हुआ, नहीं तो हमारे किये न हो सकता । 'हममें इसके करनेकी योग्यता न थी' यही जनानेके लिये दोनों जगह प्रभुकी कृपाको ही प्रधान रक्खा—**'राम कृपा भा काज बिसेषी'** और **'प्रभु की कृपा ''** ।' विशेष २९ (४) में देखिये । (ख) **'सबु काजू'** सीताजीकी सुध मिली, शत्रुका अभिमान भङ्ग हुआ, शत्रुकी सेना मारी गयी, लङ्कादहन इत्यादि । २९ (४) देखिये । (ग) **'जन्म हमार'** अर्थात् हम सब वानरोंको सुग्रीवजीने उपदेश दिया था कि **'देह धरे कर यह फलु भाई ।'''** 'उसीके अनुसार अब रामकार्य करनेपर हम सब अपने जन्मकी सफलता मानते हैं । (घ) **'भा आजू'** । आज सफल होना कहा; क्योंकि कार्य करके आज आकर स्वामीसे निवेदन किया । (नोट—प्रभुने कहा था कि **'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु ।'** 'आना' और 'समाचार कहना' यह आज ही हुआ, यह काम बाकी था सो आज हुआ । अतः **'सफल भा आजू'** कहा) ।

* (४), (५), (६), (७) पायकुलक—(ब्र० चं०) ।

प० प० प्र०—उपदेश—भगवान्‌का कार्य तो उनकी कृपा, उनका प्रताप ही करता है। पर सेवक निमित्तमात्र बनकर अपना जन्म सफल कर लेते हैं और अनायास ही सुयशको प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी—२ **'नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी'** इति। (क) इस कथनसे भक्तके चरित्रकी अनन्तता दिखाकर उसको यथामति कहते हैं। (ख) 'करनी' के सम्बन्धसे 'पवनसुत' कहा। 'करनी' बलसे होती है, पवन बलवान् हैं और ये उनके पुत्र हैं—**'पवनतनय बल पवन समाना'**। करनी=पुरुषार्थ; यथा—**'सुनि संपाति बंधु कै करनी'** (४। ४७), **'करहिं भालु कपि अद्‌भुत करनी'** (६। ४६); **'जूझे सकल सुभट कै करनी'** (१। १७५) तथा यहाँ (ग) **'सहसहुँ मुख'** अर्थात् शेषजी। यहाँ प्रभुका पराक्रम दासके पराक्रमसे अधिक जनानेके लिये 'सहसमुख' कहा क्योंकि पहले कहा है कि प्रभुकी कृपासे सब कार्य हुआ, अतएव प्रभुका पराक्रम अधिक हुआ ही चाहे। प्रभुके चरितके सम्बन्धमें 'शत सहस शेष कहा है; यथा— **'राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई॥ ५। ५६।'** अतएव पवनसुतकी करनीके सम्बन्धमें केवल **'सहसहुँ मुख'** कहा।

३—**'पवनतनय के चरित सुहाए'''।'** इति। (क) यहाँ रुद्रावतार हनुमान्‌जीके चरित हैं, ब्रह्मावतार जाम्बवान्‌जी वक्ता हैं और भगवान् श्रोता हैं। जैसे श्रोता, वैसे ही वक्ता और वैसा ही चरित है, सब यथायोग्यका सम्बोधन जुट गया है। यथा—**'श्रोता बक्ता ग्याननिधि कथा राम कै गूढ़। १। ३०।'** जैसे रामचरित गूढ़, वैसे ही भक्तचरित गूढ़। [(ख) मा० त० सु० 'सुहाये' का भाव कि प्रथम ही यात्रामें प्रभुकी कार्यसिद्धि, शत्रुमानमर्दन इत्यादि अपूर्व यश प्राप्त हुआ, अतएव चरित सुन्दर हुआ]। (ग) **'जामवंत रघुपतिहि सुनाये।'** अपना पुरुषार्थ अपने मुखसे कहनेमें हनुमान्‌जीको संकोच होता है; अतः जाम्बवन्तजीने सुनाया। ये सुन चुके हैं। इन सबोंके पूछनेपर उन्होंने कहा था, यथा—**'पूछत कहत नवल इतिहासा।'**

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—किष्किन्धाकाण्डके २९-३ अर्थात्—**'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना॥'** से लेकर यहाँतक हनुमच्चरित है। इसके वक्ता जाम्बवान्‌जी तथा श्रोता साक्षात् रामजी हैं। प्रवर्षणगिरिपर कथा हुई। अत्यन्त संकटके समय ही इसके अनुष्ठानका विधान है, नहीं तो मनोरथ-सिद्धिके लिये किष्किन्धाकाण्ड यथेष्ट है।

सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि हियँ लाए॥ ७॥
कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की*॥ ८॥

अर्थ—(श्रीपवनतनयके सुन्दर चरित) सुनते ही वे (चरित और चरितनायक हनुमान्‌जी) कृपासागर श्रीरामजीके मनको अत्यन्त भले (प्रिय) लगे। उन्होंने हर्षित होकर पुनः श्रीहनुमान्‌जीको हृदयसे लगा लिया॥ ७॥ हे तात! कहो; जानकी किस प्रकार रहती और अपने प्राणोंकी रक्षा करती हैं? (अर्थात् ये दोनों बातें असम्भव-सी जान पड़ती हैं)॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) **'सुनत कृपानिधि'''** इति। पुनः हृदयसे लगाया, यह कृपा है; अतः 'कृपानिधि' विशेषण दिया। 'कृपानिधि' इससे भी कहा कि **'स्वयंसिद्ध सब काज'** हैं फिर भी दासोंको ही बड़ाई देते हैं। यथा—**'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूँछेहु रघुराई॥ ३। १३॥'** (ख) 'पुनि' अर्थात् एक बार सब वानरोंके साथ आनेपर ही मिल चुके थे, अब उपकार मानकर पुनः मिले, संजीवनी बूटी लानेपर कहा है कि प्रभु अत्यन्त कृतज्ञ हैं, इसीसे कार्य कर लानेपर वे हनुमान्‌जीको हृदयसे लगाकर भेंटे, यथा—**'हरषि राम भेंटेउ हनुमाना। अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना॥ ६। ६१।'** (ग) प्रथम जब सब वानरोंके साथ भेंट की तब प्रभुको 'करुनापुंज' कहा था—**'प्रीतिसहित सब भेंटे रघुपति करुनापुंज'**। और जब यहाँ पृथक् भेंट की, तब 'कृपानिधि' कहा। इस भेदका तात्पर्य यह है कि और सबोंसे इनपर कृपा अधिक है, जैसे 'पुंज' से 'समुद्र' विशेष है। (घ) **'अति भाये'** का भाव कि अपना चरित (जो जाम्बवन्तजीने कहा था—**'जापर नाथ करहु तुम्ह दाया'** से **'जन्म हमार सफल भा आजू'** तक वह) 'भाया' और हनुमच्चरित (**'नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी'** इत्यादि) 'अति' भाया। जैसे हनुमान्‌जीको रामचरित 'अति भाया' था। यथा—**'जामवंतके बचन सुहाए। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए॥ ५। १।'** ☞ यहाँ स्वामी-सेवककी अन्योन्य प्रीति दिखायी है। जाम्बवान्‌जीके वचन ऐसे हैं कि श्रोताको 'अति' भाते हैं। पूर्व हनुमान्‌जीसे वचन कहे थे जो उनको **'अति भाए'** और यहाँ श्रीरघुनाथजीसे कहे जो इनको **'अति भाए'**। दोनों जगहका मिलान—

* **'कहहु'''** प्रियंवदा और **'रहति'''** पायकुलक भेद हैं। (प्र० चं०)

जामवंतके बचन सुहाये	१ पवनतनयके चरित सुहाये
सुनि हनुमंत हृदय अति भाये	२ सुनत कृपानिधि मन अति भाये
चले हरषि हिय धरि रघुनाथा	३ पुनि हनुमान हरषि हिय लाये

[श्रीहनुमान्‌जी 'अति भाए' ऐसा अर्थ लेनेसे भाव यह होगा कि 'भाए' तो पूर्व ही थे इसीसे निकट बुलाकर इनके सिरपर हाथ रक्खा था और मुद्रिका देकर संदेशा कहा था। यथा—'**जानि काज प्रभु निकट बोलावा। परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी।**…। ४। २३। ९—११।' अब कार्य कर लाये, अतः '**अति भाए**'।]

(ङ) हनुमान्‌जी सीताजीको देख आये हैं, अतः हृदयसे लगाकर उनका वृत्तान्त पूछा। यथा—'**भूप सुमंत्र लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु अधार जनु पाई॥**' (श्रीरामजीके पाससे आनेपर सुमन्तजीको राजाने हृदयसे लगा लिया था)।

२—वानर सुग्रीवजीसे मिले और श्रीरामजीसे भी। वानरोंसे मिलनेमें जो-जो बातें सुग्रीव तथा वानरोंके सम्बन्धमें कही गयी हैं वही सब यहाँ भी देखी जाती हैं। दोनोंका मिलान—

सुनि सुग्रीव हरष…कपि करि आये प्रभु काज	१ राम कपिन्ह जब आवत…किए काजु मन हरष…।
आइ सबन्हि नावा पद सीसा	२ परे सकल कपि चरनन्हि जाई
मिलेउ सबन्हि अति प्रीति	३ प्रीतिसहित सब भेंटे रघुपति
पूँछी कुसल कुसल पद देखी	४ पूँछी कुसल…देखि पदकंज
रामकृपा भा काज बिसेषी	५ प्रभु की कृपा भयउ सब काजू
नाथ काजु कीन्हेउ हनुमाना	६ नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ	७ पुनि हनुमान हरषि हिय लाए

दोहा—☞ 'हरषु १ प्रणाम २ मिलब ३ अरु कुशल प्रश्न ४ भा काज ५ '**काज कीन्ह हनुमान ६ पुनि बहुरि मिले दोउ राज॥ ७॥**'

नोट—१ '**चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना**'। ४। २३।' उपक्रम है और '**पुनि हनुमान हरषि हिय लाए।**' उपसंहार है। मा० त० सु०कार '**केहि भाँति**' को भी एक प्रश्न मानते हैं। किस दशामें हैं? अर्थात् मृतकावस्थामें तो नहीं देख आये? यथा—'**एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महँ आनौं॥** ४। १८।'; पर मेरी समझमें जाम्बवान्‌जीसे चरित सुन चुकनेपर ऐसा प्रश्न हो नहीं सकता।

टिप्पणी—३ (क) '**रहति करति रक्षा**…' इति। अर्थात् राक्षसोंके बीचमें देहका और धर्मका कैसे निर्वाह करती हैं? ऐसा ही विभीषणजीसे प्रभुने पूछा है, यथा—'**खल मंडली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहै केहि भाँती॥** ५। ४६।' (ख) '**करति रक्षा स्वप्रान की**' का भाव यह कि वे तो अत्यन्त सुकुमारी हैं, श्रीअवधमें तो वे कहती थीं कि—'**राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।** २। ६६।' तो अब मेरे वियोगमें प्राणोंकी रक्षा क्योंकर कर रही हैं?

नोट—२ वाल्मीकीयमें श्रीहनुमान्‌जीसे उन्होंने पूछा है कि—'**कथं सा मम सुश्रोणी भीरुभीरुः सती तदा। भयावहानां घोराणां मध्ये तिष्ठति रक्षसाम्॥** ५। ६६। १२। **शारदस्तिमिरोन्मुक्तो नूनं चन्द्र इवाम्बुदैः। आवृतो वदनं तस्या न विराजति साम्प्रतम्॥** १३॥' अर्थात् यह बतलाओ कि मेरी वह सुन्दरी और अत्यन्त भीरु सती सीताजी उन अत्यन्त भयंकर राक्षसोंके बीच किस प्रकार रहती हैं? राक्षसोंसे घिरी हुई उस सतीका मुखमण्डल मेघसे ढके हुए अन्धकारसे युक्त शरद्-चन्द्रके समान शोभायमान न होता होगा?—ये सब भाव '**रहति करति रक्षा**…' के हैं। काशीके एक संस्करणमें '**दुःखाद् दुःखतरं प्राप्य कथं जीवति जानकी**' यह प्रक्षिप्त अर्धश्लोक भी है।

दो०—नाम पाहरू दिवस निसि* ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥ ३०॥

* रात दिनु—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, प्र० चं०, कोदवराम। दिवस निसि—१७०४, गी० प्रे०। हमको 'दिवस निसि' पाठ अच्छा लगता है, इससे यही पाठ इस संस्करणमें दिया है। प्र० सं० में दोनों पाठ दिये थे। दोहा दोहरा मिश्रित है—(प्र० चं०)।

शब्दार्थ—जंत्रित=निबद्ध, स्थापित, नियमित।

अर्थ—(पूछनेपर श्रीहनुमान्‌जीने कहा) आपका नाम रात-दिनका पहरा देनेवाला (रक्षक) है, और आपका ध्यान किंवाड़े हैं। नेत्र अपने चरणोंमें लगाये हैं। (तब बताइये कि) प्राण किस मार्गसे निकल सकें ? (भाव यह कि निरन्तर रात-दिन इसी दशामें बैठी रहती हैं—सिर नीचे किये हुए आपके ध्यानमें निमग्न निरन्तर आपका नाम लेती रहती हैं। जब रात-दिन किंवाड़े लगे और जंजीर, कुंडी लगी रहे, उसपर भी रक्षक निरन्तर पहरा देते रहें, तब कोई कैसे निकल सकता है ?) । ३० ।

नोट—१ वानर (श्रीहनुमान्‌जी) को देखकर श्रीजानकीजी बहुत विस्मित हो गयी थीं, उस समय उनके मनके विचार जो वाल्मीकिजीने दिये वह इस दोहेसे मिलते-जुलते हैं। यथा—**'स्वप्नोऽपि नायं न हि मेऽस्ति निद्रा शोकेन दुःखेन च पीडितायाः। सुखं हि मे नास्ति यतोऽस्मि हीना तेनेन्दुपूर्णप्रतिमाननेन ॥ ५ । ३२ । १० । रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपां च कथां तमर्थमेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि ॥ ११ ॥ अहं हि तस्याद्य मनोभवेन संपीडिता तद्गतसर्वभावा। विचिन्तयन्ती सततं तमेव, तथैव पश्यामि तथा शृणोमि ॥ १२ ॥'** अर्थात् मैं सो थोड़े ही रही हूँ जो स्वप्न देखती। मुझ दुःख और शोकसे पीड़िताको नींद कब आने लगी ? निद्रा तो सुखी लोगोंको आती है। जबसे उन चन्द्रानन (श्रीरामजी) से वियोग हुआ तबसे मुझे सुख कैसा ? इसका कारण तो यह जान पड़ता है कि मैं रात-दिन उनके ध्यानमें रहती हूँ और राम-राम यह निरन्तर रटा करती हूँ। इसीसे मुझे तदनुरूप ही देख और सुन पड़ता है। सदाकी भाँति आज भी उन्हींका ध्यान कर रही थी, मैं तो सदा उन्हींका ध्यान किया करती हूँ...।

२—गीतावलीमें वर्णित श्रीहनुमान्‌जीके वचनोंसे मिलान कीजिये। यथा—**'चित्रसे नयन अरु गढ़ेसे चरन कर मढ़ेसे श्रवन नहिं सुनति पुकारे। रसना रटति नाम कर सिर चिर रहै नित निज पद कमल निहारे। दरसन आस लालसा मन महँ राखे प्रभु ध्यान प्रान रखवारे ॥ ५ । १८ ।', 'तुलसिदास जद्यपि निसि बासर छिन-छिन प्रभु मूरतिहि निहारति। मिटति न दुसह ताप तउ तनुकी यह बिचारि अंतरगति हारति ॥ १९ ॥'**

३ गोस्वामीजीकी **'नाम पाहरू...प्रान जाहिं केहि बाट'** इस उक्तिको गीतावलीमें दी हुई उक्तिसे मिलान कीजिये। कौशल्याजी राम-विरहसे व्याकुल हैं, पर मरती क्यों नहीं ? इसका कारण कवि उन्हींके मुखसे यों सुना रहे हैं—**'लगेइ रहत मेरे नयननि आगे राम लषन अरु सीता। तदपि न मिटत दाह या उर को बिधि जो भयो बिपरीता ॥ २ ॥ दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत तनु न रहै बिनु देखे। करत न प्रान पयान सुनहु सखि अरुझि परी यहि लेखे ॥ ३ ॥'** (२ । ५३)।

☛ उपर्युक्त उद्धरणोंके सब भाव इस दोहेमें भरे हुए हैं। सारांश यह है कि आप पूछते हैं कि वे कैसे जीती हैं ? पर वास्तविक बात यह है कि आपके वियोग-विरहमें उनके प्राण निकल गये होते पर वे क्या करें ? प्राणोंको निकलनेका रास्ता ही नहीं मिलता।

टिप्पणी १—जो दशा हनुमान्‌जीने देखी थी—**'बैठेहि बीति जात निसि जामा।'** से **'निज पद नयन दिए मन राम-चरन महँ लीन ॥ ८ ॥'** तक, वही ज्यों-की-त्यों कह रहे हैं। **'दिवस निसि'** अर्थात् निरन्तर। तात्पर्य यह कि स्नान न करें, न भोजन, न विश्राम, न तुम्हारे ध्यानसे अलग हों, न मनसे पृथक् हों, न नाम छोड़ दूसरी बात बोलें, दृष्टि भी ऊपर नहीं करतीं और न उठती ही हैं, सारी रात और दिन बैठे ही बीत जाते हैं। इस भाँति वे रहती हैं।

२—आपमें उनका प्रेम ऐसा है कि नाम और ध्यान छूटते ही प्राण निकल जाय। इसीसे आपकी मूर्ति और नामका निरन्तर संयोग रखती हैं, पलभर भी वियोग नहीं होने पाता, यथा—**'जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम ॥ ३ । २९ ।'** इस भाँति प्राणकी रक्षा करती हैं। दोनोंका उत्तर हो गया।

३—यहाँ दिखाया कि श्रीजानकीजीके मन, वचन और कर्म तीनों आपमें लगे हैं। **'ध्यान तुम्हार कपाट'** (मन), **'नाम पाहरू दिवस निसि'** (वचन) और **'लोचन निजपद जंत्रित'** (कर्म) है। पदके देवता भगवान् हैं।

४—इस कथनसे श्रीजानकीजीकी अत्यन्त दीन-हीन दशा दर्शित की। **'निज पद नयन दिये मन रामचरन महँ लीन परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन ॥ ५८ ॥'** जो देखा था वही दीन दशा यहाँ कही।

मा० त० सु०—१—निज पद जंत्रित=अपने चरणोंहीके निरीक्षणमें लीन हो रहे हैं।—२ यहाँ **'लोचन निजपद जंत्रित'** पदसे बाह्य-आभ्यन्तर दोनों रक्षामें सावधानतापूर्वक परम दृढ़ता दिखायी। अर्थात् समस्त इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयमें चञ्चल करनेमें केवल नेत्र ही प्रधान होते हैं, वे आपके दर्शनकी प्याससे खुले हुए रहते हैं, उन्हें अन्य दर्शनीय विषयोंसे

रोक अपने चरणोंमें दृढ़तापूर्वक स्थिर किये हुए हैं। पुनः; ३—यहाँ वैराग्य, भक्ति और योग तीनों वर्णित हैं—**'नाम पाहरू'** वैराग्य है (क्योंकि रात-दिन जागना यह वैराग्यका लक्षण है); **'ध्यान तुम्हार'** भक्ति है और **'लोचन निज पद'**...' यह योग है। तात्पर्य यह कि जो इस प्रकार मन, कर्म, वचनसे आपके नामरूपमें लगे रहें उनपर कालका अधिकार नहीं रह जाता। [नोट—पद्मपुराणमें ययाति राजाकी कथा है कि उनके राज्यमें भक्ति ऐसी हुई कि ५ लाख वर्षतक कोई मृत्यु न हुई···(व्यासजी)]—(करु०)।

टिप्पणी—५ **'जाहिं प्रान केहि बाट'** अर्थात् प्राण तो निकलना चाहते हैं पर उन्हें निकलनेके लिये रास्ता ही नहीं मिलता। यह आगे स्पष्ट है—**'अवगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥ नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥'** पुनः; यथा रस-चन्द्रिकायां—**'मनो विलासैः श्वासैश्च प्रियैकाग्र मनोगतिः। कार्येषु यत्र विद्वेषः सा चेष्टा मरणं मतं॥'** इससे मरणावस्था सूचित की। इस भाँति प्राणोंकी रक्षा करती हैं।

नोट—४ नामपर पाहरू, ध्यानपर कपाट और लोचनपर यन्त्रिकाका आरोपण किया। इस प्रकार प्राणपर कैदीका आरोपण समझ लेना चाहिये। यह एक देशविवर्त्तित साङ्गरूपकालङ्कार है। प्राण-रक्षाके लिये जो हेतु कहे गये हैं, वे उत्कर्ष-के कारण नहीं हैं। किसीके प्राण पहरेदार वा ताला लगे कपाटके भीतर बंद रखनेसे नहीं रुक सकते, तो भी उसकी कल्पना करना 'प्रौढ़ोक्ति अलंकार है। (वीर कवि)।

नोट—५ ☞ मनके रोकनेवालोंके लिये यहाँ साधन बताया गया है। मनके रोकनेके लिये ध्यानकी आवश्यकता बतायी गयी और ध्यान स्थिर रहे, टूटने न पावे, इसके लिये नेत्रोंका किसी स्थानपर, जैसे कि नासिकाग्र, भ्रू-मध्य आदि पर, स्थिर करना आवश्यक है। मन और प्राण दोनोंका ऐसा सम्बन्ध है कि एकके रुकनेसे दूसरेकी गति भी रुक जाती है। इसीसे योगमें प्राणायाम बताया गया है। (श्रीगङ्गाधर ब्रह्मचारीजी)।

☞ जैसे रामचन्द्रजीने अल्प अक्षरोंमें बहुतसे प्रश्न किये वैसे ही अल्प अक्षरोंमें इन्होंने सबका उत्तर भी दे दिया।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—किसीको बलपूर्वक रोक रखनेका यह उपाय है कि उसे तालामें बंद कर दे, और पहरा बिठा दे, उसे जानेका मार्ग न मिले, फिर वह नहीं जा सकता। यही काल-वञ्चनका उपाय है। प्राणके ऊपर नामका पहरा बिठा दे। श्वास छोड़नेके समय 'रा' और खींचनेके समय 'म' कहे। रात-दिनमें इस भाँति २१६०० बार श्वासोच्छ्वास चलता है। इस भाँति २१६०० बार नामका जप होता है। इसीको अजपा जप कहते हैं। तबतक जागता रहे, इसी विधिसे नामसे प्राणका साथ न छूटने पावे, तो रातको आप-से-आप न छूटेगा। जिसका जी चाहे करके देख ले। विधि बतलाते हुए पूज्यपाद ग्रन्थ-कार कहते हैं—**'तुलसी 'रा' के कहत ही निकसत सकल विकार। पुनि आवन पावत नहीं देत मकार किवार।'** इसी भाँति मनसे ध्यान सरकारका बनाये रखना किवाड़ देना है, और दृष्टि सदा नीचे अपने पैरोंसे बँधी रखना ताला बंद करना है। जब-तक यह क्रिया अनवरत चलती रहेगी, प्राण जा नहीं सकता। यह बड़ा भारी योगशास्त्रका भेद गोस्वामीजीने हनुमान्‌जीके मुख-से कहलवा दिया। प्रक्रिया कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं है। इसके थोड़ेसे अभ्याससें चमत्कार है, योगनिद्रादि सिद्धियाँ आप-से-आप होती हैं। गुरुमुखसे प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

चित्रशक्ति (Picture force)

श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी—काव्यकी दूसरी शक्ति चित्रशक्ति है। चित्र वह है कि जिसमें चित्रकारकी लेखनी चित्र खींचते हुए समस्त भावोंका फोटो लाकर सामने उपस्थित कर दे, चित्रका प्रत्येक अङ्ग आन्तरिक भावको बता दे। तुलसीदासजीने इस दोहेमें—**'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट'** जिस सुन्दरता तथा सफलतासे अशोकके नीचे रामके स्मरणमें तल्लीन बैठी हुई सीता-जीकी पदपृष्ठपर आँखोंकी टकटकी लगी हुई दशाका चित्र खींचा है, उसे मर्मज्ञ ही समझ सकता है। उन्होंने पञ्चज्ञानेन्द्रियोंमें विशेष कार्य-कर्त्ता श्रवण, नेत्र और जिह्वाको रूपकके बंदीगृहमें कैसा जकड़ा है! जिह्वापर रामनामका पहरा है, अतएव इस मार्गसे प्राणका निकलना अथवा मृत्युका आना कठिन है। इसी भाँति जिह्वा तो रामनामके आनन्दमें लीन है और श्रवण जिह्वासे निकले हुए आध्यात्मिक आनन्दसे पूर्ण उस नामके सुननेमें तल्लीन हैं। (यह स्मरण रहना चाहिये कि अपनी जिह्वाका शब्द चाहे वह कितना ही मंद क्यों न हो, कानोंको अवश्य सुनायी पड़ता है।) आह! फिर यह तन्मयता या पहरा भी किस गजबका है कि **'दिवस-निसि'** दिन-रात रहता है, कोई समय खाली नहीं। आलस्यका कहीं पता नहीं। **'लोचन निज पद जंत्रित'** दृष्टिमें सूत्रकी कैसी सुन्दर जंजीर है! पैरपर तल्लीनताकी टकटकी लगी हुई है। जब मनुष्यका ध्यान अधिक गहराईमें होता है, तब बाह्येन्द्रियाँ इसी प्रकार प्रकट रूपमें एकाग्र हो जाती हैं। टेनिसन (Tennyson) ने भी (Passing of Arthur)

पासिंग अफ आर्थरमें, जब सर बेडीवेर (Sir Bediver) आर्थरकी तलवार फेंकने अथवा छिपानेके सम्बन्धमें सोच कर रहा था तब, लिखा है कि वह (Counting the dew bubbles) ओसकणकी गणना कर रहा था।

अब उन अन्तरेन्द्रियोंको लीजिये जिनके लिये **'ध्यान तुम्हार कपाट'** रामके ध्यान कपाट हैं। दर्शन-शास्त्रका कहना है कि मनुष्य अपने मनसे जिस वस्तुका ध्यान निकाल डाले उसका अस्तित्व वहाँ नहीं रह सकता। भला जब भीतरी और बाहरी इन्द्रियोंको रामके अतिरिक्त किसी और बातको स्मरण करनेका समय ही नहीं, तब फिर मृत्यु बेचारीकी क्या शक्ति है कि इस सदेह तन्मयतामें प्रवेश कर सके ?

☞ ऐसे उत्तम शब्दचित्र उन लोगोंकी भाषाओंमें कितने हैं जो हमारी भाषाको गँवारी भाषा कहनेका दुस्साहस करते हैं ?

☞ उपर्युक्त लेख २८-३० वर्ष हुए लिखा गया था। पीछे श्रीअयोध्याजीमें एक महात्माने बताया था कि भक्तिकी चैतन्य समाधि (योगकी जड़समाधि नहीं) कुछ ऐसी ही होती है। अन्तर केवल यह होता है कि **'निज पद'** के बदले वहाँ **'प्रभु पद'** होता है। यहाँ तो आदि शक्ति है, इससे **'निज पद'** कहा गया क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। यथा—**'गिरा अरथ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥'** वचनकी प्रवीणता (Oratory Rhetoric) का आनन्द ही यह है। प्रश्नके उत्तरमें प्रश्न ही मानो दाँवको लौटा देता है। भगवान्‌ने पूछा **'केहि भाँति रहति ?'** उत्तर दोहा स्वयं कह रहा है—**'प्रान जाहिं केहि बाट ?'** नाटकीकलामें एक सुन्दर गुप्त आनन्द और है—यदि श्रीरामजीके हृदयमें गुप्त शङ्का हो (है नहीं) कि सीताजी तो कहती थीं कि वियोगमें मैं जीती नहीं रह सकती—(**'की तन प्रान कि केवल प्राना'**) तो अब जीती कैसे हैं ! क्या वह दावा झूठ था !' तो भी कुशल दूत और भावमर्मज्ञ उसे जड़से उखाड़ देता है और कहता है कि मरनेकी फ़ुरसत (अवकाश) भी हो उधर ध्यान भी तो जाय !–(संवत् २००४)।

चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही। रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही ॥ १ ॥
नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनककुमारी ॥ २ ॥

अर्थ—चलते समय मुझको चूड़ामणि दिया (यह कहते हुए श्रीहनुमान्‌जीने उसे श्रीरामजीको दे दिया)। श्रीरघुनाथजीने उसे हृदयसे लगा लिया ॥ १ ॥ हे नाथ ! दोनों नेत्रोंमें अश्रु भरकर जनकसुताजीने कुछ वचन कहे ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ **'चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही'** इति। (क) श्रीहनुमान्‌जी लंका जलाकर पूँछ बुझाकर चलनेको तैयार हो विदा होनेके लिये श्रीसीताजीके पास गये और उनसे कुछ चिह्न माँगा। यथा—**'मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा ॥ ५। २७।'**, तब उन्होंने चूड़ामणि दी। परन्तु यहाँ हनुमानजी यह नहीं कहते कि उन्होंने माँगनेपर दिया; कारण कि ऐसा कहनेसे प्रेममें न्यूनता पायी जाती। अतएव उन्होंने इतना ही कहा कि चलते समय दिया। पुनः, भाव यह कि व्याकुलतामें सुध भूल गयी थीं इसीसे माँगनेपर दिया। (ख) **'मोहि चूड़ामनि दीन्ही'** कहकर अपने ऊपर उनकी विशेष कृपा जनायी। क्योंकि बिना कृपापात्रके और किसीको ऐसा पदार्थ नहीं दिया जाता। यथा—**'कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी।'**

२ **'रघुपति हृदय लाइ तेहि लीन्ही'** इति। (क) प्रियका पदार्थ प्रियके तुल्य है, ऐसा जानकर हृदयसे लगाया; यथा—**'कनक बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे ॥ २। १९९।'** (ख) जब सुग्रीवने जानकीजीका वस्त्र दिया था तब उसे हृदयसे लगाकर श्रीरामजीने बड़ा शोच किया था; यथा—**'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा। ४। ५।'**; पर उन्होंने चूड़ामणि पानेपर वह शोक न किया। इसका कारण यह है कि तब उनकी खबर न थी कि कहाँ हैं और व्याकुल भी थे, इससे वस्त्र पाकर अत्यन्त शोकवश हो गये थे। और अब पूरा समाचार मिल गया जिससे बहुत संतोष हो गया है ! इसीसे अब वैसा सोच नहीं किया। (ग) वानरोंके आते ही प्रभु सबसे मिले, कुशल पूछी। जाम्बवन्तने हनुमत्‌चरित कहा, तब प्रभु फिर मिले। यहाँतक कोई मौका चूड़ामणि देनेका न था। इससे जनाया कि श्रीजाम्बवान्‌जीने अथवा वाल्मीकीयके अनुसार वानरोंने किसी चिह्नका दिया जाना अबतक न कहा था, [यद्यपि हनुमान्‌जीने वानरोंसे चूड़ामणिका लाना कह दिया था;—वाल्मी० ५। ५८। १००-१०२ में स्पष्ट कहा है, यथा—**'इत्युक्त्वा तु वरारोहा मणिप्रवरमद्भुतम्। प्रायच्छत'''। १०२।'** यह जाम्बवान्‌जीकी बुद्धिमानी है कि उन्होंने स्वयं उसे न कहा। जिसको उन्होंने अभिज्ञान दिया है उसीका कहना उचित है—यही समझकर न कहा था। नहीं तो प्रभु उसे तभी माँगते।] जब हनुमान्‌जीसे पुनः मिलकर प्रभुने वृत्तान्त पूछा तब हनुमान्‌जीने कब कहकर चूड़ामणिका दिया जाना कहा और उसे श्रीरामजीको दिया। समय जानकर काम करना यह बुद्धिमत्ता है।

३ **'नाथ जुगल लोचन भरि बारी।'** इति । आगे श्रीजानकीजीका दुःख वर्णन करते हैं, इसीसे प्रथम नेत्रोंमें जल भरना कहकर अन्तःकरणका दुःख दिखाया। पुनः, यह जनाया कि वे मन, तन, वचनसे दुखी हैं। हृदयमें दुःख है, वचनसे अपना दुःख कहा है और तनसे प्रणाम किया है । पुनः नेत्रोंमें जल भरना इससे कहा कि आगे जानकीजीके नेत्रोंसे निरन्तर जलका प्रवाह चलता रहना कहेंगे—**'नयन स्रवहिं जल…'** ।

नोट—१ श्रीपंजाबीजीका मत है कि, **'नाथ जुगल'** को सम्बोधन मानकर अर्थ करना चाहिये; क्योंकि स्पष्टरूपसे सीताजीने लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें पूर्व कोई बात नहीं कही है। **'जुगल'** से दोनोंका बोध हो गया! अर्थात् हे नाथ! आप दोनोंसे कहा है। अथवा, 'जुगल' नेत्रोंमें जल भरना इससे कहा कि श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंके दो-दो अपराध किये हैं श्रीरामजीका कहना न माना कि साथ न चलो, दूसरे उनको हिरणका चर्म लानेको कहा । और लक्ष्मणजीको दुर्वचन कहे और उनकी खींची हुई रेखाके बाहर निकल आयीं।

टिप्पणी—४☞ जो वचन कहे उन्हें आगे लिखते हैं—**'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।'** अर्थात् 'अनुजके समेत प्रभुके चरण पकड़कर प्रणाम किया', ऐसा कहनेको कहा है। प्रणाम करनेको नहीं कहा। यह नहीं कहा कि तुम अनुजसहित प्रभुके चरण पकड़ना किन्तु यह कहा कि **'कहेहु तात अस मोर प्रनामा।'** यदि वे हनुमान्‌जीसे प्रणाम करनेको कहतीं तो वे अवश्य श्रीजानकीजीकी ओरसे प्रणाम करते और, वहाँ पाठ होता **'करेहु तात अस मोर प्रनामा'** । **कहेहु तात अस मोर प्रनामा'** उपक्रम है और **'बचन कहे कछु जनककुमारी'** उपसंहार है। उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें कहना ही लिखा।

५ **'बचन कहे कछु'**। 'कछु'का भाव कि मारे व्याकुलताके दुःख विस्तारसे न कहते बना। यथा—**'कहि प्रनामु कछु कहन लिय सिय भइ सिथिल सनेह। थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह ॥ २। १५२।'** अथवा, वस्तुका चिह्न (चूड़ामणि) देकर फिर कुछ वचनकी चिन्हारी कही। अर्थात् कुछ वचन कहे जो चिह्नरूप हैं, जिनसे आपको विश्वास हो कि मैं उनके पास गया था—वह जयन्तकी कथा है, जो आप दोनों ही जानते हैं, दूसरा नहीं।

नोट—२ **'बचन कहे कछु'** यथा अध्यात्मे—**'इत्युक्त्वा सा शिरोरत्नं चूडापाशेस्थितं प्रियम्। दत्त्वा काकेन यद्वृत्तं चित्रकूटगिरौ पुरा ॥ ५। ५। ५३। तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी।'** अर्थात् केशपाशमें स्थित अपनी प्रिय चूड़ामणि दी और चित्रकूटमें काकके साथ जो कुछ हुआ वह सुनाकर नेत्रोंमें जल भरकर कहा। श्रीसीताजीने जो कहा था कि—**'तात सक्रसुत कथा सुनाएहु। बानप्रताप प्रभुहि समुझाएहु ॥ ५। २७,'** वह मानसमें स्पष्ट शब्दोंमें हनुमान्‌जीने नहीं कहा, केवल उसका संकेत कर दिया कि 'कुछ वचन'—चिह्न भी कहे थे।

मा० त० सु०—जयन्तकी कथा रहस्यसूचक है; अतः 'कछु' इतना ही कहकर रहस्यको सूचित कर दिया। क्योंकि वह रहस्य अति गुप्त है जो अत्यन्त निकटवर्ती हो उसीके जानने योग्य है। अतः गुप्त ही कहा।

दीनजी—'जनककुमारी' शब्द साभिप्राय है। इससे व्यञ्जित किया गया कि 'जनककुमारी' अर्थात् जिसका दुःख देखकर आपने धनुष तोड़ा था, उसीने कुछ बातें कही हैं; उनका दुःख दूर कीजिये। **'चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि ॥ देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही ॥'**

अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीनबंधु प्रनतारति हरना ॥ ३ ॥
मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ॥ ४ ॥
अवगुन एक मोर मैं माना *। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना † ॥ ५ ॥

अर्थ—(कहना कि) अनुजसमेत प्रभुके चरण पकड़े (इस प्रकार प्रणाम करते हुए कहा कि प्रभो!) आप दीनबन्धु हैं, प्रणतके दुःखके हरनेवाले हैं। (वा हे दीनबन्धु! हे प्रणतार्तिहरण! ‡ मैं, मन, कर्म, वचनसे आपके

* 'जाना'—रा० प्र०, रा० व० श०, ब्र० चं०।

† ब्र० चं० 'अनुज' पायकुलक, दीनबंधु०' चंद्रवर्तन (४), 'अवगुन०' पायकुलक, 'बिछुरत०' तामरस है।

‡ यह अर्थ पं० रामकुमारजीके मतानुसार है। इस अर्थका कारण वे ऊपर चौ० (२) टिप्पणी ४ में कह चुके हैं। अन्य टीकाकारोंने यह अर्थ किया है कि 'छोटे भाई लक्ष्मणजीके सहित प्रभुके चरणोंको पकड़ना (स्पर्श करना) और कहना कि' । और 'गहेहु' का अर्थ भी यही होता है कि 'तुम पकड़ना।'

चरणोंकी अनुरागिणी हूँ। हे नाथ ! किस अपराधसे मैं त्याग दी गयी ? ॥ ३-४ ॥ मैं मानती हूँ कि मेरा यह एक अवगुण है कि वियोग होते ही प्राण न चलता कर दिया ॥ ५ ॥ (अर्थात् यह अपराध त्यागनेके योग्य है पर मैं आपके दर्शनार्थ जीती हूँ यह समझकर दर्शन दीजिये।

टिप्पणी—१ '**अनुज समेत गहेहु**···' इति। लक्ष्मणजी रामभक्त हैं। भक्तभावसे चरण पकड़े। जैसे भरतजीने कहा है—'**सोक समाजु राजु केहि लेखें। लखनरामसिय-पद बिनु देखें** ॥ २। १७८।' अथवा, स्नेहकी व्याकुलतासे चरण गहे, जैसे वियोग होते देखकर श्रीकौशल्या अम्बाजी श्रीरामजीके चरणोंमें लपट गयी थीं। यथा—'**बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी** ॥ २। ५७।'

नोट—१ लक्ष्मणजीके चरण क्यों पकड़े ? इसका समाधान कई प्रकार लोगोंने किया है। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि उन्होंने अश्रुपूर्ण लोचन होकर कहा कि मेरी कुशल रघुनाथजीसे कहकर लक्ष्मणजीसे कहना कि मैंने जो दुर्वचन कहे, हे कुलनन्दन ! उनको क्षमा करो और जिस तरह श्रीरामजी मेरा उद्धार करनेको उद्यत हों, वह करो।'—'**तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी कुशलं ब्रूहि राघवम्। लक्ष्मणं ब्रूहि मे किंचिद्दुरुक्तं भाषितं पुरा ॥ तत्क्षमस्वाज्ञभावेन भाषितं कुलनन्दन। तारयेन्मां यथा रामस्तथा कुरु कृपान्वितः॥** अ०रा० ५। ५। ५४-५५।' इसके अनुसार चरणस्पर्शसे क्षमा-प्रार्थना और अपनी अति दीन दशा प्रकट की। और समाधान (२) अनुजसमेत तुम (दोनों) प्रभुके चरण पकड़कर कहना। (३) अनुज-समेत जो प्रभु हैं उनके चरणोंको स्पर्श करना अर्थात् जब दोनों साथ हों तब कहना, जिसमें लक्ष्मणजी भी सुन लें (मा० म०, करु०, प्र०)। (४) श्रीजानकीजीने केवल श्रीरामजीसे प्रणाम कहा था, लक्ष्मणजीके चरण-स्पर्श कहनेमें महावीरजीकी चतुराई है। उन्होंने सोचा कि दोनों साथ हैं, यदि अकेले रामजीका ही नाम लूँ तो लक्ष्मणजी कहेंगे कि मेरे लिये माताने कुछ न कहा और यह कहूँ कि माताने मुझे दोनोंके चरणारविन्द छूनेयोग्य समझकर लक्ष्मणजीके भी चरण छूनेको कहा तो अनुचित न होगा। (५) श्रीसीताजी आर्त्त हैं और '**आरत के न रहत चित चेतू।**' आर्त्तके वचनोंमें सँभाल नहीं रहता। अतः ऐसा कहा।

टिप्पणी—२ (क) '**दीनबंधु प्रनतारतिहरना।**' ऐसा कहकर चरण पकड़नेकी विधि है; यथा—'**त्राहि त्राहि आरति-हरन सरन सुखद रघुबीर। अस कहि करत दंडवत देखा** ॥ 'दीनबंधु' अर्थात् मैं दीन हूँ, मेरी सहायता कीजिये, क्योंकि आप दीनोंके सहायक हैं 'प्रनतारति हरना' अर्थात् मैं मन-कर्म-वचनसे चरणानुरागिणी हूँ, शरण हूँ और आर्त हूँ; आप मेरे दुःखको हरण करें। यथा—'**दीजै दरस दूरि कीजै दुख हौ तुम्ह आरत आरति दौन।** गी० ५। २०।'

३—'**मन क्रम बचन चरन अनुरागी**···' इति। (क) मन-वचन-कर्मके उदाहरण क्रमसे ये हैं—'**नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहेउ कछु जनककुमारी** ॥' '**अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।**' (ख) '**कहि अपराध नाथ हौं त्यागी**' का भाव कि आप तो जनका अवगुण मानते ही नहीं, यथा—'**जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।** (७। १); '**अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन**' '**दास दोष सुरति चित रहति न**···' इति विनये, '**रहति न प्रभुचित चूक किए की।** १। २९।' तब मेरा अपराध क्यों देख रहे हैं, मुझसे क्यों रूठ गये हैं जो मेरा शीघ्र उद्धार नहीं करते ? (नोट—वाल्मी० ५। ६७ के '**सुराणामपि दुर्धर्षौ किमर्थं मामुपेक्षतः। ममैव दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः ॥ समर्थावपि तौ यन्मां नावेक्षेते परन्तपौ।**' अर्थात् 'समर्थ और अजेय होकर भी मेरी उपेक्षा कर रहे हैं इससे जान पड़ता है कि निःसन्देह मेरा ही कोई बड़ा पाप वा अपराध है।'—इसका भाव इस अर्धालीमें है।) ☞ जैसा हनुमान्‌जीसे सीताजीने कहा था वैसा ही उन्होंने रामजीसे कहा; यथा—

चूड़ामनि उतारि तब दयऊ	**१ चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही**
कहेहु तात अस मोर प्रनामा	**२ अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना**
दीनदयाल बिरद सँभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी	**३ दीनबंधु प्रनतारति हरना ॥**

टिप्पणी—४ '**अवगुन एक मोर मैं माना**···' इति। (क) 'मैं माना मैं स्वीकार करती हूँ क्योंकि मैंने प्रथम कहा था कि '**राखिय अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।** (२। ६६)' और उसे करके न दिखाया। अपराध करके उसे न माने यह बड़ा दोष है। अपराध होनेपर उसे मान ले अतः कहती हैं कि 'मैं माना।' अवगुण और अपराध पर्याय हैं। यहाँ '**अवगुन एक मोर मैं माना**' कहा है और आगे उसीके विषयमें '**नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा।**' कहते हैं।

नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥ ६॥
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहि सरीरा॥ ७॥
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी* ॥ ८॥

अर्थ—हे नाथ! वह अपराध नेत्रोंका है कि प्राण निकलनेमें हठ करके (बलात्) बाधक होते हैं॥ ६॥ विरह अग्नि है, शरीर रूई है, श्वास पवन है। शरीर क्षणभरमें जल जाय॥ ७॥ (पर) नेत्र अपने हितके लिये (रूपदर्शनके निमित्त) जल गिराते रहते हैं जिससे विरहाग्निसे देह जलने नहीं पाती॥ ८॥

नोट—१ यहाँ फिर कविका काव्यकौशल स्पष्ट है। २—कृष्णगीतावलीमें गोपिकाओंने श्रीकृष्णविरहमें अपने प्राण न निकलनेका कारण जो दिया है वह इससे मिलता-जुलता है। यथा—'सुनत कुलिस सम बचन तिहारे। चित दै मधुप सुनहु सोउ कारन जातें जात न प्रान हमारे॥ ज्ञान कृपान समान लगत उर, बिहरत छिन-छिन होत निनारे। अवधि जरा जोरति हठि पुनि पुनि, याते तनु रहत सहत दुख भारे॥ पावक-बिरह समीर-स्वास तनु तूल मिले तुम्ह जारनिहारे। तिन्हहिं निदरि अपने हित कारन राखत नयन निपुन रखवारे॥ जीवन कठिन मरन की यह गति दुसह बिपति ब्रजनाथ निवारे। तुलसिदास यह दसा जानि जिय उचित होइ सो कहौ अलि प्यारे॥ ५६॥', 'तुम्ह कहि रहे हमहुँ पचि हारी, लोचन हठी तजत हठ नाहीं। तुलसिदास सोइ जतन करहु कछु बारक स्याम इहाँ फिरि जाहीं॥ ५८॥', 'मोको अब नयन भए रिपु माई। हरि बियोग तनु तजेहि परम सुख ए राखहिं सोइ है बरिआई। बरु मनु कियो बहुत हित मेरो बारहिं बार काम दव लाई। बरषि नीर ये तबहिं बुझावहिं स्वारथ निपुन अधिक चतुराई।...ए हठनिरत दरस लालच बस परे जहाँ बुधिबल न बसाई। तुलसिदास इन्हपर जो द्रवहिं हरि तौ पुनि मिलौं बैरु बिसराई॥ ५९॥' इन उपर्युक्त उद्धरणोंके सब भाव इन अर्धालियोंमें हैं और उसी कविके हैं। गीतावलीमें भी इन अर्धालियोंकी जोड़के वचन हैं जो श्रीसीताजीने श्रीहनुमान्‌जीसे कहे हैं। यथा—'बिरह अनल स्वासा समीर निज तनु जारिबे कहँ रही न कछु सक। अति बल जल बरषत दोउ लोचन दिन अरु रैन रहत एकहिं तक॥ ५। ९।' श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजीसे यह दशा यों कही है—'अतिहिं अधिक दरसन की आरति। रामबियोग असोकबिटप तर सीय निमेष कलप सम टारति। बार बार बर बारिज लोचन भरि भरि बरत बारि उर ढारति। मनहुँ बिरहके सद्य घाय हिये लखि तकि तकि धरि धीरज तारति। तुलसिदास जदपि निसि बासर छिन-छिन प्रभु मूरतिहि निहारति। मिटति न दुसह ताप तउ तनु की यह बिचारि अंतरगति हारति॥ ५। १९।' ☞ इन उद्धरणोंके सब भाव यहाँ गोस्वामीजीने थोड़ेमें कह दिये हैं।

टिप्पणी—१ 'करहिं हठि बाधा।' भाव कि प्राण रहना नहीं चाहते, नेत्र उन्हें हठात् रोके हुए हैं। प्राणोंका यह हाल कहकर फिर शरीरका हाल कहती हैं कि वह विरहाग्निसे जलने नहीं पाता। देह और प्राण दोनों ही सबको परमप्रिय होते हैं; आपके वियोगमें वे दोनोंमेंसे किसीको भी नहीं रखना चाहती हैं; पर करें तो क्या? लाचार हैं। न प्राण निकलने पावें और न देह ही जलने पावे। मिलान कीजिये श्रीदशरथ-वाक्यसे जो उन्होंने विश्वामित्रजीसे कहे हैं; यथा—'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं।'

२—'बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन...' इति। (क) तनको तूल कहनेका भाव कि शरीरका रक्त और मांस तो विरहाग्निसे जल गया, सूखा शरीर बचा हुआ है। शरीरके भीतर विरह और श्वासा हैं, जो उसे जलाते हैं। जैसे रूईके भीतर अग्नि और पवन रहकर रूईको जलाते हैं। (ख) 'छन माहि' अर्थात् काष्ठादिकके जलनेमें कुछ देर लगती है, पर रूईके जलनेमें किंचित् भी विलम्ब नहीं होता। ☞ इन चौपाइयोंमें अपने हृदयकी ग्लानि कहती हैं। विरहाग्निसे शरीर निरन्तर जलता है, ऊर्ध्वश्वास चलती है, दिन-रात अश्रुपात होते हैं, प्राण निकलना चाहते हैं—यह दशा जनायी।

३—'नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी...' इति। भाव कि दर्शनार्थ शरीर रखे हुए हैं, यथा—'रामदरस लगि लोग सब करत नेम उपबास। तजि तजि भूषन भोग सुख जियत अवधि की आस।' इससे सूचित होता है कि रुदनसे विरह कुछ शान्त हो जाता है, अश्रुपात न हो तो विरहाग्निसे मृत्यु हो जाय। विरहाग्नि इतनी तीव्र है कि शरीर क्षण भर रह नहीं सकता। पर उसकी तीव्रताको अश्रु निरन्तर बहकर शान्त कर देते हैं जिससे शरीर नहीं जल पाता, प्राण नहीं निकल पाते; जैसे

* (६), (८) और 'स्वास...।' पायकुलक है, 'बिरह...' चण्डी है।

रूई पानीमें भीग जानेसे फिर कुछ देरतक नहीं जल पाती। बरवै रामायणमें श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीसे यही कहा है; यथा—**'बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ। ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहँ बुझाइ ॥ ५। ३६।'** नोट १ देखिये।

दीनजी—नेत्र रुकावट डालते हैं। उनके ही कारण मृत्यु नहीं हो सकी; क्योंकि वे अपने ही चरणोंको देखती हुई श्रीरामजीके चरणोंका ध्यान कर रही थीं। नेत्र भगवान्‌के चरणोंके ध्यानका लोभ संवरण नहीं कर सकते, इसीसे प्राण नहीं निकले। अर्थात् नेत्रोंद्वारा यदि ये अपने चरणोंको देखकर भगवान् रामचन्द्रजीके चरणोंका ध्यान न करती होतीं तो उनकी मृत्युमें संदेह ही न था। अश्रुद्वारा हृदयको कुछ सान्त्वना मिल जाती है। ध्वनि यह है कि आपके दर्शनके लिये बराबर रोया करती हूँ।

मा० त० सु०—**'छन माहिं'** जलानेका भाव कि उसपर अग्निका सहायक दुःखमय श्वासरूपी पवन सदा प्रवृत्त रहता है।

वीरकविजी—प्राण न निकलनेका कारण श्रीसीताजीने किस मनोहर हेतुसूचक युक्तिसे पुष्ट किया कि इसके अपराधी नेत्र हैं। दर्शनके लाभसे उसे बाहर निकलने नहीं देते। शरीर नहीं जलता क्योंकि नेत्र पानी बहाकर बुझा देते हैं। यहाँ **'काव्यलिंग अलंकार'** है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—**'बिरह अगिनि···बिरहागी'** इति। यहाँ सती होनेका विज्ञान ग्रन्थकारने बतलाया है। विरह-की अग्निके तापसे थोड़ा बहुत तो सभी परिचित हैं पर यह ताप पराकाष्ठाको उसीमें पहुँचता है, जब पति-प्राणाको पति-विरह होता है! श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि यह ताप इतना तीव्र होता है कि शरीरको रूईकी भाँति भस्म कर सकता है। आँसू गिरने-पर तापकी शान्ति हो जाती है। अतः पतिके वियोग होनेपर पत्नीके आँसू न गिरनेपर आज भी लोग सशंक हो उठते हैं। पर यह सब उसीमें सम्भव है, जिससे मानसिक व्यभिचार भी नहीं हुआ हो। अतः पतिकी भावना हृदयमें आनेके पहिले ही विवाह कर देनेका पूर्वकालमें नियम था, जिसमें पतिभावनाके हृदयमें आते ही कन्याका ध्यान अपने पतिपर ही जाय। यह पातिव्रत्य-का पाठशाला था, अब वह कानूनसे तोड़ दिया गया, फिर भी सालमें दो एक दृष्टान्त सती होनेके मिल ही जाते हैं।

जो हो पर यहाँ सतीशिरोमणि सीताजी कहती हैं कि इन आँखोंको दर्शनकी आशा है, अतः ये आँसू गिरा देते हैं जिससे शरीर भींग जाता है और भींगी हुई रूई नहीं जलती।

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भलि दीनदयाला ॥ ९ ॥

दोहा—निमिष निमिष करुनानिधि* जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिय प्रभु आनिअ भुजबल खल दल जीति† ॥ ३१ ॥

अर्थ—श्रीसीताजीकी विपत्ति अत्यन्त विशाल है, हे दीनदयाल! बिना कहे ही भला है। (अर्थात् कहना भला नहीं है। शीघ्र चलकर शत्रुको मारकर ले आइये, बस इसीमें भला है)। ९। हे करुणानिधे! उन्हें पल-पल कल्पके समान व्यतीत होता है। प्रभो! शीघ्र चलिये, और भुजाओंके बलसे दुष्टोंके दलको जीतकर उन्हें ले आइये ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—१ (क) **'अति बिपति बिसाला'**। खल-मण्डलीमें रहना विपत्ति है, उसपर आपका वियोग यह विशाल विपत्ति है। और इसपर भी रावण और राक्षसियोंका उपद्रव यह अति विशाल विपत्ति है। [प० प० प्र० का मत है कि 'रामवियोग ही मुख्य विपत्ति है। खलोंकी बस्तीमें सत्सङ्गविहीन रहना 'विशाल विपत्ति' है और रावणका दुर्वाद सुनना **'अति विशाल विपत्ति'** है।' पं० श्रीकान्तशरणजीने यहाँ शंका उठाकर कि 'कराला' विशेषण न देकर 'बिसाला' क्यों दिया, उसका समाधान यह किया है कि—'कराला' उचित था; पर 'बिसाला' कहा गया क्योंकि यह विपत्ति वियोग-शृङ्गाररूपमें रामस्नेहके कारण है, इसीसे शोभासूचक विशेषण है। जैसा कि रामस्नेहमें देह-त्यागके सम्बन्धसे राजा दशरथकी चिताको भी 'सुहाई' कहा गया है, यथा—**'सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई ॥'** (अ० दो० १६९)।'—पर इस दीनकी समझमें तो यहाँ वस्तुतः 'विपत्ति' के साथ 'बिसाला' और आगे 'बिनहिं' के आनेसे एक प्रकारका अनुप्रास अलंकार है। 'कराला' से अलंकार नष्ट हो जाता। दूसरे, 'बिसाल' इससे कहा कि विपत्ति बहुत दिनोंकी है, बहुत भारी और बड़ी है, और कठिनता तो **'बिनहिं कहे भलि'** इसमें आ गयी; अलगसे 'कराल' शब्द देनेकी आवश्यकता न रह गयी।

* करुनायतन—(कोदवराम)। औरोंमें 'करुनानिधि'।

† 'सीता···' पायकुलक, 'बिनहिं०' तामरस, ३१ दोहरा है। (ब्र० चं०)।

केवल 'कराल' से कठोरतामात्र दर्शित होती है, विशालताका भाव उसमें आ ही नहीं सकता। 'बिपति' के साथ 'कराल' शब्दके प्रयोगका उदाहरण उन्होंने यहाँ नहीं दिया है जिससे हम मिलान कर सकें।] ('बिनहिं कहे भलि' । रावणने कटु वचन कहे, मारनेको दौड़ा, यह बात बिना कहे ही अच्छा है; इसीसे नहीं कहते अथवा, यह बात कहने योग्य नहीं, यह कहकर 'दीनदयाल' विशेषण देनेका भाव यह है कि उनकी दशा बहुत दीन है, आपको सुनकर सहन न होगी; (उसे सुनकर कहीं यहींसे त्रिलोकीका नाश करनेको सन्नद्ध न हो जायँ); मैं ही देखकर व्याकुल हो गया, यथा—'देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलपसम बीता॥', 'परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन', 'देखि दसा व्याकुल हरीस ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो॥ गी० ५। १९।' इसीसे श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीसे कहा था कि—'सुनु हनुमंत अनंत-बंधु करुना-सुभाव सीतलकोमल अति। तुलसिदास यहि त्रास जानि जिय बरु दुख सहौं प्रगट कहि न सकति'-(गी०५।९)।

नोट—१ यहाँ 'दीनदयाल' शब्दमें अगूढ़ व्यंग है।

पाँड़ेजी—सह न सकेंगे; इसीसे अधिक कहना उचित न समझकर एक ही पद 'विशाल' कहकर संक्षेप कर दिया। दूसरा अर्थ—सीताजीकी विपत्ति इतनी भारी है कि उसकी ओर देखकर आपको दीनदयाल न कहना ही अच्छा है। अर्थात् वह अति शीघ्र ही निवृत्त करने लायक है।'

टिप्पणी—२ 'निमिष निमिष करुनानिधि...' इति। (क) 'करुनानिधि' अर्थात् आप करुणाके समुद्र हैं, करुणा करके शीघ्र चलिये। [गीतावलीमें भी 'अति बिपति' कहते समय 'करुनानिधि' सम्बोधन दिया गया है। यथा—'सुनहु राम बिश्रामधाम हरि ! जनकसुता अतिबिपति जैसे सहति । हे सौमित्रिबंधु करुनानिधि मन महँ रटति प्रगट नहिं कहति। निज पद-जलज बिलोकि सो करत नयननि बारि रहत न एक छन॥' (५। १७)।—मानसमें यही दशा ऊपर दोहा ३० में दिखायी गयी है।] निमिष-निमिष कल्पसम बीतता है, अर्थात् वे अत्यन्त व्याकुल हैं; यथा—'देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही'॥ ऐसी व्याकुल हैं कि मुझ देखनेवालेको क्षण कल्पसम बीता, यथा—'सो छन कपिहि कलप सम बीता'। क्षणसे निमिष कम होता है। देखनेवालेको क्षण कल्पके समान और भोगनेवालेको निमिष कल्पसमान बीता। तात्पर्य कि भोगनेवालेको देखनेवालेसे अधिक दुःख होता है। (ख) 'बेगि चलिय' अर्थात् वे मरणावस्थाको प्राप्त हैं, विलंब होनेसे शरीर छूट जायगा। (ग) ☞ विरहकी दश दशाएँ हैं—(१) अभिलाषा। (२) चिन्ता। (३) स्मरण। (४) गुणकीर्त्तन। (५) उद्वेग अर्थात् कुछ भी अच्छा न लगना। (६) प्रलाप। (७) उन्माद (पागल हो जाना)। (८) व्याधि (अर्थात् संताप)। (९) जड़ता (चेष्टारहित हो जाना)। (१०) मरण। यहाँतक जानकीजीकी नौ दशाएँ दिखायीं, दसवीं न कही। इससे सूचित किया कि वह दशा न कहनी चाहिये। (घ) 'भुजबल खलदल जीति का भाव कि शत्रुकी इच्छा युद्धकी है, यथा—'जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई॥ (५। २५)। अथवा जाम्बवान्‌से सुना है कि 'तब निजभुजबल राजिवनयना। कौतुक लागि संग सब सैना॥ 'कपिसेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहिं आनि हैं'। इससे कहते हैं कि 'बेगि चलिय प्रभु आनिअ भुजबल खलदल जीति'॥

नोट—२ 'बेगि' 'प्रभु' 'भुजबल' इति। श्रीजानकीजीका जो संदेशा वाल्मी० ५। ६७। १८-२१ में हनुमान्‌जीने कहा है वह इस उत्तरार्द्धमें आ जाता है। आप 'प्रभु' हैं अर्थात् सुरासुर किसीमें आपके सम्मुख रणमें खड़े रहनेकी शक्ति नहीं है। 'बेगि खलदल जीति' अर्थात् शीघ्र अपने तीक्ष्ण बाणोंसे युद्धमें रावणको मारकर मुझे ले जाइये। पुनः, इन शब्दोंसे यह भी गुप्तरूपसे जना दिया कि रावणको मारकर तो मैं ही श्रीसीताजीको ला सकता था, पर इससे आपके यशमें बट्टा लग जाता। स्वयं अपने पराक्रमसे रावणको बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर श्रीसीताजीको ले आना आपकी परम मर्यादाके अनुकूल होगा। यथा—'कामं त्वमसि पर्याप्तो निहन्तुं सर्वराक्षसान्। राघवस्य यशो हीयेत्त्वया शस्तैस्तु राक्षसैः॥ वाल्मी०५।३७।५७। यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सबान्धवम्। मामितो गृह्य गच्छेत तत्तस्य सदृशं भवेत्॥ न देवगन्धर्वभुजङ्गराक्षसा भवन्ति रामेण समा हि संयुगे॥ ६५।' (श्रीजानकीवाक्य श्रीहनुमान्‌जीके प्रति)। श्रीसीताजीके इन वचनोंको सुनकर उन्होंने उनसे कहा था कि ऐसा ही होगा, आप धैर्य धारण करें। यथा—'हत्वा तु समरे क्रूरं रावणं सहबान्धवम्। राघवौ त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रापयिष्यतः॥५।४०-१६।' उसीके अनुसार वे यहाँ प्रभुसे कह रहे हैं। वाल्मीकीयमें यह संदेश कहा है कि—'बलैः समग्रैर्यदि मां हत्वा रावणमाहवे। विजयी स्वां पुरीं रामो नयेत्तत्स्याद्यशस्करम्॥ यथाहं तस्य वीरस्य वनादुपधिना हृता। रक्षसा तद्भयादेव तथा नार्हति राघवः॥ ५। ६८। १२-१४॥' (अर्थात्) यदि श्रीरामचन्द्रजी रावणको उसकी सेनासहित मारकर, विजय प्राप्तकर मुझे ले जायँ

तो उनकी कीर्ति होगी। जैसे रावण चोरीसे हर लाया उस प्रकार ले जाना उनके योग्य, उनके स्वरूपानुरूप नहीं है। जिस कार्यसे उनका पराक्रम प्रकाशित हो वह उपाय तुम करना। श्रीहनुमान्‌जीने इन सब बातोंके अनुसार ही यहाँ कहा है। यहाँके 'भुजबल' 'खलदल जीति' की जोड़में 'बलैः' और 'समग्रैः हत्वा रावणमाहवे विजयी' शब्द उपर्युक्त उद्धरणमें हैं। अतः वे सब भाव यहाँ गृहीत हैं। पुनः भाव कि बलदर्पित पुरुषोंके बीचमें पराक्रमसे ही काम लेना हनुमान्‌जीको रुचता है (क्योंकि ऐसे लोगोंसे साम, दान और भेदसे काम नहीं चल सकता यह पूर्व कहा जा चुका है), यथा—**'न भेदसाध्यो बलदर्पिता जनाः पराक्रमस्त्वेव ममेह रोचते।** वाल्मी० ५। ४१। ३।'—इसीसे 'भुजबल खलदल जीति' कहते हैं अथवा, श्रीसीताजीके कहनेसे हनुमान्‌जी जानते हैं कि रावण कभी सीताजीको जीतेजी न लौटायेगा। यथा—**'मम प्रतिप्रदानं हि रावणस्य न रोचते। रावणं मार्गते संख्ये मृत्युःकालवशं गतम्॥ ज्येष्ठा कन्याऽनला नाम विभीषणसुता कपे। तया ममेदमाख्यातं मात्रा प्रहितया स्वयम्॥** वाल्मी० ५। ३७। १०-११।' अतएव 'भुज जीति' कहा। पुनः वाल्मी० ६। ३ में हनुमान्‌जीने श्रीरामजीसे कहा है कि- रावण आजकल द्यूतादि व्यसनोंसे मुँह मोड़कर, युद्धके लिये कमर कसे तैयार है। वह सदा जागरूक रहता है और बड़ी सावधानीसे सेनाकी देखरेख किया करता है। यथा—**'स्वयं प्रकृतिसम्पन्नो युयुत्सू राम रावणः। १९। उत्थितश्चाप्रमत्तश्च बलानामनुदर्शने॥ २०॥'**—यह हनुमान्‌जी देख आये हैं, अतः जानते हैं कि युद्ध अवश्य करना होगा, बिना युद्धके काम न चलेगा। इसीसे 'खलदल जीति' कहा।

मा० त० सु०—'नाम पाहरू' से **'जरइ न पाव देह बिरहागी'** तक जीवकी शुद्ध-प्रपत्ति-दशा दिखायी और **'सीता कै अति बिपति...'** से 'खलदल जीति' तक जीवको भगवद्ग्राह्य करानेमें आचार्यकी तत्परता दिखायी। आगे शुद्ध शरणागतरूप जीवको देख श्रीरघुनाथजीका दयालुता-गुण दिखाते हैं। अभिप्राय यह कि जीव जब श्रीकिशोरीजीके सदृश भगवद्विरहमें लीन हो जाय और श्रीहनुमान्‌जीके सदृश शुद्ध आचार्य जीवको भगवत्प्राप्ति करानेमें तत्पर हो जायँ, तब भगवान्‌की कृपा शीघ्र हो।

सुनि सीता-दुख प्रभु सुखअयना। भरि आए जल राजिव नयना॥ १॥
बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही*॥ २॥

अर्थ—श्रीसीताजीका दुःख सुनकर समर्थ और सुखके धाम प्रभुके कमलनेत्रोंमें जल भर आया॥ १॥ वचन, कर्म (शरीर) और मनसे जिसको मेरी गति है, क्या स्वप्नमें भी उसे विपत्ति होनी चाहिये?॥ २॥

टिप्पणी—१ **'सुनि सीतादुख...'** इति। (क) 'प्रभु', का भाव कि समर्थ हैं, पर असमर्थकी तरह दुखी हो गये। भीतरका दुःख बाहर दर्शित हो गया। (ख) 'सुखअयन' का भाव कि आप तो सुखधाम हैं, आपको दुःख कहाँ? पर आप भी भक्तके दुःखसे दुखी हो जाते हैं। यथा—**'तव दुख दुखी सुकृपानिकेता'**। (५। १४); **'तुलसिदास दुखसुखातीत हरि सोच करत मानहु प्राकृत जन।'** (गी० ५-१७)। [पाँड़ेजी कहते हैं कि—सीताजीके दुःखकी बात सुननेके समय 'सुखअयन' विशेषण सुननेमें बेजोड़-सा जान पड़ता है, परन्तु समझनेके योग्य है; क्योंकि यदि प्रभु श्रीसीताजीको अपने वियोगमें सुखी सुनते तो दुखी होते और जब अपने बिना दुखी सुना तब सुखी हुए। सुखकी उमंगमें नेत्रोंमें जल भर आया]। इस तरह 'सुख अयन' कहकर जनाया कि सीताजीका दुःख सुनकर उनकी प्रीति समझकर सुख हुआ; यथा—**'अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी॥'** (ग) 'राजिवनयन' विशेषण कृपाका द्योतक है, यथा—**'राजिवनयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥'** (१। १८), **'देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना।'** (५। ३५), **'देखी राम बिकल कटकाई। रिपु अनीक नाना बिधि आई॥ सुनु सुग्रीव'''। मैं देखउँ खल बल दलहिं बोले राजिवनैन॥** ६। ६६।' **'राजीवलोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी। अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहिं मिले प्रभु त्रिभुवन धनी॥'''बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि'''॥** ७। ५' **'राजीव बिलोचन भवभयमोचन पाहि पाहि सरनहिं आई॥** १। २११।,—३५ (२) देखिये। इससे जनाया कि सीताजीपर कृपा करके दुखी हुए। अथवा हनुमान्‌जीने कहा है कि **'नाथ जुगल लोचन भरि बारी'** इससे आपके भी नेत्रोंमें जल भर आया। क्योंकि आपका वचन है कि—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता)।

प० प० प्र०—**'बचन काय मन मम गति जाही'** इति। श्रीसीताजीकी दीनता और अनन्यगतित्व सुनते ही माधुर्यभाव भूल गये, ऐश्वर्यभाव प्रकट हो गया। 'मम गति' से सूचित हो गया।

* (१), (२), (३) प्रायकुलक है। (त्र० चं०)।

टिप्पणी—२ **'सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही ।'** (क) भाव कि रामानुरागीको विपत्ति नहीं होनी चाहिये। जो भक्त नहीं हैं वे ही विपत्तिमें पड़ते हैं। यथा—**'जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥' 'जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपतिजाल नर परहीं॥ ४।१२।'** (ख) 'सपनेहु' का भाव कि 'जाग्रतिमें विपत्ति है ही नहीं, सुषुप्तिमें तो कुछ खबर ही नहीं रहती, और स्वप्नमें भक्त वही देखता है जो भावना रहती है—तात्पर्य कि कहीं भी किसी अवस्थामें उसे विपत्ति नहीं। अनन्यगतिक तो सदा सुखी रहता है। जब भगवान् प्रत्यक्ष नहीं हैं तब वह उनके ध्यानमें सुखी रहता है, जैसे श्रीसुतीक्ष्णजी। यथा—**'जाग न ध्यान जनित सुख पावा।'** और जब प्रभुका साक्षात् दर्शन प्राप्त होता है, तब तो उसके सुखका कहना ही क्या ? दुःख तो दोनों दशाओंमें नहीं होता।

नोट—**'सपनेहु···'** के अन्य अर्थ ये हैं—१ उससे पूछो कि क्या उसे स्वप्नमें भी विपत्ति है—(पं० रा० कु०)।२—उसके लिये क्या स्वप्नमें भी विपत्ति पूछनी चाहिये ?—(मा० त० सु०)। ३—विचारो तो सही क्या उसे स्वप्नमें भी विपत्ति हो सकती है—(दीनजी)। क्या उसे स्वप्नमें भी विपत्ति समझ सकते हो वा समझनी चाहिये। ४—क्या स्वप्नमें भी उसे विपत्ति समझ पड़ती। (पं० श्रीकान्तशरण)। ५—क्या स्वप्नमें भी उसे विपत्ति पूछ सकती है ? अर्थात् स्वप्नमें भी न होनी चाहिये। इत्यादि। ☞ पर 'बूझिअ' को कविने 'चाहिये' के अर्थमें प्रयुक्त किया है। यथा—**'ऐसी तोहि न बूझिए हनुमान हठीले।'** (विनय ३२)। यही अर्थ यहाँ भी है।

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥ ३॥
केतिक बात प्रभु जातुधान की। रिपुहि जीति आनिबी जानकी॥ ४॥*

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने कहा—हे प्रभो ! विपत्ति वही है कि जब आपका भजन स्मरण नहीं होता॥ ३॥ हे प्रभो ! राक्षसोंकी बात ही कितनी है ? शत्रुको जीतकर जानकीजीको ले आवेंगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ **'बिपति प्रभु सोई ···।'** इति। भाव कि श्रीसीताजी मनकर्मवचनसे चरणानुरागिणी हैं। मनसे चरण-सेवा करती हैं, यथा—**'मन रामचरन महँ लीन।'** वचनसे नामस्मरण करती हैं—'नाम पाहरू।' तनसे चरणसेवा आदि बन नहीं पड़ती, यही विपत्ति है। इसके बाधक राक्षस हैं, सो उन्हें मारकर जानकीजीको ले आवेंगे, बस यह भी विपत्ति मिट जायगी। ☞ हनुमान्‌जीने श्रीसीताजीकी विपत्ति कही और श्रीरामजी सुनकर सजलनयन हुए। अतएव श्रीसीताजीकी विपत्ति निश्चित हुई। और भक्तको विपत्ति न चाहिये, इसीसे हनुमान्‌जीने दो ही बातें कहीं और दोनोंको सिद्ध किया—'स्मरण होता है इससे विपत्ति नहीं है। भजन नहीं होता, यही विपत्ति है।' स्मरण और भजन दो बातें हैं; यथा—**'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥'** (७। ८८)। नामस्मरण 'सुमिरन' है। यथा—**'रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे।'** (१। ६०); **'रामराम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा॥'** (५। ६)। भजन सेवा है—भज सेवायाम्।

नोट—१ अभिप्रायदीपककार लिखते हैं कि **'सहित नाह बिनु पति कहे कहे नाह जुत नाह। सुनि कीसहु पतिजुत कहे रहित रूप दुख छाँह॥ ४०॥'** अर्थात् विपति=बिना पतिका=पतिरहित। श्रीसीताजी तो सदैव प्रभुको हृदयमें बसाये रहती हैं पर हनुमान्‌जी उनको बिना पतिका कहते हैं। उसपर स्वामी श्रीरामजीने कहा कि—**'सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही'** अर्थात् वे तो सदा पतियुक्त हैं, उन्हें विपत्ति कैसी ? प्रभुके वचन सुनकर और उनका आशय समझकर श्रीहनुमान्‌जीने भी उनको पतियुक्त कहा। अर्थात् कहा कि मनसे तो वे सेवा करती हैं पर प्रत्यक्ष सेवा नहीं होती, यही विपत्ति है।

२ श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीताजीको मन, कर्म और वचन तीनोंसे प्रभुके चरणोंमें रत कहा है, यथा—**'नाम पाहरू राति दिनु ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित॥ ३०॥'** और सीताजीके संदेशमें भी यह बात कही गयी है, यथा—**'मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥ ३१। ४।'**—यह सब कहकर अन्तमें श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि **'सीता कै अति बिपति बिसाला।'**—इसीपर श्रीरघुनाथजीका कहना है कि जिसको मन, कर्म, वचनसे हमारी ही गति है, उसको विपत्ति स्वप्नमें भी न होनी चाहिये। इसमें मेरी समझमें दो भाव हैं। एक तो यह कि उसमें विपत्ति कहना विरोधाभास है। क्योंकि केवल मनके ही अनुरक्त होनेसे तनको दुःखका भान नहीं होता, यथा—**'मन तहँ जहँ रघुबर**

* 'केतिक बात···।' प्रियम्वदा, 'रिपुहि···' से (८) तक पायकुलक है।

बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही ॥ २ । २७५ ।' तब जहाँ मन, तन और वचन तीनों रघुनाथजीमें लगे हैं वहाँ तो स्वप्नमें भी विपत्तिका नामनिशान कहाँ हो सकता है ? दूसरे यह कि प्राणप्रिया बड़ी विपत्तिमें है यह सुन प्रभु भी दुःखित हुए और ग्लानिपूर्वक कहने लगे कि सत्य ही उसको हमारे होते हुए विपत्ति न होनी चाहिये थी, शोक है कि मैं अबतक उनको विपत्तिसे न छुड़ा सका ।—यही सोचकर तो **'भरि आए जल राजिबनयना ।'** श्रीहनुमान्‌जी यही दोनों भाव समझे, इसीसे दोनोंके उत्तरमें उन्होंने दो वचन कहे । पहलेके उत्तरमें कहा कि—**'बिपति प्रभु सोई'''।'** और दूसरेके उत्तरमें कहा कि—**'केतिक बात प्रभु'''।'**

शंका—'तब क्या सीताहरणसे लेकर अग्निपरिशोधनतककी विपत्तिको झेलकर भी श्रीजनकनन्दिनीजी विपद्ग्रस्ता नहीं थीं ? अथवा उपर्युक्त प्रसङ्ग भगवतभागवतके मनोविनोदार्थ युक्तिमात्र ही है ?'

किसी महानुभावकी इस शङ्काका टिप्पणी १ में दिया हुआ ही समाधान करके फिर वे० भू० जी लिखते हैं—परंतु लङ्कामें जब तब (यदाकदा) जितनी देरतक कभी रावणके कारण और कभी रावणप्रेरित निश्चरियोंके कारण स्मरण एवं ध्यान छूट जाता है, उतनी देरतक अति विशाल विपत्ति रहती है । भगवद्ध्यान-स्मरणमें लीन अध्यात्मतत्त्वज्ञ महारथियों परम भागवतोंका अनुभव है कि—**'सा हानिस्तन्महच्छिद्रं तद्धि दुःखं महत्तमम् । यदा पुंसो हरेर्नाम विस्मरणं किल जायते ॥** (भक्तिरसायन) ।' हा ! हन्त !! कहाँ तो क्षणमात्रके स्मरण-विस्मरणको महत्तम दुःखका अनुभव किया जाता था और कहाँ आज क्षणमात्र भी समुचित रूपेण सुमिरन-भजन नहीं हो पाता तब भी हमलोगोंको पश्चात्ताप नहीं होता ।

नोट—३ स्मरण रहे कि समस्त प्राचीन प्रामाणिक पोथियोंका पाठ 'तव' ही है, 'तब' पाठ किसीमें नहीं है ।

वि० त्रि०—श्रीहनुमान्‌जी विपत्तिकी परिभाषा बतलाते हैं । जिस समय सुमिरन भजन न हो उसी समयका नाम विपत्ति है । सुमिरन-भजन न होनेका मतलब संसारकी ओर उन्मुख होना है । दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि मनका बहिर्मुख होना ही विपत्ति है । शङ्कर भगवान् कहते हैं कि **'सत हरि भजन जगत सब सपना ।'** 'सपना' का भाव यह है कि सब जगत् क्षणभङ्गुर है । क्षणभङ्गुरका नाश ही होगा, अतः उसमें मन लगानेवालेको पदे-पदे विपत्ति है ।

श्रीनंगे परमहंसजी—'श्रीरामजीका प्रश्न बहुवचनमें अपने भक्तोंके लिये है और हनूमान्‌जीका उत्तर भी बहुवचनमें है; अर्थात् आपके भक्त दो प्रकारके हैं—एक आपके नामका सुमिरन करनेवाले हैं और दूसरे आपका भजन (सेवा) करनेवाले; परंतु इस प्रश्नकी मुख्य कारण श्रीसीताजी हैं; उन्हींके लिये प्रश्न और उत्तर हो रहा है । श्रीहनूमान्‌जी कहते हैं कि जो आपका नाम स्मरण करनेवाले हैं उनके स्मरणमें बाधा पड़ती है तो उनकी विपत्ति वही है और उनके लिये दूसरी कोई विपत्ति नहीं है। पुनः जो आपकी सेवा करनेवाले भक्त हैं । आपकी सेवामें जब बाधा पड़ती है, उनसे आपकी सेवा नहीं होती, तो उनकी विपत्ति वही है और दूसरी विपत्ति उनके लिये नहीं है । अतः जानकीजी सेवा करनेवाले भक्तोंमें हैं । आपकी सेवा उनसे छूटी हुई है । इसलिये उनकी विपत्ति यही है । रह गया जो वे नामका सुमिरन और ध्यान कर रही हैं वह तो श्रीरामजीके वियोगमें कर रही हैं, नहीं तो संयोगमें सिवा सेवाके दूसरी भक्ति नहीं करतीं; क्योंकि संयोगमें उसका मौका ही नहीं है ।'

टिप्पणी—२ **'केतिक बात प्रभु जातुधान की'** इति । यथा—**'देखी मैं दसकंठ सभा सब मोतें कोउ न सबल तौ ॥** गी० ५ । १३ ।' अथवा, आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं; आपके सामने राक्षस क्या चीज हैं ! उनका मारना कुछ बात नहीं है।

नोट—४ **'केतिक'''आनिबी'** इति । इसमें तीन अर्थ और भाव हैं । एक तो यह कि राक्षसोंका नाश करना आपके लिये कोई बड़ी बात नहीं है, यही बात हनूमान्‌जीने श्रीसीताजी और रावणसे कही है, यथा—**'नतु कहँ रघुपति-सायक-रबि तम-अनीक कहँ जातुधान की ।', 'रावन जु पै राम रन रोषे । को कहि सकै सुरासुर समरथ बिसिष काल दसननि ते चोषे ।'**—(गी० ५ । ११, १२), **'रामबान-रबि उएँ जानकी । तम-बरूथ कहँ जातुधान की ॥** ५ । १५ ।'; और आगे स्वयं प्रभुने कहा है—**'जग महँ सखा निसाचर जेते । लछिमन हनइ निमिष महँ तेते ॥** ५ । ४४ ।'—तब चिन्ताकी क्या बात ? आप उन्हें शीघ्र ले आवेंगे । दूसरे यह कि आपकी आज्ञा हो तो आपकी कृपासे मैं ही सबको जीतकर ले आऊँगा । यथा—**'जौ हौं प्रभु आयसु लै चलतो । तौ यहि रिस तोहि सहित दसानन जातुधान दल दलतो ॥ रावन सो रसराज सुभट-रस सहित लंक खल खलतो । करि पुटपाक नाक-नायकहित घने-घने घर बलतो ॥'''**गी० ५ । १३ ।', **'अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई । प्रभु आयसु नहिं''''** (५ । १६) । भाव कि मैं सेवाके लिये तैयार हूँ, आप शोच न करें । तीसरे यह कि हम सब भी साथ चलें, चलकर ले आइये । 'आनिबी' में तीनों भावार्थ हैं ।

सुनु कपि तोहि समान उपकारी । नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी ॥ ५ ॥

अर्थ—(श्रीरामजी बोले) हे कपि ! तेरे समान उपकारी सुर, नर, मुनि कोई भी शरीरधारी नहीं है ॥ ५ ॥

नोट—१ इस चौपाईकी जोड़का श्लोक अध्यात्ममें यह है—'**हनूमंस्ते कृतं कार्यं देवैरपि सुदुष्करम् । उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः ॥ ५ । ५ । ६० ।**' अर्थात् तुमने जो कार्य किया है वह देवताओंसे भी होना कठिन है, मैं इसके बदलेमें तुम्हारा क्या उपकार करूँ—सो नहीं जानता । और, वाल्मी० युद्धकाण्डमें उपकार माननेका कारण यह कहा है कि 'देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस और उरग आदि किसीका भी सामर्थ्य नहीं कि लंकापुरीमें पहुँचकर जीतेजी वहाँसे लौट आ सके और हनुमान्‌जीके अतिरिक्त किसीकी मजाल नहीं, ताब नहीं, शक्ति नहीं कि अकेला उसमें प्रवेश कर सकता । उनके सीताजीका समाचार ले आनेसे मैं तथा बलवान् लक्ष्मण तथा अन्य रघुवंशियोंका धर्म बच गया । मुझे एक बात बहुत खटक रही है कि मैं इस प्रिय संवाददाताको इस कार्यके अनुरूप कुछ भी पारितोषिक नहीं दे सकता । यथा—'**देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् । अप्रधृष्यां पुरीं लङ्कां रावणेन सुरक्षिताम् ॥ ६ । १ । ४ ।...प्रविष्टः सत्त्वमाश्रित्य श्वसन्को नाम निष्क्रमेत् । ५ ।... अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः । वैदेह्या दर्शनेनाद्य धर्मतः परिरक्षिताः ॥ १२॥ इदं तु मम दीनस्य मनो भूयः प्रकर्षति । यदिहास्य प्रियाख्यातुर्न कुर्मि सदृशं प्रियम् ॥ १३ ॥**'—ये ही कारण यहाँ समझना चाहिये ।

टिप्पणी—१ (क) सुर-नर-मुनिका ऋण जगत्‌मात्रपर है । यथा—'**ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ इति मनुः ।**' देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण सबपर रहता है । सो ये तीनों भी तुम्हारे ऋणी हुए । ये भी तुम्हारा प्रत्युपकार नहीं कर सकते (तात्पर्य कि सुर-नर-मुनि सबको रावण दुःख देता है । तुमने उसका मान भङ्ग करके सबको सुख दिया) । ये तीनों विशेष उपकारी होते हैं; और जीव वैसा उपकार करना नहीं जानते । अतएव प्रधान तीन ही लिखे और जितने देहधारी जीव हैं, उनको गौण रक्खा । अभिप्राय यह है कि कपितनसे जो उपकार तुम्हारे द्वारा हुआ, वह सुर-नर-मुनि-तनसे किसीसे नहीं हुआ । अथवा (ख) तुम्हारे समान हमारा उपकारी कोई नहीं है । तात्पर्य यह कि हनुमान्‌जीके '**रिपुहि जीति आनिबी जानकी**' ये वचन सुनकर प्रभु प्रसन्न हो गये । जैसे—'**सब प्रकार करिहौं सेवकाई । जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ॥**' सुग्रीवजीके इन वचनोंको सुनकर प्रभु प्रसन्न हो गये थे । यथा—'**सखा बचन सुनि हरषे कृपासिंधु बलसींव ॥ ४ । ५ ।**' अतः यह कहकर अपनी प्रसन्नता प्रदर्शित की । अथवा, (ग)—जब उपकार करके ईश्वरको ऋणी बनाया तब सुर-नर-मुनिने हनुमान्‌जीको बराबर उपकारी कहा है कि किसने ऐसा काम किया है ? किसको ईश्वरने ऐसा कहा है ?

नोट—२ (क) अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंके उपर्युक्त उद्धरणोंके अनुसार उपर्युक्त टिप्पणी—१ (ख) का भाव अधिक प्रसंगानुकूल जान पड़ता है । भाव यह है कि यह दुष्कर कार्य कोई और कर ही नहीं सकता था; क्योंकि सभी रावणसे भयभीत रहते हैं; दूसरे वे सब स्वार्थी होते हैं; यथा—'**सुर-नर-मुनि सब कै यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥**' और तुमने स्वार्थरहित उपकार किया है । अतएव ऐसा उपकार करनेवाला कोई नहीं । (ख) सुरसे स्वर्गलोक और नर-मुनिसे भूलोक कहे । दोनों लोकोंमें कोई नहीं । पाताललोकको न कहा क्योंकि वे तो शत्रु ही हैं, वहाँ उपकारीका नाम ही कहाँ ?

रा० शं०—कोई ऐसा उपकारी नहीं—सुग्रीव वालीके डरसे मारे-मारे फिरते थे । उनकी प्रभुसे मित्रता कराके उनका दुःख मिटाया । वानर प्यासे मरते थे उनको बचाया । समुद्रतटपर सब अनशनव्रत करने लगे तब समुद्र पारकर लंकामें जाकर सीताजीका समाचार लाकर सबके प्राण बचाये ...।

प्रति उपकार करौं का तोरा । सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥ ६ ॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं । देखेउँ करि बिचार मन माहीं ॥ ७ ॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता । लोचन नीर पुलक अति गाता ॥ ८ ॥

अर्थ—मैं तेरा क्या प्रत्युपकार करूँ (तुम्हारे उपकारके बदलेमें क्या उपकार करूँ ?) । मेरा मन सम्मुख नहीं हो सकता ॥ ६ ॥ हे पुत्र ! सुन, मैं तुझसे उऋण नहीं, मैंने मनमें (खूब) विचारकर देख लिया ॥ ७ ॥ देवताओंके रक्षक प्रभु बारम्बार कपिको देखते हैं, उनके नेत्र सजल हैं और शरीर अत्यन्त पुलकित है (रोमावलि खड़ी है) ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ '**सनमुख होइ न सकत मन मोरा**' इति । भाव कि—(क) उपकार समझकर मन थक जाता है, वहाँ-तक नहीं पहुँचता, तब तनसे क्या कर सकता हूँ ? अथवा, (ख) प्रत्युपकारके योग्य कुछ भी मेरे मनमें आता ही नहीं ।

अथवा, (ग)--जब प्रत्युपकार कुछ भी नहीं बन पड़ता तब लोग लज्जित हो जाते हैं। मैं तुम्हारा कुछ प्रत्युपकार नहीं कर सका, इसीसे मेरा मन सम्मुख नहीं होता। अर्थात् मैं मनसे लज्जित हो रहा हूँ। (घ) यहाँ प्रभुने मन, कर्म, वचन तीनोंसे अपनी हार दिखायी--'**सनमुख होइ न सकत मन मोरा**' (मन है)। '**कपिहि चितव सुरत्राता**' (कर्म है)। **प्रतिउपकार करौं का**'—(वचन है)।

२—'**सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं...**' इति। (क) विचारकर देख लिया; यथा--'**एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥ नाहिंन तात उरिन मैं तोहीं।**' (भरत-वाक्य हनुमान्-प्रति ॥ ७। २।)। पुनः यथा—'**अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि-पुनि रमा। का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहि बानी समा**'। (६। १०६।) (श्रीजानकी-वाक्य हनुमान्-प्रति)। (ख)--ऋणी जब 'ब्योहर' (व्यवहारी) से उऋण नहीं होता तब आँख सामने नहीं कर सकता, यह सब ऋणियोंकी रीति है।

नोट--१ यहाँ कृतज्ञताकी इति है। इनमें गूढ़ ध्वनि यह है कि प्रत्युपकार तो उसके साथ किया जाता है जिसके मनमें कोई इच्छा वर्तमान हो, परन्तु तुम्हारे हृदयमें स्वार्थका लेश भी नहीं है, तब मैं क्या कर सकता हूँ? (वीरकवि)।

२ हनुमन्नाटकमें प्रभुने कहा है कि मैं चाहता हूँ कि प्रत्युपकारका विचार भी मेरे मनमें न आवे। क्योंकि ऐसा विचार करना मानो यह मनाना है कि जिसने हमारे साथ उपकार किया, वह भी ऐसी ही विपत्तिमें पड़े, जिसमें हम बदला चुका दें। अतएव 'तोहि उरिन मैं नाहीं' कहकर सूचित करते हैं कि ऐसा कभी भी अवसर न पड़े। यही ठीक है कि मैं ऋणी ही बना रहूँ। (प्र०)

३ कालनेमिका वध करके द्रुहिणगिरि लानेपर ऐसा कहा गया है। यथा—'**एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे। प्रत्यक्षं क्रियमाणस्य शेषस्य ऋणिनो वयम्॥ ३५॥' अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकारार्थमापत्सु लभतां पदम्॥ ३६॥** हनु० ना० १३।' अर्थात् हे वानर! प्रत्यक्ष किये हुए तुम्हारे एक-एक उपकारके बदलेमें मैं प्राण-दान कर दूँ पर शेष उपकारोंके लिये तो मैं ऋणी ही हूँ। अर्थात् लक्ष्मणजीके प्राणदानके बदलेमें मैं तुम्हें प्राण दे दूँ परन्तु समुद्रलङ्घन, सीताशोध आदिके प्रत्युपकार करनेमें मैं असमर्थ हूँ अतः ऋणी हूँ ॥ ३५॥ हे कपिराज! तुमने जो उपकार किये हैं वे मेरे शरीरमें ही जीर्ण हो जायँ, तुम्हारे प्रत्युपकारके लिये आपत्तियोंमें स्थानको न पावें। अर्थात् तुम्हारे शरीरमें कभी आपत्ति ही न हो कि हम उन उपकारोंका प्रत्युपकार करें। यही बात वाल्मीकीयमें उत्तरकाण्ड सर्ग ४० में श्लोक २२ व २३ में कही है, किंचित् शब्दोंका हेर-फेर है, अर्थ वही है।

४—इस कथनसे प्रभुके शील-स्वभाव तथा प्रीतिकी रीतिकी जानकारीमें परम प्रवीणता भी दिखायी है। यथा—'**सुनि सीतापति सील सुभाउ।**...**कपिसेवाबस भये कनौड़े कह्यो पवनसुत आउ। दीबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तूँ पत्र लिखाउ॥** विनय १००।', '**जानत प्रीति रीति रघुराई।**...**प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु तिभुवन तिहुँ काल न भाई। तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई॥** विनय १६४।'—यही प्रेमकनौड़ापन यहाँ भी कहा है।

५ उपकार करनेमें 'सुनु कपि' कहा, क्योंकि कपितनसे उन्होंने उपकार किया है और उऋण न होनेमें 'सुनु सुत' कहा, क्योंकि पिताको पुत्र अत्यन्त प्यारा होता है, वह कभी स्वप्नमें भी नहीं चाहता कि पुत्रपर कोई भी विपत्ति आवे, कभी पुत्रके साथ ऐसी प्रत्युपकारकी भावना उसके जीमें नहीं आनेकी। उसी भावसे 'सुत' सम्बोधन किया। पुनः, यहाँ यह भी दिखाया कि श्रीजानकीजीने उनको 'सुत' मान लिया है, यथा--'**हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना**', '**अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू॥**'; अतएव अब प्रभुने भी सुत मान लिया और उनके दिये हुए आशीर्वादको यहाँ चरितार्थ कर दिया। ☞ स्मरण रहे कि श्रीरघुनाथजीसे प्रथम भेंटमें जो हनुमान्जीने कहा था--'**सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥** ४। ३।', उसमेंसे सेवक तो पूर्व ही मान लिया था--'**सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥** ४। ३।' और सुत अब ऋणी होनेपर मान लिया। इस प्रकार 'सुत' शब्दसे भगवान्ने उस सम्बन्धका समर्थन किया जिस सम्बन्धको महारानीजीने मानकर श्रीहनुमान्जीको आशीर्वाद दिया है। यह महारानीजीका पुरुषकारत्व सिद्ध हुआ।

प० प० प्र०--१ पूर्व ३० (८) में 'कहहु बहुवचनका प्रयोग किया है। अब यहाँसे 'तोरा' 'सुत' 'तोहि' इत्यादि एकवचनके प्रयोग हैं। यह भेद परम प्रसन्नताका सूचक है। यह सिद्धान्त प्रभु-नारद-संवाद (अरण्यकाण्डमें स्पष्ट) किया है। 'सुत' शब्दसे दोनोंकी समानता बतायी गयी—'**आत्मा वै पुत्र नामासि**' (श्रुति)।

२ सुतका जन्म प्रथम माता ही जानती है तब पिता। इसीसे प्रथम श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीको सुत बनाया तब श्रीरामजीने। यह कविका व्यवहार मर्यादा पालन कौशल धन्य है!

मा० त० सु०—(क) यहाँ 'सुत' 'शब्दसे सम्बोधन अतिस्नेहसूचक है। (ख)—'करि बिचार' का भाव कि जन्मसमय देवताओंके वरद्वारा तुम सब कुछ पा ही चुके, फिर किशोरीजी तुमको सब कुछ दे ही चुकीं। अब क्या रहा जो मैं दूँ और फिर तुम सब प्रकारकी वासनाओंसे रहित हो। अतएव उऋण नहीं हो सकता।

टिप्पणी—३ **'पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता'**। (क) बारबार देखनेका कारण यह है कि मन सम्मुख नहीं होता, इसीसे नेत्र भी सम्मुख नहीं होते। देखा कि दृष्टि सामनेसे नीचे हो जाती है। देखकर तुरंत आँख नीची कर लेते हैं। यदि एकबारगी एकटक देखते रहते तो 'चितइ रहे' ऐसा लिखते; यथा—**'रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥ १। २६९।'** (ख) 'पुनि पुनि' अर्थात् एक बार देखा, फिर सिर नीचा कर लिया, फिर देखते हैं फिर दृष्टि नीचे कर लेते हैं; इस प्रकार देखते हैं। तात्पर्य कि आँख सामने जाते ही मनमें लज्जित हो जाते हैं। पुनः, भाव कि देखनेसे तृप्ति नहीं होती, इससे बारंबार देखते हैं। यथा—**'पुनि पुनि प्रभुहिं चितव नरनाहू। पुलकगात उर अधिक उछाहू॥ १। २१७।'** अथवा प्रेमके कारण बारंबार देखते हैं। यथा—**'कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपासिंधु रनधीरहि'** ॥ (७। ७), **'पुनि पुनि रामहिं चितवै सिय सकुचति मन सकुचै न** ॥ बा० ३२६।' उत्तरार्द्धमें प्रेमकी दशा भी दिखाते हैं—'लोचन नीर०'। अतएव सिद्ध हुआ कि प्रेमके मारे बारंबार देखते हैं। (ग) ☞देखिये जिनकी कृपादृष्टिके लिये देवगण तरसते हैं, चाहते हैं कि प्रभु हमारी ओर एक बार कृपादृष्टिसे देख लें, यथा—**'अब करि कृपा बिलोकि मोहि आयसु देहु कृपाल'** इति इन्द्रः। (६। ११२), **'मामवलोकय पंकजलोचन। कृपाबिलोकनि सोच बिमोचन'** ॥ इति नारदः (७। ५१); **'रघुनंद निकंदय द्वंद्वघनं। महिपाल बिलोकय दीनजनं'** ॥ इति शिवः। (७। १४); वे ही रामजी बारंबार हनुमान्‌जीकी ओर देखते हैं कि इसने हमारा बड़ा काम किया, हमारे साथ बड़ा उपकार किया।

४ **'सुरत्राता'** का भाव कि जो प्रभु देवताओंका उपकार कर रहे हैं वे ही कपिके उपकारके वश हो गये।

५ जैसे भक्त भगवान्‌को देखकर पुलकित होता है, वैसे ही भगवान् भक्तको देख-देखकर पुलकित हो रहे हैं। यथा—**'मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई'**॥ (७।५०)। (भक्त)। और यहाँ **'लोचन नीर पुलक अति गाता'**।

दो०—सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत ॥३२॥

बार बार प्रभु चहैं* उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा† ॥ १ ॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर और मुख एवं शरीर देखकर हनुमान्‌जी शरीरसे पुलकित एवं हर्षित और प्रेमसे व्याकुल होकर 'त्राहि त्राहि भगवंत' अर्थात् 'हे भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये, मेरी रक्षा कीजिये'—यह कहते हुए प्रभुके चरणोंपर पड़ गये॥ ३२॥ प्रभु बारबार उठाना चाहते हैं हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न हैं। उन्हें उठना नहीं सुहाता॥ १॥

*** कांडका नाम 'सुन्दर' क्यों पड़ा ***

मा० हं०—१ रामायणके काण्डोंका नाम-निर्देश नायककी अवस्था, स्थल और क्रियापर ध्यान रखकर ही किया गया दिखता है। इस पद्धतिके अनुसार इस काण्डको 'सीताशुद्धिकाण्ड' अथवा इसी प्रकारका कोई दूसरा नाम देना चाहिये था; परन्तु सबसे पहिले वाल्मीकिजीने ही इसे 'सुन्दर' नाम दिया और बादमें उसी नामका प्रचार हुआ। २—यथार्थमें इस काण्डको ही 'सुन्दर' कहनेसे ऐसा हो गया कि बाकी सब काण्ड सुन्दर नहीं हैं। यह ध्वनि क्या वाल्मीकिजीकी समझमें न आयी होगी? तो भी उन्होंने इस काण्डका वही नाम रखा है—इसका कारण क्या होगा? इस प्रश्नका विचार होना आवश्यक है। ३—जब ऐसा निश्चय हो जाता है कि असाध्य वस्तुके साध्य होनेके साधन आकस्मिक योगसे प्राप्त हो जाते हैं, तब भावी आनन्दकी प्रभा, एकदम चित्तपर झलकने लगती है। रावणके कुलक्षयका मुख्य साधन सीताशोध था। श्रीहनुमान्‌जीद्वारा उस साधनके हाथमें अकस्मात् उपस्थित होनेसे

* चहहिं—(ना० प्र०)। चहइ—गी० प्र०। चहैं—मा० दा०।

† दो० ३२ दोहा दोहरामिश्रित है (१) (२) पायकुलक। (ब्र० चं०)।

रामजी एकदम आनन्दमें मग्न हो गये। यह आनन्दकी अवस्था बहुत ही सुन्दर रहती है। श्रीरामजीकी इसी अवस्थाका निदर्शक समझकर आदिकविने इसे 'सुन्दरकाण्ड' का प्रेमयुक्त नाम दिया होगा।

एक दूसरी कल्पना यह भी है कि वाल्मीकि और अध्यात्म दोनों रामायणोंका सुन्दरकाण्ड, सीताशोध तथा हनुमान्‌जीके प्रेमानन्दतक है। इस राम-हनुमान्-प्रेमकी समरसताका परिणाम, वाल्मीकिजीको भी समरस करनेमें हुआ ही होगा, क्योंकि गोसाईंजीकी भी वह समरस अवस्था हुई थी। यह हमें उन्हींके **'सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥ ३१॥ बारबार प्रभु चहैं उठावा। प्रेममगन तेहि उठब न भावा॥ प्रभुपद पंकज कपिकें सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥ सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥'** इन शब्दोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है।

इसी समरस अवस्थाका सूचक (या उपलक्षण) समझकर इस काण्डको 'सुन्दर' विशेषण आदिकविने यदि प्रेम और गौरवसे दिया हो, तो वह भी बिल्कुल स्वाभाविक हो सकता है। हर तरहसे देखनेसे हमारा अभिप्राय यही होता है कि काव्यगुणकी दृष्टिसे काण्डका तारतम्य मात्र सोचकर इस काण्डका नाम 'सुन्दरकाण्ड' नहीं रखा गया है। यह नाम रामजीके अथवा कविके प्रेमाविष्कारसे, (अथवा, हनुमान्‌जीको यदि उपनायक समझें तो उनके प्रेम प्रागल्भसे) धरा गया होगा।—मं० श्लो० १ भी देखिये।—[☞ गोस्वामीजीके इस ग्रन्थमें इस काण्डका नाम 'पंचम सोपान' है। अथ और इति दोनोंमें यही नाम है।]

श्रीगौड़जी—इस काण्डका नाम 'सुन्दर' क्यों पड़ा, इसपर लोग अनेक कल्पनाएँ करते हैं। इसके सम्बन्धमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—**'सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे सुन्दरी कथा। सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किन्न सुन्दरम्॥'** भाव यह कि सुन्दरकाण्डमें सुन्दर राम और सुन्दरी सीताकी सुन्दरी कथा दी हुई है, इसीलिये इसका नाम सुन्दरकाण्ड है। परंतु इस युक्तिमें यह दोष है कि राम और सीताकी कथा तो सारी रामायणमें दी हुई है। काव्यका सौन्दर्य तो हर काण्डमें अपने-अपने ढंगपर अपूर्व है। यदि सुन्दरताके ही विचारसे इस काण्डको सुन्दरकाण्ड कहा जाय तो और काण्डोंको इसकी अपेक्षा असुन्दर ठहराना पड़ेगा। इसके कथाभागमें भी प्रधानता राम और सीताकी नहीं है। इस काण्डके मुख्य नायक हनुमान्‌जी हैं। जिनसे कि सुन्दर शब्दसे कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक काण्डका नामकरण किसी-न-किसी विशेष कारणसे हुआ है। जिसमें उसके नायकका कोई-न-कोई विशेष सम्बन्ध है। बालकाण्डके नायक चारों कुमारोंके बालचरितपर बालकाण्डका नाम रक्खा गया है। अयोध्याकाण्ड इसलिये नाम पड़ा कि सारी घटनाएँ अयोध्याके राज्यके सम्बन्धमें हुई हैं। अरण्य या वनकाण्ड इसलिये कहा गया कि वनवासका सबसे अधिक समय दण्डकारण्यमें बीता। किष्किन्धाकाण्डकी सारी घटनाएँ किष्किन्धामें हुई हैं। लङ्काकाण्डकी सारी घटनाएँ लङ्कामें हुई हैं। राज्यसिंहासनपर बैठनेके बादकी कथाएँ उत्तरकाण्डमें आयी हैं। उत्तरका अर्थ ही है पीछेका। इस तरह प्रत्येक काण्डका नाम किसी विशेष प्रयोजनसे रक्खा गया है, उस काण्डमें वर्णन किये गये विषयकी ओजस्विता, माधुर्य, प्रसाद वा सौन्दर्य आदि गुणोंके ऊपर नामकरण नहीं हुआ है। यदि ऐसा होता तो लङ्काकाण्डका नाम ओजस्वीकाण्ड होता। बालकाण्डका नाम मधुरकाण्ड होता। अयोध्याकाण्डका नाम कारुण्यकाण्ड होता। अरण्यकाण्डका नाम वियोगकाण्ड होता। किष्किन्धाकाण्डका नाम मैत्रीकाण्ड होता। परंतु रामायणी कवियोंने नामकी ऐसी कल्पना नहीं की। मेरी रायमें इस काण्डका नाम उस गिरिशिखरके नामसे पड़ा है जिसपरसे समुद्रलङ्घनके लिये हनुमान्‌जीने पहिली छलाँग मारी है। उस शिखरका नाम सुन्दर था, ऐसा कई लोगोंका मत है। हनुमान्‌जीके उस चरित्रका इस काण्डभरमें वर्णन किया गया है जिसका आरम्भ सुन्दर नामक शिखरसे हुआ था, इसलिये सुन्दरकाण्ड स्थानवाचक नाम है। (विशेष मं० श्लो० १ में लिखा जा चुका है)।

टिप्पणी—१ (क) **'सुनि प्रभु बचन।'** प्रभुकी आज्ञा थी कि 'सुनु सुत' 'सुनु कपि' इसीसे उनके वचनका सुनना कहा। 'प्रभु' का भाव कि कहाँ वे ऐसे समर्थ स्वामी और कहाँ उनके ऐसे दीन वचन कि **'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'** ? (ख) 'बिलोकि मुख' से जनाया कि जब प्रभु प्रशंसा करने लगे कि **'सुनु सुत तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ…'** तब हनुमान्‌जीने सकुचकर सिर नीचे कर लिया था, जैसा कि सत्पुरुषों, शिष्टलोगों, संतोंका सहज स्वभाव है; यथा—**'निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं।'** (३। ४६)। अब प्रभुके वचन सुनकर मुखकी ओर देखा कि आपसे हद है, आप हमारी प्रशंसा कर रहे हैं, और 'गात' (शरीर) की ओर देखा कि आप मुझे देखकर 'अति पुलकित' हो रहे हैं।

२ 'त्राहि त्राहि भगवंत' अर्थात् इस बड़ाईसे मेरी रक्षा कीजिये, बड़ाई प्रशंसा भक्तके लिये बाधक हैं; यथा—**'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ये सब रामभगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥ ३।७।'**

नोट—१ **'त्राहि त्राहि भगवंत'** इति। (क) श्रीहनुमान्‌जीने सोचा कि ऐसे समर्थ प्रभु कि जिनके प्रतापसे **'बड़वानलहिं जारि सकै खलु तूल।'** और **'गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल'**—(ये दोनों उक्तियाँ श्रीहनुमान्‌जीकी ही हैं। प्रथम उक्ति आगे दोहा ३३ में है और दूसरी उक्ति पूर्व दोहा १६ में किशोरीजीसे कही गयी है)—एवं जो **'मसकहिं करहिं बिरंचि प्रभु अजहिं मसक ते हीन'** वे मेरे ऋणी बनते हैं और कहते हैं कि **'सनमुख होइ न सकत मन मोरा'** इससे बड़ा भारी भय मुझे अभिमानरूपी शत्रुका है, इस बड़ाईसे मुझे अहङ्कार न उत्पन्न हो जाय, कहीं इस माधुर्यमें मैं भूल न जाऊँ, मुझे प्रभुकी बलवती माया न धर दबावे! इन्हीं शत्रुओंसे बचनेके लिये वे 'त्राहि त्राहि' कर रहे हैं। तात्पर्य कि मैं इस बड़ाईके योग्य नहीं, ऐसा न कीजिये कि मुझे अभिमान हो जाय और मैं आपको खो बैठूँ; यथा—**'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥** उ० ६२।' (ख)—हनुमान्‌जीके उपकारसे स्वामीके मनमें संकोच हुआ और उससे भूरि भूरि कृतज्ञता प्रकाशकर वे ऋणी बने, इससे हनुमान्‌जीके हृदयमें व्रीड़ा, हर्ष, चपलता, आवेग, त्रास आदि संचारी भावोंका उदय होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है। व्रीड़ा—स्वामी प्रदत्त विशेष मानमर्यादासे। हर्ष—स्वामीकी प्रसन्नतासे चपलता—अत्यन्त प्रेमसे। आवेग—मुझे मान न उत्पन्न हो, इस भयसे। त्रास—चित्तकी विह्वलतासे प्रेममें मग्न होकर स्वामीके पाँवपर पड़ना और त्राहि त्राहि करना, इन दोनों अनुभावोंसे उपयुक्त भावोंकी पुष्टि होती है। (वीरकवि)। (ग)—हनुमान्‌जी चरणपादुकाके अवतार हैं, अतः चरणोंपर पड़ना योग्य ही है, इसीसे उठते भी नहीं (वन्दनपाठकजी)। (घ)—यह प्रेमकी क्रान्त दशा है।—(बैजनाथजी)।

टिप्पणी—३ (क) 'भगवंत' सम्बोधनका भाव कि आप ईश्वर हैं, ईश्वरका उपकार भला जीव क्या कर सकता है? (ख) इस दोहेमें हनुमान्‌जीका मन-वचन-कर्मसे शरण होना दिखाया।—'हरषि' (मन), त्राहि...' (वचन) और 'चरन परेउ' (कर्म) हैं। और प्रभुने उनकी रक्षा की, इसीसे अभिमान नहीं हुआ जैसा कि आगे कवि स्वयं स्पष्ट कहते हैं; यथा—**'बोला बचन बिगत अभिमाना।'** यदि रक्षा न करते तो अभिमान उत्पन्न हो जाता। आगे लङ्काकाण्डमें श्रीभरतजीके—**'चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवौं तोहि जहँ कृपा निकेता॥** ५९ (६)' इन वचनोंको सुनकर अभिमान हुआ है पर प्रभुका प्रभाव स्मरण हो आनेसे वह तुरंत ही दूर भी हो गया; यथा—**'सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना॥ राम प्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी। तव प्रताप उर राखि...'**।

४ 'बार बार प्रभु चहै उठावा...।' इति। यथा—**'परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥'** (७।५। श्रीभरत-राम-प्रसङ्गे)। 'बारबार' उठानेका भाव कि—(क) न उठानेसे अनादर सूचित होता है और दास जल्दी उठ पड़े तो उसमें प्रेमकी न्यूनता पायी जाती है। पुनः (ख) प्रभु हृदयसे लगानेके लिये उठाना चाहते हैं जैसा आगे स्पष्ट करते हैं—**'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा'** और हनुमान्‌जीको उठना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि ये सेवक हैं, सेवक चरणके उपासक हैं, तब अपने इष्टदेवके परम श्रेयस्कर चरण पाकर कैसे छोड़ें? उधर जो दास चरणोंको नहीं छोड़ते उन्हें प्रभु हृदयसे लगाते हैं, यथा—**'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥'** अथवा, (ग) हनुमान्‌जीके वचन सुनकर प्रभु प्रेममें मग्न हो गये; यथा—**'लोचन नीर पुलक अति गाता'**, इसी तरह श्रीरामजीके वचन सुनकर हनुमान्‌जी प्रेममें डूब गये। अन्योन्य प्रेम दिखाया।

मा० त० सु०—चरणोंपर गिरते ही प्रभुने 'उठावा' अर्थात् हस्तावलम्बन दे दिया, तब उस समय श्रीहनुमान्‌जीने स्वच्छन्दतापूर्वक चरणरजका स्पर्श न पानेके कारण उठना नहीं चाहा। पुनः, भाव कि प्रभुके **'सनमुख होइ न सकत मन मोरा'** इन वचनोंको सुनकर भयभीत हो गये थे, अतएव चरणोंपर गिरे थे; जब प्रभुने उठाना चाहा तब हनुमान्‌जी अधिक भयभीत हो गये कि प्रभु मुझे दूर करना चाहते हैं; अतएव उन्होंने उठना न चाहा।

नोट—२ प्रभु उठाना चाहते हैं फिर वे क्यों नहीं उठते? इसका उत्तर वक्ता स्वयं देते हैं कि 'वे प्रेममें डूबे हैं'। प्रभुके चरणोंकी प्राप्ति, करकमलकी छाया ही नहीं वरञ्च सिरपर साक्षात् करकमल रखा हुआ, जानकर जो सुख वे अनुभव कर रहे हैं, उसको कौन जानता है? उस सुखको पाकर कौन उसे हटाना चाहेगा कि जिसकी दशामात्रका स्मरण करके गौरीश भी मग्न हो गये?

मा० त० सु०—शङ्का—भरतजीको प्रभुने बल करके उठाया था, यथा—'परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए।' वैसे ही हनुमान्‌जीको क्यों न उठाया ? समाधान—भरतजी यद्यपि दास्यभावसे पदपंकजपर पड़े, पर रघुनन्दनजीने विचारा कि यद्यपि इन्होंने दास्यधर्म स्वीकार किया है तथापि ये मेरे भाई हैं, अतः ये मेरे समान आदरणीय हैं। इनका स्थान बगल है और दासोंका स्थान चरण है; यथा—**जनमे एक संग सब भाई।**···**बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥'** अतः लौकिक रीतिसे प्रभुने भ्रातृभाव ही दिखलाया; इसीसे उनको तुरंत बलपूर्वक उठा लिया। किंतु श्रीहनुमान्‌जी तो सदाके दास हैं, इसीसे जब उठानेपर उन्होंने न उठना चाहा, तब यह विचारकर कि इस समय यह अपने परम धनको पाये हुए हैं, जब कुछ समय तक इसका अनुभव कर लें तब उठाऊँ।

प० प० प्र०—वाल्मीकीयमें इसके आगेकी सब कथा युद्धकाण्डमें है। मानसमें सागर-निग्रह तककी कथा सुन्दरकाण्डमें ही देकर कवि जनाते हैं कि इसके सप्त सोपान सप्तपुरियाँ हैं। सुन्दरकाण्ड काञ्चीपुरी है। काञ्चीमें दो विभाग हैं, शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्ची। श्रीहनुमान्‌जीका चरित कहकर यदि काण्डको समाप्त कर देते तो काञ्चीपुरी नाम अयथार्थ हो जाता। **'पवनतनयके चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए॥'** पर शिवकाञ्ची (श्रीहनुमच्चरित्र) पूर्ण हो गयी। आगेके ३० दोहे विष्णुकाञ्चीके हैं; कारण कि इसमें मुख्यतः श्रीरामजीका ही चरित्र है। इस तरह सागर-निग्रह-कथापर इस काण्डकी समाप्ति करके इस काण्डको यथार्थतः काञ्चीपुरी सिद्ध किया।

प्रभु कर पंकज कपि के* सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥ २॥
सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर†॥ ३॥

अर्थ—प्रभुका करकमल हनुमान्‌जीके सिरपर है। इस (प्रेमकी) दशाको स्मरण करके श्रीगौरीशजी (प्रेममें) मग्न हो गये॥ २॥ फिर मनको सावधान करके शंकरजी अत्यन्त सुन्दर कथा कहने लगे॥ ३॥

टिप्पणी—१ **'प्रभु कर-पंकज कपिके सीसा।...'** इति। (क)—हनुमान्‌जी महारुद्रावतार हैं, यह पूर्व लिखा जा चुका है। शिवजी यह विचारकर कि यह आनन्द और प्रेम उस रूपमें प्राप्त हुआ था, उस दशाको स्मरण करके, उसका ध्यान करके कि हमारे सिरपर प्रभु अपना हस्तकमल रखे हुए हैं, शिवजी उसकी दशामें स्वयं भी मग्न हो गये। वा, (ख) यह अलभ्य लाभ है। इसकी [सभी महात्मा इच्छा करते हैं, यथा—**'कबहूँ सो करसरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे'**, पर किसी-किसीको ही यह सौभाग्य प्राप्त होता है। अतएव उस दशाको स्मरणकर उसमें मग्न हो गये।—['सुमिरि' कहकर जनाया कि शिवजी अपने शिवरूपमें उस दशाको अनुभव नहीं कर सके। इसीसे तो वे राज्याभिषेकके समय **'अनपायिनी भक्ति'** की याचना करते हैं, यथा—**'बार-बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥** ७। १४।'; और हनुमान्‌जीको तो तत्काल ही उसकी प्राप्ति हो गयी। जैसा आगे कहा गया है—(मा० त० सु०)। 'गौरीसा' का भाव कि दशाको स्मरणकर सम्मुखोपस्थित गौरी-सी पत्नीको भी भूल गये। (मा० त० सु०)]

२ (क) सीताशोधके लिये किष्किन्धासे प्रस्थान करते समय भी श्रीरामजीने अपना कर-कमल हनुमान्‌जीके सिरपर रक्खा था और अब भी। **परसा सीस सरोरुह पानी'** (४। २३) उपक्रम है और **'प्रभु कर पंकज कपिके सीसा'** उपसंहार है—(प्रायः उपक्रम और उपसंहार किसी विषयके प्रतिपादनमें दिये जाते हैं)। (ख) 'गौरीश' पदसे यह भी सूचित होता है कि गौरी और ईश (शंकर) श्रोता-वक्ता दोनों ही मग्न हो गये, कपि मग्न हैं और ग्रन्थकार भी। इसीसे कथाको 'अति सुंदर' विशेषण दिया। [नोट—आगे शंकरजीका मन सावधान करना कहकर 'गौरीशका' अर्थ शंकरजी (गौरीपति) ही जनाया; गौरी और शंकर दोनों नहीं।]

प० प० प्र०—मनुजी, जटायुजी और भुशुण्डिजीके सिरपर हाथ रखनेकी कथा कहते समय शिवजी ऐसे प्रेममें मग्न नहीं हुए; केवल हनुमान्‌जीकी कथा कहते समय **'प्रभु कर पंकज कपि के सीसा'** कहते ही **'सुमिरि सो दसा'** अर्थात् श्रीहनुमान्‌जीके शरीरमें पूर्वानुभूत दशाका स्मरण होते ही उसी दशामें गौरीश मग्न हो गये। इस कथनसे ध्वनित किया कि हनुमान्‌जी श्रीशिवावतार हैं।

वन्दनपाठकजी—'यहाँ श्रीरामजी, हनुमान्‌जी और शिवजी तीनों प्रेममें मग्न हैं। इससे एकता दिखायी है।'

* के—भा. दा.। कें—गी. प्र.। कै—का., ना. प्र.। हालना (भगवानदासजी) 'कै' को उत्तम कहते हैं। † 'सावधान···' १२१४वाँ भेद है, 'लागे···' ११६१वाँ भेद है। (ब्र० चं०)।

मा० म०—भाव यह कि श्रीरामचन्द्रजी अपना हाथ रखकर मानो अपना ऋण चुकाते हैं। उस ऋणमें रामचन्द्रजीने क्या दिया सो पानेवाला ही चीन्ह सकता है; क्योंकि जिसके स्मरणसे स्वयं शिवजी प्रेममें मग्न हो गये उसे दूसरा क्योंकर कह सकता है

मा० हं०—'**सुनि प्रभु बचन...**' से '**सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा**' तक, यह वर्णन वाल्मीकि और अध्यात्ममें नहीं है। यह गोस्वामीजीका निजका ही उनका भक्त्युद्रेक है। किंबहुना उसमें स्वामीजी ही प्रतीत हुएसे भावुकोंको दिखेंगे। इसका कारण उन्हींके ही प्रकट किये हुए इस संवादके निम्नलिखित माहात्म्यमें देखिये।—'**यह संबाद जासु उर आवा। रघुपति चरन भगति सोइ पावा॥**'

टिप्पणी—३ '**सावधान मन करि पुनि संकर।...**' इति। (क) पूर्व कहा कि '**सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा।**' इसमें मनका नाम न दिया और अब यहाँ कहते हैं कि मनको सावधान किया। कारण कि मन प्रेममें डूब गया था, इसीसे ग्रन्थकारने भी उसे शब्दोंमें प्रकट न किया था, अब जब सावधान हुआ तब उसे प्रत्यक्ष कहा। (ख) मनको सावधान किया। भाव यह कि जिस समय तक प्रभु श्रीहनुमान्‌जीके सिरपर करकमल रक्खे रहे, उस समय तक ये भी मग्न रहे। जब प्रभुने उठाकर हृदयसे लगाया तब शिवजी भी जगे और सावधान होकर कपिको उठाकर हृदयसे लगाया जाना कहने लगे। यथा—'**मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहर कीन्ह। रघुपतिचरित महेस तबहरषित बरनइ लीन्ह॥**' [नोट—मेरी समझमें पं० रामकुमारजीका आशय यह है कि कथा कहते समय वह दृश्य श्रीशिवजीके मनः पटलपर प्रत्यक्ष हो रहा था। —विशेष १। १११ में देखिये।] (ग) 'शंकर' नाम दिया, क्योंकि सबके कल्याणार्थ कथा कहने लगे। (घ) '**कथाअति सुंदर**' का भाव कि सुन्दर तो ध्यान भी था पर कथा '**अति सुंदर**' है। प्रमाण यथा—'**जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। जे हरिकथा न करहिं रति तिन्ह के हिय पाषान॥**' (उ० ४२)। पुनः, 'अतिसुन्दर' विशेषण देकर जनाया कि कवि भी प्रेममें मग्न हो गये थे, विशेष्य-विशेषण समानाधिकरणकी खबर न रही, प्रेम-हृदयसे स्नान करके मन निकला, बस उसी मनसे कथा कहने लगे; इसीसे कथा अति सुन्दरी हुई।

नोट—१ '**अति सुंदर**' क्योंकि इस संवादका बड़ा भारी महत्त्व है कि बिना किसी साधनके सहज ही भक्ति प्राप्त होती है। केवल इतना ही हृदयमें लाना है कि किसपर किस रीतिसे कैसी कृपा की, इत्यादि। (प्र०)। विशेष प० प० प्र० की टिप्पणी देखिये।

श्रीलमगोड़ाजी—१ फिल्मकलाकी सुकुमारता तो जगह-जगह है ही, कहाँतक कही जाय? २—सारी कथा ही '**अति सुन्दर**' है, एक किस अंशको लिया जाय? सच है—'सुत' और 'शिष्य' दोनों सूत्रात्मा ही हैं। भगवान्‌ने अपने मुख्य 'हरिजन, हनुमान्‌जीको ही सेवा-भक्तिके मन्त्रकी दीक्षा दी थी।—'**सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचररूप स्वामि भगवंत॥ ४। ३।**'—मैं तो इसीको रामायणका मूल-मन्त्र समझता हूँ। आज निःस्वार्थ हनुमान्‌जी सेवाका सर्टीफिकेट स्वामीकी कृतज्ञताके रूपमें पाते हैं और मग्न होकर स्वामीके चरणपर गिरकर ही प्रेम शरण लेता है। इससे सुन्दर और क्या कथा होगी? इसीसे तो शंकरजी, जो और प्रसंगोंमें मग्न नहीं हुए, यहाँ अपनेको न रोक सके और मग्न हो गये।—यह वास्तविक 'वह्‌दानियत', '**एक-ईश्वरवाद**' है। शेखसादी भी कहते हैं—'**ऊ जाने-जहानस्त वो जहाँ जुस्ला बदन। तौहीद हमीनस्त वो दिगर शेवा वो फन॥**' (अर्थात् वह सारे जगत्‌की जान है और सारा जगत् उसका शरीर है। असल तौहीद यही है और सब ढोंग और धोखा है।)—इसीसे भुशुण्डिजीने भी कहा है कि—'**सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।**' ३—मेरी समझमें इस '**अति-सुन्दर**' कथाके कारण ही काण्डका नाम सुन्दर है। ☞ रचना, प्रसाद गुण तथा सरलता और सरसताका उदाहरण ही है। इसीसे बहुधा विद्यार्थियोंको यही काण्ड पहले पढ़ाया जाता है। ४—धन्य हैं श्रीहनुमान्‌जी जिन्हें भगवान्‌ने 'सुत' की उपाधि दी जो और किसीको नहीं मिली—(This is the Peerage of राम-राज्य)। जस्टिस मेरेडिथने, पटनाहाईकोर्टके जजकी हैसियतसे ठीक लिखा है कि सरकारी नौकर केवल ताज (Crown)का नौकर नहीं (भौतिक राज्यसत्ताका चिह्नमात्र), पर उसे अपनेको Servant of the Ideal (आदर्शका सेवक) ही मानना चाहिये। वह '**सेवा-आदर्श**' इससे बढ़कर क्या होगा? काउण्ट टालसट्वाय भी समाजके आदर्शका मूल-मन्त्र निःस्वार्थ सेवा तथा त्याग ही मानते हैं, Communism और Socialism (समाजवादके दो रूपों) के कृत्रिम साधन नहीं। ☞ सच है, रामराज्य (आदर्श राज्य) का यही मूल-मन्त्र हो सकता है। H. G. Wells ने भी अपनी Modern Utopia में '**समुदाई**' नामक सेवक संघको ही आदर्शराज्य शैलीका आधार माना है और उनकी सेवा भी कुछ-कुछ ऐसी ही है।

प० प० प्र०—इस काण्डका समग्र चरित ही सुन्दर है तथापि यह चरित 'अति सुन्दर' है। क्योंकि इसमें भगवान्‌ने हनुमान्‌जीको 'सुत' बनाया, उनके ऋणिया बने, इस एक ही प्रसंगमें अपने भक्तसे तीन बार मिले, बार-बार उनको उठाना चाहते हैं पर वे उठना नहीं चाहते, चरणकमलोंपर पड़े हैं और भगवान् बार-बार उनके सिरपर अपना कर कमल फेर रहे हैं। भगवान् और भक्त दोनों प्रेममें मग्न हैं। भगवान् भक्तके मुखारविन्दको बारंबार देख रहे हैं, परम निकट बिठाते हैं, उसको अनपायिनी भक्ति प्रदान करते हैं।—यह कथा समग्र मानसमें एकमेवाद्वितीय, अति प्रलोभनीय, परम आदरणीय और चित्तको परम द्रवित करनेवाली होनेसे 'अति सुन्दर' है।

कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥ ४॥

अर्थ—कपिको उठाकर प्रभुने हृदयसे लगाया। हाथ पकड़कर बिलकुल पास बिठा लिया॥ ४॥

नोट—१ भगवान्‌ने अपनेको ऋणी कहा और श्रीहनुमान्‌जीके कार्यके अनुरूप कोई पारितोषिक है ही नहीं जो देते यह विचारकर सर्वस्वदानरूप आलिङ्गन ही कार्यके योग्य पुरस्कार उनको दिया। यथा—'**एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः। मया कालमिमं प्राप्य दत्तश्चास्तु* महात्मनः॥ इत्युक्त्वा प्रीतिहृष्टाङ्गो रामस्तं परिषस्वजे। हनूमन्तं महात्मानं कृतकार्यमुपागतम्॥**† वाल्मी० ६। १। १४-१५।' अर्थात् जो हो, इस समय मेरा यह सर्वस्व दानरूप आलिङ्गन ही महात्मा हनुमान्‌जी-के कार्यके योग्य पुरस्कार हो, यह कहकर पुलकित शरीरसे श्रीरामजीने उनको गले लगा लिया। और अध्यात्ममें तो यह कहकर कि 'बदलेमें क्या उपकार करूँ—यह नहीं जानता' फिर तुरंत कहते हैं कि—'लो, मैं अभी तुम्हें अपना सर्वस्व सौंपता हूँ।' और ऐसा कहकर हनुमान्‌जीको खींचकर गाढ़ आलिङ्गन करके कहा कि—'संसारमें मुझ परमात्माका आलिङ्गन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः तुम मेरे परम भक्त और प्रिय हो। यथा—'**उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः॥** अ० रा० ५। ५। ६०। **इदानीं ते प्रयच्छामि सर्वस्वं मम मारुते। इत्यालिङ्‌ग्य समाकृष्य गाढं वानरपुङ्गवम्॥६१॥...परिरम्भो हि मे लोके दुर्लभः परमात्मनः। अतस्त्वं मम भक्तोऽसि प्रियोऽसि हरिपुङ्गव॥** ६३॥' ☞ गोस्वामीजीके 'राम', वाल्मीकीय और अध्यात्म कल्पके 'राम' से कहीं अधिक सुशील और सङ्कोची हैं, तब भला वे अपनेको ऋणी कहकर फिर यह बातें कैसे कहते जो वाल्मीकीय आदिके 'राम' जीने कही हैं? तथापि '**कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा**' मात्र कर्मसे मानसकविने उपर्युक्तभाव भी गुप्तरूपसे दरसा दिये हैं कि यह आलिङ्गन सर्वस्वदानरूप है और परम दुर्लभ पदार्थ है—पर यह कार्यका पारितोषिक हो, यह कथन उनको न भाया।

२—'**कपि उठाइ...**' इति। चरणोंपर पड़ते ही प्रथम उठाना चाहा था पर प्रेममें मग्न होनेसे उठाना न भाया, तब प्रभुने प्रबोधके लिये करकमल शिरपर रख दिया। फिर देहाध्यासरहित देख जैसे चेतनाशून्यको उठाया जाय वैसे उठाकर हृदयसे लगाया। भाव यह कि तुम मेरे हृदयमें धारण करने योग्य हो, यथा—'**अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥**' फिर जब चैतन्यतायुक्त देखा, तब हाथ पकड़कर अत्यन्त निकट बैठाया। (मा० त० सु०)।

टिप्पणी—१ प्रभु बारबार कपिको उठाना चाहते थे, सो उठाकर हृदयसे लगा लिया—यह रामजीकी प्रीति कही। और हनुमान्‌जीको, उठाना न अच्छा लगा, इसीसे वे अपनेसे न उठे—यह कपिकी प्रीति कही।

२ (क) श्रीरामचन्द्रजीने तीन बार कपिको हृदयसे लगाया—प्रथम जब चरणोंपर पड़े तब '**प्रीति सहित सब भेंटे रघुपति करुनापुंज।**' दूसरे, जब जाम्बवन्तजीसे इनका चरित सुना तब—'**पुनि हनुमान हरषि हिय लाये।**' तीसरे, जब हनुमान्‌जी पुनः चरणोंपर प्रेमाकुल होकर पड़े तब '**कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा**' (ख) हनुमान्‌जी उठना न चाहते थे। इससे पाया गया कि जब बहुत देर तक पड़े रहे तब प्रभुने 'बरबस' उठाकर हृदयसे लगाया; यथा—'**बरबस लिये उठाइ उर लाये कृपानिधान।**', '**परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए।**' (भरतजीके प्रसङ्गमें)। बरबस=बल करके।

३—'**कर गहि परम निकट बैठावा।**' हाथ पकड़ना और निकट बिठाना दोनों अत्यन्त प्रेम (एवं आदर) सूचित करते हैं। यथा—'**सुनि सनेह बस उठि नरनाहा। बैठारे रघुपति गहि बाँहा॥**' (अ० ७७), '**कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे**'; '**भरत बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरम मय बचन उचारे**' (२। १८७। १), '**स्वागत पूँछि निकट बैठारे॥ लछिमन सादर चरन पखारे**' (आ० ४१), इत्यादि।

मा० त० सु०—१ हाथ पकड़नेका भाव कि जिस मायासे भयभीत होकर तू इस दशाको प्राप्त हुआ है, वह मेरे हाथकी छायामात्रसे निवृत्त होती है। यथा—'**सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति ताप पाप माया**', उसी हाथको मैंने तेरे

* दत्तस्तस्य। † 'हनूमन्तं कृतात्मानं कृतवाक्यमुपागतम्' पाठान्तर है।

अधीन कर दिया। २—निकट बिठानेका भाव कि तू मेरा पार्श्ववर्ती होने योग्य है, मेरे समग्र ऐश्वर्यका अधिपति है—यह भाव **'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'** के आशयके अनुसार है।

प० प० प्र०—हाथ पकड़कर बैठाना, निकट बैठाना, हाथ पकड़कर निकट बैठाना और हाथ पकड़कर परम निकट बैठाना, ये उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रीति तथा आदरके निदर्शक हैं। श्रीहनुमान्‌जीके समान यह आदर सम्पूर्ण मानसमें किसीको भी नहीं मिला।

कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥ ५॥
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन बिगत अभिमाना॥* ॥ ६॥

अर्थ—हे कपि! कहो तो, तुमने रावणसे रक्षित लङ्का और उसका अत्यन्त बाँका किला कैसे जलाया?॥ ५॥ श्रीहनुमान्‌जीने प्रभुको प्रसन्न जाना (तब) वे अभिमानरहित वचन बोले॥ ६॥

प० प० प्र०—'कपि' का भाव कि इन्द्रादि देवताओंको भी जो काम अगम्य है वह तुमने कपि होकर कैसे कर डाला? इसका उत्तर हनुमान्‌जीने सीताजीको दोहा १६ में और प्रभुको आगे दोहा ३३ में दिया है। ☞ इस प्रश्नको करके भगवान् दिखाते हैं कि देखो सच्चे सेवक कितने निरहंकारी और विनीत होते हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'केहि बिधि' अर्थात् लङ्कादहनकी कोई विधि नहीं देख पड़ती कि कैसे कोई उसे जला सकता है। क्योंकि उसका रक्षक दिग्विजयी रावण है। पुनः उसका किला 'अति बंका' है। (ख) 'अति बंका' अर्थात् किले तो सभी बंक होते हैं, पर यह सबसे अत्यन्त बाँका है, ऐसा दूसरा नहीं। [नोट—१ **'दुर्ग अति बंका'** इति। वाल्मीकीयमें हनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजीसे जो बताया है कि—लङ्का ऐसे पहाड़पर है जो सीधा खड़ा हुआ है (अर्थात् उसपर चढ़नेका रास्ता नहीं है), वह देवताओंके दुर्गके समान नितान्त दुर्गम है। उसमें नदी दुर्ग, गिरिदुर्ग, वनदुर्ग और कृत्रिम दुर्ग हैं। उसके चारों ओर खाई है और वह शतघ्नी तथा विविध प्रकारके यन्त्रोंसे सुशोभित है। वह दुर्धर्ष और दुर्जेय बनी हुई है। यथा—**'लङ्कापुनर्निरालम्बा देवदुर्गा भयावहा। ६। ३। २०। नादेयं पार्वतं वन्यं कृत्रिमं च चतुर्विधम्।'** इत्यादि।—यही सब **'दुर्ग अति बंका'** से अभिप्रेत है। २—ऐसा ही प्रश्न हनुमन्नाटकमें श्रीहनुमान्‌जीसे हुआ है और उत्तर भी वैसा ही है जैसा यहाँ। यथा—**'त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंका नाम महापुरी। कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने। ६। ४२।'** अर्थात् हे वीर! दश मुखवाले रावणके रहते हुए भी तुमने देवताओंसे दुर्धर्ष ऐसी लङ्कापुरीको कैसे जला डाला?—अर्धालीके 'दुर्ग अतिबंका' को ही यहाँ 'त्रिदशैरपि दुर्धर्षा' कहा है। अर्थात् उसे देवता भी नहीं तोड़ सकते और न जीत सकते हैं। पूरी अर्धालीके भाव इस श्लोकमें हैं।]—(ग) प्रभुने समुद्रका लाँघना अशोकवनका उजाड़ना, इत्यादि न पूछा, केवल लङ्कादहनके विषयमें प्रश्न किया। कारण यह कि यह कार्य सबसे कठिन है, यथा—**'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका॥'** **'आवा प्रथम नगर जेहि जारा। सुनत बचन कह बालिकुमारा॥'** ६। २३।' **'जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। ६। ३५।'** **'जारत नगरु कस न धरि खाहू॥ ६। ९।'** इत्यादि। लङ्कादहनसे ही राक्षस शङ्कित हुए हैं, दूसरे किसी कामसे नहीं।

नोट—१ **'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।'** इति। पूर्व प्रभुने कहा था कि **'सनमुख होइ न सकत मन मोरा। सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं॥'** जिसका तात्पर्य यह होता है कि तुम धनी हो मैं ऋणिया हूँ, तुम महाजन हो मैं तुम्हारा कर्जदार हूँ, इस प्रकार प्रभु हनुमान्‌जीको अपनी 'साहिबी' दे रहे थे। इसीपर हनुमान्‌जीने त्राहि-त्राहि करते हुए चरणोंपर गिरकर सूचित किया कि मैं तो इन चरणोंका दास हूँ, दासत्व छोड़कर मुझे साहिबी न चाहिये। प्रभुने इनके सिरपर हस्तकमल रखकर दासत्व देना स्वीकार किया। इससे हनुमान्‌जीने जाना कि प्रभु प्रसन्न हैं, नहीं तो प्रथम लङ्कासे आनेपर क्या वे अप्रसन्न थे? (शिला)।

टिप्पणी—२ **'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना'**…।' का तात्पर्य यह है कि जब प्रभु प्रसन्न होते हैं, तब जीव अभिमानरहित होता है। 'प्रसन्न जाना' का भाव कि प्रसन्नतामें संदेह था, क्योंकि नगरमें आग लगाना आततायीका काम है, इससे कहीं प्रभु अप्रसन्न न हों? यथा—**'सत्य नगर कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ। फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं तेहि भय**

* 'कहु…' तामरस, 'केहि बिधि… …' से 'मनुसाई' तक पायकुलक।

रहा लुकाई ॥ ६ । २३ ।' पर इसी बातको प्रभु बड़े आदरसे पूछते हैं, अतः निश्चय हुआ कि प्रसन्न हैं। (सिरपर हस्तकमल रक्खा, उठाया, हृदयसे लगाया और हाथ पकड़कर बगलमें बिठाया—यह उत्तरोत्तर अधिक कृपा और प्रसन्नताका द्योतक है ही । अतः 'प्रसन्न जाना' कहा) । पुनः उठाकर हृदयसे लगाया, परम निकट बिठाकर प्रेमसे प्रश्न किया, इससे प्रसन्नता जानी । पुनः मस्तकपर हाथ रखना पूर्ण कृपाका चिह्न है । हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न हो गये, इसीसे प्रभुने अत्यन्त कृपा की; यथा—**'उमा जोग जप दान तप नाना ब्रत मख नेम । राम कृपा नहिं करहिं तस जस निःकेवल प्रेम ॥'**

३ (क)--अभिमानरहित वचन बोले, इसीसे 'बोला' एकवचन पद दिया, नहीं तो बहुवचन 'बोले' पद देते। (ख) 'बिगत अभिमान' वचन बोले क्योंकि भगवान्‌को अभिमान अच्छा नहीं लगता, यथा—**'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ । जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥ ७ । ७४ ।'**

नोट--२ प्रभु ऋणी बने तब भी अभिमान न हुआ, यह प्रभुकी ओरसे रक्षा हुई । जो बात कोई न कर सके उसके करनेपर अभिमान हो जाना स्वाभाविक है, अतः 'बिगत अभिमान' कहा ।

साखामृग कै बड़ि मनुसाई । साखा ते साखा पर जाई ॥ ७ ॥
नाघि* सिंधु हाटकपुर जारा । निसिचरगन बधि बिपिन उजारा ॥ ८ ॥
सो सब तव प्रताप रघुराई । नाथ न कछू† मोरि प्रभुताई‡ ॥ ९ ॥

अर्थ—वानरकी यही बड़ी बहादुरी (पुरुषार्थ) है कि वह एक डाल परसे दूसरी डालपर जाता है ॥ ७ ॥ (जो) सिंधुको लाँघकर सोनेका नगर जलाया और निशाचरोंके समूहको मारकर वनको उजाड़ा ॥ ८ ॥ यह सब हे रघुराई ! आपका प्रताप है (आपके प्रतापने किया है) । हे नाथ ! इसमें मेरी प्रभुता कुछ भी नहीं है ॥ ९ ॥

टिप्पणी—१ (क) शाखासे शाखापर जाना कहते हैं, इसीसे यहाँ 'साखामृग' साभिप्राय नाम दिया । (ख) 'बड़ि मनुसाई' अर्थात् सारा पुरुषार्थ बस इतनेमें ही हो जाता है। आगे समुद्रलङ्घन आदिको रामप्रतापसे कहेंगे, इसीसे अपना पुरुषार्थ इतनेमें ही समाप्त कर दिया । यहाँ 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार है ।

२ **'नाघि सिंधु'''** अर्थात् शाखापर कूद फाँद करनेवाला समुद्र नहीं लाँघ सकता, सोनेके घर आग लगानेसे जल नहीं सकते, एक निशाचर वानरसमूहका नाश कर डालता है और एक वानर एक निशाचरको भी नहीं मार सकता फिर निशाचरगणको भला क्या मारेगा ? 'बिपिन उजारा' अर्थात् रावणके बागकी ओर देवता तो दृष्टि डाल ही नहीं सकते, तब वानर किस गिनतीमें हैं ?

नोट—१ 'हनुमन्नाटक' के—**'शाखामृगस्य शाखायाः शाखां गन्तुं पराक्रमः । यत्पुनर्लंघितोऽम्भोधिः प्रभावोऽयं प्रभो तव॥' निःश्वासेनैव सीताया राजन् कोपानलेन ते । दग्धपूर्वा तु । सा लङ्का निमित्तमभवत्कपिः॥'** अंक ६ । ४४, ४३ से प्रतापका भाव स्पष्ट हो जाता है--अर्थात् सीताजीकी निःश्वास और आपकी कोपाग्निने तो लङ्काको पहले ही जला डाला, कपि तो एक निमित्तमात्र हुआ । ऐसा ही कवितावलीमें कहा है—राम, कोह, पावक, समीर सिय स्वास, कीस ईसबामता, बिलोकु वानरको ब्याज है ।' (५ । २२) । २—मानसचन्द्रिकाकार **'सो सब तव प्रताप'** का भाव यों लिखते हैं--**'प्रभु मुदरी डहि पार लै चूड़ामनि एहि पार । सीय बिरह लंका जरी प्रभु परताप तुम्हार ॥'** अर्थात् आपकी मुद्रिकासे समुद्र पार हुआ, महारानीजीका चूड़ामणि इस पार ले आया । सीताजीके विरह और आपके प्रतापसे लङ्का जली । पुनः 'प्रभु प्रताप' यह कि यहाँसे आपका स्मरण करके चला, उसीसे स्वयंप्रभा और सम्पातीकी सहायता मिली, समुद्र लाँघनेके समय फिर आपका स्मरण किया तो उससे बीचके विघ्न शान्त हुए, लङ्कामें प्रवेश करनेमें स्मरण किया तो विभीषणजी सहायक मिले जिससे मैं सीताजी तक पहुँचा, बागमें फल खाने पैठा तब आपको हृदयमें धरकर ही, उससे निशाचरोंको मारा, गर्जन भी करता था । तब आपके प्रतापका ही गर्जन करता था; उसीसे श्रीसीताजीके आशीर्वादसे लङ्का जली और मेरा कुछ न बिगड़ा ।

टिप्पणी—३ हनुमान्‌जीने समुद्र पारकर पहले वाटिका उजाड़ी, फिर निशाचर-वध किया और अन्तमें लंकादहन किया । पर उन्होंने यहाँ अपने कार्यक्रमानुसार नहीं कहा । प्रथम लंकादहन कहकर तब वन-विध्वंस आदि कह रहे हैं । क्रमसे

* नाधि—ना० प्र० । † कछुक—कोदवराम । ‡ 'साखाते''' चम्पकमाला । (८), (९) पायकुलक। (ब्र० चं०) ।

कहनेमें भी अभिमान सूचित होता, क्रमभङ्गसे निरभिमानता दिखायी। (वास्तवमें लंकादहन प्रथम कहनेका कारण श्रीरघुनाथजीका प्रश्न ही है। वे 'लंकादहन' का ही प्रश्न करते हैं, अतएव प्रथम उसीका उत्तर देना उचित ही है।) अथवा, उनको कुछ याद ही न रहा, प्रभुके पूछनेपर उलटा-पुलटा जैसा कुछ याद आता गया सुना दिया।

४ (क) **'सो सब तव प्रताप रघुराई'''॥'** तात्पर्य यह कि यह सब पुरुषार्थ हमसे कब हो सकता है? (ख) 'सो सब'''।' रामजीने तो केवल लंकादहन पूछा था, यदि केवल उसीको कहते तो समझा जाता कि शेष सब कार्य अपने पुरुषार्थसे किया और लंकादहन रामप्रतापसे। इसीसे सबको गिनाकर तब 'सब' का प्रभुप्रतापसे होना कहा। (ग) **'न कछू मोरि प्रभुताई'** ।—अर्थात् मेरा पुरुषार्थ किसी कार्यमें भी किंचित् नहीं है; सबमें आपके प्रतापने ही काम किया।

वन्दनपाठकजी—हनुमन्नाटकका श्लोक इस प्रसङ्गपर देखिये—**'का शृङ्गारकथा कुतूहलकथा गीतादिविद्याकथा माद्यत्कुम्भिकथा तुरंगमकथा कोदण्डदीक्षाकथा। एकैवास्तिमिथःपलायनकथा त्वद्भीतरक्षःपतेर्देव श्रीरघुनाथ तस्य नगरे स्वप्नेऽपि नान्या कथा।'** अर्थात् हे देव रघुनाथजी! आपके शत्रुसे रक्षित नगरमें आपके प्रतापके भयसे क्या कहीं शृङ्गारकी कथा, कुतूहलकथा, गीतवाद्यादिकी चर्चा, विद्याकी चर्चा या मस्त हाथी और घोड़ोंकी कथा, या धनुर्विद्याशिक्षा आदिकी चर्चा होती है? अर्थात् इनका तो मारे डरके, कहीं नाम नहीं है। हाँ! वहाँ तो केवल एक कथा नगरमें हो रही है—वह परस्पर लंकासे भाग जानेकी कथा है और दूसरी चर्चा वहाँ नहीं है।—(६। ४१)।

दो०—ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रभाव* बड़वानलहि जारि सकै खलु तूल† ॥३३॥

अर्थ—हे प्रभो! जिसपर आप प्रसन्न हों, उसे कुछ भी कठिन नहीं। आपके प्रभावसे रूई बड़वानल (समुद्रमें रहनेवाली अग्नि) को भी निश्चय जला सकती है। भाव कि रूई अग्निको जलावे और उसपर भी बड़वानलको, यह महान् असम्भव है; पर यह भी आपके प्रतापसे सम्भव हो जाता है, तब लंका जलाना कौन बड़ी बात है? ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—१ प्रभुने लंकादहनको अगम्य कहा। उसका इन्होंने ऐसा सुन्दर उत्तर दिया कि उसमें कुछ भी अगमता न रही, रामप्रताप ही मुख्य ठहरा। श्रीरामजीकी ऐसी अनुकूलता है कि इनको जरा भी अभिमान न आया।

२—**'तव प्रभाव'''जारि सकै'**। इस उत्तरकी खूबी देखिये। वे यह नहीं कहते कि रूईने जलाया या जलाती है, वरंच कहते हैं कि आपका प्रताप रूईद्वारा बड़वानलको भी जला सकता है। हनुमान्‌जीने उपमामें भी अपना पुरुषार्थ नहीं आने दिया; क्योंकि यहाँ रूईके स्थानपर हनुमान्‌जी अपनेको दिखा रहे हैं। रूई जला सके, यह विश्वास नहीं होता; इसीसे 'खलु' शब्द दिया अर्थात् निश्चय है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ 'दूसरी असंगति' अलंकार है।

नोट—१ 'बड़वानलहि' इस पदसे तेजस्वियोंकी यहाँतक अवधि जनायी। भाव यह कि समुद्रसरीखे अगाध जलनिधिके जलको भी बड़वानल जला देनेवाला है, उसको भी रूई निश्चय ही जला सकती है, तब लंकाका जलाना क्या? तात्पर्य कि जीवका सब कार्य भगवत्कृपासाध्य होनेहीसे कल्याण है और केवल उद्योगसाध्य होनेसे नहीं। यथा—**'हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।'** (मा० त० सु०)।

वि० त्रि०—**'ता कहुँ प्रभु'''तूल'** इति। प्रभुकी अनुग्रह-शक्ति ही सब शक्तियोंसे बड़ी है। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति तथा माधुर्याधिष्ठात्री आदि महाशक्तियाँ उसीके वशीभूत होकर काम करती हैं। भावार्थ यह कि सरकारके अनुकूल होनेसे सरकारकी अनुग्रह शक्ति काम करने लगी, उसीने महा असम्भवको सम्भव कर दिया, समुद्रोल्लंघन, लंकादाह, निशिचरोंका वध, वन-विध्वंसादिक कार्य उसी शक्तिके बलसे हुआ। नहीं तो मेरेमें क्या रखा है। **'अष्टाङ्गुलं शरीरं मे पुच्छं मे द्वादशाङ्गुलम्। बाहू मे पश्य भो राजन् कथं वारान्निधिं तरे।'** (हनुमन्नाटके)। मेरा शरीर आठ अङ्गुलका, पूँछ बारह अङ्गुलकी, बाहु भी देख लीजिये, मैं समुद्र पार कैसे जा सकता हूँ?

प० प० प्र०—भाव कि आपकी कृपासे क्षुद्रातिक्षुद्र जन्तु भी परम समर्थ हो जाता है। सब काम किया आपके प्रतापने, पर मुझको निमित्त बनाकर मुझे सेवाका लाभ दिया यह मुझपर असीम अहैतुकी कृपा की।

* प्रभाव—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, १७०४। प्रताप—कोदवराम, ना० चं०। † कच्छ दोहा है—(ना० चं०)। इसमें ८ गुरु, ३२ लघु होते हैं।

लमगोड़ाजी—नवीन भौतिक बलपर निर्धारित जगत् ध्यान दे। रामराज्यका मूल-मन्त्र उसकी ध्वजापर अंकित है। वह है—'सत्य शील'। लंकाके Militarism सेनानिर्धारित राज्यके 'दुर्ग अति बंका' की दुर्गति आपने देखी और हनुमान्‌जीका 'रामप्रताप' पर विश्वास भी देखा।—यह केवल कथनीमात्र नहीं है। Hitlerism और Mussolism का नाश भी आपने उन हाथोंसे देख लिया जिनके नेताओंको पहले 'आँसू' और 'हार' ही दिखाते थे। भगवान् कहाँसे और कैसे सत्यकी विजय कराते हैं यह मनुष्यको दिखता नहीं, इसीसे धोखा खाता है। सन्तोंका अनुभव था कि संसारपर बड़ा संकट है यह श्रीहरिनाम-यश-कीर्त्तनसे ही पार हो सकता है। अतः भारतवर्षमें श्रीअयोध्याजी आदिमें अखण्ड कीर्त्तन जारी हो गया। 'जय सिय राम जय जय हनुमान' का प्रभाव यह हुआ कि संकट बहुत टल गया। यह वही समय था जब ग्रीनिच (Greenich) में एक ऐसा भूकम्प यन्त्रद्वारा जाना गया जो तीन घण्टे रहा। यह भूकम्प पैसिफिक महासमुद्रमें ऐसी जगह था जहाँ कोई टापूतक न था, नहीं तो उसकी क्या दुर्गति होती कौन कह सकता है? हाँ, बिहारकी जो गति १९३४ के तीन मिनटवाले भूकम्पसे हुई थी, उससे किंचित् अनुमान मात्र भले ही कर लें। पैसिफिकका वह भूकम्प सात हजार मीलपर यन्त्रद्वारा अनुमानमें आया और Record हुआ। फिर पाँच स्थानोंपर छोटे-बड़े भूकम्प ही होकर रह गये। यह वही समय था जब उड़ीसा और बंगालमें Cyclone आँधी-पानीका तूफान आया था पर बहुत आगे नहीं बढ़ा। भृगुसंहिताके अनुसार भारतवर्षको उत्तर-पूरब और दक्षिण-पश्चिमसे बड़ा भय था और भयका निवारण सन्तोंद्वारा ही लिखा था। सन्तोंने कीर्त्तन आदि उपाय कराये जिसके प्रभावसे उत्तर-पूरबवाला आक्रमण नाममात्रको हुआ और दक्षिण-पश्चिमवाला भय मैडागास्करतक ही आकर रह गया। वर्तमान संसार-युद्ध नं० २ अभी स्थगित ही है, कारण कि अभी किसी भी सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर नहीं हुए। भृगुसंहिताके अनुसार अभी दस वर्षतक संघर्ष चलता रहेगा और तीसरे युद्धकी भी सम्भावना है। हाँ, उसका निवारण 'ईश-भजन' नाम-यश-कीर्त्तन इत्यादि ही हैं। गांधीजीकी विजय भी सत्यका विजय (वह भी निरायुध) एक चमत्कार है; पर 'शील' अभी बहुत कम है, इसीसे हथियारोंकी खड़क बंद नहीं है, कायरतासे बेगुनाह लोग मारे जा रहे हैं। रामराज्यके 'भगवान्‌पर विश्वास' का मूल-मन्त्र ही इस दोहेमें है और सारे संसारके लिये विचार करने योग्य है।

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—'अनपायनी' (सं० अनपायिन्, अनपायिनी)=निश्चल, स्थिर, नाश न होनेवाली। 'अनपायिनी' अनपायिन्‌का स्त्रीलिङ्ग है।

अर्थ—हे नाथ! मुझे अपनी अत्यन्त सुख देनेवाली निश्चल भक्ति कृपा करके दीजिये॥ १॥

प० प० प्र०—'अति सुख···' इति। जो सुख प्रयत्न-साध्य है और लोक-लोकान्तरोंमें ऐश्वर्य आदि भोगोंके रूपमें मिलता है वह 'सुख' है। वह इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। 'अति सुख' वह है जो बुद्धिग्राह्य और इन्द्रियातीत है। यथा—'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। गीता। ६। २१।' (नोट—यह तभी होता है जब चित्त सर्वथा निरुद्ध हो जाता है, समस्त मनोवृत्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं, केवल एक आत्मविषयक बुद्धि ही रह जाती है जिससे योगी मनसे आत्माका साक्षात्कार करता हुआ अन्यकी प्रतीक्षा न करके आत्मामें ही संतुष्ट हो जाता है। इसकी प्राप्ति परम लाभ कही गयी है। यथा—'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। गीता ६। २२।'

टिप्पणी—१ 'नाथ भगति अति···' इति। (क) भक्ति माँगते हैं, अतः 'नाथ' सम्बोधन दिया। यथा—'अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥ ५। ४९।' (विभीषणजी), 'नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु। जनम जनम प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥' (७। ४९ वशिष्ठजी), इत्यादि। 'अति सुखदायिनी' का भाव कि ज्ञानादि सब गुण सुखदायी हैं पर भक्ति 'अत्यन्त सुखदायिनी' है। यथा—'सब सुख खानि भगति तैं माँगी। ७। ८५।' यहाँ चरणकी भक्ति माँगते हैं, यह बात आगे स्पष्ट की है।—'रघुपति चरन भगति सोइ पावा।' (ख) यहाँ भक्ति माँगनेका कौन मौका है? उत्तर—(१) हनुमान्‌जीपर प्रभु इस समय बहुत प्रसन्न हैं। प्रभुके अनुकूल होनेपर कोई बात अगम्य नहीं और भक्तिसे प्रभु सदैव अनुकूल रहते हैं। यथा—'भगतिहि सानुकूल रघुराया।' अतएव इस समय भक्ति माँगी कि मिल भी जायगी और इसके मिलनेसे आगे भी प्रभु अनुकूल रहेंगे। अथवा (२) प्रभुने कहा है कि

* ना० चं०—आदि चौपाईके २३२ और २२४ वें भेद है। कोदवरामजीकी पुस्तकमें 'तव अति सुखदायनि' और 'सो अनपायिनी' पाठ है।

'प्रतिउपकार करौं का तोरा ।' यह भक्ति माँग लेनेका अच्छा मौका है । अतएव उसीके उत्तरमें हनुमान्‌जी कहते हैं कि 'हे नाथ ! मुझपर कृपा करके अपनी भक्ति दीजिये । प्रत्युपकार तो बराबरवालेसे किया जाता है, और मैं तो आपका दास हूँ । यह न कहिये कि 'प्रत्युपकार करौं का···' इत्यादि । जो आपने कहा है । आपके पास तो सभी पदार्थ हैं । जो साधनोंद्वारा भी दुष्प्राप्य हैं और जो केवल आपकी कृपासे ही मिल सकते हैं । अतएव मुझपर कृपा हो ।'

२—'देहु कृपा करि अनपायनी' इति । (क) कृपा करके देनेका भाव कि भक्ति सुकृतसे भी मिलती है, यथा—'जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई' ३ । ६) । मुझमें जप, योग आदि कुछ भी नहीं है; केवल आपकी कृपाका अवलम्ब है । आप कृपा करके मुझे दें, कृपासे जो भक्ति मिलती है उसका नाश नहीं होता और जो धर्मसे मिलती है उसका नाश भी है; क्योंकि पुण्य जब क्षीण हो जायँगे तब वह भी न रह जायगी । पुण्योंका नाश हो जाता है पर कृपाका नाश नहीं है, यथा—'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती ।' अतएव कृपासे मिली हुई भक्तिका अन्त नहीं और इसीसे सब लोग भक्तिकी प्राप्तिमें कृपाहीको प्रधान रखते हैं । यथा—(१) 'बाल बिनय सुनि करि कृपा रामचरन रति देहु'—(१ । ३ । गोस्वामीजी) । (२) 'अब करि कृपा देहु बर एहू । निज पद सरसिज सहज सनेहू ॥'—(२ । १०७ । भरद्वाजजी) (३) 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती । सब तजि भजन करउँ दिन राती ॥'—(४ । ७ । सुग्रीवजी) । (४) 'अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ । जेहि जोनि जनमौं कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ ॥'—(४ । १० वाली) । (५) 'अब कृपाल निज भगति पावनी । देहु सदा सिवमन भावनी ॥'—(५ । ४९ । विभीषणजी) । (६) 'करुनायतन प्रभु सद्‌गुनाकर देव यह बर माँगहीं । मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं ॥'—(७ । १३ । वेद) । (७) 'परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम । प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम ॥'—(७ । ३४ । सनकादिक) । (८) 'नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु । जन्म जन्म प्रभुपद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु ॥'—(७ । ४९ । वशिष्ठजी) । (९) 'भगत कलपतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुखधाम । सोइ निज भक्ति मोहि प्रभु देहु दया करि राम ॥'—(७ । ८४ । भुशुण्डिजी) ।

प० प० प्र०—सारांश यह है कि जब भगवान् कृपा करके अनपायिनी भक्ति देते हैं तभी 'माया संभव सकल भ्रम' नहीं व्यापते । देखिये लोमशजीने भुशुण्डिजीको आशीर्वाद दिया था कि 'रामभगति अबिरल उर तोरे । बसिहि सदा ।' फिर भी उनको मोह हो गया था । जब भगवान् प्रसन्न होकर वर देते हैं कि—'माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि' तब ऐसा होता है ।

सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी । एवमस्तु तब कहेउ भवानी ॥ २ ॥
उमा राम सुभाउ* जेहिं जाना । ताहि भजनु तजि भाव न आना† ॥ ३ ॥

अर्थ—(शिवजी कहते हैं कि) हे भवानी ! कपिकी परम सरल वाणी सुनकर तब प्रभुने एवमस्तु (=ऐसा ही हो) कहा ॥ २ ॥ हे उमा ! जिसने श्रीरामजीका स्वभाव जाना उसे भजन छोड़ दूसरी बात अच्छी नहीं लगती ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'एवमस्तु तब कहेउ' इति । 'तब' का भाव कि प्रभुने इनको तीन बार हृदयसे लगाया, सिरपर हाथ फेरा, कृपादृष्टिसे देखा, और ऋणी बने; पर बिना माँगे अपनेसे भक्ति देनेको न कहा, भुशुण्डीजीके प्रसङ्गमें भी यह बात देखनेमें आती है, उन्हें भी बिना माँगे अपनी ओरसे प्रभुने भक्ति नहीं दी । देखिये ७ । ८४ (४); यथा—'प्रभु कह देन सकल सुख सही । भगति आपनी देन न कही ॥' भक्ति ऐसी दुर्लभ वस्तु है । जब परम सरल वाणी सुनकर हृदयको शुद्ध देखा तब 'एवमस्तु' कहा । उपक्रममें 'बोला बचन बिगत अभिमाना ।' और उपसंहारमें 'परम सरल बानी' कहकर जनाया कि 'अभिमानरहित' वाणी 'परम सरल' वाणी कहलाती है ।

२—'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना ।' (क) हनुमान्‌जीने भक्ति माँगी, उसीपर महादेवजीके ये वचन हैं कि जो स्वभाव जानता है, वह भजन ही चाहता है । इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि हनुमान्‌जी रामजीका स्वभाव जानते हैं । प्रमाण यथा—'तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ । ७ । ३६ ।' इसीसे उन्होंने भक्ति माँगी । इससे यह भी जाना गया कि भक्ति और भजन पर्याय हैं । (ख) 'स्वभाव' अर्थात् रामजी ऐसे उदार, ऐसे पतितपावन, ऐसे कृतज्ञ इत्यादि हैं । यह जिसने जाना उसे भजन ही 'भाता है' । भुशुण्डिजी स्वभावके जानकार हैं, यथा—'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ । जान भुसुंडि

* सुभाव—(ना० प्र०) । † (२), (३), (४), (५), (६) पायकुलक है ।

संभु गिरिजाऊ ॥ ५ । ४८ ।' इसीसे उन्हें भी भजन ही 'भाया' यथा--'प्रभु कह देन सकल सुख सही । भगति आपनी देन न कही ॥ भजनहीन सुख कौने काजा । अस बिचारि बोलेउँ खगराजा ॥'

नोट--१ श्रीरामजीका स्वभाव जाननेवाले श्रीशिवजी, लक्ष्मणजी और भरतजी भी हैं, यथा—'राम रावरो सुभाउ गुन शील महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लषन भरत'—(विनय २५१) । शिवजी जानते हैं, इसीसे उन्होंने भक्ति माँगी, यथा--बारबार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग । पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग ॥' स्वभाव जाननेसे ही श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि 'मोरे सबुइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी ॥' (२ । ७२) और 'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा । सब तजि करउँ चरनरज सेवा ॥' (३ । १४) । भरतजीका नेम भजन अवधि भरके कठिन तपस्यासे ही समझ लें। उनका तो मत ही है कि—'साधन सिद्धि रामपग नेहू ।' पुनः रामकलेवामें स्वभावके विषयमें प्रभुके वचनामृत ये हैं—

'गिरिजा संभु भुशुण्डि खगेसू शबरी औ कपिराऊ । जाम्बवन्त हनुमंत बिभीषण जानहिं मोर सुभाऊ ॥ १ ॥ साँची प्रीति करै जो मोसे होय जो जान अजानौ । प्राण समान सदा तेहि राखौं अवगुन एक न मानौं ॥ २ ॥ मो सन प्रीति लगाइ करै जो और देव की आसा । कोटिन बिनय करै सो प्राणी मैं न जाउँ तेहि पासा ॥ ३ ॥ अपने और वाके शरीरमें नेकहु भेद न राखौं । कबहूँ छोह न छाड़ौं ताको चूक करै जो लाखौं ॥ ४ ॥ जो निज मन समेटि सबन से बाँधहि मम पद प्रीती । ताके साथ सदा मैं डोलूँ असि मोरी नित रीती ॥ ५ ॥ प्रेमपरायन अति चित चायन मित्रभाव हिय लेखे । ऐसे प्रीतिवंत प्राणी को कल न परै बिन देखे ॥ ६ ॥'

नोट--२ भगवान् श्रीरामजीने अपना स्वभाव स्वयं आगे दोहा ४८ में विभीषणजीसे कहा है । यथा—'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ ।···जौं नर होइ चराचर द्रोही । आवै सभय सरन तकि मोही ॥ तजि मद मोह कपट छल नाना । करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥ जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥ सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥ अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदय बसइ धनु जैसें ॥ तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे । धरउँ देह नहिं आन निहोरे ॥ सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम । ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विजपद प्रेम ॥ ४८ ॥' श्रीभरतजीने भी प्रभुका स्वभाव कहा है।—'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ । अपराधिहु पर कोह न काऊ ॥ २ । २६० ।', एवं 'राउरि रीति सुबानि बड़ाई ।' से 'यों सुधारि सनमानि जन किए साधु सिरमोर ॥ २ । २९९ ।' तक । इसी तरह भुशुण्डिजी और शिवजीने भी स्वभाव कहा है। यथा—'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ । जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥···सेवक पर ममता अति भूरी···॥ ७ । ७४ ।,—इन गुणोंको जानकर ऐसा कौन है जो भजन न करेगा ?—'तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि ॥ ७ । ७४ ।'

३—'भाव न आना' इति । भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि बड़े-बड़े निवृत्तिपरायण, निरपेक्ष, श्रीशुक-सनकादि-सरीखे आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनीश्वर भी उनका भजन करते रहते हैं । यथा—'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ भा० १ । ७ । १० ॥ हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः । अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥ ११ ॥' शौनकजीके प्रश्न करनेपर सूतजीने यह कहा है । पुनः यथा--'सुक सनकादि मुकुत बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ ॥ विनय ८६ । २ ।', 'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान ॥ ७ । ४२ ।'—अतः 'भजन तजि भाव न आना ।' कहा ।

टिप्पणी—३ 'भाव न आना' इति । ज्ञानादि अन्य सब सद्‌गुण 'आना' में आ गये । अर्थात् जो चौपाईमें कहा कि 'भाव न आना' वे अन्य पदार्थ ये हैं जो स्वयं प्रभुने श्रीमुखसे भुशुण्डिजीको अपनी ओरसे देनेको कहे थे; यथा—'काकभुसुंडि माँगु बर अतिप्रसन्न मोहि जानि । अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुखखानि ॥ ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना । मुनि दुरलभ गुन जे जग जाना ॥' पुनः, 'भाव न आना' का भाव यह है कि रामस्वभावके जाननेवालोंके हृदयमें वासना नहीं रह जाती, इसीसे भक्ति छोड़ उन्हें अन्य कुछ नहीं सुहाता, यथा—'तुलसी जौं लौं बिषय की मुधा माधुरी मीठि । तौ लौं सुधा सहस्र सम रामभगति सुठि सीठि' (दो० ८३) । भक्तिकी माधुरीके आगे सब विषय सीठे पड़ जाते हैं । भक्तिकी मधुरताके विषयमें स्वयं भुशुण्डिजी कहते हैं—'ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहि । कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहि ॥ बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि । जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि ॥ ७ । १२० ।'—इसमें भक्तिकी माधुरी और दुर्लभता दिखायी गयी है।

यह संबाद जासु उर आवा। रघुपति चरन भगति सोइ पावा ॥ ४ ॥

अर्थ—यह संवाद जिसके हृदयमें आया (अर्थात् जिसने इसे समझा और धारण किया) उसीने रघुनाथजीके चरणोंकी भक्ति पायी ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'यह संबाद' अर्थात् 'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।' ३३ (६) से 'देहु कृपा करि अनपायनी' ।।३४।। (१) तक। (ख) 'जासु उर आवा' अर्थात् जिसके हृदयमें आयेगा, वह रामस्वभाव जानेगा, स्वभाव जाननेसे उसे भक्ति प्राप्त होगी, फिर तो उसे भक्तिको छोड़कर ज्ञानादि कुछ भी न अच्छे लगेंगे। पुनः, 'उर आवा' से यह भी जनाया कि केवल पढ़ने या सुननेवालेको भक्ति नहीं प्राप्त होगी, जिसके हृदयमें संवाद बैठ जायगा वही पावेगा। 'सोइ' का सम्बन्ध दो जगहसे है—'जासु उर आवा सोइ पावा' और 'सोइ रघुपति-चरणभक्ति पावा' जो हनुमान्‌जीको मिली है। (ग) 'आवा' और 'पावा' से जनाया कि भक्तिकी प्राप्तिमें किंचित् विलम्ब नहीं, संवाद उरमें आनेकी ही देरी है, वह हृदयमें आया नहीं कि भक्ति मिली। तात्पर्य कि हनुमान्‌जीको बड़े परिश्रमसे मिली, इसीसे 'पावा' पद दिया अर्थात् पायी।

मा० हं०—'गोस्वामीजीने हनुमान्‌जीका चरित्राङ्कन यही ध्यानसे किया हुआ दिखाता है कि उन्हें हर तरहसे ऐसी प्रतापशाली और बुद्धिशाली व्यक्ति सारी रामायणमें अन्य कोई भी नहीं दिख पड़ी। यही कारण है कि अन्य किसी भी रामायणमेंके हनुमान्‌जी स्वामीजीके हनुमान्‌जीसे हस्तान्दोलन करनेको पहुँच नहीं सकते। रामहनुमान्-संवादपर स्वामीकी यह छाप है—'यह संवाद जासु...।' इस प्रकारकी छाप रामायणके अन्य किसी भी संवादपर न होना, यही हम इन हनुमान्‌जीकी अधिक विशेषता समझते हैं।'

'इस पात्रका पूर्ण परिचय थोड़ेमें ही चाहो तो इस तरह हो सकता है—रामजीकी ओजस्विता और विवेक, रावणका पौरुष और कार्यप्रवणता, कुम्भकर्णका धैर्य और धड़क, और निजका बुद्धिचातुर्य, अतुलबल और मनोजव इन गुणोंका समीकरण गोसाईंजीके हनुमान्‌जीमें है।'

मा० त० सु०—इस प्रसङ्गमें 'सुनु सुत' आदि पदोंके द्वारा प्रभुका वात्सल्यगुण ही प्रधानरूपसे दिखाया गया है। क्योंकि यहाँ प्रभु अपने ऐश्वर्य शौर्यादि गुणोंको भक्तवश होनेसे भूल गये हैं, यथा—'ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यहि रीति'—(विनय ९८)। अतएव चारों वक्ताओंने इसी प्रसङ्गको भक्ति प्राप्तिके लिये मुख्य माना, शेषको गौण।

टिप्पणी—२—अब संवादका फल कहते हैं। सब संवादोंके फल पृथक्-पृथक् कहे गये हैं, यथा—(१) 'यह उमा-संभुविवाह जे नरनारि सुनहिं जे गावहीं। कल्यानकाज बिबाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं ॥ १। १०३।' (२) 'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहि ते न परहि भवकूपा ॥ १। १९२।', (३) 'उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं। बैदेहि-राम प्रसाद ते जन सर्वदा सुख पावहीं ॥ १। ३६१।', (४) 'भरतचरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयरामपद पेमु अवसि होइ भवरसबिरति ॥ २। ३२६।', (५) 'कलिमल समन दमन मन रामसुजस सुखमूल। सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल ॥ ३। ६।', 'रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग ॥ ३। ४६।', (७) 'भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि। तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि ॥ ४। ३०।', (८) 'सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुनगान। सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान ॥ ५। ६०।', (९) 'समर बिजय रघुबीरके चरित जे सुनहिं सुजान। बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान ॥ ६। १२०।', (१०) 'महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका ॥ जे सकाम नर सुनहि जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं ॥ ७। १५।', (११) 'यह सुभ संभु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा ॥ भवभंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा ॥ ७। १३०।', (१२) 'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं ॥ ७। १३०।', इत्यादि।—विचार देखनेसे स्पष्ट हो जायगा कि फलश्रुति सर्वत्र विषय वा प्रसङ्गके अनुकूल ही दी जाती है।

सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कंद=मेघ। 'कं जलं ददाति इति कन्दः मेघः'। सुखकंद अर्थात् सुखरूपी जलकी वर्षा करनेवाले मेघस्वरूप श्रीरामजी।

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर कपिवृंद कह रहे हैं कि **'कृपाल सुखकन्दकी जय हो ! जय हो !'** (अर्थात् हनुमान्जीको जब प्रभुने अनपायिनी सुखदायिनी निजभक्ति दी तब सब वानर जय जयकार करने लगे ।) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) अपने जातिकी भलाई देखकर लोग सुखी होते हैं, यथा—**'रिषिनिकाय मुनिबर गति देखी । सुखी भए निज हृदय बिसेषी ॥ ३ । ९ ।'** पुनः, हनुमान्जो सबको प्रिय हैं, सबके प्राणदाता हैं । अतएव अपने ऊपर उपकार करनेवाले और प्रियको अनपायिनी भक्ति-सी अलभ्य पदार्थकी प्राप्ति देखकर स्वाभाविक ही सबको प्रसन्नता होनी ही चाहिये । पुनः, सबके सामने ही यह संवाद हुआ है, सबने प्रभुका स्वभाव प्रत्यक्ष देखा; इस प्रकार सबके उरमें यह संवाद आया, जिससे सबको भक्तिकी प्राप्ति हुई । अतएव इन कारणोंसे सब प्रसन्न हुए और सबने जयजयकार किया । (ख) 'प्रभु वचन' इति । **'सुनु कपि तोहि समान उपकारी'** से **'देखेउँ करि बिचार मन माहीं'** तक, ये वचन सुनकर हनुमान्जी 'त्राहि त्राहि' कहकर प्रभुके चरणोंपर पड़े और इन्हीं वचनोंको सुनकर वानर 'जय जय जय' शब्द बोले । इसीसे **'सुनि प्रभु बचन'** यह पद दोनों जगह रखा गया; यथा—**'सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत'** और **'सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा ।'**

२—**'जयजयजय कृपाल सुखकंदा'** इति । भाव कि—(क) प्रभु कृतज्ञ हैं, सबसे उत्कर्ष बरतते हैं । कृपालु हैं, हम सबपर कृपा करते हैं । सुखकंद हैं, ऐसी मधुर वाणी बोलकर हम सबोंको सुख दे रहे हैं; यथा—**'तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हे । कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे ॥'** अथवा (ख) सुख सुकृतसे मिलता है क्योंकि सुख सुकृतका फल है । हमने कोई सुकृत नहीं किये । हममें कोई सुकृत नहीं हैं । यह सुख आपने अपनी कृपासे दिया । सुख धर्म या सुकृतसे मिलता है, यथा—**'सब दुख बरजित प्रजा सुखारी । धरमसील सुंदर नर नारी ॥'** **'तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाए । धरमसील पहिं जाहिं सुभाए ॥'** **'भुवन चारिदस भूधर भारी । सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी ॥'** **'बरनास्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग । चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग ॥'** इत्यादि । धर्म करनेसे जो फल होता है वह हमको प्रभुने अपनी कृपासे (बिना कोई धर्म किये) यों ही दे दिया ।—यह सोचकर जयजयकार करते हैं । ☞ इससे यह जनाया कि जिसपर भगवान्की कृपा हुई वह सब धर्म कर चुका । पुनः (ग) रामस्वभाव समझकर मारे हर्षके रह-रहकर एवं समय-समयपर जय जय शब्द उच्चारण करते हैं, यथा—**'मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं ।'**

नोट—बारंबार जय शब्द उच्चारण करनेमें अत्यन्त उत्साह और आनन्दकी वीप्सा है, यथा—**'जय शब्दो नभश्शब्दस्तत्रासीत्सर्वसंस्कृतः । तदोत्साहो महानासीत्सर्वेषां सुखवर्द्धनः ॥ ४२ ।'**—(शिवपुराण रुद्रसंहिता अ० २०) । (हरिजनजी) । तीन बार लिखकर बहुत बार एवं बारंबार जयजयकार जनाया ।

लमगोड़ाजी—तुलसीदासजीके नाटकीय सत्य (Dramatic truthfulness) को धन्य है । शब्द लिखे बादको हैं, पर साफ बता दिया है कि वे कहे कब गये थे । रङ्गमञ्चका प्रभाव अपनी कल्पनाशक्तिसे चित्रित कीजिये और मजा लीजिये । अभिनेताओंको भी सुन्दर संकेत है; पर बड़ी सावधानीकी जरूरत है, नहीं तो गड़बड़ मच जाय ।

☞ **'जामवंत कह सुनु रघुराया'** से यहाँतक **'बैदेही की कुसल सुनाई'** यह प्रसङ्ग है ।

'सेन समेत जथा रघुबीरा । उतरे जाइ बारिनिधि तीरा ॥'—प्रकरण

तब रघुपति कपिपतिहिं बोलावा । कहा चलै कर करहु बनावा ॥ ६ ॥
अब बिलंब केहि कारन कीजै । तुरत कपिन्ह कहुँ आयसु दीजै ॥ ७ ॥
कौतुक देखि सुमन बहु बरषी । नभ ते भवन चले सुर हरषी ॥ ८ ॥*

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजीने सुग्रीवजीको बुलाया और कहा कि चलनेकी तदबीर (सामान वा तैयारी) करो ॥ ६ ॥ अब देर किस कारण करते हैं ? तुरंत वानरोंको आज्ञा दीजिये ॥ ७ ॥ कौतुक देखकर बहुत फूल बरसाकर और हर्षित होकर देवता आकाशमार्गसे (अपने-अपने घरको चले) ॥ ८ ॥

* 'अब बिलंब···' द्रुतपा, 'तुरत···' चण्डी, (८) पायकुलक ।

टिप्पणी—१ **'तब रघुपति कपिपतिहिं बोलावा'** इति । (क) 'तब' का भाव कि यहाँतक परमार्थ हो चुका, अब स्वार्थकी बात चली । सज्जन पहले परमार्थ साधन करते हैं, पीछे स्वार्थ, यह ग्रन्थकारका उपदेश है । (ख) सब वानरोंपर सुग्रीवका हुक्म चलता है, अतः 'कपिपति' कहा । सुग्रीवपर रामजीका हुक्म है, अतः 'रघुपति' कहा । 'बोलावा' से जान पड़ता है कि सुग्रीव कहीं दूर हैं; पर वे तो पास ही बैठे हैं तब 'बुलावा' कैसे कहते हैं ? उत्तर यह है कि वानर मारे हर्षके 'जय जय जय' शब्द बारंबार उच्चारण कर रहे हैं, शोरके मारे कुछ सुनायी नहीं पड़ता; अतएव बात सुननेके लिये परम निकट बुलाकर तब कहा । (घ)—'बनावा'—अर्थात् व्यूहरचना करके सब यूथपति अपना-अपना यूथ लेकर चलें । ☞ **'तुलसिदास प्रभु सखा अनुज सों सैनहिं कह्यो चलहु सजि सैन ।** गी ५ । २१ ।' यह **'जो चलहु सजि सैन'** है वही यहाँ **'करहु बनावा'** में अभिप्रेत है ।

२ **'अब बिलंब केहि कारन कीजै ।'** इति । (क) तात्पर्य कि विलंबका कारण था कि सीताजीका समाचार न मिला था । अब खबर मिल गयी, तब देर न करनी चाहिये । **'जौं रघुबीर होति सुधि पाई । करते नहिं बिलंब रघुराई ॥'** हनुमान्‌जीके इन वचनोंकी सत्यता अनुभूत हुई । (ख) 'तुरत' क्योंकि हनुमान्‌जीकी प्रार्थना है कि **'बेगि चलिय प्रभु आनिए'**…।' पुनः इससे कि उस समय यात्राके लिये बहुत शुभ मुहूर्त था ।

नोट—१ अध्यात्मरा०में भी कहा है कि **'सुग्रीव सैनिकान्सर्वान् प्रस्थानायाभिनोदय । इदानीमेव विजयो मुहूर्तः परिवर्तते ॥** ६ । १ । २७ ।' अर्थात् सब सैनिकोंको चलनेकी आज्ञा दे दो, इसी समय 'विजय' मुहूर्त है । ३५ (४) देखिये ।

वाल्मी० ६ । ४ में श्रीरघुनाथजी सुग्रीवजीसे कह रहे हैं कि—सूर्यके मध्य आकाशवर्ती होनेपर अभिजित् मुहूर्तमें यात्रा करनेसे हमारी जय है । आज उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र है, कल हस्तनक्षत्रसे इसका योग होगा । यथा—**'अस्मिन्मुहूर्ते विजये प्राप्ते मध्यं दिवाकरे ।…उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते । अभिप्रयामस्सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः ॥** ४ । ६ ।' अतः सब सेनाके साथ तुरंत चल दें । शुभ शकुन भी हो रहे हैं । हनुमन्नाटकका मत है कि आश्विनकी विजयदशमीको श्रीरामचन्द्रजीने सेनासहित प्रस्थान किया, यथा—**'अथ विजयदशम्यामाश्विने शुक्लपक्षे दशमुखनिधनाय प्रस्थितो रामचन्द्रः ।** ७ । २ ।' पर वाल्मीकीयके मतसे इसका विरोध होता है । पद्म० पु० पातालखण्ड अ० ३६ में मार्गशीर्ष शुक्लको उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र और विजयनामक मुहूर्तमें दोपहरके समय श्रीरघुनाथजीका लङ्काके लिये प्रस्थान होना लिखा है । स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड धर्मारण्य माहात्म्यके अ० ३० में भी प्रायः वही श्लोक हैं जो प० पु० पा० अ० ३६ में हैं । यह मत वाल्मीकीयसे मिलता है ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि **'तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजे'** का भाव यह है कि आज इसी समय बंदरोंको आज्ञा दीजिये । कल हस्त नक्षत्र लग जायगा । पुनर्वसुमें जिसका जन्म हुआ हो, उसके लिये हस्त वधतारा है, और आज उत्तरा फाल्गुनी है जो श्रीसीताजीका जन्मतारा है । जो कैद है उसके छुड़ानेके लिये उसके जन्मतारामें प्रयाण करनेसे वह अवश्य छूटता है, सो आज उत्तरा है, और इस समय अभिजित् विजयप्रद मुहूर्त है, अतः इसी समय यात्राके लिये शुभ मुहूर्त है । सीताजीके हरणके बाद जब-जब सरकार खोजने चले तो रास्तेमें वसन्तका वर्णन आया है । इससे स्पष्ट है कि सीताहरण शिशिरमें हुआ अर्थात् फाल्गुनमें हुआ, और सीताजीने हनुमान्‌जीसे कहा कि **'वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लवङ्गम ।'** भाव यह कि यह दसवाँ महीना लङ्कामें आये जा रहा है । इस हिसाबसे यात्राका समय अगहन-पूस पड़ता है, और अमान्त माससे अगहन कृष्ण अष्टमी या सप्तमीको उत्तरा नक्षत्र आता है, अतः अगहन सुदी पूर्णिमाके बाद सातवें या आठवें दिन सरकारकी विजय यात्रा हुई । वाल्मीकीयमें कहते हैं—**'उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते । अभिप्रयामस्सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः ॥'** इससे स्पष्ट है कि सरकारकी विजययात्रा उत्तराफाल्गुनीमें हुई है । विजयदशमीको श्रवणमें विजय यात्रा होती है, जो उत्तरा फाल्गुनीसे बहुत दूर पड़ता है । अतः विजयदशमी कथमपि सरकारके विजययात्राका दिन वाल्मीकिके हिसाबसे नहीं पड़ सकता । अध्यात्मका कथन **'इदानीमेव विजयो मुहूर्तः परिवर्तते'** से अभिजित् मुहूर्तका संकेत है, जो दोपहरको पड़ता है । विजय मुहूर्तके ग्रहणसे विजयदशमीका ग्रहण नहीं हो सकता है ।

२—**'बिलंब केहि काज'** और **'तुरत आयसु दीजे'** से पाया जाता है कि सुग्रीवजी विलम्ब कर रहे थे, नहीं तो ऐसा कहनेका क्या अभिप्राय हो सकता है ? इस कथनका तात्पर्य यह है कि जब हनुमान्‌जीने खबर दे दी थी, तभी तैयारी

करना था। नहीं तो कम-से-कम उस समय तो अवश्य तैयारी करते जब हनुमान्‌जीके वचन सुन लिये थे कि **'बेगि चलिये…'**, उचित था कि तुरंत उसी समय प्रभुकी आज्ञा लेकर चलनेकी तैयारी करते। बुलाकर आज्ञा देनेपर चले यही विलंब' है।

टिप्पणी—३ **'कौतुक देखि सुमन बहु बरषी।'** (क) वानरीसेना साथ लेना, यही कौतुक है, यथा—**'कौतुक लागि संग कपि सैना'** (४। ३०)। अतएव कौतुक देखना कहा।—[पुनः, कौतुक—१ रंगबिरंगके अनेक जातिके वानर भालु संग लेकर रावणको जीतने जाना, उन प्रभुका कि जो **'प्रभु सक त्रिभुअन मारि जिआई'**, यह कौतुक ही तो है। वानर-भालु निशाचरोंके भक्ष्य हैं, उन्हींसे निशाचरोंको जीतेंगे। पुनः २—वानरोंकी कूद-फाँद किल-किला गर्जन-तर्जन आदिका कौतुक।—(प्र०)] (ख) बहुत सुमन बरसानेका भाव यह कि जितनी दूरतक वानर थे वहाँ तक फूल बरसाये। यह समयकी सेवा है, सो की, यथा—**'बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा'**, **सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं।…सेवहिं सकल रामप्रिय जानी॥ २। ३११।'**, **'समय समय सुर बरषहिं फूला॥ १। ३१९।'** अथवा, प्रयाण (प्रस्थान) जानकर पुष्पोंकी वृष्टि की, क्योंकि पुष्पवृष्टि मङ्गल है, यथा—**'बरषहिं सुमन सुमंगलदाता।'** पुनः, (ग)—पूर्व कह चुके हैं कि इस संवादको कहकर या सुनकर जो हृदयमें धारण करता है वह भक्ति पाता है। देवताओंने सुना और आँखों देखा इससे उन्होंने भक्ति पायी। इसीसे फूल बरसाये। फूल बरसाना भक्ति है।

४ (क) यहाँ भी देवताओंकी स्वार्थपरायणता देख लीजिये—जब **'सीतासुधि'** सुनायी तब फूल न बरसाये और जब हनुमान्‌जीको भक्ति प्रदान हुई तब भी न बरसाये; क्योंकि उन्होंने सोचा कि इन्हें भक्ति मिली तो इसमें हमारा क्या काम हुआ? हमको क्या लाभ है जो हम हर्ष प्रकट करें? जब चलनेकी तैयारीकी आज्ञा दी, तब वर्षा की; क्योंकि अब विश्वास हुआ कि रावणको मारेंगे, हम सब सुखी होंगे। ये सदाके स्वार्थी हैं—**'आये देव सदा स्वारथी।'** (ख) **'नभते भवन चले।'** इससे जनाया कि अभीतक सब देवता पृथ्वीपर थे, यथा—**'मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभुकै सेवा॥ ४। १३।'** प्रस्थानका समय जान कर निज (देव) रूप धारण करके आकाशमें गये; अब वहींसे घरको चल दिये। तात्पर्य कि वर्षा और शरद्‌में भगवान्‌की सेवामें रहे, जब वे लंकाको चले तब वे घरको चल दिये।

श्रीलमगोड़ाजी—**'अब बिलंब…'** के प्रश्नरूपसे कितनी सरलता और सरसतासे भगवान्‌का उत्साह और कर्तव्य-परायणता दिखायी गयी है कि तनिक विलम्ब भी नहीं सहा जाता, देवताओंकी सुमनवृष्टिपर तो फिल्मकला ही निछावर है; कारण कि अवसर बड़ा सुन्दर है। हमें साफ दिखने लगता है कि भौतिक नाटकके द्रष्टा देवगण भी होते हैं और **'हिम्मते मरदां मददे खुदा'** (पुरुषार्थ करनेवालेको ईश्वर सहायक होता है) को चरितार्थ करते रहते हैं। और, यहाँ तो उन्हींका काम ही है; अब जाकर उनकी चिन्ता निवारण हुई और वे आशाके साथ घर गये।

दो०—कपिपति बेगि बोलाए आए जूथप जूथ।
नाना बरन अतुल बल बानर भालु बरूथ* ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—यूथ=एक ही जाति या वर्गके अनेक जीवोंका समूह, झुंड, दल, सेना। यूथप=सेनापति।

अर्थ—(श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा सुनकर) कपिपति सुग्रीवने सेनापतियोंके यूथों (समूहों) को तुरंत बुलाया, वे तुरंत आ गये। वानर और भालुके झुंड अनेक रंग एवं जातिके हैं, उनमें असीम बल है॥ ३४॥

टिप्पणी—१ श्रीरामजीने सुग्रीवको आज्ञा दी, सुग्रीवने यूथपतियों और यूथपतियोंने अपनी-अपनी सेनाके वानर-भालु-वरूथोंको। वानरभालु-वरूथ सेना है। **'बेगि'** बुलाया इसीसे वे 'बेगि' आये। 'बुलाए' और 'आए' ये दोनों क्रियाएँ एक साथ हुईं; इसीसे दोनोंको साथ रखा। श्रीरामजीकी आज्ञा थी **'तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजै'**; अतः **'कपिपति बेगि बोलाए।'** 'आए' बहुवचन है, क्योंकि यूथपतियोंके बहुतसे झुंड हैं। यथा—**'पदुम अठारह जूथप बंदर।४**—उत्तरार्द्धमें यूथपतियोंका वर्ण और बल कहा। वानर-भालुसे जाति और वरूथसे सेना कही। नाना वर्णोंके वानर-भालुओंका वाल्मीकीयमें विस्तृत वर्णन है।

प्रभु पदपंकज नावहिं सीसा। गर्जहिं भालु महाबल कीसा†॥ १॥

* यह दोहरा है।

† 'प्रभु…' तामरस, 'गर्जहिं' पायकुलक। (म० चं०)

अर्थ—सब प्रभुके चरणकमलोंमें सिर नवाते हैं। महाबली वानर और भालु गर्ज रहे हैं॥ १॥

टिप्पणी—१ सुग्रीवजीके चरणोंमें माथा नवानेसे वे प्रसन्न नहीं होते, किंतु श्रीरामजीके चरणोंमें मस्तक नवानेसे वे प्रसन्न होते हैं; इसीसे जहाँ-तहाँ श्रीरामजीके ही चरणोंमें मस्तक नवाना पाया जाता है। यथा—'एहि बिधि होत बतकही आए बानर जूथ। नाना बरन सकल दिसि देखिअ कीस बरूथ॥ ४। २१।' '' आइ रामपद नावहिं माथा'; पुनः; यथा—'आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥ ४। २३।'— [नोट—यह रीति है कि जब किसी समाजमें कोई बड़ा बैठा होता है, तब उसीको प्रणाम किया जाता है, उसके प्रणामसे सबको प्रणाम हो जाता है। ऐसी भी रीति देखनेमें आती है कि प्रधानको प्रथम प्रणाम करके तब औरोंको वहींसे साधारणतः प्रणाम कर लिया जाता है। यहाँ सुग्रीव श्रीरामजीके पास हैं, इसमे श्रीरामजीको ही प्रणाम किया] । २—जब सुग्रीव रामजीके समीप नहीं होते तब उनको प्रणाम करते हैं, यथा—'आइ सबन्हि नावा पद सीसा। मिलेउ सबन्हि अति प्रीति कपीसा॥' (५। २८)—[मा० त० सु०—'नावहिं सीसा' का भाव यह कि सिर झुकाकर प्रणाम करने लगे, क्योंकि समुदायमें साष्टाङ्ग प्रणाम करनेका अवकाश नहीं मिलता। पुनः केवल सिर नवानेसे शीघ्र चलनेकी तैयारी सूचित की।] ३—'महाबल' इति। ऊपर दोहेमें 'नाना बरन अतुल बल' कहकर यहाँ 'गर्जहिं भालु महाबल कीसा' कहा; इससे जनाया कि किसीके महाबल है और किसीके 'अतुल' बल है। ४—'गर्जहिं' से जनाया कि शत्रुपर चढ़ाई समझकर वीररसका आवेश हो आया। अतः गरजने लगे। प्रथम जब सब वानर (श्रीसीताजीका पता लगानेके लिये बुलाये जानेपर) आये थे, तब न गर्जे थे; यथा—'आइ रामपद नावहिं माथा। निरखि बदन सब होहिं सनाथा।' तब वीररसका आवेश न हुआ था क्योंकि उस समय युद्धका प्रयोजन न था; केवल सीताजीके 'खोज' लगानेका ही प्रयोजन था।

देखी राम सकल कपि सेना। चितइ कृपा करि राजिवनयना॥ २॥
राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भए पक्षजुत मनहुँ गिरिंदा॥ ३॥
हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भए सुंदर सुभ नाना॥ ४॥*

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सब वानरी सेना देखी और कमल-नयनोंसे उसपर कृपादृष्टि की॥ २॥ रामकृपाका बल पाकर कपिश्रेष्ठ मानो पक्षवाले श्रेष्ठ पर्वत हो गये [वा, वे 'कपीन्द' और 'पक्षयुक्त' हो गये मानो पक्षयुक्त सुमेरु पर्वत हैं। अर्थात् उनमें उड़नेका सामर्थ्य हो गया। इसीसे आगे लिखते हैं कि 'चले गगन महि इच्छाचारी']॥ ३॥ तब प्रसन्न होकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रस्थान किया (अर्थात् चले)। अनेक सुन्दर और मङ्गल शकुन होने लगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) पहले सामान्य दृष्टिसे देखा फिर विशेष दृष्टिसे देखा। तात्पर्य कि जब सब वानर मस्तक नवा चुके तब श्रीरामचन्द्रजीने सेनाको देखा कि इतनी है। फिर उनको बल-पराक्रम देनेके लिये कृपा-दृष्टि करके पुनः उनकी ओर देखा। जैसा कवि आगे स्वयं लिखते हैं—'रामकृपा बल पाइ'।—['देखी' और 'चितइ' में पुनरुक्ति नहीं है। दो क्रियाएँ दो पृथक्-पृथक् बातोंके लिये दी गयी हैं। पहले देखा कि सेना कितनी है और कैसी है। फिर उनको रावणके मुकाबलेमें निर्बल जानकर उनको निशाचरराज और उसकी सेनासे युद्ध करने योग्य बल प्रदान करनेके लिये कृपादृष्टिसे देखा। प्रभुने देखा कि सब देवता ही वानररूप धारण किये उपस्थित हैं, पर देवरूपमें ये रावणसे पराजित हो चुके हैं, यथा—'रबि ससि पवन बरुन धनधारी।'' नवहिं आइ नित चरन बिनीता। १। १८२।' तब ये भला रावणसे कैसे लड़ेंगे ? यह सोचकर 'चितइ कृपा करि'। कृपादृष्टिसे उनके शरीर और बल युद्ध-योग्य कर दिये। (रा० प्र०)। 'चितवना' का प्रयोग मानसमें प्रायः प्रेमसे देखनेके अर्थमें होता है। जैसे, 'रामहि चितइ रहे थकि लोचन। १। २६। ८।', 'रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुखु नहिं कथनीया॥ १। २४२। ६।', 'बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लषन तन। २। १००।', 'पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥ ३२। ८।' इत्यादि। (प० प० प्र०)] (ख) 'राजिवनयन' कृपाका सूचक है। ३२ (१) 'भरि आए जल राजिवनयना' देखिये। पुनः यथा''' 'तब निज भुजबल राजिवनयना' (४। ३०), 'मैं देखउँ खलबल-दलहिं बोले राजिवनयन' (६। ६६)। (ग) जैसे राजा लोग अपनी सेनाकी संख्या कर पारितोषिक बाँटकर चढ़ाई करते हैं, वैसे ही यहाँ कृपाबल पारितोषिक सबको मिला। (घ) 'पक्षजुत मनहुँ गिरिंदा' इति। श्रीरामकृपा-

* (२) (३) पायकुलक, 'हरषि०' द्रुतपा, 'सगुन०' कुसुम विचित्रा।

का फल तत्क्षण हुआ, वे बलवान् तो थे ही, अब पक्षयुत हो गये मानो असंख्य सुमेरुपर्वत एकत्र हो गये हैं। 'भये' देहली-दीपक है। कृपासे बल पाकर 'कपिन्द' हुए और 'पक्षयुत' हुए।

नोट—१ **'भए पक्षयुत मनहुँ गिरिंदा'** के और भाव ये हैं—(१) जब पहाड़ोंके पक्ष थे (जैसे मैनाकके), तब वे उड़ते फिरते थे, वैसे ही ये वानर स्वामीका सांनिध्य पाकर अपने ऊपर कृपा देखकर बल और उत्साहके अतिरेकसे उड़ते-फिरते हैं, मानो पहाड़के पंख हो आये हैं। (गौड़जी)। (२) 'गिरिंदा' हो गये। अर्थात् वे युद्धमें शत्रुओंसे दुर्दम हो गये, अचल हो गये; अब शस्त्रादिके आघात वे सहेंगे, हटेंगे नहीं। यथा—**'कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके। भए प्रबल रन रहहिं न रोके ॥'** (रा० प्र०)। (३) हनुमान्‌जीने अपना पर्वताकार रूप दिखाकर श्रीसीताजीको सान्त्वना दी थी कि ऐसे ही सब वानर हैं, मैं तो सबसे छोटा हूँ। तो अब यदि छोटे-छोटे वानर जाते तो महावीरजीका वचन ठीक न उतरता। अतः वानरोंको पहाड़ोंके समान बना दिया। (रा० शं०)। (४) प्रभुके कृपामय चितवन मात्रहीसे समयानुकूल कार्य सिद्ध हो जाता है, यथा—**'राम कृपा करि चितवा जबहीं। भए बिगत श्रम बानर तबहीं ॥'**, **'कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके। भए प्रबल रन रहहिं न रोके ॥'**

लमगोड़ाजी—ओजगुणकी महाकाव्यकलापूर्ण उत्प्रेक्षा सराहनीय है।

टिप्पणी—२ **'हरषि राम तब कीन्ह पयाना'** इति। (क) प्रस्थानके समय हर्ष होना उत्तम शकुन है। [पुनः, पूर्व **'निसिचरहीन करउँ महि'** (३ । ९), यह जो प्रतिज्ञा की थी उसकी पूर्तिका संयोग जानकर, अभीष्टकी सिद्धि समझकर हर्ष हुआ। शुभ शकुन देखकर भी हर्ष है।] (ख) 'तब' अर्थात् जब सेनाको कृपा करके बल दे दिया और देख लिया कि सेना बलिष्ठ और उत्तेजित हो गयी है तब उनको हर्ष हुआ और उन्होंने प्रस्थान किया। (ग) 'हरषि' यह भीतर हृदयका शकुन है और **'सगुन भये सुंदर सुभ नाना'** यह बाहरके शकुन हैं। बाहरसे भीतरका शकुन श्रेष्ठ होता है। अतः उसे पहले कहा। (घ) **'कीन्ह पयाना'** इति। ३४ (७) में देखिये।

नोट—२ ☞ अध्यात्मरामायणमें केवल मुहूर्तका नाम दिया है और हनुमन्नाटकमें आश्विन विजयदशमीको प्रयाण करना कहा गया है। वाल्मीकीयमें उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र अभिजित नाम विजयके मुहूर्तमें प्रस्थान बताया गया है। पद्मपुराण पातालखण्डमें मार्गशीर्ष कृष्णपक्षकी अष्टमीको उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र और विजय नामक मुहूर्तमें दोपहरके समय प्रस्थान है। मानसके मतसे यही तिथि जान पड़ती है; कारण कि चतुर्मासा बीतनेपर वानर भेजे गये थे और एक मासकी अवधि स्वयंप्रभाके आश्रममें ही बीत चुकी थी। अतः मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष ही मानसका मत है।

३—**'सगुन भये सुंदर सुभ नाना'** इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि, 'निमित्तानि च धन्यानि यानि प्रादुर्भवन्ति च। **निहत्य रावणं सीतामानयिष्यामि जानकीम् ॥ उपरिष्टाद्धि नयनं स्फुरमाणमिदं मम। विजयं समनुप्राप्तं शंसतीव मनोरथम् ॥** वाल्मी० ६ । ४ । ७-८ । ' ' ' **महान्ति च निमित्तानि दिवि भूमौ च राघव ॥ ४६ ॥ शुभानि तव पश्यामि सर्वाण्येवार्थसिद्धये। अनुवाति शुभो वायुः सेनां मृदुहितः सुखः ॥ ४७ ॥**' श्रीरामजी सुग्रीवजीसे कह रहे हैं कि जो शकुन शुभ कहे जाते हैं वे भी हो रहे हैं, जिससे प्रकट होता है कि हम रावणको मारकर जानकीजीको ले आवेंगे। देखो, मेरी दाहिनी आँखके ऊपरका पलक बराबर फड़ककर कह रहा है कि तुम्हारी विजय समीप है और मनोरथ पूर्ण होनेवाला है। श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि आकाश और पृथिवीपर अनेक प्रकारके शकुन देख पड़ते हैं जो आपके लिये शुभ और स्वार्थ-सिद्धिके द्योतक हैं। शीतल, मन्द, सुगन्धित अनुकूल पवन चल रहा है, मृग और पक्षी मधुर स्वरसे बोल रहे हैं, सूर्य निर्मल किरणोंसे प्रकाशित हैं, शुक्र पीछे हैं, सप्तर्षि ध्रुवकी परिक्रमा-सी कर रहे हैं, इक्ष्वाकुकुलका नक्षत्र (विशाखा) उपद्रवरहित हो चमक रहा है, विश्वामित्रसहित त्रिशंकु निर्मल प्रकाश कर रहे हैं—इत्यादि शकुनोंका वर्णन बालकाण्ड दोहा ३०२-३०३ में देखिये।

☞ कठिन कार्यकी सिद्धिके लिये प्रस्थान समय **'हरषि राम तब कीन्ह पयाना।'** इस मन्त्ररूप अर्धालीका स्मरण-जप माङ्गलिक माना जाता है।

जासु सकल मंगलमय कीती। तासु पयान सगुन यह नीती ॥ ५ ॥
प्रभु पयान जाना बैदेही। फरकि बाम अँग जनु कहि देही ॥ ६ ॥
जोइ जोइ सगुन जानकिहि होई। असगुन भयउ रावनहिं सोई* ॥ ७ ॥

* (५) से (१०) तक पायकुलक है—(ब्र० चं०)।

अर्थ—जिसकी कीर्ति सकल मङ्गलमय है, उसके प्रस्थानमें शकुन होना—यह नीति है। (ऐसे धर्मात्माको प्रयाण-समय शकुन होने ही चाहिये। अधर्मीके पयानमें शकुन होना अनीति है, उसमें शकुन न होने चाहिये) ॥ ५ ॥ प्रभुका प्रस्थान विदेहनन्दिनीजीने जान लिया। उनके बायें अङ्ग फड़ककर मानो कह रहे हैं (कि प्रभु आ रहे हैं, तुमको दर्शन शीघ्र होगा) ॥ ६ ॥ जो-जो शकुन श्रीजानकीजीको होते हैं, वही-वही अपशकुन रावणको हुए (अर्थात् दोनोंके वाम अङ्ग फड़क रहे हैं, स्त्रीका वाम अङ्ग फड़कना शुभ है; अतः वह श्रीसीताजीको शकुन हुआ और पुरुषके वाम अङ्गका फड़कना बुरा है, अतः रावणको ये अपशकुन हो रहे हैं) ॥ ७ ॥

नोट—'जासु सकल मंगलमय कीती।…' इति। (१) कीर्तिका अपभ्रंश 'कीति' है, छन्दोभंगके भयसे 'नीती' की जोड़में 'कीती' रखा। (२)—भाव यह कि इनकी तो कीर्तिके कथन वा श्रवण-मात्रसे जीवमात्रका मङ्गल होता है, तब इनके लिये मंगल शकुन होना क्या ? पर लोकके लिये नियम बनाया है कि कार्यकी सिद्धिकी सूचनाके लिये शकुन होते हैं, इससे वे नियम सत्य होनेके लिये समयपर अपना कार्य करते रहते हैं। (३) श्रीरामजीकी कीर्ति सर्वमङ्गलमय है, यथा—'कीरति कलित ललित सिय पी की।…कलिमल हरनि बिषयरस फीकी। सुभग सिंगार मुक्ति जुबती की॥ दलन रोग भव मूरि अमी की। तात मात सब बिधि तुलसी की॥' (आरती)। उनके लिये शकुन हों वा न हों, वे तो सदा सिद्धकार्य हैं। शकुन तो अपनेको सफल करनेके लिये होते हैं, यथा—'जनु सब साँचे होन हित भये सगुन एक बार। १। ३०३।'; (४) 'सगुन यह नीती' का भाव कि श्रीरामजी जानते हैं कि वे रावणका वध करेंगे, सीताजीको ले आवेंगे, फिर भी वे धर्मनीतिके परम सुजान हैं, यथा—'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥ २। २५४।'; इसीसे अपने कार्योंमें भी नीतिकी मर्यादा रखते हैं, यथा—'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता॥'; अतएव प्रस्थानके समय शुभ शकुन हो रहे हैं। इस समय शकुन न होते तो शुभाशुभ शकुनोंकी कभी कोई परवा ही न करता।

टिप्पणी—'फरकि बाम अँग जनु कहि देहीं' इति। (क) यथा—'रामसीयतन सगुन जनाये', 'भरत आगवनु सूचक अहहीं॥ २। ७। ४-६।' देखिये। पुनः, यथा—'मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई' एवं 'सगुन होहिं सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर। प्रभु आगमन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर॥ ७। १।' (ख) यहाँ वाम अङ्गोंका फड़कना, यही कहना है। आशय यह कि श्रीजानकीजी भलीप्रकार जान गयीं कि प्रभु चल दिये। [मा० त० सु—१ 'जनु कहि देहीं' यह लोकोक्ति है। २—कालगति जनानेके लिये दो ही शास्त्र प्रधान हैं, एक ज्योतिष दूसरा सामुद्रिक। ज्योतिषके गणितसे गणितज्ञ लग्नद्वारा कुछ विलम्बसे जानते हैं, किन्तु अंग फड़कने आदिसे फलग्रन्थानुसार सब कोई कालगतिको शीघ्र ही जान लेते हैं। अंग-स्फुरण सबको होता है, इसके लिये धर्मी-अधर्मीका कुछ विचार नहीं। और किसी तरह तुरत जान लेना सम्भव न था।]

२ 'बैदेही' पद देकर जनाया कि—(क) जानकीजी जिस समय विरहसे ऐसी व्याकुल थीं कि तनकी सुध-बुध न रह गयी थी, उसी समय यह शकुन होने लगे। वा, (ख) विरहाकुल होकर शरीर रखना नहीं चाहती थीं, उसी समय वाम अङ्ग फड़ककर उन्हें सूचना देने लगे कि प्रभु आ रहे हैं, तुम शरीर न छोड़ो। [अथवा, (ग) प्रभुका प्रस्थान जानकर वे आनन्दमें मग्न हो गयीं, देह-सुध भूल गयीं (प० प० प्र०)]

३ 'असगुन भयेउ रावनहिं सोई' इति।—(क) श्रीजानकीजीके शकुनमें मिलाकर रावणका अपशकुन कहनेका कारण यह कि एक तो रावणके अपशकुनका हेतु 'सीताजी' ही हैं, यथा—'जब तें तुम्ह सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी॥ ६। ४७।' (माल्यवन्तवाक्य)। दूसरे नाशका हेतु भी श्रीसीताजी ही हैं, यथा—'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥ ५। ३६।', 'कालराति निसिचरकुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥ ५। ४०।' (ख)—बात एक ही है, पर उससे एकको शकुन और दूसरेको अपशकुन होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

प० प० प्र०—'जानकी' शब्दके साथ 'असगुन भयउ रावनहिं सोई' का भाव यह है कि जैसे शुभ-शकुनोंने प्रयाण कहकर श्रीसीताजीको बहुत आनन्द दिया वैसे ही अशुभ शकुनोंने श्रीरामजीका प्रस्थान कहकर रावणको आनन्द दिया; कारण कि 'प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ' यह उसका साध्य है।

चला कटकु को बरनै पारा। गरजहिं बानर भालु अपारा॥ ८॥
नख आयुध गिरि पादप धारी। चले गगन महि इच्छाचारी॥ ९॥

केहरिनाद भालु कपि करहीं। डगमगाहिं दिग्गज चिक्करहीं॥१०॥

अर्थ—कटक (सेना) चला, उसे वर्णन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है। (वा, पार कौन वर्णन करे, वह तो अपार है—पं० रा० कु०)। अपार (अगणित) वानर-भालु गर्ज रहे हैं॥८॥ नख (नाखून) ही उनके शस्त्र हैं। वे पर्वत और वृक्ष धारण किये हुए हैं। इच्छाचारी हैं, कोई आकाश (मार्ग) से और कोई पृथ्वीपर चल रहे हैं (जैसी जिसकी इच्छा है)॥९॥ रीछ और वानर सिंहका-सा गर्जन कर रहे हैं। दिशाओंके हाथी डगमगा रहे हैं और चिंघाड़ते हैं॥१०॥

टिप्पणी—१ 'चला कटक'' भालु अपारा' इति। अर्थात् कटक अपार है और पृथक्-पृथक् वानर-भालु अपार हैं। ☞प्रथम श्रीरामजीने प्रस्थान किया। इस तरह कि हनुमान्‌जीकी पीठपर श्रीरामजी बैठे और अंगदजीकी पीठपर लक्ष्मणजी सवार हुए। ये आगे-आगे चल रहे हैं। पीछे-पीछे अपार कटक और अपार वानर-भालु जा रहे हैं। 'को बरनै पारा'—अर्थात् इसका पार कौन वर्णन करे। 'जो 'पार' कहे, वह मूर्ख गिना जायगा। यथा—'बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरख जो करन चह लेखा॥' (४। २२)। [नोट—'पारा'का अर्थ 'सकना, कर सकना' 'समर्थ होना' भी है, यथा—'बाली रिपुबल सहइ न पारा' (४। ६), 'सोक बिकल कछु कहइ न पारा'।]

२ (क) 'नख आयुध गिरि पादप धारी' से अस्त्र-शस्त्र दोनों जनाये। नख शस्त्र हैं, गिरि और पादप अस्त्र हैं। (शत्रुके समीपस्थ होनेपर 'नख' उनके आयुध हैं और दूरस्थ होनेपर फेंककर मारनेके लिये गिरि और पादप आयुध हैं।) अथवा नख आयुध हैं अर्थात् इनमें पूरा बल नखोंका है; यथा—'एक नखन्हि रिपुबपुष बिदारी', 'नखन्हि लिलार बिदारत भयऊ' (६। ९७)। और ऊपरसे देखनेके लिये गिरि और वृक्ष लिये हैं, यथा—'बिटप महीधर करहिं प्रहारा' (६।९७), 'गहि गिरि तरु अकास कपि धावहिं' (६। ७२)। (ख) पूर्व जो कहा था कि 'रामकृपा बल पाइ कपिंदा। भए पक्षजुत मनहुँ गिरिंदा॥' वही यहाँ चरितार्थ है—'चले गगन महि इच्छाचारी'। आकाशमार्गसे बहुत चले, इसीसे 'गगन' शब्द प्रथम दिया। 'इच्छाचारी' पदसे उनकी अव्याहतगति सूचित की।

नोट—१ 'गर्जहिं बानर भालु'' केहरिनाद'' इति। क्या गर्जन कर रहे थे? वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वे गरज-गरजकर बारंबार कह रहे थे कि रावण तथा अन्य समस्त राक्षसोंको हम मार डालेंगे। कोई-कोई सिंहनाद करते थे। यथा—'रावणो नो निहन्तव्यः सर्वे च रजनीचराः। इति गर्जन्ति हरयो राघवस्य समीपतः॥ वाल्मी० ६। ४। ३०। महानादान्विमुञ्चन्ति क्ष्वेलामन्ये प्रचक्रिरे। ६८।' ☞ जैसे मार्गमें जाते हुए तीन बार गर्जन वाल्मीकिजीने लिखा, वैसे ही मानसमें भी मार्गमें तीन बार लिखा गया। मानसमें 'गर्जहिं केहरिनाद, करहीं' और 'कटकटहिं' शब्द हैं और वाल्मीकीयमें 'गर्जन्ति, महानाद' आदि शब्द हैं। २—'केहरिनाद' कहकर 'दिग्गज चिक्करहीं' कहनेका भाव कि वानरोंका केहरिनाद सुनकर दिग्गज चिग्घाड़ने लगे। वानरोंका सिंहनाद वे न सह सके। (रा० कु०)।

टिप्पणी—३ (क) वानर बारंबार गरज रहे हैं, इसीसे कविने चार बार गर्जन लिखा। पुनः, (ख)=वानर और भालु पारी-पारीसे गर्जन कर रहे हैं। जब वानर गर्जन करते हैं तब भालु चुप रहते हैं, और जब भालु गरजते हैं तब कपि चुप रहते हैं। दोनोंको पारी-पारीसे प्रधान रखकर गर्जनमें दोनोंकी समानता यहाँ दिखायी है। (१) 'गर्जहिं भालु महाबल कीसा', यहाँ प्रथम भालु गर्जे। (२) 'गर्जहिं बानर भालु अपारा', यहाँ वानरको प्रथम कहा, अर्थात् वे प्रथम गर्जे। (३) 'केहरिनाद भालु कपि करहीं' यहाँ प्रथम भालुको कहकर उनका प्रथम गरजना दिखाया। (४)—'कटकटहिं मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं', यहाँ वानर प्रथम गर्जे। पुनः भाव कि (ग)—जब प्रभुके पास आये तब गर्जे, यथा—'प्रभुपदपंकज नावहिं सीसा। गर्जहिं भालु महाबल कीसा'—' (१)। जब चले तब गर्जे, यथा—'चला कटक को बरनै पारा। गर्जहिं बानर भालु अपारा' (२)। मार्गमें गरजते हुए चले, यथा—'केहरिनाद भालु कपि करहीं। डगमगाहिं''—(३)। और, कोटि-कोटि धावा करने लगे तब गर्जे, यथा—'कटकटहिं मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं'। इस प्रकार चार प्रसंगोंसे चार बार गर्जन कहा गया। यह भी जनाया कि गर्जनकी बराबर मार्गभर इस प्रकार ज्योढ़ लगी ही रही।

(हरिगीतिका) छन्द

चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।

मन हर्ष* दिनकर सोम सुर मुनि नाग किन्नर दुख टरे ॥
कटकटहिं मरकट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं ।
जय राम प्रबल प्रताप कोसलनाथ गुनगन गावहीं ॥ १ ॥

अर्थ—दिग्गज चिग्घाड़ते हैं। पृथ्वी हिलती है। पर्वत चंचल हो गये, समुद्र (के जलमें) खलबली पड़ गयी। सूर्य, चन्द्रमा, देवता, मुनि, नागदेव और किन्नरोंके मनमें हर्ष हुआ, उन सबोंके दुःख टले। बहुतेरे भयंकर योद्धा वानर कटकटाते (क्रोधपूर्वक दाँतोंसे शब्द करते) हैं और बहुतसे करोड़ों-करोड़ों मिलकर दौड़ते हैं। 'श्रीरामचन्द्रकी जय हो कि जिनका प्रताप प्रबल है और जो कोशलपुरीके राजा हैं'—इस प्रकार ये सब कोशलनाथ रामचन्द्रजीके गुण गान कर रहे हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—हमारे यहाँ तो महाकाव्य तबतक पूर्ण नहीं होता जबतक कवि अपनी पराकाष्ठातक न पहुँचे, अर्थात् 'क्रान्तदर्शी और सूक्ष्मदर्शी' न हो और दैविक और आध्यात्मिक रहस्योंको खोल न दे। हाँ,—होना चाहिये यह सब सरस (मनोहर) रीति पर।—'रामरहस्य मनोहर गाऊँ।' पाश्चात्त्य जगत्‌में वहाँके महाकाव्य (Epic) की परिभाषा केवल इतनी ही है कि किसी घटना या घटनाक्रमको विस्तारके साथ ओजस्वी भाषामें लिखा जाय। रामायणमें दोनों परिभाषाएँ घट जाती हैं, पर होमरके महाकाव्यों या महाभारतकी तरह लड़ाइयोंके वर्णनका इतना बाहुल्य नहीं है कि जी ऊब जाय। केवल मुख्य लड़ाइयाँ लिखी गयी हैं, पर बहुत-सी छोड़ दी गयीं जिनका वृत्तान्त अन्य ग्रन्थोंमें मिलता है।

टिप्पणी—१ जब दिग्गज चिघाड़ने लगे तब पृथ्वी काँपी। पृथ्वीपर पर्वत और समुद्र हैं; इससे वे हिल गये, उनमें खलबली पड़ गयी। अतएव इसी क्रमसे कहा। 'चिक्करहिं' और 'खरभरे' दोनों बहुवचन क्रियाएँ देकर जनाया कि आठों दिग्गज चिक्कार करने लगे और सातों समुद्र चलायमान हो गये।

२—'मन हरष दिनकर सोम' इति। (क) यहाँ सूर्यचन्द्रमाको आदिमें रखकर जनाया कि रावण इनको अधिक दुःख देता था, क्योंकि अष्ट दिक्पालोंमें ये प्रथम हैं। यथा—'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥ किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा…॥' (१। १८२)। अथवा सूर्यचन्द्रमाके प्रथम नाम लेनेसे सब लोकपालोंका ग्रहण हुआ। (ख) रावण सबोंपर चढ़ाई करता था। आज प्रबल शत्रु श्रीरामजी उसपर चढ़ाई कर रहे हैं; इसीसे हर्ष हुआ। [पृथ्वीपर तो गड़बड़ मच गया—'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोलु सागर खरभरे'; परंतु पृथ्वीके हितकर्ता सूर्य और चन्द्रमा ('जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन') मनमें हर्षित हुए कि अब पृथ्वीका भार उतरेगा और वे लोग स्वयं सुप्रभ होंगे, क्योंकि रावणके सामने इनका तेज फीका पड़ गया था, यथा 'तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेज हीन पावक ससि तरनी ॥' और सुर, मुनि, नाग तथा किन्नरका दुःख टला, क्योंकि रावणके मारे सबको नाकों दम था, यथा—'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतंत्र। मंडलीकमनि रावन राज्य करै निजमंत्र ॥ रावणके राज्यमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी सबकी छिन गयी थी। यज्ञ-यागादि धर्म कर्म नहीं होने पाते थे। (वि० त्रि०)] (ग) 'टरे' बहुवचन दिया; क्योंकि इन सबोंको बहुत दुःख है; यथा—'देव जच्छ गंधर्ब नर किंनर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदरि बर नारि ॥ १। १८५।' (१)। 'द्विज भोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा' (१। १८१)—(२)। 'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरुगिरिखोहा' (१। १८२)—(३)। 'रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना ॥' ६। ८९)-(४)। 'आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता ॥' (१। १८२)—(५)। 'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥' (५। २०)—(६)। इत्यादि दुःख टले।'टले' अर्थात् अभी नाश नहीं हुए, केवल हट गये हैं, रावणवधपर इनका नाश होगा।

३—'कटकटहिं मर्कट…' इति। (क) तात्पर्य कि कहीं सामान्य और कहीं विशेष गर्जन करते हैं, कभी कटकट करते हैं, कभी रामगुणगान करने लगते हैं, कभी जय-जयकार करते हैं—सब उत्साहमें भरे हैं। (ख) वानरोंका कटकटाना क्रोध-सूचक है; यथा—'कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा ॥' (५। १९), 'कटकटान कपि कुंजर भारी। दुहु भुजदंड तमकि महि मारी ॥' (६। ३१)। (ग)—'कटकटहिं से जनाया कि शब्द भयदायक है। 'बिकट' भट हैं अर्थात् देह भयदायक है। 'बहु कोटि कोटिन्ह धावहिं' से जनाया कि उनके कर्म भी भयदायक हैं।

* हरष (ना० प्र०, का०, ब्र० चं०)।

४ (क) 'जय राम प्रबल प्रताप कोसल नाथ गुनगन' ' ' इति ।—'श्रीरामजीकी जय हो, वे रावणादिको मारें, जिनका प्रबल प्रताप है वे रामजी कोसलपुरीके राजा हों अर्थात् राज्य करें, उनके प्रतापसे समस्त ब्रह्माण्डको आनन्द होगा; यथा—'जब ते राम प्रताप खगेसा' ' ।' इस प्रकार गुणगान करते हैं। (ख)—'प्रबल प्रताप' का भाव कि प्रताप सूर्यरूप है, यथा—'जब तें राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥ ७ । ३१ ।' सूर्यके उदयसे तमका नाश होता है, वैसे ही रामप्रतापसे निशाचरनाश है। अथवा, इस समय वानर प्रबल हुए हैं सो रामजीके प्रतापसे, यथा—'रामप्रताप प्रबल कपिजूथा।' अतएव प्रथम प्रतापकी प्रशंसा की। पुनः, (ग) रामसे नाम, प्रतापसे रूप, कोसलनाथसे धाम और गुण-गानसे लीला कही। इस तरह नाम, रूप, लीला और धाम चारोंके गुण गाते हैं।

प० प० प्र०—इस छन्दके प्रथम चरणसे ओज बढ़ता गया और तीसरा चरण पूर्ण ओजस्वी वर्णोंसे भरा है। इन तीन चरणोंमें वीर, भयानक और रौद्र रसोंका आविष्कार है। इन सभी रसोंका परिपाक चतुर्थ चरणमें भक्तिरसमें हुआ। यह गोस्वामीजीका वैशिष्ट्य है। इस छंदमें मर्कटोंका रूप, ध्वनि, क्रिया सबकी सब भयानक बतायी है पर यह 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' है, यह चतुर्थचरणसे सूचित किया है।

नोट—१ दिग्गज, नाग, किन्नरकी व्याख्या बालकाण्डमें देखिये। श्रीरामजीके गुणोंका वर्णन अ० १ (८) में देखिये।

छंद—सहि सक न भार उदार अहिपति बारबारहिं* मोहई।
गहं† दसन पुनि पुनि कमठपृष्ठ कठोर सो किमि सोहई ॥
रघुबीर रुचिर पयान प्रस्थिति जानि परम सुहावनी।
जनु कमठ खर्पर सर्पराज सो लिखत अविचल पावनी ॥ २ ॥

अर्थ—श्रेष्ठ और बड़े भारी शेषनागजी भी इस भारी बोझको नहीं सह सकते। बारंबार मोहको प्राप्त हो जाते हैं, पुनः पुनः (बारबार) कछुएकी कठोर पीठको दाँतोंसे पकड़ते हैं; उसकी कैसी शोभा हो रही है मानो श्रीरघुवीरजीके सुन्दर प्रस्थान-यात्राकी मुहूर्तको परम सुहावना जानकर उस अविचल और पवित्र-यात्राको अविचल पवित्र रीतिसे कछुएकी खर्पर (पृष्ठभाग, खपड़ा) पर सर्पराज शेषजी लिख रहे हैं। ॥ २ ॥

नोट—१ हनुमन्नाटकके—'नृपतिमुकुटरत्न त्वत्प्रयाण प्रशस्तिं प्लवगबलनिमज्जद्भूभराक्रान्तदेहः। लिखति दशनटङ्कैरुत्पतद्भिः पतद्भिर्जरठकमठभर्तुः खर्परे सर्पराजः। ७। ३। श्वासोर्मिप्रतिसन्धिरुन्धितगलप्रच्छिन्नहारावली रत्नैरप्यदयालुभिः कृतफणाप्राग्भारभङ्गक्रमः। श्रोत्राकाशनिरन्तरालमिलितस्तब्धैः शिरोभिर्भुवं धत्ते वानरवीरविक्रमभराभुग्नो भुजङ्गाधिपः ॥ ४ ॥ (अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—'हे राजाओंके मुकुटमणि ! शेषजी, वानरोंके बलसे डूबती हुई पृथ्वीके भारसे आक्रान्त देहवाले आपके यात्राकी प्रशस्ति (अक्षरावली) को ऊपर उठते हुए और नीचेको बैठते हुए दंतरूप टाँकीसे वृद्ध कच्छपराजजीकी पीठरूप कपालपर लिखते हैं। सेनाके भारसे बारंबार श्वास लेनेके कारण गलेके रुकनेसे जिनकी हारावलीके रत्न छिन्न हो गये हैं और परस्पर सन्धानकी पीड़ाको न जाननेवाले और वानरोंके पराक्रमसे जो भार हो रहा है उससे वक्र (टेढ़े) हुए और फणोंके व्यग्र होनेसे भंग होते हुए शेषजी कानोंमें निरन्तर अवकाशशून्य होनेसे स्वभावसे सुकुमार शिरोंके द्वारा शेषजीने कठिनतासे पृथ्वीको धारण किया)—इन श्लोकोंसे मिलान कीजिये। इसके भाव इस छंदमें हैं। (नोट—३ व ४ भी देखिये)।

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य है महाकविकी यह ओजपूर्ण युक्ति ! अंग्रेजी पढ़े लोग सोचें कि मिल्टनकेसे ओज (Miltonic Grandeur) से मानसकी कला कितनी बढ़ी-चढ़ी है !

टिप्पणी—१ 'सहि सक न भार उदार अहिपति' इति। (क) वानर-भालु पहले भी तो पृथ्वीपर रहते थे तब कैसे उनका बोझा सह सकते थे जो अब ऐसा लिखते हैं ? उत्तर—पहिले सब एक जगह नहीं थे—'गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी ॥' अब सब सिमिटकर एकत्र हुए हैं; अतएव भार भारी हो गया। अथवा, प्रथम कपि 'कपिन्द' थे, अब पक्षयुत-सुमेरुसम हो गये; अतएव भार अधिक हो गया। यथा—'रामकृपा बल पाइ कपिंदा। भये पक्षयुत मनहुँ गिरिंदा ॥' अथवा, जब वानर आकाशमें चलते हैं तब शेषपर भारी बोझ नहीं रहता, जब पृथ्वीपर उतरकर

* बार बार बिमोहई—वंदनपाठक, भ० चं०। † गहि—गौड़जी, ना० प्र०, भ० चं०।

'कोटि कोटिन्ह धावहीं' तब बोझ भारी हो जाता है तब सह नहीं सकते। (ख) गर्जन दिग्गज न सह सके, भार शेष न सह सके।

नोट—२ एकत्र होनेपर बोझा एक ही तरफ पड़नेसे पृथिवीका एक ओर झुकना स्वाभाविक है पर बोझा तो ज्योंका-त्योंही बना रहेगा। हाँ यह अवश्य है कि ऊपरसे कूदकर पृथ्वीपर आनेसे फिर उछलनेसे और फिर कूदनेसे धमधमाहट और झोंका होनेसे पृथिवीका डगमगाना उचित ही है। और, उस समय शेषादिका भार न सह सहना ठीक है। वस्तुतः यहाँ 'अतिशयोक्ति अलंकार' है।

३ यहाँतक दिखाया कि रघुवीर प्रयाणकी खबर त्रैलोक्यमें पहुँच गयी— फड़कन (अंगस्फुरण) द्वारा श्रीजानकीजीको धैर्य धारण करानेके लिये उनके अंग फड़के। ४०० कोशमें खलबली मची और खबर पहुँची—(१)। मनके हर्षद्वारा सूर्यलोक, चन्द्रलोक, इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक, दशों दिक्पालों और मुनियोंके आश्रमोंमें खबर पहुँची—(२)। भारके द्वारा शेषजीको खबर पहुँची—(३)।

टिप्पणी—२ 'बार बारहिं मोहई' से जनाया कि सावधान होते हैं, फिर थोड़ी ही देरमें पुनः 'मोह' को प्राप्त हो जाते हैं जैसा आगे कहते हैं—'गह दसन पुनि पुनि···।'

नोट—४ 'बार बारहिं मोहई' इति। 'मोहई' के भिन्न-भिन्न अर्थ लोगोंने किये हैं जो ये हैं—'व्याकुल या असावधान हो जाते हैं', 'मूर्च्छित हो जाते हैं', 'भ्रम या संदेहमें पड़ जाते हैं।' श्रीमहादेवदत्तजी लिखते हैं कि यहाँ ''भ्रम या चित्तमें अनेक प्रकारकी चिन्ता होना' यह अर्थ 'मोह' का है; वे सोचते हैं कि भार सहन करनेमें ऐसा रहस्य मेरा कभी न हुआ कि भार सहना कठिन हो गया हो। 'मूर्छित' अर्थ यहाँ असंगत है क्योंकि यदि शेषजी मूर्छित हो जाते तो पृथ्वी उलटकर गिर जाती।''

मेरी समझमें 'मोहई' की विस्तृत व्याख्या श्रीहनुमन्नाटकके उपर्युक्त उद्धृत श्लोकों (जो ऊपर नोट १ में अर्थके पश्चात् दिये गये हैं) में है और किंचित् गीतावलीके निम्नलिखित उद्धृत पदमें है, वही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। हनुमन्नाटकके उद्धृत श्लोकोंके 'कृतफणाप्राग्भारभंगक्रमः', 'स्तब्धैः शिरोभिर्भुवं' और 'भुग्नो भुजंगाधिपः' इन पदोंसे भाव यह निकलता है कि वीर वानरोंके विक्रम भारसे शेषजी घबड़ा गये, बारम्बार साँस लेते हैं, उनके फणोंके अग्रभाग भुग्न अर्थात् मर्दित हो गये हैं, वे स्तब्ध सिरोंसे पृथ्वीको धारण किये हुए हैं। तीसरे श्लोकका भावार्थ यह है कि वानरोंकी सेनासे धँसी हुई पृथ्वीके भारसे आक्रान्त देह शेषजी उखड़कर गिरते हुए अपने दशनरूपी टाँकीसे कमठराजके खर्परपर आपके प्रयाणकी प्रशस्तिको लिख रहे हैं। गीतावली ५। २२ में कहते हैं कि—'नभ निसान हनुमान हाँक सुनि समुझत कोउ न अपान। ६। दिग्गज कमठ कोल सहसानन धरत धरनि धरि धीर। बारहि बार अमरषत करषत करकैं परीं सरीर॥७।' यहाँ 'मोहई' के स्थानपर 'अमरषत करकैं परी सरीर' है। अर्थात् क्रोधमें भर जाते हैं कि आज यह क्या हमारा अपमान हो रहा है कि पृथ्वीका भार हमसे नहीं सहा जाता और यह समझकर बलसे खींचते हैं, उससे शरीरमें करक (पीड़ा) हो आती है।

टिप्पणी—३ 'गह दसन पुनि पुनि कमठपृष्ठ कठोर।'—(क) पुराणानुसार पृथ्वीके नीचे दिग्गज हैं, उनके नीचे शेष, शेषके नीचे कमठ—अतः उसी क्रमसे यहाँ कहा। (ख) शेषका फण नम्र हुआ जाता है, इसीसे वे कमठपृष्ठको दाँतोंसे पकड़ते हैं, तब आधार पानेसे सावधान हो जाते हैं। जब कमठपृष्ठपर दाँत नहीं ठहराता या छूट जाता है तब वे मोहको प्राप्त होते हैं। (ग) 'सो किमि सोहई'—भगवान्‌के कार्य करनेमें 'मोह' भी हो तो शोभा है, अतः 'सोहई' कहा। अथवा, रामयश लिखना शोभा है। इसके सम्बन्धसे 'मोह' होना शोभा ही है। अतः 'सोहई' कहा।—(इस कथनसे कच्छप भगवान्‌की स्थिरता दिखायी· शेषजी भी उनका सहारा लेते हैं। यहाँ शंका यह भी हो सकती है कि जब शेषजी कमठपृष्ठको दाँतोंसे पकड़ने लगते हैं तब पृथ्वी अपने स्थानपर कैसे स्थिर रहती है? इसका समाधान यह है कि शेषजीके एक सहस्र मस्तक हैं। जिस मस्तकपर पृथ्वी रहती है वह मस्तक जब पृथ्वीके भारसे पीड़ित हो जाता है तब वह सहारेके लिये कच्छपकी पीठपर अपने दाँत दे देता है; उस समय उसके बगलवाले सिरपर ही पृथ्वी थम जाती है। इसी प्रकार जब यह भी पीड़ित होकर नीचे जाता है तब पूर्ववत् उसके बगलवाले सिरपर पृथ्वी टिकी रहती है और उधर जो पहले नीचे गये हैं वे शान्त होकर ऊपर उठ आते हैं।

☛ शेष, कच्छप भगवान्, दिग्गज और वाराह भगवान् किस क्रमसे स्थित हैं इस विषयपर बालकाण्ड २६० (१-३) में विस्तारसे लिखा आ चुका है।

टिप्पणी—४ 'रघुबीर रुचिर पयान प्रस्थिति जानि।' इति। (क) प्रबल शत्रुपर प्रभुने चढ़ाई की, अतः 'रघुबीर' कहा। [मा० त० सु०—१ 'रघुबीर' साभिप्राय है। राघवजीका वीररस यहींसे प्रारम्भ हुआ; वा युद्धकार्यमें वीररसका ही

ध्यान मंगलकारक है; अतः 'रघुबीर' पद दिया। २—'रुचिर' क्योंकि यात्रा सुर, नर, मुनि सबको आनन्ददायिनी हुई। ३—पावनी प्रस्थिति' क्योंकि इस यात्रामें महा अधम राक्षस तुरंत पवित्र हो परमधामको प्राप्त हुए। 'परमसुहावनी' क्योंकि विभीषणको राज्य, वानरोंको कीर्ति और चरित्र गानेवालोंको भक्ति और परमपददायिनी है—'रावनारि जस पावन गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहीं०।'] (ख)—प्रस्थिति=मुहूर्त। पुनः, प्रस्थिति=प्रकर्ष करके स्थिति। अर्थात् पयानकी स्थिति बनी रहे कि अमुक समयमें प्रभुने प्रस्थान किया था, इसलिये मानो इस समयकी कुण्डली लिख रहे हैं। (ग) 'जानि परम सुहावनी' का भाव कि जो वस्तु बहुत सुन्दर होती है उसे लोग लिख लेते हैं, इसीसे ये भी लिख रहे हैं। अथवा, सबको सुहावनी है और शेषजीको परम सुहावनी है; क्योंकि प्रभु इनका भार उतारने जा रहे हैं। 'परम सुहावनी' है; इसीसे स्वयं लिखते हैं। यहाँ पयान, कमठ और शेष तीनोंकी शोभा कही। (घ) 'जनु कमठ खर्पर।' इति। रामयश पवित्र है एवं अविनाशी। अतएव पवित्र और अविचल वस्तुपर लिखते हैं, जिसमें बहुत दिन रहे। मिट न जाय, भूल न जाय, इससे पुनः-पुनः लिखते हैं। जैसे कई पंक्ति लिखनेमें लेखनी एक पंक्तिके अन्तपर छूटकर तब दूसरी पंक्तिपर आती है; वैसे ही शेषजी कमठपृष्ठमें दाँत लगाये मानो लिखते हैं। दाँतका उसपरसे छूट या हट जाना एक पंक्तिका लिख जाना है। पुनः-पुनः पीठको पकड़ना यही नयी-नयी पंक्तियोंका लिखना है। (ङ) कवियोंने यहाँ बहुत समझ-बूझकर उत्प्रेक्षा की है। शेषजी भगवद्भक्त हैं, उनके लिये ऐसी उत्प्रेक्षा चाहिये ही थी कि मोहमें भी श्रीरामजीके प्रस्थानकी कुण्डली लिखते हैं।

नोट—५ यहाँ शेषजी लेखक हैं, उनके अविचल हजारों मुखोंके दाँत लेखनी हैं, कच्छप भगवान्की अविचल कठोर पृष्ठ अविचल पत्र (कागज) है, पीठको पकड़ना लिखना है—यदि ऐसा कहें तो स्याही (मसि) क्या है, यह बाहरसे लाना होगा। इससे हनुमन्नाटकके अनुसार रूपक विशेष संगत होगा। पत्थर आदि कठोर वस्तुपर अक्षर खोदे जाते हैं, वे बहुत कालतक रहते हैं, टाँकीसे अक्षर खोदे जाते हैं। वैसे ही यहाँ शेषजी (अक्षरावलीके) करोदने, नक्शा करनेवाले, टाँकीद्वारा लिखनेवाले हैं। उनके दाँत टाँकी हैं। मोहित होनेपर शिरोंके नीचे झुक जानेपर दाँतोंसे कच्छप भगवान्की कठोर अविचल पीठको पकड़ना जिससे उसपर चिह्न बन जाते हैं, यही दंतरूपी टाँकीसे अक्षरोंका खोदना है। टाँकीसे एक बार चोट देकर फिर टाँकीको उठाकर फिर चोट दी जाती है, वैसे ही शेषजीका सावधान होकर सिर उठाना यही टाँकीका पुनः उठाना है और फिर मोहित हो कमठपृष्ठ पकड़ना पुनः टाँकी लगाना है। इस प्रकार बारम्बार टाँकी लगती है। हजारों मुखोंके दाँत एक साथ पीठपर पड़नेसे एक पंक्ति-सी बन जाती है, यही एक पंक्तिका एक ही बारमें लिखना है।

यहाँ शेषजी, कच्छपजी और उनके सर्वांग सभी सुन्दर, पावन और अविचल हैं।

वीर कविजी—शेषनाग पृथ्वीका भार धैर्यपूर्वक धारण करनेमें आदर योग्य हैं। उन्हें अयोग्य ठहराकर इस सम्बन्धसे वानरी दलकी अतिशय प्रशंसा करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है। बोझसे दबकर और यह सोचकर कि कहीं खिसक वा फिसल न पड़ें कमठपृष्ठको दाँतोंसे पकड़नेकी चेष्टा करनेसे उसपर निशान हो रहे हैं। यही उत्प्रेक्षाका विषय है। न तो कमठ-पृष्ठ कागज है और न शेषदशन लेखनी हैं। केवल कविकी कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

प० प० प्र०—इन छन्दोंका मिलान धनुर्भंगके '**भरे भुवन घोर कठोर रव रबिबाजि तजि मरग चले। चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले॥ १। २६१।**' इन चरणोंसे मिलान करनेसे धनुर्भंग ध्वनिमें यह विशेषता थी कि '**कोल कुरुम कलमले**' और इस समय '**कोल कुरुम**' (वराह तथा कच्छप भगवान्) स्थिर बने रहे। पुनः भाव कि '**कौतुक लागि संग कपि सेना**' ली है (अतः यह भी एक कौतुक दिखाया)।

दो०—एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर।
जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर॥ ३५॥*

अर्थ—इस प्रकार दयासागर श्रीरामजी समुद्र-तटपर जाकर उतरे। बिपुल (बहुत) वीर भालु-वानर जहाँ-तहाँ फल खाने लगे॥ ३५॥

* दोहरा—दोहा-मिश्रित है—(ब्र० चं०)। विषम चरणोंमेंसे एकमें बारह मात्रा और दूसरेमें तेरह मात्राएँ होनेसे दोहरा-दोहा-मिश्रित कहा जाता है।

टिप्पणी—१ (क) 'एहि बिधि'–जैसा ऊपर 'चितइ कृपा करि राजिवनयना।'''हरषि राम तब कीन्ह पयाना॥ ३५। २।' से 'गह दसन पुनि पुनि''' तक कह आये। (ख)—'कृपानिधि' विशेषण दिया; क्योंकि जब चले तब वानरोंपर कृपा की, यथा—'चितइ कृपा करि राजिव नयना।' और जब समुद्रपर पहुँचे तब उसपर कृपा की, उसके मर्यादाकी रक्षा की; नहीं तो चाहते तो चले जाते, यथा—'माँगत पंथ कृपा मन माहीं।' [वा, रावणपर कृपा करके इसी पार उतर पड़े कि अब भी खबर पाकर वह समझ जाय और वानरोंके उपद्रवसे लंकाका नाश न हो। (पां०) । जानते हैं कि विभीषणजी शरणमें आनेवाले हैं।] अथवा, वानरोंपर कृपा करके 'उतरे' कि वे भूखे हैं, खूब फल खा लें, तब चार सौ कोश समुद्र पार करें। (ग) 'उतरे' शब्दके दो अर्थ हैं—एक तो हनुमान्‌जी और अंगदजीकी पीठसे उतरे।–[वाल्मीकिजीका मत यही है, यथा—'यास्यामि बलमध्येऽहं बलौघमभिहर्षयन्। अधिरुह्य हनूमन्तमैरावतमिवेश्वरः॥ अङ्गदेनैष संयातु लक्ष्मणश्चान्तकोपमः।' (६। ४। १९-२०)। पर मा० त० सु० का मत है कि यहाँ गोस्वामीजीने कुछ न कहकर यह जनाया कि जैसा एक बार पूर्व किष्किन्धामें कहा गया है वैसा ही यहाँ भी समझ लें। अर्थात् दोनों भाई हनुमान्‌जीकी पीठपर चढ़कर आये, यथा—'लिये दुवौ जन पीठि चढ़ाई।'] दूसरा अर्थ है–डेरा डाला। समुद्र हमारे कुलसे उत्पन्न हुआ है, उसकी मर्यादा नष्ट न करनी चाहिये। यह समझकर 'सागर तीर' उतरे।

नोट—१ 'एहि बिधि जाइ'''' इति। (क) 'एहि बिधि' से यह भी जनाया कि उत्साहमें भरी हुई युद्ध करनेकी इच्छासे, श्रीसीताजीको छुड़ानेके लिये सारी सेना बड़ी उतावली और शीघ्रतासे समुद्र-तटपर आ गयी, कहीं उसने विश्राम न किया, न भोजन किया। यथा—'गता चमूर्दिवारात्रं क्वचिन्नासज्जत क्षणम्। अध्यात्म० १। ४०।', 'हृष्टा प्रमुदिता सेना सुग्रीवेणाभिरक्षिता। वानरास्त्वरितं यान्ति सर्वे युद्धाभिनन्दिनः॥ वाल्मी० ६। ४। ७१। मुमोक्षयिषवः सीतां मुहूर्तं क्वापि नासत॥ ७२॥' अध्यात्म० में मार्गमें फल खा लेनेका वर्णन नहीं है। और मानसका भी मत यही है। (ख) 'उतरे सागर तीर' इति। समुद्रपर डेरा डाल देनेका कारण यह है कि आपसमें परामर्श करना है कि समुद्र कैसे पार किया जाय। यथा—'इदेदानीं विचिन्ता सा या नः पूर्वं समुत्थिता। अतः परमतीरोऽयं सागरः सरितां पतिः॥ न चायमनुपायेन शक्यस्तरितुमर्णवः। तदिहैव निवेशोऽस्तु मन्त्रः प्रस्तूयतामिति॥'''सर्वाः सेना निवेश्यन्तां वेलायां हरिपुङ्गवाः। सम्प्राप्तो मन्त्रकालो नः सागरस्यास्य लङ्घने॥ वाल्मी० ६। ४। १०२-१०५।' अर्थात् यहाँ पहुँचनेपर वही चिन्ता उत्पन्न हो गयी है, इस समुद्रका दूसरा तट दिखायी नहीं देता। बिना किसी श्रेष्ठ उपायको विचारे पार होना कठिन है। अतः यहाँ ठहरकर विचार करना चाहिये। हे सुग्रीव! सेनाको तटपर टिका दो, क्योंकि पार होनेके सम्बन्धमें परामर्श करना आवश्यक है।

नोट—२ मार्गमें सात दिन लगे। मार्गशीर्षकी शुक्ला प्रतिपदासे लेकर तृतीयातक ठहरे रहे, चौथे दिन विभीषणजीका आगमन हुआ।

टिप्पणी—२ 'जहँ तहँ लागे खान फल' इति। इतने वानरोंको एक ही जगह भोजन नहीं अट सकता, अतः 'जहँ तहँ' पद दिया। यथा—'सिंधुपार प्रभु डेरा कीन्हा। सकल कपिन्ह कहँ आयसु दीन्हा॥ खाहु जाइ फल मूल सुहाए। सुनत भालु कपि जहँ तहँ धाए॥ ६। ५।' सब रीछों, बंदरोंने फल खाये। श्रीरामजीने तीर्थव्रत किया। अतः उनका फल खाना न कहा। समुद्र तीर्थपति है। (प० प० प्र० जी इस मतका विरोध करते हैं। वे लिखते हैं कि शबरीजीके आश्रममें श्रीरामजीने फल खाये। इसके पश्चात् मानसभरमें कहीं भोजनका उल्लेख नहीं है तो क्या इतने दिन उपवास करते रहे? इतने दिन कौनसे तीर्थ-व्रत करते रहे? वस्तुतः भाव यह है कि सभी वानरगण रामभक्त हैं अतः प्रथम जब श्रीरामजीने फलमूलादिका भोग लगाया तब 'जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर')।

☞ 'तब रघुपति कपिपतिहि बोलावा' से यहाँतक 'सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि तीरा॥' यह प्रसङ्ग है।

'मिला बिभीषन जेहि बिधि आई'—प्रकरण

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गएउ कपि लंका॥ १॥
निज निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर कुल केर उबारा॥ २॥
जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आए पुर कवन भलाई॥॥ ३॥

* ब्र० चं०—(१) से (५) तक पायकुलक है।

अर्थ—जबसे वानर लंका जलाकर चला गया, तबसे वहाँ निशाचर शंकित (डरे हुए, शंकासहित) रहते हैं ॥ १ ॥ सब अपने-अपने घरमें विचार करते हैं कि निशाचर-वंशका (अब) उबार (बचाव, रक्षा) नहीं है ॥ २ ॥ जिसके दूतका बल वर्णन नहीं हो सकता, उसके आनेपर नगरकी क्या और कौन भलाई हो सकती है ? ॥ ३ ॥

नोट—१-२ । २२६ (३) **'उहाँ राम रजनी अवसेषा । जागे सीय सपन···॥'** में लिखा जा चुका है कि कविका 'इहाँ' 'उहाँ' का प्रयोग साभिप्राय है । 'इहाँ' से अपनी स्थिति दिखाते हैं कि हम कहाँ हैं, किसके साथ हैं ? और 'उहाँ' से दूसरे पक्षके साथ अपना न होना दरसाते हैं । अतः राक्षसोंके बारेमें जब कुछ लिखना होता है, तब प्रायः 'उहाँ' पद देते हैं—उदाहरण लंकाकाण्डमें दिये जायँगे ।

टिप्पणी—१ (क) वहाँ निशाचर शङ्कित रहते हैं, यह कहकर जनाया कि यहाँ वानर तभीसे शंकारहित हैं । लंका-दहनसे राक्षसोंका गर्व नष्ट हुआ, जैसा कि आगे मन्दोदरीजीने रावणसे कहा है । लंका० ३५ (६) यथा—**'जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा । कहाँ रहा बलगर्ब तुम्हारा ॥'** इसीसे वे 'सशंका' हैं । (ख) **'जारि गयउ'** अर्थात् स्वर्णके मकानोंका जलाना सम्भव न था, जिस कामका सामर्थ्य किसीको नहीं था, वह काम एक वानर करके चला भी गया, किसीका कुछ किया न हुआ । अतः 'ससंका' रहते हैं । (ग) 'रहहिं' में यह भी भाव है कि रावणका भय न होता तो सब-के-सब यक्षोंकी तरह भाग जाते । यथा—**'देखि बिकट भट बड़ि कटकाई । जच्छ जीव लै गये पराई ॥'** १ । १७९ ।'

मा० म०—भाव यह है कि हनुमान्‌जीके न रहनेपर भी उन सबको हनुमान्‌जीकी विकराल मूर्ति प्रत्यक्ष देख पड़ती थी, इसीसे वे भयभीत रहते हैं ।

टिप्पणी—२ **'निज निज गृह सब करहिं बिचारा'···'**इति । आशय यह कि न रावण मानेगा न निशाचरकुल बचेगा। अपने-अपने घरमें विचार करते हैं, रावणके डरसे किसीसे कहते नहीं । (सम्भवतः—पेनलकोडका परिच्छेद १४४ जारी था। प० प० प्र०) । क्या विचार करते हैं यह आगे कहते हैं—**'जासु दूत···'** इत्यादि । यह मनमें विचार करते हैं और **'नहिं निसिचरकुल केर उबारा'** यह मुखसे कहते हैं; क्योंकि यदि यह मुखसे न कहते तो आगे यह कैसे कहते कि **'दूतिन्ह सों सुनि पुरजन बानी'** तात्पर्य यह है कि कुलकी रक्षाका विचार करते हैं, कुछ बचाव नहीं देख पड़ता, तब कहते हैं कि **'नहिं निसिचरकुल केर उबारा ।'** [**'करहिं बिचारा'** का भाव यह है कि अपने-अपने घर ब्रह्मराक्षसोंको बुलाकर सगुन निकलवाते थे, तो यही फल निकलता था कि सबका नाश होगा । (मा० म०)]

टिप्पणी—३ इधर कपिकी शंका, इधर श्रीरामजीके आनेकी शंका दोनों शंकाएँ हैं । दोनों शंकाओंके बीचमें पड़े हुए उबरनेका विचार कर रहे हैं । दोनों चौपाइयोंके बीचमें 'उबरनेका विचार' लिखकर अक्षरोंकी स्थितिके द्वारा ही उनके संकट-का स्वरूप यहाँ दिखा दिया है । पुनः, इन विचारोंसे यह भी सूचित करते हैं कि इन लोगोंको खबर मिल चुकी है कि समुद्र-पार शत्रुकी सेना आ गयी है । यह बात आगे स्पष्ट है—**'बैठेउ सभा खबरि अस पाई । सिंधुपार सेना सब आई ॥'** पुर-के लोगोंको पहले खबर मिली, पीछे रावणको ।

४—**'जासु दूत बल बरनि न जाई ।···'** यथा—**'नाथ पवन सुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥', 'समुझत जासु दूत कइ करनी । स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी ॥'** 'बल' अर्थात् वाटिकाको उजाड़ना, निशाचरोंको मारना इत्यादि । **'पुर आये कवन भलाई'** अर्थात् पार आ गयी, अब पुरमें आवेंगे, उनके न आनेमें ही हमलोगोंकी भलाई है, अन्यथा नहीं ।

नोट—२ मिलान कीजिये—**'मरुत्पुत्रस्त्वेकः कपिकटकरक्षामणिरसौ समुद्यल्लाङ्गूलो ध्वज इव समाश्लिष्टगगनः । पुनः प्रत्यायास्यत्यहह कपिसैन्ये प्रचलिते पदं प्रोचुर्नीचैर्भयचकितलंकापुरजनाः ॥** हनु० ६ । २९ ।' अर्थात् लंकानिवासी भय-से चकित हो धीरे-धीरे कहने लगे कि 'वह वानरसेनाकी रक्षा करनेमें शिरोमणिरूप, ऊँची लाङ्गूलवाला, ध्वजाके सदृश आकाश-को आलिङ्गन करनेवाला मरुत्पुत्र हनुमान्, जिस समय सेना चलेगी उस समय फिर अकेला ही हमारी लंकामें आवेगा ।' पुनश्च **'अथवा कपिनैकेन कृतं नः कदनं महत् । दुर्ज्ञेयः कार्यगतयो ब्रूत यस्य यथामति ॥** वाल्मी० ६ । १२ । २२ ।', रावणने ये वचन मन्त्रियोंसे कहे हैं कि यद्यपि समझमें नहीं आता कि वे समुद्र क्योंकर पार करेंगे तथापि यह भी विचार उत्पन्न होता है कि जब एक ही वानरने मेरा इतना बड़ा अपमान किया और मेरी सेनाका नाश कर डाला तब उनके कार्यक्रमका जानना कठिन है । तथा **'लंकादाहु देखे न उछाहु रह्यो काहुन को, कहैं सब सचिव पुकारि पाँव रोपि हैं । बाचि है न पाछे**

त्रिपुरारिहू मुरारिहू के, को है रनरारि को जौं कौसलेस कोपि हैं ॥ क० ६ । १ ।'—उपर्युक्त उद्धरणोंके सब भाव 'उहाँ निसाचर...भलाई' में हैं। कवितावलीमें भी कहा है—'सुभुज मारीच खर त्रिसिर दूषन बालि। दलत जेहि दूसरो सर न साँध्यो। आनि परबाम बिधिबाम तेहि राम सों सकत संग्राम दसकंध काँध्यो ॥ समुझि तुलसीस कपि कर्म घर घर घैरु... लंक नहिं खात कोउ भात राँध्यो ॥ ६। ४।'—इसमें 'रहहिं ससंका', 'करहि बिचारा' और 'तेहि आये कवन भलाई' की सुन्दर व्याख्या है। इतना भय समा गया है कि खाना हुआ भात सामने रक्खा रह जाता है, वे डर और चिन्तासे खा नहीं पाते। यह भय और चिन्ताकी सीमा है कि कहीं फिर तो नहीं आ रहा है।

३ 'जासु दूत बल बरनि न जाई।...' यथा—'बेग जीत्यो मारुत, प्रताप मरतंड कोटि, कालऊ करालता बड़ाई जीतो बावनो। तुलसी सयाने जातुधान पछिताने मन, जाको ऐसो दूत सो साहब अबै आवनो। काहे की कुसल रोष राम बामदेवहूके बिषम बलीसों आदि बैर को बढ़ावनो ॥ क० ५। ९।' 'यत्संदेशहरेण मारुतसुतेनातारि वाराम्निधिः क्षिप्रं गोष्पदवन्निजालयमिव प्रावेशि लंकापुरी। सीतादर्शि समभ्यभासि च वनं चाभञ्जि रक्षः पतेः सैन्यं भूर्यवधि व्यदाहि च पुरी रामः कथं वक्ष्यते ? हनु० ८। १५।' अर्थात् जिनके दूत हनुमान्‌जी गौके खुरके समान सहज ही समुद्रको पारकर अपने घरकी तरह लंकापुरीमें प्रवेशकर सीताजीको देख और उनसे बातें कर वनको विध्वंसकर बहुत-सी सेनाको मारकर और लंकापुरीको अच्छी तरह जलाकर लौट भी गये, तब तो फिर उनके स्वामी श्रीरामजीका कहना ही क्या ?—यह बात जो अंगदजीने रावणने कही है तथा जो मन्दोदरीजीने कहा है 'प्रिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा ॥७।३५।' वे सब भाव 'जासु दूतबल...भलाई' में हैं।

४ दूतकी बड़ाईसे स्वामीकी प्रशंसा व्यंजित होना व्याजस्तुतिका दूसरा भेद है।

दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। मंदोदरी अधिक अकुलानी ॥ ४ ॥
रहसि जोरि कर पति पद लागी। बोली बचन नीति रस पागी ॥ ५ ॥
कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित हिय धरहू* ॥ ६ ॥

अर्थ—दूतियोंसे पुरवासियोंके वचन सुनकर महारानी मन्दोदरी अधिक व्याकुल हुई ॥ ४ ॥ एकान्तमें हाथ जोड़कर पतिके चरणोंसे लगकर वह वचनोंको नीतिरसमें पागकर (नीतियुक्त वाणी) बोली ॥ ५ ॥ हे कन्त (पति, स्वामी)! भगवान्‌से वैर छोड़ो। मेरा कहना अत्यन्त हितकर जानकर हृदयमें धारण करो ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी...' इति। (क) यहाँ दिखाते हैं कि जो विचार लोग घर-घर करते थे, वह पुरुषोंद्वारा न खुला, स्त्रियोंद्वारा खुला। दूतियाँ स्त्रियोंसे सुन आयी हैं। (ख) 'अधिक अकुलानी' अर्थात् जितना पुरवासी व्याकुल हैं, उससे अधिक विकल ये हैं। क्योंकि ये धर्मात्मा हैं, धर्मात्मालोग प्रजाका दुःख देख नहीं सकते। यथा—'ब्याकुल नगर देखि तब आयउ बालिकुमार' (४। १९), 'कौसल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजासुख होहिं सुखारी॥' (२।१७५) 'सिर धरि गुरु आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि पुरजन दुख हरहू ॥' (२। १७६)। इत्यादि। [और भाव—पहले अक्षयकुमारपुत्र आदिके शोकसे व्याकुल थी, अब अपना भविष्य वैधव्य विचारकर अधिक व्याकुलता हुई। (प्र०) अथवा, रावणहीका इसमें दोष है, वह हठ पकड़े है, समझाये नहीं समझता, सब पुरवासी भी उसीको दोष दे रहे हैं—यह समझकर 'अधिक अकुलानी'—(मा० त० सु०)]।

२ रहसि=एकान्त। एकान्तमें कहा; क्योंकि यह बात सबके सामने कहने योग्य नहीं। दूसरे, अभिमानी लोग एकान्तमें कहनेसे बात मान लेते हैं, बहुत लोगोंके सामने कहनेसे नहीं मानते। [पुनः, एकान्तमें कहा क्योंकि-(क) स्त्रियोंका प्रभाव पुरुष और फिर कामीपर एकान्तमें ही अधिक पड़ता है। (ख) दूसरोंके सामने कहतीं और वह न मानता तो अप्रतिष्ठा होती। (पं०) इसी तरह 'लंकायां रहसीत्युवाच वचनं मन्दोदरी मन्दिरे।' (हनु० ९। ५) में भी एकान्तमें ही हाथ जोड़कर विनय करना कहा है। वहाँ भी 'रहसी' शब्द है।] 'पद लागी', पाँव पकड़कर समझाना स्त्रीका धर्म है, यथा—'गहि कर चरन नारि समुझावा ॥ कि० ७।' 'नीति रस पागी'का भाव कि रावण अनीति करता है। बड़ेसे वैर करना अनीति है; वही आगे कहती है—'कंत करष...', 'प्रिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा ॥' इसमें नीति यह है कि

* 'कंतु...' चक है (ब्र० चं०)।

जो अपनेसे बली हो उससे 'साम' कर लेना चाहिये—'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति अस आहि'। (६। २३)।

नोट—१ मिलान कीजिये—'संदधानो हि कालेन विगृह्णंश्चारिभिः सह ॥ ८ ॥ स्वपक्षे वर्धनं कुर्वन्महदैश्वर्यमश्नुते। हीयमानेन कर्तव्यो राज्ञा संधिः समेन च ॥ ९ ॥ न शत्रुमवमन्येत ज्यायान्कुर्वीत विग्रहम् ॥ वाल्मी० ६। ३५। १०।' अर्थात् जो राजा समयानुकूल शत्रुके साथ संधि और विग्रह करके अपने पक्षको दृढ़ करता है, वह भारी ऐश्वर्यको प्राप्त करता है। उसे उचित है कि जब वह अपनेको शत्रुसे हीनबल या समानबल जाने तब शत्रुसे मेल कर ले। ये वचन माल्यवान्ने कहे हैं। 'नीति रस पागी बचन बोली' से जनाया कि पहले इस प्रकार नीति कहकर तब कहा कि 'कंत करष···'। जैसे माल्यवान्ने नीति कहकर फिर कहा—'तन्मह्यं रोचते संधिः सह रामेण रावण ॥ वा० ६। ३५। १०।' गीतावलीमें विभीषणजीने भी रावणसे ऐसा ही कहा है। यथा—'मतो नाथ सोई जाते भलो परिनामै ॥ सुभट सिरोमनि कुठारपानि सारिखेहू लखी औ लखाई इहाँ किये सुभ सामै ॥ ५। २५।' और कवितावलीमें मन्दोदरीने स्वयं यही कहा है, यथा—'बिदित बिदेहपुर नाथ भृगुनाथगति, समय सयानी कीन्हीं जैसी आइ गौ परी ॥ ६। २७।', 'राम सों साम किये नित है हित ॥ २८।' ☞ नीति बिना राज्य स्थिर नहीं रहता। यथा—'राजु कि रहै नीति बिनु जाने।' (७। ११२), 'राजनीति बिनु···' (३। २१)। रावण अनीतिपर तुला हुआ है, इससे उसका राज्य नष्ट हो जायगा और वह मारा जायगा,—यह सोचकर मन्दोदरीने नीतिके वचन कहे। पं० रामकुमारजीका मत है कि 'नीतिरस पागी'=नीतिरसमें पगी हुई।—यह स्त्रीलिङ्ग है और वचन पुँल्लिङ्ग है। अतः यह वचनका विशेषण नहीं है। मन्दोदरीका विशेषण है। किसी औरने भी इसे मन्दोदरीका ही विशेषण माना है पर प्रायः अन्य सब टीकाकारोंने इसे वचनका ही विशेषण माना है। 'नीति रस पागी' को एक शब्द माननेसे लिङ्गभेद जान पड़ता है। वास्तवमें ये दो शब्द अलग-अलग हैं। अर्थ है—(वचनोंको) नीतिरसमें पागकर। अर्थात् नीतिमय वचन बोली। नीतिरसपागी वाणी कहनेमें यह भी भाव कविने दरसाया है कि वह रावणको जो प्रभुसे वैर करनेको रोकती है वह कुछ इससे नहीं कि सीताजीके आनेसे उसे ईर्ष्या है, वह तो जानती है कि प्रभु ब्रह्म हैं और सीताजी परमशक्ति हैं। वह नीतिशास्त्रके वचन कहती है। (पं०)। पूर्व अशोकवाटिकामें भी उसने रावणको नीतिका उपदेश किया था—'मयतनया कहि नीति बुझावा॥'

टिप्पणी—३ 'कंत करष हरि सन परिहरहू।···' इति। (क) 'कंत'=कं (कल्याणको) + त (तनोति=जो विस्तार करे)। 'कंत' सम्बोधनका भाव कि आप हमारे सौभाग्यके बढ़ानेवाले हैं तथा हम सबोंका कल्याण आपके हाथ है, आप कृपा करके वह कीजिये जिससे हमारा अहिवात रहे और कल्याण हो। सम्बोधनसे यह सूचित कर आगे उसका उपाय बताती है कि श्रीहरिसे वैर छोड़नेसे हमारे (सौभाग्य) सुखका विस्तार होगा, कुल बचेगा, पुत्र बचेंगे, राज्य बचेगा; अतः वैर छोड़िये, सबको बचाइये। यथा—'पाहि मामङ्गदं राज्यं कुलं च हरिपुङ्गव। अ० रा० ४।२।३२।' नहीं तो वे हरि हैं; सब हर लेंगे। बड़ेसे वैर त्याग देना नीति है। (ख) भाव कि हरिसे वैर करनेसे किसीका भला नहीं हुआ; यह मेरा कथन सत्य है, इसे मान लो। यथा—'मैं जु कहौं कंत सुनु संत भगवंत सो बिमुख ह्वै बालि फल कौन लीन्ह्यो। क० ६। १८।' पुनः, 'हरिसन' कहकर जनाया कि राम मनुष्य नहीं हैं, भगवान् हैं, जीवमात्रके क्लेशोंके हरनेवाले, सबोंके मनोंको हरनेवाले हैं; अतः उनसे विरोध अयोग्य है, यथा—'सोइ अवतरेउ हरन महि भारा॥ तासु बिरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिव जाके हाथा॥ ६।६;' इत्यादि भाव 'हरि' में हैं! (ग) 'मोर कहा अति हित' इति। 'मोर कहा (= मेरा कथन) का भाव कि मेरे समान आपका अत्यन्त हित चाहनेवाला दूसरा कोई नहीं है, और लोग 'हितकारी' हैं पर मैं 'अतिहितकारिणी' हूँ; अतः मेरी सलाह हृदयमें धारण कीजिये। सीताजीको दे देनेमें ही 'अति हित' है, यह आगे कहेगी—'सुनहु तात सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार···॥' 'हिय धरहू' कहा, क्योंकि रावण हितकी बात हृदयमें धारण नहीं करता, यथा—'हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहुँ भेषज जैसे ॥' अर्थात् जिससे लोक-परलोक दोनों बने वह वचन उसको बुरे लगते हैं। (६। १० प्रहस्तवाक्य)।

श्रीलमगोड़ाजी—'दूतिन्ह सन सुनि···' इति। दूत-प्रणालीकी उपयोगिता देखिये। उनमें स्त्रीरूपिणी दूतियोंकी। फिर यह भी विचारिये कि राज्यशासनमें रानी भी कितनी उपयोगिनी है। पर यह है सब तभी जब 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥'—वाली बात न हो। गाँधीजी इसीसे तो मन्दोदरीकी प्रशंसा ही करते हैं और हमारे यहाँ उसे प्रातःस्मरणीय माना गया है; कारण कि उसकी ऐसी ही अनेक एकान्तकी विनीत वक्तृताओंसे स्पष्ट हो जाता है कि उसे 'रहस्य' का ज्ञान है।

प० प० प्र०—घरके बाहर किसीसे चर्चा करनेकी मनाही थी। इतना होनेपर भी मन्दोदरीके गुप्तचरोंने सब कुछ जान

लिया, यह ध्यान रखनेकी बात है। शंका उपस्थित होती है कि रावणने क्यों नहीं सुना ? समाधान यह है कि उसके स्वभावानुसार किसी दूतको कहनेका साहस न पड़ा अथवा रावणने सुनकर 'बिहँसि बहरावा।'

वि० त्रि०—मन्दोदरी राजकार्यमें भाग लेती है, जिस भाँति रावणके दूत अनेकरूप धारण किये हुए नगरका समाचार रावणको देते हैं, उसी भाँति मन्दोदरीकी दूतियाँ घरोंके भीतरका समाचार मन्दोदरीको देती हैं। रावणके डरसे घरके बाहर कोई विचार नहीं करता, पर घरके भीतर सभी विचार करते हैं कि निशिचरकुल अब उबरता नहीं दिखायी पड़ता। अतः घरके भीतरकी बातका पता मन्दोदरीकी दूतियोंने दिया। बाहर कोई कुछ नहीं कहता था, इसलिये न दूतोंने जान पाया, और न रावणको समाचार दिया। यह समाचार सुनकर सभी रानियाँ आकुल हुईं पर मन्दोदरी बहुत व्याकुल हुई, क्योंकि उसे रामजीके स्वरूपका ज्ञान था।

समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी ॥ ७ ॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई ॥ ८ ॥
तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई ॥ ९ ॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे*॥१०॥

अर्थ—जिनके दूतकी करनी समझते ही निशाचरियोंके गर्भ गिर जाते हैं ॥ ७ ॥ हे कन्त ! यदि भला चाहो तो अपने मन्त्रीको बुलाकर उनकी स्त्री भेज दो ॥ ८ ॥ तुम्हारे कुलरूपी कमलवनको दुःख देनेवाली सीता ठंडकालकी रात्रिके समान आयी हैं। (अर्थात् जैसे तालाबमें कमल खिले रहते हैं, वैसे ही लंकामें निशाचर प्रसन्न रहते हैं और जैसे शरद्रात्रि कमलका नाश करती है वैसे ही सीताजी तुम्हारे कुलकी नाश करनेवाली हैं।) ॥ ९ ॥ हे नाथ ! सुनिये। बिना सीताजीको दिये शम्भु और ब्रह्माके भी करनेसे तुम्हारा भला नहीं हो सकता। (अर्थात् आपका 'अति हित' इसीमें है कि मेरा कहा मानें, दूसरा कोई आपका हित नहीं कर सकता) ॥ १० ॥

टिप्पणी—१ **'समुझत जासु दूत कइ करनी'** इति। (क) 'करनी' सुन्दरकाण्ड **'निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी'** २५ (९) से **'जारा नगरु निमिष एक माहीं।'** २६ (६) तक तथा **'चलत महाधुनि'''** में वर्णित है। कवितावली सुन्दरकाण्ड तो पूरा नमूना है। लंकादहनके समय इतनी शीघ्रता हुई कि सब भयभीत हो सर्वत्र हनुमान्‌जीको ही देखते थे, यहाँतक कि आँख बंद करनेपर भी वे हृदयमें देख पड़ते थे। यथा—**'अर्ध ऊर्द्ध बानर बिदिसि दिसि बानर है, मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिए ॥ मूँदे आँखि हीय में उघारे आँखि आगे ठाढ़ो'''** (५।१७)।—वही दृश्य नेत्रोंमें समा गया है, नेत्रोंमें छाया है। अतः **'समुझत दूत कै करनी'** कहा। कवितावलीमें मन्दोदरीने करनी यों कही है—**'गहन उज्जारि पुर जारि सुत मारि तव कुसल गो कीस बरबेर जाको। ६।२१।' 'उदधि अपार उतरत नहिं लागी बार केसरी-कुमार सो अदंड कैसो डाँड़िगो। बाटिका उजारि अच्छ रच्छकनि मारि भट भारी-भारी रावरे के चाउर-से काँड़िगो ॥ २४।', 'ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की सी झोपरी। २७।'** (ख) **'स्रवहिं गर्भ'** इति। करनी विचारते-समझते ही गर्भ गिर जाते हैं, गर्जनमात्रसे गर्भ गिर गये, जब अनेकों आकार गजेंगे तब क्या होगा यह विचारती हैं। भाव यह कि पहले तो उसके गर्जनसे गर्भ गिरे थे, यथा—**'चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी ॥'** और, अब जो गर्भ धारण होते हैं वे उसकी करनी समझते ही गिर जाते हैं—(इससे सब स्त्रियोंका अत्यन्त भयभीत होना दिखाया क्योंकि; इससे आगे भी वंशकी वृद्धि नहीं हो सकती)। (ख) मन्दोदरीने सुना है कि राक्षस सशंक रहते हैं पर उसने यह बात रावणसे न कहकर स्त्रियोंका भयभीत होना ही कहा। कारण कि निशाचर रावणके भयसे अपने घर-घर बैठे गुप्त विचार करते हैं, इससे उनका भय न कहा। पुनः वीरोंका सभय होना कहना अनुचित है, अतः न कहा। कहती तो रावण राक्षसोंको दण्ड देता।

२ **'तासु नारि निज सचिव बोलाई'''** इति। यथा—**'जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना ॥ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं ॥'** (५।३७) तात्पर्य यह कि वैरकी निवृत्ति सीताजीके देनेसे ही है। (क) **'निज सचिव'**=माल्यवान्, यथा—**'माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन-मातु-पिता मंत्री बर।६।४७।'** भाव कि माल्यवंत भक्त था और सब मन्त्री दुष्ट थे, यथा—**'कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती'** (६।९।) (ख) **'निज**

* ब्र० चं०—'समुझत' से 'दीन्हे' तक पायकुलक, 'हित०' नयमालिनी।

सचिव' भेजनेका भाव कि उसके जानेसे तुम्हारा जाना समझा जायगा। (ग) रावणको जानेको नहीं कहतीं, क्योंकि उसे भय है; यथा—'सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे॥' (६। २०) और अंगदने कहा है कि इस प्रकारसे चलो; इस डरसे वह कदापि न जायगा। अतः कहा कि मन्त्रीके साथ भेज दो। (घ) 'सचिव बोलाई' अर्थात् इसमें शीघ्रता करो; जब मन्त्री आवेगा तब उससे कहोगे, यह नहीं, वरं च अभी बुलाकर भेजो; नहीं तो रामचन्द्रजी अब आना ही चाहते हैं, उनके आनेमें देर नहीं है। अतः 'पठवहु' जिसमें वे यहाँ आने न पावें और मन्त्री वहाँ पहुँच जाय। (रावण महा अभिमानी स्वभावका है, वह किसीके सामने नवनेवाला नहीं, इसीसे जो कोई शरणमें जानेको कहता है उसपर वह क्रोध करता है—यह मन्दोदरी जानती है। रावणने माल्यवान्‌के समझानेपर अपना स्वभाव कहा है, यथा—'द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्। एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः॥ वाल्मी० ६। ३६। ११।' अर्थात् मैं क्या करूँ? यह मेरा स्वाभाविक दोष है कि भले ही मेरे दो टुकड़े हो जायँ, पर मैं किसीके सामने नवनेवाला नहीं। और, स्वभाव होता ही दुरतिक्रम है। मन्दोदरीने सोचा कि यदि स्वयं जानेको कहूँगी तो वह यही उत्तर देगा तब फिर कुछ कहते न बनेगा, जैसे माल्यवान् फिर चुप ही हो गया। अतः मन्त्रीद्वारा भेजनेको कहा।)

नोट—१ 'जो चहहु भलाई' इति। विभीषणजीने जो कहा है कि—'अयशस्यमनायुष्यं परदाराभिमर्शनम्। अर्थक्षयकरं घोरं पापस्य च पुनर्भवम्॥ १५॥ एतन्निमित्तं वैदेही भयं नः सुमहद्भवेत्।' (वाल्मी० ६। ९), (अर्थात्) दूसरेकी स्त्रीको हर लेना केवल बदनामीका ही कारण नहीं है, किंतु आयुको क्षीण करनेवाला भी है। उससे धनका नाश होता है और भारी पाप लगता है। 'सीता' हमलोगोंके लिये बड़े भयकी वस्तु हैं। यदि आप 'सीताजी' को न दे देंगे तो समस्त शूरवीर मारे जायँगे और लंका उजड़ जायगी। (६। ९। २०)। वे सब भाव 'जौ चहहु भलाई' में हैं। ☞ इससे जनाया कि श्रीरामजीका अपराध करनेसे किसीका कुशल नहीं हुआ और न तुम्हारा हो सकता है, एकमात्र सीताको दे देनेसे ही उबारा है, अन्यथा नहीं। यथा—'पिय पूरो आयो अब काहि कहु करि रघुबीर बिरोध॥...कहु धौं कंत कुसल बीती केहि किए राम अपराधु॥...और प्रकार उबार नहीं कहूँ मैं देखेउँ जगु जोहि॥ गी० ६। १।' (मन्दोदरीवाक्य)। न दोगे तो क्षणमें नाश हो जायगा; यथा—'पावक न होइ जातुधान-बेनु-बन मैं। तुलसी जानकी दिये स्वामी सों सनेह किए कुसल नतरु सब ह्वै है छार छन मैं॥ गी० ५। २३।' (मन्दोदरीवाक्य)।

टिप्पणी—३ 'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई...' इति। (क) 'सीता' नाम यहाँ साभिप्राय है। 'सीता' जो सदा शीतल रहती हैं इसीसे क्रोध करके तुमको भस्म नहीं करतीं। कारण कि उनकी शीतलता तुम्हारे कुलभरका नाश करेगी और क्रोध केवल तुमको भस्म करता।—[पूर्व लिखा जा चुका है कि श्रीसीताजी उसे भस्म कर सकती थीं; यह स्वयं उन्होंने रावणसे कहा है। यथा—'न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा॥ नापहर्तुमहं शक्या तस्य रामस्य धीमतः। विधिस्तव वधार्थाय विहितो नात्र संशयः॥ वाल्मी० ५। २२। २०-२१।'—अर्थात् मैं अपने पातिव्रत्यके तेजसे जलाकर भस्म कर डालूँ; तेरी मजाल न थी कि तू मुझे श्रीरामजीके रहते हर लाता। निश्चय जान ले कि तेरे द्वारा मेरे हरणका विधान विधाताने तेरे नाशके लिये ही रचा है। ये वचन श्रीसीताजीने मन्दोदरी आदि रानियोंके सामने रावणसे कहे थे। उन्हीं वचनोंको सोचकर मन्दोदरीने कहा है—'तव कुल...'] (ख) 'आई' अर्थात् ये तुम्हारे ले आनेसे नहीं आयीं, किन्तु तुम्हारे कुलका नाश करनेके लिये स्वयं आयी हैं। अथवा, इससे 'आई' कहा कि यदि यह कहूँगी कि कुलका नाश करनेवाली सीताको तुम ले आये हो तो रावण बड़ा क्रुद्ध होगा। यथा—'जब ते तुम्ह सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी॥...ताके बचन बान सम लागे। करिया मुख करि जाहि अभागे॥' (६। दो० ४७-४८)।

मा० त० सु०—१ रावणका कुल कमलवन है, श्रीसीताजी हिमऋतुकी रात्रि हैं। कमल तालाबके जलके आश्रित रहता है। यहाँ लंका तालाब है, रावणका बल जल है जिसके आश्रित राक्षसकुल है। जल रहनेपर भी कमल हिमऋतुकी रात्रि आनेपर नष्ट हो जाता है, वैसे ही तुम्हारे रहते हुए भी सब कुल नष्ट हो जायगा। २ (क) 'निशा सम' का भाव कि हिमऋतुकी रात्रि ही दुःखदायी होती है, दिन दुःखदायी नहीं होता। पुनः, (ख) हिमऋतुकी रात्रिके संयोगसे चन्द्रमा कमलोंका नाश करता है, वैसे ही रामरूपी चन्द्र सीतारूपी शीत निशाके संयोगसे क्रोधरूपी हिमको बरसाकर तुम्हारे कुलका नाश कर देंगे। यथा—'प्रगटे जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुषारू॥' (ग)—हिमसे कमलका अनायास नाश वैसे ही निशाचर-कुलका अनायास नाश है। पूर्णोपमा अलङ्कार है।

टिप्पणी—४ **'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे'** । (क) कुलका हित कहकर अब रावणका हित कहती हैं । सीताको देकर तुम अपना और अपने कुलका हित कर सकते हो । बिना दिये हित न होगा । (ख) शम्भु और अजका नाम लिया, क्योंकि रावण ब्रह्माका परपोता है । और शिवजीका सेवक है । रामका द्रोही है, अतः हित नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्मा और शिव रामके सेवक हैं; यथा—**'जासु चरन अज सिव अनुरागी । तासु द्रोह सुख चहसि अभागी ॥'** (७ । १०६) । पुनः, यथा—**'बीस भुज सीस दस खीस गए तबहिं जब ईसके ईस सों बैर कीन्ह्यो ॥ क० ६ । १८ ।'**

नोट—२ पूर्व जो हनुमान्‌जीने कहा है—**'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी । बिमुख राम त्राता नहिं कोपी ॥ संकर सहस बिष्नु अज तोही । सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥** २३ (८) ।'—वही यहाँ मन्दोदरी कह रही है । इससे जान पड़ता है कि हनुमान्‌जीके वचनोंका भारी प्रभाव उसपर पड़ा है । क्यों न हो, जो कहकर उसका नमूना करके दिखा देता है उसका प्रभाव क्योंकर न पड़े ? भाव यह है कि महाकालके भी जो काल शङ्करजी हैं और तेरे गुरु हैं तथा तेरे पर-पितामह ब्रह्माजी भी यदि तुझे गोदमें लेकर बैठ जायँ और तुझे बचाना चाहें तो भी नहीं बचा सकते । यथा—**'जीवन्न रामेण विमोक्ष्यसे त्वं गुप्तः सुरेन्द्रैरपि शङ्करेण । न देवराजाङ्कगतो न मृत्योः पातालोकानपि सम्प्रविष्टः ॥** अध्यात्म० ६ । २ । २६ ।'—(विभीषणवाक्य) । **'जीवंस्तु रामस्य न मोक्ष्यसे त्वं गुप्तः सवित्राप्यथ वा मरुद्भिः । न वासवस्याङ्कगतो न मृत्योर्न खं न पातालमनुप्रविष्टः ॥** वाल्मी० ६ । १४ । ६ ।'—वाल्मीकीय और अध्यात्मके वाक्योंसे **'संभु और अज'** मानसके इन दो ही शब्दोंमें कितना अधिक गौरव और शक्ति है ? शंकरजीको प्रथम कहा क्योंकि ये गुरु हैं, इष्टदेव हैं । और कहा है कि **'राखइ गुर जौं कोप बिधाता । १ । १६६ ।'** इसकी ओर संकेत है कि गुरु भी रक्षा नहीं कर सकते ।—यहाँ 'प्रथम विनोक्ति अलंकार' है ।

दो०—राम बान अहिगन सरिस निकर निसाचर भेक ।
जब लगि ग्रसत न तब लगि जतनु करहु तजि टेक ॥३६॥*

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके बाण सर्पोंके समूहके समान हैं और निशाचर-समूह मेंढकके समान हैं । जबतक वे ग्रसते (= निगलते) नहीं तभीतक हठ छोड़कर उपाय कर लो ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—१ मन्दोदरीकी वाणीको **'नीति रस पागी'** कहा है । उसके वचनोंमें साम, दाम, भय और भेद चारों नीतियाँ हैं । यथा—१—**'कंत करष हरि सन परिहरहू'**, यह साम है, वैर छोड़ो मेल कर लो । २—**'तासु नारि निज सचिव बोलाई । पठवहु कंत'**..., यह दाम है । कुछ देकर शत्रुको मिलाना 'दाम' है । ३—**'जो चहहु भलाई'**से **'जब लगि ग्रसत न तब लगि जतन करहु तजि टेक'** यह भय है । ४—**'समुझत जासु दूत कै करनी । स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी ॥'** यह भेद है । अर्थात् न मानोगे तो डरे हुए निशाचर उधर जाकर मिल न जायँ ।

नोट—१ मिलान कीजिये अन्य रामायणोंके ऐसे ही विभीषणके वाक्योंसे; यथा—**'सुवर्णपुङ्खाः सुभटाः सुतीक्ष्णा वज्रोपमा वायुमनःप्रवेगाः । यावन्न गृह्णन्ति शिरांसि बाणाः प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥** हनु० ७ । ८ ।' अर्थात् हे रावण ! सुवर्णके पुङ्खोंवाले, अमोघ, अत्यन्त तीक्ष्ण, वज्रके सदृश, पवन और मनके तुल्य वेगवाले बाण जबतक तुम्हारे शिरोंको नहीं लेते, तबतक तुम दशरथके पुत्र श्रीरामजीको जानकी दे दो । पुनश्च, **'पुरा शरत्सूर्यमरीचिसंनिभान् नवाग्रपुङ्खान् सुदृढान् नृपात्मजः । सृजत्यमोघान् विशिखान् वधाय ते प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ।** वाल्मी० ६ । ९ । २२ ।' अर्थात् जबतक श्रीरामजी सूर्यकिरणके समान चमचमाते हुए पंखवाले अत्यन्त दृढ़ और अमोघ बाण आपके वधके लिये नहीं छोड़ते उसके पूर्व ही आप 'सीताजी' उनको दे दें । पुनश्च, **'यावन्न गृह्णन्ति शिरांसि बाणा रामेरिता राक्षसपुङ्गवानाम् । वज्रोपमा वायुसमानवेगाः प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥** वाल्मी० ६ । १४ । ४ ।' अर्थात् वज्रसमान भयंकर और वायुवेगवाले बाण जबतक राक्षसोंके सिरोंको नहीं काटते उसके पूर्व ही जानकीजीको दे दो । (यह विभीषणजीने कहा है) । रामबाणकी करालता खरदूषणवध-प्रसङ्गसे मन्दोदरीको विदित हो चुकी है; इसीसे वह उनको अहिगण कह रही है और युद्धमें वह चरितार्थ भी है । यथा—**'तब चले बान कराल । फुंकरत जनु बहु ब्याल ॥'**...**'चले बिसिख निसित निकाम ।'**(आ० २०) । **'सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा । कालसर्प जनु चले सपच्छा ॥** ६ । ६७ ।', **'तानेउ चाप श्रवन लगि छाँड़े बिसिख कराल । राम मारगन**

* दोहा दोहरा मिश्रित है—(ब्र० चं०) ।

गन चले लहलहात जनु ब्याल ॥ ६ । ९० । चले बान सपच्छ जनु उरगा ।', एवं 'खैंचि सरासन श्रवन लगि छाँड़े सर एकतीस । रघुनायक सायक चले मानहु काल फनीस ॥ ६ । १०१ ।'······'अपर लगे भुज सिर करि रोषा ।'—उपर्युक्त उद्धरणोंमें रामबाणके लिये जो विशेषण या उत्प्रेक्षाएँ आयी हैं, वे सब 'अहिगन सरिस' की व्याख्या ही समझिये । २—इस दोहेमें धर्मलुप्तोपमा और रूपक अलंकार हैं ।

टिप्पणी—२ (क) रामबाण अहिगणसदृश हैं; अर्थात् सर्प-सरीखे वे भी सविष हैं, सपक्ष हैं; 'लंबित' हैं, ग्रासक हैं, फुङ्कारयुक्त हैं, सवेग हैं, भयंकर हैं और मृत्युकारक हैं । (ख)—निशाचर मेंढक हैं; अर्थात् जैसे सर्प मेंढकोंको खोज-खोजकर खाते हैं, वैसे ही रामबाण निशाचरोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर मारेंगे । जैसे मेंढक कुछ कर नहीं सकते, वैसे ही निशाचर कुछ कर न सकेंगे । (ग) 'जतन करहु' अर्थात् यत्न करनेसे बच सकोगे, युद्ध करनेसे नहीं बच सकोगे, जैसे मेंढक सर्पसे युद्ध नहीं कर सकता । क्या यत्न करें ? यह प्रथम ही बता चुकी हैं कि सीताको लौटा दो । [कवितावलीमें भी कहा है—'तौ लौं मिलु बेगि नहिं जौं लौं रन रोष भयो, दासरथि बीर बिरुदैत बाँको । ६ । २१ ।', 'तौ लौं मिलु बेगि देहि सीय जौ लौं चाप न चढ़ायो राम, रोषि बान काढ़्यो न दलैया दससीसको ॥ २२ ॥', 'तुलसी गरब तजि मिलबेको साज सजि न तौ पिय पाइमाल जाहिगो ॥ २३ ॥'—यही यत्न है ।] (घ) 'जब लगि ग्रसत न तब लगि' अर्थात् जब युद्धका प्रारम्भ होगा तब यत्न न काम देगा, क्योंकि रामबाण अमोघ हैं, धनुषसे छूटे फिर व्यर्थ नहीं जा सकते । यथा—'जबहिं समर कोपिहि रघुनायक । छुटिहहिं अति कराल बहु सायक ॥ तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा । ६ । २७ ।' (अंगदवाक्य रावणप्रति) ।

२—यहाँतक पूरे दोहेके भावका सिंहावलोकन—निशाचरोंको शंकित सुनकर उनके बचानेके लिये मन्दोदरीने विनती की और जो-जो बातें पुरजनोंकी दूतियोंद्वारा सुनी थीं, वही-वही रावणसे कहीं—

पुरवासी	मन्दोदरी
१ उहाँ निसाचर रहहिं ससंका	मंदोदरी अधिक अकुलानी
२ निज निज गृह सब करहिं बिचारा	दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी
३ नहिं निसिचरकुल केर उबारा	तव कुल कमल बिपिन दुखदाई । सीता······
४ जासु दूत बल बरनि न जाई	समुझत जासु दूत कै करनी ।···
५ तेहि आए पुर कवन भलाई	तासु नारि निज सचिव बोलाई । पठवहु कंत जो चहहु भलाई ॥
६ नहिं निसिचरकुल केर उबारा	दोहा ३६ में निशिचरनिकरका उबार माँगा

प० प० प्र०—अशोकवाटिकामें मन्दोदरीके कहनेसे रावणने सीतावध करनेका प्रयत्न छोड़ दिया । इससे उसे आशा है कि वह मेरी बात मानेगा । यही समझकर उसने चार बार समझानेका प्रयत्न किया है । प्रथम बार (यहाँ प्रेम-शृङ्गार-रसके सामर्थ्यपर ही रावणको मनानेका प्रयत्न किया है, यह बात 'कंत' सम्बोधनसे सूचित होती है । दूसरी बार 'सुनहु बचन पिय परिहरि क्रोधा' से उपक्रम है जिसमें शृङ्गार और वीररसोंका मिश्रण है । तीसरी बार 'सजल नयन कह जुग कर जोरी । सुनहु प्रानपति···॥ ६ । १४ । ७ ।' में करुणारसका आश्रय लिया है । चौथी बार ६ । ३६ । १ में वीर, हास्य, भयानक, रौद्र और अद्भुत रसोंका आश्रय लिया है, क्रोध सर्वत्र व्याप्त है ।

श्रवन सुनी सठ ताकर बानी । बिहँसा जगत बिदित अभिमानी*॥ १ ॥

अर्थ—शठ और जगत्प्रसिद्ध अभिमानी रावण उसकी वाणी कानोंसे सुनकर खूब हँसा । (और बोला—) ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ (क) मन्दोदरीने विनती की थी कि सुनो, यथा—'सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें'; अतः 'श्रवण सुनि' कहा । मन्दोदरीके आदरके लिये वाणी सुनी पर मानी नहीं । वाणी निष्फल हुई, जैसे ऊसरमें पड़नेसे बीज निष्फल जाता है । इसी भावको दरसानेके लिये वक्ताओंने 'सठ' विशेषण दिया । यथा—'सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती'··'ऊसर बीज बयें फल जथा । ५ । ५८ ।' (ख) मन्दोदरीने श्रीरामजीकी बड़ाई की है; अतः उसने हँसकर निरादर किया, क्योंकि अभिमानी है । अभिमानी अपने बलके आगे किसीको कुछ गिनता ही नहीं—यह बात उसके अगले वचनोंसे स्पष्ट है । [पुनः, हँसकर उत्तर दिया जिसमें बात न माननेसे उसके चित्तमें ग्लानि न हो । अथवा, यह समझकर हँसा कि मेरे समीप रहकर भी यह

* तामरस और पायकुलक क्रमसे । (म० चं०) ।

मेरा प्रभाव नहीं जानती। (मा० त० सु०)। अथवा, मेरा पराक्रम जानकर भी डरती हैं और मुझे सिखाती है।] 'जगत बिदित अभिमानी', यथा—'रनमदमत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥' इसीसे जगत् भर जानता है और इसीसे यह हँसा कि मेरे समान त्रैलोक्यमें कोई योद्धा नहीं है और यह मुझे नर-वानरका भय दिखाती है।

श्रीलमगोड़ाजी—हास्यकलामें अभिमानकी हँसीका आनन्द लीजिये। पाश्चात्यशिक्षा पाये हुए सज्जन Sardonic Laughter का आभास देखें।

सभय सुभाउ* नारि कर साँचा। मंगल महुँ भय मन अति काँचा॥ २॥
जौं आवै मर्कट कटकाई। जियहिं बिचारे निसिचर खाई† ॥ ३॥

अर्थ—सत्य ही स्त्रियोंका स्वभाव डरपोक होता है। मङ्गलमें भी भय! बड़ा ही कच्चा मन है। वा, उनको मङ्गलमें भी भय लगता है (क्योंकि उनका) मन अत्यन्त कच्चा होता है॥ २॥ जो बंदरोंकी सेना आवेगी तो बिचारे निशाचर उन्हें खाकर जियेंगे॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'सभय सुभाउ नारि कर साँचा' इति। (क) स्त्रियोंके आठ अवगुण कहे हैं। उनमेंसे 'सभय होना' भी एक है। यथा—'साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥ ६। १६।' तात्पर्य कि जहाँ भय नहीं है, वहाँ भी यह भय करती हैं, यथा—'नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥' (ख) 'साँचा' अर्थात् जो नीतिमें कहा है वह सत्य है; प्रत्यक्ष देखनेमें आ गया कि जिस (मन्दोदरी) को किसीका भय नहीं वह भी डर रही है, यह नारिस्वभाव है। यथा—'कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हाँसा॥' (ग)—स्वभावसे ही भयभीत हुई; इसीसे मनको 'कच्चा' कहा। और, मङ्गल-समयमें भय किया; इससे 'अति कच्चा' कहा। मङ्गल यह कि कोई भारी शत्रु नहीं है। नर-वानर हैं, जो हमारे भक्ष्य हैं—'नर कपि भालु अहार हमारा' (६। ८)। पुनः, शत्रुको देखकर भय होनेसे 'कच्चा' और भक्ष्यको देखकर भय हुआ इसीसे 'अति कच्चा' कहा। भक्ष्यकी प्राप्ति मङ्गल है, यही आगे कहते हैं—'जो आवै···'। 'युद्धकी प्राप्ति मङ्गल है' यह अर्थ जो करते हैं वह ठीक नहीं; क्योंकि रावण युद्धका नाम नहीं लेता। वह भोजनकी प्राप्ति कह रहा है तब युद्ध करना मंगल कैसे कहें? यहाँ 'प्रथम विषम अलंकार' है [मङ्गलमें भी भय-भीत, यह कहकर स्त्रियोंकी विचारहीनता दिखायी। बिना उपायके भोजन मिलना मङ्गल है, यथा—'कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा॥' (४। २७), 'गृह बैठे अहार बिधि दीन्हा' (६। ३९)। (मा० त० सु०)। अथवा, शूरवीरके लिये युद्ध भी मङ्गल है। अथवा परमसुन्दरी सीताजीकी प्राप्ति मङ्गल है उसीको वह लौटानेको कहती है इससे ऐसा कहा। (ब्रह्मचारी)]

२ (क) 'जौं आवै' से उनके आनेमें संदेह जनाया। अर्थात् वे भयसे न आवेंगे और यदि आ गये तो जान लो कि उनका काल ही प्रेरणा करके उन्हें यहाँ ले आया है। मंदोदरीने जो कहा था कि 'रामबान अहिगन···। ३६।', उसीका यह उत्तर है कि राक्षस तो खानेके लिये उनकी राह देख रहे हैं कि कब आवें और हम भक्षण कर लें। (ख) 'मर्कट कटकाई' अर्थात् बहुत आहारका नाम लेकर जनाया कि निशाचर बहुत भूखे हैं; एक-दोसे काम न चलता। वानरसेना बहुत आहार है जिसे पाकर राक्षस जी सकेंगे। श्रीराम-लक्ष्मण दो ही हैं, ये एक ही निशाचरको पूरे न पड़ेंगे; इसीसे उनका नाम न लिया। (ग) बिचारे=गरीब, भूखके मारे दीन। अर्थात् बहुत क्षुधावन्त, यथा—'आये कीस कालके प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे॥ ६। ३९।' और भी यथा—'भालु नर बानर अहार निसिचरनि को सोऊ नृपबालकनि माँगी धारि लही है। देखो कालकौतुक पिपीलिकनि पंख लागो भाग मेरे लोगनि के भी चित चही है।' (गी० सुं० २४)। 'बिचारे' में यह भी भाव है कि गरीब निशाचर जो भरपेट मांस न पाते थे वे भी भरपेट पाकर प्रसन्न होंगे। (घ) 'जियहिं बिचारे निसिचर खाई' कहकर अपनी सेनाका बल जनाया और आगे अपना बल कहता है—'कंपहिं लोकप जाकी त्रासा।' (ङ) मंदोदरीने रावण और उसकी सेना दोनोंको निर्बल कहा था—'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें।', और '···निकर निसाचर भेक।' इसीसे रावणने दोनोंका बल कहा।

कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥ ४॥

* सुभाव—(ना० प्र०) † क्रमसे नयमालिनी, पायकुलक, मत्ता और कुसुमविचित्रा छन्द हैं।

अस कहि* बिहँसि ताहि उर लाई । चलेउ* सभा ममता अधिकाई ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसके डरसे लोकपाल काँपते हैं उसकी स्त्री भयभीत हो, यह बड़ी हँसीकी बात है ॥ ४ ॥ ऐसा कहकर खूब हँसकर रावणने उसे छातीसे लगाकर और अधिक ममत्व (प्रेम) दिखाकर एवं बड़े अभिमानसे वह सभाको चला ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ 'कंपहिं लोकप···' इति । (क) यह **'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे'** का उत्तर है अर्थात् तू हमें मनुष्यका भय दिखाती है और मेरे भयसे तो लोकपालतक काँपते हैं, यथा—**'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता । भृकुटि बिलोकत सकल सभीता'** (५ । २०)—(इस तरह अपनी प्रभुता कहकर मन्दोदरीके भयको निवारण करना चाहता है; यथा—**'कहै लाग खल निज प्रभुताई । सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना । जग जोधा को मोहिं समाना ॥ बरुन कुबेर पवन जम काला । भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला ॥ देव दनुज नर सब बस मोरें । कवन हेतु उपजा भय तोरें ॥ ६ । ८ ।'** अर्थात् भयका कोई कारण नहीं है, भय छोड़ो । यहाँ 'दूसरा विषम अलंकार' है । (ख) **'तासु नारि सभीत'** अर्थात् और साधारण किसी व्यक्तिकी स्त्री सभीत हो (कि हमारा पति मारा न जाय) तो कोई चाहे न हँसे, पर लोकपाल जिससे डरें उसकी स्त्री नर-वानरसे डरे, इसमें बड़ी हँसी है । इसी बातपर हँसकर हृदयमे लगा लिया । (नोट—किसी निशाचरकी स्त्री वानरसे डरे तो 'हँसी'की बात है और रावणकी रानी डरे यह 'बड़ी हँसी' की बात है ।)

नोट—१ इसकी जोड़का श्लोक हनुमन्नाटकमें यह है—**'रावणः (निजभुजाडम्बरं नाट्यति) । किं ते भीरु भिया निशाचरपतेर्नासौ रिपुर्मे महान्, यस्याग्रे समरोद्यतस्य न सुरास्तिष्ठन्ति शक्रादयः । मद्दोर्दण्डकमण्डलोद्धृतधनुः शिक्षाः क्षणान्मार्गणाः प्राणानस्य तपस्विनः सति रणे नेष्यन्ति पश्याधुना ॥ ९ । ६ ।'** अर्थात् रावण अपने भुजाओंके बलका नाट्य करता हुआ कहता है—'हे भीरु प्रिये ! तू क्यों डरती है । मुझ निशाचरराजके लिये यह शत्रु कोई बड़ा शत्रु नहीं है । जब मैं समरके लिये उद्यत होता हूँ तब इन्द्रादि देवता भी मेरे सम्मुख खड़े नहीं रह सकते । रणभूमिमें मेरे भुजदण्डोंके समूहसे उठाये हुए धनुषसे निकले हुए बाण उस तपस्वीके प्राण एक क्षणमें हर लेंगे । यह तू निश्चय ही देखेगी ।'—यह श्लोक इस अर्धालीकी व्याख्या समझिये । जहाँ डरकी किंचित् बात नहीं वहाँ डरना 'बड़ी हँसी' की बात है । लोग क्या कहेंगे ? ।

वि० त्रि०—**'तासु नारि सभीत बड़ि हाँसा'** कहनेके बाद स्वयं भी हँसे । नहीं तो हास्य सिद्ध कैसे हो । मन्दोदरी भयभीत हो गयी थी, अतः उसे आश्वासन देनेके लिये हृदयसे लगा लिया । रावण पण्डित तो थे, पर पोथीके ही पण्डित थे, हृदय उनका अहन्ता-ममतासे पूर्ण था । कालनेमिने उनकी ऐसी मानसस्थितिकी निन्दा भी स्वयं उनसे की, यथा—**'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू । महामोह निसि सूतत जागू ॥ ६ । ५५ । ७ ।'** पर ये महात्मा उपदेश करनेवालेपर क्रोध करते थे । सो ममता तो इन्हें स्वाभाविक थी, स्त्रीको हृदयसे लगानेसे और बढ़ गयी, यथा—**'पुनि ममता जवास बहुताई । पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई ॥'** ऐसी ही अवस्थामें सभामें पधारे, विभीषणका त्याग भी इसी अवस्थामें हुआ ।

टिप्पणी—२ **'अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई ।'** (क) यहाँ दुबारा हँसा । प्रथम भी हँसा था—**'बिहँसा जगतबिदित अभिमानी ।'** दो बार (आदि और अन्तमें) हँसनेका भाव यह कि मन्दोदरीकी बात उसने हँसीमें उड़ा दी । (ख) हँसकर हृदयमें लगाया—उसकी खातिरीके लिये ऐसा किया जिसमें उसके वचनके निरादरसे उसको कष्ट न हो । पुनः मंदोदरी पतिके पाँव लगी थी—**'रहसि जोरि कर पति पद लागी ।'** रावणने उसके बदलेमें उसको हृदयमें लगा लिया । **'पति पद लागी'** यह मन्दोदरीकी भक्ति है और **'ताहि उर लाई'** यह रावणका प्रेम है । (ग) **'ममता अधिकाई'** इस पदसे जनाया कि मंदोदरीका ज्ञान-कथन व्यर्थ गया । ममतामें रत मनुष्यसे ज्ञानकथन करनेका यही फल होता है । यथा—**'ममता रत सन ग्यान कहानी ।··· ऊसर बीज बएँ फल जथा । ५८ । ३-४ ।'** पुनः भाव कि ममता तरुण अन्धकारसे पूर्ण अमावस्याकी रात्रिके समान है, उसमें सत्-असत्‌का ज्ञान नहीं रहता । ममतामें राग और द्वेषका ही विलास देखनेमें आता है जैसे रात्रिमें उलूकको ही सुख होता है । यथा—**'ममता तरुन तमी अँधिआरी । राग द्वेष उलूक सुखकारी । तब लगि बसति जीव मन माहीं । जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ॥ ४७ । ३-४ ।'** (विभीषणवाक्य श्रीरामप्रति) । श्रीरामजीके प्रतापका ज्ञान न होनेसे ही उसे ममता है, जिसमें उसे सत्-असत्‌का ज्ञान नहीं हो पाता, उसे कुछ सूझता नहीं, उसे तो राग-द्वेष ही सूझता है । इसीसे उसने स्त्रीसे राग किया और श्रीरामजीसे द्वेष कर रहा है ।

* (४) और 'अस कहि···।' पायकुलक, 'चलेउ···'तामरस (प्र० चं०)

नोट—२ मन्दोदरी रावणको अत्यन्त प्रिय है। उसकी बात टालना भी है और साथ ही अपनी हठ भी रखना है ऐसे अवसरोंपर स्त्रैण पुरुष जैसा स्वाभाविक करते हैं वही रावणने किया कि उसको बड़े प्रेमसे हृदयसे लगाया और हँसते हुए सभामें चला गया; अन्यत्र जाता तो सम्भव था कि वह भी साथ चल देती।

टिप्पणी—३ मंदोदरीने श्रीरामजीका प्रताप कहा, पर रावणके हृदयमें वह न लगा; क्योंकि ममता आदि 'तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥' स्त्री-पुत्रादिमें स्नेह करना ममता है। स्त्रीको हृदयसे लगाया, इसीसे ममता अधिक बढ़ी; यथा—'पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥ ३। ४।'

नोट—३ 'ममता' के अर्थ हैं—स्नेह, मोह और अभिमान (अहंता)। वे तीनों अर्थ यहाँ घटित होते हैं। स्त्रीपर अधिक स्नेह दिखाकर उसका बड़ा प्यार करके चला। वानरोंकी सेना है और राम-लक्ष्मण मनुष्य हैं; इनसे क्या डरना। यह मोह बढ़ा। और, मेरे सामने लोकपाल तो खड़े ही नहीं हो सकते, मेरे अनुचरके सामने खड़ा होनेवाला तो कोई देवता भी नहीं है, नर-वानर किस गिनतीमें हैं? यह अभिमान भी बढ़ाये हुए सभामें गया। मा० त० सु० कार लिखते हैं कि ममता अपने हठपर और मन्दोदरीपर अधिक थी, इसीसे तुरंत चल दिया।

श्रीलमगोड़ाजी—(क) देखा, कविकी हास्यकलाकी निपुणता! कि रावणद्वारा हँसीमें उड़ायी हुई बातका कितना सुन्दर विस्तारसे वर्णन किया है मानो उसके हृदयका फोटो ही सामने धर दिया है जिसमें अभिमान, चतुराई और ममता सभीका विवेचन है। इसीसे मैंने पूर्व कहा कि अभी Sardonic Laughter (अर्थात्) शैतानी हँसीका आभास है। कविकी यह सुकुमारता भी सराहनीय है। (ख) ☞ नाटकीय कलासे अनभिज्ञ लोग ऐसे नारिके निरादरसूचक शब्दोंको कविके सिर मढ़कर उसका निरादर करते हैं। यह ठीक नहीं है। देश, काल और पात्रका विचार कर लेना चाहिये। (ग) 'नसीम' के प्रशंसक 'विचारे' के 'बिना चारे (भोजन) वाले' शब्द संकेतकी सराहना अवश्य करेंगे।

मंदोदरी हृदय कर चिंता। भएउ कंत पर बिधि बिपरीता॥ ६॥

अर्थ—मन्दोदरी हृदयमें चिन्ता करने लगी कि पतिपर विधाता प्रतिकूल हो गये हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ तात्पर्य यह कि अब अपनी चिन्ता किससे कहे। जिससे कहना था उससे कह चुकी और उसने न माना। तब यह निश्चय किया कि विधाता उसके विपरीत हैं, अब वह न बचेगा; अतएव उसे अपने अहिवातकी चिन्ता हुई। यथा—'अस कहि नयन नीर भरि गहि पद कंपित गात। नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होइ अहिवात॥ लं० ७।', 'अस बिचारि सुनु प्रानपति प्रभु सन बैरु बिहाइ। प्रीति करहु रघुबीरपद मम अहिवात न जाइ॥ ६। १५।'

२ निशाचरोंका भावी विनाश सुनकर प्रथम मन्दोदरी व्याकुल हुई और उनके बचनेका उद्योग किया, पतिसे प्रार्थना की। पर वह उद्योग नष्ट हुआ। तब वह चिन्ता करने लगी। प्रथम निशाचरोंके बचनेकी चिन्ता थी, अब पतिके बचनेकी चिन्ता हुई। यह चिन्ता क्यों हुई कि विधाता विपरीत है? रावणके अभिमानयुक्त वचनोंसे उसने जान लिया कि रावण कालके वश है, यथा—'काल बिबस मन उपज न बोधा। ६। ३६।' पहले भलाई होनेका उपाय कहा—'पठवहु कंत जो चहहु भलाई।' जब उपदेश न माना तब भलाईसे निराश हुई—'बिधि बिपरीत भलाई नाहीं। १। ५२।'

बैठेउ सभा खबरि असि पाई। सिंधु पार सेना सब आई॥ ७॥
बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥ ८॥
जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं*॥ ९॥

अर्थ—सभामें (जाकर) बैठा तब यह खबर पायी कि सब सेना समुद्रपार आयी है॥ ७॥ उसने मन्त्रियोंसे पूछा कि जो मत (सलाह) उचित हो वह कहो। वे सब हँसे कि चुप होकर बैठे रहिये॥ ८॥ जब सुर और असुरको जीता तब (तो कुछ) श्रम हुआ ही नहीं। नर और वानर किस गिनतीमें हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ 'बैठेउ सभा खबरि असि पाई···' इति। (क) बिना मौकेके बात न कहनी चाहिये, इससे महल आदिमें खबर न दी। राजसभा ऐसी खबर देनेका उचित स्थान है। हरकारों या दूतोंने खबर दी। (ख) बैठते ही और राजकाज कुछ न सुनाया गया, यही समाचार दिया गया। इससे ज्ञात होता है कि जबसे हनुमान्‌जी लङ्का जलाकर गये तबसे कचहरी-

* व्र० चं०—(६) (७), 'ते०' (९) पायकुलक, 'बूझेसि' चक्र है।

का और सब काम बंद है, सब जासूसीमें ही लगे हैं। (ग) 'पार'=दूसरे तटपर, उस पार। 'पार' दोनों तट कहलाते हैं। प्रत्येक तटके लोग दूसरे तटको 'पार' कहते हैं। यदि 'पार' शब्द न देते तो संदेह होता कि लङ्कावाले तटपर तो नहीं आ गयी। (घ) 'सेना' की अनन्तता और बल नहीं कहा; क्योंकि इनके कहनेवालेपर रावण कोप करता है।'

२ '**बूझेसि सचिव**···' इति। (क) उचित कहो अर्थात् अनुचित न कहो। उसका उचितसे तात्पर्य है कि 'सीताको दे दीजिये, शत्रुसे मेल कर लो' यह अनुचित है, इसे न कहना; किंतु कहो कि शत्रुसे युद्ध करो, युद्ध किस प्रकार किया जाय, यह कहो, इत्यादि उचित मत है। यथा—'**सभा आइ मंत्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवन बिधि रिपु सें जूझा**॥' (६। ८)। यह सम्मत कहो कि उस पार चलकर लड़ें या उन्हें उतर आने दें। यथा—'**अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ। भवद्भिर्मन्त्र्यतां मन्त्रः सुनीतिश्चाभिधीयताम्**॥' अर्थात् जिसमें सीताको न देना पड़े और दोनों पुत्र दशरथके मारे जायँ, ऐसी सुन्दर नीतियुक्त राय तुमलोग कहो। (वाल्मी० यु० सर्ग १२। २५-२६)। (ख)—'**ते सब हँसे**' अर्थात् यह बात हँसीकी है। चुप हो रहो। ऐसी बात न कहो। जो सुनेगा वही हँसेगा कि त्रैलोक्यविजयी होकर नर-वानरसे युद्ध करनेमें उपाय पूछता है। रावणके प्रश्नपर सब हँसे और उसे चुप कर दिया, जैसे रावणने हँसकर मन्दोदरीको चुप किया था कि '**तासु नारि सभीत बड़ि हासा**।' तात्पर्य कि जो अच्छे लोगोंकी वाणीको हँसते हैं, उनकी भी वाणीको लोग हँसते हैं। मन्त्रियोंकी वाणी सुनकर रावण प्रसन्न हुआ कि जो बात हमने मन्दोदरीसे कही, यथा—'**जो आवै मर्कट**···', वही सम्मत इनका है। रावणने कहा कि 'उचित मत' कहो; इसीपर मन्त्री हँसे कि हमें उचित कहनेको कहते हो और तुम अनुचित पूछते हो—नर-वानरोंकी लड़ाईके लिये सम्मति न पूछनी चाहिये थी।

नोट—१ '**मष्ट करना**'=चुप रहना। यथा—'**मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं**'—(१। २७८)। ते सब हँसे·· लेखे माहीं' इति। यथा—'**स्वैरं कुर्वन्तु कार्याणि भवन्तो विगतज्वराः। एकोऽहं भक्षयिष्यामि तान्सर्वान्हरियूथपान्॥ स्वस्थाः क्रीडन्तु निश्चिन्ताः पिबन्तो मधु वारुणीम्**।' (वाल्मी० ६। ८। २३-२४), अर्थात् आप इस बातकी चिन्ता न कर अपने-अपने कामोंमें लगिये। मैं अकेला ही सब वानरयूथपतियोंको खा डालूँगा। आप सब लोग सावधान और निश्चिन्त होकर खेलिये-कूदिये तथा वारुणी और मधु पान कीजिये।—इनमें तथा वाल्मी० ६। ७। २६। में जो कहा गया है वह सब '**ते सब हँसे मष्ट करि रहहू**।' इत्यादिमें कविने कह दिया है।

नोट—२ '**किं करिष्यामि भद्रं वः किं वा युक्तमनन्तरम्**। वाल्मी० ६। ६। ४। **उच्यतां नः समर्थं यत्कृतं च सुकृतं भवेत्**॥ ५॥ ···**कार्यं सम्प्रतिपद्यन्तामेतत्कृत्यं मतं मम**॥ १६॥' अर्थात् सिन्धुपार सेना आ जानेकी खबर पाकर रावणने मन्त्रियोंसे पूछा कि क्या करना उचित है? वह उपाय बताओ जिससे भला हो और जो हम कर सकें। आप सब एकमत होकर कर्तव्य निश्चित करें, वही हम करें। ☞ रावणका इस सम्बन्धमें यह प्रथम दरबार है। इस दरबारमें वही बात कही है जो मानसमें है— '**उचित मत कहहू**' और उत्तर भी दोनोंमें एक-सा है। सर्ग ७ श्लोक ४ से १९ तकमें '**ते सब हँसे**···**माहीं**' की ही व्याख्या समझिये। '**तिष्ठ वा किं महाराज श्रमेण तव**···॥ १९॥' (हे महाराज! आप बैठे भर रहें। आप किञ्चित् भी श्रम न करें।) यही '**मष्ट करि रहहू**' में भाव है, आप चुपके बैठें, हममेंसे कोई भी जाकर वानरोंको खा डालेगा। '**जितेहु सुरासुर**···'—भोगवतीके नागों, यक्षोंसहित कुबेर जो शिवजीके मित्र हैं, पूर्वमें अमरत्वका वर पाये हुए दानवों, मधुदैत्य, समस्त लोकपालों, वीरक्षत्रियों इत्यादिको जीता। मयने डरकर कन्या ब्याह दी। यह कहकर अन्तमें जो कहा है कि—राजन्! आप नर-वानररूप नगण्य लोगोंसे जो विपद्‌की शङ्का कर रहे हैं सो इसकी चिन्ता तो करनी ही न चाहिये। आप निश्चय 'राम' को मारेंगे।—यही '**नर बानर केहि लेखे माहीं**' है। यथा—**राजन्नापद्युक्तेयमागता प्राकृताज्जनात्। हृदि नैव त्वया कार्या त्वं वधिष्यसि राघवम्**॥ वाल्मी० ६। ७। २६।' इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि रावणके अन्तःकरणमें जो भी रहा हो पर उसने मन्त्रियोंसे उचित सलाह देनेको कहा और यहाँतक कहा कि तुम जो कुछ एक मत होकर कहोगे वही मैं करूँगा। यह मन्त्रियोंका अपराध है कि उन्होंने उचित सलाह न दी, यह समझकर कि वह हम लोगोंको कायर न समझे, इत्यादि। इसीपर तो ग्रन्थकार आगे दोहेमें अपनी टिप्पणी करते हैं—'**सचिव बैद**···।' टिप्पणी २ (क) में का उद्धृत श्लोक दूसरी बारके दरबारमें कहा गया है।

लमगोड़ाजी—हास्यरसकी कलामें '**मष्ट करि रहहू**' की बेतकल्लुफी इतनी सुन्दर है कि सराहते नहीं बनती, मानो मन्त्रियोंसे याराना (घनिष्ठ मित्रता) है। पर कविकी सुकुमार विवेचनाकी कहाँतक प्रशंसा की जाय, जब हम देखते हैं कि

इसकी आड़में जो भय है उसे कविने ताड़ लिया है, जैसा नीचेवाले दोहेसे विदित है।

नोट—३ यहाँ 'काव्यार्थापत्ति अलङ्कार' है।

टिप्पणी—३ 'जितेहु सुरासुर···' इति। (क) अर्थात् जो सुर और असुर लेखेमें थे अर्थात् कुछ गिने जाते थे, उन्हें तो तुमने जीत लिया, नर-वानर किसी लेखेमें नहीं हैं; इनके लिये क्या पूछना ? ये तो हमारे आहार ही हैं, आये और हमने खाया। यही बात आगे लङ्काकाण्डमें फिर कहेंगे। (ख) सुरसे स्वर्गलोकका और असुरसे पाताललोकका जीतना कहा, रहे मर्त्यलोकके 'नर-वानर' सो किसी लेखेमें नहीं हैं। (ग) सुरासुरके जीतनेमें श्रम नहीं हुआ, यथा—'देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गये पराई', 'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥ १। १८२।', 'एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पक जान जीति लेइ आवा॥ १। १७९।' और ''दिगपालन्हके लोक सुहाए। सूने सकल दसानन पाए॥ १। १८२।'

दो०—सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास* ॥ ३७ ॥

सोइ रावन कहुँ बनी सहाई। अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई॥ १॥

अर्थ—मन्त्री, वैद्य और गुरु, यदि ये तीन भय या आशासे प्रिय बोलते हैं तो राज्य, शरीर और धर्म इन तीनोंका शीघ्र ही नाश हो जाता है॥ ३७॥ वही बात रावणको सहायक हुई। सब सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं॥ १॥

नोट—१ 'सचिव बैद गुर···नास' इति। जोड़का श्लोक यह है, यथा हितोपदेशे—'वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदः। शरीरधर्मकोषेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते'॥ अर्थात् जिस राजके वैद्य, गुरु और मन्त्री प्रियवादी हों वह शीघ्र शरीर, धर्म और कोषसे रहित हो जाता है। भाव यह कि वैद्य भयसे या रोगीको प्रसन्न करनेके लिये कुपथ्य माँगनेपर कुपथ्य दे दे; तो रोगी मर जायगा। गुरु लोभके वश शिष्यको अधर्मसे न रोके, यथार्थ उपदेश सन्मार्गका न दे, तो दोनोंका धर्म नष्ट हो, यथा—'लोभी गुरू लालची चेला। घोर नरक महँ ठेलमठेला॥' मन्त्री राजनीति न सिखावे वरन् उसकी हाँ-में-हाँ मिलावे, उसका रुख देखकर ठकुरसोहाती कहे, तो राज्यका नाश होता है।

टिप्पणी—१ (क) 'राज धर्म तन तीनि कर···' इति। राज्यसे यह लोक, धर्मसे परलोक और तनसे लोक और परलोक दोनोंका साधनेवाला—इन तीनका विनाश सूचित किया; यथा—''संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा॥ प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति असि सुनी॥' (३। २१)। जो यहाँ दोहेमें कहा है 'होइ बेगिही नास' वही इन चौपाइयोंमें कहा है—'नासहिं बेगि।' यहाँ दोहेसे यथासंख्य नहीं हैं। अर्थ करनेमें क्रमसे अर्थ समझ लें—'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्।' (यहाँ भङ्गक्रम यथासंख्य अलंकार है) (ख) परंतु दोहावलीमें यही दोहा यों लिखा है—'मंत्री गुर अरु बैद जौ प्रिय बोलहिं भय आस। राज धर्म तन तीनिकर होइ बेगिही नास॥ ५२४।' इससे प्रश्न होता है कि यहाँ लोगोंने पाठ अशुद्ध कर दिया है या इस क्रमभङ्गमें भी कुछ भाव है ? इसका उत्तर यह है कि यह पाठ शुद्ध है। और समझ-बूझकर रक्खा गया है। यहाँ विपरीत कथन द्वारा जनाते हैं कि सचिव, वैद्य और गुरु तीनों रावणपर विपरीत हैं—मन्त्री सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं। यह आगे कवि स्वयं यहीं लिखते हैं। वैद्य सुषेण जन्मभर लङ्कामें सुख भोगता रहा, उसीने लक्ष्मणजीके लिये संजीवनी बतायी, राक्षसोंके जिलानेके लिये सञ्जीवनी न मँगा रक्खी। गुरु महादेवजी प्रतिदिन पुजाने आते थे। उन्होंने रावणको श्रीरामजीके वैरसे और अधर्म करनेसे न रोका, यथा—'बेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं'—(क० उ० २), संभु सेवक जान जग, बहु बार दियेउ दससीस। करत राम बिरोध सो सपनेहु न हटकेउ ईस'—(विनय २१६)। भाव कि भगवद्विमुख होनेसे सभी विमुख हो जाते हैं। इसीसे कविने क्रमभङ्ग करके वैषम्यको दिखाया है।

२ (क) 'सोइ रावन कहुँ बनी सहाई।' 'सहाय' बननेका भाव कि रावण आप ही सब नष्ट कर रहा है, उसमें ये भी सहाय हो गये। विनाशके उपायको इन्होंने पुष्ट किया। कुमन्त्रसे राजाका शीघ्र नाश होता है, अतएव कुमन्त्र देकर मन्त्री विनाशमें सहाय हुए—'ते सब हँसे मष्ट करि रहहू। जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं॥···' इत्यादि कुमन्त्र है। (ख)—

* यह पयोधर दोहा है। (ब्र० चं०)।

'सुनाइ' अर्थात् मुँहपर स्तुति करते हैं, पीछे नहीं। पीछे तो यही कहते हैं कि 'जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आए पुर कवन भलाई' 'नहिं निसिचर कुल केर उबारा' इत्यादि।

'विभीषण-शरणागति प्रसंग'

अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता चरन सीस तेहिं नावा॥ २॥
पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन। बोला बचन पाइ अनुसासन॥ ३॥
जौं कृपाल पूँछेहु मोहि बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता*॥ ४॥

अर्थ—अच्छा मौका जानकर विभीषणजी आये और भाईके चरणोंमें उन्होंने मस्तक नवाया॥ २॥ फिर सिर नीचा करके (वा, सिर नवाकर) वे अपने आसनपर बैठे और आज्ञा पाकर वचन बोले॥ ३॥ कृपालो! यदि आप मुझसे बात पूछते हैं तो, हे तात! मैं अपनी बुद्धिके अनुसार हितकी बात कहता हूँ॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'अवसर जानि' अर्थात् उचित मन्त्र (शरणागतिके उपदेश) देनेके लिये अच्छा अवसर समझकर। आगे इसे स्पष्ट कहते हैं—**'मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन कहि पठई यह बात। तुरत सो मैं प्रभु सन कही पाइ सुअवसर तात॥ ३९।** अथवा, अवसर यह कि अब सब मन्त्री अपना-अपना मन्त्र कह चुके, अब चलना उचित है, क्योंकि बीचमें जानेसे उनके मतोंका खण्डन करना पड़ता और यह बात रावणको अच्छी न लगती। देखिये प्रहस्तने खण्डन किया है, यथा—**'सब के बचन श्रवन सुनि कह प्रहस्त कर जोरि। नीति बिरोध न करिय प्रभु मंत्रिन्ह मति अति थोरि॥ ६। ८।' 'कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव एहि भाँती॥'** तब रावणने क्रुद्ध होकर **'सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहि तोहि सिखाई॥'** अथवा, अपने आनेका समय जानकर आये।

नोट—१ अवसर देखकर बुद्धिमान् लोग काम करते हैं। प्रमाण यथा—**'समय जानि गुर आयेसु पाई। लेन प्रसून चले…'।** (१। २२७), **'सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना॥'** (१। १९०), **'सीयमातु तेहि समय पठाई। दासी देखि सुअवसरु आई॥'** (अ० २८१), **'राजकुँअर तेहि अवसर आए'** (बा० २४१), **'देखि सुअवसर प्रभु पहिं आयउ संभु सुजान'** (६। ११३), **'अवसर जानि सप्त रिषि आए'** (१। ८९), इत्यादि। इसका कारण दोहावली दो० ३४४, ४४८ में यह दिया है कि **'अवसर कौड़ी जो चुकै बहुरि दिए का लाख। दुइज न चंदा देखिए उदौ कहा भरि पाख॥' 'समरथ कोउ न राम सों तीयहरन अपराधु। समयहि साधे काज सब समय सराहहिं साधु॥'** इस समय बड़ा सुन्दर अवसर है कि रावणने सबसे सलाह पूछी है कि 'उचित मत' कहो और सबोंने अनुचित कहा है, अभी कहनेसे सम्भव है कि मेरा उचित मत उसको हृदयमें जँच जाय और वह मान ले। दूसरे, अभी-अभी पुलस्त्यजी, अपने पितामहका संदेश रावणसे कहनेको मिला वह लेकर तुरत अवसर जानकर आये हैं, यही कहनेका अवसर है, क्योंकि पूछ रहा है। (प्र० सं०)। पुनः प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि हनुमत्प्रसङ्गमें भी विभीषणजी सभाका कार्यारम्भ होनेके पश्चात् ही आये हैं। इससे सूचित होता है कि विभीषणजी अन्य सभासदोंके समान रावणके आनेके पूर्वसे ही नहीं आते थे। वे यथासमय आते थे और आवश्यकता न रहनेपर चले जाते थे। **'दुष्ट संग जनि देइ बिधाता'** के अनुसार वे दुर्जनोंकी सङ्गतिसे यावच्छक्य दूर ही रहते थे। वे भजनमें ही लगे रहते थे। ☞ **वे अपने आचरणसे उपदेश देते हैं कि विषयी लोगोंकी सङ्गतिसे दूर रहना चाहिये।**

२—विभीषणजी अवसर ताककर आये तो अपमान क्यों हुआ? उत्तर—(मा० त० सु०) बुद्धिमान् लोग कार्यका परिणाम देखते हैं, इस समय अपमान हुआ पर भविष्यमें लंकेश हुए। पुनः खलका त्याग उचित है, विभीषणजीने ऐसा न किया, अतः अपनी साधुताका फल अपमान पाया। पुनः अवसरपर जानेसे प्रभुकी शरणागति और भक्तिकी प्राप्ति हुई।

३—'भ्राता चरन' का भाव कि और सब लोग राजाके भावसे प्रणाम करते थे और विभीषणजीने अपना बड़ा भाई, पिताके समान मानकर प्रणाम किया। यह भाव आगे इनके वचनोंसे स्पष्ट है—**'तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा।'** (पं० रामकुमारजी)।

* म० चं०—'अवसर०' तामरस, 'भ्राता०' पायकुलक, 'पुनि०' ११७८ वाँ भेद, 'बोला०' ११८२ वाँ भेद, 'जौं०' पायकुलक, 'मति०' तामरस है।

टिप्पणी—२ (क) 'निज आसन' से जनाया कि कायदेसे सबके बैठक वा आसन बने हुए हैं। (ख) रावणकी सभामें विभीषणद्वारा बुद्धिमानी, धर्म और कायदा देख पड़ता है—अवसरसे आये, भ्राताके चरणोंमें सिर नवाया, पुनः सिर नवाकर बैठे और आज्ञा पाकर बोले। और, मन्त्रियोंके द्वारा अधर्म और मूर्खता देख पड़ती है—राजाके वचन सुनकर सब हँसने लगे, सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं। (ग) 'पाइ अनुसासन' से एवं 'जौं कृपाल पूछेहु' से ज्ञात होता है कि सब मन्त्रियोंके मतसे रावणका समाधान और संतोष न हुआ; इसीसे विभीषणजीके आसनपर बैठते ही उसने इनसे पूछा। क्योंकि यदि समाधान हो गया होता तो क्यों पूछता ? [(मा० त० सु०)—१—'पाइ अनुसासन' दीपदेहली है। २—सिर नवाकर बैठना शिष्टोंकी रीति है, यथा—'आसन दीन्ह नाइ सिर बैठे।' बिना पूछे राय भी न देना चाहिये।]

३—'जौं कृपाल पूछेहु मोहि बाता।…' (क) देखिये, जो बात विभीषणजीने कही, वही बात शुकने कही है। यथा—'नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥ (५। ५४); पर जो कोमलता विभीषणजीकी वाणीमें है वह शुककी वाणीमें नहीं है; कारण कि विभीषणजी साधु हैं। दोनोंके वचनोंका अभिप्राय एक ही है। पर भेद इतना ही है कि विभीषणजीके वचनोंके भीतर वह अभिप्राय भरा है, जिसमें ऊपरसे रावणमें दोष न पाया जाय। और, शुकके वचनोंसे रावणका क्रोधी और हठी होना शब्दसे ही प्रकट है—उसने कहा था कि 'मानहु कहा क्रोध तजि।' शुकने क्रोधका त्यागना कहकर प्रथम ही उसे 'क्रोधी' सिद्ध किया और 'मानहु' कहकर 'हठी' जनाया। (ख)—'जौं कृपाल' का भाव कि आपने जो कृपा करके पूछा यह मुझको बड़ाई दी, अतएव मैं मतिके अनुरूप कहता हूँ। तात्पर्य यह कि आपको शिक्षा देने योग्य तो मुझमें बुद्धि है नहीं, इसीसे मैं केवल 'हित' कहता हूँ, कुछ आपको उपदेश नहीं देता। उपदेश देनेसे रावण क्रोध करता है, यथा—'मृत्यु निकट आई खल तोही। लागेसि अधम सिखावन मोही॥' (५। २४। यह हनुमान्‌जीसे रावणने कहा है)। पुनः यथा—'गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा॥' (३। २६। यह रावणने मारीचसे कहा है।)। 'मति अनुरूप'—अपनी बुद्धिका अभिमान नहीं है, इसीसे कहते हैं कि 'मति अनुरूप' अर्थात् जैसी कुछ मेरी बुद्धि है उसके अनुसार कहता हूँ, उपदेश नहीं देता। 'मति अनुरूप कहता हूँ'—बड़े लोगोंमें इस प्रकार कथन करनेकी रीति है, यथा—'कहउँ सो मति अनुहारि अब…', 'तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी', 'निज मति सरिस नाथ मैं गावा' इत्यादि। ['मति अनुरूप…' का भाव कि मन्त्रियोंका कथन उनकी मतिके अनुरूप नहीं है। उनकी मतिमें तो और ही है, यथा—'नहिं निसिचर कुल केर उबारा'; पर कहते आपकी मतिके अनुरूप हैं; अतः उनका मन्त्र हितकारक नहीं है।…'कहनि आन बिधि करनि आन बिधि'…सुख पाइय कैसे'—(विनय०); (मा० त० सु०)।]

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना॥ ५॥
सो पर नारि लिलारु गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं*॥ ६॥

अर्थ—हे गोसाईं! जो अपना कल्याण, सुन्दर यश, सुमति, शुभ गति और अनेक प्रकारके सुख चाहे, वह परस्त्रीके ललाटको चौथके चन्द्रमाकी तरह त्याग दे। अर्थात् परस्त्रीका मुख न देखे, उसके देखनेसे कलंक लगता है॥ ५-६॥

टिप्पणी—१ 'जो आपन चाहइ' इति। विभीषणजी औरोंपर ढारकर उनके बहाने रावणको उपदेश दे रहे हैं जिसमें वह क्रोध न करे और न अनुचित ही माने। (पुनः वह बड़ा भाई है और राजा है, अतः सीधे न कहकर अन्यके प्रति उद्देश्य करके कहते हैं, जिसमें वह समझकर अपनेको सुधार ले। यहाँ 'गूढ़ोक्ति अलंकार' है)। रावणमें काम, क्रोध, लोभ परोक्ष कहे। ('नारिलिलार' से काम, 'भूतद्रोह' से क्रोध और 'अल्पलोभ' से लोभ—इस प्रकार तीनों दोष कहे)। पर वह परोक्ष-कथनसे न समझेगा। (क्योंकि अभिमानवश है); अतः दोहेमें अपरोक्ष कहते हैं; यथा—'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।' यहाँ प्रस्तुत प्रसंगमें श्रीसीताजीके देनेकी प्रार्थना करते हैं; इसीसे प्रथम कामके दोष दिखाते हैं कि उससे एक तो सुयशका नाश होता है, यथा—'कामी पुनि कि रहहिं अकलंका' (७। ११२)। दूसरे सुमतिका नाश होता है, यथा—'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी' (१। १३५)। तीसरे शुभगतिका नाश होता है, यथा—'सुभ गति पाव कि परत्रियगामी।' चौथे नाना सुखोंका नाश होता है, यथा—'अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि। ३। ४४।' पाँचवें कल्याण अर्थात् भलाईका नाश होता है, यथा—'तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥' कहनेका

* अर्धाली ५, ६, ७, ८ पायकुलक है। (प्र० चं०)।

तात्पर्य यह कि इन पाँचोंको नष्ट करनेवाली 'परस्त्री' ही है और ये पाँचों सत्संगसे प्राप्त होते हैं—बा० १० (४) 'बिधुबदनी सब भाँति सँवारी...' देखिये। विभीषण संत हैं, इससे पाँचोंका उपदेश करते हैं।

नोट–१ इन अर्धालियोंके जोड़का श्लोक प्रसन्नराघवनाटकमें यह है। '**उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते। चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका ॥ ७ । १७ ।**' अर्थात् भलाई, ऐश्वर्य और उन्नतिके चाहनेवाले निश्चय ही परस्त्रीके ललाट-पटलको चौथके चन्द्रमाकी तरह कभी नहीं देखते। यहाँ 'लिलारु'की जोड़में 'ललाट-पटल' और 'भालपट्टिका' हैं। इस श्लोकमें केवल 'उदर्क भूति' दो ही बातोंके इच्छुकोंकी चर्चा है और मानसमें 'कल्याण, सुयश, सुमति, शुभगति और नाना सुख' पाँचोंका नाश 'परनारिलिलार' के दर्शनसे कहा है।

टिप्पणी—२ '**सो परनारि लिलारु**...' इति। (क) काव्योंमें स्त्रियोंके मुखके लिये चन्द्रमाकी उपमा दी जाती है। इसीसे यहाँ भी चन्द्रमाकी उपमा दी गयी। और '**चौथके चंदकी नाईं**' कहा गया; क्योंकि अन्य तिथियोंके चन्द्रमा त्याज्य नहीं हैं। 'परनारि' कहा, क्योंकि जिस स्त्रीके साथ धर्मशास्त्रानुकूल पाणिग्रहण और विवाह हुआ है, वह त्याज्य नहीं है। 'लिलार' शब्दसे 'मुख'का बोध कराया है, 'मुख' शब्दका प्रयोग नहीं करना भी साभिप्राय है। परस्त्रीका मुख चौथके चन्द्रमाके समान कलंकका देनेवाला है, कलंकी है, अतएव त्याज्य है-यह उपदेश दूसरेको दे रहे हैं। जैसी आपकी कहनी है वैसी ही करनी भी है, दूसरेसे त्याग करनेको कहते हैं और स्वयं उसे इस तरह त्यागे हुए हैं कि अपने मुँहसे 'मुख' शब्दका प्रयोग भी नहीं करते। 'मुख' शब्दतकका त्याग कर दिया है, केवल 'लिलार' से उसका संकेत कर दिया है।— ऐसा अपूर्व त्याग विभीषणजीका है।—[मेरी समझमें केवल 'लिलार' इससे कहा कि चतुर्थीका चन्द्रमा केवल पूर्ण (चन्द्र) का चतुर्थ होता है और ललाट भी मुखमण्डलका चतुर्थ ही समझिये।] (ख) 'काम' कल्याण और सुयश आदि पाँचोंका नाशक है। यह यहाँ 'परनारि-लिलार-दर्शन' द्वारा कहा। आगे क्रोधसे चौदहों भुवनोंके ऐश्वर्यका और लोभसे समस्त गुणोंका नाश होना कहते हैं। (ग) 'गोसाईं' का भाव कि आप राजा हैं, आपको चाहिये कि जो परस्त्रीको ग्रहण करे, उसे दण्ड दें, और आपकोतो परस्त्री कदापि न ग्रहण करनी चाहिये वरन् उसकी ओरसे इन्द्रियजित् होना चाहिये। राजा प्रजाके लिये आदर्श होता है।

नोट—२ '**तजउ चौथके चंद**...' इति। प्रायः लोकव्यवहारमें भाद्र शु० ४ के चन्द्रमाके दर्शनका निषेध देखा जाता है; परंतु—'**पंचाननगते भानौ पक्षयोरुभयोरपि। चतुर्थ्यामुदितश्चन्द्रो नेक्षितव्यः कदाचन। चतुर्थ्यां भाद्रमासस्य चन्द्रचूडस्य भामिनी ॥ दिनद्वयं वर्षमध्ये पतिवक्त्रं न पश्यति। ३। ३९० ग।**' (उद्भट-सागर परिशिष्ट)। अर्थात् सिंहराशिपर सूर्यके होनेपर दोनों पक्षोंकी चतुर्थीमें उदय हुए चन्द्रमाका दर्शन कदापि न करना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि भवानी इसीसे चन्द्रशेखर अपने पतिके मुखका दर्शन भाद्रमासकी चतुर्थियोंको अर्थात् वर्षमें दो दिन नहीं करतीं। क्योंकि पतिके मुखके दर्शनसे ललाटस्थित चन्द्रमाका भी दर्शन हो जायगा।—इस प्रमाणके अनुसार दोनों पक्षोंके चतुर्थीके चन्द्रदर्शनका निषेध जान पड़ता है। इसीसे '**चौथि के चंद**' कहा है, किसी पक्षका नाम न देनेसे दोनों मतोंका पोषण हो जाता है। अथवा, भाद्र शु० ४ प्रसिद्ध है, इससे पक्षका नाम न दिया। वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि उद्भटसागर तृतीय प्रवाह ३९० ग० के उपर्युक्त श्लोकके प्रमाणमें टीकाकारने '**पंचाननगते भानौ पक्षयोरुभयोरपि। चतुर्थ्यामुदितश्चन्द्रो नेक्षितव्यः कदाचन।**' यह स्मार्तवाक्य उद्धृत किया है। ज्योतिषचन्द्रिकामें भी ऐसा ही कहा है-'**सिंहादित्ये भाद्रमासे चतुर्थ्यां चन्द्रदर्शने। मिथ्याभिदूषणं कुर्यात्तस्मात्पश्येन्न तं सदा।**'

भाद्र शु० ४ गणेशचौथ है। उस दिनके चन्द्रदर्शनके निषेधकी कथा ब्रह्मचारी श्रीगंगाधरजीसे यह सुनी थी कि एक बार श्रीगणेशजी अपने वाहन मूसापरसे फिसल पड़े थे, यह देख चन्द्रमा हँस पड़ा था, उसपर उन्होंने शाप दे दिया कि तेरा दर्शन जो करेगा उसे कलंक लगेगा। शाप सुनकर देवताओंमें हाहाकार मच गया, क्योंकि चन्द्रमाके बिना संसारका पोषण असम्भव हो जायगा। देवताओंकी प्रार्थनापर उन्होंने अनुग्रहकर यह कहा कि अच्छा, केवल हमारी चतुर्थीको चन्द्रदर्शनका निषेध रहेगा। तबसे भाद्रशुक्ल ४ को उसका दर्शन लोग नहीं करते।

मा० म० का मत है कि सत्ययुगके भाद्र शु० ४ को बृहस्पतिने चन्द्रमाको तारा (बृहस्पतिपत्नी) के साथ व्यभिचार करनेके कारण शाप दिया था कि आजकी रातको तेरा मुख पतित रहेगा अर्थात् तेरा मुख दर्शन-योग्य न रहेगा, जो कोई देखेगा उसे कलंक लगेगा। वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि भाद्र कृ० ४ को अहल्याके साथ व्यभिचार करनेमें चन्द्रमाने इन्द्रकी सहायता की थी, इससे उस तिथिका चन्द्रमा भी त्याज्य है।

३ साधारण जीवोंकी कौन कहे, भगवान् कृष्णजीको चौथके चन्द्रमाके दर्शनसे स्यमंतकमणिकी चोरीका मिथ्या कलंक लगा था। अतः चौपाईका भाव यह है कि चन्द्रमा कैसा सुन्दर स्वच्छ और नेत्रोंको सुखद होता है, पर परतियगामी होनेके कारण वह सुयश आदिसे ऐसा रहित हो गया कि उस दिन बुद्धिमान् अपने सुयशादिके नाशके भयसे उसकी ओर भी नहीं देखते। वैसे ही परस्त्रीके मुखके देखनेका फल होता है।

४ धोखेसे यदि चन्द्रदर्शन हो जाय तो उसका परिहार यह है कि भगवान् श्रीकृष्णको जो स्यमंतक मणिकी चोरी लगी थी उस कथाका श्रवण कर ले, जो भा० १०।५७ में है। ऐसा आज भी लोग करते हैं। पर इसमें शंका यह की जाती है कि 'स्यमंतकमणिकी कथा तो द्वापरसे प्रचलित है और विभीषणजी रावणसे त्रेतायुगमें त्याज्य बताते हैं, तब लोग क्या सुनाते थे?' भा० १०।५७ में स्यमंतकोपाख्यानकी फलश्रुति इस प्रकार है— **'यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णोर्वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमंगलं च। आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम्॥४२।'** अर्थात् ईश्वर भगवान् विष्णुका यह पराक्रमयुक्त दुःखहरण और अत्यन्त मंगलकारी चरित्र जो पढ़े, सुने या स्मरण करे उसका कलंक तथा कलंकका उत्पन्न करनेवाला पाप भी नष्ट हो जाय और वह शान्तिको प्राप्त हो। यद्यपि इस श्लोकमें भाद्र चतुर्थीके चन्द्रदर्शन दोषका परिहार स्पष्ट नहीं लिखा है तथापि 'दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य' में उसका भी समावेश हो जाता है।

वे० भू० जी शंकाका समाधान इस प्रकार करते हैं कि स्यमंतकोपाख्यान इसी द्वापरका होते हुए भी भगवान्‌की सभी लीलाओंके समान यह भी नित्य है। और भागवतमें तो श्वेत वाराह कल्पके अतिरिक्त पाद्मकल्प और ब्राह्मकल्पकी भी कथाएँ हैं अर्थात् पाद्म और ब्राह्मकल्पमें भी भागवतानुसार श्रीकृष्ण लीलाएँ हुई थीं। अतः 'त्रेतामें स्यमंतकोपाख्यानका प्रचलित होना कौन आश्चर्य है? अथवा इस द्वापरान्तके पूर्व कलंकित चन्द्रदर्शनके दोष परिहारका कोई दूसरा साधन रहा होगा।' मुझे जहाँतक स्मरण है इस चन्द्रदर्शन-दोषका एक परिहार यह भी है कि फिर प्रतिमास शुक्लपक्षके द्वितीयाके चन्द्रका दर्शन करता रहे। पूर्व कहीं यह लिखा जा चुका है।

चौदह भुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्टइ* नहिं सोई॥ ७॥
गुनसागर नागर नर जोऊ। अलप लोभ भल कहै न कोऊ॥ ८॥

दो०——काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत† ॥ ३८॥

अर्थ—जो चौदहों भुवनोंका भी अकेला ही स्वामी हो, वह भी भूत (जीव) द्रोहसे ठहर नहीं सकता। (अर्थात् ऐसा भी राजा भूतद्रोह करनेसे नष्ट हो जाता है)॥ ७॥ जो मनुष्य गुणसागर (सर्वगुणसम्पन्न) और चतुर हो उसको भी चाहे अल्प ही लोभ क्यों न हो तो भी कोई भला नहीं कहता॥८॥ हे नाथ! काम, क्रोध, मद, लोभ ये सब नरकके मार्ग हैं। इन सबोंको छोड़कर रघुवीरको भजो जिन्हें सन्त भजते हैं॥ ३८॥

नोट—१ 'चौदह भुवन एक पति होई।' भूः, भुवः, स्वः, जनः, तपः, सत्य, तल, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल और पाताल-ये ही चौदह भुवन हैं। इन सबोंका एकमात्र स्वामी कहकर 'सर्वसामर्थ्ययुक्त' जनाया 'भूत द्रोह तिष्टइ नहिं' से 'रक्षाशक्तिराहित्य' जनाया। अर्थात् उसका शीघ्र ही पुण्यनाश और आत्मनाश हो जाता है, यथा—**'तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे। सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाए। एक एक केकोटिन्ह पाए॥ तेहि कारन खल अब लगि बाँच्यो। अब तव काल सीस पर नाच्यो।'** (६।९३)। (मा० त० सु०)।

प० प० प्र०—इससे उपदेश मिलता है कि 'तलवारकी और कानूनी सत्तापर जो राज्यशासन किया जाता है (और प्रजाको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न नहीं किया जाता है) वह सत्ता शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।' कविकालीन शासनोंकी नीति किस प्रकारकी थी, यह सूचना भी इस अर्धालीमें गर्भित है।

टिप्पणी—१ **'भूतद्रोह तिष्टइ नहिं सोई।'** भाव कि भूतद्रोही ईश्वरका विरोधी होता है; क्योंकि ईश्वर सर्वभूतमय है, यथा—**'जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्वभूतमय अहई॥ ७।११०।'** भूतद्रोह भारी पाप है, यथा—

* तिष्टइ—ना० प्र०। † दोहा दोहरा मिश्रित (ब्र० चं०)

'सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा । बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा ॥' और पापसे नाश होता है । इस कथनसे जनाया कि रावण विश्वद्रोही है, यथा—**'बिस्वद्रोहरत यह खल कामी ।'** इसीसे उसका नाश हुआ, यथा—**'निज अघ गयउ कुमारग गामी ।'** (६ । १०९) । काम, क्रोध तो समय टल जानेपर शान्त भी हो जाते हैं, पर लोभ कभी शान्त नहीं होता, लोभीको कभी भी तृप्ति नहीं होती । कामनाकी प्राप्ति हो जानेपर भी संतोष नहीं होता ।

२—'गुनसागर' 'अलप' इति । 'गुनसागर' से शान्ति, शौर्य और दया आदि लोकगुणोंसे युक्त और 'नागर' से शास्त्रजन्यप्रवीणता सूचित की । वा नागरसे यशस्वी सूचित किया । भाव यह कि अल्प लोभ भी हो तो बहुत हो जाता है, यथा—**'प्रति लाभ लोभ अधिकाई'** (६ । १०१) । 'अल्प लोभ' गुणके समुद्रसे भी अधिक बड़ा है; क्योंकि गुणसागर होनेपर भी प्रशंसा नहीं होती और लोभ अल्प भी होनेसे ही निन्दा होती है । जैसे श्वेत कुष्ठके एक बिन्दुसे भी मनुष्य निन्दित होता है, वैसे ही अल्प लोभसे ।

नोट—२ भगवान्ने उद्धवजीसे ऐसा ही कहा है, यथा—**'यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः । लोभः स्वल्पोऽपि तान्हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥ भा० ११ । २३ । १६ ।'** अर्थात् जिस प्रकार थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है, उसी प्रकार तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यशको और गुणवानोंके प्रशंसनीय गुणोंको नष्ट कर देता है । यहाँ 'गुनसागर नरनागर' की जोड़में **'यशस्विनां गुणिनां'** है ।

टिप्पणी—३ (क) **'काम क्रोध मद लोभ ...'** इति । पहले केवल काम, क्रोध और लोभको कहा क्योंकि गीतामें केवल इन्हीं तीनको नरकका द्वार कहा है । परंतु पुराणोंमें यमद्वार चार लिखे हैं अतएव इस दोहेमें चारोंको एकत्र करके एक साथ सबको 'नरकके पंथ' कहकर इन चारोंका त्याग करनेको कहते हैं । **'सब परिहरि'** कहकर जनाया कि ये चारों दोष तुममें हैं । यदि रावणमें कामादि न कहते तो सब कथन व्यर्थ हो जाता है । अतएव प्रत्यक्षरूपमें यह न कहकर कि आप कामी, क्रोधी आदि हैं उन्होंने वही बात युक्तिसे सुन्दरताके साथ इस प्रकार कह दी कि कामादि नरकके पंथ हैं, उनका त्याग करो । और रघुबीर श्रीरामजीका भजन अपवर्गका मार्ग है, उसे ग्रहण करो । यथा—**'संतसंग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ ।** ७ । ३३ ।' [काम, क्रोध और लोभ तीनों नरकके पंथ हैं; यथा—**'त्रिविधं नरकस्यैतद् द्वारं नाशनमात्मनः । कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥** गीता १६ । २१ ।' ☞ भेद गीता और मानसमें केवल इतना है कि गीतामें इनको नरकका द्वार कहा है और मानसमें नरकका पंथ । भावार्थ एक ही है । ☞ श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० २३ में भगवान् श्रीकृष्णजीने 'अर्थ' (धन) के कारण जो पंद्रह अनर्थ मनुष्योंको होते हैं उनको इस तरह वर्णन किया है—**'अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये । नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥ १७ ॥ स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः । भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥ १८ ॥'** अर्थात् धनके उपार्जनमें और उपार्जन कर लेनेपर उसकी वृद्धि, रक्षा एवं व्यय करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें मनुष्योंको निरन्तर परिश्रम, भय चिन्ता और भ्रमका सामना करना पड़ता है ॥ १७ ॥ चोरी, हिंसा, मिथ्याभाषण, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा (होड़, ईर्ष्या) और (स्त्री, द्यूत एवं मद्यके) व्यसन—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंको धनके कारणसे होते हैं । ☞ यह कहकर भगवान्ने कहा है कि कल्याणके इच्छुकोंको इनका दूरसे ही त्याग करना चाहिये; यथा—**'एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् । तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ १९ ॥'** और इनके पूर्व प्रारम्भमें यह भी बताया है कि इस लोकमें कदर्यका धन उसके चित्तको संतप्त करनेके लिये होता है और मरनेपर उसके नरकका कारण होता है । उपर्युक्त उद्धरणोंमें काम, क्रोध, मद (लोभको पूर्व ही कह आये हैं) को नरकका कारण और इह लोक और परलोक दोनोंका नाशक कहा है ।—यही सब भाव इस दोहेमें हैं ।] (ख) 'के' बहुवचन देकर जनाया कि इनमेंसे प्रत्येक नरकका मार्ग है । और आपमें सब हैं । ☞ कामादि पहले कल्याण, सुयश, सुमति आदिका नाश करते हैं, फिर अन्तमें नरकको ले जाते हैं । अतः पहले कल्याण आदिका नाश कहकर तब नरकदायक कहा । इस तरह प्रथम इहलोकका नाश कहकर परलोकका भी नाश जनाया ।

नोट—३ रावणमें ये चारों होनेके प्रमाण, यथा—**'देव जच्छ गंधर्व नर किंनर नाग कुमारि । जीति बरीं निज बाहुबल बहुसुंदर बर नारि ।** १ । १८२ ।' (यह कामासक्ति है); **'रावन आवत सुनेउ सकोहा ।** ...**देह देवतन्ह गारि पचारी ॥** १ । १८२ ।', **'आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा ।** १ । १८३ ।' (यह क्रोध है); **'रन मद मत्त फिरइ जग धावा ।** १ । १८२ ।', **'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस ।** ५ । ३९ ।', **'तेहि कहँ पिय पुनि-**

पुनि नर कहहू । मुधा मान ममता मद बहहू ॥ ६ । ३६ ।', 'उमा रावनहि अस अभिमाना । जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना ॥ ६ । ३९ ।', 'अति गर्व गनइ न सगुन असगुन···। ६ । ७७ ।', बैठ जाइ सिंघासन फूली । अति अभिमान त्रास सब भूली ॥ ६ । ३७ ।'—(यह मद, गर्व वा अभिमान पर्यायी शब्दोंके उदाहरण हैं) । दूसरेकी वस्तुको छीननेमें लोभ ही कारण है, सो तो इसके सारे चरित्रमें है—'एक बार कुबेर पर धावा । पुष्पक जान जीति लै आवा ॥ १ । १७९ ।' ☞ काम, क्रोध, मद, लोभ कहकर जनाया कि तुमको मोह है; यथा—'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि । ३ । ४३ ।' 'सब परिहरि' का भाव कि इनमेंसे यदि एक भी रह जाय तो जीवको यथार्थ सुख नहीं होता । (मा० त० सु०) । 'भजहिं जेहि संत, इति । मन्दोदरीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—'तासु भजन कीजिअ तहँ भर्ता ।···मुनिबर जतन करहिं जेहि लागी । भूप राज तजि होहिं बिरागी ॥ सोइ कोसलाधीस रघुराया । ६ । ७ ।' कामादिसे सुयशका नाश है और प्रभुके भजनसे सुयशकी प्राप्ति है, यथा—'जौं पिय मानहु मोर सिखावन । सुजसु होइ तिहुँ पुर अति पावन ॥ ६ । ७ ।'

मा० त० सु०—तीन अर्धालियोंमें तीन उपदेश दिये । 'सो परनारि···', 'भूतद्रोह तिष्टइ नहिं···' और 'अलप-लोभ ··' । प्रथम उपदेशमें कामको; दूसरेमें क्रोधको और तृतीयमें लोभको त्याग करनेको कहा उन तीनोंके फलोंका समुच्चय दिखलाते हुए उनका त्याग और जीवनका महाकल्याणकारक मुख्य उपदेश दोहेमें कहते हैं ।

☞ नरकपंथसे और संतसे मिलान नहीं होता । अर्थात् नरकपंथसे संत नहीं जाते । इसीसे ग्रन्थकारने 'पंथ' और 'संत' का अनुप्रास न मिलाया । यहाँ संत, वहाँ पंथ—दोनोंमें केवल एक मात्राका अनुप्रास है । 'चंद्रहास हर मम परितापं । रघुपति बिरह अनल संजातं ॥' में आधे मात्राका (अनुस्वार मात्रका) अनुप्रास है । 'द्विविद मयंद नील नल अंगद गद बिकटास्य । दधिमुख केहरि निसठ सठ जामवंत बलरासि' में कुछ अनुप्रास नहीं है । वस्तु दिखानेके लिये कवि अशुद्ध शब्दोंका प्रयोग किया करते हैं ।

नोट—४ इस दोहेमें 'पंथ' और 'संत' पद विषम तुकान्तके होनेपर भी मित्रवर्गीय और सममात्रिक होनेसे कवि-कुलसम्मत और अदूषित माना गया है । इसी प्रकार कहीं वर्गमैत्री, कहीं प्रयत्न-(उच्चारण स्थान)-साम्य, कहीं केवल मात्रा-साम्य और कहीं समवर्ण-मात्रिक अनुप्रास न मिलनेसे विषम-तुकान्त प्रयुक्त होते हैं, पर यदि इन्हीं कारणोंसे प्रयुक्त विषम तुकान्त हों तब तो वे सुकवि सम्मत होते हैं, अन्यथा नहीं । सुन्दरकाण्डके विषम तुकान्त; यथा—'परितापं, संजातं', 'बृंद, मंद', 'चिन्ता, बिपरीता', 'बिभूषन, बिभीषन', 'पुंज, कंज', एवं 'भृंग, मतंग' इत्यादि । (मा० त० सु०) ।

टिप्पणी—४ (क) 'भजहिं जेहि संत' । भाव कि संतसे बड़ा कोई नहीं, सो नारद, शुक, सनकादि शिव आदि संत जिनका भजन करते हैं । (ख) 'सब परिहरि' का भाव कि संत सब छोड़कर भजते हैं वैसे ही तुम भी भजो, यथा—'संत कहहिं असि नीति दसानन । चौथेपन जाइहि नृप कानन ॥ तासु भजन कीजिय तहँ भरता ।···', 'रामहिं सौंपि जानकी नाइ कमलपद माथ । सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ भजिय रघुनाथ ॥' (लं० ६) । संत सुत, वित्त और लोक इन तीनों-की ईषणा छोड़कर प्रभुका भजन करते हैं, यथा—'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैष-णायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति । बृह० १ । ५ । १ ।' (१) [पुनः, 'सब परिहरि' अर्थात् काम क्रोध-मद लोभ जो नरकके मार्ग हैं इन सबोंको छोड़कर । (प० प० प्र०) । 'रघुबीर' से पञ्चवीरतायुक्त जनाया । कृपावीर हैं, अपराधोंको क्षमा करेंगे । दानवीर हैं, लंकाका अचल राज्य तुमको देंगे । विद्यावीर हैं, ज्ञानभक्ति शुभगति देंगे । धर्मवीर हैं, धर्मरक्षार्थ लड़ेंगे, धर्मयुद्ध करेंगे । युद्धवीर हैं, अतः तुम्हारी वीरता उनके आगे कुछ काम न देगी । (प० प० प्र०)] । ☞ संत उनको भजते हैं, यह प्रमाण देकर इनके भजनसे उपदेश दिया । इस दोहेतक अपना 'मति अनुरूप हित' कहा । आगे पुलस्त्यजीका संदेश कहते हैं ।

तात राम नहिं नर भूपाला । भुवनेस्वर कालहु कर काला ॥ १ ॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता । ब्यापक अजित अनादि अनंता* ॥ २ ॥

अर्थ—हे तात ! 'राम' नर भूपाल नहीं हैं । वे (समस्त) भुवनों (ब्रह्माण्डों) के स्वामी और कालके भी काल हैं ॥ १ ॥ ब्रह्म हैं, अविद्यारूपी रोगोंसे रहित हैं, अजन्मा और षडैश्वर्ययुक्त हैं, व्यापक, अजित अनादि और अनन्त हैं ॥ २ ॥

* (१) से (५) तक पायकुलक है । (६) का 'भजहु···' द्रुतपा है । (मं० चं०) ।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम विकारोंका त्याग कहकर पीछे (अब) ईश्वरके स्वरूपका ज्ञान कहते हैं, क्योंकि कामादि विकारोंसे रहित होनेपर ही जीव परमेश्वरके जाननेका अधिकारी होता है, यथा—'करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि सबहिं सिखावौं। हौं निज उर अभिमान मोह मद खलमंडली बसावौं॥ वि० १४२।', 'जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।' और आगे भी कहा है—'परिहरि मान मोह मद भजहु कौसलाधीस।' जबतक चित्तमें कामादि रहते हैं तबतक भगवत्तत्त्वका न बोध होता है और न भक्ति होती है। इसीसे भक्त सदा माँगते हैं कि 'कामादि दोषरहितं कुरु मानसं च॥' (ख) रावणको संदेह है। वह प्रभुको नर समझता है, यथा—'तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान॥ ६। २५।' और सब मन्त्री भी यही कह रहे हैं कि 'नर बानर केहि लेखे माहीं।' इसीपर विभीषणजी कहते हैं कि 'तात राम नहिं नर भूपाला॥' अर्थात् ये मन्त्री जो कहते हैं तथा आप भी जो समझ रहे हैं कि ये मनुष्य हैं, राजकुमार हैं, यह विचार ठीक नहीं है। (ग) भुवन=ब्रह्माण्ड। ब्रह्माण्ड अनेक हैं, यथा—'देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया। अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न-भिन्न नर नारी'—(उ० ८१)। ब्रह्माण्डोंको काल खाता है, यथा—'ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ ··· ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥' —(आ० १३)। 'भुवनेस्वर कालहु कर काला' कथनका भाव यह हुआ कि काल ब्रह्माण्डोंको खा सकता है, पर बिना प्रभुकी आज्ञाके वह ऐसा कर नहीं सकता; क्योंकि प्रभु समस्त ब्रह्माण्डोंके मालिक हैं और 'कालके भी काल हैं; अर्थात् जो काल ब्रह्माण्डोंको खा जाता है उस कालको भी प्रभु खा जाते हैं, यथा—'भृकुटिभंग जो कालहि खाई। ६। ६५।'; अर्थात् उसके भी मालिक हैं, शासक हैं, प्रेरक हैं, नियामक हैं, प्रवर्तक हैं। इस प्रकार प्रभुको देशकालातीत सिद्ध करके तब उनको 'ब्रह्म' कहते हैं। क्योंकि ब्रह्ममें देशकाल दोनों ही नहीं हैं। इन दोनोंका नाश हो जानेपर एक वही ब्रह्म (राम) रह जाते हैं। पुनः; भुवनेश्वरका भाव कि जबतक समस्त भुवन रहते हैं तभीतक देश (भुवन) का सम्बन्ध रहता है और वे 'भुवनेश्वर' कहे जाते हैं। जब काल समस्त भुवनोंको खा लेता है तब देशसम्बन्ध छूट जाता है। फिर जबतक काल रहता है तबतक कालका सम्बन्ध रहनेसे वे 'कालहु कर काला' अर्थात् कालके पति कहलाते हैं। जब कालका भी नाश हो जाता है तब यह सम्बन्ध भी नहीं रहता, केवल ब्रह्म रहता है जो देशकालातीत है, दोनोंसे रहित है, परे है। (घ) 'अनामय अज' आदि ब्रह्मके विशेषण हैं। उनके क्रमका भाव—ब्रह्ममें अविद्या नहीं है। अविद्याके वश प्राकृतोंका जन्म होता है। प्रभु निरामय हैं, उनका अवतार या जन्म-कर्म मायाके वश नहीं होता; क्योंकि वे भगवन्त हैं—स्वयं उत्पत्ति और प्रलय करते हैं, विद्या और अविद्या दोनोंके प्रेरक हैं। व्यापक हैं, इसीसे अजित हैं; क्योंकि व्यापकको कौन जीत सकता है। अनादि हैं, इसीसे अनन्त हैं—'आदि अंत कोउ जासु न पावा।' आगे अवतारका हेतु कहते हैं।

म० त० मु०—पहिले 'तात राम नहि नर भूपाला' इत्यादि वचनोंसे व्याप्यात्मक ब्रह्मस्वरूप दिखलाया, फिर तदात्मक शुद्ध ब्रह्मका स्वरूप आठ विशेषणोंद्वारा प्रतिपादित किया।

नोट—१ 'ब्रह्म अनामय अज ···' इति। (क) ब्रह्म आदि शब्दोंकी विस्तृत व्याख्या कई बार लिखी गयी है। कुछ व्याख्या यहाँ भी की जाती है। स्थूल-सूक्ष्म व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण जीवोंको नित्य अपने कल्याण गुणोंसे बढ़ानेसे और अपने स्वरूप-रूप-गुण-वैभवसे सदा बढ़नेसे श्रीरामजीका नाम 'ब्रह्म' है। यथा—'व्यक्ताव्यक्तसमष्ट्यादिपुरुषाश्चैव नित्यशः। गुणैश्च कल्याणतमैर्ब्रह्म बृंहयतीति च॥ रूपैः स्वरूपेण गुणैर्विभवैश्च स्वयं मुहुः। ब्रह्मेति स तु वा 'ब्रह्म' षडर्णः सन्ततिप्रदः॥', इति निरुक्त। सम्पूर्ण जगत्में अपने स्वरूप-रूप-गुणोंसे व्याप्त तथा स्वयं बढ़नेवाले और आश्रितोंको बढ़ानेवाले हैं। पुनः; ब्रह्म= परम अक्षर अर्थात् जिसका कभी नाश न हो ऐसा सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म है, यथा—'अक्षरं ब्रह्म परमं।' (गीता ८। ३)

(ख) अज-जिसका जन्म समझमें नहीं आता, यथा—'यस्या जननं नोपलभ्यते तस्मादुच्यते अजा' (श्रीदेव्यथर्वशीर्षम्)। अथवा भक्त प्रह्लादके लिये खम्भसे प्रकट होनेसे तथा इतर जीवोंके-जैसा प्रकट नहीं होनेसे 'अज' नाम है। यथा—'स्तम्भजातत्वादितरवन्न जातत्वादजः स्मृतः।'

(ग) 'भगवंता' इति। भगवान् भगवन्तौ भगवन्तः। 'सर्वहेयप्रत्यनीक कल्याणगुणवत्तया पूज्यात्पूज्यतमो योऽसौ भगवान्' इति शब्द्यते। निरुक्तः। अर्थात् त्याज्य मायिक दोष गुणोंके विरोधी, जैसे अन्धकारका विरोधी प्रकाश, और दिव्य कल्याणगुणोंसे युक्त तथा सम्पूर्ण पूज्योंसे भी पूज्यतम होनेसे 'भगवान्' नाम है। पुनः 'भगवंत'=सम्यक्-ऐश्वर्य-सम्पन्न, कर्तुमकर्त्तुको समर्थ इत्यादि।

(घ) 'व्यापक' इति । अर्थात् चेतनाचेतन सम्पूर्ण व्याप्य वस्तुओंमें सदा (मौजूद, उपस्थित) रहते हैं ।

(ङ) 'अजित'=किसीसे न जीते जाने योग्य । पुनः, प्राकृतोंद्वारा न जीते जाने योग्य, 'अपराजिता, अजिता अयोध्या नामक पुरीमें निवास होनेसे 'अजित' नाम है । यथा—'प्राकृतैर्नजिता या सा यस्यास्तीत्यजितापुरी । अजितस्तेन विज्ञेयः सप्तार्णो मुक्तिदो मनुः ॥' पुनः, चाक्षुष नामक छठे मन्वन्तरमें भगवान्ने वैराजकी पत्नी सम्भूतिके गर्भसे 'अजित' नामका अंशावतार ग्रहण किया, समुद्रमन्थन कर अमृत निकाला और वही कच्छरूप धारणकर मन्दराचलरूपी मथानीके आधार बने थे । अतः 'अजित' कहलाये ।

(च) 'अनादि' 'अनंता' इति । यथा—'आदि अंत कोउ जासु न पावा ।' कबसे हैं, इसका पता कोई न लगा पाया । 'अनन्त' अर्थात् देशतः कालतः त्रिविध-परिच्छेदशून्य; सब देशोंमें सब कालोंमें सब वस्तुओंमें जिसकी आधि (अवधि) नहीं । यथा—'देशतः कालतो वाऽपि गुणतो वस्तुतोपि वा । अवधिर्यस्य नास्तीति सोऽनन्तः समुदाहृतः ॥' निरुक्त; 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे' (गीता १० । १९); 'अथैतस्यैवान्तो नास्ति यद्ब्रह्म' (यजुर्वेद का० ७। ३, ४); 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ०)।

गो द्विज धेनु देव हितकारी । कृपासिंधु मानुष तनु धारी ॥ ३ ॥
जनरंजन भंजन खलब्राता । बेद धर्म रक्षक सुनु भ्राता ॥ ४ ॥

अर्थ—पृथ्वी, ब्राह्मण, गऊ और देवताओंका हित करनेवाले हैं, दयासागर हैं, (दया करके) मनुष्य-शरीर धारण करते हैं ॥ ३ ॥ हे भाई ! सुनिये, 'राम' (रघुराई) जनको आनन्द देनेवाले, दुष्टोंके समूहके नाशक, और वेद और धर्मके रक्षक हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) वर्तमानका हाल कहते हैं, इसीसे 'मानुष तन धारी' कहा; नहीं तो वे तो नाना प्रकारके शरीर धरकर देवताओं आदिके दुःख दूर करते हैं । (ख) यहाँ गौ (पृथ्वी) को आदिमें कहा, क्योंकि जब पृथ्वीका भार उतरे, निशाचर मरें, तब द्विज और देवताका हित हो । (ग) मनुष्य-तन धारण करनेमें 'कृपासिंधु' विशेषण दिया । क्योंकि अवतार-का मुख्य कारण कृपा ही है । यथा—'सो प्रगट करुनाकंद सोभाबृंद···' 'हिरन्याक्ष भ्रातासहित मधुकैटभ बलवान । जेहिं मारे सोइ अवतरेउ कृपासिंधु भगवान' (६ । ४७) । 'एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानंद परधामा ॥ व्यापक बिस्वरूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी । परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥' बालकाण्ड १३ (३–५) देखिये । (घ) यहाँ दिखाया कि श्रीरामजी प्राकृत नर नहीं हैं, ब्रह्म नररूप हैं । प्रथम कहा था कि 'राम नहिं नर' वे मनुष्य नहीं हैं । जो कहिये कि देखनेमें तो नर हैं उसीपर कहते हैं कि वे ऐसे मनुष्य हैं—'गो द्विज धेनु···'।

२—'जनरंजन भंजनखलब्राता···' इति । (क) विभीषणजीने प्रकट नहीं कहा, केवल अभिप्रायसे जना दिया कि भगवान् 'गोद्विज···धर्म'के रक्षक हैं और तुम इन सबके विरोधी हो । दोनोंका मिलान—

श्रीरामजी	रावण
गो-द्विज-धेनु-देव-हितकारी	जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं । नगर गाउँपुर आगि लगावहिं ॥
जनरंजन	मानहिं मातु पिता नहिं देवा । साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥
भंजन खलब्राता	बाढ़े खल बहु चोर जुआरा । जे लंपट परधन परदारा ॥
वेद-रक्षक	बहु बिधि त्रासइ देस निकासै जो कह बेद पुराना ॥
धर्मरक्षक	जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला । सो सब करहिं बेद प्रतिकूला ॥

तात्पर्य कि 'नरतन' तुम्हारे मारनेके निमित्त हुआ है, तुम्हारी मृत्यु मनुष्यके हाथ है, इसीसे साक्षात् ब्रह्म नररूप हुए, तुम उनसे वैर न करो । (ख) गो, द्विज, धेनु आदि उनके 'जन' हैं । इसीसे उनके विरोधियोंको मारकर उनको आनन्द देते हैं । नरतनधारी होना प्रथम कहकर फिर 'जनरंजन भंजन खलब्राता' यह उसका व्यवहार कहा । गीतामें भी भगवान्ने अवतारका यह कारण कहा है । यथा—'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥' (ग) प्रथम जनरंजन कहा, क्योंकि इन्हींकी रक्षाके लिये खलोंका वध करते हैं । खलवध होनेसे वेदधर्मकी रक्षा होती है, इसीसे 'भंजन खलब्राता' कहकर तब 'वेदधर्मरक्षक' कहा ।

ताहि बैर* तजि नाइय माथा । प्रनतारति† भंजन रघुनाथा ॥ ५ ॥

* बयरु—ना० प्र० । † प्रनतारत—भा० दा० ।

देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही । भजहु राम बिनु हेतु सनेही ॥ ६ ॥

अर्थ—वैर छोड़कर उनको मस्तक नवाइये । श्रीरघुनाथजी शरणागतके दुःखके नष्ट करनेवाले हैं ॥ ५ ॥ हे नाथ ! प्रभुको वैदेही दे दीजिये और बिना कारण ही स्नेह करनेवाले रघुनाथजीको भजिये ॥ ६ ॥

मा० त० सु०—'ताहि बैर तजि' का भाव कि 'गो, द्विज, धेनु' आदिसे जो तुमने वैर किया वही उनके साथ हुआ, यथा—'मानत सुख सेवक सेवकाई । सेवक बैर बैर अधिकाई ॥'

टिप्पणी—१ (क) 'प्रनतारति भंजन रघुनाथा' ऐसा सम्बोधन करके अर्थात् आर्त्त वाणी कहकर प्रणाम करो। ☛ श्रीविभीषणजी जैसा रावणसे कह रहे हैं वैसा ही प्रभुकी शरण जानेपर उन्होंने स्वयं प्रणाम करते समय कहा है' यथा—'त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर ॥ ४५ ॥ अस कहि करत दंडवत देखा ।' 'त्राहि त्राहि' कहना यही आर्त्त-गिरा है, यथा—'प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि । आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि ॥ लं० २० ।' पुनः भाव कि श्रीसीताजी आर्त हैं, वे 'दीनदयाल बिरुद संभारी । हरहु नाथ मम संकट भारी ॥', इस प्रकार श्रीरामजीकी शरण गयी हैं। उनकी आर्तिको भंजन करनेके लिये तथा रघुवंशीय अबलाको सनाथ करनेके लिये वे तुमको मारेंगे, यह 'प्रनतारतिभंजन रघुनाथा' से सूचित किया। (ख) 'नाइय माथा' इति । विभीषणजीने रावणके कल्याणहेतु मुख्य उपाय बताया कि इस दरबारमें केवल मस्तक नवानेका काम है, कुछ भेंट-पूजा भी न चाहिये, यथा—'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै ।' ततकाल तुलसीदास जीवन जन्मको फल पाइहै ॥'—(विनय), 'सकृत प्रनाम किहें अपनाए । २ । २९९ ।' (ग) यहाँ 'रघुनाथ' पद देकर समस्त ऐश्वर्यकी घटना माधुर्यमें की, यथा—'एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ । तेहि तस देखेउ कोसलराऊ ॥ १ । २४२ ।', अर्थात् इस शब्दको देकर जनाया कि जो ऐश्वर्य ऊपर 'भुवनेश्वर कालहु कर काला' से 'बेदधर्म रक्षक 'सुरत्राता' तक वर्णन किया गया वह इन्हीं 'राम' का है जो दशरथात्मज रूपसे रघुकुलमें अवतरित हुए हैं, वे 'राम' कोई और नहीं हैं ।

२ 'देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही ।''' इति । (क) याचना करनेके योगसे 'नाथ' सम्बोधन किया । [पुनः, भाव कि आप मेरे तथा समस्त राक्षसोंके नाथ हैं । आपके विनाशसे हम सब अनाथ हो जायँगे । (प० प० प्र०)] 'प्रभु' का भाव कि वे समर्थ हैं, न दोगे तो भी वे अपने सामर्थ्यसे ले लेंगे । तब क्या बात रह जायगी ? (ख)—'राम बिनु हेतु सनेही' अर्थात् और सब स्वामी कारण पाकर ही स्नेह करते हैं और ये बिना कारण ही सबपर स्नेह करते हैं, यथा—'हेतुरहित जग जुग उपकारी । तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥ ७ । ४७ ।', 'बिनु हेतु हित तें नहिं लखा' (वि० १३५), 'बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार माया तारनं ।' (वि० १३६), 'मातु पिता स्वारथरत ओऊ । ७ । ४७ ।', 'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारनरहित दयाल ॥ १ । २११ ।' वे तो बिना कारण ही स्नेह करते हैं और तुममें जब स्नेहके कई कारण हो जायँगे—जैसे कि प्रणाम करना, वैदेहीको दे देना, भजन करना—तब तो बात ही क्या ? वे स्नेह क्यों न करेंगे ? (ग) 'वैदेही' का भाव कि जैसे विदेहराजने अर्पण किया वैसे ही तुम भी अर्पण करो—२२ (१०) 'मोरे कहे जानकी दीजे' में 'जानकी' के जो भाव कहे गये हैं वे ही 'वैदेही' के हैं । अतः दोहा २२ की अर्धाली १० देखिये । ऐसा ही शुक, मन्दोदरी, अंगदजी और माल्यवान्ने कहा है; यथा क्रमसे—'जनकसुता रघुनाथहि दीजै । एतना कहा मोर प्रभु कीजै'—(५७), 'रामहिं सौंपि जानकी नाइ कमलपद माथ । सुत कहुँ राजु समर्पि बन जाइ भजिय रघुनाथ' (लं०६), 'सादर जनकसुता करि आगे । एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे ॥' (लं० २०) और 'परिहरि बैरु देहु बैदेही । भजहु कृपानिधि परम सनेही'—(लं० ४८) । सर्वत्र यही भाव है । [पूर्व जो कहा था कि 'ताहि बैरु तजि नाइय माथा । उसीका यहाँ स्पष्टीकरण है—'देहु''' बैदेही' । वैदेहीका दिया जाना ही वैरका त्याग है । (मा० त० सु०) । अथवा, भाव कि सीता वैदेही हैं, उनको देहका ममत्व नहीं; अतः वे कभी भी तुम्हारे वशमें नहीं हो सकतीं । इस प्रकार न तो सीता तुमको प्राप्त होंगी, न ऐश्वर्य ही रह जायगा और न तुम जीवित ही बचोगे । (प० प० प्र०)]

सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा । बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा ॥ ७ ॥
जासु नाम त्रयताप नसावन । सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन* ॥ ८ ॥

* 'सरन''' तामरस, 'बिस्व''' पाय कुलक, (८) में ११५९ वाँ, १२२० वाँ भेद । (मा० चं०) ।

अर्थ—शरण जानेपर प्रभुने उसका भी त्याग न किया जिसे संसारभरसे द्रोह करनेका पाप लगा हो ॥ ७ ॥ जिनका नाम तीनों तापोंका नाशक है वही प्रभु प्रकट हुए हैं—हे रावण ! इसे हृदयसे समझो ॥ ८ ॥

लमगोड़ाजी—वर्तमान जनसत्तात्मक राजनीतिकी यह अभी गुत्थी ही है कि मन्त्रीमण्डल राजसभा (पारलियामेन्ट) के हाथमें या प्रजाके हाथमें खिलौना हो, या कम-से-कम अमेरिकाकी तरह निश्चित समयके लिये कुछ स्वतन्त्र । भाई, यदि राजाका भय चला गया तो प्रजाका भय तो बना ही है । मेरे मित्र पं० शंकरलालजी मजाकमें बड़ी गूढ़ बात कहा करते हैं कि 'भैया, राजाका भय नहीं है, पर मैकू भाईके मारे जब हमारे प्रधानमन्त्री स्वतन्त्र हों तब तो ठीक बात हो सके; नहीं तो कल निकाल दिये जायँ; कारण कि वोट तो मैकू भाईके ही अधिक हैं। श्रीरामराज्यमें-१ राजा, २ साधु, ३ लोकमत, ४ मन्त्री, ५ पण्डित, साधारणतया स्वतन्त्र हैं और Bryce के कथनके अनुसार whole nature सब जनताका मत तब ही हो सकता है जब ये पाँचों एकमत हों, विशेषकर important matters खास बातोंमें । देखिये, दोनों लड़ाइयोंके समय इंगलैंड में भी Party Government चल न सकी । वोटकी गणना तो साधारण समयके लिये और सामान्य विषयोंके लिये ही हो सकती है । 'साधारणतया' का शब्द विचारमें रहना चाहिये, असाधारण संकटके समय तो स्वयं ऋषिगण ही राजा वेनकी मृत्युके कारण बने; जैसा कि श्रीसम्पूर्णानन्दजीने अपने फतेहपुरके स्पीच में कहा था ।

टिप्पणी—१ (क) कदाचित् रावणको यह संदेह हो कि हमने तो उनका बड़ा अपराध किया है, शरण जानेपर भी हमको शरणमें न लेंगे, उसीपर कहते हैं कि 'सरन गएँ···' । (ख) बिस्वद्रोह कृत···' का भाव कि तुम विश्वद्रोही हो, यथा—'बिस्वद्रोहरत यह खल कामी । ६ । १०९ ।' (ग) 'प्रभु'का भाव कि शरणागतके विश्वद्रोहकृत पापको भी नाश करनेमें समर्थ हैं । शरण जाते ही ऐसा पाप भी नष्ट हो जाता है, यह शरणागतिका माहात्म्य है; यथा—'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥ ४४ । २ ।' पुनः यथा—'जौं नर होइ चराचर द्रोही । आवै सभय सरन तकि मोही ॥ तजि मद मोह कपट छल नाना । करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥ ४८ । २-३ ।' आशय यह कि शरणागतको रखनेकी सामर्थ्य है, उसके त्यागकी सामर्थ्य नहीं है ।

२ 'जासु नाम त्रयताप नसावन···' इति । (क) यह कहकर अलभ्य लाभ दिखाते हैं कि लोग जिसका नाम जपते हैं पर रूपके दर्शन नहीं पाते, वही प्रभु प्रकट हुए हैं । तुमको उस रूपकी प्राप्ति सुलभ हुई है । यथा—'जाकर नाम मरत मुख आवा । अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥ सो मम लोचन गोचर आगे' (गृध्रराज ३ । ३१) 'जासु नामबल संकर कासी । देत सबहि सम गति अबिनासी ॥ मम लोचन गोचर सोइ आवा ।'—(बालि० ४ । १०) तथा यहाँ 'सोइ प्रभु प्रकट समुझु जिय रावन' । तात्पर्य यह कि बिना समझे ऐसे लाभकी हानि हो जाती है; ऐसा अवसर पाकर चूकें तो 'बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा । ४ । १० ।' (ख) 'समुझु जिय रावन'—यह कथन पुलस्त्यजीका है; विभीषणजी अपनी ओरसे ऐसा न कहते । ये तो 'तात, नाथ, भ्राता' इत्यादि सम्बोधन देते आ रहे हैं । (ग) गोस्वामीजी दोहावलीमें लिखते हैं कि 'पय अन्हाइ फल खाइ जपु रामनाम षट मास । सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास ॥' छः महीने नियमसे नामका जप करनेसे त्रिताप नाश होते हैं । [पुनः, 'त्रयतापनसावन', यथा—'राम राम राम जाय जौं लौं तू न जपिहै । तौ लौं तू जहाँ जैहै तहाँ तिहूँ ताप तपिहै'—(विनय ६८) । ['सोइ' अर्थात् जिनके नामका ऐसा प्रभाव और प्रताप है वही प्रभु ये हैं । दुष्टोंको मारकर उनके त्रितापको नाश करनेके लिये प्रकट हुए हैं—यह 'समझ ले' । 'रावन' का भाव कि जिन लोगोंको तू रुलाता है उन सबोंके सदृश इनको न समझ । (मा० त० सु०)] ।

दो०—बार बार पद लागउँ बिनय करउँ दससीस ।
परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस ॥
मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन कहि पठई यह बात ।
तुरत सो मैं प्रभु सन कही पाइ सुअवसरु तात* ॥ ३९ ॥

अर्थ—हे दशशीश ! मैं बारम्बार चरणोंमें लगकर विनती करता हूँ कि मान, मोह और मदको छोड़कर कोसलेश

* 'बार बार···'दोहरा, 'मुनि···' कच्छ दोहा है । (ब्र० चं०) । यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है । (वीर) ।

रामचन्द्रजीका भजन करो। पुलस्त्य मुनिने अपने शिष्यसे यह बात कहला भेजी थी। हे तात! सुन्दर अवसर पाकर मैंने तुरंत ही वह बात आपसे कही॥ ३९॥

टिप्पणी—१ शंका—विभीषणजी पुलस्त्यजीका संदेश कह रहे हैं, तो बार-बार पद क्यों लगते हैं? क्या पुलस्त्यजीने ऐसा करनेको कहला भेजा था? समाधान—विभीषणजी बात तो पुलस्त्यजीकी कही हुई कह रहे हैं, पर चरणस्पर्श अपनी ओरसे करते हैं, विनय करते हैं एवं हाथ जोड़ते हैं। क्योंकि नम्रतासे उपदेश करना यह बड़ोंकी रीति है; यथा—'**बिनती करउँ जोरि कर रावन**', '**औरौ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि**'—(श्रीराम। ७। ४५।—[पुनः 'बारबार पद लागउँ' यह पद अतिस्नेहसे और भ्रातृभावसे कहा गया। (मा० त० सु०)] नम्रतापूर्वक उपदेशसे सफलताकी आशा रहती है।

२—'**परिहरि मान मोह मद भजहु**' ये तीनों भजनके बाधक हैं, इसीसे बुद्धिमान् लोग इनका त्याग करते हैं। प्रथम काम, क्रोध, मद और लोभको त्याग करनेको कह चुके हैं, अब मान, मद, मोहको छोड़नेको कहते हैं—ये दोनों मिलकर षट्विकार हैं। इस प्रकार षट्विकारका त्याग सूचित किया।—[मान सर्वलोक-विजयित्व आदिका, मोह श्रीराघवजीमें नरबुद्धि आदिका और मद कुम्भकर्ण-मेघनादादि प्रबल अजेय कुटुम्ब तथा अपने भुजबलका; यथा—'**कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि। मोर पराक्रम नहिं सुनेहि जितेउँ चराचर झारि**॥ ६। २७।' '**परिहरि मान मोह मद**' कहकर जनाया कि मानादि त्याज्य हैं। '**भजहु कोसलाधीस**' यह कर्तव्य कार्य बताया। (मा० त० सु०)। रावणने कुम्भकर्णसे अपनेमें मोह, मद, मानका होना स्वीकार किया है; यथा—'**विभ्रमाच्चित्तमोहाद्वा बलवीर्याश्रयेण वा। नाभिपन्नमिदानीं यद्व्यर्थास्तस्य पुनः कथाः**॥ वाल्मी० ६। ६३। २४।' अर्थात् मैंने चित्तविभ्रमसे, मोहवश अथवा अपने बलवीर्यके अहंकारसे जो कार्य नहीं किया (अपने भाई और स्त्रीकी सलाह नहीं मानी) उसको अब बारंबार कहना व्यर्थ है। अथवा, किसीके सामने नम्र न होनेवाला स्वभाव ही 'मान' है। वाल्मी० ६। ३६। ११ पूर्व आ चुका है)।]

३—'कोसलाधीश' का भाव कि इनके भजनसे इहलोक और परलोक दोनोंमें कुशल है। ☞ विभीषणजीका सिद्धान्त है—'भजन करना'; इसीसे वे बारंबार 'भजन' करनेको कहते हैं—'**सब परिहरि रघुबीरहि भजहु**'—(१) '**भजहु राम बिनु हेतु सनेही**'—(२), '**भजहु कोसलाधीस**'—(३)।

नोट—'**मुनि पुलस्ति**' इति। मुनिसे जनाया कि मनन निदिध्यासन करके उन्होंने जो संदेश भेजा है, उसका स्वयं साक्षात्कार कर लिया है, तब संदेश भेजा है। वे त्रिकालज्ञ हैं। 'पुलस्ति' का भाव कि उनका सुन्दर निर्मल यश जगत्में प्रसिद्ध है, चन्द्रवत् सबको आनन्द देता है, उनकी बात माननेसे आपका भी कल्याण होगा। '**कहि पठई यह बात**' का भाव कि तुमको अपने वंशमें उत्पन्न जानकर यह परमश्रेयस्कर मार्ग कहला भेजा है कि हमारे कुलमें भगवद्भक्ति ही प्रधान है, तुम भी उसीका अनुसरण करो, कलंकरूप न हो। (मा० त० सु०)।

टिप्पणी—४ (क) '**पाइ सुअवसरु**' इति। अवसर जानकर विभीषणजी आये थे और सुअवसर जानकर बात कही। भाव यह कि आनेका अवसर तो अपने अधीन था, इससे अवसर जानकर आये और 'सुअवसर' पराधीन है। जब रावण पूछे, तब बात कहनेका अवसर मिले; इसीसे 'सुअवसर' कहा। (ख)—'तुरत' से जनाया कि पुलस्त्यजीका शिष्य अभी कह गया है, वैसे ही मैं आपके पास आया और शीघ्र ही संदेश सुना दिया। शीघ्र सुनानेमें तात्पर्य यह कि न जाने बात कुछ जरूरी हो और उसके न कहनेसे, या उसमें विलंब करनेसे कदाचित् कोई हानि हो जाय (तो पीछे न कहनेवालेको बड़ा पश्चात्ताप हो)। संदेशमें विलंब न करना चाहिये, यथा—'**तुरत नाइ लछिमन पद माथा। चले दूत बरनत गुन गाथा**' (५। ५३। शुक-सारन लक्ष्मणजीका संदेश लेकर 'तुरत' अपने स्वामी रावणके पास गये और संदेश सुनाया)। अथवा कल्याणकारी संदेश शीघ्र ही कह देना चाहिये। कुछ बिगड़ गया, तब पीछे कहनेसे क्या होगा? वा, मन्त्री भय और आशावश प्रिय बोलते हैं, जिससे बेगि ही नाश होनेवाला है; यह समझकर नाश बचानेके लिये तुरत ही कहा। वा, '**राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास**', अतः इनका नाश न हो इस विचारसे तुरत कहा। (ग)—पुलस्त्यजीने स्वयं आकर न कहा, क्योंकि रावण हठी है, अपना नाती (पौत्र) है, कहा न मानेगा तो अपना अपमान होगा। इसीसे शिष्यसे संदेश विभीषणजीके पास भेजा। अपमानकी शंकासे ही शिष्यको रावणके पास न भेजा।

५ इस प्रसंगमें प्रभुके नाम, रूप, लीला और धाम चारों गहे गये। यथा—'**तात राम नहिं नर भूपाला**' से '**कृपासिंधु मानुषतनुधारी**' तक रूप कहा—(१)। '**जनरंजन भंजन खलब्राता। बेद धर्म रक्षक सुरत्राता॥**' यह लीला है—(२)।

'जासु नाम त्रयताप नसावन' यह नाम है-(३)। और 'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस' यह धाम है। 'कोसलाधीस' से जनाया कि कोशलपुरी अयोध्या उनका धाम है। विभीषणजीने चारों समझाये, पूर्ण उपदेश किया, 'तात' से प्रारम्भ करके 'तात' पर समाप्ति की—सन्देशकी शिक्षा दिखायी।

माल्यवंत अति सचिव सयाना। तासु बचन सुनि अति सुख माना॥ १॥
तात अनुज तव नीति बिभूषन। सो उर धरहु जो कहत बिभीषन*॥ २॥

अर्थ—माल्यवंत अत्यन्त चतुर एवं बुड्ढा मन्त्री है। उसने विभीषणजीके वचन सुनकर अत्यन्त सुख माना॥ १॥ (और रावणसे बोला—) हे तात! तुम्हारा छोटा भाई नीति-विभूषण है, जो विभीषण कहते हैं, उसे हृदयमें धारण करो॥२॥

टिप्पणी—१ 'अति सयाना'=अति वृद्ध; यथा—'माल्यवंत अति जरठ निसाचर। ६। ४७।' यह रावणकी माताका पिता है। रावणको इकहत्तर चतुर्युगसे अधिक काल राज्य करते हो गया। उसके न जाने कितने पूर्वका माल्यवान् है इसीसे उसका अत्यन्त वयोवृद्ध होना स्पष्ट है। वृद्धका भाव कि बहुत दिनोंका है वह बहुत बातें जानता है। अथवा, 'सयाना'=नीतिमें निपुण, नीतिका ज्ञाता; यथा—'बोला बचन नीति अति पावन।६।४७।'—(वाल्मीकिजीने इसे 'महाप्राज्ञ' और अध्यात्ममें 'बुद्धिमान्नीतिनिपुणो' और वृद्ध कहा है।—'ततः समागमद् वृद्धो माल्यवान् राक्षसो महान्। बुद्धिमान्नीतिनिपुणो राज्ञो मातुः प्रियः पिता॥ ६। ५। २५।'—ये सब भाव 'अति सचिव सयाना' के हैं। पंडित और शास्त्रतत्त्वज्ञ भी कहा गया है।) (ख) 'अति सुख माना'; क्योंकि अति सयाना है। वा, मंत्रियोंके वचन सुनकर इसे अत्यन्त दुःख हुआ था, अब इनके वचन सुनकर अत्यन्त सुख हुआ। रावणके भयसे किसी और मंत्रीने यह नहीं कहा कि विभीषणने अच्छी राय दी है। (ग) पूर्व जब रावणने हनुमान्‌जीके वधकी आज्ञा दी थी और विभीषणजीने आकर प्रार्थना की थी कि 'आन दंड कछु करिय गोसाँई' तब 'सब ही कहा मंत्र भल भाई', पर यहाँ ऐसा न कहा। कारण कि वह मन्त्र रावणके अनुकूल था, उसमें दण्ड देनेका निषेध नहीं था; केवल 'अन्य दंड' का मन्त्र था। और, यहाँ विभीषणजी सीताजीको दे देनेकी राय देते हैं जो उसके मनके प्रतिकूल है, इसीसे इसमें किसीने 'हाँ' न की। विभीषण राजाका भाई है, इसीसे सब चुप रहे, किसीने कुछ बुरा या भला न कहा।

२ 'तात अनुज तव नीति बिभूषन···' इति। (क) माल्यवान्‌ने विभीषणजीके वचनोंका अनुमोदन किया जिससे उनकी रायकी पुष्टि हुई। यदि सभी चुप रहते, कोई प्रशंसा या समर्थन न करता तो धर्मकी हानि थी। नीति है कि कोई उत्तम बात सुने तो अवश्य प्रशंसा करे, नहीं तो सुननेवाला दोषका भागी होता है। यह नीतिमें अति चतुर है, अतः इसने प्रशंसा की। (ख) 'नीति-बिभूषन' अर्थात् इनके द्वारा नीति शोभा पा रही है; पुनः भाव कि विभीषण नीतिसे विशेष भूषित हैं। (ग) नीतिकी प्रशंसा करनेका भाव यह है कि विभीषणजीने केवल नीति कही है। बड़ेसे वैर करना नीतिविरुद्ध है, इसीसे रामजीकी बड़ाई दिखा दिखाकर वैर छोड़नेको कहा है। (घ) 'तव अनुज' का भाव कि तुम्हारा छोटा भाई है और नीति कहता है, इसका मान रखो, यही बात आगे विभीषणजी स्वयं कहेंगे, यथा—'तात चरन गहि माँगउँ राखहु मोर दुलार।' ['अनुज' का भाव कि तुम्हारे पीछे-पीछे गमन करनेवाला है, अतः तुम्हारा विशेष कल्याणकारक है और तुम्हारे कल्याणसे अपना कल्याण मानता है। (मा० त० सु०)। विभीषणजीने मानमदादिको छोड़कर भगवत्-शरणागतिका उपदेश दिया, इसीसे 'नीतिबिभूषन' कहा, यथा—'नीतिनिपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना॥···जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥ ७। १२६।'; और माल्यवंतने इनका अनुमोदन किया है, इसीसे उसको 'अति सयाना' कहा गया। वाल्मी० ६। ३५ में माल्यवान्‌ने भी यही नीति कही है कि "शत्रु कैसा भी हो उसे तुच्छ न मानना चाहिये। प्रबल शत्रुसे सन्धि कर लेना चाहिये। चढ़ाई 'सीता' के लिये ही है। उनको दे देने मात्रसे सबका कल्याण है।" वही बात विभीषणने कही है। इसीसे उनको 'नीतिविभूषण' कहा।] (ङ) 'सो उर धरहु···' अर्थात् जो अन्य मन्त्रियोंने कहा है उसे हृदयमें न धरो—'नीतिबिरोध न करिय प्रभु मंत्रिन्ह मति अतिथोरि। लं० ९।'; इनके वचन ग्रहण करो।

रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ॥ ३॥
माल्यवंत गृह गएउ बहोरी। कहइ बिभीषन पुनि कर जोरी॥ ४॥

अर्थ—(रावण बिगड़ उठा और बोला—) दोनों शठ शत्रुकी बड़ाई कहते हैं। इन्हें दूर (क्यों) नहीं करते?

* (१) पायकुलक, 'तात···' पंक अवली, 'सो—' १२१९ वाँ भेद। (ब्र० चं०)।

(अरे) यहाँ कोई है ? ॥ ३ ॥ तब माल्यवंत (तो) अपने घर चला गया, विभीषण पुनः हाथ जोड़कर फिर कहने लगे ॥ ४ ॥

नोट—१ माल्यवान्‌का इस सभामें होना और विभीषणजीके वचनोंका समर्थन करना वाल्मीकीय, अध्यात्म, हनुमन्नाटक आदि कई ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता। उसका रावणको समझाना युद्ध छिड़ जानेपर अथवा श्रीरामजीके लंकामें पहुँच जानेपर ही मिलता है। विभीषणजी इसके पूर्व ही श्रीरामजीकी शरणमें जा चुके थे।

२ 'रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ' इति। भाव यह है कि मैंने शत्रुओंको जीतकर जो अतुलित यश प्राप्त किया है जिससे त्रैलोक्य मेरा सम्मान कर रहा है, वह मेरा सौभाग्य इन दोनोंको अच्छा नहीं लगता। मुखिया, कार्यसाधक, विद्वान् और महात्माका कुटुम्बवाले सदा अपमान ही किया करते हैं और उनमें जो शूरवीर होता है, उसका वे तिरस्कार करना चाहते हैं—इसीसे ये शत्रुका उत्कर्ष कहते हैं। यथा—'ततो नेष्टमिदं सौम्य यदहं लोकसत्कृतः। ऐश्वर्यमभिजातश्च रिपूणां मूर्ध्निच स्थितः। वाल्मी० ६। १६। १०।', 'प्रधानं साधकं वैद्यं धर्मशीलं च राक्षस। ज्ञातयो ऽप्यवमन्यन्ते शूरं परिभवन्ति च॥ ६।१६।४।'—यह रावणने विभीषणजीसे कहा है। पुनः, वाल्मी० ६। ३६ में जो रावणने माल्यवान्‌से कहा है कि "शत्रुका पक्ष लेकर तुमने कठोर वचन कहे। पंडित और शास्त्रतत्त्वज्ञ मन्त्री प्रभावशाली राजाको उत्साहित करनेके सिवा ऐसी बातें नहीं कहते। मैं राक्षसराज देवताओंका भयदाता हूँ, पराक्रमी हूँ; तुम मुझे कैसे हीन समझते हो ? रामको तुम सामर्थ्यवान् कैसे समझते हो ? पिताने उसे निकाल दिया है, वह वनवासी है और वानरोंके अधीन है ? मुझे तुमपर सन्देह हो रहा है। क्या तुम्हें मेरी वीरतासे द्वेष है, अथवा शत्रुके पक्षपाती हो ?—'वीरद्वेषेण वा शंके पक्षपातेन वा रिपोः। वाल्मी० ६। ३६। ६। तथा 'रामेण प्रेषितो नूनं भाषसे त्वमनर्गलम्॥ ६।५।३९।' जो अध्यात्ममें कहा वह सब भाव यहाँ 'रिपु…' में आ गये।

टिप्पणी—१ (क) 'रिपु उतकर्ष कहत सठ…' इति। अर्थात् ये दोनों शत्रुसे मिले हुए हैं, इसीसे उसका उत्कर्ष कहते हैं; अतः शठ हैं। शत्रुसे मिले हैं, सभामें बैठने योग्य नहीं हैं, अतएव यहाँसे निकाल दो। (ख) इस प्रकार विभीषणजीके सब वचनोंको उसने 'उत्कर्ष' कहकर जनाया कि यह सब झूठ है, सत्य नहीं है; यथा—'जिन्ह कै कीन्हेसि बहुत बड़ाई। देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई॥ ५। २५।'

२ (क) 'इहाँ हइ कोऊ' का भाव कि जान पड़ता है कि यहाँ कोई है ही नहीं, जो ऐसी बातें सुन रहे हैं और बोलते नहीं; देखो तो जब हमारी प्रशंसा मन्त्रियोंने की तब यह बुड्ढा न बोला और जब शत्रुकी बड़ाई सुनी तब प्रसन्न हो गया; अतएव ये दोनों 'शठ' हैं। (ख) शत्रुकी बड़ाई न सुननी चाहिये, उसका सुनना नीतिविरुद्ध है, अतः क्रोध किया, यथा—'आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥ ६। २९।' (यह रावणने अंगदजीसे कहा है) [यथा—'रिपूणां प्रतिकूलानां युद्धार्थमभिवर्ततास्। उभाभ्यां सदृशं नाम वक्तुमप्रस्तवे स्तवम्॥ वाल्मी० ६। २९। ८।' शत्रुदलकी प्रशंसा करनेपर रावणने शुकसारणसे यह कहा है कि युद्धके लिये प्रस्तुत एवं अपने विरोधी शत्रुओंकी इस प्रकार अनवसर प्रशंसा करना क्या तुम दोनोंको उचित था ?]

नोट—२ 'दूर न करहु' का भाव कि जैसे इसके वचन सुनकर माल्यवान् इसका पक्षपाती हो गया वैसे ही और भी कोई न हो जावें। 'इहाँ हइ कोऊ' अर्थात् क्या सभी इसके मतके अनुयायी तो नहीं हो गये जो कोई बोलता भी नहीं ? क्या सभी इसके पक्षके हो गये ? (मा० त० सु०)

इसमें भाव यह है कि कोई शत्रु या विषैले सर्पके साथ भले ही रह ले किंतु शत्रुके पक्षपाती मित्ररूपी शत्रुके साथ कभी न रहे।…"स्वार्थपरायण एवं भयंकर अपने जातिवालोंसे डरना चाहिये। सब भयोंसे बढ़कर भाई-बिरादरीवालोंका भय कष्टदायक है, क्योंकि ये ही शत्रुको पराजयका उपाय बताते हैं। यथा—'वसेत्सह सपत्नेन क्रुद्धेनाशीविषेण वा। नतु मित्रप्रवादेन संवसेच्छत्रुसेविना॥ २॥ नाग्निर्नान्यानि शस्त्राणि न नः पाशा भयावहाः। घोराः स्वार्थप्रयुक्तास्तु ज्ञातयो नो भयावहाः॥ उपायमेते वक्ष्यन्ति ग्रहणे नात्र संशयः। कृत्स्नाद्भयाज्ज्ञातिभयं सुकष्टं विदितं च नः॥ वाल्मी० ६। १६। ७, ८।'—(यह रावणने विभीषणजीसे कहा है। इसमें हाथीकी कही हुई नीति भी कही है। यह सब भाव 'दूर न करहु इहाँ हइ कोऊ' कहकर जना दिये गये हैं)। पुनः भाव कि विभीषण भाई हैं और माल्यवान् वृद्ध हैं एवं नाना हैं; इसलिये इनके वधकी आज्ञा नहीं दी, केवल नेत्रोंके सामनेसे हटानेको कहा। यथा—'हन्यामहं त्विमौ पापौ शत्रुपक्षप्रशंसकौ॥ वाल्मी० ६। २९। १३।' (रावणवाक्य शुकसारणप्रति)। 'गच्छ वृद्धोऽसि बन्धुस्त्वं सोढं सर्वं त्वयोदितम्॥ अध्यात्म ६। ५। ३९।' अर्थात् शत्रु

पक्षकी प्रशंसा करनेवाले तुम दोनोंको मैं अवश्य मार डालता ॥१३॥ जाओ, तुम बुड्ढे हो और मेरे सगे-सम्बन्धी हो, इससे मैंने सह लिया ॥३९॥ अब तुम मेरे सामनेसे हट जाओ—'अपध्वंसत गच्छध्वं सन्निकर्षादितो मम।'' वाल्मी ६।२९।१४।' शत्रुके पक्षपातीकी सजा प्राणदण्ड है।

टिप्पणी—३ 'माल्यवंत गृह गयउ बहोरी''।' (क) माल्यवान् बड़ा सयाना है, आप ही उठकर चल दिया। क्योंकि दूसरा कोई पकड़कर उठा देता, तो बड़ा अपमान होता। (ख) विभीषण सन्त हैं। इनको मान, अपमान, क्रोध आदि कुछ भी नहीं हैं। रावणके हितपर ही इनकी दृष्टि है; इसीसे वे पुनः हाथ जोड़कर कहते हैं, यथा—'अति दयाल गुर स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा॥'—(उ० १०६)। [हितैषी भाईका यही कर्तव्य है कि वह सदैव हितकी बात कहे।' बन्धुभाव और भ्रातृस्नेहसे प्रेरित हो वे बारम्बार कह रहे हैं। यथा—'अवश्यं तु हितं वाच्यं सर्वावस्थं मया तव। बन्धुभावादभिहितं भ्रातृस्नेहाच्च पार्थिव॥ वाल्मी० ६। ६३। ३२-३३।'—(कुम्भकर्ण-वाक्य रावणप्रति)।] (ग) 'गयउ बहोरी' का भाव कि जब मन्त्रियोंने कुमन्त्र दिया था तब उसे अच्छा न लगा था, वह उठकर चला गया था, परंतु जब विभीषणजी आये तब वह फिर आया था कि ये अच्छी राय देंगे, उसे सुनकर मैं भी समर्थन करूँगा। अतः अब उसका फिर जाना कहा। (घ) 'पुनि कर जोरी' से जनाया कि प्रथम जब बोले थे तब भी हाथ जोड़े थे। (अथवा, 'पुनि' 'कहइ'—का क्रिया-विशेषण है)।

वि० त्रि०—'माल्यवंत''कर जोरी' इति। तत्पश्चात् माल्यवान् घर चले गये। 'बहोरी' शब्द 'तत्पश्चात्' के अर्थमें भी आता है, यथा—'प्रनवौं पुर नर नारि बहोरी', 'बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम। प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम॥' इत्यादि। माल्यवान् जानते थे कि यदि मैंने जानेमें देर की, तो निश्चय ही निकाल दिया जाऊँगा। अतः अप्रतिष्ठाकी डरसे उठके चले गये। विभीषणको सम्बन्ध-प्रागल्भ्य था, समझते थे कि दूसरे किसीकी मजाल नहीं है जो मुझे निकाले, और साथ-ही-साथ यह बात भी थी कि कुलके सर्वनाशका प्रश्न उपस्थित था, विभीषणजी तुल गये थे कि चाहे जो हो, आज मैं कहनेमें कसर न करूँगा। आज ही तो सीताहरण-विषयकी राय पूछी जा रही है, आज ही भविष्यत् कार्यक्रम निर्णय होने जा रहा है, आज न कहूँगा, तो फिर कब कहूँगा! युद्ध आरम्भ हो जानेपर तो फिर समझाने-बुझानेका अवसर न रह जायगा। अतः रावणके क्रोधका ख्याल न करके विभीषणजी फिर हाथ जोड़कर बोले।

प० प० प्र०—विभीषणजी नहीं गये और न किसीने उनको निकाला। रावणकी आँखोंके सामने सभी सभाने उसकी आज्ञाका भंग किया, ऐसा क्यों? कारण कि सभी लोग त्रिजटाके स्वप्न और उसकी सत्यता 'बानर लंका जारी' देखकर समझ गये हैं कि 'लंका बिभीषन पाइ'; अतएव उनसे विरोध करनेका साहस स्वार्थी सभासदोंसे कैसे हो सकता! [यह भी इससे जान पड़ता है कि भीतर-भीतर सब विभीषणजीसे सहमत थे। और फिर यह रावणका दुलरवा भाई ही तो था]।

सुमति कुमति सब के उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं* ॥ ५ ॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥ ६ ॥
तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥ ७ ॥
काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीतापर प्रीति घनेरी ॥ ८ ॥

अर्थ—हे नाथ! वेद-पुराण ऐसा कहते हैं कि—सुमति और कुमति सबके हृदयमें रहती हैं ॥ ५ ॥ जहाँ सुमति है वहाँ अनेक प्रकारकी सम्पत्ति रहती है और जहाँ कुमति है वहाँ अन्तमें विपत्ति ही है (वा, विपत्ति है और नाश) ॥ ६ ॥ तुम्हारे हृदयमें विपरीत कुमति बसी है (इसीसे तुम) उलटा मानते हो—हितको अनहित और शत्रुको मित्र मानते हो ॥ ७ ॥ जो राक्षसकुलकी कालरात्रि है उस सीतापर तुम्हें घनी (बहुत) प्रीति है॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'सुमति कुमति सबके उर रहहीं' इति। (क) इस कथनसे पाया गया कि रावणने विभीषण और माल्यवान् दोनोंको 'कुमति' कहा। इसीपर विभीषणजी कहते हैं कि किसीके कहनेमात्रसे कुमति या सुमति नहीं होती। उनका तो चिह्न यह है कि जहाँ सुमति है वहाँ नाना सम्पत्ति है और जहाँ कुमति है वहाँ विपत्ति है। 'उर रहहीं' अर्थात् प्रकट नहीं देख पड़तीं। भीतर ही छिपी रहती हैं। 'उर रहहीं' यथा—'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। १। ३६। १।'

२ 'बिपति निदाना'=विपत्ति और नाश। यथा—'काहे करसि निदानु' (अ० ३६), 'देहि अगिनि तन करहि निदाना।'

* म० चं०—रहई, कहई। 'तव' चण्डी, शेष सब पायकुलक।

(५ । १२) । आगे क्रमसे पहले विपत्ति, फिर नाश कह रहे हैं—'तव उर कुमति बसी बिपरीता···।' इससे निश्चय है कि विपत्ति पड़ेगी । और 'काल राति निसिचर कुल केरी । तेहि सीतापर प्रीति घनेरी ॥' जो आगे कहा है, उससे निश्चय कराते हैं कि नाश होगा । प्रथम कुमति होती है तब नाश, अतएव यहाँ प्रथम कुमति कहकर तब नाश कहा ।

नोट—१ 'जहाँ सुमति तहँ सम्पति···' इति । सबके सम्पत्ति और आपत्तिके ये ही दो कारण हैं । यथा—'सर्वस्व द्वे सुमतिकुमती संपदापत्तिहेतू (भो० प्र० । सुभाषित रत्नाकरे समस्या पूरणे १६) । सुमतिसे सम्पत्ति बढ़ती है । यथा-'सुमति छुधा बाढ़इ नित नई । बिषय आस दुर्बलता गई ॥ बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई । तब रह राम भगति उर छाई ॥ ७ । १२२ । १०, ११ ।' यह दैवी सम्पत्ति बढ़ती है और लौकिक सम्पत्ति इससे अचल होकर रहती है । कुमतिसे विपत्ति होती है । यथा—'काई कुमति केकई केरी । परी जासु फल बिपति घनेरी ॥ १ । ४१ । ८ ।', 'बिपतिबीज बरषारितु चेरी । भुइँ भइ कुमति कैकई केरी ॥ २ । २३ । ५ ।'

वि० त्रि०—'तव उर कुमति···' इति । सात्त्विकी बुद्धि ही सुमति है, राजसी बुद्धि कुमति है । कुमतिमें धर्म-अधर्म तथा कार्याकार्यका यथावत् ज्ञान नहीं होता, यथा-'यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च । अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ गीता १८ । ३१ ।' और तामसी बुद्धि विपरीता कुमति है । जो तमोगुणसे ढकी हुई बुद्धि अधर्मको ही धर्म मानती है, सब अर्थको ही उलटा देखती है, वह बुद्धि तामसी है । यथा—'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता । सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ गीता १८ । ३२ ।'

नोट—२ वाल्मी० में भी विभीषणजीने सभामें कहा है कि हमारे राजा ही कुबुद्धिके वश हुए हैं और तुम लोग इनके मित्र रूप अमित्र हो । यथा—'अयं हि राजा व्यसनाभिभूतो मित्रैरमित्रप्रतिमैर्भवद्भिः । ६ । १४ । १७ ।'

टिप्पणी—३ 'तव उर कुमति बसी···' इति । 'तव उर' का भाव कि सबके उरमें दोनोंका वास है, पर तुम्हारे हृदयमें 'कुमति' बसी है जिसका चिह्न है कि तुम 'हित अनहित मानहु···।' हमने हित कहा सो हमें शत्रु मानते हो और जो अनहित कहते हैं वे वस्तुतः शत्रु हैं पर उन्हें प्रिय मानते हो ।—[वंदनपाठकजी,—पुलस्त्यजी पितामह हैं, माल्यवंत नाना हैं और मैं भाई हूँ, सो हम तीनों हित हैं । उनको अहित मानते हो । और मन्त्री ठकुरसोहाती कहते हैं वे अहित हैं, पुनः सीता रिपु हैं । तुम इन दोनोंपर प्रीति करते हो ।] इसका तात्पर्य यह है कि औरोंकी कुमतिसे विपत्ति होती है पर तुम्हारी कुमतिसे तुम्हारे कुलभरका नाश होगा । 'विपरीता मानहु', यथा-'हितपर बढ़ै बिरोध जब अनहितपर अनुराग । रामबिमुख बिधि बामगति सगुन अघाइ अभाग ॥'—(दोहावली ४२०), 'काल दंड गहि काहु न मारा । हरै धर्म बल बुद्धि बिचारा ॥' [☛ रावणकी बुद्धिकी विपरीतता दिखाकर आगे उसके आचरणकी विपरीतता दिखाते हैं । (मा० त० सु०)]

४ 'काल राति०' का भाव कि सब रातें निशाचरोंको सुखदायी हैं । पर कालरात्रि सुखदायी नहीं होती, उसमें तो नाश ही होता है । वैसे ही सब स्त्रियाँ तुमको सुखदायी हुईं पर सीता तुमको नाश करनेवाली हैं । यथा—'तजि जानकी कुसल गृह जाहू । नाहित अस होइहि बहु बाहू ।···होइहि सकल सलभ कुल तोरा', 'तव कुलकमलबिपिन दुखदाई । सीता सीतनिसा सम आई ॥ ३६ । ९ ।' अन्तमें मन्दोदरीके वचनोंमें इसका चरितार्थ है, यथा—'रामबिमुख अस हाल तुम्हारा । रहा न कोउ कुल रोवनिहारा ॥ ६ । १०३ ।')

नोट—३ (क) ऐसा ही वाल्मी० सुं० ५१ में हनुमान्‌जीका वाक्य रावणके प्रति है, यथा—'यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे । कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलंकाविनाशिनीम् ॥ ३४ ॥' अर्थात् तेरे घरमें जो सीता हैं इन्हें तू सम्पूर्ण लंकाको विनाश करनेवाली कालरात्रि समझ । (ख) कालरात्रिके अर्थ और भाव अ० ८३ (५) 'मानहुँ कालराति अँधिआरी' में देखिये । (ग) 'सीता' वह रात्रि है जिसमें काल प्राणीको मारने आता है । रात प्रथम आती है तब काल आता है, वैसे ही सीताजी प्रथम आ गयीं, पीछे काल आ रहा है । श्रीरामजी कालरूप हैं, यथा—'काल रूप तिन्ह कर मैं भ्राता ।' भुवनेश्वर कालहु कर काला ।' (शीला)

प्र०—निशिचर है, अतः इन्हें निशिरूपसे आयी हैं जिसमें वे प्रीति करें ।

दो०—तात चरन गहि माँगौं राखहु मोर दुलार ।
सीता देहु राम कहुँ अहित न होइ तुम्हार ॥ ४० ॥

बुध पुरान श्रुति संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी॥ १॥*

अर्थ—हे तात! मैं आपके चरण पकड़कर माँगता हूँ कि मेरा दुलार (लाड़-प्यार) रखिये। श्रीरामचन्द्रजीको सीता दे दीजिये, आपका अहित न होगा॥ ४०॥ विभीषणजीने बुध (पण्डित)-पुराण वेद-सम्मत वचनसे नीति बखानकर कही॥ १॥

नोट—१ **'चरन गहि'** का भाव कि यद्यपि आप मुझे दूर करनेको चाहते हैं तथापि मैं तो आपके चरणोंके आश्रित हूँ, आप बड़े भाई होनेसे पिताके समान हैं; यही आगे कहा है—'तुम्ह पितु सरिस…'। 'माँगौं' वात्सल्य भावसे कहा। जैसे बच्चा मचलकर पैर पकड़ता है।

वै० भू०—विभीषणको रावण मानता था—दुलार करता था, जिसका विभीषणको गर्व था। तभी तो कहते हैं—**'राखहु मोर दुलार।'** रावणके दुलार करनेका बहुत बड़ा कारण था। वह यह कि रावण तो अधिकतर—**'रन मद मत्त फिरै जग धावा।'** तथा कुम्भकर्ण छः महीनेसे पूर्व जग ही नहीं सकता था, जागता भी था तो कुछ देरके लिये ही और मेघनादके लिये तो भरी सभामें ही विभीषणजीने कहा था—**'न तात मन्त्रे तव निश्चयोऽस्ति बालस्त्वमद्याप्यविपक्वबुद्धिः।** (वाल्मी० ६। १५। ९)।', अर्थात् बेटा! अभी तुम कच्ची बुद्धिवाले बच्चे हो; अभी राजमन्त्रणामें तुम्हारा कोई मूल्य नहीं। यही हाल रावणके सभी बेटे-पोतोंका कहा जा सकता है। अर्थात् उन नवजवानोंको खेलने-खाने लड़ने-भिड़नेमात्रसे काम था। ऐसी दशामें रावणकी अनुपस्थितिमें लङ्काका राज्य विभीषणके ही निरीक्षणमें चलता था तभी तो रावणने कहा था—**'करत राज लंका सठ त्यागी।'**

टिप्पणी—१ (क) **'राखहुँ मोर दुलार'** इति। पुलस्त्यजीने अपनी ओरसे सीताजीको देने और भजन करनेको कहा। ☞विभीषणजीने उसका वह संदेश आकर कहा। इसीसे रावणने सभासे निकाल देनेका हुक्म दिया। अतएव विभीषणजी अब अपना दुलार रखनेका वर माँगते हैं और भजन करनेको नहीं कहते। श्रीसीताजीको देनेके लिये चरण नहीं पकड़ते वरन् दुलार रखनेके लिये। यह दुलार रखना कठिन है; इसीसे पैर पकड़कर माँगते हैं। भाव यह कि सीताको अपनी ओरसे न दो वरन् हमारा दुलार रखनेके विचारसे दो। ['दुलार'=प्रसन्न करनेकी वह चेष्टा जो प्रेमके कारण लोग बच्चों या प्रेमपात्रोंके साथ करते हैं। लाड़-प्यार। भाव कि मैं छोटा भाई हूँ, पुत्रके समान हूँ। जैसे वात्सल्यके कारण माता-पिता पुत्रका स्नेह नहीं तोड़ते, जो वह माँगता है देकर प्रसन्न रखते हैं। इसी तरह मेरा स्नेह रखिये, जो मैं माँगता हूँ वही दीजिये। 'तात' पद भी यहाँ स्नेहसूचक है।] (ख) इस प्रसङ्गमें दिखाया कि महात्मा लोग हाथ जोड़कर पाँव पकड़कर अहितसे बचाते हैं।

मा० त० सु०—**'अहित न होइ'** का भाव कि सीताजीको लौटा देनेसे यदि त्रिदेव भी तुमसे रुष्ट होंगे तो भी कुछ बुराई न होगी, क्योंकि **'सीम कि चापि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'**

टिप्पणी—२ विभीषणजीने आदिसे अन्ततक अपनी साधुता निबाही। आदर, अनादर एवं चरणप्रहारसे भी वे विकारको न प्राप्त हुए—तीनों अवस्थाओंमें उसके चरण पकड़े और एकरस रहकर हितकी कहते रहे।

आदरमें	अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता चरन सीस तेहि नावा॥	जौं कृपाल मोहि पूछिहु बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता॥
अनादरमें	तात चरन गहि माँगौं राखहु मोर दुलार॥ ४०॥	'दूर न करहु इहाँ है कोऊ' अनादर है, तो भी—'सीता देहु अहित न होइ' यही कहा।
मारनेपर	अस कहि कीन्हेसि चरनप्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा॥	तुम्ह पितु सरिस भले मोहि मारा। राम भजे हित होइ तुम्हारा॥

नोट—२ **'सीता देहु…'**, यथा—**'धनानि रत्नानि विभूषणानि वासांसि दिव्यानि मणींश्च चित्रान्। सीतां च रामाय निवेद्य देवीं वसेम राजन्निह वीतशोकाः॥** ६। १५। १४।' अर्थात् धन, रत्न, वस्त्र, उत्तम भूषण और दिव्य मणियोंसहित तुम सीताको दे डालो। ऐसा होनेसे स्वच्छन्द शोकरहित होकर लङ्कापुरीमें बसे रहो। (ये वाक्य अन्तिम बारकी सभामें कहे हैं)।

टिप्पणी—३ बुध-पुराण-श्रुति-सम्मत, यथा—**'नाथ पुरान निगम अस कहहीं'**। बृहस्पति, शुक्र, याज्ञवल्क्य आदिकी नीतिसे मिली हुई है। (क) प्रथम जब वचन कहे थे तब माल्यवान्‌ने प्रशंसा की थी, अब यहाँ कोई प्रशंसा करनेवाला नहीं है और वाणी प्रशंसा योग्य है; इसलिये वक्ता लोग स्वयं ही प्रशंसा करने लगे। (ख) रावण वेदविरुद्ध चलता है और

* प्र० चं०—दो० ४० दोहरा है। 'बुध०' द्रुतपा, 'कही०' और चौ० (२) पायकुलक।

विभीषणजी वेद-सम्मत कहते हैं, इसीसे उसे नीति अच्छी न लगी जैसा आगे उसके वचनोंसे स्पष्ट है—**'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती॥'** वेद-पुराण-कथनसे वह क्रुद्ध होता है, यथा—**'तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना।'** तथा यहाँ इनको मारनेको उठा, मारा और देशसे निकाल दिया।

नोट—३ **'बुध पुरान श्रुति संमत'** सभी वाणी है, फिर भी इस प्रकार विभाग भी किया जाता है—**'अवसर जानि बिभीषन आवा'** से **'मति अनुरूप कहउँ हित'** तक बुधसम्मत है क्योंकि अवसर जानकर काम करना और पूछनेपर बोलना यह पण्डितोंकी रीति है। **'जो आपन चाहै कल्याना'** से **'भजहु भजहिं जेहि संत।'** तक पुराणसम्मत है, क्योंकि इन विषयोंको विशेषतासे पुराणोंने ही प्रतिपादित किया है। **'तात राम नहिं नर भूपाला'** से **'सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन'** तक श्रुतिसम्मत है, क्योंकि परमात्माके प्रतिपादनमें श्रुति ही प्रधान है और **'सुमति कुमति सबके उर रहहीं'** से **'सीता देहु राम कहँ'** तक बुध, पुराण-श्रुति तीनोंकी सम्मत वाणी एकत्र ही दिखायी। यहाँ 'बानी' का सम्बन्ध बुध, पुराण, श्रुति और नीति चारों पदोंके साथ है। (मा० त० सु०)।

२ वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि विभीषणजी इस प्रकारसे शुभदायक हितकारी वचन कहकर चुप हो रहे। ये वचन न्याययुक्त, महाअर्थसमन्वित, हेतुगर्भ, वर्तमान व भविष्यकालमें शुभकारी थे। यथा—**'रावणं राक्षसश्रेष्ठं पथ्यमेतद्विभीषणः। २६। हितं महार्थं मृदु हेतुसंहितं व्यतीतकालायति संप्रतिक्षमम्…'। ६। १०। २७।'**

सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥ २॥
जियसि सदा सठ मोर जिआवा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥ ३॥

अर्थ—उसे सुनकर रावण क्रुद्ध हो उठा (और बोला—) अरे दुष्ट! अब मृत्यु तेरे निकट आ गयी॥ २॥ अरे शठ! तू सदासे मेरे जिलाये जीता रहा है (अर्थात् मेरे ही कारण तेरा जीवन वहन हो रहा है, मैंने ही बचपनसे तुझे पाला-पोसा)। पर, अरे मूढ़! तुझे शत्रुका ही पक्ष भाता है। अर्थात् तू नमकहराम ही बना रहा॥ ३॥

नोट—१ **'दसानन उठा रिसाई'**। हनुमन्नाटकमें रावणका वचन है कि मैं दसमुखवाला हूँ, इससे मैं सीताको न दूँगा। अर्थात् दसमुखवाला होकर एक मुखवालेको सीता कैसे दे सकता है? यही भाव यहाँ 'दसानन…'का है। ऐसा कहकर उसने लात मारी। यथा—**'दशास्यस्तथापि सीतां न समर्पयामि॥ ११॥ इति वामचरणेन विभीषणं ताडयामास।'** (अंक७)।

टिप्पणी—१ **'दसानन उठा रिसाई।…'** इति। (क) जब रावणने आज्ञा दी कि इनको यहाँसे निकाल दो—**'दूरि न करहु इहाँ है कोऊ। ४०। ३।'**, और कोई न उठा तब यह जानकर कि इन्हें निकालनेको कोई न उठेगा, वह स्वयं मारकर निकालनेको उठा। (ख)—सुनते ही क्रुद्ध हुआ। वक्ता लोग कहते हैं कि जो वाणी बुध-वेद-पुराण-सम्मत और नीति है और जिसे सुनकर भले लोग सुख मानते हैं—जैसे माल्यवान्‌ने सुख माना था, उसीको सुनकर रावणको क्रोध हो आया क्योंकि वह कालके वश है (यद्यपि वह उलटा ही समझता है और विभीषणको कालवश कहता है)। यथा—**'हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहुँ भेषज जैसे॥ ६। १०। ५।'** (ऐसा ही अध्यात्मरामायणमें कहा है, यथा—**'शुभं हितं पवित्रं च विभीषणवचः खलः। प्रतिजग्राह नैवासौ म्रियमाण इवौषधम्॥ ६। २। २।'** यहाँ 'पञ्चम विभावना अलङ्कार' है)। (ग) **'खल तोहि निकट मृत्यु अब आई'** इति। जो विभीषणजीने कहा था कि **'तव उर कुमति बसी बिपरीता'** वह यहाँ प्रत्यक्ष देख पड़ रहा है क्योंकि स्वयं कालवश है और विभीषणको कालवश कहता है। अथवा, (घ) क्रोध हुआ; क्योंकि यह उसका स्वभाव है कि जो भी सीताजीके देनेकी बात कहता है उसीपर वह क्रोध करता और उसीको मारता है या मारनेको कहता है। यथा—**'जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही॥ ५७। ८।'** (शुकको), **'परिहरि बैर देहु बैदेही।…ताके बचन बान सम लागे। करिया मुख करि जाहि अभागे॥ बूढ़ भएसि न त मरतेउँ तोही॥ ६। ४८।'** (माल्यवान्‌को) तथा यहाँ विभीषणजीके कहनेपर कि **'सीता देहु राम कहँ…'** इनपर क्रोध हुआ और इनको मारा—**'अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा'**।

नोट—२ श्रीहनुमान्‌जीसे भी उसने ऐसा ही कहा था (**'मृत्यु निकट आई खल तोही। २४। ३।'**) जैसा विभीषणजीसे (**'खल तोहि निकट मृत्यु अब आई'**)। दोनोंमें 'खल, मृत्यु, निकट, आई और तोही (तोहि)' शब्द हैं। केवल **'अब'** शब्द पूर्व सम्बन्धके कारण अधिक है जिसका इस मिलानमें होना न होना बराबर है। दोनोंके लिये एक-से शब्दोंका

प्रयोग हुआ; क्योंकि दोनोंने रिपुका उत्कर्ष कहकर वैर छोड़ने, प्रभुकी शरण जाने, श्रीसीताजीको देनेको कहा था। श्रीहनुमान्‌जीके **'तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै'**, **'मोरे कहे जानकी दीजै'**, **'गए सरन प्रभु राखिहहिं तव अपराध बिसारि'**, **'लंका अचल राज तुम्ह करहू'** इत्यादिकी जोड़में क्रमशः विभीषणजीके **'ताहि बयरु तजि नाइअ माथा'**, **'राखहु मोर दुलार'**, **'सीता देहु राम कहुँ'** (एवं **'देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही'**), **'सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा । बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा ॥'**, **'अहित न होइ तुम्हार'** इत्यादि वाक्य हैं। ☞ इस मिलानसे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीहनुमान्‌जीके मिलनका कितना प्रभाव भक्त विभीषणपर पड़ा। भगवान् श्रीरामके स्वरूपका वर्णन विस्तृत होनेसे हमने नहीं दिया। प्रेमी पाठक स्वयं मिला लें।

३ 'अब' का भाव कि अभीतक छोटा भाई जानकर तरस देता रहा। एक बार कहनेपर छोड़ दिया, अब नहीं सह सकता, अतः मारूँगा।

४ मन्दोदरीसे कभी 'सीताजीके देनेकी बात' कहनेपर रुष्ट न हुआ, कारण कि ऐसा करता तो सम्भव था कि घरमें ही बाप-बेटोंहीमें फूट हो जाती। इस सम्बन्धमें पूर्व भी लिखा जा चुका है।

टिप्पणी—२ प्रथम जब कहा था कि **'देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही । भजहुँ राम बिनु हेतु सनेही ॥'** तब चरण प्रहार न किया था, क्योंकि उन्होंने कहा था कि यह पुलस्त्यजीका संदेश है, इससे तब मारा न था; फिर भी उनके निकाले जानेकी आज्ञा दे दी थी। और, अब जो कहा कि **'सीता देहुँ…'** यह विभीषणजीने अपनी ओरसे कहा, अतः मारा कि एक बार मना भी कर दिया तब भी तूने नहीं माना।

३ **'जियसि सदा सठ मोर जियावा ।…'** इति। (क) तात्पर्य कि मेरे जिलानेसे जीता है, मेरे मारनेसे मरेगा, तब उचित था कि मुझसे वैर न करता, यथा—**'तासों तात बयरु नहिं कीजै । मारें मरिय जियायें जीजै ॥ ३ । २५ । ४ ।'** (मारीचवाक्य) पर तुझे मेरे शत्रुका ही पक्ष सदा भाता है, अतएव तू मूढ़ है। मेरा शत्रु बनना चाहता है, अतः निश्चय है कि तेरा मरण निकट है। (ख) सदा मेरे जिलानेसे तेरा जीवन है, यह भी **'कुमति बसी बिपरीता'** का उदाहरण है। वस्तुतः विभीषणजीकी बदौलत उसका जीवन है, यथा—**'अस कहि चला बिभीषन जबहीं । आयूहीन भये सब तबहीं ॥ ४२ । १ ।'** 'सठ, मूढ़, खल' आप है और कहता है विभीषणको।

प्र० —**'जियसि मोर जियावा'** का भाव कि तेरा आचरण निशिचरकुलके विपरीत होनेसे अबतक तुझे निशिचरोंने मार डाला होता, मेरे डरसे कोई तुझसे न बोला।

मा० त० सु०—मूढ़का भाव कि इतनेपर भी तू शत्रुका पक्ष ग्रहण किये है, कर्तव्यविचारशून्य होनेसे तू मूढ़ है।

नोट—५ मिलान कीजिये अ० रा० के **'कालेन नोदितो दैत्यो विभीषणमथाब्रवीत् । मद्दत्तभोगैः पुष्टाङ्गो मत्समीपे वसन्नपि ॥ २८ ॥ प्रतीपमाचरत्येष ममैव हितकारिणः । मित्रभावेन शत्रुर्मे जातो नास्त्यत्र संशयः ॥ २९ ॥'** (लं० स० २)' इन श्लोकोंसे। अर्थात् कालकी प्रेरणासे वह दैत्य विभीषणजीसे बोला कि मेरे ही दिये हुए भोगोंसे तेरा शरीर पला और पुष्ट हुआ, तू मेरे समीप बैठता है, पर मुझ अपने हितकारीके प्रतिकूल ही सदा तेरा आचरण रहता है। इसमें सन्देह नहीं कि तू मित्रभावद्वारा मेरा शत्रु उत्पन्न हुआ है।

६ वाल्मी० रा० में रावणने जो कहा है कि 'जातिवालों और उनमें विशेषकर प्रधान पञ्चगणि विद्वान्, धार्मिक और वीर पुरुषोंका निरादर करते और उनको परास्त करनेके लिये सदा ही छिद्र ढूँढ़ा करते हैं और विपत्ति आनेपर वे हर्षित होते हैं। ऐसे स्वार्थपरायण लोगोंसे अत्यन्त भय रहता है। हमने जो अतुलनीय ऐश्वर्य प्राप्त किया है उससे त्रिलोकी हमारा आदर करता है, किन्तु हमारा यह सौभाग्य ही तुम्हारे असन्तोषका कारण हुआ है। दुर्जनसे मित्रता निष्फल जाती है, वह अपना कार्य सिद्ध कर लेनेपर स्वयं ही पहलेवाले स्नेहको भूलकर मित्रताका नाश करता है। वैसा ही तू है। तेरे जीवनको धिक्कार है। तू हमारा सगा भाई होनेके कारण अबतक जीता है।' इत्यादि सब भाव 'जियसि सदा''भावा' इन शब्दोंसे व्यक्त किया गया है। वाल्मी० ६। १६। १—१६।'

कहसि न खल अस को जग माहीं । भुज बल जाहि* जिता मैं नाहीं ॥ ४ ॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती । सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती ॥ ५ ॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा । अनुज गहे पद बारहिं बारा ॥ ६ ॥

* जेहि जीता मैं—ना० प्र०।

अर्थ—अरे खल ! कहता क्यों नहीं ? संसारमें ऐसा कौन है जिसे मैंने अपनी भुजाओंके बलसे जीता न हो ? ॥ ४ ॥ मेरे नगरमें रहकर तपस्वियोंसे प्रीति रखता है (तो) अरे शठ ! उनसे ही जाकर मिल और उन्हींसे नीति कह ॥ ५ ॥ ऐसा कहकर चरणका प्रहार (आघात, मार) किया अर्थात् लात मारी । छोटे भाई विभीषणने बारंबार चरण पकड़े ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ **'कहसि न खल'**' इति । (क) तू मूढ़ है; क्योंकि मेरे पराक्रमको नहीं समझता, निर्बल शत्रुको बलवान् समझता है । (ख) **'कहसि न'** का भाव कि शत्रुका बल कहता है और मेरा बल क्यों नहीं कहता ? अतः तू खल है । नहीं तो क्यों न कहता कि मैंने किसे नहीं जीता—**'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी । दसमुख बसवर्ती नरनारी ॥ १ । १८२ । १२ ।'** (ग) 'भुजबल' अर्थात् अपने निज पुरुषार्थसे सेनाके बलसे नहीं, यथा—**'बरुन कुबेर पवन जम काला । भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला ॥ ६ । ८ ।'**, **'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतन्त्र । १ । १८२ ।'**

२ **'मम पुर बसि'**' इति । (क) अर्थात् तू छलिया है । मेरे राज्यमें सुख करता मौज उड़ाता है और प्रीति तपस्वियोंपर करता है कि जहाँ कुछ सुख नहीं है । तो अवश्य तू आगे छल करेगा । तू शठ है; राज्यसुख भोग करने योग्य नहीं है, अतः तू तपस्वियोंसे जाकर मिल । वे नीति नहीं जानते, उन्हें जाकर नीति सिखा, हम तो सब नीति जानते हैं । (ख) **'कही बिभीषन नीति बखानी'** इसीकी जोड़में रावणका यह वचन है कि **'सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती'** ।

रा० प०—सारी लङ्का जली, पर विभीषणका घर न जला, यह बात हृदयमें लाकर रावण क्रोधित होकर कह रहा है कि तेरी तपस्वियोंमें प्रीति है, मेल न होता तो तेरा घर भी क्यों न जलता ?

वि० त्रि०—**'मम पुर बसि''नीती ।''गहे पद बारहि बारा ।'** इति । तू राजद्रोही है, बसता है मेरे पुरमें, और प्रीति तेरी तपस्वियोंपर है । **'राखहु मोर दुलार'** कहकर उन्हींका हित चाह रहा है । मेरे पुरमें जो बसे उसे तपस्वियोंसे वैर रखना चाहिये, यथा—**'निसिचर निकर सकल मुनि खाए ।'** जिसे तपस्वियोंसे प्रेम करना है, वह मेरा पुर छोड़ दे । यह तो सामान्य नियम है । यहाँ तो जिन तपस्वियोंपर तेरा प्रेम है, उनसे मेरी विशेष रूपसे शत्रुता है । शत्रुवर्गीका पुरमें रहना ठीक नहीं । अतः निकल जा मेरे पुरसे । यदि कहो कि मैं तो नीति कह रहा हूँ, तो रावण कहते हैं कि मुझे तेरी नीतिकी आवश्यकता नहीं । तेरी ही नीतिसे मेरी लंका जली । अतः तू यहाँसे भाग जल्दी, और अपने प्रेमी तपस्वियोंसे जाकर मिल जा, और उन्हींको अपनी सत्यानाशी नीति बतला, जिसमें उनका सत्यानाश हो जाय ।

रावणने देखा कि यह जाता नहीं है, और इसे निकालनेका साहस दूसरेको नहीं । अतः मैं इसे स्वयं मारूँगा, बिना लात खाये यह न जायगा । अतः लात मारकर निकाला । रावणकी लात विभीषण ही सह सकते हैं । विभीषणजी साधु हैं, अतः उन्होंने बार-बार चरणोंको प्रणाम किया । यह प्रणाम लंका छोड़नेका, अर्थात् बिदाईका है ।

वि० त्रि०—रावणके कहनेका भाव यह है कि 'तू मेरे पुरमें बसता है, मेरी प्रजा है, जैसे सब प्रजा वैसे ही तुम । प्रजाको राजाके अनुसार चलना चाहिये, हमारी सब प्रजा तपस्वियोंको खानेवाली है, यथा—**'निसिचर निकर सकल मुनि खाए ।'** पर तेरा विचार ही स्वतन्त्र है, तू तपस्वियोंमें प्रेम करता है, अपनेको कुछ समझता है, मन्त्री साथमें लेकर राजाका स्वाँग बनाये है । निकल जा मेरे नगरसे, तेरी नीतिसे मुझे नाकोंदम है, तेरी नीतिने ही मेरी लंका जलायी । तू जा यहाँसे और उन तपस्वियोंसे मिल, उन्हें नीतिका उपदेश कर, वे ही सुनेंगे । विभीषणजी नहीं गये । तब लात मारी कि निकल यहाँसे । पर छोटे भाईके नाते विभीषणजी पैर ही पकड़ते रहे कि तुम भले मुझे लात मार लो, पर रामको भजो, इसीमें तुम्हारा कल्याण है, मैं अपने रहते तुम्हारा अमंगल नहीं होने दूँगा ।

मा० त० सु०—(क) **'तिन्हहि कहु नीती'** का भाव कि एक बार तो तूने नीति कहकर—**'नीति बिरोध न मारिय दूता'**—लंका भस्म कर दी, अब फिर नीति सिखाने आया है । पुनः, (ख) यह तेरा कहा हुआ धर्म उन्हींका है मेरा नहीं, यथा—**'अद्यो द्विजान् देवयजीन् निहन्मः कुर्मः पुरं प्रेतनराधिवासम्'** इत्यादि । (ग) **'सठ मिलु जाइ'** का भाव कि नीति उनकी और मेल मुझसे, यही उभयविरोध तेरी शठता है ।

वन्दनपाठकजी—उनको जाकर सिखावे । वे नीति नहीं जानते, इसीसे एक स्त्रीके कहनेपर राज्य छोड़ भागे । मैं नीति जानता हूँ, नहीं तो इतने दिन (७२ चौकड़ी) राज कैसे करता ? वे वैष्णव और तू भी वैष्णव, अतः स्वपक्षमें जा मिल । यहाँ विभीषणको शारदा सहाय हुई जैसे हनुमान्‌जीको हुई थी—(**'भइ सहाय सारद मैं जाना'**) इसीसे रावणसे ऐसा कहला दिया ।

टिप्पणी—३ '**अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा**···' इति। (क) रावणने वचनसे कठोर कहा, तनसे मारा और मनसे त्याग किया। और विभीषणने बड़ा भाई समझकर उसके चरण ही पकड़े; जैसे बड़ा भाई जानकर अब भी लोग प्रणाम करते हैं। आदि-अन्तमें प्रणाम कहकर कवि दिखाते हैं कि आदिसे अन्ततक इनने अपनी साधुता निबाही। उदाहरण ४१ (१) टिप्पणी २ पृष्ठ २९३ में आ चुके हैं। (ख) 'चरणप्रहार' का भाव कि तू शत्रुके उपकारके लिये बार-बार मेरे चरण पकड़ता है इससे तुझे चरणप्रहारकी सजा देनी चाहिये। '**अनुज गहे पद बारहिं बारा**' का दूसरा भाव कि इन्हीं चरणोंकी कृपासे श्रीरामचरणकी प्राप्ति हुई, कुसंग छूटा।

नोट—१ रावणने विभीषणजीके हृदयपर लात मारी, यह गीतावलीसे स्पष्ट हो जाता है। यथा—'**तुलसी हुमकि हिये हन्यो लात भले तात चल्यो सुरतरु तकि तजि घोर घामहिं।** पद २५।' बार-बार पाँव पकड़नेका भाव कि मेरा शरीर कठोर है, आपके चरण कोमल हैं, चोट लगी होगी। (दीनजी)।

प० प० प्र०—ऊपरसे देखनेमें तो विभीषण-सरीखे संतका अपमान हुआ; पर व्यवहारमें जो घटना आज वर्तमान-कालमें अनिष्ट, दुःखदायक और अपमानकारक-सी देख पड़ती है, वही भविष्यमें परम इष्ट, परम सुखदायक और परम स्पृहणीय सिद्ध होती है। '**दुख सो सुख मानि सुखी चरिये।**' '**उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः। अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते॥**'

रावणके इस प्रसंगके वाक्योंसे कविसम्राट्ने विभीषणको पूर्ण निर्दोष बना दिया है। रावण बड़ा भाई है और '**ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः**'। अतः भाईके आज्ञानुसार '(**सठ**) **मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती**' लंकाका त्याग करना आवश्यक ही था। कठोपनिषद्में नचिकेताके पिताने जब उनसे कहा कि 'मैंने तुझको यमराजको दे दिया।' तब बालक नचिकेता पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये यमराजके पास चले गये।

यहाँके विभीषणजीके वाक्योंमें राज्यलोभकी गन्ध भी नहीं मिलती। यदि उनको राज्यका लोभ होता तो वे भाईसे प्रत्यक्ष विरोध न करके ही यहाँका सब भेद शत्रुको दे-देकर अपना स्वार्थ पूरा कर सकते थे।

प० प० प्र०—विभीषणजीका लंका-त्याग। मानसके ठौर-ठौरके वाक्योंके समन्वयसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विभीषण-जीने राजद्रोह या भ्रातृद्रोह नहीं किया, और न उनको राज्यकी लालसा थी।

(१) विभीषणपर विश्वासघातका आरोप मन्दोदरी, रावण अथवा कुम्भकर्ण आदि किसीने भी नहीं किया। '**रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे। तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे** ॥६।९३।५॥', विभीषणजीके ऐसा कहनेपर भी रावण कुछ न बोला।

(२) जब प्रहस्तने रावणसे कहा कि '**सीता देइ करहु पुनि प्रीती। नारि पाइ फिरि जाहिं जौं**···॥ ६। ९॥' इत्यादि, तब भी रावणने विभीषणपर बन्धुद्रोह अथवा विश्वासघातका अपराध नहीं लगाया।

(३) रावणने शुकसे विभीषणजीके सम्बन्धमें प्रश्न किया कि '**पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी॥ करत राज लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी॥** ५३। ४॥'; इसमें भी विभीषणको कोई कलंक नहीं लगाया, 'अभागी' ही कहा है।

(४) कुम्भकर्णसे जब विभीषण रणभूमिमें जाकर मिलते हैं, देखिये तब कुम्भकर्ण क्या कहता है—'**धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयहु तात निसिचर कुल भूषन॥ बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा सुख सागर॥ बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रघुबीर।** ६३।' क्या विश्वासघाती, भ्रातृद्रोही वा राजद्रोहीको कोई ऐसा प्रशस्तिपत्र, धन्यवाद और शुभाशीर्वाद देता? वह तो कहता है कि तुमने रावणके वंशको उजागर कर दिया।

महात्मा गाँधी—विभीषणजीमें तो मैं कोई दोष नहीं पाता। विभीषणने अपने भाईके साथ सत्याग्रह किया था। विभीषणका दृष्टान्त हमें यह सिखाता है कि अपने देश या अपने शासकके दोषोंके प्रति सहानुभूति रखना या उन्हें छिपाना देशभक्तिके नामको जलाना है। इसके विपरीत देशके दोषोंका विरोध करना सच्ची देशभक्ति है। विभीषणजीने श्रीरामजीकी सहायता करके देशका भला ही किया था।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥ ७॥
तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। रामु भजे हित नाथ तुम्हारा॥ ८॥

अर्थ—(भगवान् शंकर कहते हैं—) हे उमा! संतकी यही बड़ाई है कि जो बुराई करनेपर भी भलाई करे॥७॥ (विभीषणजीने कहा) आप पिताके समान हैं, अच्छा किया जो मुझे मारा, पर हे नाथ! तुम्हारा भला रामभजनसे ही होगा॥८॥

टिप्पणी—१ 'उमा संत कइ इहइ बड़ाई।…' इति। (क) भाव कि संतकी बड़ाई इसीमें होती है कि जो उनके साथ नीचता करे उसके साथ भी वे बुराईके बदलेमें भलाई ही करें। जैसे खलकी बड़ाई इसीमें है कि जो उसके साथ भलाई करता है उसके साथ भी वह नीचता करे। यथा—'भलो भलाइहि पै लहै लहै निचाइहि नीच। १।५।' ये दोनों बातें यहाँ देख पड़ीं। श्रीविभीषणजी साधुताकी सीमा हैं (रावणके चरणप्रहार करनेपर भी वे उसकी भलाई ही चाहते हैं, उसके हितको कहते रहे) और रावण खलताकी अवधि है (कि अपने हितैषीको शत्रु समझकर उसको निकाल दिया)। पुनः 'संत कइ इहइ बड़ाई' का भाव कि शत्रुके साथ भी भलाई करना यह संतका ही काम है, इसमें संतकी ही बड़ाई है; दूसरे किसीकी नहीं। दूसरेमें तो यह गुण नहीं किंतु दोष माना जायगा। यथा—'रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई॥ ३।१९।१३।' (यह श्रीरामजीने कहा है), 'जौं पै समर सुभट तव नाथा।…रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा।६।२८।८।' (यह रावणने कहा)। शत्रु राजाके साथ भलाई करनेवाले राजाकी निन्दा ही होती है। मुहम्मद गोरीके साथ बारबार भलाई करनेका फल भारतवर्षका नाश ही हुआ। पुनः, 'इहइ' निश्चयात्मक वाक्य देकर सूचित किया कि ऐसा करनेमें ही उनकी प्रशंसा है, अन्यथा नहीं।

नोट—१ 'तुम्ह पितु सरिस' इति। बड़ा भाई पिताके समान होता है, इसीसे 'पितु सरिस' कहा। वाल्मी० रा० में भी कहा है 'स त्वं भ्रातासि मे राजन्ब्रूहि मां यद्यदिच्छसि। ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो (न च धर्मपथे स्थितः)।६।१६।१८।' पुनः यथा अध्यात्मे—'धिक्करोषि तथापि त्वं ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः। ६। २। ३४।' २—रावणके 'जियसि सदा सठ मोर जियावा' का यह उत्तर है कि 'तुम्ह पितु सरिस' अर्थात् आप पिताके समान हैं और पिताका धर्म रक्षा ही करना है, यथा—'पाति रक्षति इति पिता', आपने मुझे पाला-पोसा। अतएव मुझे मारा तो अच्छा किया और पुत्रका धर्म है कि 'पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः।'; अतएव कहा कि 'राम भजे हित नाथ तुम्हारा।' (मा० त० सु०)

टिप्पणी—२ (क) 'भलेहि मोहि मारा' इति। भाव कि आपके मारनेसे मेरा हित हुआ कि मुझे श्रीरामजी मिलेंगे, यथा—'अंतहु भाव भलो भाई को कियो अनभलो मनाइ कै। भई कूबर की लात बिधाता राखी बात बनाइ कै॥३॥ नाहि त क्यों कुबेर घर मिलि हर हित कहते चित लाइकै। जो सुनि सरन राम ताके मैं निज बामता बिहाइ कै॥४॥गी०५।२८।'; पर इससे आपका हित नहीं होनेका, आपका हित रामभजनसे ही होगा। (ख) विभीषणजी पूर्व जन्मके धर्मरुचि नामक मन्त्री हैं जैसे तब मन्त्रोपदेश करते थे, वैसे ही अब भी हितोपदेश और धर्म ही कहते हैं, यथा—'नृप हितकारक सचिव सयाना। नाम धर्मरुचि सुक्र समाना॥ १। १५४। १।' विभीषणजीने पूर्व जन्ममें क्या धर्म कहा और कैसे हितकारक थे, क्या हित सिखाते थे, यह यहाँ कहा—'राम भजे हित नाथ…।' (ग) 'मति अनुरूप कहौं हित ताता' उपक्रम और 'राम भजे हित नाथ तुम्हारा' उपसंहार है। आदिसे अन्ततक परमार्थ-उपदेश करके वेद-रीतिसे निर्दोष हुए। (घ) इस प्रसंगमें यह भी दिखाया कि श्रीविभीषणजीने सम्मान और अपमान, आदर और निरादर दोनोंमें सम्मान भाव रक्खा, इसीसे उन्हें संत कहा—'सम मान निरादर आदरही।' रावणने सम्मति पूछकर इनका सम्मान दिखाया। यथा—'जौं कृपाल पूँछिहु मोहि बाता।३८।४।' और चरणप्रहार करके तिरस्कार किया। इन्होंने दोनों अवस्थाओंमें हित ही कहा। यथा—'मति अनुरूप कहउँ हित ताता। ३८। ४।', 'सुमति कुमति…अहित न होइ तुम्हार॥ ४०॥', 'राम भजे हित नाथ तुम्हारा।'

सचिव संग लै नभ पथ गएऊ। सबहि सुनाइ कहत अस भएऊ॥ ९॥

दो०—रामु सत्य संकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥ ४१॥

अर्थ—(यह कहकर श्रीविभीषणजी) मन्त्रियोंको साथ लेकर आकाशमार्गमें गये और सबको सुनाकर ऐसा कहने लगे॥९॥ श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ हैं, समर्थ हैं और तेरी सभा कालके वश है। मैं अब रघुवीरकी शरण जाता हूँ, मुझे अब दोष न देना॥४१॥

नोट—१ 'सचिव संग लै…' इति। चारों मन्त्रियोंके नाम ये हैं—अनल, पनस, सम्पाति और प्रमति। यथा—

'अनलः पनसश्चैव सम्पातिः प्रमतिस्तथा । वाल्मी० ६ । ३७ । ७ ।' ये चारों विभीषणजीके परम हितैषी परमभक्त मन्त्री थे और उनके अनुकूल आचरण करनेवाले विश्वासपात्र थे । साथ ही ये बड़े विक्रमशाली थे और जब जैसा रूप चाहें धारण कर सकते थे । जैसा **'ये चाप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीमविक्रमाः । ६ । १७ । ३ ।'**, **'खात्पपातावनीं हृष्टो भक्तैरनुचरैः सह ।** वाल्मी० ६।१९।२.' से स्पष्ट है । इनको साथ ले जानेका प्रधान कारण मेरी समझमें यह था कि सीताहरणसे लेकर अबतक मैं भगवान्‌की कुछ भी सेवा न कर सका । अब जब वे वानर-दल लेकर रावणवधके लिये आये हैं तब इस कार्यमें शक्तिभर उनकी सेवा करूँ । यह बात वाल्मीकीयके **'गत्वा लंकां ममामात्याः पुरीं पुनरिहागताः ॥ ७ ॥ भूत्वा शकुनयः सर्वे प्रविष्टाश्च रिपोर्बलम् । विधानं विहितं यच्च तद् दृष्ट्वा समुपस्थिताः । ६ । ३७ । ८ ।'** विभीषणजीके इस वाक्यसे सिद्ध होती है । युद्ध छिड़नेके पूर्व ही बिना किसीके कहे उन्होंने अपने चारों मन्त्रियोंको रावणका सारा विधान देख आनेके लिये भेजा था । वे पक्षी बनकर शत्रुकी सेनामें जाकर वहाँका सारा समाचार ले आये थे । इसी तरह आगे भी मेघनाद और रावणके यज्ञों आदिका समाचार भी मन्त्रियोंद्वारा ही प्राप्त कर-करके इन्होंने श्रीरघुनाथजीकी सेवा की । मन्त्री साथ क्यों आये ? एक कारण तो बताया गया कि वे विभीषणजीके परम भक्त अनुचर थे, साथ ही भगवद्भक्त भी थे । दूसरे, पुलस्त्यजीके संदेशसे वे जान गये थे कि भगवान् रावणका वध करनेके लिये अवतरित हुए हैं और उसका कुलसमेत वध निश्चित है । अतएव उसका वध होनेपर विभीषणजी अवश्य यहाँका राज्य पावेंगे, हम उनके मन्त्री हैं, अतः उनके राज्यमें सुख भोगनेको मिलेगा । यह लालच भी हो सकता है । फिर यदि विभीषणजी इनको साथ न लाते तो यह भी सम्भव था कि रावण उनपर विश्वास नहीं कर सकता था, उसे संदेह रहता कि ये शत्रुको यहाँका गुप्त समाचार देते रहेंगे, अतः या तो उनको मरवा डालता या युद्धमें उनको प्रथम ही जुझवा डालता । दोनों तरहसे इनके प्राण जाते । अतः साथ ले आये ।

टिप्पणी—१ (क) 'सचिव संग लै०' इति । **'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च' इत्यमरः ।** अर्थात् राजा, मन्त्री, सुहृद्, कोष, देश, किला और सेना ये राजाके सात अंग हैं । इन सात अंगोंमेंसे प्रधान अंग मन्त्री है, यदि यह बना रहे तो बिगड़ा हुआ सब बन जाता है ? यथा—**'तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा ।'**; इस कारण उसने **'पावा राज कोष पुर नारी ।'** तथा विभीषणजीके साथ चार मन्त्री हैं। (ख) **'नभपथ गएऊ'**—देवता और राक्षस प्रायः आकाशमार्गसे चला करते हैं—(समुद्र पार जानेमें आकाशमार्ग ही इनको सुगम होगा) । अथवा, सभा भारी है, इससे सबको सुनानेके लिये नभपर गये, ऊँचेपरसे सबको सुनायी पड़ेगा । अथवा रावणने जो कहा था कि **'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती'**, उसीसे नभमें गये कि हम अब लंका-पुरवासी नहीं हैं, हम राजा हैं, जब यह पुरी हमारी होगी तभी हम इसपर पैर रखेंगे । यह भाव **'उर कछु प्रथम बासना रही'** एवं गी० ५ । ३० के **'राम गरीब निवाज निवाजिहैं जानिहैं ठाकुर ठाउँ गो'** से निकलता है । (क) सबको सुनाकर लोकरीतिसे निर्दोष हुए ।

नोट—२ बाबा जयरामदासजी लिखते हैं कि ''श्रीविभीषणजीको **'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती'** ये वचन सहन न हो सके; क्योंकि भक्तको अपना अपमान सहन हो सकता है, पर अपने इष्टके प्रति कहे हुए अपमानके वचन उनके मर्मको बेध डालते हैं । 'मम पुर' से उसने अपनेको सम्राट् और विभीषणजीको अपने राज्यमें बसनेवाली साधारण प्रजा सूचित किया । एवं 'तपसिन्ह' शब्दसे श्रीरामलक्ष्मणजीको गृहादिसे हीन, अनिकेत बतलाकर यह सूचित किया कि तू भी बिना घर-द्वारका बन जा । इसलिये विभीषणजीके अन्तःकरणमें यह स्फुरणा हुई कि देखें यह अब वास्तवमें किसका ठहरता है । जिस प्रभुका समस्त जगत् है उसे गृहहीन बताना और अपनेको राजा मानना ! यदि भगवान्‌की विभूति सत्य है तो निश्चय है कि भगवान्‌का दास इसका अधिकारी बनेगा । इसी वासनाके अनुसार विभीषणजी **'सचिव संग लै नभ पथ गयऊ'**, अन्यथा भगवान्‌की शरणमें जानेके समय सचिवको साथ लेनेकी क्या आवश्यकता थी ? इसी अभिप्रायको आगे चलकर गोस्वामीजीने **'उर कछु प्रथम बासना रही'** से व्यक्त कर दिया है ।

यद्यपि **'उर बासना'** का निराकरण भी श्रीरघुनाथजीकी सन्निधि प्राप्त होते ही हो गया और **'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं'** इस वचनसे भगवान्‌ने उसे स्वीकृत भी कर लिया, तथापि श्रीभगवान्‌ने **'मोर दरस अमोघ जग माहीं'**, **'अस कहि राम तिलक तेहि सारा ।'**-इस प्रकार उस पुरको अपने दासका बनाकर ही छोड़ा और रावणके **'मम पुर'** असिद्ध कर दिया।'

वाल्मी० तथा अ० रा० से पता चलता है कि विभीषणजी सभाके मध्यसे उड़कर आकाशमें गये, यथा— **'उत्पपात गदापाणिश्चतुर्भिः सह राक्षसैः । वाल्मी० ६ । १६ । १६ ।'**, **'उत्पपात सभामध्याद् गदापाणिर्महाबलः ।** अ० रा० ६ । २ ।

३२ ।' वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि उस कालमें व्योमयानोंकी भरमार थी । महर्षि भरद्वाजजीने अपने 'आशुबोधिनी' ग्रन्थमें आठ प्रकारके व्योमयानोंकी चर्चा की है। 'आशुबोधिनी' के—'शक्त्युद्गमाद्यष्टौ' इस सूत्रपर वृत्ति करते हुए भगवान् बोधायन पुरुषोत्तमाचार्यजीने आठोंका नाम-भेद बतलाया है कि—'शक्त्युद्गमो भूतबाहो धूमयानः शिखोद्गमः। अंशुवाहस्तारामुखो मणिबाहो मरुत्सखः ॥' मानसकार भी बतलाते हैं कि—'सती बिलोकेउ ब्योम बिमाना । जात चले सुंदर बिधि नाना ॥ 'मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गयउ अकास ।', 'चला गगनपथ आतुर भय रथ हाँकि न जाइ ।' लंकामें अनेकों तरहके वायुयान थे। पुराणोंमें विभीषणजीके पास भी व्योमयानका होना वर्णित है । परंतु विभीषणजी मन्त्रियोंको लेकर विमानसे इस पार नहीं आये थे; सभासे उड़कर सीधे श्रीरामजीके पास उड़ते हुए ही आये थे, रावणकी कही जानेवाली कोई वस्तु साथ नहीं ली थी ।

३ मिलान कीजिये—'चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं गगनस्थोऽब्रवीद्वचः ।···कालो राघवरूपेण जातो दशरथालये ॥ ३४ ॥ तेनैव प्रेरितस्त्वं तु न शृणोषि हितं मम ॥ ३६ ॥ अध्यात्मरा० ६ । २ ।' अर्थात् अपने चारों मन्त्रियोंको साथ लेकर विभीषणजी आकाशमें स्थित होकर ये वचन बोले 'तुम्हारा काल ही राघवरूपसे दशरथजीके घरमें पैदा हुआ है, उसीकी प्रेरणासे तुम मेरे हितकारी वचन नहीं सुनते ।'

टिप्पणी—२ (क) 'राम सत्यसंकल्प प्रभु' इति । अर्थात् उनकी प्रतिज्ञा सत्य है, इसीसे तुझे उपदेश नहीं लगता, उपदेश लगता तो उनकी प्रतिज्ञा ही झूठी हो जाती । ['प्रभु'का भाव कि—(१) जो प्रतिज्ञा की, उसे सत्य कर दिखानेकी सामर्थ्य भी उनमें है । (२) मा० त० सु०—यद्यपि वे तुझे मारनेका संकल्प कर चुके हैं तथापि यदि तू शरणमें जाय तो वे अपना संकल्प छोड़कर तुझे स्वीकार कर लेते] (ख)—'सभा काल बस तोरि'—भाव कि इसी कारण किसीको मेरी राय अच्छी नहीं लगती, यथा—'हित मत तोहि न लागत कैसे । काल बिबस कहुँ भेषज जैसे ॥' हमने कालसे बचानेके बहुत उपाय किये; पर वे कुछ काम नहीं आये । कारण यह कि 'निसिचरहीन करउँ महि···' यह श्रीरामजीकी प्रतिज्ञा असत्य नहीं हो सकती । श्रीरामजीकी प्रतिज्ञा केवल रावणवधकी नहीं है वरन् निशाचरमात्रके वधकी है, इसीसे सारी सभाको कालके वश कहा ।

वि० त्रि०—'सभा' इति । महाभारतमें कहा है कि वह सभा सभा नहीं है, जिसमें वृद्ध न हों । और वे वृद्ध वृद्ध नहीं हैं जो धर्म न कहें तथा वह धर्म धर्म नहीं है जहाँ सचाई नहीं एवं वह सचाई सचाई नहीं जिसमें छल हो । अतः सभामें प्रवेशके लिये धर्म-शास्त्रोंमें बड़े कठिन नियम हैं । उनमें स्पष्ट लिखा है कि सभामें न जाना चाहिये और यदि जाय तो साफ बात कह दे, क्योंकि विरुद्ध कहनेवाले और चुप रहनेवाले दोनों पापी हो जाते हैं । जिस सभामें धर्म अधर्मसे मारा पड़ता है, वहाँके सभासदोंको ही मरा समझना चाहिये । रावणकी सभामें इतना बड़ा अन्याय विभीषणजीके साथ हुआ और सभासद् सब चुप बैठे रह गये, न कोई बोला, अतः विभीषणजी कहते हैं—'सभा काल बस तोरि ।'

नोट—४—दोहेसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'तदन्यथा कथं कुर्यात्सत्यसङ्कल्प ईश्वरः । अ० रा० ६ । २ । ४३ । हनिष्यति त्वां रामस्तु सपुत्रबलवाहनम् । हन्यमानं न शक्नोमि द्रष्टुं रामेण रावण ॥ ४४ ॥ त्वां राक्षसकुलं कृत्स्नं ततो गच्छामि राघवम् ॥ ४५ ॥' अर्थात् ईश्वर सत्यसंकल्प हैं, इसलिये वे अपनी प्रतिज्ञाको अन्यथा कैसे कर सकते हैं । अतः श्रीराम अवश्य आपको पुत्र, सेना और वाहनादि सहित मारेंगे । मैं आपका तथा राक्षस-वंशका संहार नहीं देख सकता । अतः मैं श्रीरघुनाथजीके पास जाता हूँ ।

वाल्मी० में भी आकाशमें स्थित होकर यही कहा है कि समस्त प्राणियोंके नाशक कालकी फाँसीमें बँधकर नष्ट होते देख हमने हितकी कामनासे कहा था । तुम्हारा और निशाचर-कुलका नाश मुझसे नहीं देखा जा सकता । तुम बड़े भाई हो पर अधर्ममें रत हो । इत्यादि ।

टिप्पणी—३ (क) प्रतिज्ञा तो है पृथ्वीको निशाचरहीन करनेकी और निशाचर तो विभीषणजी भी हैं ? उसीपर वे कहते हैं कि 'मैं रघुबीर सरन जाउँ···' । इससे यह भी उपदेश है कि जो कोई उनकी शरण जायँगे वे ही उनकी प्रतिज्ञासे बचेंगे, वे शरणागतको नहीं मारते । 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि', 'आये सरन तजउँ नहिं', यह उनका व्रत है । ['रघुबीर' शब्दसे सूचित किया कि वे पंचवीरतायुक्त हैं, शरणमें जानेपर वे मुझपर दया करेंगे, तुमसे मेरी रक्षा करेंगे, । वे तुमसे अधिक विक्रमसम्पन्न हैं, धर्मात्मा हैं, बातके पक्के हैं । ऐसेहीकी शरणमें जाना योग्य है । यथा—'बीर महा अवराधिये

जेहि साधे सिधि होइ। (वि०)] (ख) लोक-वेद दोनोंसे निर्दोष होकर प्रभुकी शरण होना यह सर्वोपरि है। लोक-वेद दोनों शुद्ध होने चाहिये—वेदमत यह कि जहाँतक बल-बुद्धि चली वहाँतक मृत्युसे बचानेका प्रयत्न किया। यथा—'मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम्। यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः' इति भागवते। इस प्रकार समझाकर वेदसे शुद्ध हुए। और, सबको सुनाकर लोकसे शुद्ध हुए।

रा० शं० श०—१ विभीषणने रावणके हितके बहुत उपाय किये—(१) अपना कल्याण आदि चाहते हो तो जानकीजीको दे दो। यह न माना तब (२) मरनेका भय दिखाया और अन्तमें यह उपाय किया कि (३) तेरी सभा कालबस है। सबको सुनाकर कहनेका अभिप्राय है कि सभावाले अपना काल समझकर अपने बचनेके लिये रावणको समझावेंगे, तब भी हमारा काम बनेगा। यह अन्तिम उपाय करके चले गये।

२—मन्दोदरीने भी यही कहा था, उसे क्यों न मारा? कारण कि उसने समझा कि यह भीरु-स्वभाव है; भयभीत होनेसे ऐसा कहती है और विभीषणके कहनेपर समझा कि यह मेरे राज्यका अभिलाषी है, और शत्रुके पक्षमें है।—[पुनः रावण महाकामी है और यह एक तो उसकी प्रिया है, दूसरे उससे भय नहीं है कि वह पतिको छोड़कर शत्रुसे जा मिलेगी]।

सरयूदासजी—यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि विभीषण समुद्रपार जाकर क्यों शरण हुए, प्रभु तो आते ही थे यहीं शरणागति कर लेते तो क्या अनुचित होता? उत्तर—अनुचित तो कुछ न था; परंतु ऐसा करनेसे तृतीय शरणागतिका स्वरूप नष्ट हो जाता जैसा स्वरूप श्रीमहर्षिजीने दिखाया है—'परित्यक्ता मया लंका मित्राणि च धनानि च'। सबका त्याग तीसरी शरणागति (प्रातिकूलस्य वर्जनम्) का स्वरूप है। (तुलसीपत्रसे।—दूसरा कारण टिप्पणीमें है)।

प्रोफे० पं० रा० चं० शुक्लजी—गृहनीतिकी दृष्टिसे विभीषण शत्रुसे मिलकर अपने भाई और कुलका नाश करनेवाले दिखायी पड़ते हैं, पर और विस्तीर्ण क्षेत्रके भीतर लेकर देखनेसे उनके इस स्वरूपकी कलुषता प्रायः नहींके बराबर हो जाती है। गोस्वामीजीने इसी विस्तृत दृष्टिसे उनके चरित्रका चित्रण किया है। विभीषण रामभक्त थे, अर्थात् सात्त्विक गुणोंपर श्रद्धा रखनेवाले थे। वे रामके लोकविश्रुत शील, शक्ति और सौन्दर्यपर मुग्ध थे, भाईके राज्यके लोभके कारण वे रामसे नहीं मिले थे। इस बातका निश्चय उनके बार-बार तिरस्कार होनेपर भी रावणको समझाते जानेसे हो जाता है। यदि उन्हें राज्यका लोभ होता तो वे एक ओर तो रावणको युद्धके लिये उत्तेजित करते, दूसरी ओर शत्रुकी सहायता करते। पर वे रावणकी लात खाकर खुल्लमखुल्ला रामकी शरणमें यह कहते हुए गये—'राम सत्य संकल्प प्रभु···देहु जनि खोरि'।

लोभवश न सही, शायद विभीषण भाईके व्यवहारसे रूठकर क्रोधवश रामसे जा मिले हों। इस संदेहका निवारण रावणके लात मारनेपर विभीषणका कुछ क्रोध न करना दिखाकर गोस्वामीजीने किया है। लात मारनेपर विभीषणजी इतना ही कहते हैं—'तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा॥' वाल्मीकिका वर्णन इसी प्रकार है।

इस स्थानपर गोस्वामीजीका चरित्र-निर्वाह-कौशल झलकता है। यदि यहाँ थोड़ी-सी भी असावधानी हो जाती, विभीषण क्रोध करते हुए दिखा दिये जाते, तो जिस रूपमें विभीषणका चरित्र वे दिखलाया चाहते थे, वह बाधित हो जाता, अधिकतर यही समझा जाता कि क्रोधके आवेशमें विभीषणने रावणका साथ छोड़ा। कविने विभीषणको साधु-प्रकृति बनाया। हरी हुई सीताको लौटानेके बदले रावणका रामसे लड़नेके लिये तैयार होना असाधुताकी चरम सीमा थी, जिसे विभीषणकी साधुता न सह सकी, गोस्वामीजीका पक्ष यह है। विभीषणकी साधुता औसत दरजेकी थी। वह इतनी बढ़ी नहीं थी कि रामद्वारा दिये हुए भाईके राज्यकी ओरसे वे उदासीनता प्रकट करते।

नोट—५ रावणके प्रति कहे हुए विभीषणजी और हनुमान्‌जीके वाक्योंकी समता—

श्रीविभीषणजी	श्रीहनुमान्‌जी
१ पाइ अनुसासन	कह लंकेस
२ बोला बचन	सुनु रावन०
३ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं॥	रिषि पुलस्त्य जस बिमल मयंका। तेहि कुल महँ जनि होसि कलंका॥
४ काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ। सब परिहरि रघुबीरहिं भजहु०॥	मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान। भजहु राम रघुनायकहिं०॥

५ 'तात राम नहिं नर भूपाला' से 'बेदधर्मरक्षक सुनु भ्राता' तक	'ब्रह्मांडनिकाया' से 'बधे सकल अतुलितबलसाली' तक
६ ताहि बैर तजि नाइय माथा	तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै
७ प्रनतारतिभंजन रघुनाथा	प्रनतपाल रघुबंसमनि करुनासिंधु०
८ देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही	मोरे कहे जानकी दीजै ।
९ भजहु राम बिनु हेतु सनेही	रामचरनपंकज उर धरहू ।···
१० सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा ।···	गए सरन प्रभु राखिहहिं सब···
११ बिनय करौं कर जोरि	बिनती करौं जोरि कर रावन
१२ परिहरि मान मोह मद०	सुनहु मान तजि मोर सिखावन
१३ तव उर कुमति बसी बिपरीता	उलटा होइहि कह हनुमाना
१४ बुध पुरान श्रुति संमत बानी	भगति बिबेक बिरति नयसानी
१५ सुनत दसानन उठा रिसाई	सुनि कपिबचन बहुत खिसिआना
१६ अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा	सुनत निसाचर मारन धाए
१७ सचिव संग लै नभपथ गयऊ	निबुकि चढ़यो कपि कनक अटारी

अस कहि चला बिभीषन जबहीं । आयूहीन भए सब तबहीं ॥ १ ॥
साधु अवज्ञा तुरत भवानी । कर कल्यान अखिल कै हानी ॥ २ ॥
रावन जबहि बिभीषनु त्यागा । भएउ बिभव बिनु तबहिं अभागा* ॥ ३ ॥

अर्थ—ऐसा कहकर जभी विभीषण चले तभी सब निशिचर आयुहीन हो गये (अर्थात् 'सभा कालबस तोरि' विभीषणका यह कहना ही शापरूप हो गया) ॥ १ ॥ हे भवानी ! साधुका अपमान तुरंत सम्पूर्ण कल्याणकी हानि करता है ॥ २ ॥ रावणने जभी विभीषणका त्याग किया उसी समय वह भाग्यहीन वैभवरहित हो गया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'आयूहीन भए सब तबहीं' इति । भाव कि (क) (आध्यात्मिक दृष्टिसे वि० ५८ में जो साङ्गरूपक कविने दिया है उसमें शरीरको ब्रह्माण्ड, प्रवृत्तिको लंकादुर्ग, मोहको दशमौलि और जीवको विभीषणसे रूपित किया है इस प्रकार) लङ्कामें विभीषण जीवरूप थे, यथा—'जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसितचिंता।' (विनय० ५८)। जीवके निकल जानेसे सब आयुहीन हो गये । अथवा, (ख)—अनादर करनेसे आयुहीन कहा जैसा आगे कहते हैं—'साधु अवज्ञा तुरत···'। अखिल कल्याणमें प्रथम आयुको कहा है, यथा—'आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष (लोकान् वासांसि) एव च । हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥' (भा०)।

२ पूर्व कहा कि 'सबहि सुनाइ कहत अस भयऊ' और यहाँ फिर कहते हैं कि 'अस कहि चला'। इससे जान पड़ता है कि दोहेकी बातको बार-बार कहा ।—(नोट—पर यह जरूरी नहीं है । पहले कहते हैं कि ऐसा सबको सुनाकर कहा । और अब कहते हैं कि सुनाकर चल दिये ।)

मा० त० सु०—'तबहीं' का भाव यह है कि यद्यपि 'निसिचरहीन करौं महि' यह प्रभुकी प्रतिज्ञा होते ही वे आयुहीन हो गये थे, तथापि प्रभु भक्तवश हो प्रतिज्ञाका परित्याग भी करते हैं; अतएव जब विभीषणने कहा था कि 'सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा' इसपर यदि रावण वहाँ जाता तो वह अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देते । फिर जब विभीषणजीने कहा कि 'सभा कालबस तोरि' तब प्रभुकृत प्रतिज्ञा दृढ़ हो गयी । अतः उसी समय वे आयुहीन हो गये यथा वाल्मी० युद्धकाण्डे १९ सर्ग श्रीरामवाक्यम् 'अहत्वा रावणं संख्ये सपुत्रबलबान्धवम् । अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि त्रिभिस्तैर्भ्रातृभिः शपे ॥ २१ ॥' अर्थात् पुत्रकुटुम्बसेनासहित रावणका वध किये बिना मैं अयोध्यामें नहीं प्रवेश करूँगा, मैं तीनों भाइयोंका शपथ करता हूँ । इस उक्तिके अनुसार वे इसी समय आयुहीन हुए ।

टिप्पणी—३ 'साधु अवज्ञा तुरत···' इति । (क) 'तुरत'का भाव कि और पापोंका फल विलम्बसे होता है पर इसका

* प्र० चं०—'साधु०' अनुकूल है, शेष सब पायकुलक हैं । 'अस कहि···हानी' में 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है ।

फल तुरंत मिलता है। और पाप एक-दो ही कल्याणोंके नाशक हैं और यह समस्त कल्याणोंका। 'तुरत' और 'अखिल' शब्द देकर इस पापका, भागवतापराधको सबसे भारी जनाया। (ख) साधुके आदरका फल शीघ्र मिलता है—'देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ'। वैसे ही यहाँ दिखाया कि अनादरका फल भी शीघ्र मिलता है। आगे 'तुरत' शब्दको चरितार्थ करते हैं—'रावन जबहिं''तबहिं'। और इसी विचारसे ४२ (१) में भी 'जबहीं' 'तबहीं' पद दिये गये।

४ [(क) 'रावन जबहिं' ''त्यागा'—भाव कि विभीषणने रावणको नहीं त्यागा, रावणने ही उन्हें जबरदस्ती त्याग दिया] (ख) 'भयेउ बिभव बिनु तबहिं अभागा' इति। जिस सभामें साधुका अनादर हो उसमें अकल्याण होता है। अतएव सभाका अकल्याण (आयूहीन भये सब तबहीं) कहकर अब राजाका अकल्याण कहते हैं कि 'भयेउ बिभव बिनु'''। विभव=ऐश्वर्य, राजसम्पत्ति, सुखसामग्री। (ग) 'अभागा' का भाव कि सत्सङ्गकी प्राप्ति बड़े भाग्यसे होती है, यथा—'बड़े भाग पाइय सतसंगा। ७। ३३। ८।' और रावणने अपने घरके ही साधुको निकाल दिया। अतः अभागा है। अथवा, विभवके नाशसे अभागा कहा।

नोट—१ इसी बातको कवितावलीमें बड़ी मार्मिकतासे दूसरी प्रकारसे गोस्वामीजीने कहा है। यथा—'बेद बिरुद्ध महामुनि सिद्ध ससोक चराचर लोक उजार्‍यो। और कहा कहूँ तीय हरी तबहूँ करुनानिधि कोप न धार्‍यो॥ सेवक छोह ते छाड़ी छमा तुलसी लख्यो राम सुभाउ तिहार्‍यो। तौलौं न दाप दल्यो दसकंधर जौ लौं बिभीषन लात न मार्‍यो। क० ७। ३।'

☞ देखिये श्रीमीराजीके छोड़ते ही रानाका सब वैभव जाता रहा, इसी तरह परम भागवत विभीषणको निकालते ही रावणका वैभव जाता रहा, जैसा कवितावलीमें ऊपर दिखा आये हैं। इस समय उसका वैभव अब ऐसा ही है जैसे खोखला वृक्ष बाहरसे देखनेभरका वृक्ष है। 'सुमति' अब चली गयी, केवल कुमति रह गयी। उसका परिणाम आगे विपत्ति ही-विपत्ति है। यहाँ 'प्रथम विनोक्ति अलंकार' है।

वि० त्रि०—विभीषणने रावणको नहीं त्यागा। रावणने ही विभीषणका त्याग किया। 'बधो वा त्यागो वा'। त्याग भी वध ही है। अब तीनों लोकोंमें विभीषणको कहीं शरण नहीं है, यथा—'रावन रिपुहि राखि रघुबर बिनु को तिभुवन पति पाइहै।' इतनेपर भी विभीषणजी माँके पास गये, उसकी अनुमति ली; तब बड़े भाई कुबेरजीके यहाँ गये। वहाँ शंकर भगवान्‌से भेंट हुई, उन्होंने मन्त्र दिया, 'राम की सरन जाहि सुदिन न हेरै।'; अतः विभीषणजी तो रामजीके शरण जाकर बड़भागी हुए, पर रावण विभीषणके त्यागनेसे अभागा हो गया। विभीषणके रहनेसे रावणकी सर्वत्र विजय थी, विभीषणके त्यागसे उसका विजयरथ टूट गया। यदि दाँत जीभका परित्याग करे तो उसका परम अभाग्य समझना चाहिये।

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥ ४॥

अर्थ—(श्रीविभीषणजी) मनमें बहुत मनोरथ करते हुए हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीके पास चले॥ ४॥

☞ गीतावली सुन्दरकाण्डके निम्न पदोंसे 'बहु मनोरथ' स्पष्ट हो जाते हैं।—

पद पदुम गरीबनिवाज के। देखिहौं जाइ पाइ लोचन फल हित सुर साधु समाज के॥
गई बहोर ओर निर्वाहक साजक बिगरे साज के। सबरी सुखद गीध गतिदायक समन सोक कपिराज के॥
नाहिन मोहि और कतहूँ कछु जैसे काग जहाज के। आयो सरन सुखद पदपंकज चोंथे रावन बाज के॥
आरतिहरन सरन समरथ सब दिन अपने की लाज के। तुलसी पाहि कहत नत पालक महूँसे निपट निकाज के॥२९॥'
'महाराज राम पहिं जाउँगो। सुख स्वारथ परिहरि करिहौं सोइ साहिबहि सोहाउँगो॥
सरनागत सुनि बेगि बोलिहैं हौं निपटहिं सकुचाउँगो। राम गरीबनिवाज निवाजि हैं जानि हैं ठाकुर ठाउँगो॥
धरिहैं नाथ हाथ माथे एहि तें केहि लाभ अघाउँगो। सपनो सो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लुभाउँगो॥
कहिहौं बलि रोटिहा रावरो बिनु मोलही बिकाउँगो। तुलसी पट ऊतरे ओढ़िहौं उबरी जूठन खाउँगो॥ ३०॥'

ये सब मनोरथ दर्शनके अन्तर्गत हैं, अन्य वासनाकृत मनोरथ नहीं हैं। किस प्रकारके मनोरथ करते हैं, यह कवि यहाँ भी स्वयं आगे लिखते हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'रघुनायक' इति। कृपणके पास जानेसे एक भी मनोरथकी सिद्धिका निश्चय नहीं होता पर सभी रघुवंशी उदारशिरोमणि हैं और ये तो उनके राजा तथा सबसे श्रेष्ठ हैं; यहाँ सभी मनोरथके सिद्ध होनेका भरोसा है, अतः 'रघुनायक' के पास चले और 'बहुत मनोरथ' करते हुए चले। गी० २९ में सकाम मनोरथ करना दिखाया है। वही यहाँ

(आगे) अहल्या और दण्डकवनकी पावनतासे जनाया। पद ३० में निष्काम भक्ति कहकर जनाया कि विभीषणजी निष्काम मनोरथ कर रहे हैं…। (ख) 'हरषि' इति। जब पहिले चलना कहा तब हर्ष न कहा था। यथा—'अस कहि चला बिभीषन जबहीं'। और अब हर्षित होकर चलना कहते हैं। भाव यह कि पहले चलनेके समयमें लोकलाजका संदेह था। जब माता और कुबेरने आज्ञा दे दी तब हर्षपूर्वक चले। पुनः, जब माताके पास गये, एवं जब कुबेरके पास गये, तब शकुन न हुए थे; परन्तु जब श्रीरामजीके पास चले तब शकुन हुए, वही बात मानसमें 'हरषि' पदसे जनायी। हर्ष हुआ कि दुष्ट संग छूटा, अब दर्शन होगा।

मिलान कीजिये—'जाइ माय पायँ परि कथा सो सुनाई है। समाधान करति बिभीषन को बार बार, कहा भयो तात लात मारे बड़ो भाई है॥ साहिब पितु समान जातुधान को तिलक ताके अपमान तेरी बड़ीयै बड़ाई है। गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति रोष कियें दोष सहें समुझे भलाई है॥ इहाँ ते बिमुख भये राम की सरन गये भलो नेकु लोकु राखे निपट निकाई है। मातुपग सीस नाइ तुलसी असीस पाइ चले भले सगुन कहत मन भाई है॥ गी० २६॥'

'भाई कैसो करों डरों कठिन कुफेरैं। सुकृत संकट परेउ जात गलानिन्ह गरयो कृपानिधिको मिलों पै मिलि कै कुबेरैं॥ जाइ गहे पाँय धाइ धनद उठाइ भेंट्यो समाचार पाइ पोच सोचत सुमेरैं। तहँई मिले महेस दियो हित उपदेस राम की सरन जाहि सुदिन न हेरैं॥ जाको नाम कुंभज कलेससिंधु सोखिबे को मेरो कह्यो मानि तात बाँध जिनि बेरैं। तुलसी मुदित चले पाये हैं सगुन भले रंक लूटिबे को मानों मनगनि ढेरैं॥ गी० ५। २७॥',

'संकर सिख आसिष पाइकै। चले मनहिं मन कहत बिभीषन सीस महेसहि नाइकै॥ गये सोच भये सगुन सुमंगल दस दिसि देत देखाइकै। सजल नयन सानंद हृदय तन प्रेम पुलक अधिकाइ कै॥ गी० ५। २८॥'

श्रीलमगोड़ाजी—अंग्रेजीके विद्वान् मित्र विभीषणजीके 'करत मनोरथ बहु मन माहीं' इस मननकी तुलना शेक्सपियरके नाटकोंकी स्वगत वार्ताओं (Soliloquy) से करें और देखें कि वे कितने कृत्रिम हैं। कविके गुप्त होनेसे ही उस कृत्रिम साधनका प्रयोग होता है। अभिनेताको प्रगतियोंसे अवश्य ही कुछ प्रकट करना होगा, (जैसे, आँख या हाथके संकेतसे); तभी मूक रंग-मंचपर इस मनके मनोरथकी कविद्वारा व्याख्या अच्छी लगेगी। (जैसे 'इन्ह नयनन्ह' और 'अब' इत्यादिके साथ)।

देखिहौं जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥ ५॥
जे पद परसि तरी रिषि नारी। दंडक कानन पावनकारी॥ ६॥

अर्थ—जाकर चरणकमलोंको देखूँगा जो लाल, कोमल और सेवकोंको सुख देनेवाले हैं॥ ५॥ जिन चरणोंको छूकर ऋषिपत्नी अहल्या तर गयी और जो दण्डकवनके पवित्र करनेवाले हैं॥ ६॥

रा० शं० श०—'देखिहौं…'। देखना तीन प्रकारका है, आँखोंसे देखना, हाथसे स्पर्श करके मालूम करना; हृदयसे महिमा विचार करना। विभीषणजी कहते हैं कि नेत्रोंसे मैं चरणोंकी ललाई देखूँगा, हाथसे छूकर कोमलता देखूँगा और हृदयसे सेवकसुखदातत्व महिमाको विचार करूँगा।

वीरकवि—'देखिहउँ जाइ…' में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। यहाँ विभीषणके मनमें ईश्वरदर्शनकी इच्छासे अपूर्व उत्कण्ठाका उत्पन्न होना 'देवविषयक रति स्थायी भाव' है।

टिप्पणी—१'देखिहौं जाइ…' इति। (क) विभीषणजी रामभक्त हैं। इसीसे चरणदर्शनकी अभिलाषा कर रहे हैं, यथा—'तेहि माँगेउ भगवंतपद कमल अमल अनुराग। १। १७७।' ☞ औरोंको उपदेश है कि सब छोड़कर एकमात्र प्रभुके चरणकमलके दर्शनोंका मनोरथ करें। (ख) विभीषणजीको शकुन हुए। वे हर्षित होकर चले हैं, इसीसे कहते हैं कि 'देखिहौं जाइ…'। यथा—'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी। ५। १। ३।' (ग) कमल कई प्रकारके हैं, अतः 'अरुण' कहा। (घ) 'जलजात अरुण मृदुल' से चरणोंका स्वरूप कहा। 'सेवक सुखदाता' से फल कहा। देखते ही सेवकको सुख देते हैं, यह चरणदर्शनका फल है। 'जे पद परसि तरी…' से स्पर्शका फल कहा। 'जे पद जनकसुता उर लाए…' और 'हर उर सर सरोज पद जोई' में ध्यान करनेवालोंको कहा। और, 'जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि…' में मज्जन कहा; क्योंकि भरतजी इनका नित्य पूजन करते हैं—'नित पूजत प्रभु पाँवरी…'।

२ (क) ऋषिपत्नी और दण्डकवनको एक साथ कहा। क्योंकि दोनों व्यभिचारके कारण ही शापित हैं, दोनों जड़

हैं, दोनोंका प्रायश्चित्त प्रभुके चरणोंसे हुआ और प्रभुने दोनोंको उनके यहाँ जा-जाकर तारा है। (ख) 'जे पद परसि तरी···' का भाव इन उद्धरणोंमें है—'सिलासापमोचन चरन सुमिरहु तुलसीदास। तजहु सोच संकट मिटहि पूजिहि मनकी आस॥', 'सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ। वि० १००।', दंडक बन पावन करन चरन सरोज प्रभाउ। ऊसर जामहिं खल तरहिं होइ रंक को राउ॥' इति रामाज्ञाग्रन्थे। ३।१।' (ग) अहल्या, दण्डकवन और कपटमृगको श्रीरामजीने चलकर कृतार्थ किया। ये तीनों निम्नकोटिके हैं जिनको चर्मचक्षुओंसे दर्शन हुआ। श्रीजानकीजी, श्रीभरतजी और श्रीशिवजी ये तीनों उत्तम सेवक हैं, उच्चकोटिके भक्त हैं जो चरणकमलकी सेवारूपी भजन करते हैं; इनको श्रीरामजी सदा ध्यानमें प्राप्त रहते हैं। तात्पर्य कि महात्मा लोग चरणोंको हृदयमें लाकर उनको सेवते हैं और पातकीको प्रभु चरणोंसे चलकर कृतार्थ करते हैं—ऐसे पतितपावन हैं। [विभीषणजी विचारते हैं कि मैं भी निम्नकोटिका होनेके कारण इन नेत्रोंसे श्रीचरणोंका दर्शन करूँगा। (श्रीजयरामदास दीन)]

वीरकवि—विभीषणजीके सभी मनोरथ साभिप्राय हैं। अरुण रजोगुणका सूचक है इससे राज्य पानेकी इच्छा और कोमलसे अल्पसाधनद्वारा मिलनेका अभिप्राय प्रकट होता है।

मा० त० सु०—(क) यहाँ अरुणका राज्यसम्बन्धी रजोगुणसूचक अर्थ असंगत है, क्योंकि तनिक भी वासना रहनेसे शुद्ध शरणागति नहीं होती, यथा गीतावली—'गयो छाँड़ि छल सरन रामकी जो फल चारि चारयौं जनै' (५।४०)॥ पुनः विभीषणजी ऐश्वर्यके उपासक हैं, अतः रजोगुण असम्भव है। (नोट—अध्यात्म० यु० स० २ में भी ऐसा ही कहा है। यथा—'विभीषणो रावणवाक्यतः क्षणाद् विसृज्य सर्वं सपरिच्छदं गृहम्। जगाम रामस्य पदारविन्दयोः सेवाभिकाङ्क्षी परिपूर्णमानसः॥ ४६॥' अर्थात् सन्तुष्टचित्त विभीषण रावणके कठोर भाषणसे एक क्षणमें ही समस्त सामग्रीके सहित अपने घरको छोड़कर भगवान् रामके चरणकमलोंकी सेवाकी कामनासे उनके पास चले गये।)। (ख) 'जे पद परसि···' यह दृष्टान्त है। इसके द्वारा दार्ष्टान्त दिखाते हैं।—अहल्याकी-सी बुद्धि मेरी है। (मा० म०)। वह तामसी बुद्धिसे नष्ट हुई, वैसे ही मैं बहिर्मुख हुआ। (ग) यहाँ विभीषणजीमें परम ऐकान्तिक प्रपन्नका लक्षण दिखाया है। अतः इनमें कुछ भी स्वार्थ-साधन आरोपित करनेसे वाल्मीकीय रामायणोक्त दीर्घ शरणागति व्यर्थ हो जाती है, यथा—'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः। ६। १७। १६।' परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च' (वाल्मी० ६। १९। ५)। अर्थात् स्त्री, पुत्र, लंका, मित्र और धन आदि सब कुछ परित्याग कर दिया, अब मेरे ये सब कुछ आप ही हैं। यह निरपेक्षता गीतावलीमें दिखायी है—'सपनो सो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लुभाउँगो। कहिहौं बलि रोटिहा रावरो बिन मोल ही बिकाउँगो···॥ ५। ३०।'

जे पद जनकसुता उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए॥ ७॥
हर उर सर सरोज पद जेई। अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई॥ ८॥*

अर्थ—जिन चरणोंको श्रीजानकीजी हृदयमें लायीं (धारण किया), जो कपटमृगके साथ उसे पकड़नेको दौड़े॥७॥ जो चरणकमल शिवजीके हृदयरूपी सरोवरमें निवास करते हैं—उन्हींको आज मैं (चर्म-चक्षुओंसे) देखूँगा। अहो मेरा परम धन्य भाग्य है!॥ ८॥

नोट—१ मिलान कीजिये श्रीमद्भागवतके स्कं० ११ अ० ५ श्लोक ३३–३४ से—'ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्। भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्। त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३४॥

२ 'उर लाये' अर्थात् संयोग, वियोग सर्वकाल हृदयमें धारण किये रहती हैं। इससे ऐकान्तिक स्नेह सूचित किया।

३ (क) हर-उर सर है, श्रीरामचरण कमल हैं, यह कहकर जनाया कि शिवजीका मन-भ्रमर इस कमलमें लुब्ध रहता है, यथा—'मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपतिपदकमल बसैहौं', 'रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥' पुनः, कमल सदा सरमें ही रहता है, वैसे ही श्रीरामपदारविन्द निरन्तर हर उरमें रहते हैं। (ख) यहाँ परम्परितके ढंगका 'सम अभेद-रूपक अलंकार' है।

टिप्पणी—१ (क) जनकसुता और मृग दोनों कपट (माया) के हैं; यथा—'पुनि माया सीता कर हरना', निज

* न० चं०—४१ (४, ५, ६, ८), 'जे पद०' पायकुलक, 'कपट०' नयमालिनी।

प्रतिबिंब राखि तहँ सीता ।', 'तब मारीच कपट मृग भयऊ'; और दोनों छबि देखते हैं, यथा--'जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम । सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम ॥ ३ । २९ ।', 'मम पाछे धर धावत धरे सरासन बान । फिरि फिरि प्रभुहिं बिलोकिहौं धन्य न मो सम आन ॥ ३ । २६ ।' अतः दोनोंको साथ रखा । (ख) श्रीशिवजी और श्रीभरतजी दोनों रामभक्तिके ज्ञाता हैं, यथा—'जानी है संकर हनुमान लषन भरत रामभगति ।' 'रामप्रेम पथ ते कबहुँ डोलति नहिं डगति । गी० २ । ८२ ।', 'राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लषन भरत । जिन्ह के हिय सुथल रामप्रेम सुरतरु लसत सरल सुख फूलत फरत ॥ वि० २५१ ।' शिवजी वैष्णवाग्रगण्य हैं, यथा—'वैष्णवानां यथा शम्भुः । भा० १२ । १२ । १६ ।' और श्रीभरतजी भी भक्तशिरोमणि कैसे हैं कि 'जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को ।' दोनों परमोच्चकोटिके भक्त हैं । श्रीशंकरजी पूज्य हैं, श्रीराम और श्रीभरत उनका पूजन करते हैं, अतः उनको भक्तोंकी गणनामें सर्वत्र प्रथम रक्खा है, वैसे ही यहाँ भी प्रथम कहा । अतएव इन दोनोंको पास-पास रखा । पुनः, (ग) दिखाया कि श्रीरामचरणमें सबका अधिकार है, स्त्री वा पुरुष कोई भी हो । पुरुषोंमें शिवजी, स्त्रियोंमें श्रीजानकीजी और अहल्याजी । श्रीजानकीजी तथा अहल्याजीके दृष्टान्तसे जनाया कि चाहे पतिव्रता हो चाहे व्यभिचारिणी दोनोंको अधिकार है । मारीच कपटी है, भरतजी और शिवजी निष्कपट हैं—इनके उदाहरणसे जनाया कि चाहे कपटी हो चाहे निश्छल दोनोंको अधिकार है । पुनः, दंडकवन जड़ है और अन्य सब चैतन्य हैं । दोनोंको कहकर जनाया कि जड़ हो वा चेतन दोनोंको अधिकार है ।

रा० शं० श०—श्रीविभीषणजीके हृदयमें श्रीरघुवीरपदकमलसे लाभ उठानेवालोंकी पहले दो उपमाएँ आयीं, पर सन्तोष न हुआ; क्योंकि उनकी गिनती महान्में नहीं है । अहल्या और दण्डकवन दोनों जड़ थे । अतएव तीन और उपमाएँ हृदयमें आयीं कि—जानकीजी आदिशक्ति हैं; वे भी इनका ध्यान करती हैं । दूसरे 'प्रभु समर्थ सर्वज्ञ सिव सकल कला गुन-धाम । जोग-ज्ञान वैराग्य निधि प्रनत कलपतरु नाम ॥' ऐसे महादेवजी भी हृदयमें उन्हें बसाये रहते हैं और तीसरे भरतजी, जिनकी महामहिमा त्रिदेव, सरस्वती आदि भी नहीं कह सकते, उनके पादुकाओंमें ही निमग्न रहते हैं । (आगे दोहा ४२ भी देखिये)।

पाँड़ेजी—श्रीजनकनन्दिनीजीका नाम लेनेमें आशय यह है कि यदि दूर ही रक्खेंगे तो सीताजीकी भाँति उनके चरणोंको हृदयमें धारण करूँगा । मैं कपटी हूँ, कदाचित् त्याग करें ? इसपर सन्तोष प्रकट करते हैं कि वे कपटी मृगके पीछे दौड़े हैं । परम्पराकी ओर देखकर विचारते हैं कि हमारे कुलके गुरुदेव शिव भगवान्के हृदयमें बसते हैं, आज मैं उन्हींका दर्शन करूँगा, अहोभाग्य है ।

टिप्पणी--२ 'अहो भाग्य' का भाव कि मेरा भाग्य जानकीजी, शिवजी और भरतजीसे भी अधिक है क्योंकि सब भगवान्के चरण ध्यानमें देखते हैं और मैं उन्हींको इन नेत्रोंसे देखूँगा ।

३ पूर्व चरणोंको जलजात विशेषण दिया--'देखिहौं जाइ चरन जलजाता ।' अब दिखाते हैं कि वह कमल किस तालाबमें है 'हर उर सर सरोज पद० ।'

दो०—जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ ।
ते पद आजु बिलोकिहौं इन्ह नयनन्हि अब जाइ* ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिन चरणोंकी पादुकाओं (खड़ाऊँ) में श्रीभरतजीने मनको लगा रखा है, उन चरणोंको आज अब जाकर इन नेत्रोंसे देखूँगा ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—१ 'भरत रहे' अर्थात् वे पादुकाएँ भरतजीको अवलम्ब हुईं, इसीसे वे (जीवित) रहे, नहीं तो न रहते, यथा—'सो अवलंब देव मोहि देई । अवधि पार पावउँ जेहि सेई ॥ २ । ३०७ । ८ ।' 'मन लाइ' अर्थात् उसीमें मन, वचन, कर्मको लगाये हैं, यथा—'नित पूजत प्रभु पाँवरी' (कर्म), 'प्रीति न हृदय समाति' (मन), 'माँगि माँगि आयसु करत राजकाज बहु भाँति' (वचन) । २ । ३२५ ।' (ख) विभीषणजीको चरणोंके दर्शनका बड़ा उत्साह है, इसीसे बारम्बार चरणोंके देखनेको कहा—'देखिहौं जाइ चरनजलजाता' (१) । 'अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई (२) । 'ते पद आजु बिलोकिहौं इन नयनन्हि अब जाइ (३) ।

'इन नयनन्हि' अंगुल्यानिर्देश है । तात्पर्य कि वे ध्यानमें देखते हैं और मैं प्रत्यक्ष देखूँगा । 'अब जाइ' का भाव कि

* म० चं०--वानर दोहा है ।

जब कुसंग छूटे तब भगवान्‌के दर्शन हों।

श्रीजयरामदासजी 'दीन'—यहाँ शरणागतिके छः विधान होनेके कारण ही छः भक्तोंका निर्देश हुआ है, यथा—'आनुकूलस्य सङ्कल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीतिविश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्यं षड्‌विधा शरणागतिः॥' (नारदपञ्चरात्र)

अतएव अहल्याकी भाँति सर्वसङ्कल्पशून्य 'अनुकूल' संकल्प, दण्डककी भाँति प्रतिकूलसे हानिकी शिक्षा ले 'प्रतिकूल-वर्जन', श्रीजनकसुताकी भाँति 'रक्षाका अतीव विश्वास'; मारीचकी भाँति 'ते नररूप चराचर ईसा' से 'गोप्तृत्ववरण', श्रीशिव भगवान्‌की भाँति 'आत्मसमर्पण', और श्रीभरतकी भाँति कार्पण्यकी दृढ़ता की गयी।

अहल्याके प्रथम स्मरणसे विभीषणके हृदयकी तत्कालीन सर्वोपायशून्यता तथा सब प्रकारकी दीनता, हीनता एवं जड़बुद्धिकी भावना प्रकट होती है। अहल्याकी शापावस्थासे उन्हें अपने विप्रशापका स्मरण हो जाता है, जिससे अपनेको भी निश्चित अवस्वरूप समझ उनके हृदयमें आशाका संचार होता है कि जिस प्रकार भगवान्‌ने निर्हेतु कृपाकर स्वयं जाकर अहल्या-का उद्धार किया था वैसे ही आज प्रभु यहाँ मेरा उद्धार करनेके लिये स्वयं पधारे हैं। इसी प्रकार शेष पाँच भक्तोंके स्मरण-के तद्वत् ही भाव उनके हृदयमें उठते हैं, जिनका वर्णन करनेसे लेख बहुत बढ़ जायगा। इस स्थलपर सम्मान्य ग्रन्थकारकी रचनापर मन न्यौछावर हो जाता है, उन्होंने तीन निम्न और तीन उच्च कोटिके जोड़े किस खूबीके साथ मिलाये हैं। निम्न-कोटिके शापग्रस्त हुए अहल्या और दण्डकके जोड़ेको आदिमें रक्खा। उच्च कोटिके श्रीशिव और भरतके जोड़ेको अन्तमें रक्खा; अब बचा एक जोड़ा, जिसमें एक परम उच्चकोटिकी श्रीसीताजी और दूसरा नीच कोटिका मारीच। इस जोड़ेको बीचमें रख दोनोंके बीचमें 'कपट' शब्द रख ऐसी योजना कर दी कि जिससे यह भेद खुल गया क्योंकि न तो असली जानकी-जी हैं—'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता' और न असली मारीच ही है—'भयउ कपट मृग तेहि छलकारी'। बस, केवल कपटकी क्रीड़ा है!

पश्चात्—'हर उर सरसरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहौं तेई॥'

इस 'अहोभाग्य' से उनके हृदयका आह्लाद स्पष्ट है, तथा—'जे हर हिय नयननि्ह कबहुँ निरखे नहीं अघाइ'—उन्हीं श्रीचरणकमलोंको आज मैं इन नयनोंसे देखूँगा!

वीरकविजी—यहाँ श्रीभरतजीके स्मरणसे ऐश्वर्य मद त्यागकर निरन्तर तप स्थलमें निवास कर चरणोंमें लय लगाने-का मनसूबा बाँधते हैं।

नोट—१ 'देखिहौं जाइ चरन जलजाता॥'''ते पद आज बिलोकिहउँ' इति। मिलान कीजिये विनयके पद २१८ से —'कबहुँ देखाइहौ हरि चरन? समन सकल कलेस कलिमल, सकल-मंगलकरन॥ सरदभव सुंदर तरुनतर अरुन बारिज बरन। लच्छि लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन॥ गंग जनक, अनंग अरि प्रिय, कपट बटु बलि छरन। बिप्रतिय नृग बधिक के दुख दोष दारुन दरन॥ सिद्ध सुर मुनिबृन्द बंदित सुखद सब कहुँ सरन। सकृत उर आनत जिन्हहिं जन होत तारन तरन॥ कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत आरति हरन। दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन॥'

श्रीनंगे परमहंसजी—जे पदपरसि तरी''''इसमें विभीषणजीने श्रीरामजीके चरणोंका प्रताप सूचित किया है कि इन चरणोंका स्पर्श करके अघी अहल्या तर गयी तो मैं भी तर जाऊँगा। जैसे दण्डक वन शापवश अपावन था और चरणस्पर्श-से पावन हो गया, वैसे ही निशाचर वंशमें उत्पन्न होनेके कारण मैं अपावन हो गया हूँ सो आज चरणस्पर्श करके पावन हो जाऊँगा। जनकसुता, शिवजी और भरतजी इन तीनों भक्तोंसे श्रीरामजीका चरण सेवित कहकर विभीषणजी अपने भाग्यकी सराहना कर रहे हैं कि जो ऐसे बड़ों-बड़ोंके मनसे सेवित हैं उन चरण-कमलोंको मैं बाह्य नेत्रोंसे देखूँगा।

'जे पद जनकसुता उर लाये' इत्यादिमें जो 'पद' शब्द है उससे केवल चरणका ध्यान समझना अयोग्य है, क्योंकि श्रीसीताजी सर्वाङ्गका ध्यान करती हैं, यथा—'जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम।' छबि शब्द सर्वाङ्गको सूचित करता है। इसी तरह श्रीशिवजी सर्वाङ्गका ध्यान करते हैं। यथा—'जो सरूप बस सिव मन माहीं', संकर सोइ मूरति उर राखी'।

मा० त० सु०—(क) चरणोंकी अपेक्षा पादुका अति तुच्छ होती है; उनका अवलंब ऐसे महान् भरतजीने लेकर समग्र वैभवका तिरस्कार किया—ऐसा आनन्द उनको इनसे प्राप्त हुआ। (ख) 'आजु' का भाव कि जिनकी प्राप्तिके लिये

मुनि लोग सर्वस्व त्यागकर नाना प्रकारके साधन करते हैं, यथा—'जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी'। ऐसे दुष्प्राप्य चरणकमलोंको मैं अल्पसाधन (केवल गमनमात्र)से अवलोकन करूँगा। (ग) 'इन नयनन्हि' अर्थात् इन्हें मुनि आदि ज्ञान-वैराग्य नेत्रोंसे देखते हैं। मैं साक्षात् इन चर्मचक्षुओंसे देखूँगा। (घ) यहाँ 'नयनन्हि' बहुवचन पद देकर जनाया कि आज भगवद्दर्शनसे यथार्थ नेत्रवान् मैं ही हूँगा।

पाँचों उदाहरणोंके भाव—अहल्या और दण्डकवनका शाप छूटा, मेरा ब्रह्मशाप छूटेगा और मैं आनन्दको प्राप्त हो जाऊँगा—'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं। ६। ११५।' श्रीजानकीजीकी तरह मैं अहर्निश हृदयमें धारण करूँगा। प्रभुने कपटमृगके कपटको न स्मरणकर उसके अभीष्टको पूरा किया, वैसे ही मेरे कपटमिश्रित भावको न स्मरण करके अभीष्ट पूर्ण करेंगे। हर मेरे गुरु हैं इस कारण मेरा परम्परागत सम्बन्ध है। अतएव जो मेरे गुरुके परम कल्याणकारक हैं उनको मैं जाकर देखूँगा। अहोभाग्य है! पुनः भरतजी तो पादुकावलंबी हैं; किन्तु मैं चरणावलंबी होऊँगा; अतः अहोभाग्य।

एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आएउ सपदि सिंधु एहि पारा॥ १॥

अर्थ—इस प्रकार प्रेमसहित विचार करते हुए (श्रीविभीषणजी) शीघ्र ही समुद्रके इस पार आये*॥ १॥

नोट—१ विभीषणजीकी इस दशा और विचारोंसे अक्रूरजीकी दशा और विचारोंका मिलान करने योग्य है। दोनों-की एक-सी दशा हो रही है, अतः उसका कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

'किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः। किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद् द्रक्ष्याम्यद्य केशवम्॥ ३॥ ममैतद् दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम्। विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः॥ ४॥ मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम्। ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित्तरति कश्चन॥ ५॥ ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः। यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रि-पङ्कजम्॥ ६॥ कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः। कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः पूर्वेऽतरन्यन्न-खमण्डलत्विषा॥ ७॥ यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः। गोचारणायानुचरैश्चरद्वने यद् गोपिकानां कुचकुंकुमाङ्कितम्॥ ८॥'''तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम्। रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः॥ १४॥ (भा० १०। ३८)

महात्मा अक्रूरजी मनमें ऐसा विचार कर रहे हैं—'मैंने ऐसा कौन सा मंगल कर्म किया है, कौन महान् तप किया है, अथवा सत्पात्रको दान दिया है जो आज मुझे भगवान्‌के दर्शन होंगे॥ ३॥ आज मेरा जन्म सफल हो गया कि मैं उन चरण-कमलोंको साक्षात् नमस्कार करूँगा, योगीलोग जिनको ध्यानमें देखनेकी चेष्टा करते हैं, ध्यानमें जिनका यथार्थ दर्शन वे नहीं कर पाते॥ ६॥ यह कंसकी मुझपर बड़ी कृपा हुई कि मुझे उन प्रभुके पास भेजा''॥ ७॥ जिन चरणोंकी ब्रह्मा-शिवादि देवता, लक्ष्मीजी और प्रेमी भक्तोंसहित बड़े-बड़े मुनि जिनकी आराधना करते हैं, उनका मुझे साक्षात् दर्शन होगा॥ ८॥ यही सब अहोभाग्य मैं 'देखब सोई' का भाव है॥ १४॥

श्लोक ४, ५ में जो विचार हैं कि मुझ विषयासक्तको उनका दर्शन परम दुर्लभ है तथापि यह भी कोई बात नहीं, मुझे भी दर्शन हो सकते हैं, जैसे नदीमें बहते हुए तिनके भी कभी-कभी इस पारसे उस पार लग जाते हैं—ये 'देखिहउँ जाइ चरन जलजाता॥ जे पद परसि तरी रिषिनारी। दंडककानन पावनकारी॥' इन चौपाइयोंमें आ जाते हैं। जैसे पापिनी अहल्या और दण्डक वनको दर्शन प्राप्त हुआ और उनके सब पाप-शाप मिट गये।

☞ यहाँतक 'अहोभाग्य मैं देखब सोई' वाले विचार हैं। दर्शन पानेपर क्या व्यवहार होगा वे मनोरथ आगे श्लोक १५ से २३ तक हैं।

टिप्पणी—१ मनोरथ करते चले थे और यहाँ अन्तमें लिखते हैं कि विचार करते आये। इससे मनोरथ और विचार यहाँ पर्याय सिद्ध हुए।

२—मनोरथमें रामायण कही, पर काण्डक्रम इसमें नहीं रखा। इसका कारण 'सप्रेम' शब्दमें पूज्य कविने दरसा दिया है। प्रेममें नेम नहीं रहता। विभीषणजीका श्रीरामचरणमें प्रेम है और 'रामहिं केवल प्रेम पियारा।' इसीसे सप्रेम विचार करते हुए आये। और श्रीरामचरणदर्शनकी अति उत्कण्ठा है, इसीसे 'सपदि' (शीघ्र) आये। यथा—'बहु बिधि

* प्र० चं०—'एहि०' चन्द्रो, 'आएउ' पायंकुलक।

करत मनोरथ जात लागि नहिं बार । १ । २०६ ।' जितनी देर विचारमें लगी, उतनेहीमें पार पहुँच गये और श्रीरामचरण-प्रेम तो शीघ्र ही भवसागर पार कर देता है, यह समुद्र कितना है ?

श्रीलमगोड़ाजी—हाँ; यह नियम अवश्य है कि पहले भक्त अपनेको पतित अवस्थामें समझकर 'पतितपावन' रूपका ही ध्यान करता है ।

कपिन्ह बिभीषनु आवत देखा । जाना कोउ रिपुदूत बिसेषा* ॥ २ ॥
ताहि राखि कपीस पहिं आए । समाचार सब ताहि सुनाए ॥ ३ ॥

अर्थ—वानरोंने विभीषणजीको आते देखा तो जान गये कि अवश्य यह शत्रुका कोई विशेष दूत है ॥ २ ॥ उसे रोक (ठहरा) कर सुग्रीवके पास आये और सब समाचार उनको सुनाये ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) ('आवत देखा' कहकर वानरोंकी सैन्य-रक्षा और स्वाम्याज्ञापालनमें सावधानता सूचित की)। (ख) चार मन्त्रियोंके साथ और बड़ा तेजस्वी देखकर विशेष दूत जाना और दूत जानकर मारा नहीं । ['विशेष दूत' क्योंकि चार शस्त्रधारी वीर (मन्त्री) भी साथ हैं और सभी आभूषणोंसे भूषित हैं । यथा—'ये चाऽप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीमविक्रमाः । तेऽपि सर्वायुधोपेता भूषणैश्च विभूषिताः—(वाल्मी० ६ । १७ । ३)] (ग) रिपुदूत इससे जाना कि वे समुद्र पार लंकाकी ओरसे आये हैं, आकाशमार्गसे निरवलंब आते देखा और वेष भी राक्षसका है । विभीषणजी निष्कपट हैं इसीसे उन्होंने अपना रूप नहीं बदला, असली रूपसे ही आये । सिन्धुके पार आकर पृथ्वीपर उतर पड़े, पैदल ही श्रीरामजीके पास चले, तब वानरोंने रोका । (घ) 'कोउ रिपुदूत बिसेषा'—यद्यपि विभीषणजीने बता दिया है कि हम रावणके भाई हैं, श्रीरामजीके दर्शनको आये हैं । पर उन्हें विश्वास न हुआ, यही जाना कि कोई दूत है, भाई नहीं है और न मिलने आया है । अतः 'कोउ' पद दिया और उसे कटकमें न आने दिया, बाहर ही रोक रक्खा ।

२ (क) 'ताहि राखि कपीस पहिं आए' इति । इससे ज्ञात होता है कि श्रीरामजी और सुग्रीवजी सेनाके बीचमें हैं । इसीसे उन्होंने विभीषणको आते नहीं देखा । वानर चारों ओरसे दलकी रक्षा कर रहे हैं, उनकी सब तरफ दृष्टि है; इसीसे उन्होंने आते देख लिया । (ख) 'समाचार सब ताहि सुनाए' से जनाया कि वानरोंने उनसे आनेका समाचार पूछा और उन्होंने सब बताया । क्या समाचार है ? यह यहाँ नहीं खोला, समाचारका खुलासा श्रीरामजीके सामने सुग्रीवके वचनोंमें कहा है—'आवा मिलन दसानन भाई' । बारंबार लिखनेसे ग्रन्थ बढ़ जाता, इससे एक ही जगह लिखा ।

नोट—वाल्मी० ६ । १७ में उन्होंने जो अन्तरिक्षमें स्थित होकर कहा है 'रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः । तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः ॥१२॥...सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः । त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ॥१६॥ सर्वलोकशरण्याय राघवाय महात्मने । निवेदयत मां क्षिप्रं विभीषणमुपस्थितम् ॥१७॥ अर्थात् 'राक्षसोंके राजा दुष्ट रावणका मैं छोटा भाई हूँ, विभीषण नाम है । उसने दुर्वचन कहकर दासके समान मेरा अपमान किया । मैं स्त्री पुत्रादि सबका त्यागकर श्रीराघवकी शरण आया हूँ । सब लोकोंको शरण देनेवाले महात्मा श्रीराघवसे आप निवेदन कर दें ।' वही यहाँ वानरोंसे कहना समझ लें । गीतावलीमें विभीषणजीने ऐसा ही श्रीरामजीसे कहा है । यथा—'बंधु अपमान गुरु गलानि चाहत गरन । पतित पावन प्रनतपाल करुना सिंधु ! राखिए मोहि सौमित्रि सेवित चरन । ५ । ४३ ।', 'तुम्हरे रिपुको अनुज बिभीषन बंस निसाचर जायो।...५ । ४४ ।' ['सुनाये' का भाव कि बिना आज्ञा लिये किसी आगन्तुकको राजाके पास ले जाना नीतिविरुद्ध है, यथा—'भूपद्वार तिन्ह खबर जनाई । दसरथ नृप सुनि लिये बोलाई ॥ १ । २९० ।', 'तुरत निसाचर एक पठावा । समाचार रावनहि जनावा ॥ ६ । १९ । १ ।' (मा० त० सु०)]

लमगोड़ाजी—नाटकीय कलाके हिसाबसे भी यहाँ उचित है, नहीं तो उत्कण्ठा भङ्ग हो जाती ।

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई । आवा मिलन दसानन भाई ॥ ४ ॥

अर्थ—सुग्रीवजीने कहा—हे रघुराई ! सुनिये, रावणका भाई मिलने आया है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) इन शब्दोंसे ज्ञात होता है कि वानरोंने विभीषणजीसे पूछा और उन्होंने सब हाल बताया कि मैं रावणका भाई हूँ, मेरा अपमान हुआ तब मैं शरणमें आया हूँ । (ख) यहाँ सुग्रीवका श्रीरामजीके पास आना नहीं लिखा

* प्र० चं०—'कपिन्ह...' तामरस; 'जाना...' (३, ४) पादाकुलक ।

पर इसका अध्याहार ऊपरसे कर लेना चाहिये कि जैसे वानर सुग्रीवके पास गये वैसे ही सुग्रीव श्रीरामजीके पास आये। यदि कहें कि दोनों एक ही जगह बैठे थे तो शंका होती है कि जब वानरोंने सुग्रीवसे कहा तब श्रीरामजीने भी सुन लिया, सुग्रीवके कहनेकी आवश्यकता ही कहाँ रही ? वानरराज सुग्रीव हैं और सुग्रीवके राजा रामजी हैं। इसीसे 'कपीस' और 'रघुराई' पद दिये। वानरोंने सुग्रीवसे कहा और सुग्रीवने रामजीसे [जहाँ राजाओंके अनुकूल काम करनेका भाव होता है वहाँ 'रघुराई' शब्द ग्रन्थकारने प्रयुक्त किया है, यथा-'इहाँ प्रात जागे रघुराई। पूछा मत सब सचिव बोलाई ॥ ६। १४। १।' 'सुनहु रघुराई' का भाव कि आपको नीतिका अवलंबन करना आवश्यक है। (मा० त० सु०)]

२ 'आवा मिलन दसानन भाई' में भाव यह है कि इससे क्या हित हो सकता है, रावणने कुछ छल सोचकर किसी उपायसे इसे भेजा है। सुग्रीवके अन्तःकरणका यह अभिप्राय उनके शब्दोंसे झलक रहा है, 'दशाननभाई' का भाव कि आपका प्रबल शत्रु है। दशाननवालेके भाईको एकाननवालेसे क्या प्रयोजन है, इसमें कुछ कपट रहस्य अवश्य है। (पां० प्र०)। दशाननके भाईको दूसरा दशानन जानना चाहिये।

कह प्रभु सखा बूझिए काहा। कहै कपीस सुनहु नरनाहा ॥ ५ ॥
जानि न जाइ निसाचर माया। काम रूप केहि कारन आया ॥ ६ ॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा*॥ ७ ॥

अर्थ--प्रभुने कहा-हे सखे ! आपका क्या विचार (राय) है ? सुग्रीवने कहा—हे राजन् ! सुनिये ॥५॥ निशाचरकी माया जानी नहीं जाती, ये कामरूप (इच्छारूप धरनेवाले) होते हैं, न जाने किस कारण आया है ॥ ६ ॥ यह शठ हमारा भेद लेने आया है। मुझे तो यही अच्छा जान पड़ता है कि इसे बाँध रखिये (अर्थात् बाँध रखनेसे न इसकी माया लगेगी, न इसका कामरूप होना कुछ काम देगा, न इससे कुछ भेद लगेगा, जो कुछ विचार करके आया है उसका वह विचार ही नष्ट हो जायगा) ॥ ७ ॥

टिप्पणी--१ 'कह प्रभु सखा बूझिए काहा' ' ' ' इति। [(क) 'प्रभु' का भाव कि सर्वशक्तिमान् हैं, राक्षसों तथा उनकी मायाका नाश करनेमें सदा समर्थ हैं तथापि नीतिका पालन करते हैं, इसीसे मंत्री सखासे पूछते हैं। इस मिस शरणागतिका रहस्य कहेंगे]। सुग्रीवजी नीति कहते हैं, इसीसे 'कपीश' कहा। नरनाहाका भाव कि आप सब नीति जानते हैं, आप नीतिका पालन करें। (ख) सुग्रीवके हृदयका अभिप्राय चौपाईसे दर्शित हो रहा है। श्रीरामजी पूछते हैं कि सखे ! इस बातको सोचिये कि क्या बात है ? इसपर सुग्रीवको उचित था कि रामजीकी बड़ाई करके तब कहते। यथा— 'अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही ॥ मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी ॥ ३। १३। ३-४।' इस प्रकार प्रश्न करनेपर अगस्त्यजीने प्रथम उत्तरमें ऐश्वर्य कहकर तब पीछे मन्त्र कहा यथा—'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ' ' ॥' इसी प्रकार वाल्मीकिजीने भी प्रथम रामजीकी बड़ाई की तब चित्रकूटमें निवास करनेको कहा और आगे विभीषणजी भी समुद्र पार होनेकी सलाह पूछे जानेपर प्रथम यह कहकर कि 'कोटिसिंधु सोषक तव सायक। जद्यपि' तब कहा कि 'तदपि नीति अस गाई' इत्यादि। पुनः, लंकामें पहुँचनेपर जब प्रभुने 'पूछा मत सब सचिव बोलाई। कहहु बेगिका करिय उपाई ॥' तब 'जामवंत कह पद सिर नाई। सुनु सर्बग्य सकल उरबासी। बुधि बल तेज धर्म गुनरासी। मंत्र कहौं निज मति अनुसारा। दूत पठाइए बालिकुमारा ॥ ७। १७।'—यह रीति मंत्र देनेकी है। सुग्रीवने इस रीतिका पालन नहीं किया, बड़ी जल्दी विभीषणजीके दोष कहने लगे; इसीसे इनका वचन खण्डित हुआ, यथा—'सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी ॥'

नोट--१ मिलान कीजिये--'अन्तर्धानगता ह्येते राक्षसाः कामरूपिणः। शूराश्च निकृतिज्ञाश्च तेषु जातु न विश्वसेत् ॥ वाल्मी० ६। १७। २१। प्रविष्टः शत्रुसैन्यं हि प्राज्ञः शत्रुरतर्कितः। निहन्यादन्तरं लब्ध्वा उलूको इव वायसान् ॥ २८ ॥ छादयित्वात्मभावं हि चरन्ति शठबुद्धयः। प्रहरन्ति च रंध्रेषु सोऽनर्थः सु महान्भवेत् ॥४०॥', रावणेन प्रणिहितं तमवेहि विभीषणम् ॥ ६। १८। १७।' अर्थात् राक्षस कामरूप और बलवान् होते हैं, कूट उपायसे वे दूसरेका बुरा किया करते हैं, उनपर विश्वास न करना चाहिये। यह शत्रुकी ओरका कोई भेदिया है जो असावधानीसे हमारी सेनामें घुसकर अवसर पाकर हमलोगोंको मार डालेगा, जैसे उल्लू कौवेको मार डालता है। क्रूर राक्षस अपने मनका भाव छिपाये घूमा

* म० चं०—'कामरूप' ' ' स्वागता, 'जानि०'; (७, ८, ९) पायकुलक।

करते हैं और समयपर ऐसा प्रहार करते हैं कि वह महाभयंकर हो उठता है। यह निश्चय ही रावणका भेजा हुआ है। अतः मेरी रायमें इसको दण्ड देना चाहिये। यह जो वाल्मी० में कहा है वह सब 'जानि न जाइ'''भावा' की ही व्याख्या समझिये।

टिप्पणी—२ 'कामरूप केहि कारन आया' अर्थात् निशाचर लोग अनेक रूप धरकर छल करते हैं जैसे रावण, मारीच आदिने किया। 'जानि न जाइ' सबके साथ है, उनकी न तो माया समझ पड़े न रूप, न काम जान पड़े न प्रयोजन कि क्यों यह आया। आनेका कारण जानना असम्भव है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि भेद लेनेको आया है। यहाँ रावणका इसे भेजना स्पष्ट नहीं कहा, पर आगेके 'भेद लेन पठवा दससीसा' से यह भाव सिद्ध होता है। [यदि प्रभु कहें कि यह परमधर्मात्मा है, मेरा हितैषी है, मैं जानता हूँ, यथा—'मैं जानौं तुम्हारि सब रीती''', तो इसपर सुग्रीवजीने 'कामरूप' पद दिया। अर्थात् इसके विभीषण होनेमें भी सन्देह है, कदाचित् कोई राक्षस विभीषणका रूप धारणकर कोई प्रयोजन साधनेके लिये यहाँ आया हो। अतः यहाँ आनेका कारण विचारमें नहीं आता, मैं अपनी बुद्धिके अनुसार नीति कहता हूँ। यह भ्राता बनकर भेद लेने आया है कि रघुनाथजी रावणका भेद पानेके लोभसे उससे तिरस्कृत मुझको अवश्य ग्रहण कर लेंगे। तब मैं इनके गुप्त भेदोंको जानकर रावणको सचेत कर दूँगा। (मा० त० सु०)। अङ्गद या देश-देशके यूथपोंमें फोड़फाड़ न कर दे, भेद न डाल दे। (पं०, पां)]।

३ (क) दो बातोंका विचार है; वही सुग्रीव कहते हैं कि यदि यह मिलने आया हो तो रखने योग्य नहीं; क्योंकि 'जानि न जाइ निसाचर माया'''। तात्पर्य यह कि राक्षस मायावी होते हैं; न जाने मिलकर क्या छल करे; हमारे दलमेंसे किसीका रूप धरकर न जाने क्या काम बिगाड़े। जो काम करने आया है वही करनेके लिये यह मिलनेका बहाना करता है। वस्तुतः यह मिलने नहीं आया, यह छली है, भेद लेने आया है। (ख) बाँधनेकी राय दी, क्योंकि हनुमान्‌जी बाँधे गये थे।

श्रीलमगोड़ाजी—आगेके परामर्शमें कितनी विचारोंकी स्वतंत्रता है और अनेक दृष्टिकोणोंका एक दूसरेके प्रति कितना आदर भाव !

प० प० प्र०—१ मानसके सुग्रीवको जो शंका हुई है उसके लिये पर्याप्त स्थान है। वे जानते हैं कि हनुमान्‌जी और विभीषणजीकी मित्रता है। यहाँ इस शंकासे सुग्रीवजीकी नीतिनिपुणता, दूरदर्शिता, सावधानता, रामकार्यतत्परता और वानरोंके कुशलकी चिन्ता इत्यादि अनेक गुण दर्शित किये गये हैं।

२ भेद तीन प्रकारका कहा गया है। यथा—'स्नेहरागापनयनं संहर्षोत्पादनं तथा। संतर्जनं च भेदज्ञैर्भेदस्तु त्रिविधः स्मृतः। अमरव्याख्यासुधा।'

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥ ८॥
सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत बच्छल भगवाना॥ ९॥

अर्थ—हे सखा! तुमने नीति अच्छी विचारी। (पर) शरणागतका भय हरण करना, यह मेरा पण है॥ ८॥ प्रभुके वचन सुनकर हनुमान्‌जी हर्षित हुए कि भगवान् शरणागतवत्सल हैं॥ ९॥

मा० त० सु०—१ सखाका भाव कि तुम हमारे शत्रुपक्षका बल विचारने और मेरा कार्य सुधारनेमें तत्पर हो यथा—'बल अनुमान सदा हित करई।' मित्रवाचक शब्द सखा, सुहृद, बंधु और मित्र चारों हैं, पर इनके अर्थोंमें कुछ (सूक्ष्म) भेद है। वियोगको न सहनेवाला बन्धु, समान वय और बलवाला सखा, एक प्रकारके काममें रहनेवाला मित्र और सदा साथ रहनेवाला सुहृद कहलाता है।

नोट—१ 'सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी' का भाव कि आपने जो कहा है ऐसा वही कह सकता है जिसने बहुत कालतक बुद्धिमान् पुरुषोंकी सेवा की हो और शास्त्रोंका अध्ययन किया हो। यथा—'अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च। न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः॥ वाल्मी० ६। १८। ८।'

टिप्पणी १—सुग्रीवजीके वचनोंका खण्डन प्रभु बड़े माधुर्यके साथ कर रहे हैं। उनकी खातिरी करते हैं जिसमें वे उदास न हों क्योंकि वे सखा हैं। उनने अपनी मतिके अनुकूल हित कहा है, जैसा सखाका धर्म है वैसा ही, हितकी बात विचारकर, उन्होंने कहा। उनकी खातिरीके लिये प्रभु उनके विचारको 'नीकि' कहते हैं। राय अच्छी है, नीतिके अनुसार है, यह कहकर फिर शरणागति-धर्म समझाते हैं—यह रामजीके स्वभावकी सुन्दरता ग्रन्थकार दिखा रहे हैं। तुमने नीति विचारा और मेरा पण 'शरणागतभयहारी' है। यथा—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

वाल्मी० ६ । १८ । ३३, अ० रा० ६ । ३ । १२ ।' अर्थात् मेरा यह नियम है कि जो कोई एक बार भी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर अभय माँगता है, मैं उसे समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ। यदि मैं शरणमें न रखूँ तो मेरा प्रण जाता रहेगा और प्रतिज्ञा भंग होनेसे पाप होगा जैसा कि आगे दोहेमें कहते हैं—'सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित···'। [भयहारी, यथा—'मायासंभव भ्रम सब अब न ब्यापिहैं तोहि । जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि ॥','काल कर्म गुन दोष सुभाऊ । कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ ॥' पुनः भाव कि मेरा प्रण नष्ट हो जायगा और एक विभीषणके फिरनेसे सब सन्त निराश हो जायँगे । (मा० म०)] नीतिके प्रतिकूल चलनेसे हानि होती है; इसका समाधान भी आगे करते हैं कि 'भेद लेन पठवा दससीसा । तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥ जग महुँ सखा निसाचर जेते । लछिमन हनहिं निमिष महुँ तेते ॥'

२ 'सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।···' इति । सुग्रीव वानरराज हैं, इससे हनुमान्‌जी उनके वचनका खण्डन न कर सके, पर सुनकर बहुत दुखी हुए । जब श्रीरामजीने उनके वचनका खण्डन करके शरणागतिको मुख्य रखा तब सुखी हुए । वे विभीषणजीकी साधुता जानते हैं।

नोट—२ 'हरष हनुमाना' इति । प्रभुकी भक्तवत्सलता और स्वभाव इन्होंने विभीषणजीसे कहा था (यथा—'अस मैं अधमसखा सुनु मोहू पर रघुबीर । कीन्ही कृपा···' इत्यादि) यह पूर्व उस प्रसंगमें दिखा आये हैं। यदि अब प्रभु शरणमें न लेते, सुग्रीवकी बातपर चलते, तो भगवान्‌पर भी धब्बा आता । अतः हर्ष हुआ । पुनः, भगवान्‌के मुखारविन्दसे उनकी 'भक्तवत्सलता' की प्रतिज्ञा सुनी और यह भी जानकर कि ये केवल भक्तवत्सल ही नहीं किन्तु भगवान् हैं, सब कुछ दे सकते हैं—इन सब कारणोंसे हर्ष हुआ।

प० प० प्र०—(१) सुग्रीवका मत सुनकर विषाद हुआ था । कारण कि जिसने रामकार्यमें सहायता की, सीताजीका पता बताया, उसका त्याग करनेसे प्रभुकी अपकीर्ति होगी । कृतघ्नतारूपी दोष लगेगा । (२) यह कहना कि हनुमान्‌जीने जो विभीषणसे कहा था वह सत्य हो गया इससे उनको हर्ष हुआ, यह सूचित करता है कि कहनेवालेको उनके स्वभावका मर्म समझमें नहीं आया है । भक्तको अपने यश-अपयशके लिये शोक नहीं होता । वह 'अपना' ऐसा कुछ भी मानता ही नहीं । इसीसे तो विभीषणके 'बिप्र कहहु निज कथा बुझाई' ऐसा कहनेपर भी 'तब हनुमंत कही सब राम कथा', अपना चरित्र नहीं कहा ।

प्र०—हनुमान्‌जी इस रहस्यके ज्ञाता हैं, अतः उनको हर्ष हुआ ।

नोट—३ बच्छल=वत्सल । 'शरणागतवत्सल' का भाव कि जैसे नई ब्यायी हुई गाय अपने बछड़ेके मलको स्वयं शुद्ध कर देती है, और अपने बच्चेके पीछे अति स्नेहसे दौड़ती है, उसकी रक्षा करती है, वैसे ही भगवान् अपने भक्तको शुद्ध कर लेते हैं और शरणागतकी रक्षामें सदा तत्पर रहते हैं। ऐसा करनेमें वे समर्थ हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं। षडैश्वर्यसम्पन्न हैं।

दो०—सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि ।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि ॥ ४३ ॥*

अर्थ—जो लोग अपना अनहित विचारकर शरणागतका त्याग करते हैं वे मनुष्य नीच हैं, पापमय हैं, उन्हें देखते ही हानि होती है ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ शरणागतके त्यागका दोष दिखाते हैं। इसमें ध्वनि यह भी है कि जो अपने हितकी हानि भी करके शरणागतकी रक्षा करते हैं वे धर्मात्मा हैं । उनके दर्शनसे पुण्य होता है । (ख) सुग्रीवजीने हितकी हानि विचारकर राय दी थी कि इसे बाँध रखो । उसपर प्रभु कहते हैं कि तुम इनके रखनेसे हमारे हितकी हानि समझते हो, यह अनुमान मात्र है, वस्तुतः इनसे हमारे हितकी हानि कुछ नहीं है । दूसरे अनहित होता भी हो तो भी उसके विचारसे यदि हम इन्हें

* 'त्यजति किल तं जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च । भवति च सदोपहास्यो यः किल शरणागतं त्यजति ॥' (मृच्छकटिके) । अर्थात् शरणमें आये हुएका त्याग करनेवालेको जयश्री छोड़ देती है और उसके मित्र और बन्धु भी उससे विमुख हो जाते हैं, उसका सदा उपहास होता है । दोनों असम वाक्योंके अर्थमें भिन्नता रहते हुए भी समताभावसूचक आरोप होना 'प्रथम निदर्शन अलंकार' है ।

प्र० चं०—४३ कच्छ दोहा है ।

शरणमें न लें तो बड़ा भारी पातक होगा, शरण आये हुएका त्याग करनेवालेके दर्शनमात्रसे दूसरोंको पाप लग जाता है तब त्याग करनेवालेके पापका क्या अंदाजा किया जा सके। (ग) 'पाँवर' का भाव कि वह तो इसे बड़ा समझकर इसकी शरण आया और इसने न रखा, तब यह बड़ा कैसा ? यह तो छोटा है, नीच है, तभी तो न रख सका। यह पापमय है, महापातकीके संसर्गसे पातक होता है, अतः कहा कि उसे 'बिलोकत हानि' है।

नोट—१ मिलान कीजिये—'**धर्मो हि महतामेव शरणागतपालनम्। शरणागतं च विप्रं च रोगिणं वृद्धमेव च। य एतान्न च रक्षन्ति ते वै ब्रह्महणो नराः ॥ ५३ ॥ शरणागतशब्देन आगतस्तव सन्निधौ। संरक्षणीयः पोष्यश्च त्वया नास्त्यत्र संशयः** ॥ ५४ ॥' (स्कन्दपु० माहेश्वर-केदारखण्ड ९)। देवर्षि नारदजीने राजा बलिसे कहा कि 'शरणमें आये हुएकी रक्षा करना महापुरुषोंका धर्म है। जो लोग ब्राह्मण, रोगी, वृद्ध तथा शरणागतकी रक्षा नहीं करते वे ब्रह्महत्यारे हैं। इन्द्र इस समय 'शरणागत' शब्दसे अपना परिचय देते हुए तुम्हारे समीप आये हैं। अतः इनका भलीभाँति रक्षण और पोषण करना तुम्हारा कर्तव्य है, इसमें तनिक भी संदेहकी बात नहीं है। इस श्लोकमेंका '**ते वै ब्रह्महणो नराः**' मानसका '**ते नर पापमय**' है। महापातकी चार कहे गये हैं। उनमेंसे ब्रह्महत्यारा सर्वप्रथम रखा गया है। यथा '**ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः। एते महापातकिनो यश्च तैः सहसंवसेत्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति प्रायश्चित्ताध्याय** ॥' उपर्युक्त श्लोकमें 'ब्रह्महणो' कहकर शरणागतका त्याग करनेवालेको महापातकी कहा। मानसमें 'पापमय' कहकर जनाया कि वह महापातकीसे बढ़कर पापी है।

नोट—२ '**निज अनहित अनुमानि**' कहकर जनाया कि अपना अहित भी होता हो तब भी शरणागतका त्याग नहीं ही करना चाहिये, केवल अहितकी शङ्काकी तो बात ही क्या ? उसके ग्रहण करनेमें हित-अनहितका विचार करना ही न चाहिये। बिना किसी विचारके शरणागतका कदापि त्याग न करना चाहिये। इस सम्बन्धमें श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे एक इतिहास कहा है—एक व्याधाने वनमें एक कबूतरीको पकड़ा, इतनेमें तीव्र वर्षा हुई। व्याधा भूख और शीतसे अत्यन्त व्याकुल उसी वृक्षके नीचे आया जिसपर वह कबूतर रहता था जिसकी कबूतरीको उसने पहले ही पकड़ा था। कबूतरने अपनी शरणमें आये हुए उस शत्रुको शीतसे आर्त देख सूखे तिनकेका घोंसला गिराकर और कहींसे अग्नि और तिनके लाकर उसका शीत निवारण कर फिर उसकी क्षुधा-निवारणार्थ स्वयं अग्निमें कूद पड़ा। यथा—'**श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः। अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः** ॥ वाल्मी० ६। १८। २४।' यह इतिहास कहकर श्रीरामजीने कहा कि जब एक पक्षीने शरणमें हुए अपनी भार्याको मार डालनेवाले शत्रु व्याधाका निरादर न करके यथाविधि उसका सम्मान ही किया तब मनुष्य होकर मैं शरणमें आये हुए शत्रुको कैसे त्याग सकता हूँ ?

इस सुने हुए इतिहासको कहकर फिर उन्होंने धर्मिष्ठ सत्यवादी परमर्षि कण्डुजीके वाक्य कहे—'**बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्। न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप। आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणंगतः ॥ अपि प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना। तं चेद्भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वापि न रक्षति ॥ स्वया शक्त्या यथान्यायं तत्पापं लोकगर्हितम्। विनष्टः पश्यतो यस्यारक्षितुः शरणागतः ॥ आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः**। वाल्मी० ६। १८। २७–३१।' अर्थात् कोई भी जो हाथ जोड़े हुए दीनभावसे शरणमें आये, चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो, तो धर्मरक्षार्थ उसे मारना न चाहिये। शत्रु आर्त हो वा अहंकारयुक्त हो पर यदि वह कातरभावसे शरणमें आये तो प्राण देकर भी उसकी रक्षा करनी चाहिये। यदि भय वा मोह आदिके कारण मनुष्य शरणागतकी रक्षा नहीं करता तो वह पापग्रस्त और निन्दित होता है। यदि शरणागतकी रक्षा न करनेसे उसका नाश हो जाता है तो उसकी रक्षा न करनेवालेके समस्त पुण्य उस शरणागतको प्राप्त हो जाते हैं।

यह जो श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे कहा है वह सब गोस्वामीजीने इस दोहेसे सूचित कर दिया है। शरणमें आना किसे कहते हैं यह भी यहाँ बता दिया है।

श्रीभरताचार्यजीने शरणागतिके ये लक्षण कहे हैं '**अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः** ॥' (सि० ति० से उद्धृत श्लोक)। अर्थात् अपने अभीष्टको अन्य उपायोंसे सिद्ध होता न देखकर महाविश्वासपूर्वक 'आप ही मेरे उपाय हैं' ऐसी प्रार्थना करना शरणागति है।

परमर्षि कण्डुकी धर्मगाथा 'सरनागत कहुँ…' इस दोहेकी पूरी व्याख्या है। 'ते नर' में कपोतका इतिहास कहकर जो श्रीरामजीने कहा है '**सहितं प्रतिजग्राह भार्याहर्तारमागतम्। कपोतो वानरश्रेष्ठ किं पुनर्मद्विधो जनः** ॥ २५ ॥' उसका

भाव जना दिया है। अर्थात् शरणमें न लेनेसे हम मनुष्य कहलाने योग्य नहीं रह जायँगे, हम तो पशु-पक्षीसे भी गये-बीते समझे जायँगे।

'तिन्हहिं बिलोकत हानि' में परमर्षि कण्डुजीके 'तत्पापं लोकगर्हितम्' का भाव है। भाव कि विभीषणका त्याग करनेसे हम लोकमें ऐसे निन्दित हो जायँगे कि कोई हमारा मुख न देखना चाहेगा। और जो शरणागतका त्याग करता है मैं उसका मुख नहीं देखता तब भला मैं स्वयं शरणागतका त्याग कैसे कर सकता हूँ ?

कोटि बिप्र बध लागहि जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू ॥ १ ॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥ २ ॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ* ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसे करोड़ों ब्राह्मणोंका वध (हत्या) भी लगा हो उसे भी शरण आनेपर मैं नहीं त्याग करता ॥ १ ॥ जीव जभी मेरे सम्मुख होता है उसके करोड़ों जन्मोंके पाप तभी (उसी समय) नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥ पापीका यह सहज स्वभाव है कि मेरा भजन उसे कभी नहीं भाता ॥ ३ ॥

टिप्पणी १—**'कोटि बिप्रबध लागहि जाहू''''** इति। भाव यह कि शरणागतके त्याग करनेवालेका तो मैं मुख नहीं देखता पर जिसे अगणित ब्रह्महत्याएँ भी लगी हों उसे शरणमें ले लेता हूँ; क्योंकि जिन्होंने शरणागतकी रक्षा न की वे तो पापमय हो गये हैं—**'ते नर पाँवर पापमय'**—और कोटि विप्रवध करनेवाला पापमय नहीं हुआ। इसे जो पाप लगा है उसे मैं छुड़ा सकता हूँ, यही बात आगे कहते हैं—**'सनमुख होइ''''**। इससे जनाया कि शरणागत भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। [गी० सुं० ४५ में प्रभुने अपना जो सहज स्वभाव कहा है, उसे 'आए सरन''''' की व्याख्या समझिये—**'सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ। सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कवन दुराउ ॥ १ ॥ सब बिधि हीन दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाँउ। आये सरन भजौं न तजौं तिहि यह जानत रिषिराउ ॥ २ ॥ जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिन और उपाउ। तिन्हहिं लागि धरि देह करौं सब डरौं न सुजस नसाउ ॥ ३ ॥ पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं सकल सभा पतिआउ। नहिं कोउ प्रिय मोहि दास सम कपट प्रीति बहि जाउ ॥ ४ ॥ सुनि रघुपतिके बचन बिभीषन प्रेम मगन मन चाउ। तुलसिदास तजि आस त्रास सब ऐसे प्रभु कहँ गाउ ॥ ५ ॥'**]

मा० त० सु०—अरण्यकाण्डमें तो यह कह आये कि **'मोहि न सुहाइ बिप्रकुलद्रोही'** और यहाँ उसके विपरीत कहते हैं कि **'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू ॥'** यह कैसा ? समाधान—वहाँ उन जीवोंके लिये प्रवृत्तिमार्गमें वैसा उपदेश है जो सामान्य वर्णाश्रमधर्ममें प्रवृत्त हैं और यहाँ सर्वपरित्यागपूर्व निवृत्तिमार्ग (भगवच्छरणागति) विषयक अभिप्राय है।

गौड़जी—कबन्धके प्रसंगमें जब उसने शाप देनेवाले ऋषिकी तिरस्कारवाली बात कही तो उसपर भगवान्‌ने अपना स्वभाव बतलाया कि मुझे ब्रह्मकुलद्रोही नहीं सुहाता; यह तो बिलकुल ठीक ही है। उस प्रसंगमें यह तो नहीं कहा है कि जिसे विप्रवध लगा हो वह शरणमें आवे तब भी न रखूँगा। पापी प्राणी तो कभी भगवद्-शरणागतिमें आ ही नहीं सकता, पाप करके जो पछताता कि हा ! मैंने यह घोरकर्म कैसे कर डाला ! अब मुझे भगवच्छरण छोड़कर और कहाँ गति है, ऐसा सोचकर जो शरणागत होता है,—गुनाहके बाद तोबा करके जो प्रभुके पास जाता है, उसे प्रभु त्याग नहीं करते। कबन्ध यदि शरणमें आया होता तो बात दूसरी थी; वह तो वरके प्रभावसे भगवान्‌के करकमलोंसे मुक्त हुआ। वह शरणागत भक्त नहीं था। रही पापवाली बात, उसके सम्बन्धमें तो श्रीगीताजीमें साफ है—**'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ गीता ९। ३०। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥'**

कैसा ही दुराचारी हो, जो मुझे अनन्यभावसे भजे उसे साधु ही मानना चाहिये। (जब अनन्य भावसे भजेगा तब सारे जगत्‌को प्रभुसे अन्य देखेगा ही नहीं—**'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध। ७। ११२।'**, **'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। ४। ३।'**; वह तो सम्यक्‌रीत्या पूरीतौरपर व्यवसित है, वह पूर्णतया और निश्चितरूपसे

* 'कोटि' स्वागता, 'आए०' 'सनमुख०' 'पापवंत०', (४, ५) पायकुलक, 'जन्म०' चन्द्रवर्त्म, 'भजन', द्रतपा।

पापवृत्तियोंसे रहित हो गया है। (क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है। अनन्य भक्ति दुराचारको शान्त कर देती है।) यह तुरंत धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर शान्ति पाता है। हे कौन्तेय! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता। गीता ९। ३१॥

टिप्पणी—२ **'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं···'** इति। यह शरणका माहात्म्य कहा। पापीको नहीं त्याग करते, यह अपना स्वभाव कहा था; यथा—**'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥···। ४८। १-३।'** और यहाँ शरणका फल कहकर आगे पापीका स्वभाव कहते हैं—**'पापवंत कर···'**।

३—कोटि विप्रवध कोटि जन्म करे ऐसा भी पाप नष्ट हो जाता है, यह अभिप्राय दर्शित करनेके लिये **'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू'** कहा। इसमें 'अघ' शब्द न दिया किन्तु **'जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं'** इसमें दिया! ऐसा करके दोनों चरणोंका अर्थ एक ही जनाया। ☞ भगवान्‌के सम्मुख हो तब पाप नाश होवें, पापके नाशसे भजन अच्छा लगेगा, भजनसे मन निर्मल होनेपर प्रभुकी प्राप्ति होती है—यह प्रभुके उपदेशका खुलासा है।

मा० त० सु०—**'कोटिबिप्रबध···'** यह एक जन्मका सूचक हुआ। इसपर यह संदेह हुआ कि यदि एक जन्ममें इतना पाप करनेपर भी शरण न हुआ और इसी तरह और भी दो-चार जन्मोंतक ऐसा ही पाप करता गया तब यदि जीव शरणमें जाय, तो क्या उसको न ग्रहण करेंगे? इस शंकाकी निवृत्तिके लिये परमदयालु प्रभुने कहा कि प्रत्येक जन्ममें कोटि-विप्रवधका पाप लग जानेपर भी जभी वह शरण हो उसी समय **'जन्म कोटि अघ नासहिं'**। अभिप्राय कि किसी प्रकार भी हमारी शरण हो जाना ही कल्याणकारक है।

रा० शं० श०—**'कोटि बिप्र बध···'** से यहाँतकका आशय यह है कि जो जान-बूझकर इस विचारसे पाप करे कि इसके उपरान्त शरणमें जाकर पाप छुड़ा लूँगा उस मनुष्यकी आशा व्यर्थ है।

टिप्पणी—४ **'पापवंत कर सहज सुभाऊ···'** इति। भाव यह कि मैं पापीको, शरण आनेपर, त्याग कभी नहीं करता, रहा पापी सो उसे हमारा भजन अच्छा ही नहीं लगता क्योंकि भजनका बाधक पाप है, यथा—**'एकहि एक सिखावत जपत न आप। तुलसी राम भजन कर बाधक पाप॥'**—(बरवै० रा० ६४)। बिना सम्मुख हुए पापी बना रहा, इसीसे भजन नहीं भाता। इस कथनका तात्पर्य यह है कि विभीषण शुद्ध हैं तभी शरणमें आये हैं, यथा—**'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। गीता ७। १५।'**

जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥ ४॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ ५॥

अर्थ—जो निश्चय ही वह वैसा दुष्टहृदय होगा (जैसा तुमने कहा है, यथा—**'जानि न जाइ···'** इत्यादि) तो क्या वह मेरे सम्मुख आ सकता है? ॥ ४॥ जो जन निर्मल मन है वही मुझे पाता है। मुझे कपट-छल-छिद्र नहीं सोहाता ॥५॥

नोट—१ गीतामें इससे मिलता हुआ भगवद्वाक्य यह है—**'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ ७। १५।'** अर्थात् मूढ़, नराधम, मायासे हरे गये ज्ञानवाले और आसुरी प्रकृतिका आश्रय लिये हुए पापाचारी मनुष्य मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।

यहाँ **'दुष्ट हृदय'** कहकर श्लोकके चारों प्रकारके दुष्ट कर्म करनेवाले पापाचारी लोगोंको सूचित किया है। इनमेंसे 'मूढ़' वे हैं जो भगवान्‌के स्वरूपको न समझनेके कारण प्राकृत विषयोंमें आसक्त रहते हैं और जो आत्माको और भोग्यवस्तु मात्रको अपने अधीन समझते हैं। ये विपरीत ज्ञानी मनुष्य ही मूढ़ हैं। 'नराधम' वे हैं जो सामान्यतया प्रभुके स्वरूपको जाननेपर भी सम्मुख होनेके योग्य नहीं हैं। 'माययाऽपहृतज्ञाना' वे हैं जिनको स्वरूप और ऐश्वर्यका ज्ञान होनेपर भी उनका ज्ञान कूट युक्तियोंद्वारा हर लिया गया है। और **'आसुरं भावमाश्रिताः'** असुरोंके भावका आश्रयण करनेवाले वे हैं जिन्हें प्रभुके स्वरूप और ऐश्वर्यका सर्वथा सुदृढ़ ज्ञान प्राप्त है पर वह ज्ञान केवल मुझमें द्वेष उत्पन्न करनेवाला है। ये चारों क्रमशः एक-से-एक बढ़कर अधिक पापी हैं। (श्रीरामानुजभाष्य)।

'न मां प्रपद्यन्ते' ही **'मोरे सनमुख आव कि सोई'** है। सम्मुख होना शरणमें आना है।

पूर्व जो सुग्रीवजीने कहा है कि **'जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥ भेद हमार लेन सठ आवा।'**

और आगे जो भगवान्‌ने 'निर्मलता' के विपर्ययमें कहा है कि 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।' वह सब भी 'दुष्ट हृदय' की व्याख्या ही है।

इन दोनों चौपाइयोंका भाव यह है कि विभीषण शरणमें आया है, अतः वह दुष्ट-हृदय नहीं है, किंतु निर्मल-हृदय है। गीतावलीमें प्रभु श्रीहनुमान्‌जीसे कहते हैं— 'सुमति साधु सुचि सुहृद बिभीषन बूझि परत अनुमान सों।' इसपर हनुमान्‌जी बलिहारी जाते हैं—'हौं बलि जाउँ और को जानै ? कही कपि कृपानिधान सों। छली न होइ स्वामि सन्मुख ज्यौं तिमिर सातहय जान सों॥' अर्थात् जैसे सूर्यके समीप अन्धकार नहीं आ सकता, वैसे ही छलिया स्वामीके सम्मुख कदापि नहीं आ सकता। यही बात मानसमें 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा'''।' से कही गयी। कपट छल छिद्र अन्धकाररूप हैं, भगवान् सूर्यरूप हैं।

पुनः, 'दुष्ट हृदय' से जनाया कि ऊपरसे चाहे दुष्ट हो पर हृदयका दुष्ट न हो तो भी सम्मुख आ सकता है। महर्षि-कण्डुकी धर्मगाथामें शरणागतका लक्षण बताया है कि वह हाथ जोड़े हुए दीन सभीत होकर रक्षाके लिये शरणमें आता है'। दुष्ट हृदयमें यह भाव, यह दीनता आ ही नहीं सकती, इसीसे वह शरणमें आ ही नहीं सकता।

☞ जीव जब भगवान्‌की शरणमें जाता है तब जिन शब्दोंसे वह शरण होता है वे ये हैं—'न्यस्याम्यकिञ्चनः श्रीमन्ननुकूलस्य वर्जितः। विश्वासप्रार्थनापूर्वमात्मरक्षाभरं त्वयि ॥ १ ॥ स्वामिन् स्वशेषं स्ववशं स्वरक्षाभरत्वेन निर्भरम्। स्वदत्तसुधिया स्वार्थं स्वस्मिन् न्यससि मां स्वयम् ॥ २ ॥ श्रीमन्नभीष्टवरद त्वामहं शरणं गतः। एतद्देहावसाने मां त्वत्पादं प्रापय स्वयम् ॥ ३ ॥ त्वच्छेषत्वे स्थिरमतित्वत्प्राप्त्यैकप्रयोजनम्। निषिद्धकाम्यरहितं कुरु मां नित्यकिङ्करम् ॥ ४ ॥ देवी भूषण हेत्यादि जुष्टस्य भगवंस्तव। नित्यं निरपराधेषु कैङ्कर्येषु नियुङ्क्ष मां स्वयम् ॥ ५ ॥ मां मदीयं च निखिलं चेतनाचेतनात्मकम्। स्वकैङ्कर्योपकरणं वरद स्वीकुरु स्वयम् ॥६॥ त्वदेकरक्ष्यस्य मम त्वमेव करुणाकर। न प्रवर्त्तय पापानि प्रवृत्तानि निवारय ॥ ७ ॥ श्रीमन्नियतपञ्चाङ्ग मद्रक्षणभरार्पणम्। अचीकरः स्वयं स्वस्मिन्नतोऽहमिह निर्भरः ॥ ८ ॥ स्वाग्रे पतितं दृष्ट्वा श्रुत्वा च प्रार्थनामिमाम्। अङ्गीचकार श्रीरामस्तदप्यस्मीह निर्भरः।' इस तरह आचार्य उसकी शरणागति कराते हैं।—यह शरणागतिका प्रसङ्ग है, इससे जिज्ञासुओंके लिये हमने ये मन्त्र यहाँ दे दिये जिसमें इससे लोग लाभ उठावें।

टिप्पणी—१ 'जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई' इति। कहनेका तात्पर्य कि रावणको कोटि-विप्रवध लगा है, यदि वह भी शरण आवे तो मैं उसे भी न त्यागूँ। पर वह दुष्टहृदय है। वह मेरे सम्मुख आवेगा ही नहीं। विभीषण निर्मल हृदय है, इसीसे मेरी शरण आया है। सम्मुख होते ही हम कोटिजन्मोंके भी पाप नाश कर सकते हैं, रहा दुष्ट वह तो सम्मुख होता ही नहीं—ये दो बातें कहकर दोनोंके अधिकारी कहे फिर शरण न होनेमें हानि कही—क्रमसे यथा—

१—कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहि ताहू।	का सम्बन्ध	पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।	से है

अर्थात् हम पापीको भी नहीं त्यागते पर वही हमको नहीं भजता।

२—सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्मकोटि अघ नासहिं तबहीं॥	का सम्बन्ध	जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥	से है

अर्थात् सम्मुख होते ही पाप नाशको प्राप्त हो जाते हैं पर वह सम्मुख ही नहीं होता।

३—भगवत्-शरणका बाधक हृदयकी दुष्टता है।

टिप्पणी—२ 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा'''' इति। तात्पर्य कि यदि विभीषण कपटी होते तो मुझे कैसे सुहाते ? हम कैसे उन्हें शरण रखनेको कहते ? मैं उनको रुचता हूँ, वह मुझे सुहाता है, इसीसे समझ लो कि वह निष्कपट है। अथवा, जो पापी होता तो हमारा भजन कैसे रुचता ? जो दुष्टहृदय होता तो सन्मुख कैसे आता ? जो मलिन मन होता तो हमको कैसे पाता ? सुग्रीवने विभीषणको कपटी और छली कहा था—'जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥' श्रीरामजी उसीका खण्डन कर रहे हैं कि मैं दुष्ट-हृदयको नहीं प्राप्त होता, मुझे कपट छल छिद्र नहीं रुचता। 'कपटछलछिद्र' होना यही हृदयकी दुष्टता है—यह यहाँ स्पष्ट कर दिया।

नोट—२ निर्मल=षट्‌विकाररहित, शुद्ध निर्विकार। कपट=अभिप्रायसाधनके लिये हृदयकी बातको छिपानेकी वृत्ति, यथा—'जो जिय होत न कपट कुचाली। केहि सुहात रथ बाजि गजाली॥' छल=वह व्यवहार जो दूसरेको धोखा देनेके लिये हो,

वास्तविक रूप छिपानेका कार्य जिससे कोई वस्तु या बात औरकी और देख पड़े। छिद्र=दोष। छलछिद्र-यौगिक शब्द भी है।

क०—'न भावा' का दूसरा भाव यह कि यदि कोई कपटछलयुक्त हो और फिर भी मेरी शरण आवे तो सन्मुख आते ही उसका कपट-छल दूर हो जाता है, वह निर्मल हो जाता है।

भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥ ६॥
जग महुँ सखा निसाचर जेते। लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते॥ ७॥
जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं*॥ ८॥

अर्थ—दशशीश (रावण) ने भेद लेने भेजा हो तो भी, हे वानरराज! कुछ भय या हानि नहीं है॥६॥ हे सखे! जगत्‌भरमें जितने भी निशाचर हैं, लक्ष्मणजी उन सबोंको पल भरमें मार सकते हैं॥ ७॥ यदि वह सभीत होकर शरणमें आया है तो उसे प्राणोंकी तरह रखूँगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'भेद लेन पठवा दससीसा…' इति। [(क) भाव कि उसे रावणने कभी भी भेद लेने न भेजा होगा, क्योंकि उसे अपने दस सिर होनेका, शिव-ब्रह्माके वरदानोंद्वारा प्राप्त बलका गर्व है, तो भी यदि मान लें कि उसने भेजा हो] (ख) सुग्रीवका मन और मान्य रखनेके लिये अब संदिग्ध वचन कह रहे हैं। अथवा, सुग्रीवका पक्ष लेकर उसमें भी विभीषणको निष्कपट दिखाते हैं अर्थात् तुमने जो कहा कि भेद लेने भेजा गया है, यह भी ठीक सही, तो भी उसका दोष इसमें क्या? वह तो भेजनेसे आया है फिर भी उसका मन निर्मल ही है।—इससे सूचित किया कि प्रभु विभीषणजीकी रीति जानते हैं, इसीसे ऐसा कह रहे हैं। यथा—'मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती'…।' (ग) 'पठवा दससीसा' का भाव कि सुग्रीवजी विभीषणको कपटी सिद्ध करनेके लिये कहते हैं कि इसे रावणने भेजा है, पर यह कहता है कि मैं स्वयं आया हूँ, यह कपट है। उसी बातको लेकर श्रीरामजी उसका समाधान करते हैं कि जगत्‌भरके निशाचरोंको लक्ष्मणजी मार सकते हैं तब एक लङ्काके राक्षस कितने हैं जो उन्हें डरते हो।

मा० त० सु०—(क) 'पठवा दससीसा' का भाव कि केवल भेद जानकर ही छलपूर्वक हमसे विजय चाहता है। (ख)—'तबहूँ'=हमारा भेद प्रकट हो जानेपर भी। (ग) बारम्बार 'सखा' सम्बोधनसे अपना उनपर अतिस्नेह जनाया।—(इस प्रकार उनका मन रख रहे हैं, उनको प्रसन्न करके विभीषणजीको शरणमें लेंगे)।

टिप्पणी—२ 'लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते' इति। (क) यहाँ ऐश्वर्य (ईश्वरता) दिखाते हैं। ईश्वरका पलक बंद करना प्रलय है, पलक खोलना सृष्टिकी स्थिति है। (ख) 'लछिमनु हनइ' का भाव कि हमको कुछ भी न करना पड़ेगा। हम तो लीला करते हैं। निशाचर-नाशके लिये लक्ष्मणजीका अवतार है, यथा— **'सेष सहस्रसीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन॥ १। १७॥', 'सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारै भुवन चारिदस आसू॥ ६। ५४। १॥', 'जो सहस सीस अहीस महिधर लषन सचराचर धनी। सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥ २। १२६॥' 'ब्राह्ममस्त्रं प्रयोक्ष्यामि वधार्थं सर्वरक्षसाम्।** वाल्मी० ६। ८०। ३७।' (अर्थात् मैं संसारके समस्त राक्षसोंके वधके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करना चाहता हूँ।—यह लक्ष्मणजीने श्रीरामजीसे कहा था। जब मेघनादने अन्तरिक्षमें छिपे हुए सारी सेना तथा श्रीराम-लक्ष्मणको बाणोंसे बेध डाला था। श्रीलक्ष्मणजीमें यह सामर्थ्य है, इसीसे श्रीरामजीने उन्हें समझाकर रोका कि एकके कारण सबका नाश करना उचित नहीं है) तात्पर्य कि ऐसे बलीसे कौन भेद लग सकेगा? यथा—**'न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः।** इति वाल्मीकीये। ५। ४१। ३।' **'निमिष महँ'** यथा—**'जारै भुवन चारिदस आसू।'**

'लछिमनु हनइ निमिष महँ'। यहाँ अपना पराक्रम न कहा। श्रीराघवजीने विचारा कि सप्ततालवेधन आदिसे यह सामर्थ्य तो जान ही चुका है, अब लक्ष्मणजीका भी ऐश्वर्य इसे स्मरण करा देना चाहिये; अतएव प्रसंग पाकर जना दिया। **'निमिष महुँ'** अर्थात् इच्छामात्रसे।

प्र०—प्रभु अपना पराक्रम नहीं कहते, यह उनकी रीति है। युद्धमें देवतादिसे भी और जानकीजीसे रणभूमि दिखाते समय लक्ष्मण आदिका ही नाम लिया। यथा—**'कह रघुबीर देखु रन सीता। लछिमन इहाँ हतेउ इंद्रजीता॥ हनूमान अंगदके मारे।…'** (लं० ११८)।

* प्र० चं०—'भेद०' स्वागता, 'तबहु०' चण्डी, शेष पायकुलक।

मा० म०—लक्ष्मण निमिषमात्रमें मार सकते हैं। संदर्भ यह कि यदि विभीषण निशाचर बुद्धिमय होगा तो लक्ष्मणजी उसका छल और कपट पहिचानकर उचित दंड देंगे। ऐसा कहनेसे सुग्रीव लक्ष्मणजीको अपने विचारमें न सहमत कर सकेंगे।

टिप्पणी—३ 'जौं सभीत आवा सरनाई।…' इति। (क) सभीतका भाव कि यदि वह भयसहित यहाँ आया है तो हम उसका भय हरण करेंगे; क्योंकि 'मम पन सरनागत भयहारी।' है। उसे जो भी भय होगा वह हम हरण करेंगे—चाहे संसारका भय हो, चाहे शत्रुका और चाहे पापका। (ख) 'प्रान की नाईं' अर्थात् शरणागत मुझे प्राण-समान प्रिय है, यथा—'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।' प्रभुने प्राण-समान रखनेको कहा और रखा प्राणसे भी अधिक मानकर, यथा—'आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥ तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला॥ ६। ९३। १-२॥' यहाँ धर्मलुप्तोपमा अलंकार है।

४—शरणागत-पालनमें रामजी अद्वितीय हैं इसीसे उसमें लक्ष्मणजीका नाम न लिया और राक्षसवधमें लक्ष्मणजी अद्वितीय हैं इसीसे उस सम्बन्धमें अपना नाम न लिया।

मा० त० सु०—'कोटि बिप्र बध०' से 'जन्मकोटि अघ०' तक दो चौपाइयोंमें जो कुछ कहा, उसका वहाँ पाप नाश करनेमें मुख्य तात्पर्य है।…और, 'जौं सभीत…' से जनाया कि यदि लोक वा परलोकके भयसे शरणमें आया हो तो उसको प्राणोंके समान रखूँगा।

नोट—१ वाल्मीकीय ६। १८ के 'सदुष्टो वाप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः॥ २२॥ सूक्ष्ममप्यहितं कर्तुं ममाशक्तः कथंचन। पिशाचान् दानवान् यक्षान् पृथिव्यां चैव राक्षसान्॥ २३॥ अंगुल्यग्रेण तान्हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर। २४। आर्तो वा यदि वा तृप्तः परेषां शरणागतः। २८। अपि प्राणान्परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना। २९। आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया। विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥ ३५॥' इस वाक्यसे मिलान कीजिये। अर्थात् वह दुष्ट हो या साधु, यह राक्षस क्या चीज है? यह हमारा किंचित् भी अहित करनेमें समर्थ नहीं। जितने भी पिशाच, दानव, यक्ष और राक्षस पृथ्वीपर हैं उनको, हे कपीश! अंगुलीके अग्रभागके इशारेसे ही, यदि मैं चाहूँ, मार सकता हूँ। कृतात्मा (महात्मा) की शरणमें यदि कोई आर्त या दर्पपूर्ण शत्रु भी आये तो अपने प्राणोंको भी देकर उसकी रक्षा करे। हे कपिश्रेष्ठ सुग्रीव! उसे ले आओ, मैंने उसे अभय दिया; चाहे वह विभीषण हो और चाहे स्वयं रावण ही क्यों न हो।

दो०—उभय भाँति तेहि आनहु हँसि कह कृपा निकेत।
जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत*॥ ४४॥

अर्थ—कृपाके स्थान श्रीरामजीने हँसकर कहा कि दोनों प्रकारसे उसे ले आओ (अर्थात् चाहे भेद लेने आया हो, चाहे शरणमें आया हो)। 'जय कृपाल' (कृपालु श्रीरामजीकी जय!) ऐसा कहकर श्रीअंगद और हनुमान्‌जीके सहित वानर चले॥ ४४॥

श्रीलमगोड़ाजी—'उभय' भाँतिमें दूसरे पक्षका कितना आदर है। भगवान् कहते हैं कि भाई! सावधानी भी रक्खो और ले भी आओ? तुम्हारी नीति भी रहे और मेरा शरणागतवत्सल धर्म भी।

'हँसि' पर तो हास्यकला ही निछावर है। इसमें कितनी कृपालुता है और कितनी निर्भयता तथा कितनी हँसमुखता भरी हुई है! और साथ ही किंचित् सुग्रीवजीकी चुटकी भी है कि पाँच व्यक्तियोंके इतने कटकमें गुप्त नहीं वरन् खुले खजाना आनेपर भी धोखा खा गये वा डर गये।

वि० त्रि०—'उभय भाँति' इति। सरकारने कहा कि दोनों भाँतिसे, अर्थात् भेदियाकी भाँति भी और शरणागतिकी भाँति भी विभीषणको ले आओ। इस दुरंगी आज्ञाको बुद्धिमान् बंदर तुरंत समझ गये और अंगद हनुमान्‌के साथ चल पड़े। तीन ओरसे विभीषणजीको घेरकर ले चले। एक हिसाबसे विभीषणजी पहरेमें हैं, दूसरे हिसाबमें सेनाके प्रधान लेने आये हैं और विभीषणजीको आगे करके चल रहे हैं। इस भाँति सरकारकी कही हुई आज्ञाका 'उभय भाँति' का पालन हुआ।

नोट—१ 'उभय भाँति' का भाव कि भेद लेने आया हो वा शरणागत हो, वह रावण ही विभीषणके वेशमें हो अथवा

* प्र० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित।

विभीषण ही हो, दुष्ट हो अथवा साधु हो, उसके ले आनेमें संकोच न करो। ऊपर चौपाईमें उद्धृत श्लोक देखिये।

नं० प०—श्रीरामजीके इतना समझानेपर सुग्रीवजीने जब कुछ उत्तर न दिया तब यह जानकर कि वे अपनी नीतिके हठपर हैं, उन्होंने हँसकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा कि दोनों प्रकारसे ले आओ, मर्यादाके साथ लाना, बंदी बनाकर न लाना।

टिप्पणी—१ 'कृपानिकेत' कहा क्योंकि विभीषणजीपर कृपा करके उन्हें ले आनेको कहा। यह कृपा देखकर वानर-लोग भी आनन्दमें भरकर बोल उठे कि कृपालु की जय हो। यथा—'सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा॥ ३४। ५॥', 'राम बचन सुनि बानर जूथा। सकल कहहिं जय कृपा बरूथा॥'

[शत्रु-मित्र दोनोंपर भगवान्ने कृपालुता गुणकी प्रधानता दिखायी, अतः 'कृपानिकेत' विशेषण दिया। (मा० त० सु०)। विभीषणजी अभी प्रत्यक्ष शरणमें आये भी नहीं तथापि कृपाकिरणोंकी अविरल वर्षा पहिले ही की गयी। अतः कृपानिकेत कहा। (प० प० प्र०)]

२—'हँसि कह' से जनाया कि—(क) हम दोनों तरहसे प्रसन्न हैं। (ख) हमारी कृपा विभीषणपर है, यथा—'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥ १। १९८। ७॥' [नोट—हँसकर कहनेमें यह भी भाव है कि जिससे सुग्रीवको बुरा न लगे। (प्र० सं०)। अथवा, एक दुर्जनके कपटसे लोग सज्जनके विषयमें शंकित होते हैं, यह मायाका प्रताप देखकर हँसे। (प० प० प्र०)। वा, एक भक्तकी प्राप्ति हुई इससे प्रसन्न हुए।]

टिप्पणी—३ 'अंगद हनू समेत' इति। विभीषण राजा हैं। उनको लानेको राजकुमार अंगद और राजके मन्त्री हनुमान्जी चले। जैसा कुछ राजाओंके मिलनेका कायदा है वैसा श्रीरामजीकी तरफसे हुआ। जैसे विभीषण राजा नहीं हैं, राजाके भाई हैं; वैसे ही यहाँ अंगद खास राजा नहीं हैं, युवराज हैं और राजाके पुत्र हैं। विभीषण छोटा भाई है, छोटा भाई पुत्रके समान होता है, इसीसे सुग्रीवने अपने लड़के अंगदको भेजा। पुनः, अप्रधानको प्रधान बनाने चले हैं, इसीसे यहाँ अप्रधान (वानर) को प्रधान रखा। अंगद-हनुमान् प्रधान हैं। इनको यहाँ गौण रखा, इनके साथ 'समेत' शब्द देकर जनाया कि वानर यहाँ प्रधान हैं, उनके साथ ये भी हैं अर्थात् इनको सामान्य जनाया। पुनः, 'हनू' यहाँ पूरा नाम न दिया। एक कारण तो यह है कि छन्दहेतु ऐसा किया—'हनू' से हनुमान्का ग्रहण होगा, यथा—'नामैकदेशे नामग्रहणम्' (व्याकरणसूत्र)। दूसरा भाव यह है कि भक्तसे मिलने जाय तब मान छोड़कर जाय यह जनानेके लिये 'हनूमान' नाममें जो 'मान' ये अक्षर हैं इन्हें भी कविने निकाल दिया—यहाँतक 'मान' त्यागकी पराकाष्ठा दिखायी।

प० प० प्र०—नामके अंशसे सम्पूर्ण नामका बोध होता है। जैसे, अमा=अमावस्या। सत्या वा भामा=सत्यभामा। तथापि यहाँ 'कृपानिकेत' शब्दका प्रयोग करनेकी इच्छासे 'हनू' का प्रयोग करना पड़ा, नहीं तो कृपानिधान लिखकर उसकी जोड़में हनुमान् शब्द रख सकते थे। निकेत=नि केत्यते अस्मिन् इति निकेत। कित निवासे॥ जिसमें नित्य निवास किया जाता है उसीको 'निकेत' कहते हैं। भाव यह है कि अब विभीषणजी भगवान्के कृपारूपी निकेत (भवन) में नित्य निवास करेंगे। यह भाव 'कृपानिधान' शब्दसे नहीं सूचित होता।

मा० त० सु०—'अंगद हनू समेत' का भाव कि शरणागत धर्ममें अङ्गद और हनुमान्जी मुख्य हैं। अङ्गद यथा—'गहि बाँह सुरनरनाह अंगद दास आपन कीजिये'; इसका फल 'पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥' हनुमान्जी यथा—'तब रघुपति उठाइ उर लावा। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।'

सादर तेहि आगे करि बानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर॥ १॥
दूरिहि ते देखे द्वौ भ्राता। नयनानंद दान के दाता॥ २॥
बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी*॥ ३॥

अर्थ—आदरसहित उसे आगे करके वानर वहाँ चले जहाँ करुणाकी खानि श्रीरघुनाथजी हैं॥१॥ नेत्रोंको आनन्द-रूपी दान देनेवाले दोनों भाइयोंको दूरसे ही विभीषणजीने देखा॥२॥ फिर छबिके धाम श्रीरामजीको देखकर पलक रोककर एकटक देखते खड़े रह गये। अर्थात् पैरोंका चलना और नेत्रोंका पलक मारना बंद हो गया॥३॥

* म० चं०—'सादर०' ११४३, 'चले०, १२१० वें मेद हैं। (२) पायकुलक 'बहुरि०' द्रुतपा, 'रहेउ' पायकुलक।

टिप्पणी--१ **'सादर तेहि आगे करि'''** इति । (क) पहले उनका अनादर किया था, इसीसे यहाँ 'सादर' पद दिया, अर्थात् अब आदरपूर्वक लिये आ रहे हैं। आगे करना यह आदर है। (ख) पहिले अनादर और अब आदरका दूसरा भाव यह है कि भगवत्-शरण होनेमें प्रथम देवता बाधा करते हैं। ये सब वानर देवता हैं—**'बनचर देह धरी छिति माहीं।** । १ । १८८ ।', पहले इन्होंने विभीषणको शरण आनेमें रोक दिया, उन्हें श्रीरामजीके पास न आने दिया और यही राय दी कि इसे शरणमें न लीजिये। पर, उसी विभीषणपर श्रीरामजीकी प्रसन्नता देखकर अब सहायक हुए और सादर प्रभुके पास ले चले; यथा—**'धाई धारि फिरि कै गोहार हितकारी होत आई मीचु मिटत जपत रामनाम के ॥'** पुनः, (ग)—प्रभुने सुग्रीवसे जो कहा था कि **'मम पन सरनागत भयहारी'** उसे सबने सुना था, इससे सादर लिवा ले चले जिसमें उनको यह भय या संदेह न हो कि ये हमको बाँधने या मारनेके लिये जाते हैं।

२ **'चले जहाँ रघुपति करुनाकर'** इति। विभीषणजीपर प्रभुकी बड़ी कृपा हुई है, अतएव यहाँ आदि, मध्य, अन्त तीनोंमें कृपासूचक विशेषण दिये हैं, यथा—**'हँसि कह कृपानिकेत'**—(१), **'जय कृपाल कहि कपि चले'**–(२), और **'चले जहाँ रघुपति करुनाकर'**–(३) । पुनः, 'करुनाकर' विशेषण देकर यह भी जनाया कि इनपर कृपा की और आगे और भी करेंगे।

श्रीलमगोड़ाजी—क्या प्रगतियोंके इस चित्रपर स्वयं फिल्मकला भी निछावर नहीं है? यदि कवि सामने न होता तो सुन्दर आलोचना कौन करता?

टिप्पणी--३ **'दूरिहि ते देखे द्वौ भ्राता।'''** इति। इससे ज्ञात हुआ कि वानर सामनेसे हट गये हैं, रास्ता प्रभुके समीपतक साफ है, दोनों भाई सामने बैठे हुए हैं।

४ **'नयनानंद दान के दाता।'** भाव कि जितने नेत्रवाले हैं उन सबोंको, दोनों भाइयोंके दर्शनसे आनन्द प्राप्त होता है। 'दान' का भाव यह कि कोई अपने सुकृतोंके बलसे दर्शन नहीं पा सकता, इतना सुकृत किसीका भी नहीं है (कारण कि कर्तापनके अभिमानपूर्वक सकामभावसे किये जानेवाले सुकृत कर्म हैं। वे स्वयं अनित्य हैं और अनित्य फल देनेवाले हैं। अतः जो सर्वथा स्वतः सिद्ध नित्य है, क्रियासाध्य नहीं है उसकी प्राप्ति वे नहीं करा सकते। यथा—**'नास्त्यकृतः कृतेन। मुण्डक० १ । २ । १२ ।'**) प्रभु अपनी कृपासे दर्शन देते हैं। देना परमार्थ-दान है और लंकाका राज्य देना स्वार्थदान है।

प० प० प्र०—'दाता' शब्द देकर जनाया कि आनन्द तभी मिलेगा जब वे देंगे, अन्यथा उनका दर्शन होनेपर भी आनन्द न होगा। खर-दूषणादिने देखा तो उनको उनपर दया आ गयी—**'बध लायक नहिं पुरुष अनूपा'**; पर आनन्द नहीं हुआ। यदि दर्शनमात्रसे सभीको आनन्द होता तो **'जिन्ह की रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥'** यह बात असम्भव हो जाती। भावनाके अनुसार ही भगवान् दान करते हैं। सुग्रीव, बाली, तारा, अङ्गद इत्यादि किसीको भी प्रथम दर्शनमें इतना आनन्द न हुआ जितना विभीषणको हुआ।

बाबा जयरामदासजी रामायणी—शरण्यकी कृपामयी चितवन पहले शरणागतके नेत्रोंको ही अपना अनुकूल भाव जताकर जो परम संतुष्टि प्रदान करती है वही 'नयनानन्द दान' है।

मा० त० सु०—'नयनानंद दान' का भाव कि नेत्रोंके आनन्दकी अवधि यहींतक है, यथा—**'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा', 'लोचनगोचर सुकृतफल मनहु किये बिधि आनि ॥ २ । १०९ ।'''लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी ॥ इति भरद्वाजः २ । १०७ । ७ ।'**

पाँडेजी—विभीषणको संदेह था कि अङ्गीकार करेंगे या नहीं। इसीलिये नीतिके अनुसार दूरसे ही देखा तो उनको नयनानन्ददानका दाता देखा।

टिप्पणी—५ **'बहुरि राम छबि धाम बिलोकी।'''** इति। (क) पहले दोनों भाइयोंको देखा, फिर श्रीरामजीकी छबि देखकर विदेहदशाको प्राप्त हो गये। सब भाई छबिधाम हैं; पर श्रीरामजी सबसे अधिक सुखसागर हैं, यथा—**'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥ १ । १९८ । ६ ।'** इसीसे जो प्रभुको देखता है वही विदेह हो जाता है, एकटक देखने लगता है, पलक नहीं मारता। यथा—

श्रीमनुशतरूपाजी—**'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी ॥ १ । १४८ । ५ ।'**
श्रीसीताजी— **'थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें ॥ १ । २३२ । ५ ।'**
श्रीजनकपुरवासी— **'देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे ॥ १ । २७४ । ३ ।'**

श्रीपरशुरामजी—- 'रामहिं चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥ १। २६९। ८।'
श्रीमगवासी— 'एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा॥ २। ११५। ५।'
श्रीसनकादिकजी—- 'एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं।'
श्रीअत्रिजी— 'तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिये। ३। ६।'
इसी तरह दोनों भाइयोंके दर्शनसे सबको आनन्द हुआ—
श्रीविश्वामित्रजी— 'पुनि चरननि्ह मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी। १। २०७। ५।'
श्रीजनकजी और उनके मंत्रीआदि — 'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता।
मूरति मधुर मनोहर देखी। भये बिदेहु बिदेहु बिसेषी। १। २१५। ७-८।'
श्रीपरशुरामजी— 'रामु लषनु दसरथके ढोटा। दीन्हि असीस जानि भल जोटा।'
देवगण—- 'मरकत कनकबरन बर जोरी। देखि सुरन्ह भै प्रीति न थोरी॥
पुनि रामहिं बिलोकि हिय हरषे। १। ३१५। ७।'
अत्रिजी— 'प्रेमबारि दोउ जन अन्हवाये॥' 'देखि राम छबि नयन जुड़ाने। ३। ३।'

पाँड़ेजी—यहाँ 'राम' पद दिया। भाव कि ये रमानेवाली छबिके धाम हैं, इसीसे विभीषणजी इनमें रम गये। 'रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी' पदसे बाह्यनेत्रानन्दद्वारा आन्तरिक सर्वेन्द्रियोंका आनन्द दिखाया, यथा—'मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भये मगन मन सकहिं न रोकी', 'इकटक रहे निमेष न लावहिं' (मा० त०सु०)।

भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत भय-मोचन* ॥४॥

अर्थ—विशाल भुजाएँ (आजानुबाहु) हैं, लाल कमलके समान नेत्र हैं, साँवला शरीर है, (ये सब) शरणागतके भयको छुड़ानेवाले हैं। ४।

टिप्पणी—१ (क) श्रीविभीषणजीने लंकासे चलते समय 'रघुबीर'-शरणमें जाना कहा है, यथा—'मैं रघुबीरसरन अब जाउँ देहु जनि खोरि'। अतः यहाँ वीर-रसयुक्त-स्वरूपका दर्शन हुआ। अथवा, विभीषणजी शत्रु (रावण) से सभीत हैं, अतः अभयदायक वीररसयुक्त मूर्त्ति देखी। (ख) भुजबलसे शत्रुका नाश होगा, अतः प्रथम भुजाएँ देखीं। मिलान कीजिये—

(१) ''पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन। कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्व कारन करन॥ १। २०८। अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलद तन स्याम तमाला॥''

(२) ''लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ। ६। ५१। छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिमगिरि निभ तनु कछु एक लाला॥''

यहाँ आयुध नहीं कहे गये। इसमें भाव यह है कि—(१) आयुध लिये मिलनेकी विधि नहीं है; इसीसे धनुष-बाण उतारकर रख दिये हैं। अथवा (२) इस समय धनुष-बाण लक्ष्मणजीके पास हों, यथा—'लछिमन बान सरासन आनू। सोखौं बारिधि बिसिष कृसानू'। अथवा, (३) विभीषणजी भवभयत्रस्त शरणमें आये हैं, यथा—'श्रवन सुजस सुनि आएउँ प्रभु भंजन भवभीर'। और प्रभुकी भुजाएँ भवभयनाशक हैं, यथा—'सुमिरत श्रीरघुबीरकी बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं॥ १॥ ... सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभयपद ओर निबाहैं। करि आईं करिहैं करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं॥ ९॥ (गी० ७।१३)।'

२ 'कंजारुन लोचन' से कृपायुक्त नेत्रोंका दर्शन जनाया। विशेष भाव मं० सोरठा ३, बा० १। १८ (१०) और सु० ३५ (२) में देखिये।

३ 'प्रनतभयमोचन' यह सबका विशेषण है। प्रभुके सब अंग प्रणतके भय छुड़ानेवाले हैं। यथा—'पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि रामु कृपाल बाहु बिसाल भव भय मोचनं। ३। ३२।' यहाँ 'भय' का अर्थ खुल गया कि भवभयको दूर करते हैं।

मा० त० सु०—'अरुण' पद शत्रुनाशवाचक और 'श्यामलगात' पद जीवनरक्षक है। 'कंजारुणलोचन' पद भक्तोंके पोषण अर्थमें है।

* म० चं०—'भुज...' ११३९, 'श्यामल०' १२११ वें भेद हैं।

पाँड़ेजी—मनोरथकी पूर्तिके विचारसे भुजाओंको प्रथम देखा। फिर रावणपर कोप करनेवाले लाल-लाल नेत्र देखे और फिर श्याम शरीर देखा जो शरणागतके भयको छुड़ानेवाला है।

नोट—'भुज प्रलंब' 'भयमोचन' में महात्मा अक्रूरके इन विचारोंका भाव है कि 'जब मैं चरणोंमें प्रणाम करूँगा तो वे मुझे इन विशाल भुजाओंसे उठाकर हृदयमें लगायेंगे जो कालरूपी सर्पसे भयभीत होकर शरणमें आनेवालोंको अभय करनेवाले हैं। इस आलिंगनसे मैं पवित्र हो जाऊँगा, मेरी आत्मा औरोंके लिये तीर्थरूप हो जायगी और मेरे कर्मबन्धन छूट जायेंगे'। कंजारुणलोचनमें भाव है कि 'वे मुझे करुणामयी दृष्टिसे देखेंगे, तो मैं तुरत पापोंसे मुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त होऊँगा'। (श्लोक १९) यथा—'अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम्। दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम्। भा० १०। ३८। १६। सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम्। आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः। २०। अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा। सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम्। १९।

सिंघ कंध आयत उर सोहा। आनन अमित मदन मन मोहा॥ ५॥
नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता* ॥ ६॥

अर्थ—सिंहके कंधेके समान कंधे हैं, छाती चौड़ी (विशाल हृदय) शोभित है। मुख असंख्य कामदेवोंके मनको मोहित कर रहा है।५। विभीषणजीके नेत्र सजल और शरीर अत्यन्त पुलकित है। मनमें धीरज धरकर उन्होंने कोमल वचन कहे।६।

प० प० प्र०—चौ० ४, ५ की शब्दरचनापर दृष्टि डालनेसे यह प्रतीत होता है कि प्रथम चरणोंमें वीररस सूचित है और दूसरे चरणोंमें शृङ्गार और वीर है। 'भुजप्रलंब', 'भयमोचन', 'सिंहकंध' और 'आयत उर' वीररससूचक हैं। 'श्यामल गात', 'आनन अमित मदन मन मोहा', में शृङ्गाररस है। प्रथम वीररसका वर्णन करके सूचित करते हैं कि इस समय भगवान्के शरीरमें वीररसका संचार प्रधान है। प्रणतका भय निवारण करनेके लिये मानो 'फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला'। भगवान् भक्तसे मिलने और उसको अभय करनेको आतुर हो रहे हैं।

टिप्पणी—१ 'सिंहकंध' कहकर राक्षसोंको गजगण जनाया, जिनका पुरुषसिंह श्रीरामजी नाश करेंगे। 'अमित मदन मन मोहा', यथा—'जो बिलोकि बहु काम लजाहीं'। ['सिंह कंध आयत०' से भवभय-मोचनमें अलौकिक और शत्रुभय-नाशनमें समर्थतर जनाया। 'आनन अमित मदन०' से सर्वचित्ताकर्षक अति सौन्दर्ययुक्त सूचित किया यथा—'हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई' (मा०त० सु०)। 'सिंह कंध' अर्थात् ऊँचे और सुढार]।

२ 'नयन नीर पुलकि' इति। यह विभीषणकी दशा कही। श्रीरामजीको देखकर धीरज जाता रहता है; इसीसे 'धरि धीर' कहा। और कुछ उदाहरण ये हैं—

(१) 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भए बिदेहु बिदेहु बिसेखी।
प्रेम मगन मन जानि नृप करि बिबेक धरि धीर। १। २१५।'
(२) 'केहरि कटि पटपीतधर सुखमा-सील-निधान।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥ १। २३३।'
धरि धीरज एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥
(३) 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भईं सनेह सिथिल सब रानी॥ पुनि धीरज'॥ १। ३३७।'
(४) 'रामु लखनु उर कर बर चीठी। रहि गये'॥ पुनि धरि धीर'। १। २९०। ५-६।'
(५) 'राम बदन बिलोकि मुनि ठाढ़ा। मानहु चित्र'॥ तब मुनि हृदय धीर धरि'। ३। १०।'
(६) 'पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत'॥ पुनि धीरज धरि०। ४। २। ६-७।'

३—विभीषणजी तन, मन, वचनसे प्रेममें मग्न हैं। यथा—'नयन नीर पुलकित अति गाता', 'मन धरि धीर और 'कही मृदु बाता।'

प० प० प्र०—'मन धरि धीर' से जनाया कि वाणी रुक गयी है जिसकी प्रतीति आगे 'नाथ' शब्दके उच्चारणमें

* ब्र० चं०—चौ० (५), 'नयन०' पादाकुलक, 'मन०' तामरस।

मिलती है। 'नाथ !' कहकर एक दीर्घश्वास छोड़ते हैं तब आगे बोल सकते हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—तुलसीदासजीकी चित्रण-कलामें भगवान्‌के नख-शिख वर्णनोंका बड़ा ही विचित्र स्थान है। कारण कि वे इतने सुन्दर और प्रसंगानुकूल बन पड़े हैं कि यदि हम उन्हें एकत्रित कर लें तो चित्रोंमें ही सारी रामायण आ जायगी।

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥ ७॥
सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा*॥ ८॥

अर्थ—हे नाथ! मैं दशाननका भाई हूँ। हे देवताओंके रक्षक! मेरा जन्म निशाचर कुलमें है॥ ७॥ मेरा तामसी शरीर है, मुझे पाप स्वाभाविक ही प्रिय है जैसे उल्लूका सहज ही अन्धकारपर प्रेम रहता है॥ ८॥

नोट—१ 'नाथ दसानन कर' 'सरन सुखद रघुबीर' में महात्मा अक्रूरके 'न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक्। योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा॥ भा० १०। ३८। १८।' के विचारोंका भाव आ जाता है कि यद्यपि मैं दशाननका भाई हूँ और उसकी आज्ञासे ('सठ मिलु जाइ…') यहाँ आया हूँ, तो भी वे सर्वान्तर्यामी हैं, मुझे शत्रुका पक्षपाती न जानेंगे, प्रत्युत अपना भक्त ही जानेंगे।

इन सब भावोंकी पूर्ति भी आगे श्रीराममिलनमें हुई। यह 'देखा', 'भुज बिसाल गहि हृदय लगावा' और 'बोले बचन भगत भयहारी' में चरितार्थ है।

टिप्पणी—१ 'नाथ दसानन कर…' इति। (क) अपनी अधमता दिखानेके लिये अपनेको रावणका भाई कहकर अपना परिचय दे रहे हैं। पिताका नाम लेकर प्रणाम करनेकी रीति है। ये अपने पिताका नाम नहीं लेते क्योंकि वे ऋषि हैं, उससे कुलीनता पायी जाती। पिताकी जगह बड़े भाईका नाम लिया क्योंकि बड़ा भाई पिताके समान है। (ख) चार बातोंसे पुरुषकी परीक्षा होती है—कुल, संग, स्वभाव और शरीरसे। विभीषणजी अपने मुँहसे अपनी अधमता चारों प्रकारसे कह रहे हैं। क्रमसे सुनिये—'निसिचर बंस जनम' यह कुलसे अधम, 'दसानन कर भ्राता' यह संग अधमका, 'सहज पाप प्रिय' यह स्वभावसे अधम और 'तामस देहा' यह शरीरसे अधम दिखाया। मिलान कीजिये—'जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक।…' बा० २३७-२३८ (१) और बा० ३८ (१३) में विस्तृत व्याख्या और मिलान देखिये। बा० २६९ (२) 'पितु समेत कहि निज निज नामा' देखिये। 'सुरत्राता, सम्बोधनका भाव कि आप तो देवताओंके रक्षक हैं और मैं सुरत्रासक हूँ, उनके विरोधियोंके वशमें हूँ। (ग) 'नाथ' का भाव कि ऐसा अधम होते हुए भी मैं आपको अपना 'नाथ' समझकर आया हूँ, मुझे सनाथ कीजिये।

नोट—२ यहाँ मयङ्ककार आदिने शंका की है कि इन्होंने निशिचर-वंश क्यों कहा, इनके पिता तो ऋषि हैं? इसके दो कारण टिप्पणीमें आ चुके कि अपनी अधमता दिखलानेके लिये ऐसा कहा। दूसरे माता निशाचरी है, माताके ही यहाँ पले भी और वंशकी सत्यता संस्कारपर ही होती है, अतः निशिचर वंश यथार्थ है। अपनी अधमता दिखाना यह दीनता है और षट्‌शरणागतिमेंसे यह कार्पण्यशरणागति है। मानस-मयङ्कके टीकाकारोंने 'निसिचर' का अर्थ सूर्य करके 'निसिचरवंशजन्म' से रामजी वा सुग्रीवका अर्थ किया है और सुरत्राताको भी फोड़कर अर्थ किया है पर ऐसा करनेसे शरणागति प्रकरणका ही सत्यानाश हो जाता है और पूर्व और आगे दिये हुए विशेषण व्यर्थ हो जाते हैं। दूसरे इन अर्थोंमें कविने कहीं इन शब्दोंका प्रयोग नहीं किया है। विशेष दोहा ४५ में देखिये।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं—'संततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ। वंशोऽन्वायः सन्तानो वर्णाः स्युर्ब्राह्मणादयः। इत्यमरः।' सन्तति, गोत्र, जनन, कुल, अभिजन, अन्वय, वंश, अन्वाय और सन्तान—ये सात नाम वंशके हैं। अतः कुल और वंश पर्याय शब्द हैं। सो मातृकुल, पितृकुल भेदसे दो कुल या वंश होते हैं। रावणादिका पितृकुल ऋषिकुल था और मातृकुल दैत्य-कुल था। उसीसे ये लोग राक्षस कहलाये। विभीषणजीने अपना परिचय मातृकुलसे दिया, अपने स्वजनोंकी करनी विचार करके ऋषिकुलसे परिचय देनेमें उन्हें लज्जा लगी। कार्पण्य भक्तिके लक्षणोंमें है, अतः निशिचर वंश कहना सर्वथा प्राप्त था। निशिचर वंशसे परिचय देनेका कारण भी विभीषणजीने कहा 'सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥'; अतः सीधा अर्थ छोड़कर 'निशिचर' का अर्थ सूर्यनारायण करना विडम्बना ही है।

* प्र० चं०—'निसिचर…' नयमालिनी, 'सहज…' 'द्रुतपा', शेष पायकुलक।

श्रीनंगे परमहंसजी—विभीषणजीने अपना परिचय देते हुए पहले अपनेको दशाननका भाई कहा तब निशिचरवंश-में अपना जन्म कहा, यद्यपि उन्हें पहले जन्म कहना चाहिये था क्योंकि जन्म होनेपर भाईका नाता होता है। प्रथम नाता कहा जिसमें किञ्चित् भी संदेह मनमें न आवे कि शत्रुका भाईपना छिपाता है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि 'दसानन भाई' कहनेसे निशिचरवंश सूचित हो ही गया तब इसकी सूचना देनेका क्या प्रयोजन? उत्तर यह है कि दशाननका भाई कुबेर भी है (पर वह देवता है, धन्य है, शंकरजीका मित्र है, यक्षराज है और ऋषिकुलमें है), इसलिये निशाचर वंशकी सूचना दी। तीसरी शंका यह है कि ये भी ऋषिकुलके हैं तब निशिचर-वंश क्यों कहा? समाधान यह है कि कुल और वंशमें भेद है। कुल सनातन खानदानको कहते हैं और वंश जन्मके खानदानको कहते हैं। जन्मस्थल माताको कहते हैं। उनकी माता निशाचरी थी, इसलिये अपना जन्म निशिचर-वंशमें कहा।

वीरकवि—'निसिचर बंस' कहनेमें अपनी लघुता सूचित करनेकी ध्वनि है। व्यंगार्थ और वाच्यार्थ बराबर होनेसे 'तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यंग' है।

शिला—यहाँ विभीषणजीके कथनमें अति निश्चल दीन दशा दिखाते हैं। दशाननका भाई हूँ। यदि आप कहें कि तुम तो पृथक् हो, उसपर कहते हैं कि मैं निशाचर वंशमें हूँ। जो आप कहें कि वंशसे हमें क्या करना, उसपर कहते हैं कि आप सुरत्राता हैं, अतः वंश भरसे वैर हुआ। यथा—'जो मैं राम तो कुलसहित कहिहि दसानन आइ।'; अतएव मैं भी वैरी हूँ, पर आपकी शरण आया हूँ।

टिप्पणी—२ (क) 'सहज पाप प्रिय' में ध्वनि यह है कि 'धर्म प्रिय नहीं है', यथा—'मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ ॥ ४७। ७।' पुनः, भाव कि पापीके संगमें पाप प्रिय लगता है। पर मैं रावणका भाई हूँ, उसके संगसे पाप प्रिय लगता हो, यह बात नही है। मेरा स्वभाव ही ऐसा है, किसीके संगके कारण यह दोष मुझमें नहीं है किन्तु यह मेरी सहज प्रकृति है। (ख) जो विनयमें गोस्वामीजीने कहा है कि 'रिपुको अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी।' (पद १६६), वही बात यहाँ विभीषणजी अपने मुखसे कह रहे हैं। विनयके 'रिपुको अनुज', 'निसिचर' और 'कौन भजन अधिकारी' क्रमसे यहाँ 'दसानन कर भ्राता' 'निसिचर बंस जनम' और 'सहज पाप प्रिय' हैं। पापसे भजन नहीं होता, यथा—'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥' अतएव 'कौन भजन अधिकारी' और 'सहज पाप प्रिय' दोनों एक ही बातें हैं। (ग) 'जथा उलूकहिं तम पर नेहा' इति उलूकको अन्धकार सहज ही प्रिय है, वह अशुभ पक्षी है वैसे ही मुझे पाप सहज प्रिय है और देह तामसी है अतएव अशुभ हैं। जैसे तम दुःखद वैसे ही पाप दुःखद। [सूर्यके रहते हुए भी उलूकको अंधकार प्रिय, वैसे ही धर्मका ज्ञान होते हुए भी मुझे अधर्म प्रिय है। (मा० त० सु०) पुनः, उलूकसे संत विरोधी जनाया, यथा—'होहिं उलूक संत निंदारत।'

दो०—श्रवन सुजस सुनि आएउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन सरनसुखद रघुबीर ॥४५*॥

अर्थ—कानोंसे आपका सुन्दर यश सुनकर आया हूँ कि प्रभु भवभयके भंजन करनेवाले और समर्थ हैं। हे आर्तके दुःखके हरनेवाले! हे शरणागतको सुख देनेवाले! हे रघुबीर! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥ ४५ ॥

नोट—१ गीतावलीमें भी सुयश सुनकर आना और क्या सुयश सुना तथा किस मनोरथसे आये यह सब यों कहा है—'सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयो सरन। उपल केवट गीध सबरी संसृत समन। सोकश्रमसीव सुग्रीव आरति हरन॥ राम राजीवलोचन बिमोचन बिपति। स्याम नव तामरस दाम बारिद बरन॥ लसत जटाजूट सिर चारु मुनिचीर कटि। धीर रघुबीर तूनीर सर धनु धरन॥ जातुधानेसु भ्राता बिभीषन नाम। बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन॥ पतितपावन प्रनतपाल करुनासिंधु। राखिए मोहि सौमित्रि सेवित चरन। ५। ४३।' दोहेका 'भंजन भव भीर' इसमें 'उपल केवट गीध संसृत समन' है; 'त्राहि आरतिहरन······' का भाव 'सोक श्रमसीव सुग्रीव आरतिहरन।···' में है। 'सरन-सुखद रघुबीर' ही को 'राम राजीव लोचन बिमोचन बिपति।···रघुबीर···प्रनतपाल करुनासिंधु' इन शब्दोंसे कहा है।

* भ० चं—दोहरा मिश्रित है।

'त्राहि त्राहि' का भाव 'बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन। 'राखिए मोहि सौमित्रि सेवित चरन' में है। गी० ५। ४४ में भी कहा है—'दीनहित बिरद पुराननि गायो। आरतबंधु कृपाल मृदुल चित जानि सरन हौं आयो॥ तुम्हरे रिपुको अनुज बिभीषन बंस निसाचर जायो। सुनि गुन सील सुभाउ नाथ को मैं चरननि चित लायो।'

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभु' भंजन भवभीर...' आदि विशेषणोंके भाव कि आप समर्थ हैं, मैं सब प्रकार असमर्थ हूँ। आप भवभीरभंजन हैं, मैं सभीत हूँ। आप आर्तिहरण हैं, मैं आर्त्त हूँ। आप शरणसुखद हैं, मैं शरण हूँ। आप रघुवीर हैं, मैं आपके शत्रुका भाई हूँ। आपके दरबारमें दीनका आदर है, मैं सब प्रकार दीन हूँ। अथवा, 'नाथ दसानन कर मैं भ्राता।'... तम पर नेहा' को लेकर इस दोहेका भाव यह है कि—(ख) दशानन आपका विरोधी है, मैं उसका भाई हूँ, अतः शरणके योग्य नहीं हूँ। आप सुरत्राता हैं, मैं निशाचर सुरविरोधी हूँ; तात्पर्य कि जो आपके स्नेही हैं मैं उन्हींका विरोधी हूँ। और जो आपके विरोधी हैं उनका मैं स्नेही हूँ। आपको धर्म प्रिय है, मुझको पाप प्रिय। सब प्रकारसे मैं आपकी शरणके अयोग्य हूँ, किसी प्रकार भी योग्य नहीं। रही एक बात वह यह है कि मैंने आपका यह सुयश सुना है कि आप शरणसुखद हैं, कैसा भी कोई पापी हो आपकी शरण जानेपर आप उसे अवश्य शरण देते हैं, यथा—'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा॥ ३९। ७।' पुनः, भाव कि आप भवभीरके भंजनमें समर्थ हैं अतः मेरा दुःख दूर कीजिये और शरण-सुखद हैं, अतएव मुझको शरणमें रखकर अपने सुयशकी रक्षा कीजिये और मुझे शरणका सुख दीजिये। भारी शत्रुसे वीर बचाते हैं, भव भारी शत्रु है और आप रघुवीर हैं अतएव मुझे शत्रुसे बचाइये।

नोट—२ लगभग यह सब भाव श्रीधर मिश्रजीने दिये हैं—'मैं निशिचर हूँ और आपका प्रण है 'निसिचरहीन करउँ महि', दूसरे शत्रुका भाई हूँ, तीसरे सुरारी हूँ और आप सुरत्राता हैं, चौथे मैं तमोगुणी और आप सत्त्वगुणी हैं, अतः आपका विरोधी हुआ—इस तरह सब प्रकारसे वधयोग्य हूँ; पर आपका आर्तिहरण आदि सुयश सुनकर शरण आया हूँ। अब चाहे वध कीजिये, सुग्रीवके वचनके अनुकूल मुझे बाँध रखिये, चाहे 'मम पन सरनागतभयहारी' इस विरदको विचारकर अभय कीजिये। दोनों वचनोंको विचारकर ऐसा कहा।'

नोट—३ भगवान्‌ने जो सुग्रीवसे कहा था कि 'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥' उस वचनको यहाँ चरितार्थ किया। वे सभीतको शरणमें रखते हैं और ये (विभीषणजी) सभीत हैं, यथा—सरन आयउँ प्रभु भवभय-बिकल डरेउ'।

४ (क) 'श्रवन सुजस सुनि आएउँ' इति। किससे सुना? हनुमान्‌जीसे। यथा—'तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम...॥ ६ ॥ अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर। कीन्ही कृपा०। ७।' पुनः यथा गीतावल्यां—'बिषम बिषाद बारिनिधि बूड़त थाह कपीस कथा लही। गये दुख दोष देखि पद पंकज अब न साथ एकौ रही॥ ५। ३१।' अथवा, नारदादिसे सुना। नारदसे सुनना कुम्भकर्णके 'कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥ नारद मुनि मोहि ज्ञान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निरबहा॥ ६। ६२। ५-६।'; इन वाक्योंसे ध्वनित होता है। विभीषणजीसे भी कहा होगा, क्योंकि ये तो हरिभक्त ही थे। चाहे दोनोंसे एक साथ कहा हो चाहे अलग-अलग। श्रीशङ्करजीसे भी सुना ही है; यथा—'रामकी सरन जाहि सुदिन न हेरै। जाको नाम कुंभज कलेस सिंधु सोखिबे को। मेरो कह्यो मानि तात बाँधै जिनि बेरै॥ गी० ५। २७।'; पर श्रीरघुनाथजीके पास जानेका संकल्प करनेके पश्चात् शंकरजीने यह कहा है। यथा—'मातु पग सीस नाइ तुलसी असीस पाइ चले...। ५। २६।', 'कृपानिधान को मिलौं पै मिलि कै कुबेरै।...तहँई मिले महेस...॥ ५। २७।' गी० ५। ४४ में पुराणों द्वारा दीनबंधुता, कृपालुता आदि गुणों और शील स्वभावका सुनना विभीषणजीने स्वयं कहा है। स्मरण रहे कि यह सुनना प्रभुके समीप आनेके पूर्वका ही है। विभीषणजीके आनेपर जो सुग्रीवसे प्रभुने कहा है वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। (ख) 'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ...' उपक्रम है और 'श्रवन सुजस सुनि आयउँ...सरन सुखद रघुबीर' उपसंहार है।

वि० त्रि०—छः विधि शरणागतिकी हैं। 'आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृ-त्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।' (१) 'राम सत्यसंकल्प प्रभु' कहकर अपनी अनुकूलता दिखलायी। (२) 'सभा काल बस तोर' कहकर प्रतिकूलका वर्जन द्योतित किया। (३। ४) 'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ' कहकर 'रक्षिष्यतीति विश्वास' तथा 'गोप्तृत्ववरण' कहा। (५) दण्डवत् करनेसे आत्म-निवेदन दिखलाया। (६) 'निसिचर-

बंस जन्म' कहकर कार्पण्य सूचित किया। इस प्रकारसे शरणागतिकी सब विधि विभीषणजीमें दिखलायी। परंतु शरणागति वस्तु क्या है, इसका भी निरूपण होना चाहिये। अहिर्बुध्न्यसंहितामें कहा गया है कि 'अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः। त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः। शरणागतिर्नरति प्रोक्ता' इत्यादि। (१) मैं अपराधोंका आलय हूँ, (२) अकिञ्चन हूँ, (३) अगतिक हूँ, (४) 'आप ही मेरे लिये उपाय रूप हो जायँ'—ऐसी प्रार्थनाकी बुद्धि ही शरणागति है। प्रभुके सामने विभीषणजी शरणागतिका स्वरूप खड़ा किये देते हैं। 'सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥' कहकर अपना अपराधोंका आलय होना स्वीकार किया। 'आर्तिहरण' सम्बोधनसे अपना अकिञ्चन होना आर्त होना सूचित किया। 'त्राहि त्राहि' कहकर अपना अगतिक होना कहा। अतः विभीषणजीकी शरणागति स्वरूपतः भी ठीक उतरी। [पृ० ३४५, ३५२, ३५५ और ३७६ द्वितीयावृत्ति देखिये]

प० प० प्र०—'श्रवन सुजस सुनि' से ध्वनित होता है कि उन्होंने सुयशका श्रवण किया है। भगवान्का सुयश सुनानेवाले संत ही होते हैं। यथा—'बिनु सतसंग न हरि कथा'। अतः इससे यह भी सिद्ध हुआ कि इन्होंने सन्तसंग किया है। 'आयउँ' से सिद्ध होता है कि इनकी सन्तवाक्यमें दृढ़ श्रद्धा है। संतके दर्शनसे पाप मिटते हैं, उनका संग मोक्षका मार्ग है, उनसे हरिसुयश सुननेपर सब मनोरथ सिद्ध होते हैं, यथा—'संत दरस जिमि पातक टरई', 'संतसंग अपबर्ग कर', 'भवभेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि। तिन्हकर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिपुरारि (त्रिसारि)। ४। ३०।' विभीषणजीने त्रिपुरारिके अवतार हनुमान्जीसे ही श्रीरघुनाथ-यश सुना। अतः इनके सब मनोरथ पूरे होंगे। [नोट—'सरन सुखद रघुबीर' का भाव कि आप ही समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले हैं। यथा—'भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणंगतः। वाल्मी० ६। १९। ५।']

श्रीलमगोड़ाजी—सुन्दरकाण्ड वास्तवमें अति सुन्दर कथाओंका भण्डार है। कारण कि सेवाधर्मकी पराकाष्ठा हनुमान्जी-में और शरणागतधर्मका उत्तम उदाहरण विभीषणजीमें मौजूद है। श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्की विरदावली कहते हुए उनको शरणागतरक्षक और सेवकोंकी समस्त आर्ति और विपत्तिका नाशक कहा है (एकादश अध्याय ५)। मुझे बार-बार यह बात याद आती है, इसीसे लिखे देता हूँ कि कृष्णपरक ग्रन्थ होते हुए भी इस स्थानपर भागवतमें भी श्रीरामावतारपर ही (विशेषकर कलियुगमें) विशेष जोर दिया गया है; कारण कि इसी अवतारमें भगवान्ने धर्म (सत्य) और प्रेम (शील) के द्वन्द्वोंकी पराकाष्ठा दिखायी है और दोनोंकी मर्यादाओंको हर जगह निबाहा है, यह नहीं कि एकको छोड़ भागे हों, मानो 'उभय भाँति' का निर्वाह ही इस मर्यादापुरुषोत्तम अवतारका मुख्य उद्देश्य है। मुझे तो यह प्रतीत होता है कि भगवान्का उद्देश्य इस अवतारमें निर्द्वन्द्वका अर्थ यह स्थापित करनेका था कि किसी एक द्वन्द्वसे बँधे नहीं किंतु दोनोंका एकीकरण करे, द्वन्द्वसे नकेल तुड़ाकर न भाग जाय।

अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा॥ १॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥ २॥
अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी। बोले बचन भगत भयहारी॥ ३॥

अर्थ—ऐसा कहकर दण्डवत् करते देखा (त्योंही) तुरन्त प्रभु बहुत हर्षसहित उठे॥ १॥ दीन वचन सुनकर (वे) प्रभुको बहुत अच्छे लगे। उनको विशाल भुजाओंसे पकड़कर हृदयमें लगाया॥ २॥ छोटे भाई लक्ष्मणजीसहित उनसे मिलकर उनको पास बिठाकर भक्तके भयको हरण करनेवाले वचन बोले॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'अस कहि करत दण्डवत…' इति। दण्डवतसे अष्टाङ्ग प्रणाम सूचित किया। ['पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा तथा। मनसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः॥' प्र० संस्करणमें यह श्लोक हमने दिया था, पर इसका प्रमाण न ज्ञात होनेसे इस संस्करणमें प्रामाणिक ग्रन्थोंके श्लोक दे रहे हैं। आह्निक सू० पृष्ठ १४४ पूजा प्रसंगमें श्लोक इस प्रकार है—'उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा। पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते॥' अर्थात् उर, शिर, दृष्टि (नेत्र), मन, वचन, पैर, भुजा और घुटना इन आठ अङ्गोंसे युक्त प्रणामको साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं। शाण्डिल्य स्मृतिमें बताया है कि 'निधाय दण्डवद्देहं प्रसार्य चरणौ करौ। बद्ध्वा मुकुलवत्पाणी प्रणामो दण्डसंज्ञितः॥ पादौ शिरस्तथा हस्तौ निकुंच्य मुकुलाकृती। मनोबुद्ध्यभिमानेन प्रणामोऽष्टाङ्गसंज्ञितः॥' अर्थात् देहको

दण्डाकार पृथ्वीपर डालकर चरणोंको जोड़े हुए लंबी फैलाकर, हाथोंको फैलाकर अञ्जली बाँधकर इस तरह लंबा पड़कर जो प्रणाम किया जाता है उसे दण्ड प्रणाम कहते हैं। दोनों चरण, शिर, दोनों हाथ, मन-बुद्धि और अहंकार युक्त प्रणामकी अष्टाङ्ग प्रणाम संज्ञा है। भगवान्के सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करनेका विधान है कि अपनी दीनता कहता हुआ प्रणाम करे। प्रणामके समयका एक प्रसिद्ध श्लोक यह है—'**अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे। अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात् कुरु ॥**'; अतः विभीषणजीने भी दण्डवत् प्रणाम करते समय वही सब '**नाथ दसानन**'' '**त्राहि-त्राहि आरति-हरन**''' कहकर दण्डवत् की। यह बतानेके लिये '**अस कहि**''' शब्द दिये।] (ख) दीन वचन कहे और साष्टाङ्ग दण्डवत् की। आगे दोनोंको क्रमसे चरितार्थ करते हैं—'**दीन बचन सुनि**' और '**भुजबिसाल**''' तात्पर्य कि स्वामीको अपना दुःख सुनानेसे दीनताका नाश होता है। यथा—'**तुलसी राम कृपाल सों कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष ॥ दो० ९६।**' '**तुरत उठे**' क्योंकि यदि बहुत देर पड़े रहने दें तो उनका अनादर होता है। (ग) '**हरष बिसेषा**' इति। विभीषणजीने अपनेको पतित कहा यह सुनकर रामजीको विशेष हर्ष हुआ क्योंकि प्रभुका '**पतितपावन**' बाना है, यथा—'**जासु पतित-पावन बड़ बाना। गावहिं कवि श्रुति संत पुराना ॥ ७। १३०।**' पुनः, श्रीरामजीसे मिलने जब विभीषण चले तब उन्हें हर्ष हुआ था—'**चलेउ हरषि रघुनायक पासा**'। और जब विभीषणसे मिलनेको श्रीरामजी उठे तब श्रीरामजीको विशेष हर्ष हुआ। वहाँ हर्ष और यहाँ विशेष हर्ष दिखाकर सूचित किया कि श्रीरामजीसे मिलनेमें जितना हर्ष भक्तको होता है उससे कहीं अधिक हर्ष श्रीरामजीको भक्तसे मिलनेमें होता है।

२—'**दीन बचन सुनि**''' इति। (क) दीन वचन सुनकर मनमें अच्छे लगे, क्योंकि प्रभु दीनबन्धु हैं। वा, उनका दीन-दयाल विरद है, यथा—'**दीनदयाल बिरद संभारी**'। [पुनः, '**दीन बचन सुनि**' का भाव यह कि यद्यपि प्रभु अन्तःप्रेमको जानते हैं तथापि जबतक भक्त दीन वचनोंद्वारा प्रार्थना नहीं करता तबतक वह प्रभुके मनको विशेष नहीं भाता। यथा—'**सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला ॥ ४। ६। १४।**', '**तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहि जद्यपि अंतरजामी**' (वि०)] '**प्रभु**' का भाव कि शत्रुका भय और भवका भय दूर करनेको समर्थ हैं, इसीसे '**मन भावा**'। [(ख) '**भुज बिसाल गहि**' का भाव कि विभीषणजी दूर पड़े हैं, उनके उठानेके लिये बड़ी-बड़ी भुजाएँ बढ़ायीं। विभीषणजी दूरसे दर्शन करते ही ठिठक रहे, वहींसे उन्होंने दण्डवत की और वहींसे श्रीरामजीने उन्हें उठा लिया।

शंका—जब भरतजी चरणोंमें गिरे, उस समय '**परे भूमि नहिं उठत उठाये**' और हनुमान्‌जीके यहाँ '**बार-बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा ॥ ३३। १।**' अर्थात् ये उठानेसे भी न उठते थे और विभीषणजी ग्रहण करते ही उठ गये, तो क्या इनका प्रेम उनसे न्यून था ?

समाधान—भरतजी चरणपर गिरते ही अति ग्लानिसे चिन्तित हो गये,—ग्लानिवश न उठते थे। हनुमान्‌जीसे जब प्रभुने कहा कि मैं तुमसे उऋण नहीं और '**सनमुख होइ न सकत मन मोरा**' तब वे घबड़ाये कि प्रभु मुझे त्यागते हैं, अतएव आर्त होकर चरणोंपर गिर पड़े और त्राहि-त्राहि करने लगे, उठानेसे न उठे। इसमें हेतु यह है कि मैं तो दास हूँ, कैंकर्य मेरा मुख्य धर्म है, तब आप ऐसा क्यों कहते हैं ? और यहाँ विभीषणजी चाहते थे कि प्रभु मुझे स्वीकार करें; अतएव केवल भुजमात्रके अवलंबनसे उठ गये। अथवा, विशाल शब्दसे बलपूर्वक उठाना सूचित किया, क्योंकि विभीषणजी तो प्रेममें मग्न थे, उन्हें उठनेकी सुध ही न थी। श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसङ्गमें भी '**भुज बिसाल गहि लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई ॥**' कहा है। (मा० त० सु०)]

रा० शं० श०—विभीषणजीकी दृष्टि पहले भुजाओं पर ही पड़ी थी, इसलिये पहले भुजाओंने उनका हित किया। फिर चौड़ी छातीपर, इसीलिये बादको छातीने अपनाया।

पाँड़ेजी—'**भुज बिसाल**' अर्थात् ये ऐसी भुजाएँ हैं कि जिसको एक बार पकड़ा फिर कभी न छोड़ा।

पं० रा० कु०—श्रीरामजीका चलना नहीं कहते और विभीषणजी दूर पड़े हैं तब दूरसे उठाना और मिलना कैसे बने ? इससे ज्ञात हुआ कि भुजा बढ़ाकर उठाया। यथा—'**उठे उमँगि आनंद-प्रेम-परिपूरन बिरद बिचारि कै। भयो बिदेह बिभीषन उत इत प्रभु अपनपौ बिसारिकै ॥ भली-भाँति भावते भरत ज्यों भेंट्यो भुजा पसारि कै ॥ गी० । ५ । ३६ ।**' इति पुनः, यथा—'**रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी। सरन गये आगे होइ लीन्ह्यो भेंटेउ भुजा पसारी।**' इति

विनये । १६६ ।' अति प्रियको लोग हृदयसे लगाते हैं, विभीषण श्रीरामजीको अत्यन्त प्रिय हैं, अतएव उन्हें हृदयसे लगाया यथा—'सुनु लंकेस सकल गुन तोरे । ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे ॥'

मा० त० सु०—'तुरत उठे' पदसे अनुमान होता है कि प्रभु चले भी । इसी प्रकार भरतजीके प्रकरणमें श्रीभरतजीका दूरसे प्रणाम करना लिखा और प्रभुका उठकर उठाना लिखा परन्तु चलना नहीं लिखा । प्रकरण देखने और अनुमानसे सिद्ध होता है कि प्रभु चले, वहाँ—'कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा' का छूटना लिखा । इसमें हेतु यह कि प्रभु वहाँ असावधान थे, किंतु यहाँ विभीषणजीसे मिलनेके लिये सावधान हैं, अतः यहाँ धनुष आदिका छूटना नहीं कहा ।

वि० त्रि०—पूर्णतः शरणागत देखकर सरकार स्वयं उठ पड़े । उठते ही सबने देखा, कैसे विभीषणके पास पहुँचे यह किसीने न देखा । यह सरकारका लाघव है, यथा—'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े । काहु न लखा देख सब ठाढ़े ॥'. इतनी त्वराका कारण सरकारकी भक्तवत्सलता है, शरणागतको जमीनपर पड़ा हुआ नहीं देख सकते । सरकार आजानुबाहु हैं, विभीषणके उठानेमें अधिक झुकना भी न पड़ा, उठाकर हृदयसे लगा लिया ।

टिप्पणी—३ 'अनुज सहित मिलि···' इति । (क) भाईसहित मिलना न कहते तो विभीषणसे मिलनेमें उनकी अप्रसन्नता समझी जाती जैसी सुग्रीवकी अप्रसन्नता जान पड़ी । जिसे श्रीरामजी अङ्गीकार करते हैं, उसे लक्ष्मणजी भी अङ्गीकार करते हैं । जब श्रीरामजीने उन्हें हृदयसे लगाया और वे प्रभुके मनको अच्छे लगे तब लक्ष्मणजीने भी उन्हें हृदयसे लगाया । पुनः, राजाओंसे मिलनेका ऐसा ही कायदा है, यथा—'सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा ॥ कि० ४ । ७ ।' (गीतावलीमें सबसे विभीषणजीको मिलाकर परम निकट बैठाना लिखा है, यथा—'सादर सबहि मिलाइ समाजहि निपट निकट बैठारि कै । ५ । ३ । ६ ।'; मानसमें कविकी सावधानता दृष्टिगोचर होती है । 'कर गहि परम निकट' बिठाये जानेका सौभाग्य श्रीहनुमान्‌जीको मिला है) । (ख) 'ढिग बैठारी' । यह अत्यन्त आदर है, यथा—'अति आदर समीप बैठारी । बोले बिहँसि कृपाल खरारी ॥ ६ । ३७ । ४ ।', विशेष 'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा । कर गहि परम निकट बैठावा ॥ ३३ । ४ ।' में देखिये ।

४ जैसे विभीषणजी मन वचन कर्मसे प्रभुके प्रेममें मग्न थे वैसे ही यहाँ प्रभुने भी इनमें अपना तन मन वचन लगाया । तनसे भक्तका भय दूर किया और देखकर उठे, भुजासे उठाकर हृदयसे लगाया । अब वचनसे भक्तका भय हरते हैं और आगे उरमें बसाना कहते हैं—'अस सज्जन मम उर बस कैसे । लोभी हृदय···' ।

कहु लंकेस सहित परिवारा । कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥ ४ ॥
खलमंडली बसहु दिनराती । सखा धर्म निबहइ केहि भाँती* ॥ ५ ॥

अर्थ—हे लंकेश ! परिवारसहित अपना कुशल कहो । तुम्हारा निवास कुठौर (बड़े बेमौके, बुरे स्थानपर) है ॥ ४ ॥ हे सखा ! तुम दिन-रात खलोंके समाजमें रहते हो, तुम्हारे धर्मका निर्वाह कैसे होता है ? ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ 'कहु लंकेस···' इति । (क) लंकेश बनानेकी इच्छा है; इसीसे लंकेश सम्बोधन देकर लङ्कापति बनाया । लङ्काके भविष्याधिपत्यका इस शब्दसे प्रथम ही बीजविन्यास कर दिया । यहाँ 'भाविक अलङ्कार' है । वचनसे 'लङ्केश' कहते ही वे लङ्केश हो गये; क्योंकि प्रभुका वचन असत्य नहीं होता, यथा—'जो कछु कहेहु सत्य सब सोई । सखा बचन मम मृषा न होई ॥ ४ । ७ । २३ ।' (ख) परिवारकी कुशल पूछी क्योंकि 'प्रनत कुटुंबपाल रघुराई' । कुशल पूछनेके हेतु 'कुठाहर बास' और 'खल मण्डलीमें निवास' है जहाँ सज्जनोंके लिये अनेक विघ्न बने ही रहते हैं । यथा—'मिलत एक दारुन दुख देहीं' । 'कुठाहर' में कुशल असम्भव है, यथा—'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी । जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी ॥' (यह विभीषणजीने श्रीहनुमान्‌जीसे स्वयं ही कहा है ।) (ग) 'बास तुम्हारा' का भाव कि औरोंके लिये तो वह 'सुठाहर' ही है किंतु तुम्हारे लिये 'कुठाहर' है ।

२ 'खल मंडली बसहु···' इति । (क) किस बातकी कुशल पूछी, यह यहाँ स्पष्ट किया । धर्मका निर्वाह होना कुशल कहलाता है । यही सन्देह हनुमान्‌जीने भी किया था कि 'लंका निसिचर निकर निवासा । इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ॥' (ख) 'खल मंडली बसहु' अर्थात् उनके बीचमें बसते हो, जहाँ धर्म कानसे भी नहीं सुनायी देता, यथा—'अस भ्रष्ट

* भ० चं०—दोहा ४५ (१, २, ३, ५) 'कहु०' पायकुलक, 'कुशल०' तामरस ।

अघारी भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना । १ । १८३ ।'; तात्पर्य कि खल धर्मके नाशक हैं, यथा—'जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला । सो सब करहिं बेद प्रतिकूला ॥ १ । १८३ । ५ ।' यहाँ कुठाहरका अर्थ स्पष्ट किया कि चाहे सोनेका चाहे मणिका स्थान बना हो पर जहाँ खलमण्डली है वही कुठाहर है [इससे सूचित किया कि ऐसा स्थान धर्माचरणके लिये उपयुक्त नहीं है । (प० प० प्र०)] और चाहे झोपड़ी हो पर वहाँ संतमण्डली हो तो वही सुठाहर है । (पुनः, 'खलमण्डली' का भाव कि एक खलका ही सङ्ग दुखदायी होता है, क्योंकि 'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी । अहि मूषक इव'''। ७ । १२१ । १८ ।', 'पर दुख हेतु असंत अभागी । ७ । १२१ । १५ ।' और तुम तो खलसमाजमें ही रहते रहे हो तब तो धर्मका निर्वाह वहाँ असम्भव हो था, क्योंकि खलोंका स्वभाव ही है कि 'करहिं मोहबस द्रोह परावा । संत संग हरिकथा न भावा ॥ ' (ग) 'दिन राती' । भाव कि कुछ भी समयका अन्तर पड़े तो धर्म निबह जाय । पर तुम्हें तो कभी भी छुटकारा ही नहीं मिलता । यह बात सुनकर विभीषणजी कुछ भी न बोले, तब प्रभु स्वयं ही कहने लगे । [सखा सम्बोधन करके पूछनेका एक भाव यह है कि तुम्हारा हमारे साथ सख्यत्व धर्म किस प्रकार निबहता है । (पां०)]

मैं जानौं तुम्हार सब रीती । अति नय निपुन न भाव अनीती ॥ ६ ॥
बरु भल बास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देइ बिधाता* ॥ ७ ॥

अर्थ—मैं तुम्हारी सब रीति (व्यवहार) जानता हूँ । तुम नीतिमें अत्यन्त निपुण हो । तुम्हें अनीति अच्छी नहीं लगती ॥ ६ ॥ हे तात ! नरकका वास भले ही हो पर विधाता दुष्टका सङ्ग न दे ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ 'मैं जानौं तुम्हार सब रीती ।'''' इति । (क) भाव यह कि जैसे विभीषणजी लङ्कामें भी रहकर श्रीरामजीकी रीति जानते हैं, वैसे ही श्रीरामजी उनकी रीति जानते हैं । (ख)—'सब रीति'=लोक रीति, वेदरीति, धर्मरीति, साधुरीति और नीतिरीति । (ग) प्रथम 'खल मंडली बसहु' कहकर अब 'न भाव अनीती' कहा । इससे जनाया कि उनका दोष तुममें नहीं व्याप्त हुआ, यथा—'बिधिबस सुजन कुसंगत परहीं । फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥ १ । ३ । १० ।', 'अहि अघ अवगुन नहि मनि गहई । २ । १८४ । ८ ।' (घ) विभीषणके 'सहज पाप प्रिय' का यह उत्तर है—'मैं जानौं''' ' । अर्थात् तुम पापी नहीं हो, धर्मात्मा हो । [ऐश्वर्यभावमें तो श्रीरामजी स्वतः सर्वज्ञ होनेसे सब जानते हैं । माधुर्यपक्षमें श्रीहनुमान्‌जीसे सुनकर जानते हैं ।]

२ 'बरु भल बास नरक कर''' ' इति । (क) 'देइ बिधाता' का भाव कि विधिवश सज्जन कुसङ्गतिमें पड़ते हैं वही यहाँ कहते हैं कि विधाता दुष्टसङ्ग न दे । तब प्रश्न होता है कि पापके फलका भोग कैसे होगा ? उसपर कहते हैं कि कुसङ्गके बदलेमें नरकवास दे दें वह अच्छा है । [यद्यपि नरकका वास अङ्गीकार करने योग्य नहीं है फिर भी दुष्ट-सङ्गकी अपेक्षा उसे गुणकारी मानकर स्वीकार करना 'अनुज्ञा अलङ्कार' है । (वीर)] (ख) विभीषणजीने अपनेको रावणका भाई कहकर अपनेमें सङ्ग-दोष दिखाया । श्रीरामचन्द्रजी अपनी ओरसे इस बातको समझकर दुष्ट-सङ्गका दोष कहते हैं । (ग)—विभीषणजीने उनसे कुछ न कहा, हनुमान्‌जीसे कहा था, यथा—'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी । जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी ॥' और कुम्भकर्णसे भी कहा है कि 'तात लात रावन मोहि मारा । कहत परम हित मंत्र बिचारा ॥ लं० ६३ ।'; इस भेदसे जनाया कि स्वामीसे प्रपञ्चकी बात न कहे और न बहुत कहे, यथा—'सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि । २ । ३०० ।'

नोट—१ 'बरु भल बास नरक कर ताता' इति । नरकवासको भला कहा, क्योंकि—(क) वहाँ भगवान् याद आते हैं और दुष्टकी सङ्गतिमें भगवान् कभी याद नहीं आते । (नं० प०) । (ख) वहाँ पापरूप अपकर्मोंका प्रायश्चित्त हो जाता है । नरकको निवृत्ति तो हो भी जाती है पर खल-सङ्गसे प्रथम भी दुःख और अन्तमें नरकका भी दुःख, दुःखकी निवृत्ति कभी भी नहीं होती । (मा० त० भा०) । 'वरं हि नरके वासो नतु दुश्चरिते गृहे । नरकात् क्षीयते पापं कुगृहान्न निवर्तते ॥' (गरुड़पुराण) । नरकवास क्यों अच्छा है ? इसका कारण इस श्लोकमें दिया है कि नरक-भोगसे पापका क्षय होता है और कुगृहवाससे तो पाप बढ़ता ही है ।

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीतुलसीदासजीकी कलामें सिद्धान्त और उपदेशपूर्ण वाक्य भी ऐसे मौकेके होते हैं कि वे रस और

* अ० चं०—'अति०' चण्डी, 'दुष्ट०' स्वागता, शेष पादाकुलक ।

भावसे ओत-प्रोत हो जाते हैं, रूखे-सूखे नहीं रह जाते।

अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया* ॥ ८ ॥

दो०—तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहु मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम ॥ ४६ ॥

अर्थ—हे रघुराज! अब चरणोंके दर्शनसे कुशल है, जो अपने जन जानकर मुझपर दया की (भाव कि जब आप अपना जन जानते हैं, तब दया करते हैं, तब आपके चरणोंके दर्शन होते हैं और दर्शन होनेसे कुशल होता है) ॥ ८ ॥ तबतक जीवका कुशल नहीं और न स्वप्नमें भी मनको विश्राम (मिलता) है जबतक शोक-धाम (शोकका घर), कामको त्यागकर वह श्रीरामको नहीं भजता ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'अब पद देखि कुसल' अर्थात् पद ही कुशलका मूल है, यथा—'कुसलमूल पद पंकज पेखी। मैं तिहुँ काल भाग्य निज लेखी ॥२।१९५।७।' (ख) 'अब पद देखि कुसल' से अपना कुशल कहा और 'जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया' से परिवारका कुशल जनाया। यथा—'अब प्रभु परम अनुग्रह तोरें। सहित कोटि कुल मंगल मोरें ॥२।१९५।८।'

२ विभीषणजीने पाँच प्रकारसे कुशल कही—पदारविन्दके दर्शनसे—(१)। प्रभुकी दयासे—(२)। भजनसे, यथा—'जब लगि भजत न'—(३)। रामजीके हृदयमें निवाससे, यथा—'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना ॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा।' क्योंकि जबतक खल हृदयमें बसते हैं तबतक कुशल कहाँ सम्भव है।-- (४)। प्रभुप्रतापके हृदयमें बसनेसे, यथा—'ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी ॥ तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभुप्रताप रबि नाहीं ॥' ममतादिके रहते सुख नहीं। (५)।

३ 'अब पद देखि' उपक्रम है, 'देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेब्य जुगल पदकंज' उपसंहार है। पदके दर्शनसे प्रसंग उठाया और उसीपर समाप्त किया।

४ (क) 'जानि जन दाया।' जीवको अपना उत्पन्न किया हुआ जानकर उसपर दया करते हैं, यथा—'अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया ॥७।८७।' जीवकी कुशल नहीं होती है, कुशल तभी होती है, जब प्रभु अपना जन जानकर दया करते हैं। यही भाव 'अब' शब्दका है, अर्थात् तब न थी क्योंकि तब आपके पदकमलका दर्शन प्राप्त न था, अब हुआ। (ख) 'जौं' का भाव कि यदि शत्रु रावणका भाई और राक्षस पापी समझकर आप दया न करते तो कुशल न होती।

५ (क) 'तब लगि कुसल न...' इति। कुशल और विश्राम दो शब्द देकर बाहर और भीतर दोनोंका कुशल और विश्राम जनाया। 'न' और 'सपनेहु' दोनों दीप-देहली न्यायसे दोनोंमें लगेंगे। (ख) 'शोक धाम तजि काम' इति। काम भजनका बाधक है; इसीसे उसे छोड़कर भजन करनेको कहा, यथा—'बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम। तिन्हके हृदयकमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥ ३।१६।'; भाव कि निष्काम भजनसे प्रभु हृदयमें बसते हैं; तब कामादि विकार वहाँसे भाग जाते हैं; जबतक निष्काम भजन नहीं होता तबतक विश्राम नहीं मिल सकता, यथा—'पाकारिजित काम बिश्राम हारी। विनय ५८।' भजन ही मनको विश्राम देनेवाला है। (ग) ☞ शोक होना कुशलका न होना है! जैसे लंकामें विभीषणकी कुशल न थी वैसे ही प्राणीके हृदयरूपी लंकामें कामादि विकारोंके रहते जीवका कुशल नहीं। यह उपदेश है।

नोट—१ 'जब लगि भजत न राम कहुँ०', यथा—'हरिमायाकृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं। भजिय राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं ॥ ७ । १०४ ।' 'काम' समस्त वासनाओंका वाचक है। [श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—'तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः। तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥' (भा० ३ । ९ । ६ ।) अर्थात् जबतक यह जीव आपके अभयरूपी चरणोंको नहीं भजता तभीतक धन, गृह, सुहृद्‌के कारण होनेवाला भय है। तभीतक शोक, आकांक्षा, पराभव, भारी लोभ और कष्टकी जड़ 'मैं हूँ' 'यह मेरा है' इस प्रकारका असत् आग्रह भी रहता है। (ब्रह्माजीने ये वचन भगवान्‌से कहे हैं)। कामनाएँ शोककी देनेवाली हैं, यथा—'तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम। सेए सोक समर्पई बिमुख भये अभिराम ॥ दो० २५८।'; इसीसे कामको शोकधाम कहा।

* म० चं० ने सात ही अर्धालियाँ दी हैं। दोहा ४६ मच्छ दोहा है।

उनसे विमुख होनेपर ही शान्ति प्राप्त होती है, इसीसे 'तजि काम' कहा।]

तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ १॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥ २॥

शब्दार्थ--मच्छर=मत्सर, ईर्ष्या, डाह।

अर्थ—लोभ, मोह, मत्सर, मद और मान आदि अनेक खल तबतक हृदयमें बसते हैं, जबतक धनुष-बाण और कमरमें तरकश धारण किये हुए श्रीरघुनाथजी हृदयमें नहीं बसते॥ १-२॥

टिप्पणी—१ (क) हृदयमें काम ही नहीं किंतु और भी बहुत विकार हैं; इसीसे 'नाना' पद दिया। और षट् शत्रु जनानेके लिये छः विकार कहे—एक 'काम' तो दोहेमें कहा गया और पाँच यहाँ कहते हैं। (ख) 'खल मंडली बसहु दिन राती।...' इस वचनका उत्तर दे रहे हैं कि बिना आपके इसका संग नहीं छूटता, बाहरके खल छूटे तो भीतर अनेक खल हैं। (ग) खलोंमें 'काम' को प्रथम स्थान दिया, आदिमें कहा (क्योंकि यह सबसे प्रबल और प्रधान है), यथा--'मारि कै मारु थप्यो जग मैं जाकी प्रथम रेख भट माँहीं। वि० ४।', खल कामादि निकट नहिं जाहीं। ७। १२०। ६।', 'काम आदि मद दंभ न जाके। ३। १६। १२।' जैसे खलोंमें मेघनादका आदि स्थान है, वैसे ही षट्विकाररूपी खलमंडलीमें कामका आदि स्थान है, मेघनादको कामसे उपमा दी गयी है, यथा—'बारिदनाद जेठ सुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू॥', जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहिं परावन होई॥१।१८०।', 'पाकारिजित काम बिश्रामहारी' (विनय ५८)।

प० प० प्र०—विभीषणजीने लोभ, मोह, मत्सर, मद और मानको ही कहा। काम और क्रोधको नहीं कहा। कारण कि बिना काम, क्रोधके त्याग किये कोई भगवत्सम्मुख होता ही नहीं। शरण जानेपर भी मान, प्रतिष्ठाका लोभ, भगवान्‌की गूढ़ लीला देखनेपर मोह, भक्तिका और काम-क्रोधादिको जीतनेका मद (गर्व), अपनेसे दूसरोंकी अधिक मान-प्रतिष्ठा देखकर मत्सर, इत्यादि अनेक खल हृदयमें प्रवेश कर सकते हैं। इस कथनमें विभीषणजीका आशय यह है कि दर्शनसे नेत्रोंको तो अतीव आनन्द हुआ पर जबतक मेरे हृदयमें आप साकार श्रीरघुनाथरूपसे न बसेंगे तबतक मेरे हृदयको पूरी शान्ति न मिलेगी। अतएव यह कृपा कर दीजिये।

टिप्पणी—२ 'जब लगि उर न बसत रघुनाथा।...' इति। (क) 'रघुनाथ' पद देकर जनाया कि सगुन ब्रह्म जब बसें तब मन निर्विकार हो। शत्रुको मारनेके लिये धनुषबाण लेकर हृदयमें बसकर दासकी रक्षा करते हैं, यथा—'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। ३। ४३।' निर्गुन ब्रह्म रक्षा नहीं करते। यथा—'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥ १। २३। ७।' उदाहरण—निर्गुन उपासक लोमशको क्रोध हुआ, यथा--'उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा॥' सगुण उपासक भुशुण्डिजीको क्रोध न आया, यथा—'उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥ ७। ११२।' निर्गुण ब्रह्मने ऋषिकी रक्षा न की, सगुणने भुशुण्डिकी रक्षा की। यथा—'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहि मोर बल निजबल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥', 'करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥', (आ० ४३)।

मा० त० सु०—श्रीविभीषणजी हृदयमें वीरस्वरूपका ध्यान रखकर लङ्कासे चले हैं; यथा—'राम सत्यसंकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि। मैं रघुबीर सरन अब जाउँ...। ४१।'; अतः इस समय भी वीरभावसे ही देख रहे हैं। दूसरे, श्रीरामजी इस समय शत्रुनाशनमें तत्पर होनेसे शस्त्रसम्पन्न ही रहा करते थे, अब उन्हें शरचापादियुक्त देखा।

श्रीलमगोड़ाजी--सामवेदके अन्तमें कहा है कि आप "सबके ऊपर शासक होनेसे सबके भय देनेवाले (भीम) हैं। आप हमारे बाहरी और अन्तः शत्रुओंका, राजाके समान विनाश करें।" पर हम अगर-मगरमें पड़े रहते हैं जो रजोगुणका प्रभाव है (जैसे यदि वे राजा हैं तो जीत लूँगा और यदि भगवान् हैं तो भी उनके हाथसे ही मरना अच्छा है) और प्रत्यक्ष प्रकट होनेपर भी शरणागत नहीं होते। रावणकी अवस्था भी गनीमत है, नहीं तो अंग्रेजीकी कहावत ही ठीक है कि 'हम युगोंतक प्रभुकी प्रतीक्षा करते हैं और जब वे आते हैं तब हम उन्हें सूलीपर चढ़ा देते हैं।' कारण कि चारों तरफ तमोगुणका ही राज्य है। हाँ, इसीलिये तो 'धनुषधारी राम' की जरूरत है।

ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥ ३॥

तब लगि बसत जीव मन माहीं । जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ॥ ४ ॥

अर्थ—ममतापूर्ण अँधेरी रात है । राग-द्वेषरूपी उल्लुओंको सुख देनेवाली है ॥ ३ ॥ ये तबतक जीवके हृदयमें बसते हैं जबतक प्रभुप्रतापरूपी सूर्य (वहाँ) नहीं है । अर्थात् जैसे सूर्योदयसे अन्धकारका नाश हो जाता है वैसे ही हृदयमें राम-प्रतापके आनेसे ये विकार नष्ट हो जाते हैं । रामप्रताप सूर्य है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) षट्शत्रुरूपी निशाचरोंका नाश कहकर अब 'निशा' का नाश कहते हैं, क्योंकि जबतक यह बनी रहेगी यही दुःख देगी । (ख) स्त्री, पुत्र, धन, धाम, प्रतिष्ठा आदिमें आसक्ति ममत्व है, यथा—**'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी ॥ वि० १४० ।'** ममता सदा तरुण बनी रहती है, इसीसे उसको 'तरुन तमी अँधियारी' अर्थात् अमावस्याकी और वह भी अर्द्धरात्रिके घोर अन्धकारवाली रात्रिसे उपमा दी । तमी= रात्रि, निशा । पुनः (ग) ममतामें कुछ सूझता नहीं, इससे 'अँधियारी' कहा । (घ) राग-द्वेषको ममताके स्नेही कहनेका भाव कि जहाँ ममत्व है वहीं राग-द्वेष (किसीसे प्रीति, किसीसे विरोध) है, जैसे उल्लू अन्धकारका स्नेही है ।

मा० त० सु०—जिस प्रकार यहाँ 'ममता तरुन तमी अँधियारी' कहा, उसी प्रकार बालकाण्डमें **'नृपन्ह केरि आसा निसि नासी ॥ १ । २५५ । १ ।'**, अरण्यकाण्डमें **'नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ॥ ३ । ४४ । ७ ।'** और उत्तरमें **'प्रथम अबिद्या निसा नसानी'** कहा है । पुनः, जिस प्रकार यहाँ 'रागद्वेष उलूक सुखकारी' कहा उसी प्रकार बालकाण्डमें **'कपटी भूप उलूक लुकानें'**, अरण्यमें 'पाप उलूक निकर सुखकारी' और उत्तरमें 'अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने' कहा है । मायाका प्रधान रूप स्त्री ही होती है, यथा—'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि', 'नारि बिस्नु माया प्रगट' । ममताके उदयका भी प्रधान कारण नारी ही है, अविद्याका मूल भी स्त्री ही होती है और राजाओंकी आशाओंका कारण भी नारी ही है; अतएव नारी ही निविड़ (घनी) अँधियारी रात्रि हुई । क्योंकि श्रीराघवने स्पष्ट कहा है, यथा—**'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि । तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ॥'**, पुनः, **'अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि । ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि ॥'**; पुनः, **'एहि के एक परम बल नारी । तेहि तें उबर सुभट सो भारी ॥'** पापरूपी उलूक सब जगह रहता है ।

प० प० प्र० स्वामीका भी यही मत है कि ''यहाँ 'ममता' 'नारि निबिड़ रजनी अँधियारी' नारिका, मायाका ही ग्रहण करना उचित है । यह ऊपरकी अर्धालीसे मिलान करनेसे स्पष्ट हो जाता है । यहाँ ध्वनितार्थ यह है कि रावणके हृदयमें **'काल-राति निसिचर कुल केरी । तेहि सीता पर प्रीति (ममता) घनेरी'** इस ममतारूपी रात्रिका नाश लंकामें आपके प्रतापरवि-के उदित हुए बिना नहीं होगा ।''

टिप्पणी—२ 'तब लगि बसत···' यथा—**'जब ते राम प्रताप खगेसा । उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥···प्रथम अबिद्या निसा नसानी ॥ अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने । काम क्रोध कैरव सकुचाने ॥ ७ । ३१ ।'**, **'तुलसी मिटै न मोह तम किये कोटि गुन ग्राम । हृदय कमल फूलै नहीं बिनु रबिकुल रबि राम ॥ वै० सं० २ ।'** यहाँ 'परम्परित रूपक अलंकार' है । प्रथम विनोक्तिकी ध्वनि भी प्रदर्शित हो रही है ।

अब मैं कुसल मिटे भय भारे । देखि राम पद कमल तुम्हारे ॥ ५ ॥
तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला । ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला ॥ ६ ॥

अर्थ—हे राम ! आपके पदारविन्द देखकर भारी भय मिटे । अब मैं कुशलसे हूँ ॥ ५ ॥ हे कृपालु ! आप जिसपर अनुकूल हों उसे तीनों प्रकारकी भव-पीड़ा नहीं व्याप्त होती (भाव कि मुझे तो आपने अपने हृदयसे लगाया तब भवशूल अब कहाँ रह सकता था) ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम चरणदर्शनसे कुशल कही थी । जब अन्तःकरणके खलोंका नाश कहा तब यहाँ कुशल और भारी भयका मिटना कहते हैं । (ख) 'अब मैं कुशलसे हूँ' अर्थात् कामादि खल मिटे, ममता मिटी, रागद्वेष मिटे, भारी भय मिटे, तीनों शूल मिटे । [पुनः, 'अब' का भाव कि जबतक मैं सुत-वित-कलत्रादिमें अनुरागयुक्त हो आपका भजन करता था तबतक विषय-वासना रहनेसे कुशल नहीं था, जब सबको त्यागकर चरणकमलोंको देखा तब कुशल हुआ और भव-भाररूपी **'ममता तरुन तमी अँधियारी'** मिटी जिससे मैं सुखी हुआ । यथा—**'सुखी मीन जे नीर अगाधा । जिमि हरिसरन**

न एकौ बाधा ॥' (मा० त० सु०)]

२ 'देखि राम पद कमल तुम्हारे' इति । भाव कि—(क) भीतरके दुष्टोंका भारी भय है सो आपके चरणोंके ध्यान-से निवृत्त होता है, और मुझे तो साक्षात् दर्शन हुआ (तब क्यों न मिटते) । ममता, राग और द्वेष जिन आपके प्रतापसे नाश होते हैं वे ही आप मेरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं तब ये सब विकार मेरे हृदयसे क्यों न निकल जाते । तात्पर्य कि अब ये कोई विकार मेरे हृदयमें नहीं रह गये । अथवा, (ख)—जिसके हृदयमें आप और आपका प्रताप निवास करे उसमें विकार नहीं रह जाते और मुझे तो आपने हृदयसे लगाया, मेरा तो अहोभाग्य है ।

३—उरमें लगाना यह अनुकूलता है । आपकी प्रसन्नतासे भवशूल नहीं होता, यथा—'देखि पवनसुत पति अनु-कूला । हृदय हरष बीती सब सूला', 'जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे । भवखेद छेदनदच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे ॥ ७ । १३ ।' कृपा करना अनुकूलता है, इसीसे अनुकूल होनेमें 'कृपाल' विशेषण दिया ।

वंदनपाठकजी—त्रिविध भवशूल ये हैं—'दैहिक, दैविक, भौतिक'—(१), जन्म-जरा-मरण—(२), उत्पत्ति-पालन-लय—(३), त्रयशरीर, त्रय अवस्था और त्रयगुण—(४), सुत बित नारि ईषना तीनी'—(५), और 'काल कर्म स्वभाव' यथा—'काल सुभाउ करम बरिआई । भलउ प्रकृति बस चुकइ भलाई'—(६) ।

पाँड़ेजी—यहाँ दैहिक शूल राज्य मनोरथ, दैविक शूल गति अगतिका, भय और भौतिक शूल रावणकृत जो भय है—ये सब मिटे ।

मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ । सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ ॥ ७ ॥
जासु रूप मुनि ध्यान न आवा । तेहि प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा* ॥ ८ ॥

अर्थ—मैं निशाचर हूँ, मेरा अत्यन्त अधम स्वभाव है, (मैंने) शुभ आचरण (व्यवहार) कभी भी नहीं किये ॥७॥ जिसका स्वरूप मुनियोंके ध्यानमें नहीं आता, उन्हीं प्रभुने हर्षित होकर मुझे हृदयसे लगाया ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'मैं निसिचर''''इति । अपनेको निशिचर कहा, क्योंकि निशिचर शुभ आचरण कदापि नहीं करते । यथा—'मानहिं मातु पिता नहिं देवा । साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥ जिन्ह के यह आचरन भवानी । ते जानेहु निसिचर सब प्रानी ॥ १ । १८४ ।' (ख) 'अति अधम' । अर्थात् निशाचर अधम होते ही हैं, मैं उनमें भी अधिक अधम हूँ । ऐसे ही शबरीजीने अपने सम्बन्धमें कहा है, यथा—'अधम ते अधम अधम अति नारी । तिन्ह महँ मैं अति मंद अघारी ॥ ३ । ३५ । ३ ।' [वा, निशाचर होनेसे अधम और कभी भी शुभाचरण न करनेसे 'अति अधम' कहा । (मा० त० सु०) । ☞ यहाँ संक्षेपमें 'निशाचर' और 'अधम' की व्याख्या बतायी कि 'जिनका स्वभाव अधम है वे ही निशाचर हैं' और 'जो शुभ आचरण नहीं करते वे ही अधम हैं ।' इसीका विस्तार बालकाण्ड १८४ में है । (प० प० प्र०)] (ग) तन मन वचन तीनोंसे अधमता दिखायी । यथा—'मैं निसिचर' (तन), अधम सुभाऊ' (मन), 'सुभ आचरन कीन्ह नहिं' (कर्म) और वचनसे कह ही रहे हैं । (घ)—शुभ आचरणसे भगवान् मिलते हैं, यथा—'सब साधन कर सुफल सुहावा । राम लषन सिय दरसनु पावा', 'सिय सौमित्रि राम छबि देखहिं । साधन सकल सफल करि लेखहिं ॥' पर मैंने कोई शुभ आचरण नहीं किये ।

२ (क) 'जासु रूप मुनि ध्यान न आवा ।''''' इति । भाव कि बड़े-बड़े अच्छे सुकृती भी साधनद्वारा आपको नहीं पा सकते, इतना सुकृत हो नहीं सकता कि दर्शन हो; आप अपनी कृपासे ही मिलते हैं । मुझे जो आपने हृदयसे लगाया यह भी अपनी कृपासे । (मिलान कीजिये—'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद । कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद ॥ ६ । ११६ ।' 'जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि महेस मन मारि कै । तुलसी तेहि हौं लियो अंक भरि कहत कछू न सँवारि कै ॥ गी० ५ । ३६ ।') । ☞ यहाँतक रूपके ध्यान, प्रताप, चरणदर्शन और अनुकूलताके फल दिखाये जो क्रमसे ये हैं—लोभादिका नाश, ममता रागद्वेषका नाश, लोकपरलोक दोनोंके भयका नाश और त्रिविध शूलका नाश। ☞ इस उक्तिसे भक्तिद्वारा भगवान्‌को अति सुलभ जनाया । (ख) यहाँ 'प्रथम विषम' और 'सार अलंकार' हैं ।

* प्र० चं०—'जासु०' स्वागता, शेष दोहा भर पायकुलक ।

दो०—अहो भाग्य मम अमित अति राम कृपा सुखपुंज ।
देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेब्य जुगल पदकंज ॥४७*॥

अर्थ—हे श्रीरामजी ! हे कृपा और सुखके समूह ! मेरा अमित (अंदाज, संख्या या सीमारहित, बेहद) और अत्यन्त आश्चर्य भाग्य है कि ब्रह्मा और शिव जिन चरणकमलोंकी उपासना (ध्यानसे) करते हैं मैंने उन्हींको आँखोंसे देखा ॥४७॥

टिप्पणी—१ आँखोंसे दर्शन पानेमें महत्‌भाग्यकी प्रशंसा कर रहे हैं, अहोभाग्य मानते हैं। भाव यह कि (क) रामचरणानुरागी भाग्यवान् हैं, यथा—'**सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी । जो रघुबीर चरन अनुरागी ॥**'—(कि०), '**भूरि भाग भाजन भयउ मोहि समेत बलि जाउँ । जो तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह रामपद ठाउँ ॥**'—विशेष बा० २११ छन्द '**अतिसय बड़ भागी चरनन्हि लागी**' में देखिये। और जिनका इनमें अनुराग नहीं वे जीतेजी भी नरकरूप हैं, यथा—'**ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजन पद बिमुख अभागी**' इति विनये। अथवा, (ख) हृदयमें लगानेसे अहोभाग्य माना क्योंकि यह बात अपने मनोरथसे बाहर है, मनोरथ चरणदर्शनका था, यथा '**अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई ॥**' ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ । ४२ ।' हृदयमें लगानेका न था क्योंकि ऐसा होना असम्भव था, मनोरथ वहींतक किया जाता है जहाँतक सम्भव हो। प्रभुने यह बात अपनी ओरसे अधिक की।

२ '**अहोभाग्य मम अमित अति**' इति। (क) पदकमलके दर्शनकी अभिलाषाके समय अपनेको अहोभाग्य माना था, यथा—'**अहोभाग्य मैं देखिहौं तेई ।**' अब दर्शन होनेपर '**अति अमित अहोभाग्य**' माना। (ख) पहले अपनेको जीवोंसे अधिक कहा। इस प्रकार कि सब जीवोंमें षट्‌शत्रु तबतक वास करते हैं जबतक श्रीरामजी उनके हृदयमें नहीं बसते। मैं उन्हीं श्रीरामजीको प्रकट देख रहा हूँ। मेरा भाग्य उनसे अधिक है। (अतः अहोभाग्य है)—(१)। फिर सोचे कि सब जीवोंसे मुनिलोग अधिक भाग्यवान् हैं। पर मैं उनसे भी अधिक भाग्यवान् हूँ; क्योंकि '**जासु रूप मुनि ध्यान न आवा । तेहि प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा ।**' (अतः अत्यन्त अहोभाग्य है)—(२)। फिर सोचे कि मुनियोंसे अधिक ब्रह्मा और शिव हैं। ये जीव नहीं हैं, ईश्वर हैं। ये भी इन चरणोंका ध्यान किया करते हैं, हृदयमें ही इनकी सेवा करते हैं, तनसे इनको भी सेवा प्राप्त नहीं है। मेरा भाग्य इनसे भी अधिक है कि मुझे वे ही चरण साक्षात् प्राप्त हुए। (ये अमित भाग्य हैं। मेरा 'अति अमित' अहोभाग्य' है)।—(३)। पुनः, (ग) कृपा करके यह भारी सुख दिया। अतः '**अति अमित अहोभाग्य**' माना।

नोट—१ '**अति अमित**'=बहुत बड़ा। यही अर्थ प्रायः सभी टीकाकारोंने किया है। मा० त० सु० कार लिखते हैं कि 'अति'-पदका अन्वय 'कृपासुख पुंज' पदके साथ है अर्थात् आपकी कृपा अतिसुखका पुञ्ज है। इसी प्रकार 'अमित' पदका अन्वय 'अहोभाग्य' के साथ है अर्थात् मेरा अमित भाग्योदय है। बैजनाथजी लिखते हैं कि भाग्य सराहना प्रेमकी विक्रान्त दशा है।

२—मिलान कीजिये—'**पुमान् शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः ॥** भा० ४ । ७ । ४२ ।' दक्षयज्ञमें भगवान्‌की स्तुति करते हुए देवताओंने कहा है कि 'सिद्धगण भी अपने हृदयमें आपके ही आध्यात्मिक स्वरूपका चिन्तन करते हैं। वही आप आज हमारे नेत्रोंके विषय हो रहे हैं, हे प्रभो ! आप हम दासोंकी रक्षा कीजिये।

३—'**रामकृपासुखपुंज**' इति। कृपापुञ्ज हैं, अतः कृपा करते हैं, सुखपुञ्ज हैं अतः सुख देते हैं। पुनः कृपा करके सुख देते हैं, मुक्तकी उपेक्षा नहीं करते हैं, अतः 'कृपासुखपुञ्ज' कहा। (पं० रा० कु०)।

प्र०—'जुगल' पदसे कविके तीन आशय झलक रहे हैं—चरण-संख्या (अर्थात् दोनों चरण), दूसरा शक्तिसहित ब्रह्मा और रुद्र और तीसरा दाहिना बाम रामसीता भाग।

विभीषण-शरणागतिके इस प्रसंगकी आवृत्तियाँ
(अर्थात् सूक्ष्म दिग्दर्शन)
प्रथमावृत्ति—दर्शनलालसाकी सफलता

विभीषणजीने तीन बार दर्शनकी अभिलाषा की, यथा—'**देखिहौं जाइ चरन जलजाता**'—(१)। '**अहोभाग्य मैं**

* म० चं०—यह त्रिकल दोहा है। ४७ (१-४) पायकुलक है। यहाँ 'काव्यलिंग अलंकार' है।

देखिहौं तेई'—(२)। 'ते पद आज बिलोकिहौं···' (३)। इसीसे यहाँ तीन बार चरणोंका देखना अर्थात् इस मनोरथका सफल होना कहते हैं। यथा—'अब पद देखि'—(१)। 'अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम पद कमल तुम्हारे॥' (२)। 'देखेउँ नयन बिरंचि···' ।—(३)। इति प्रथमावृत्ति।

२—द्वितीय आवृत्ति—षट्शरणागति।

श्रीनारदपञ्चरात्रोक्त षट् प्रकारकी शरणागतियाँ ये हैं—'आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः।' अर्थात् श्रीरामजीके शरण-प्राप्तिमें जो-जो बात अनुकूल हो उसकी प्रतिज्ञा करना और प्रतिकूलका त्याग करना। प्रभुकी रक्षामें दृढ़ विश्वास हो अर्थात् प्रभु मेरी रक्षा अवश्य करेंगे यह विश्वास दृढ़ रहे। रक्षकरूपसे भगवान्‌को वरण करना, अर्थात् आप ही एकमात्र मेरे रक्षक हैं इस भावसे उनको स्वीकार कर लेना। अपनी आत्माको प्रभुको समर्पण कर देना और अपनी दीनता निवेदन करना। महाराज करुणासिंधुजी और बैजनाथजीने भी षड्विध शरणागतिको विस्तारसे लिखा है। करुणासिंधुजीने वाल्मीकीयके श्लोक भी यहाँ दिये हैं। उन्होंने 'वरणं' की जगह 'वर्णनं' पाठ दिया है। बाल दोहा २८ देखिये। श्रीविभीषणजीने इन छओ प्रकारसे शरणागति की।

अनुकूलका संकल्प—चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥

प्रतिकूलका त्याग—मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि। अस कहि चला बिभीषन···।

रक्षामें विश्वास—सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा॥

गोप्तृत्ववरणं—श्रवन सुजस सुनि आएउँ प्रभु भंजन भव भीर। त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

आत्मनिवेदन—अस कहि करत दंडवत देखी (त्राहि त्राहि कहकर चरणोंपर गिरना)

कार्पण्य—'नाथ दसानन कर मैं भ्राता' से 'जथा उलूकहि०' तक। दोहा ४५ में वि० त्रि० की टिप्पणी भी देखिये।

३—तृतीयावृत्ति षड्दर्शन और उनके कृत्य

विभीषणजीने प्रभुके छः अङ्ग देखे—भुज प्रलंब (१)। कंजारुणलोचन—(२)। श्यामल गात—(३)। सिंह-कन्ध—(४)। आयत उर—(५)। आनन अमित मदन०—(६)। विभीषणपर इन छहों अङ्गोंसे कृपा हुई। इन अङ्गोंके कृत्य कहते हैं—

(१) प्रलंब भुजासे उठाया,—'भुज बिसाल गहि···'।

(२) कंजारुण लोचनसे देखा,—'अस कहि करत दंडवत देखा'

(३) श्यामलगातसे भय मिटाया,—'श्यामल गात प्रनतभयमोचन'

(४-५) सिंहकंध, आयत उरसे भेंटे,—'हृदय लगावा'

(६) 'आनन अमित मदन मन मोहक' से 'बोले बचन भगत भयहारी'

४—चतुर्थावृत्ति

जो अङ्ग विभीषणजीने प्रभुमें लगाये, वही प्रभुने उनमें लगाये। दोनोंके इन्द्रियों आदिके कार्योंमें समता।

अङ्ग	श्रीविभीषणजी	श्रीरामजी
१ श्रवण	श्रवन सुजस सुनि आयउँ	दीन बचन सुनि
२ नेत्र	दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता	करत दंडवत देखा
३ चरण	चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं	तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा
४ मन, वचन, कर्म	नयन नीर पुलकित अति गाता।	दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा
	मन धरि धीर कही मृदु बाता	भुज बिसाल गहि हृदय लगावा। बोले०
५ मुख	मन धरि धीर कही मृदु बाता	बोले बचन भगत भय हारी
६ स्वभाव	मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ	सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।
७ भुजा	पद अंबुज गहि० (हाथ से)	भुज बिसाल गहि हृदय लगावा।

५—पञ्चमावृत्ति। अधमोद्धारक प्रश्नोत्तर—

प्रश्न	उत्तर
१ कहु लंकेस सहित परिवारा।	अब पद देखि कुसल रघुराया।

कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥ जौं तुम्ह कीन्ह जानि जन दाया ॥

२ खलमंडली बसहु दिन राती । तब लगि हृदय बसत खल नाना ।···

उत्तरका भाव यह कि आपके बिना हृदयमें खलमण्डली बसती है । मोहादि विकार ही खल समाज है । यथा विनये— 'करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि सबहिं सिखाऊँ । हौं निज उर अभिमान मोह मद खल मंडली बसाऊँ ।'

३ सखा धर्म निबहै केहि भाँती— मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ । सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ ॥

४ बरु भल बास नरक कर ताता । तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला ।

दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ॥ ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला ॥

६—षष्ठावृत्ति—पाँच फल कहे ।

(१) भजनका फल कुशल और मनका विश्राम है । यथा—'तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहु मन बिश्राम । जब लगि भजत न राम कहुँ' ॥

(२) रूपके ध्यानका फल लोभादि विकारका नाश है, यथा—'तब लगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मच्छर मद माना ॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरे चाप सायक कटि भाथा ॥'

(३) प्रतापका फल ममता और रागद्वेषका नाश है, यथा—'ममता तरुन तमी अँधियारी । रागद्वेष उलूक सुखकारी ॥ तब लगि बसत जीव मन माहीं । जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ॥

(४) चरणके दर्शनसे लोक-परलोकके भय मिटते हैं, यथा—'अब मैं कुसल मिटे भय भारे । देखि राम पद कमल तुम्हारे ॥'

(५) रामकृपाका फल त्रिविध शूलका नाश है । यथा—'तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला । ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला ॥'

७—सप्तमावृत्ति

(१)—जीवके हृदयमें चोर बसते हैं, यथा विनये—'मम हृदय भवन प्रभु तोरा । तहँ बसे आइ बहु चोरा ॥ तम मोह लोभ अहंकारा । मद क्रोध बोध रिपु मारा ॥' (वि० १२५)

(२)—रात्रि पाकर चोर उपद्रव करते हैं । यहाँ रात्रि बताते हैं कि 'ममता तरुन तमी अँधियारी' है । चोरोंका उपद्रव, यथा—'अति करहिं उपद्रव नाथा । मर्दहिं मोहि जानि अनाथा ॥'—(विनय १२५)

(३)—सूर्यके उदयमें रात्रिका नाश है, प्रभुप्रतापके हृदयमें रहनेसे ममता आदिका नाश है—'तब लगि बसत जीव मन माहीं । जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ॥' रामप्रताप सूर्य है, यथा— 'जब ते राम प्रताप खगेसा । उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा ॥ ७ । ३१ । १ ॥'

(४)—सूर्योदयपर चोरोंका उपद्रव नहीं रहता तथा यहाँ 'मत्सर मान मोह मद चोरा । इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा ॥ ७ । ३१ । ६ ॥' मिटे तब जीवका कुशल हुआ, यथा—'अब मैं कुसल मिटे भय भारे ॥'

८—अष्टमावृत्ति । हृदयका लंकासे रूपक

(१)—हृदय लंका है । (२)—जीव विभीषण है, यथा—'जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता । वि० ५८ ।', 'तब लगि कुसल न जीव कहँ' । (३)—काम मेघनाद है । लोभ, मोह, मद, मान, मत्सरादि अनेक राक्षस हैं, यथा—'तब लगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मच्छर मद माना ॥' (४)—निशाचरको निशा चाहिये सो ममता है—'ममता तरुन तमी' । (५)—जबतक रामजी धनुषबाण लेकर लंकापर चढ़ायी नहीं करते तभीतक राक्षस हैं, इसी तरह जबतक धनुर्धर राम हृदयमें नहीं बसते तभीतक लोभादि विकार हैं । (६)—जब श्रीरामजी लंकापर चढ़ आये तब त्रिलोकीके जीव सुखी हुए उनके भय मिटे; वैसे ही 'अब मैं कुसल मिटे भय भारे । देखि०' । जीवपर प्रभुके अनुकूल होते ही उसके त्रिविध भवशूल मिटते हैं, यथा—'तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला । ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला ॥' (७)—'सबका आदि' (सर्वोपरि) भजन है, इसीसे उसे प्रसङ्गके आदिमें लिखा, यथा—'तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहुँ मन बिश्राम । जब लगि भजत न राम कहँ० ॥'

☞ इस रूपकका प्रमाण विनयमें है, यथा—'बपुष ब्रह्मांड सुप्रबृत्ति लंकादुर्ग रचित मन-दनुज-मय रूपधारी। बिबिध कोसौध अति रुचिर मंदिर निकर सत्वगुन प्रमुख त्रय कटककारी ॥ २ ॥ कुनप अभिमान'''॥ ३ ॥ मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम बिश्रामहारी। लोभ अतिकाय मत्सर महोदर, दुष्ट क्रोध पापिष्ट बिबुधांतकारी ॥४॥''' जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता। नियम जम सकल सुरलोक लोकेस लंकेस बस नाथ अत्यंत भीता ॥ ६ ॥'''दुष्ट दनुजेस निर्बंसकृत दासहित बिश्वदुखहरन बोधैकरासी। अनुज निज जानकीसहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदय कमल बासी ॥ ९ ॥ पद ५८ ॥'

९—नवमावृत्ति

विभीषणोक्ति	श्रीरामजीकी उक्ति
१—स्वामी ! आपने मुझे हृदयसे लगाया 'सो प्रभु हरषि हृदय मोहि लाव।'	तुम तो मेरे हृदयमें बसते हो—'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे ॥'
२—'मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ'	अधम उधारन हूँ। 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ ॥'
३—मुझमें लोभादिका वास है—'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना ॥'	तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना।' अर्थात् मैं इनपर दृष्टि नहीं डालता।
४—जिनका रूप मुनियोंके ध्यानमें नहीं आता उन प्रभुने मुझे हृदयसे लगाया।	तुम्हीं ऐसे संतोंके लिये हम अवतार लेते हैं—'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरेउँ देह नहिं आन निहोरे'
५—'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा ॥' इसकी रामजीने पुष्टि की।	'जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही ॥'''करौं सद्य तेहि० ।'
६—मैं पापी हूँ—'सहज पाप प्रिय तामस देहा'।	मैं पापीको शरणमें रखता हूँ'''जो नर होइ चराचर द्रोही।''''' इत्यादि।
७—ये सब परिवार छोड़कर आये हैं।	अतः श्रीरामजी कहते हैं—'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा ॥ सब कै ममता ताग बटोरी।'''अस सज्जन मम उर बस'''

१०—दशमावृत्ति—भक्तोंकी तीन कोटियाँ

१ निकृष्ट	'जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही ॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना ॥' (यह असाधु था, शरण आनेसे साधु हुआ)।
२ मध्यम	'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा ॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बर डोरी ॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे ॥' (यह निकृष्टसे अच्छा है। सबकी ममता छोड़कर इसने रामचरणमें ममत्व किया)।
३ उत्तम	'सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम। ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विजपद प्रेम ॥ (इनका विप्र हनुमान्‌जीमें प्रेम देखा गया।)

११—एकादशावृत्ति—कर्मी, ज्ञानी, उपासक

१ चराचर-द्रोही पापकर्म करता है, शरण आनेपर प्रभु उसे साधु समान करते हैं। अर्थात् पापीको सुकृती बनाते हैं।—यह कर्मीका वर्णन हुआ।

२ 'जननी जनक बंधु सुत दारा' से 'अस सज्जन' तक ज्ञानीका वर्णन है। ममताका त्याग ज्ञानी करते हैं, यथा—'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी। ४।१६।५।' पुनः, ज्ञानी समदर्शी भी होते हैं, यथा—'देख ब्रह्म समान सब माहीं', 'रूप धरे जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ॥'

३ 'सगुन उपासक परहित निरत०' ये उपासक हैं। तात्पर्य यह कि पापीको सुकृती बनाते हैं, ज्ञानीको हृदयमें बसाते हैं और उपासक प्राणके समान प्रिय हैं।

दो०—अक्षरार्थ आवृत्ति पुनि षट शरणागति जानु।
प्रभुदर्शन उपकार पुनि इंद्रिन उतर बखानु॥ इति॥

श्रीभरत-विभीषण-शरणागतिका मिलान

आनुकूलस्य संकल्प	१ 'एकइ आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥'	१ 'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ' 'देखिहौं जाइ चरन जल जाता।' इत्यादि
प्रातिकूलस्य वर्जनं	२ 'जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई॥'' 'तज्यो'' 'भरत महतारी'—(विनय०)।	२ 'सचिव संग लै नभपथ गयऊ। सबहि सुनाइ कहत अस भयऊ॥ राम सत्य संकल्प'' इत्यादि।

'कैकेयी जौं लौं जियति रही। तौं लौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही'—गी०
सोक-समाज राज केहि लेखे। लखन राम सियपद बिनु देखे॥'

रक्षामें विश्वास	३ 'तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। करिहहिं मोपर कृपा बिसेषी॥	३ सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोहकृत अघ जेहि लागा॥

जद्यपि जनम कुमातु तें मैं सठ सदा सदोस
आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस॥ इत्यादि। 'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।'
'मैं जानौं निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥ ०॥'

कार्पण्य	४ 'महीं सकल अनरथ कर मूला।००' 'फरइ कि कोदव बालि सुसाली' इत्यादि कार्पण्य तो सर्वत्र भरा है।	४ 'नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥ सहज पापप्रिय तामस देहा' इत्यादि
आत्मनिवेदन	५ 'पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुटकी नाईं॥'	५ त्राहि-त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर। अस कहि करत दंडवत०
गोप्तृत्ववरण	६ 'जग अनभल भल एक गोसाईं। कहिय होइ भल कासु भलाईं॥	६ श्रवन सुजस सुनि आयउँ''

श्रीलमगोड़ाजी—World Literature (विश्व-साहित्य) की पुकार करनेवाले ध्यान दें कि महाकाव्य-कलाकी पराकाष्ठा कहाँ है? इसीसे अर्नेस्ट उड महोदयने अपनी 'An Englishman defends mother India' में साफ लिखा है कि तुलसीकृत रामायण 'तुलनामें लेटिन और ग्रीक भाषाओंके प्रामाणिक ग्रन्थोंसे भारी उतरती है (weighs favourably with the classics of Latien and Greek)। पर इस कलाका पूर्ण ज्ञान न होनेसे ही Growse (ग्राउस) महोदयने लिखा है कि अयोध्याकाण्डके बाद कविकी कलाका उतार है। पाठक देखें कि चढ़ाव है या उतार!

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥ १॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥ २॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना॥ ३॥

अर्थ—हे सखा! सुनो, मैं अपना स्वभाव कहता हूँ जिसे भुशुण्डि, शंभु और गिरिजा (वा गिरिजा भी, शिवजीके बतलानेसे) जानती हैं॥ १॥ जो मनुष्य चराचरमात्रका द्रोही हो, वह भी भयभीत होकर मेरी शरण तककर मेरे पास आवे॥ २॥ तो उसके मद, मोह और अनेक कपट-छलको छोड़कर अर्थात् उसके दोषोंपर दृष्टि न करके मैं उसे शीघ्र साधुके समान कर देता हूँ॥ ३॥

नोट—'सुनहु सखा'' 'सुभाऊ' इति। (क) श्रीरामजीने वनवासके समयमें मुख्य तीन सखा बनाये। प्रथम निषाद-राज गुहको सखा बनाया, यथा 'कहेहु सत्य सब सखा सुजाना। २। ८८। ८।' तबसे सब उन्हें 'सखा' मानने लगे।' यथा—'सखा समुझि अस परिहरि मोहू। ९४। १।' (श्रीलक्ष्मणजी), 'रामसखा तब नाव मँगाई। २। १५१। ३।' (सुमंत्रजी), 'भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा। राम सखा सुनि संदनु त्यागा। २। १९३।' इत्यादि। फिर सुग्रीवजीको सखा बनाया। यथा 'सखा सोच त्यागहु बल मोरे।', 'सखा बचन मम मृषा न होई।' (४। ७। १०, २३)। तीसरे,

विभीषणजीको, यथा 'सखा धर्म निबहइ केहि भाँती', 'सुनहु सखा'''। गुह निषादराज थे। सुग्रीव वानरराज थे और फिर राजा होंगे। विभीषण राजाके भाई हैं और अब प्रभुने उनको राजा बनानेका संकल्प करके 'लंकेस' कह तिलक कर दिया। तीनों राजाओंको सखा बनाया। क्योंकि स्वयं राजा हैं और 'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति असि आहि।' अतः नीतिका पालन किया। (ख) स्वभाव जाननेसे भक्ति दृढ़ हो जाती है, प्रभुमें अत्यन्त प्रेम होता है, फिर भजन छोड़ विषयोंकी ओर मन कदापि नहीं जाता। यथा—'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना।३४।३।' अतएव प्रभुने कृपा करके अपना स्वभाव कहा।

टिप्पणी—१ 'जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ' इति। (क) भुशुण्डिजी और शिवजी, ये दोनों श्रीरामजीके स्वरूप और स्वभावके जाननेवालोंमें प्रामाणिक माने जाते हैं, यथा—'जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥ जो भुसुंडि मन मानस हंसा।''देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। १। १४६।' (मनुः)। यह रूपका प्रमाण हुआ। स्वभावका प्रमाण, यथा—'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥ ७। १२४।', 'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥ ३४। ३।' (ख)—यहाँ शम्भुको मध्यमें रखा, एक ओर भुशुण्डिजी हैं और एक ओर गिरिजा; इसका तात्पर्य यह है कि शिवजीके ही द्वारा दोनोंने जाना, यथा—'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥ १। ३५। ११।', 'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा॥ १। ३०। ४।'

[नोट—क्रमका कारण यह भी हो सकता है कि गिरिजा-तनमें जो कथा और तदन्तर्गत स्वभाव गिरिजाजीसे श्रीशंकरजीने कहा वह वही है जो भुशुण्डिजीसे उन्होंने (शिवजीने) सुना था; यथा—'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥ ७। ५३। ८।' एवं 'सुनु सुभ कथा भवानि'''। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़। १। १२०।'; अतएव प्रथम भुशुण्डि, फिर शम्भु तब गिरिजाजीको कहा। और, श्रीरामजीने अपना स्वभाव भुशुण्डिजीसे स्वयं ही कहा है—'निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। २। ८६ (३)–८८।', अतः इनको प्रथम रखा]

वि० त्रि०—श्रीरामजीका स्वभाव कैसा है, यह तो आगेके अर्धालियोंमें कहेंगे। यहाँ तो स्वभाव जाननेवालोंका नाम गिनाया जा रहा है। सो तीनका नाम लिया गया, भुशुण्डि, शम्भु और गिरिजाका भी। फल देखकर साधनके उत्कर्ष-विकर्षका पता चलता है। सो रामजीके स्वभाव जाननेका फल तीनोंको प्राप्त है, यथा—'उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥' तीनों निरन्तर भजन करते हैं। भुशुण्डि, यथा—'तजि हरि भजन काज नहिं दूजा।' शम्भु यथा—'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती॥' गिरिजा, यथा—'सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपति सदा पिय संग भवानी॥' फिर भी 'गिरिजाऊ' कहकर कुछ न्यूनता गिरिजामें क्यों कहते हैं? उत्तर इसका यही मालूम होता है कि भुशुण्डि और शम्भु एकान्त भजन करनेवाले हैं, इनके भजनमें किसीका साझा नहीं। गिरिजा पतिदेवता-शिरोमणि हैं, इनका भजन ऐकान्तिक नहीं हो सकता, पतिका भजन भी साथ-ही-साथ चलता रहेगा, यथा—'पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरिपद कमल बिनीत।' अथवा ये पहले जप नहीं करती थीं। शिवजीसे माहात्म्य सुनकर जपने लगीं, इसलिये 'गिरिजाऊ' कहा।

टिप्पणी—२ 'चराचर द्रोही' का भाव कि जिसे चराचर-द्रोहका पाप लगा हो, उस पापके भयसे शरण आवे। पूर्व कहे हुए 'सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा॥ ३९। ७।' विभीषणजीके इन वचनोंको यहाँ पुष्ट करते हैं। 'तकि मोही' का भाव कि फिर और किसीका एवं कोई अवलम्ब या भरोसा न हो, केवल मुझसे ही अपना परम कल्याण समझकर मुझको ही एकमात्र अपना रक्षक जानकर शरणमें आवे।

३ (क) 'तजि मद मोह' का भाव कि पापीके भारी पापको देखकर भी मैं उसका त्याग नहीं करता, किंतु उसके मद मोहादि विकारोंका नाश करके उसे साधुके समान पवित्र और निर्विकार बना देता हूँ। यह अपनी शरणागतिका माहात्म्य दिखाया। (ख)—नाना छल मन कर्म वचनके, यथा—'करम बचन मन छाँड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार'। (ग) 'सद्य' से जनाया कि शरणागतको शीघ्र ही फल मिलता है।

प० प० प्र०—१ यहाँ काम, क्रोध और लोभका उल्लेख न करके सूचित किया कि भले ही वे आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु क्यों न हों, मैं उनको भी त्याग नहीं सकता। २ यहाँ 'मद' से मुख्यतः साधनाहंकार और विद्या, जाति, कुल, धन,

सत्ता, ऐश्वर्य, यौवन, सौन्दर्य आदिका गर्व ही अर्थ लेना चाहिये। 'मोह' का अर्थ यहाँ विपरीत ज्ञान या अज्ञान नहीं है, पर भगवान्‌के सगुण साकार विग्रहके विषयमें संदेह, संशय, भ्रम है। जैसे मानसमें श्रीसतीजी श्रीगरुड़जीको और श्रीमद्भागवतमें चतुरानन तथा इन्द्रादिको होना वर्णित है। यह कनिष्ठ प्रकारके भक्तका लक्षण है।

नोट—३ मिलान कीजिये—'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ गीता ९। ३०। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।···॥ ३१॥' अर्थात् यदि कोई अति दुराचारी भी अनन्यभाक् होकर (केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाला होकर) मुझे भजता है तो उसे साधु मानना चाहिये। इसलिये कि वह ठीक निश्चयवाला है। (भाव कि उसने यह निश्चय कर लिया है कि एकमात्र भगवान् ही हमारे स्वामी, हमारे गुरु, हमारे परम भोग्य--सब भावोंसे अनुभव करने योग्य--इत्यादि सब कुछ हैं। ऐसा निश्चय करके भजनमें तत्पर है। अतः उस पुरुषका जो विपरीत आचरण है, वह बहुत छोटा है)। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है (भाव कि मेरी भक्तिकी महिमासे उसके समस्त विरोधी-गुण-समुदायका नाश हो जाता है, वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त होता है।

श्लोकके (१) 'सुदुराचारी', (२) 'अनन्यभाक्', 'सम्यग्व्यवसितो हि', (३) 'साधुरेव स मन्तव्यः' 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' की जोड़में मानसमें (१) 'चराचर द्रोही', (२) 'सभय सरण तकि', (३) 'करउँ सद्य तेहि साधु समाना' हैं। 'स मन्तव्यः' की जोड़में 'समाना' है। क्षिप्रं भवति' से 'करउँ सद्य' विशेष जोरदार शब्द है।

'सभय' का भाव यह है कि यह समझकर आवे कि मेरे पापों, मेरे मनके समस्त विकारोंसे बचानेवाले ये ही हैं। उनका नाश एकमात्र प्रभु ही कर सकते हैं, दूसरा नहीं, यथा—'तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोधरिपु मारा॥ अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा॥ मैं एक अमित बट पारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा॥ भागेहु नहिं नाथ उबारा। रघुनायक करहु सँभारा॥ (वि० १२५)। ये सब श्रीरामजीकी कृपासे ही छूट सकते हैं। यथा—'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम कीं दाया॥ ३। ३९। ३।', 'जासु कृपा छूटहिं मद मोहा। ४। १८। ६।'

वाल्मी० ६। १८ में इसकी तथा 'कोटि बिप्र बध लागहिं···। ४४। १-२।' की जोड़में भगवान्‌का वाक्य यह है—'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्॥ ३॥' अर्थात् जो हमारे समीप मित्रभावसे आया है उसमें चाहे कितने ही दोष क्यों न हों, उसको मैं नहीं त्याग सकता; क्योंकि उसका त्याग करनेसे सत्पुरुषोंके समीप मैं निन्दनीय हो जाऊँगा।

नोट—४ 'तजि मद मोह···' का अर्थ कतिपय प्राचीन टीकाकारोंने वही किया है जो हमने दिया है और शरणागति-प्रसंगके अनुकूल मुझे यही अर्थ अच्छा जँचता है। भगवान्‌के सम्मुख इन सबोंसे भयभीत होकर जानेसे वे कृपा करके इन सबोंको स्वयं ही छुड़ा देते हैं।

श्रीनंगे परमहंसजीने इस अर्थका बड़े जोरोंसे खण्डन किया है। वे कहते हैं कि इसी ग्रन्थमें कहा है कि 'करम बचन मनु छाँड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहु नहीं किये कोटि उपचार॥', 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥'; तब यह अर्थ कैसे हो सकता है कि छल-कपट-सहित श्रीरामजीकी शरण जाय। ···ग्रन्थमें 'आवै सभय' कहा। तब मदमोहसहित आना कैसे कह सकते हैं। मद तो भयको रहने ही नहीं देता। यथा—'अति अभिमान त्रास सब भूली।' अतः अर्थ यही है कि भय-सहित मद-मोहको छोड़कर शरणमें आवे।

सम्मानपूर्वक मैं उनके इस अर्थसे सहमत नहीं हूँ। मेरी समझमें भगवान्‌की कृपासे ही ये छूट सकते हैं, विशेषकर इस कराल युगमें। यह शरणागतिका महत्त्व है। प्राणी इन सबोंसे भयभीत होकर शरणमें जाय।

देखिये, भगवान्‌ने कहा है कि रावण ही क्यों न विभीषणके रूपमें (अर्थात् कपटसे) आया हो पर वह सबके सामने कह रहा है कि मैं महात्मा राघवकी शरणमें आया हूँ, अतः मैं उसे अभय देता हूँ, तुम उसे ले आओ। ☞ यह श्रीवचन ही हम-सरीखे कपटी, कुटिल जीवोंका आधार है, यही हमको उनके सम्मुख ले जाता है। नहीं तो हम ऐसे कुटिल जीव अपने पुरुषार्थसे मद-मोहादि छोड़कर शरण हो सकते, एक जन्म क्या करोड़ों जन्म बीत जायँ !!

हाँ! यह अवश्य है कि जबतक ये विकार निर्मूल न हो जायँगे तबतक सुख न मिलेगा और तबतक भगवत्प्राप्ति न

होगी। पर इनके रहते हुए प्रभुकी शरण ही प्राणी न जाय यह बात यहाँ नहीं कहते। बल्कि यह कहते हैं कि इनके उपद्रवसे डरकर शरणमें जानेसे प्रभु उसके विकारोंको दूर कर उसे साधु-समान कर देते हैं। 'चराचरद्रोही' कहकर 'तजि मद…' कहनेसे यह भी ध्वनित होता है कि मद, मोह, कपट, छल आदिके कारण ही चराचर-द्रोही हो रहा है। शरणमें आनेसे यह सब छूट जायँगे।

नोट—'अस सज्जन…जैसे' में उदाहरण अलङ्कार है।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ ४॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ ५॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥ ६॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥ ७॥

अर्थ—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, मित्र और परिवार॥ ४॥ (इन) सबोंके ममत्वरूपी तागोंको बटोरकर (उन सबोंको मिलाकर) डोरी बटकर मनको उससे मेरे चरणोंमें बाँधे॥ ५॥ समदर्शी हो, कुछ इच्छा न हो और न मनमें कोई हर्ष, शोक या भय हो॥६॥ ऐसा सज्जन मेरे हृदयमें कैसे बसता है, जैसे लोभीके हृदयमें धन॥७॥

टिप्पणी—१ 'जननी जनक…' इति। स्त्री, पुत्र आदि सब कुसमाज माने गये हैं, इसीसे इनसे ममताका त्याग उचित कहा गया। यथा—'सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महाकुसमाजहि रे। सबकी ममता तजि कै, समता सजि संत सभा न बिराजहि रे॥ नरदेह कहा, करि देखु बिचारि, बिगारु गँवारु न काजहि रे। क० उ० ३०।'

२ 'सब कै ममता ताग बटोरी।…' इति। (क) सबसे ममता हटाकर प्रभुहीमें सर्वप्रकार ममत्व करना, यही डोरी बटना है। (ख) सबसे ममत्व हटाना कहा, क्योंकि ये सब रामभक्तिके बाधक हैं, यथा—'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई। ये सब रामभगति के बाधक। ३। ७। १६, १७।' इसीसे इन सबोंकी ममता समेटकर श्रीरामचरणमें लगावे, यथा—'है जग में जहँ लगि यह तनु की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभुही सो होहि सिमिटि एक ठाईं' (विनय १०३)। तात्पर्य कि सब श्रीरामजीको ही माने-जाने। यथा—'जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥ २। ७२। ५-६।', 'राम हैं मातु पिता सुत बंधु औ संगि सखा गुरु स्वामि सनेही। रामकी सौंहैं भरोसो है राम को, राम रँगी रुचि राचौं न केही॥ जीवत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जियै जगमें तुलसी नत डोलत और मुये धरि देही॥' (क०), 'रामो माता मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः। सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥ (सनत्कुमारसंहिता)।' विशेष अ० ७२ (५-६), अ० ७५ (७), अ० १३०, ३। १६ (१०) में देखिये। (ग)—औरोंमें ममत्व दोष था; वही रामजीमें लगनेसे गुण हो गया, भक्ति कहलाने लगी।

नोट—१ ममताको तागा कहा अर्थात् वह कच्चे धागेके समान है जो शीघ्र टूटनेवाला है। वैसे ही स्त्री-पुत्रादिमें जो ममत्व है वह अल्पकालीन है, सदा निबहता नहीं क्योंकि ये सब नश्वर हैं, स्वारथके साथी हैं। इसीसे कहा है 'सुत बनितादि जानि स्वारथ-रत न करु नेह सबही तें। अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबही तें॥ वि० १९८।' 'देह जीव जोगके सखा मृषा टाँचनु टाँच्यो। वि० २७७।' कई कच्चे तागे मिलकर बट लिये जानेपर दृढ़ डोरी हो जाती है जिसका टूटना कठिन है, उसी तरह सब सांसारिक नाते प्रभुमें ही दृढ़ कर लिये जावें कि फिर टूट न सकें। यह भाव है।

प० प० प्र०—'सब कै ममता…' इति। प्रापञ्चिक ममत्वका त्याग यकायक एक ही बारमें नहीं होता, यथा—'रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥' भगवान्‌में किंचित् ममत्व लग जानेसे प्रपञ्चमेंकी ममता कुछ कम होगी। इस प्रकार एक-एक विषयका ममत्वरूपी तागा बटोरते रहनेसे और उस ममत्वसे भगवान्‌के चरणोंमें मन लगानेसे प्राणी क्रमशः निर्मम हो जायगा।

नोट- २ (क) 'समदरसी' इति। ममताका त्याग कहकर समदर्शी कहा, क्योंकि भक्तका मन संसारके विषयोंसे हटकर जब प्रभुमें लग जाता है तब वह सबमें अपने प्रभुको ही देखने लगता है। यथा—'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध। ७। ११२।' दुःख-सुख मान-अपमान आदि सभीमें समान बुद्धि रहती है। ☞ जब 'मैं सेवक

सचराचर रूप स्वामि भगवंत', 'अग-जग-रूप भूप सीतावर', 'सीयराम मय सब जग' यह दृष्टि हो जायगी तब किससे राग-द्वेषादि भी नहीं रह सकते। (ख) 'इच्छा कछु नाहीं' इति। अर्थात् निष्काम हो, सकल-कामना-हीन हो। भाव कि 'जाहि न चाहिए कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह' ऐसी वृत्तिवाला हो। (यह कैसे मालूम हो कि इच्छारहित है, इसकी परीक्षा 'हर्ष सोक भय नहिं मन माहीं' इस कसौटीपर होती है। यदि मनमें हर्ष, शोक वा भयका प्रवेश हो जाय तो समझना चाहिये कि हृदयमें कहीं-न-कहीं कुछ इच्छा या ममता अवश्य छिपी हुई उपस्थित है। प० प० प्र०)। हर्ष पदार्थके लाभका और शोक पदार्थकी हानिका। भाव कि जबतक ममता रही तबतक विषय दृष्टिमें रहा, जब ममता छूटी तब समदर्शी हुआ। (पं० रा० कु०)।

टिप्पणी—३ 'लोभी हृदय बसै धनु जैसे' इति। लोभीको धन बहुत प्रिय है, यथा—'लोभिहि प्रिय जिमि दाम। ७। १३०।', 'हित ज्यों धन लोभ लीन को' (वि०)। इसी प्रकार सज्जन मुझको प्रिय है। यही प्रियत्व आगे विभीषणजीमें 'घटाते' (घटित करते) हैं। यथा—'तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥' अर्थात् तुम ऐसे ही सज्जन हो कि मुझे लोभीके धनके समान प्रिय हो। प्राण-प्रिय हो, प्राणसे अधिक प्रिय संसारमें कुछ नहीं।

४—भक्तोंकी तीन कोटियाँ यहाँ दिखायी गयीं—दोहा ४७ में आवृत्ति १०, ११ देखिये। सविकारी निकृष्ट है। उसको साधु बनाया पर उसका प्रिय होना न कहा। क्योंकि वह असाधु था।—मध्यमने सब तरहसे ममत्व हटाकर प्रभुमें ममत्व किया; अतः उसे लोभीके धनके समान प्रिय कहा और अगले दोहे ४८ में उत्तम उपासकको कहते हैं कि वह प्राणसमान प्रिय है।

नोट—३ गीतामें भगवान्ने अपने प्रियका एक लक्षण 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १२। १५।' इस श्लोकमें यह बताया है कि जो पुरुष कोई ऐसा कार्य नहीं करता जिससे लोग उद्विग्न हो जायँ और जिसके उद्देश्यसे दूसरे लोग भी कोई उद्वेगकारक कर्म नहीं करते क्योंकि सभी उसको अविरोधी समझते हैं। इसीलिये जो किसीके प्रति हर्ष, किसीके प्रति ईर्ष्या, किसीसे भय और किसीके प्रति उद्वेगसे रहित हो गया है वह मेरा प्रिय है। 'समदरसी इच्छा कछु नाहीं' में श्लोकके पूर्वार्धका भाव है और 'हर्ष सोक भय नहिं मन माहीं' श्लोकके 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो' का ही अर्थ है तथा 'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥' 'यः स च मे प्रियः' की व्याख्या है।

इसी तरह श्लोक १३ से १९ तक प्रियके और श्लो० २० में अति प्रियके लक्षण कहे हैं जो मानसके उद्धरणोंसे पाठक मिलान कर सकते हैं।

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे॥ ८॥

दो०—सगुन उपासक पर हित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम॥४८॥*

अर्थ—तुम्हारे ऐसे संत मेरे प्रिय हैं। दूसरेके निहोरे या कारणसे मैं शरीर नहीं धारण करता हूँ (अर्थात् तुम-ऐसे संतोंके लिये ही अवतीर्ण होता हूँ)॥ ८॥ जो सगुण ब्रह्मके उपासक हैं, परोपकार और नीतिमें तत्पर हैं, नेमके पक्के हैं और जिनका विप्रचरणमें प्रेम है, वे मनुष्य मुझे प्राणके समान (प्रिय) हैं॥ ४८॥

नोट—१ (क) 'तुम्ह सारिखे संत' इति।—भाव कि संत तो और भी हैं पर सर्वगुणसम्पन्न संत तुम्हारे समान कोई-कोई होते हैं। ऐसे संत मुझे प्राणप्रिय हैं और ऐसोंके लिये ही अवतार लेता हूँ। यह कहकर ऐसे संतका लक्षण आगे कहते हैं—'सगुन उपासक…प्रेम।' (ख) यहाँ 'तुम्ह सारिखे संत' और दोहेमें 'प्रान समान' कहकर भक्तों वा संतोंकी तीन कोटियाँ दिखायीं। (१) निकृष्ट वा असाधु। अर्थात् जो असाधु था, पर शरणमें आनेपर साधु-समान बना लिया गया। यथा—'जौं नर होइ चराचर द्रोही।…करौं सद्य तेहि साधु समाना।' (२) मध्यम वा संत जो सबका ममत्व छोड़कर शरणमें हैं, समदर्शी, निष्काम और हर्ष-शोक-भयरहित हैं। (३) विभीषण-सरीखे संत जो सगुणोपासक, परहित-

* म० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित है। इसमें प्रथम निदर्शना अलंकार है।

निरत, नीति-निरत, नियमके पक्के और द्विजपद-प्रेमी इत्यादि सर्वगुणसम्पन्न हैं। यह उत्तम कोटिवाले हैं। इन्हींके अनुसार प्रियकी तीन कोटियाँ हुई—(१) साधारण प्रिय (प्रिय), (२) अधिक प्रिय, (३) अतिशय वा प्राणसमान प्रिय। उपर्युक्त निकृष्ट कोटिवाले साधारण प्रिय हैं। मध्यम कोटिवाले अधिक प्रिय हैं और विभीषण-सरीखे उत्तम संत प्राण-समान अतिशय प्रिय हैं। विशेष दोहा ४७ दशमावृत्ति देखिये। (ग) विभीषण-सरीखे संत कौन हैं ? इसका उत्तर मानसमें ही मिल जाता है। जिससे प्रभुने इस प्रकारके वचन कहे हों जैसे इनसे, वही इनके समान संत है। ये गुण श्रीशबरीजी और श्रीभुशुण्डीजीमें कहे गये हैं। तीनोंके मिलानसे यह स्पष्ट हो जायगा।

संत	श्रीरामजीके वचनामृत।
श्रीविभीषणजी—	सुनु लंकेश सकल गुन तोरें। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें॥
श्रीशबरीजी—	नव महँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
	सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥
श्रीभुशुण्डिजी—	'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥
	सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥'
	'सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय॥'

उपर्युक्त मिलानसे यह भी प्रतीति होती है कि 'सकल गुन तोरें', 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें', 'भगतिवंत', 'सर्बभाव भज कपट तजि' और 'सुचि सेवक' पर्याय हैं, एक दूसरेके अर्थ और भावको स्पष्ट करते हैं। इसी तरह यहाँ 'अतिशय प्रिय', 'प्राणप्रिय', 'प्राण समान प्रिय', और 'परम प्रिय' भी पर्याय हैं।

टिप्पणी—१ 'तुम्ह सारिखे' 'पद प्रेम' इति। (क) तात्पर्य कि तुम संत हो, सगुणोपासक, परहित-निरत इत्यादि सर्वगुणसम्पन्न हो; अतएव प्राणप्रिय हो—यही प्रभुने प्रथम भी कहा था, यथा—'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रानकी नाईं।' (ख) 'धरौं देह नहिं''' अर्थात् ऐसे संत मुझे इतने प्रिय हैं कि मैं उनका दुःख देख वा सह नहीं सकता; अतः उनकी रक्षाके लिये अवतार लेता हूँ। (विनयमें भी कहा है—'जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुखभार। अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यो दस बार।' (वि० ९८)। मानसमें भी कहा है 'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप' (७। ७२)। विशेष 'सो केवल भगतन्ह हित लागी। १। १३। ५।' में देखिये।

नोट—२ 'सगुन उपासक' कहकर जनाया कि निर्गुण उपासक भी संत होते हैं पर वे मुझे वैसे प्रिय नहीं होते जैसा भक्त प्रिय होता है। 'परहित निरत' भी संतलक्षण है, यथा—'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥ संत सहहिं दुख परहित लागी।''' भूर्जतरू सम संत कृपाला। पर-हित निति सह बिपति बिसाला। ७। १२१। १४-१६।' 'निरत नीति'—नीतिका त्याग कभी नहीं करते। यह भी संत-लक्षण है, यथा—'सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। ३। ४६। २।', 'सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। ७। ३८।' 'दृढ़' दीप-देहलीन्यायसे दोनों ओर है। नीतिमें दृढ़ हैं, कैसा ही विघ्न आ पड़े नीतिका त्याग नहीं करते। यथा—'कोटि बिघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग। ६। ३३।' 'द्विजपद प्रेम'—भाव कि जिस संतमें यह गुण नहीं है, वह प्राणप्रिय नहीं है।

टिप्पणी—२ 'जिन्हके द्विजपद प्रेम'। ब्राह्मणोंमें प्रेम होना सब साधनोंकी अवधि है। इसीसे इसे अन्तमें लिखा। सब साधनोंमें इसका स्थान आदिमें है, यथा—'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति नीती'॥

मा० त० सु०—दृढ़ शब्दका अन्वय सबमें है। प्रवृत्तिमार्गमें दृढ़तापूर्वक द्विजपदप्रीति ही भक्ति-प्राप्तिमें मुख्य कारण है, यथा—'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती।''' तब मम चरन उपज अनुरागा। ३। १६। ६-७।' और निवृत्तिमार्गमें सगुणोपासनामें दृढ़ता मुख्य कारण है, यथा—'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥ ३। ३५। ८।' दोनोंको कहकर जनाया कि दोनों मार्गोंमें दृढ़ रहे, क्योंकि दोनों श्रीराघवजीके अति प्रिय हैं।

सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे॥ १॥

अर्थ—हे लंकेश ! तुममें समस्त गुण हैं, इसीसे तुम मेरे अतिशय प्रिय हो॥ १॥

टिप्पणी—१ 'सकल गुन' अर्थात् जो ऊपर कह आये वे सब गुण विभीषणमें हैं—(१) सबकी ममता त्यागकर

आये हैं, समदर्शी हैं, कुछ इच्छा नहीं है, यथा— 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।' लंका छूटनेका शोक नहीं, लंकेश होनेका हर्ष नहीं, रावणादि राक्षसोंका भय नहीं। (२) विभीषणजीने कहा था कि मैं कर्म, ज्ञान और उपासनासे रहित हूँ— निशाचरवंशमें जन्म है, इससे शुभ कर्म नहीं होते; यथा—'मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ॥' 'तामस देह' है, इससे ज्ञान नहीं है। ज्ञानका उदय सत्त्वगुणसे होता है। और, 'सहज पाप प्रिय' हूँ, इससे उपासना नहीं बन पड़ती; क्योंकि पापीको भजन अच्छा नहीं लगता। यथा—'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ'। इसपर भगवान् कहते हैं कि तुममें सब गुण हैं, कर्म ज्ञान उपासना तीनों हैं। (३) सगुन उपासक हैं, यथा— 'हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा। रामायुध अंकित गृह··· ।५।५।' इत्यादि। (४) परहित-निरत हैं। इसीसे अपमान सहकर भी रावणको उपदेश किया, यथा—'मति अनुरूप कहौं हित ताता। ३८।४।', 'तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा॥' (५) संत हैं, क्योंकि पराया हित करना संत-स्वभाव है, यथा— 'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया'॥ (६) नीति-निरत हैं, यथा—'तात अनुज तव नीति बिभूषन।४०।२।' (७) नेम दृढ़ है, यथा—'राम नाम तेहि सुमिरन कीन्हा'। (८) द्विजपद-प्रेम है, यथा— 'करि प्रनाम पूछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई' (हनुमान्‌जी विप्रवेषमें मिले थे)।

२—'अतिशय प्रिय' का भाव कि जिसमें कुछ भी गुण होते हैं वह प्रिय होता है और तुममें तो सब गुण हैं; अतः तुम 'अतिशय प्रिय' हो।

३—उपक्रममें 'लंकेश' सम्बोधन करके जनाया कि तुम लंकाके राजा हुए और यहाँ उपसंहारमें भी 'लंकेश' सम्बोधन देकर जनाया कि यद्यपि तुम संत हो और मुझे अतिशय प्रिय हो तथापि मैं तुमको लंकाका राज्य दूँगा। इसीपर आगे विभीषणजी कहते हैं कि 'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभुपद प्रीति सरित सो बही॥···'

राम बचन सुनि बानरजूथा। सकल कहहिं जय कृपाबरूथा॥ २॥
सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी। नहिं अघात श्रवनामृत जानी॥ ३॥
पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा*॥ ४॥

अर्थ—श्रीरामजीके वचन सुनकर समस्त वानरोंके यूथ कह रहे हैं कि कृपाके समूह श्रीरामजीकी जय हो॥२॥ प्रभुकी वाणी सुनकर, उसे कानोंके लिये अमृत जानकर विभीषणजी तृप्त नहीं होते॥ ३॥ बारंबार चरणकमलोंको पकड़ते हैं, अपार प्रेम है, हृदयमें नहीं समाता॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'सकल कहहिं जय कृपाबरूथा'। (क) कृपाकी बहुतायत इससे कही कि अपनी कृपासे प्रभुने इनको सर्वगुणसपन्न कहा; नहीं तो निशाचरोंमें कौन गुण ? यथा—'रिपुको अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी'। वि० १६६।' पुनः, कृपा करके उठकर उन्हें हृदयसे लगाया, हाथ पकड़कर पास बिठाया, सखा बनाया, लंकेश बनाया, शरणमें रक्खा और सम्मान किया। (ख) जब हनुमान्‌जीको हृदयसे लगाकर परम निकट बैठाकर उनपर कृपाकी और अनपायिनी भक्तिका वर दिया तब भी सब वानरवृन्दोंने जय-जयकार किया था, यथा—सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय-जय कृपाल सुखकंदा॥ ३४।५।' फिर विभीषणजीकी शरणागति स्वीकार करनेपर भगवान्‌की प्रतिज्ञा सुनकर सबने जय-जयकार किया, यथा—'जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत॥ ४४॥', और अब प्रभुके मुखारविन्दसे उनका शरणागतवत्सल-स्वभाव सुनकर तथा भक्तवत्सलता देखकर प्रसन्न हो जय-जयकार कर रहे हैं। प्रथम बार 'कृपाल सुखकंदा', दूसरी बार 'कृपाल' और अब 'कृपा बरूथा' विशेषण दिये, इससे जनाया कि तीनों बार प्रभुके कृपा-गुणका अनुभव सबने किया। (ग) वानरयूथ प्रभुका स्वभाव सुनकर सुखी हुए, इस विचारसे कि जब हमारे स्वामीका ऐसा शरणागतवत्सल स्वभाव है तब हम सब अधम लोग कृतार्थ ही हैं। यही बात आगे कवि कहते हैं, यथा—'प्रभु सुभाउ कपिकुल मन भावा॥' ['जय बोलनेकी प्रथा वैसी ही है जैसी पाश्चात्य-शिक्षा-प्राप्त लोगोंके समाजमें ताली बजाने या 'Hear Hear' (सुनिये-सुनिये) कहनेकी। (घ) वाल्मी० रा० में लंकेश बनानेपर वानरोंने किलकिला शब्द और 'धन्य है, धन्य है' इस प्रकार बड़ाई करके अपना हर्ष प्रकट किया है। यथा—'तं प्रसादं तु रामस्य दृष्ट्वा सद्यः प्लवंगमाः। प्रभुकुशुर्महात्मानं साधु

* म० चं०—(१, २), 'सुनत···' 'पद···' पायकुलक, 'नहिं···' द्रुतपा, 'हृदय···' तामरस।

साध्विति चाब्रुवन्‌ ॥ ६ । १९ । २७ ।' अ० रा० में साधुवादके पश्चात्‌ सुग्रीवने विभीषणजीसे कहा कि आप हम सबमें प्रधान हैं क्योंकि आपने केवल भक्तिसे प्रभुकी शरण ली है] (ङ) उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें स्वभाव शब्द दिया है। 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ' और 'प्रभु सुभाऊ सुनि···।' (च) यहाँ वानरोंका जय-जयकार करना कहा पर विभीषणका जय-जयकार करना नहीं कहा। उन्होंने जय-जयकार न किया क्योंकि यदि वे जय-जयकार करते तो समझा जाता कि अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुए हैं। अतएव वे सकुचाकर,चुप हो रहे, यथा—'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। ३ । ४६ । १।'

२ 'नहिं अघात श्रवनामृत जानी' इति। श्रीरामजीके वचनामृत सुननेपर यही हाल भुशुण्डिजीका हुआ था। यथा—'प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ॥ सो सुख जानै मन अरु काना। ७ । ८८ ।' वही भाव और दशा यहाँ सूचित की। नहिं अघात=जी नहीं भरता, तृप्ति नहीं होती, जी चाहता है कि सुना ही करें। अमृत-समान अर्थात्‌ जन्म, जरा, मरण छुड़ानेवाली और अत्यन्त मधुर है। [नोट—मिलान कीजिये 'मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई॥ हृष्टपुष्ट तन भये सुहाये···श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात। बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात॥ १ । १४५ (७)—१४५ ।' देखिये]

३ 'पद अंबुज गहि बारहि बारा' इति। (क) उत्तम लोगोंकी यही रीति है, यथा—'सुनत सुधासम बचन राम के। गहे सबनि पद कृपाधाम के॥ ७ । ४७ । १ ।' 'सुनत बिभीषन बचन राम के। हरषि गहे पद कृपाधाम के॥ ६ । ११६ ।' (ख)—'बारहिं बारा' इति। विभीषणजी श्रीरामचरणके अनुरागी हैं और प्रेममें मग्न हैं, इसीसे बारंबार चरण पकड़ते हैं, तथा—'प्रेम मगन सुख बचन न आवा। पुनि पुनि पदसरोज सिरु नावा॥ ३ । ३४ । ९ ।'; बार-बार चरण पकड़ना कृतज्ञतासूचक है। (ग) 'हृदय समात न' अर्थात्‌ बाहर उमड़ा पड़ता है, नेत्रसे जलरूप हो वह निकला, शरीरसे पुलकावलिद्वारा प्रकट हुआ, इत्यादि।

सुनहु देव सचराचर स्वामी। प्रनतपाल उर अंतरजामी॥ ५॥
उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥ ६॥
अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी* ॥ ७॥

अर्थ—हे देव! हे चराचरमात्रके स्वामी! हे शरणागतपालक और हे सबके उरके अन्तर्यामी! सुनिये॥ ५॥ पहले कुछ वासना हृदयमें थी वह प्रभुके चरणोंकी प्रीतिरूपी नदीमें बह गयी॥६॥ हे कृपाल! अब सदा शिवजीके मनको रुचनेवाली और पवित्र निजभक्ति मुझे दीजिये॥ ७॥

टिप्पणी—१ 'देव' अर्थात्‌ आप दिव्य हैं। चराचरके स्वामी अर्थात्‌ पालन करनेवाले हैं। 'प्रनतपाल' हैं, यथा—'जगपालक बिसेषि जनत्राता। १ । २० । ५ ।', अतएव मेरा पालन कीजिये। 'अन्तर्यामी' हैं, अतः मेरे जीकी जानते हैं कि मेरे हृदयमें अब कोई वासना नहीं है, केवल भक्तिकी इच्छा है, सो मुझे देकर मेरा पालन कीजिये, यथा—'जन्म को भूखो भिखारी हौं गरीबनेवाज। पेट भरि तुलसिहि जेवाइए भक्ति सुधा सुनाज॥ वि० २१९ ।'

२ 'उर कछु प्रथम बासना रही' इति। (क) श्रीरामजीने आदि-अन्त दोनोंमें इन्हें लंकेश कहा था जिससे विभीषणजी समझ गये कि मुझे ये लंकाका राजा बनाना चाहते हैं, इसीसे वे कहते हैं कि अब इसकी वासना नहीं है। यहाँ वासनाको प्रकट नहीं किया कि क्या वासना थी, आगे श्रीरामजीके वचनोंसे स्पष्ट होती है क्योंकि प्रभुने 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं' कहकर 'तिलक तेहि सारा' उनको राजा बनाया। (ख) 'कछु' का भाव कि प्रभुपदप्रीतिके आगे राज्य 'कुछ' नहीं है, तुच्छ है। पुनः, यहाँ यह भी जनाया कि प्रभुपदप्रीतिसे वासनाका नाश हो जाता है।

३—'पदप्रीति' को नदी कहा क्योंकि ये पद सरिताके मूल हैं, इनसे गङ्गाजीकी उत्पत्ति हुई। प्रीतिको गङ्गा कहा, क्योंकि वासनाएँ अशुद्ध हैं, मलरूप हैं। हृदयसे वासनाओंके दूर हो जानेपर भी हृदय अशुद्ध रहता है, जैसे जमीनपरसे कोई बुरी वस्तु हटा दो तो भी वह जगह अशुद्ध ही बनी रहती है, बिना धोये वह शुद्ध नहीं होती। इसी तरह प्रीति-गङ्गाको पाकर वासना बह गयी और हृदय भी शुद्ध हो गया।

नोट—१ बाबा जयरामदासजी पं० रामकुमारजीसे सहमत हैं। वे लिखते हैं कि 'सच्चे और शुद्ध भक्त निष्काम होते हैं।

* ब्र० चं०—(५) द्रुतपा, १९९ वाँ, २२५ वाँ भेद, प्रियम्वदा, २२४ वाँ भेद।

यदि विभीषणजीको यहाँ अर्थार्थी कहें तो युक्त न होगा; क्योंकि उन्होंने पहले ब्रह्मासे वरदानमें निर्मल अनुराग माँगा था। यथा—'**तेहि माँगेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु। १। १७७।**' यदि राज्यकी इच्छा होती तो उसी समय वे क्यों न माँग लेते ? अमल अनुरागसे तो निष्काम भक्तिका ही बोध होता है। फिर श्रीहनुमान्‌जीके मिलन-प्रसंगमें इनकी शुद्ध साधुता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त वे रावणके द्वारा बार-बार तिरस्कृत हो उसे हितकी शिक्षा देते गये। यथा—'**बार बार पद लागउँ बिनय करउँ दससीस। परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस॥**'—इत्यादिसे भी विभीषणकी साधुवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। वे यही चाहते थे कि रावण भी भगवद्भक्त हो जाय जिससे उसका तथा निशिचरकुलका नाश न हो। श्रीरामगीतावलीमें इस प्रसंगको दिखलाते हुए गोसाईंजी कहते हैं—'**सब भाँति बिभीषन की बनी।...हिय कछु और और कीन्हीं बिधि राम कृपा औरैं ठनी॥**' हृदयमें तो उनके था कि रावण राम-शरण होकर सुधर जाय और उसका राज्य-वैभव भी ऐसा ही बना रहे। परंतु विधिने विभीषणको ही घरसे निकलवा दिया और श्रीरामकी कृपासे और ही बात हो गयी अर्थात् विभीषण ही लंकेश बन गये। अतः मानना पड़ेगा कि इस प्रसंगके पूर्व विभीषणको राज्य-वासना नहीं थी। पहलेकी राज्य-वासना मानेंगे तो रावणको दी हुई विभीषणकी शिक्षा असत्य और दम्भपूर्ण माननी होगी, जो विभीषण-जैसे साधुके लिये सर्वथा असम्भव है, फिर यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब विभीषणकी पहलेसे राज्य-वासना नहीं थी और उपर्युक्त प्रसंगमें कारणवश कुछ हो गयी थी वह भी रामदर्शनसे नष्ट हो गयी थी, तब भगवान्‌ने उन्हें राज्य क्यों दिया ? उत्तर यह है कि प्रथम तो भगवान्‌की बान ही है कि अपने भक्तोंकी स्वप्नमें भी उठी हुई इच्छाको पूरा किये बिना नहीं रहते, दूसरे मानसिक भावसे विभीषणको राज्य तो उसी समय दे चुके थे जिस समय लङ्कामें रावणके 'मम पुर' कहनेपर उनके हृदयमें राज्यवासनाकी किञ्चित् वासना हुई थी, श्रीभगवान्‌के दरबारमें ऐसे अवसरोंपर विलम्ब कैसे हो सकता है ?

२ पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि विभीषणजी कहते हैं कि पहिले मुझे कुछ ऐश्वर्यकी कामना रही। अतः तीनों भाइयोंने साथ ही तप आरम्भ किया। वरदानमें भी मैंने बिना शिक्षाके ब्रह्मास्त्रकी प्राप्ति ब्रह्मदेवसे माँगा, यथा—'**अशिक्षितं च ब्रह्मास्त्रं भगवन् प्रतिभातु मे।**' (वाल्मी० ७। १०। ३१)। रावणके साथ लङ्कामें रहा, राजकार्यमें भी हाथ बँटाता था, यथा—'**करत राज लंका सठ त्यागी।**' दाँतोंमें जीभकी भाँति रहनेपर भी लंका परित्याग नहीं किया। इन सबका कारण अब यदि मैं विचार करता हूँ तो मालूम होता है कि मुझमें कुछ ऐश्वर्यकी वासना अवश्य रही। पर अब वह भी नहीं है, सरकारकी प्रीतिकी नदी ऐसी उमड़ी है कि उसका कुछ पता भी नहीं है कि कहाँ गयी, अतः अब मैं सदा-शिवमनभावनी निर्भय रामभक्तिका पात्र हुआ हूँ। अतः उसीको माँगता हूँ। कुछ भी वासना रहते जीव निर्भरा भक्ति नहीं पा सकता।

३ श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि कुछ वासना चरणारविन्दोंके दर्शनके विषयमें थी, वह अब नदी-रूप होकर प्रवाहित हो चली है, यह आपके दर्शनका प्रभाव है। यह राज्यकी वासना नहीं है। इत्यादि। इसीको मा० त० सु० कारने अपने शब्दोंमें यों लिखा है—(१) '**कछु बासना**' अर्थात् पहले अपनी तामस प्रकृतिको स्मरणकर अपने ऊपर आपकी कृपाकी कामना कुछ कुछ मेरे हृदयमें थी (राज्यकी नहीं), यथा—'**तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥ तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पदसरोज मन माहीं॥**' जो वासना पहले बहुत थोड़ी थी वह अपने ऊपर पूर्ण कृपा देख प्रभुपदमें प्रीतिरसरूप नदी हो उमगकर बह चली, यथा—'**पद अंबुज गहि बारहिं बारा।**' यहाँपर कुछ वासना राज्यसम्बन्धी कहनेसे श्रीविभीषणजीकी भक्तिमें न्यूनता आ जायगी, क्योंकि वे परमानन्य भागवत हैं, यथा—'**समदरसी इच्छा कछु नाहीं।**०'। (२) '**अब**' का भाव कि यद्यपि भक्तजन अनपायिनी भक्तिसे पूर्ण रहते हैं, तथापि जब-जब प्रभुको वे अति प्रसन्न देखते हैं तब-तब वही भक्ति माँगकर विषयादि सुखसे अनिच्छा सूचित करते हैं, जैसे यहाँ शिवमन-भावनी कहा और उत्तरकाण्डमें शिवजीने अनपायिनी भक्ति माँगी, यथा—'**पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग**', तो क्या उनमें यह भक्ति न थी ? यद्यपि थी, किंतु यह परमभक्तोंका लक्षण ही है।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी श्रीकरुणासिन्धुजीके भावसे सहमत होते हुए लिखते हैं कि विभीषणजीको राज्यलोभ नहीं था यह पूर्व दिखाया जा चुका है। भक्ति पूर्वसे प्राप्त थी तो भी फिरसे भक्तिकी ही याचना करनेमें सिद्धान्तभूत हेतु है जिसका विवरण ३४ (१) में देखिये। भक्तिके प्रभावका मायाके प्रभावसे रुक जाने अथवा कामादि विकारोंसे कलुषित हो जानेकी सम्भावना तबतक रहती है जबतक भगवान् स्वयं कृपा करके भक्ति प्रदान नहीं करते हैं। देवर्षि नारद, गरुड़, सती तथा भुशुण्डीजी सभीके भक्ति-राकेशको मोहरूपी राहुने ग्रस लिया था यह मानसमें लिखा है। फिर भक्ति माँगनेवाले प्रभुको बहुत भाते हैं,

यथा—'**माँगेहु भगति मोहि अति भाई ।**', '**सुनि मुनि बचन राम मन भाए ॥ ३ । ११ ।**' (सुतीक्ष्णप्रसंग)। इस कथानकसे सिद्ध हुआ कि मंगलाचरण श्लोक २ विभीषण-चरित्रका सूचक है।

टिप्पणी—४ (क) '**अब कृपाल निज भगति**' ' इति। जबतक किञ्चित् भी अन्य कोई भी वासना हृदयमें रहती है तबतक प्रभु अपनी '**निज भक्ति**' नहीं देते। क्योंकि भक्ति प्रभुकी अति प्रिय वस्तु है, यथा—'**माँगेहु भगति मोहि अति भाई । ७ । ८५ । ५ ।**' '**पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी । ७ । ११६ । ४ ।**' प्यारी वस्तु कोई जल्दी नहीं देता। देखिये भुशुण्डीजीपर प्रसन्न होनेपर भी '**प्रभु कह देन सकल सुख सही । भगति आपनी देन न कही ।**' यद्यपि ये निष्काम भक्त थे और इनका सिद्धान्त था कि '**भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे । लवन बिना बहु बिंजन जैसे ॥ ७ । ४८ ।**' तथापि उनके माँगनेपर कि '**सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम ।**' वह भक्ति दी है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि '**सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः । ...स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥ ५ । १९ । २७ ।**,' यह सत्य है कि भगवान् सकाम पुरुषोंको माँगनेपर अनेक अभीष्ट पदार्थ देते हैं; किंतु यह असली पदार्थ नहीं है, क्योंकि उन्हें फिर भी कामनाएँ होती ही रहती हैं। इसके विपरीत जो उनका निष्काम भावसे भजन करते हैं, उन्हें तो साक्षात् अपने चरणकमल ही दे देते हैं, जिन्हें पाकर मनुष्यकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

इसी तरह नाविक केवटको बहुत प्रलोभन दिया जानेपर भी जब उसने कुछ न लिया तब उसे सांसारिक भोगोंसे निस्पृह देखकर श्रीरामजीने अपनी निर्मल भक्ति दी। यथा '**बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय नहिं कछु केवटु लेइ । बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ ॥ २ । १०२ ।**'

जबतक विषयमें स्वाद मिलता है तबतक भगवद्भक्ति फीकी लगती है, यथा—'**तुलसी जौं लौं बिषय की मुधा माधुरी मीठि । तौं लौं सुधा सहस्र सम रामभगति सुठि सीठि ॥ दोहावली ८३ ।**'; इसीसे भगवान् अपनी भक्ति नहीं देते। विषय-वासनारहित होनेपर ही देते हैं। इसीलिये '**प्रभु पद प्रीति सरित सो बही**' अर्थात् वासनाका नाश कहकर तब भक्तिका वर माँगा। यह '**अब**' शब्दसे जना दिया।

(ख) '**कृपाल**' का भाव कि कृपा करके दीजिये, मुझमें उसके प्राप्तिका साधन कुछ भी नहीं है। यथा—'**जप जोग धर्मसमूह ते नर भगति अनुपम पावई ।**' सो ये मुझमें नहीं हैं। (ग) '**निज भक्ति**' अर्थात् अपने रामावतारकी भक्ति दीजिये कि जिससे निषाद, कोल, किरात, गीध, वानर, निशाचरादि कृतार्थ हुए। ('निज' का अर्थ 'खास; सच्ची, जो आप कठिनतासे किसीको देते हैं' यह भी है)। रामभक्तिके आचार्य शंकरजी हैं। निर्विकार और अनपायिनी भक्ति शिवजीके पास है, यथा—'**रिषि पूछी हरिभगति सुहाई । कही संभु अधिकारी पाई ॥ १ । ४८ । ४ ।**' '**सदा सिव भावनी**' अर्थात् उनमें अचल भक्ति है। [श्रीशिवजीकी मनभावती भक्ति कौन है, यह उनके '**बार बार बर माँगऊँ हरषि देहु श्रीरंग । पदसरोज अनपायिनी भगति सदा सत्संग ॥ ७ । १४ ।**' इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है। वे सदा-सत्संगयुक्त अनपायिनी भक्ति माँगते हैं। यही विभीषणजीका अभीष्ट है। (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—'**उर कछु प्रथम बासना रही ।**' ' इस अर्धालीके चरणोंमें और '**देहु सदा सिव मन भावनी**' में १५-१५ मात्राएँ देकर जनाया कि विभीषणजी स्तुति करते-करते प्रेमानन्दविभोर हो गये, वाणी रुकने लगी, कण्ठ गद्गद हो गया।

नोट—४ '**अब कृपाल निज भगति पावनी ।**' ' इति। अ० रा० में भी भक्ति माँगी है, यथा—'**न याचे राम राजेन्द्र सुखं विषयसम्भवम् । त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे ॥ ६ । ३ । ३७ ।**' अर्थात् 'हे राज-राजेश्वर ! मैं विषयजन्य सुख नहीं चाहता ! आपके चरणकमलोंमें मेरी आसक्तिरूपा भक्ति सदा बनी रहे।' और भगवान् रामने यह वर दिया भी।

प० प० प्र०—विभीषणकृत स्तुति स्वाती-नक्षत्र है।

(१) स्वाति पंद्रहवाँ नक्षत्र है, वैसे ही यह स्तुति भी १५ वीं है।

(२) नक्षत्रका नाम स्वाति (स्व+अति) है और विभीषणजी श्रीरामजीको अपने प्राणोंसे भी अतिप्रिय हैं। यथा—'**तुरत बिभीषन पाछे मेला । सनमुख राम सहेउ सोइ सेला ॥ ६ । ९३ । २ ।**' अतः नामसाम्य मिल गया।

शरणागति (प्रपत्ति) एक ही साधन है।

(३) स्वाति नक्षत्रमें एक ही तारा है, वैसे ही इस स्तुतिमें शरणागति (प्रपत्ति) एक ही साधन है।

(४) नक्षत्रका रूप विद्रुमके समान है। मूँगा क्रूर ग्रह मङ्गलका रत्न है वैसे ही विभीषणजी क्रूर रावणके भाई हैं।

(५) इस नक्षत्रका देवता वायु है और विभीषणजीको वायुनन्दनने ही भगवान्का स्वभाव, सुयश आदि सुनाया था।

'श्रवन सुजस सुनि' कहते हुए ही वे प्रसन्न हुए। पवनदेव और पवनपुत्र समान ही हैं, यथा—'पवन तनय बल पवन समाना।'
(६) 'कामद घन दारिद दवारि के' इसकी फलश्रुति है। और यहाँ 'रावन क्रोध अनल निज''''अखंड।' है। श्रीरामकृपावारिधरने अपनी कृपारूपी वृष्टिसे उस 'दवारि' को शान्त कर दिया। और मोहदरिद्ररूपी दवारिको सदैवके लिये बुझा देनेवाली अपनी भक्ति-चिन्तामणि दे दी। भाव कि विभीषणजीको पूर्णकाम बना दिया।

एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। माँगा तुरत सिंधु कर नीरा॥ ८॥
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघु जग माहीं॥ ९॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन वृष्टि नभ भई अपारा*॥ १०॥

अर्थ—'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहकर रणधीर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने तुरंत समुद्रका जल माँगा (अर्थात् जो इच्छा है वह दी और जो इच्छा पूर्व थी, अब नहीं रह गयी, वह भी पूरी की; क्योंकि 'गई बहोर' हैं)॥ ८॥ और, 'हे सखा! यद्यपि तुम्हारी इच्छा नहीं है पर मेरा दर्शन संसारमें निष्फल नहीं जाता, (तात्पर्य कि मेरी इच्छासे इसे लो), ऐसा कहकर श्रीरामजीने उनका तिलक किया। आकाशसे फूलोंकी अपार वृष्टि हुई॥ ९-१०॥

टिप्पणी—१ (क) 'एवमस्तु' ऐसा कहनेसे आशीर्वाद हो गया, श्रीरामजीका वचन सत्य है, यथा—'सखा बचन मम मृषा न होई। ४। ७। २३।' भक्तिके मिलनेसे सब पदार्थ मिलते हैं इसीसे भक्तिके मिलनेपर लंकाका राज्य भी मिलेगा। (ख) 'प्रभु रनधीरा' अर्थात् श्रीरामजी रनमें धीर हैं और शत्रुसे जीतनेमें समर्थ हैं, रावणको मारकर विभीषणको राज्य-सिंहासनपर बिठायेंगे। पुनः, भाव कि कोई शत्रुको उपायसे जीतनेको समर्थ होता है पर रणधीर नहीं होता और कोई रणधीर होता है पर शत्रुको जीतनेको समर्थ नहीं होता। श्रीरामचन्द्रजीमें दोनों गुण हैं। [भक्ति-प्रदानमें 'प्रभु' के साथ 'रणधीर' शब्दकी आवश्यकता न थी। इसे भी देकर सूचित करते हैं कि भक्ति तो दे ही दी पर अब शीघ्र रणदुन्दुभी बजेगी। इत्यादि। (प० प० प्र०)। पूर्ण साहसी रणधीर पुरुष ही ऐसा कर सकता है। यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है। (वीरकवि)] (ग) 'तुरंत' इति। श्रीरामदर्शन तथा प्रसन्नताका फल शीघ्र मिलता है। (घ) 'माँगा सिंधु कर नीरा' इति। सिंधुका जल माँगा, क्योंकि सिंधुमें सब तीर्थोंका जल है—'अहो महत्त्वं महतामपूर्वं विपत्तिकालेऽपि परोपकारः। आस्यस्य मध्ये पतितश्च राहो रविः शशिः पुण्यचयं तनोति॥' इति साहित्यदर्पणे।

नोट—१ माँगा तुरत' इति। किससे माँगा? यह अध्यात्मरा० में खोला है। वहाँ भक्तवत्सल श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहा है कि 'यह अभी मेरे दर्शनका फल देखे। तुम समुद्रसे जल ले आओ। मैं इसे लंकाके राज्यपर अभिषिक्त किये देता हूँ।'''' यथा—'इत्युक्त्वा लक्ष्मणं प्राह श्रीरामो भक्तभक्तिमान्। पश्यत्विदानीमेवैष मम सन्दर्शने फलम्॥ ६। ३। ४२॥ लंकाराज्येऽभिषेक्ष्यामि जलमानय सागरात्।'''। ४३। इत्युक्त्वा लक्ष्मणेनाम्बु ह्यानाय्य कलशेन तम्। ४४।' श्रीलक्ष्मणजीसे जल मँगवाया और वे लाये। 'पश्यत्विदानीमेवैष मम सन्दर्शने फलम्' का भाव यहाँ 'तुरत' और 'मोर दरस अमोघ' शब्दोंमें जना दिया है। वाल्मी० में भी श्रीलक्ष्मणजीसे ही जल लानेको कहा है। पर उन रामायणोंमें श्रीलक्ष्मणजीने ही तिलक किया है। यहाँ श्रीरामजीने स्वयं उनका तिलक किया। सुग्रीवजीका तिलक वालि-वधके पश्चात् किष्किन्धा नगरमें हुआ था, इसलिये श्रीलक्ष्मणजीने उनका तिलक किया और यहाँ वन है, नगर नहीं है; अतः स्वयं श्रीरामजीने किया। यह ग्रन्थकारका सँभाल है। इससे विभीषणपर विशेष कृपा भी सूचित की।

टिप्पणी—२ 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।''''' इति। विभीषणजीने जो कहा है कि 'उर कछु प्रथम बासना रही।०', उसीपर ये वचन कहे गये जिनका तात्पर्य यह है कि हमारी इच्छा ऐसी ही है अतः मेरी इच्छासे इसे लो। यथा—'दिये पीठ पाछे लगै सनमुख होत पराय। तुलसी संपति छाँह ज्यों लखि दिन बैठि गँवाय॥' (दो०)। 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं' यह कथन 'उर कछु बासना रही' का तिलक है, 'कछु' का अर्थ यह खोला है। इससे प्रभुका अन्तर्यामी होना दिखाया। विभीषणजीने 'अन्तर्यामी' विशेषण देकर तब कहा था कि 'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभुपदप्रीति सरित सो बही॥' उन्होंने स्पष्ट न कहा कि लंकाराज्य लेनेकी वासना थी (क्योंकि अब वह रह ही नहीं गयी तब कहकर क्या करते। श्रीरामचन्द्रजी अन्तर्यामी हैं, अतः उन्होंने अन्तःकरणकी बात खोलकर कह दी। यद्यपि तुमको राज्यकी चाह नहीं है, तथापि

* प्र० चं०—पायकुलक।

मैं अपने दर्शनका फल देता हूँ। यदि प्रभु ऐसा न कहते कि तुमको इच्छा नहीं है तो सम्भव था कि उनको संदेह होता कि 'श्रीरामजी हमारे हृदयकी न जान पाये इसीसे हमें राज्य देते हैं; यदि हम स्पष्ट कह देते कि हमें राज्यकी इच्छा नहीं है तो राज्य न देते। वे अन्तर्यामी नहीं हैं।

नोट—२ नाटकी कलामें भी यही अति उत्तम है कि उधर वासना गुप्त रखी जाय, पर भगवान् जान लें। कला और भी उभर आती है कि भगवान्‌ने इतनी शीघ्रता की कि इन्कार (अस्वीकार) करनेका अवसर ही न मिले। फिर देवताओंद्वारा पुष्पवृष्टिका होना तो महाकाव्य और नाटकीय दोनों कलाओंके एकीकरणमें सोनेके साथ सुगन्धका काम करता है। (श्रीलमगोड़ाजी)।

☞ जो लंकाधिपतित्वका बीज **'कहु लंकेस सहित परिवारा'** में बोया था वह अंकुरित होकर यहाँ **'मोर दरसु अमोघ'** पर वृक्षरूप होकर **'तिलक तेहि सारा'** पर फलित हो गया। फलके रसकी प्राप्ति रावणवधपर **'तिलक सारि अस्तुति अनुसारी'** पर होगी। (मा० त० सु०)

मा० त० सु०—१ ☞ इस कार्यसे यह उपदेश सूचित किया कि शरणमें प्राप्त होते ही तुरत ही सभी सुख अनायास प्राप्त होते हैं। २—**'तव इच्छा नाहीं'**' का भाव कि तुमको इच्छा नहीं है, परंतु संसारके लोग कहेंगे कि रावणसे अनादृत हो जिस राज्यके लोभसे विभीषण रामजीकी शरण गये वह उनको न प्राप्त हुआ; इन अल्पज्ञ जीवोंके मोहकी निवृत्तिके लिये, मेरे प्रति विशेष कामनायुक्त जीवोंकी शीघ्र प्रवृत्तिके लिये और मेरे दर्शनका अमोघ-फल-दातृत्व दिखानेके लिये इसे तुम ग्रहण करो। यथा दोहावली—**'काह बिभीषन लइ मिलेउ काह दियो रघुनाथ। तुलसी यह जाने बिना मूढ़ मींजिहहिं हाथ॥'** इसका आशय यह है कि मूर्ख यही कहेंगे कि जैसे विभीषण राज्यकी इच्छासे मिले वैसे ही प्रभुने भी दिया, किंतु यथार्थमें ऐसा नहीं है; क्योंकि विभीषणजी परमप्रेम लेकर मिले और श्रीराघवजीने उन्हें अविरल भक्ति दी; इस भावको न जान मूर्ख हाथ मींजते रह जायँगे, यानी प्रभुका उपहास करेंगे, अतएव लंकाराज्य भी दिया।

नोट—३ प्रायः पं० शिवलाल पाठक आदिने वही अर्थ किया है जो टिप्पणीमें दिया गया। अर्थात् लंकामें जब रावणने लात मारी तब उसका नाश सोचकर स्वयं राजा होनेकी इच्छा हुई थी, वह प्रभुके दर्शनके साथ ही दूर हो गयी।

टिप्पणी—३ **'मोर दरसु अमोघ'**' इति। **'जग माहीं'** का भाव कि यह बात जगत्‌में प्रसिद्ध है कि मेरा दर्शन निष्फल नहीं जाता। [वाल्मी० यु० में रावणवधके पश्चात् ब्रह्माजीने स्तुति करते हुए कहा है कि **'अमोघं देव वीर्यं ते न ते मोघाः पराक्रमाः।२९। अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः। अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तवन्तो नरा भुवि॥३०॥ ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्। प्राप्नुवन्ति सदा कामानिह लोके परत्र च॥ ३१॥ सर्ग १२०॥'**, आपका वीर्य अमोघ है, आपका पराक्रम निष्फल नहीं होता। हे श्रीराम! आपका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता। आपकी स्तुति भी कभी निष्फल नहीं जाती और जो लोग आपकी भक्ति किया करते हैं, उनको भी अमोघ फल प्राप्त होता है।—इसीसे जगत्‌में प्रसिद्ध कहा है। श्रीरामका दर्शन, स्तुति, भक्ति सभी अमोघ हैं और अमोघ फल देनेवाले हैं]। अथवा, लोगोंकी इहलोक और परलोक दोनोंकी कामनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। अतः तुम्हारी दोनों कामनाएँ पूर्ण करता हूँ, इस समय तिलक करके इहलोक-सुख देता हूँ, अन्तमें मेरा धाम तो मिलेगा ही। यथा **'करेहु कलप भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं। पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं॥ ६। ११५।'** [मिलान कीजिये—**'न भवति महतां हि क्वापि मोघः प्रसादः'** इति **हरिविलास।** अर्थात् महत्पुरुषोंकी प्रसन्नता कभी खाली नहीं जाती।]

टिप्पणी—४ **'अस कहि राम तिलक तेहि सारा'**' इति। (क) यहाँ सिन्धुजलका ले आना न लिखा। इससे शीघ्रता दिखायी। **'तिलक तेहि सारा'** से ही जना दिया कि वह माँगते ही तुरंत ले आया गया था। **'माँगा तुरत'** अतएव **'तुरत लाये।'** (तिलकमें इतना उत्साह है कि बीचमें कुछ और कहनेका विलम्ब कवि नहीं सह सके)। यथा—**'जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काजु प्रथम जनु कीन्हा॥'** २। ७। १।' तथा यहाँ समझना चाहिये कि जिसे यह आज्ञा दी गयी उसने इतनी शीघ्रतासे इसे किया मानो पहलेसे ही ला रखा था।

५—**सुमन बृष्टि नभ भई अपारा'** इति। अब देवताओंको निश्चय हो गया कि रावण अब अवश्य मारा जायगा; क्योंकि विभीषणका तिलक प्रभु कर चुके, बिना रावणवधके इनको राज्य कैसे मिल सकता है? देवताओंने अपना स्वार्थ **समझकर** तिलक होनेपर फूल बरसाये, नहीं तो वे न बरसाते। यह बात रावणवधपर स्पष्ट हो जाती है क्योंकि जब राज्य वस्तुतः

उनको मिला और लङ्कापुरीके राज्यसिंहासनपर उनका राज्याभिषेक किया गया तब इन्द्रोंने फूल न बरसाये। और, इसी प्रकार सुग्रीवके राज्याभिषेकपर पुष्पवर्षा न की थी। यहाँ 'आये देव सदा स्वारथी। ६। १०९। २।' चरितार्थ हुआ।

६—विभीषणजीपर सब प्रकारसे प्रभुने कृपा की। वह सब यहाँ पूज्य कविने दिखाया है—

(१) उनसे उठकर मिले, यथा—'तुरत उठे प्रभु हरष बिसेशा। ४६। १।'

(२) उनको हृदयमें लगाया, यथा—'भुज बिसाल गहि हृदय लगावा। ४६। २।'

(३) उनको समीप बिठाया, यथा—'अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी। ४६। ३।'

(४) उनसे कुशल पूछी, यथा—'कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर···। ४६। ४।'

(५) उनका दर्द पीड़ा समझे, यथा—'खल मंडली बसहु दिन राती। सखा धर्म···। ४६। ५।'

(६) उनके धर्मकी सराहना की, यथा—'मैं जानौं तुम्हार सब रीती। अति नय निपुन···। ४६। ६।'

(७) अपना स्वभाव कहा, यथा—'सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ। ४८। १।'

(८) उनका साधु-गुण सराहा, यथा—'सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ४९। १।'

(९) उनको भक्ति दी, यथा—'एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। ४९। ८।'

(१०) उनका तिलक किया, यथा—'अस कहि राम तिलक तेहि सारा। ४९। १०।'

☞ नोट—४ यहाँपर कई उपदेश हमको मिलते हैं।

(१) प्रायः लोग कहा करते हैं कि मनको प्रथम वशमें करो तब भजन करो; विना मनके वश हुए भजन व्यर्थ है। इसी चिन्तामें लगे हुए अनेक कर्म धर्म आदिमें अल्प आयु बीत जाती है। प्रभुने विभीषणजीको शरण आनेपर तिलक करके राजा बना दिया, पर यह न कहा कि जाओ अब शत्रुसे लड़कर राज्य ले लो; किंतु स्वयं शत्रुसे लड़कर उसको मारकर राज्य दिया। इससे उपदेश दिया है कि जो हमारी शरणमें आवेगा उसको हम तुरंत अभय देते हैं कि इनसे न डरो और फिर धीरे-धीरे स्वयं हम ही उसके मनको क़ाबूमें (उसके वशमें) कर देते हैं। मुमुक्षुको चाहिये कि तुरंत शरण हो जाय, और यह भरोसा रक्खे कि प्रभु हमें मोहादिपर जय देंगे। हमारा कर्त्तव्य यही है कि हम शरण होकर भजनमें तत्पर हो जायँ, मन लगे या न लगे—प्रभुका काम प्रभुपर छोड़ें, अपना कर्त्तव्य आप करें।

(२) तिलकके विषयमें भी जनाया कि यदि तिलकका सामान किसी जगह न हो तो तीर्थजलसे ही तिलक कर सकते हैं।

दो०—रावन क्रोध अनल निज श्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषन राखेउ* दीन्हेउ राजु अखंड॥
जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिए दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥ ४९॥

अर्थ—रावणका क्रोध अग्नि है, विभीषणकी वा रावणकी ही अपनी श्वासा प्रचण्ड वायु है। विभीषणको प्रभुने जलतेसे बचाया और अखण्ड राज्य दिया। जो ऐश्वर्य शिवजीने दस सिर चढ़ा देनेपर रावणको दिया था वही सम्पत्ति रामचन्द्रजीने विभीषणजीको सकुचकर दी॥ ४९॥

टिप्पणी—१ 'निज स्वास समीर' अर्थात् विभीषणजीकी श्वासा समीर है। तात्पर्य कि रावण क्रोधी है, क्रोधसे जलता रहता है, और विभीषण क्षमाशील हैं। जब वह क्रोध करता है तब ये ऊर्ध्वश्वास लेकर रह जाते हैं, क्रोध नहीं करते।† पवनकी तरह

* राषा—त्र० चं०—'रावन···' दोहरा, 'जो···' चल दोहा। 'जो संपति···' में उपमानसे उपमेयमें अधिकत्व वर्णन 'व्यतिरेक अलंकार' है। (वीर)।

† श्रीलमगोड़ाजी—फारसीके एक कविने भी कहा है 'बितर्स अज आहे मजलूमाँ कि हंगामे दुआ करदन। इजाबत अज़दरे हक़ बहरे इस्तक़बाल मी आयद।' ऐसे व्यक्तियोंकी आहसे डरो कि जिनको तुम सता रहे हो। कारण कि प्रार्थना करते समय भगवान्‌की स्वीकृति स्वयं स्वागतके लिये उनके द्वारसे आगे बढ़कर आती है। बात भी ठीक है। वे सत्य (हक़) हैं, असत्य (ना-हक़) का नाश ही होगा। धर्मपर निर्भर राजनीतिका कितना सुन्दर दृश्य है। विभीषणकी आहका असर (प्रभाव) रावण-राज्य-नाशमें भी कितना प्रबल है।

शीतल हैं। आगसे पवन गर्म हो जाता है, पर रावणके क्रोधसे इनमें गर्मी नहीं होने पाती, साँस शीतल ही रहती है। जैसे पवनसे अग्नि प्रचण्ड होती है, वैसे ही विभीषणके ऊर्ध्वश्वास लेनेसे रावणका क्रोध बढ़ता है। वह सोचता है कि यह मनका कपटी है, ऊर्ध्वश्वास लेकर रह जाता है कुछ कहता नहीं। जब रावण अनीतिकी बात करता है तब और मन्त्री प्रशंसा करते हैं, पर ये उसकी प्रशंसा न कर उलटे ऊर्ध्वश्वास लेते हैं, जिससे रावण क्रोध करता है कि यह हमारी बड़ाई नहीं सह सकता, उनकी अर्थात् शत्रुकी बड़ाईकी बार वक्ता बनता है और हमारी बार मौन धारण कर लेता है। अतएव उक्त कारणोंसे यहाँ 'निज' पद दिया। 'निज' से रावणका अर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि रावणके ऊर्ध्वश्वाससे रावणका क्रोध कैसे बढ़ेगा? (ख)—विभीषणको जलनेसे बचाया अर्थात् प्राणकी रक्षा की और अखण्ड राज्य दिया। (ग) 'अखण्ड' का भाव कि रावणके राज्यका खण्डन हुआ पर विभीषणके राज्यका खण्डन कोई नहीं कर सकता।

पं०, मा० त० सु०—१ इस दोहेमें 'निज' पद श्लेष है, इसका कारण यह है कि यह रावण, विभीषण और श्रीरामजी तीनोंमें लग सकता है। इसी प्रकार 'प्रचण्ड' पद अनल और समीर दोनोंके साथ लग सकता है—(क) रावणका क्रोध प्रचण्ड अग्नि है और उसका क्रोधमय श्वास समीर है, दुर्वचन कहना यह भी साँस है, यथा—'**खल तोहि निकट मृत्यु अब आई।**' इत्यादि।—[करुणासिंधुजीने यही अर्थ किया है। श० सुं० दा० और नं० प० जीने 'अपने श्वासरूपी प्रचण्ड वायुसे प्रज्वलित होनेवाले रावणकी क्रोधाग्निमें' यह अर्थ किया है।] (ख) निज=विभीषणका। [रा० प्र०, दीनजी, वीरकवि, आदिने यही अर्थ रखा है]। (ग) रावणपर जो श्रीरघुनन्दनजीका अपना क्रोध है वही अग्नि है। इस क्रोधाग्निसे बचानेवाला कोई नहीं, यही अग्निकी प्रचण्डता है। यथा—'संकर सहस बिष्नु अज तोही।…'। श्रीसीताजीका श्वास प्रचण्ड समीर है। यथा 'राम कोह पावक समीर सीय स्वास। (क०)।

☞रामचन्द्रजीको यहाँ दृढ़व्रत, भविष्यके यथार्थ ज्ञाता और निज कर्तव्यपर दृढ़ दिखाया है।

मा० हं०—स्वामीजीने विभीषण-राज्याभिषेकमें रामजीकी प्रशंसा इस दोहेमें की है। यह दोहा '**या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेऽपि शंकरात्। दर्शनाद्रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे**' (हनु० ना० ७। १४) इस सुभाषितका अक्षरशः भाषान्तर है। परंतु दोहेमें कविने केवल 'सकुचि' इतना ही पद डालकर कैसा काव्यकलानैपुण्य दिखलाया यह विचार करने योग्य है। अत्याचार और हिंसासे मिलायी हुई, अतएव खूनसे भरी हुई लंकाकी राज्यरूपी अपवित्र सम्पत्ति भक्त विभीषणको देकर शुद्धको अशुद्ध ही बनाना होगा; अथवा विभीषणकी सहायतासे यदि सीतादेवीका लाभ हो तो लाभके प्रमाणसे लंकाकी सम्पत्ति दर्यावमें खसखस-सी ही होगी; इन विचारोंसे रामजी 'सकुचि' यानी लज्जित हुए। एक 'सकुचि' पद डालनेसे श्रीरामजीकी कृतज्ञता, वात्सल्य और औदार्य कैसे ध्वनित हुए, यह कोई भी स्पष्ट देख सकता है। कवित्वगुण ईश्वरदत्त होता है, इसमें कुछ संदेह नहीं।

नोट—१ 'सकुचि दीन्ह' इति। ऐसा ही कविने अन्यत्र भी कहा है। यथा—'**जो रुंपति दससीस अरपि कै रावन सिव पहिं लीन्ही। सोइ संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्ही॥ वि० १६२।**' संकोचके दो कारण तो ऊपरके लेख (मा० हं०) में आ गये कि अत्याचार और हिंसासे सनी हुई अपवित्र सम्पत्ति ऐसे परम भक्तको दे रहे हैं, इत्यादि; और भाव ये हैं कि हमने इसको कुछ भी तो न दिया। लंका जो दी वह भी इस समय जली-भुनी हुई है, उसकी सारी विभूति राखमें मिल गयी है और यहाँ हमारे पास कुछ है नहीं जो देते, श्रीअवधमें होते तो भले ही कुछ देते। यह भाव दोहावलीके '**बलकल बसन (भूषन) असन फल तृनसज्या द्रुमप्रीति। तिन्ह समयन लंका दई यह रघुबरकी रीति॥१६२।**' इस पदसे ध्वनित होता है। (पं० रा० कु०)। अथवा, भक्त तो '**तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी**' होते हैं, उनके लिये यह तुच्छ है। (वं० पा०)। वा, यह राज्य तो तृणासन-सदृश तुच्छ है यह समझकर सकुच है। यथा—'**बार कोटि सिर काटि साटि लटि रावन संकर पै लई। सोइ लंका लखि अतिथि अनवसर राम तृनासन ज्यों दई॥** गी० ५। ३८।' अथवा, यह तो उसीके घरकी है, उसीकी वस्तु उसको दी इसमें क्या उपकार हुआ। (बं० पा०, पां०, रा० प्र०)। अथवा, पहले तो हमने इन्हें निज भक्ति दी। अब यह तुच्छ सम्पत्ति देते हैं जो भक्तिका बाधक है अतः सकुचे। (मा० त० सु०)।

श्रीलमगोड़ाजी—'सकुचि' पर संकेतकला ही निछावर है (न जाने और कितना देना चाहते हैं!)। फिर 'सकुचि' इतना गूढ़ बन पड़ा है कि व्याख्या ही मूक हो जाती है।

टिप्पणी—**२ सकुचि दीन्ह**' इस कथनसे दिखाया कि ऐसे-ऐसे भारी तपसे भी प्रभुकी शरणागतिका माहात्म्य अधिक

है। उसने जो तपसे पाया वह इनने शरण लेने मात्रसे पा लिया। पुनः, जो (शिवजीने) तपका फल समझकर दिया (वही ऐश्वर्य) श्रीरामजीने अपनी शरणका माहात्म्य समझकर संकोचसे दिया (अर्थात् इतना ही देनेमें लज्जित होते थे)। इसमें ग्रन्थकार किसीको न्यूनाधिक्य नहीं कहते, (वस्तुतः ऐसा है ही कि) हजार वर्षका तप श्रीरामजीको एक बार प्रणाम करनेके बराबर भी नहीं तुल सकता, यथा—'दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय' अर्थात् दशाश्वमेधीका तो पुनर्जन्म होता है पर भगवान्‌को प्रणाम करनेवालेका जन्म नहीं होता।

नोट—२ सुग्रीवको बालिवधके पीछे राज्य दिया। रावणके जीते जी ही विभीषणका तिलक किया। यह क्यों? उत्तर—(क) श्रीजानकीजीको धैर्य देनेके लिये। (ख) इससे जनाया कि अब उसको मृतक समझो। (मा० शं०)। (ग) सुग्रीव माधुर्यके उपासक थे, उन्हें प्रथम श्रीरामद्वारा बालिवधकी प्रतीति न हुई। 'दुन्दुभि-अस्थिताल' के द्वारा परीक्षा ले ली तब **'बालि बधब इन्ह भइ परतीती'**। इसीसे पहले बालि-वध करके उनको राज्य दिया। सुग्रीवने बलको ही विशेषरूपसे देखा छविको नहीं। यथा—**'पुरुष जुगल बल रूप निधाना', आवत देखि अतुल बलसींवा'** इत्यादि। और, विभीषणजी प्रथमसे ही ऐश्वर्य भावको दृढ़ ग्रहण किये थे, रावणको भी ऐश्वर्यका उपदेश किया था और जब चले तब भी प्रभुके ऐश्वर्यका स्मरण किया, यथा—'जे पद परसि तरी…' इत्यादि। फिर जब प्रभुका अवलोकन किया, तब योगियोंका ही परम ध्येय-स्वरूप ही देखा, यथा—**'बहुरि राम छबिधाम बिलोकी'** इत्यादि। अतः प्रभुने भी अपना ऐश्वर्य दरसाते हुए रावणके जीते-जी तिलक कर दिया (मा० त० सु०, मा० शं० म०)।

नोट—३ कोई-कोई विद्वानोंको उपर्युक्त दोहेमें स्वामीजीका भरपूर पक्षपात नजर आनेके कारण उन्होंने बड़ी ही कड़ी टीका की है। वे लिखते हैं कि 'स्वामीजी उक्त दोहेके द्वारा रामजीकी प्रशंसा करनेके लिये शंकरजीकी निन्दा करनेको जरा भी नहीं हिचकते।' घोड़ा मैदान सामने ही है, हमें अधिक वाच्यता करनेकी आवश्यकता नहीं।—(नोट—यह दोहा हनुमन्नाटकके श्लोकका अनुवादमात्र है। इससे यह भी स्वयं सिद्ध है कि जो लोग गोस्वामीजीपर लाञ्छन लगाते हैं वे कम पढ़े हैं, उनको और रामायणोंका ज्ञान नहीं है, नहीं तो वे ऐसा न करते। गोस्वामीजीके जन्मके न जाने कितने पूर्व अन्य रामायणें रची गयीं जिनमें यही कहा गया है।)

वि० त्रि०—यहाँ शिवजीका प्रकरण नहीं है, प्रकरण रामजीका है, अतः इस दोहेकी प्रवृत्ति शिवजीके अपकर्ष-कथनमें नहीं है, केवल रामजीकी स्तुति करनेमें है। **'न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ता किन्तु विधेयं स्तोतुम्'**। निन्दाका तात्पर्य; जिसकी निन्दा की जाती है, उसके निन्दामें नहीं है, बल्कि विधेयकी स्तुतिमें है।

बलाबलाधिकरणमें 'सा वैश्वदेव्याऽऽमिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' वह छेना विश्वदेवके लिये है, छेनाका पानी बाजी देवताओंके लिये। वैश्वदेवयागमें छेना दिया जाता है। प्रकरण यहाँ विश्वदेवका है बाजी देवताका नहीं है, अतः यहाँ बाजी देवताको छेनाका पानी देनेमें आकांक्षा नहीं है। अभिप्राय इतना ही है कि विश्वदेवको छेना दिया जाय, बाजी देवताको छेनाका पानी देनेमें कोई तात्पर्य नहीं।

इसी भाँति यहाँ रामजीके उत्कर्षमें वाक्यका तात्पर्य है, शिवजीके अपकर्षका नहीं, क्योंकि यहाँ रामजीका प्रकरण चल रहा है, शिवजीका नहीं चल रहा है। शास्त्रके इस रहस्यके न जाननेवाले, एक देवताके प्रकरणमें दूसरेकी निन्दा देखकर, तथा भस्म रुद्राक्षके प्रकरणमें तुलसी ऊर्ध्वपुण्ड्रकी निन्दा तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र तुलसीके प्रकरणमें भस्मरुद्राक्षकी निन्दा देखकर घबराते हैं, और बड़े भ्रममें पड़ जाते हैं। वाक्यजन्य-ज्ञान-निरूपक शास्त्रकी पदे-पदे आवश्यकता पड़ती है। जिन्हें यहाँ शिवजीकी निन्दाकी गन्ध आती है, निःसंदेह वे वाक्यजन्य ज्ञानके कारणोंसे नितान्त अनभिज्ञ हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—यहाँकी तुलनामें जैमिनिजीका सिद्धान्त न भूलें कि बहुधा तुलना करनेमें हम अपने प्रतिपाद्य व्यक्तिका आदर बढ़ाना चाहते हैं, पर दूसरेका अनादर करना हेतु नहीं होता। यहाँ शंकरजीका निरादर नहीं है, बल्कि उनके 'महादेव' (महादानी) वाले गुणकी सराहनाके आधारपर श्रीरामजीको अधिक बड़ा प्रमाणित किया है। देखिये जहाँ शंकरजीको बढ़ाना है वहाँ (विनयपत्रिकामें) कवि स्वयं कहता है—**'जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि माँगत सकुचाहीं। बेदबिदित तेहि पद पुरारि पुर कीट पतंग समाहीं॥**

अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूछ बिषाना॥ १॥

निज जन जानि ताहि अपनावा । प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा*॥ २ ॥

अर्थ—ऐसे (प्रणतपाल, परम उदार) प्रभुको छोड़कर जो किसी दूसरेको भजते हैं, वे मनुष्य बिना सींग और पूँछके पशु हैं। (अर्थात् उनमें और पशुओंमें इतना ही अन्तर है कि पशुके सींग और पूँछ होती है, ये ही इनके नहीं हैं; बाकी हैं वे पशु ही) ॥ १ ॥ अपना जन जानकर उसे अपना लिया, प्रभुका स्वभाव कपिकुलके मनको अच्छा लगा ॥ २ ॥

नोट—१ (क) 'अस' उपर्युक्त दोहेमें कहे हुए गुणोंका संकेत कर रहा है। अर्थात् जो कैसा भी कोई पापी, कपटी, कुटिल, सर्वगुणहीन आदि मनुष्य शरणमें आये तो उसका त्याग नहीं करते ऐसे शरणागतपालक, शरणागतवत्सल, सत्यसंकल्प, दृढ़व्रत, परम उदार हैं, जो भक्तकी वे सब वासनाएँ भी पूरी कर देते हैं, जो उसके मनमें शरणमें जानेके समय वा उसके पूर्व उठी हुई होती हैं। यह अङ्गुल्यानिर्देश 'निश्चय'-प्रतिपादक है जो अन्य अर्थको निवृत्त करता है।—'भजन बिभीषनको कहा फल कहा दियो रघुराज। राम गरीब-निवाजके बड़ी बाँह बोलकी लाज ॥ वि० १९३।' (ख) 'प्रभु'—क्योंकि रावण-ऐसे समस्त-लोक-विजयी, सुर मुनि-त्रासकसे, उसके निकाले हुए भाईको शरणमें लेकर विरोध लिया। ऐसे समर्थ हैं और सामर्थ्यपर दृढ़ विश्वास है कि रावणके जीते-जी उसके भाईका तिलक कर दिया। ऊपर दोहेमें जो कहा है, उसीके सम्बन्धसे 'प्रभु' कहा। (ग) 'छाड़ि' का भाव कि ऐसे प्रभुको छोड़ना न चाहिये। यथा—'सीतापति से साहिबहि कैसे दीजै पीठि। दो० ४८।', रे मन सब सों निरस ह्वै सरस राम सों होहि। भलो सिखावन देत है निसि दिन तुलसी तोहि ॥ दो० ५१।'

वि० त्रि०—केवल वह प्रभु ही स्वतन्त्र है, जीव चाहे जैसा भी हो मायाके परतन्त्र ही है, यथा—'परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥' जो स्वयं परतन्त्र है, उसके भजनेसे लाभ क्या! 'देव दनुज नर नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे। इनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे ॥'

टिप्पणी—१ 'अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना।...' इति। (क) भाव यह कि औरोंको छोड़कर ऐसे प्रभुका भजन करना चाहिये और ये उलटा ही करते हैं; इनको छोड़कर दूसरेको भजते हैं। (ख) बिना पूँछ और सींगके पशुका भाव कि अज्ञानमें वे पशुके समान हैं। क्योंकि जिसको अपने हित-अनहितका ज्ञान है, वह कभी नहीं छोड़ सकता। यथा—'तुलसी जाके होयगी अंतर बाहर दीठि। सो कि कृपालुहि देइगो केवटपालहि पीठि ॥ दो० ४९।', 'बालमीकि केवट कथा कपि सील भालु सनमान। सुनि सनमुख जो न राम सों तेहि को उपदेसै ज्ञान ॥ वि० १९३।' पशुकी शोभा पूँछ और सींगसे है, बिना सींग-पूँछका पशु शोभाहीन है, वैसे ही नर शरीरमें अज्ञान ज्ञानरंकता अशोभा है। ऐसे अज्ञानके कारण वे बिना पूँछ-विषानके पशु कहलाते हैं। [नोट—'पसु बिनु पूँछ बिषान' से जनाया कि वे सूकर, स्वान, शृगालके सदृश हैं, उन मनुष्योंका जन्म दुःखदायक है और वे नरकरूप हैं, यथा विनये—'ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजन पद-बिमुख अभागी। नहिं सतसंग भजन नहिं हरि को श्रवन न रामकथा अनुरागी ॥...सूकर स्वान शृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुखलागी ॥ वि० १४०।', 'तिन्ह ते खर सूकर स्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछु वै। तुलसी जेहि राम सो नेह नहीं सो सही पसु पूँछ बिषान न द्वै। जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै। जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ जियै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै ॥ क० ७। ४०।'] अथवा, भाव यह कि वे नरपशु हैं, शरीर नरका है पर उनमें अज्ञान पशुका है; दोनों मिलकर वे नरपशु हुए, न केवल नर ही हैं न केवल पशु। पशुकी शोभा सींग और पूँछसे है, वह भी उनके नहीं। तात्पर्य कि नरतनमें भजनका पूर्ण अधिकार है, मोक्षसाधन केवल नरशरीरसे हो सकता है; यथा—'हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हो। साधनधाम बिबुध दुर्लभ तन मोहि कृपा करि दीन्हो।' (विनय०), पुनः, 'बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥ साधनधाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥ ७। ४३। ७।'; इसीसे हरिभजनके बिना नरतनकी निन्दा करते हैं।

नोट—२ 'निज जन' अर्थात् जो अनन्यगतिक हैं जिन्हें स्वप्नमें भी दूसरेका आशा-भरोसा नहीं है। कर्म, मन, वचनसे दास। जैसे मनु-शतरूपाजी, सुतीक्ष्णजी, भुशुण्डिजी, हनुमान्‌जी इत्यादि। यथा—'प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी ॥ १। १४५।', 'मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक'...'देखि दसा निज जन मन भाए ॥...हृदय चतुर्भुज रूप देखावा ॥ मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिबर जैसे ॥ ३।

* म० चं०—'निज...' नयमालिनी, शेष पायकुलक।

१० । २, १६, १८, १९ ।', 'मन बच क्रम मोहिं निज जन जाना । ७।११३।३ ।', 'तोहि निज भगत राम कर जानी ।', 'ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥ एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी । यह मम भगत करम मन बानी ॥ ७ । ११४ ।' श्रीहनुमान्-जीका तो कहना ही क्या ? उन्होंने प्रभुको अपने वशमें ही कर रक्खा है । ☞ ऐसे ही भक्तोंके विषयमें श्रीवचनामृत है कि 'जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिं न और उपाउ । तिन्हहिं लागि धरि देह करौं सब डरौं न सुजस नसाउ ॥गी० ५ । ४५ ।', 'तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्ह कहँ देह न गेह । ३ । ४५ ।'; ऐसे ही भक्त भगवान्को अतिशय प्रिय हैं ।

टिप्पणी—२ 'निज जन जानि' का भाव कि—(क) अपनाये तो सभी जीवोंको हैं, क्योंकि सभी उनके ही बनाये हुए हैं, यथा—'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' । पर इनको 'अपना जन' जानकर अपनाया । (ख) अन्य समस्त-गुण-सम्पन्न होनेसे नहीं अपनाते, अपना जन जानकर अपनाया करते हैं ।

३ 'प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा' इति । अर्थात् वानरगण अपनेको कृतार्थ समझते हैं, सोचते हैं कि ऐसे उदार और प्रणतपाल स्वामीके हम सब सेवक हैं, हमको अपना करके क्यों न मानें ? (अर्थात् हमको अपना जन मानते हैं, यह उनके उदार और प्रणतपाल स्वभावके योग्य ही है) । प्रभुके स्वभावसे औरोंका भला होता है तो हमारा भला क्यों न होगा । अथवा, भाव कि वानरलोग श्रीरामजीके स्वभावको नहीं जानते थे । उनका स्वभाव कोई जल्दी नहीं जान पाता; इसीसे प्रभु अपने स्वभावके जाननेवाले तीनको ही बतलाते हैं, यथा—'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ । जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ ॥' जब उन्होंने अपना स्वभाव विभीषणजीसे कहा तब वानरोंने जाना और उनको वह जानकर अच्छा लगा कि हम सबके निर्वाह-के लायक कोमल सरल स्वभाव हैं । ['मन भावा' का भाव कि शत्रुका भाई, निशाचर आदि होनेका विचार न किया, शरणागत-वत्सलताहीको प्रधान रक्खा, उसके हृदयकी सरलताको देखकर उसे अपना लिया, यहाँतक कि राजनीतिकी भी पर्वाह न की तब हमपर अवश्य ही कृपादृष्टि रहती होगी । पुनः, भाव कि प्रभुका वात्सल्यादि गुणयुक्त स्वभाव वाणीसे अकथनीय है, अतः 'मन भावा' कहा, अर्थात् कहा नहीं जा सकता । (पं०, मा० त० सु०)] ☞ कपि पशु हैं सो इन तकको प्रभुका स्वभाव प्रिय लगा तब मनुष्योंको यदि न भावे तो वे पशुओंसे भी गत (गये-गुजरे) हैं ।

४— 'सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ । ४८ । १ ।' उपक्रम है और 'प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा' उपसंहार ।

☞ 'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका' से यहाँतक 'मिला बिभीषन जेहि बिधि आई' यह ग्यारहवाँ प्रसङ्ग है ।

☞ धन्य हैं ऐसे हरिजन जिन्हें श्रीरामजी 'निज जन' जाने ।

श्रीसुग्रीव और विभीषणजीका मिलान

१ अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती ।	उर कछु प्रथम बासना रही ।···
सब तजि भजन करौं दिन राती ॥	अब कृपाल निजभगतिपावनि देहु ।···
२ जो कछु कहेउ सत्य सब सोई ।	जदपि सखा तोहि इच्छा नाहीं ।
सखा बचन मम मृषा न होई ॥	मोर दरस अमोघ जग माहीं ॥
३ यह कहकर सुग्रीवको राजा बनाया	अस कहि राम तिलक तेहि सारा ।
४—दोनों सखा माने गये	
(क) सखा बचन मम मृषा न होई ।	जदपि सखा तोहि इच्छा नाहीं ।
(ख) सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी ।	सखा कही तुम्ह नीकि उपाई ।
(ग) सखा सोच त्यागहु बल मोरे ।	सखा धर्म निबहै केहि भाँती ।
(घ) मित्रके लक्षण कहे	सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ । यहाँ स्वभाव कहा
५ वालीसे रक्षा की—'बालि त्रास ब्याकुल' 'सो सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ'	रावणसे त्रिलोकमें रक्षा कोई न कर सकता । प्रभुने रक्षा की— 'रावनक्रोध···' ।
६ प्रभुकृत सीस कपीस उछंगा ।	कह लंकेस मंत्र लगि काना (यह भी सिरहाने बैठे हैं)
७ जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं ॥ काहे···॥	अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना ।
८ दोनोंके साथ समान प्रेम-व्यवहार	(क) 'सुनु कपीस लंकापति बीरा'···

(ख) भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा	अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी
(ग) तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा ।	करहु क्रिया परिहरि सब सोका ॥
(घ) मृतक कर्म बिधिवत सब कीन्हा ।	कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी ।
(ङ) राम कहा अनुजहि समुझाई ।	तुम्ह कपीस अंगद नल नीला ।……
राज देहु सुग्रीवहि जाई ॥	सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा ॥
(च) पुर न जाउँ दस चारि बरीसा	पिता बचन मैं नगर न जाऊँ ॥
(छ) राज दीन्ह सुग्रीव कहँ	सादर सिंहासन बैठारी ।…

९—दोनोंका कार्पण्य, यथा—

(क) मैं पामर पसु कपि अति कामी	निसिचर बंस जनम सुरत्राता ।…
(ख) नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई	नाथ दसानन कर मैं भ्राता
(ग) सादर मिलेउ नाइ पद माथा	अस कहि करत दंडवत देखा
१० तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा	सचिव संग लै नभ पथ गयऊ
११ अतिसय जन्म धन्य करि लेखा	नयनानंद दानके दाता
१२ जब सुग्रीव राम कहुँ देखा	दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता
१३ सुख संपति परिवार बड़ाई ।……	उर कछु प्रथम बासना रही
१४ जो कछु कहेउ सत्य सब सोई	एवमस्तु कहि प्रभु…इत्यादि

नोट—३ दोनोंमें जो अन्तर है वह भी स्मरण रखना चाहिये । सुग्रीवजीकी मित्रतामें राजनीति प्रधान है और विभीषणजीमें पूर्ण शरणागति-भक्ति है, यद्यपि सुग्रीवजी भी भक्त हैं केवल राजनीति-सम्बन्धी मित्र नहीं ।

'सागर-निग्रह कथा सुनाई'—प्रकरण

पुनि सरबग्य सर्ब उर बासी । सर्बरूप सबरहित उदासी ॥ ३ ॥
बोले बचन नीति प्रतिपालक । कारन मनुज दनुज कुल घालक* ॥ ४ ॥

अर्थ—फिर सब जाननेवाले, सबके हृदयमें बसनेवाले, सर्वरूप (विश्व आपका ही रूप है) और सबसे रहित, उदासी प्रभु नीति-प्रतिपालक वचन बोले । इसका कारण यह कि वे मनुष्यरूप धारण किये हैं और राक्षस-कुलके नाश करनेवाले हैं (अर्थात् ऐश्वर्यके अनुकूल उन्होंने वचन नहीं कहे, किन्तु माधुर्यके अनुकूल कहे हैं । तात्पर्य कि राजा हैं, राजाओंको नीति-का पालन करना ही चाहिये, यथा—'सोचिय नृपति जो नीति न जाना' । अतः नीतिके वचन बोले) ॥ ३-४ ॥

टिप्पणी—१ 'पुनि सर्बग्य…' इति । (क) 'पुनि' का भाव कि परमार्थकी बात करके अब व्यवहारकी बात कहते हैं । यहाँ दूसरे प्रसङ्गका आरम्भ करते हैं । प्रथम अपने दासका काम करके उसे राज्य देकर और अपनाकर तब सबके पीछे अपने कार्यकी बात कही । यथा—'तब रघुपति कपिपतिहि बोलावा । कहा चलै कर करहु बनावा ॥'—वहाँ भी प्रथम हनुमान्‌जीका सम्मान करके और उनको भक्ति देकर तब अपने कार्यकी बात कही थी । और इसी तरह सुग्रीवजीको प्रथम राज्य देकर तब सीता-शोधकी आज्ञा दी थी । पुनः, इसी तरह रावण-वध करके विभीषणको राज्य देकर तब सीताजीको बुलाया । पुनः अपने राज्याभिषेकमें प्रथम सब सखाओं और भाइयोंको स्नान कराके तब स्वयं स्नान किया । यही हाल उनके भक्तोंका है । ये भी प्रथम भगवान्‌को अर्पण करके तब स्वयं ग्रहण करते हैं ।—इससे प्रभुका वचनामृत चरितार्थ होता है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । गीता ४ । ११ ।'

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीरामराज्यकी धर्मपरक नीतिमें मित्रताका लक्षण श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे यही कहा है कि 'देत लेत मन संक न धरई' । इसमें देना पहले कहा तब लेना । इसका उलटा तो बनियापना और स्वार्थ है, इसीसे तो वहाँ 'लेन-देन' होता है ।

टिप्पणी—२ (क) 'सर्वज्ञ' से बहिर्यामी (बाहरकी सब जाननेवाले) और 'सर्वउरबासी' से अन्तर्यामी अर्थात्

* प्र० चं०—(३) पायकुलक, ११८२ और १२१९ वाँ भेद ।

भीतरकी सब जाननेवाले हैं। इस तरह जनाया कि सबके भीतर और बाहरकी जानते हैं, उनसे कुछ भी छिपा नहीं है। यथा-'ज्ञानहू गिराके स्वामी बाहेर अंतरजामी, इहाँ क्यों दुरैगी बात मुखकी औ हियकी। वि० २६३।' पुनः, सर्वज्ञसे यह भी जनाया कि भूत, भविष्य, वर्तमान सबका आपको स्वतः सर्वदा ज्ञान है। अन्तर्यामी कहकर सर्वरूप कहा, इससे जनाया कि व्याप्य और व्यापक दोनों हैं। उदासी अर्थात् शत्रु-मित्ररहित हैं। अथवा, (ख)—सर्वज्ञ हैं इससे जो होनहार है वह सब जानते हैं। सर्वउरबासी हैं अतः जानते हैं कि मन्त्री क्या कहेंगे। सर्वरूप हैं अतः जिसे बाँधना है वह स्वयं अपने ही हैं। [सिन्धुका कुछ भी भय नहीं है क्योंकि सर्वरूप हैं। (पं०)]।

यदि कोई शंका करे कि 'सर्वरूप हैं तो समुद्रके बन्धनसे इनका भी बन्धन हो गया', तो उसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, वे सर्वरूप होते हुए भी सर्वरहित (सबसे अलग) भी हैं। यथा—'अग जग मय सब रहित बिरागी। १।१८५। ७।' यदि कोई कहे कि 'उनके तो शत्रु-मित्र हैं, वे रावणसे शत्रुता रखते हैं; इसीसे उसके लिये यह उद्योग कर रहे हैं', तो उसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, उनका कोई न शत्रु है न मित्र, वे उदासीन हैं। यह लीला है, सर्वज्ञ होकर भी पूछते हैं कि 'केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा'। सर्वउरबासी भी सुग्रीव एवं विभीषणसे पूछते हैं मानो इनके हृदयकी जानते ही नहीं। सर्वरूप हैं अतः समुद्र भी आपका ही रूप हुआ तब किससे तरनेके लिये कहते हैं? मकर, उरग सब वे ही हैं, तब ग्रास कौन करेगा? सर्वरहित होकर इस तरह पूछते हैं मानो सबमें लिप्त हैं और उदासी हैं पर जगत्‌के प्रपञ्चकी बात करते हैं। इत्यादि सब क्यों? क्योंकि नरनाट्य करते हैं।

३—'बोले बचन नीति प्रतिपालक।…' इति। (क) नीति है कि मन्त्रीसे राय लेकर तब राजा कार्य करे। यथा—'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता॥ ४। २३। १३।' ऐसा वचन बोलनेका कारण बताते हैं कि आप मनुष्यरूप धारण किये हुए हैं, इसीसे अज्ञानीकी तरह बात पूछते हैं और रावणकी मृत्यु मनुष्यके हाथसे होनी है इससे राक्षस-कुलके विनाशके लिये मनुष्योंकी-सी बातें करते हैं।

वि० त्रि०—सरकारने नरावतार धारण किया है, अतएव ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्तिसे काम नहीं ले रहे हैं, माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्तिका आश्रयण किये हुए हैं। इसलिये नीतिके अनुसार कार्य करते हैं। सबकी सम्मति ले रहे हैं। नीति यही है कि सहसा कार्य नहीं करना चाहिये, विचारपूर्वक कार्य करनेवालेको ही सफलता प्राप्त होती है, यथा—'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्। वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥' निशिचरहीन पृथ्वी करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उसके पूरा करनेके लिये समुद्रोल्लङ्घन अनिवार्य है। अतः समुद्र-सन्तरणकी विधिपर विचार करना चाहते हैं।

सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिअ जलधि गंभीरा॥ ५॥
संकुल मकर उरग झष जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती*॥ ६॥

अर्थ—हे वीर कपीश सुग्रीव! हे वीर लंकापति विभीषण! सुनो! यह गहरा समुद्र कैसे पार किया जाय?'॥ ५॥ यह मगर, सर्प, अनेक जातिकी मछलियों (वा मत्स्यविशेष) से भरा हुआ है, अत्यन्त गहरा है और सब प्रकारसे इसका पार करना कठिन है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) सुग्रीव पहलेके सखा हैं, विभीषण अब सखा हुए, अतः पहले सुग्रीवको सम्बोधन किया। यह भी नीति है। [सुग्रीवसे पहले पूछा क्योंकि इनकी सेनाको पार उतरना है, ये सेनाके बलको जानते हैं कि वानर किस प्रकार पार जा सकेंगे—उड़कर, तैरकर या सेतुहीके द्वारा। यदि सेतु ही बाँधना हो तो उसका सामान एकत्र किया जाय। विभीषणजीसे इसलिये पूछा कि ये इसके समीप ही रहते हैं, इसके भेदको जानते हैं और पार जाकर इनके शत्रुको मारकर इनको राज्य देना है। सुग्रीव पहले न बोले क्योंकि इसके विषयमें विभीषण, जो तटपर ही रहते हैं, विशेष जान और कह सकते हैं। जब भेद मिल जायगा, तब जो कुछ करना उचित होगा वह करेंगे। (रा० शं० श०) विशेष आगे चौ० ७ की टिप्पणी १ देखिये]। (ख) 'बीरा' अर्थात् तुम वीर हो, समुद्रका पार करना वीरताका काम है। [इसकी गम्भीरता नष्ट करनेमें आप सब समर्थ हैं। यथा—'सोखहिं सिंधु सहित झष ब्याला। पूरहिं न त भरि कुधर बिसाला॥…ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा॥ ५५। ६, ७।' जैसे यह अम्बुपति है वैसे ही आप कपिपति और लंकापति हैं; परस्पर सामर्थ्ययुक्त होनेसे बताइये

* म० चं०—पायकुलक।

कि कैसे पार हों। (मा० त० सु०)]। इसीसे प्रथम विभीषणजीने वीरताकी बात कही कि **'कोटि सिंधु सोषक तव सायक।'** 'गंभीरा' अर्थात् पानी बहुत है, इससे उसमें हलकर पार नहीं हो सकते। [शत्रुको छोटा मानकर उसके लिये अल्प उपाय करनेसे हानि होती है। इसीसे प्रभुने सिन्धुको अगाध, गम्भीर, अति दुस्तर कहा। राजनैतिक दृष्टिसे मन्त्र पूछनेसे उनकी बुद्धिमत्ताकी परीक्षा भी हो जायगी। दोनोंको वीर विशेषण दिया, क्योंकि दोनों सखा हैं, एकको ही वीर कहते तो दोनोंमें वैमनस्य हो जाना सम्भव था जिससे राजकार्य बिगड़ जाता है। (पं०)। दोनों वीर हैं ही। वाल्मीकीयमें सुग्रीवकी वीरता स्पष्ट ही है और विभीषण भी रावणसे अकेले ही लड़े हैं, यह तो मानसमें ही देख लीजिये]।

२—'अति अगाध दुस्तर सब भाँती।' (क) एक बार 'गम्भीर' कह चुके, अब फिर वही बात कही। गम्भीर और अगाध एक ही बात है। दो बार कहकर जनाया कि इसकी गहराई अधिक बाधक है। (ख) 'सब भाँती' अर्थात् गम्भीरतासे, चौड़ाईसे, अपने स्वरूपसे, मकर आदि अनेक जीवों इत्यादि सब तरहसे कठिन है; न उसमें हल कर जा सकें, न तैरकर जा सकें, न कूदकर लाँघा जा सके।

कह लंकेस सुनहु रघुनायक। कोटि सिंधु सोषक तव सायक॥ ७॥
जद्यपि तदपि नीति असि गाई। बिनय करिअ सागर सन जाई*॥ ८॥

अर्थ—श्रीविभीषणजीने कहा—हे रघुनायक! सुनिये, यद्यपि आपका बाण करोड़ों समुद्रोंको सोखनेवाला है तो भी नीति ऐसी कही गयी है कि (प्रथम अपना पराक्रम या पुरुषार्थ न करे, पहले सामनीति बरते, यथा—**'जो मधु मरै न मारिये माहुर देइ सो काउ। दो० ४३३।'**) सागरसे जाकर प्रार्थना कीजिये॥ ७-८॥

टिप्पणी—१ 'कह लंकेस···' इति। श्रीरामजीने तो सुग्रीवसे भी पूछा था पर उन्होंने उत्तर न दिया। कारण कि—उन्होंने विभीषणको बाँध रखनेकी सलाह दी थी, उसे प्रभुने न स्वीकार किया, इसी तरह अब समुद्रको बाँधनेकी यदि राय देंगे तो इसे भी न मानेंगे और समुद्र बिना (सेतु) बाँधे पार उतरना हो नहीं सकता। विभीषणजी विनय करनेकी राय देते हैं। श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाई वीर हैं, यह बात वीरोंको शोभा नहीं देती कि छोटेसे प्रार्थना करें। पर हमारी बात न मानेंगे जैसा आगे स्पष्ट है। अतएव सुग्रीव चुप रहे। अथवा, सुग्रीवकी पारी हो चुकी है, यथा—**'कह प्रभु सखा बूझिये काहा। कहै कपीस सुनहु नरनाहा॥ ४३। ५।'** अब विभीषणजीकी बारी है; आगे जाम्बवंतके बोलनेकी बारी आवेगी,—**'सुनहु भानुकुलकेतु जामवंत कर जोरि कह। लं० मं०।'**; अतएव यहाँ विभीषण ही बोले। [अथवा, सुग्रीवने विचार किया कि प्रभु इनको स्वीकार कर चुके हैं और मन्त्र भी पूछा है, अब इससे इनके हृदयका भाव भी हमारे और रावणके विषयमें प्रकट हो जावेगा। अतएव न बोले और विभीषणजी अपनी सरलता और रावणके साथ अपना वैर लक्षित कराते हुए सुन्दर नीतियुक्त वचन बोले। (अज्ञात। प्र० सं०)

२—'रघुनायक' का भाव कि आप रघुवंशशिरोमणि हैं, मर्यादापुरुषोत्तम हैं; अतएव मर्यादाका पालन करते हुए काम कीजिये।

३—'कोटि सिंधु सोषक···' इति। श्रीरामजीने माधुर्यभावसे पूछा और विभीषणजीने ऐश्वर्यभावसे उत्तर दिया। श्रीरामजीने इस समुद्रको **'अति अगाध दुस्तर सब भाँती'** कहा। विभीषणजी उसको अत्यन्त लघु दिखा रहे हैं— **यह समुद्र क्या है**! ऐसे-ऐसे असंख्य समुद्र भी हों तो आपका एक बाण उन्हें सोख लेनेको पर्याप्त (काफी) है। इसी प्रकार जाम्बवन्तजी भरद्वाजजी, वाल्मीकिजी, अगस्त्यजी आदि जो प्रभुका ऐश्वर्य जानते हैं उनसे जब प्रभुने माधुर्यमें कुछ पूछा तब उन्होंने भी प्रभुकी इसी प्रकार बड़ाई कहकर, ऐश्वर्य जानकर, बात कही है, यथा—

प्रश्न	उत्तर
१—**अब बिलंब केहि काम—**	**'सुनहु भानुकुलकेतु जामवंत कर जोरि कह।'**
करहु सेतु—	**'नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं॥**
उतरइ कटक—	**यह लघु जलधि तरत कति बारा।'**
२—**नाथ कहिअ**	**'मुनि मन बिहँसि राम सन कहहीं।'**

* भ० चं०—१२०९ वाँ, ११९३ वाँ भेद, पायकुलक।

हम केहि मग जाहीं— 'सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं।'

३—विशेष अ० १२५-१३१ और आ० १३ (३-५) देखिये।

४—'जद्यपि तदपि नीति अस गाई' इति। (क) प्रभुने नीतिप्रतिपालक वचन कहे, इसीसे विभीषणजी नीतिका प्रमाण देकर कह रहे हैं। सागरसे विनय करना नीतिका पालन है। यथा वाल्मीकीये—'एवमुक्तस्तु धर्मज्ञः प्रत्युवाच विभीषणः। समुद्रं राघवो राजा शरणं गन्तुमर्हति॥ यु० कां० १९। ३०-३१।' विभीषणजीने कहा कि श्रीराघवजी! समुद्रकी शरणमें जाना चाहिये। वाल्मीकीयमें श्रीहनुमान्‌जी तथा श्रीसुग्रीवजीने विभीषणजीसे प्रश्न किया है। अतः उन्हींको उन्होंने उत्तर दिया। वाल्मी० में 'शरण' शब्द आया है। अतः 'बिनय करिय सागर सन' का अर्थ है कि समुद्रकी शरण जाइये। इस शब्दमें यह ध्वनि है कि यदि वह रास्ता न दे अथवा उपाय न बताये तो वह पापमय समझा जायगा, क्योंकि 'सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पामर पापमय…।' यह दोष आ जानेपर वह दण्डका भागी होगा, तब उसे बाणद्वारा सोख लिया जायगा। यही विचारकर श्रीरामजी समुद्रतटपर बैठे। यथा—'अद्य मे तरणं वाथ मरणं सागरस्य वा। वाल्मी० ६। २१। ८। इति रामो धृतिं कृत्वा…।' (ख) 'सागर' शब्द साभिप्राय है। भाव कि सागर आपके पुरुषों (पूर्वजों) द्वारा उत्पन्न हुआ है, अतः उससे प्रार्थना करना उचित है, यथा—'प्रभु तुम्हार कुल गुरु जलधि।' (ग) 'सागर सन जाई' अर्थात् उसके समीप जाइये, यथा—'सिंधु समीप गये रघुराई।' तात्पर्य कि यहाँ बैठे-बैठे प्रार्थना करनेसे उसपर भार न पड़ेगा, वह सोचेगा कि अपनी सेनामें बैठे हैं, हमारे ऊपर (अर्थात् सहारे या धन्ना दिये) थोड़े ही बैठे हैं।

दो०—प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि॥ ५०॥

अर्थ—हे प्रभो! समुद्र आपके कुलका पुरुषा (बड़ा) है। वह विचारकर उपाय कहेगा। सब भालु-वानर-सेना बिना परिश्रम सागरके पार हो जायगी॥ ५०॥*

टिप्पणी—१ (क) कुलगुरु है; अतः उसका उल्लङ्घन करना या सोख लेना उचित नहीं। प्रथम दण्डनीति न चाहिये, पहले सामनीतिसे काम लेना चाहिये, अतएव आप प्रथम कुलगुरु समझकर विनय करें। वह अपना कुल समझकर उपकार करेगा। (ख) 'कहिहि उपाय बिचारि।' भाव कि हमारे विचारमें कोई उपाय नहीं आता, यह तो न बाँधा जा सकने योग्य है न तैरकर और न कूदकर पार किये जाने योग्य है। इसके पार होनेका उपाय यही बतायेगा। क्योंकि यह कुलगुरु है, इसका सहायता करना उचित ही है। यथा—'जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी॥ १। ९॥' यथा वाल्मीकीये—'खानितः सगरेणायमप्रमेयो महोदधिः। कर्तुमर्हति रामस्य ज्ञातेः कार्यं महामतिः॥ यु० कां० १९। ३१॥' अर्थात् श्रीरामके पूर्वज सगरने इस अपार महासागरको खोदा था। इस सागरको अपने सजातीय राघवका कार्य अवश्य करना चाहिये। विशेष १ (९) में देखिये। (ग) 'बिनु प्रयास' का भाव कि और सब उपायोंमें परिश्रम होगा और उसके बताये हुए उपायमें श्रम न होगा। यह आगे स्पष्ट ही है—'रामप्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं॥'

२—विभीषणजीने समुद्र पार करनेका उपाय कुछ न बताया, उसे समुद्रके ही अधीन रखा। इनके कुछ समझमें न आया कि क्या कहें, क्योंकि ये संत हैं, न बन्धन करनेको कह सकें और न सोखनेको। इन्होंने उसका मान करनेकी ही राय दी; क्योंकि संत 'सबहि मानप्रद आपु अमानी' होते हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्य कलामें सभी (वस्तुओं) के अभिमानी देवता माने जाते हैं। अंग्रेजी पढ़े मित्र 'Tiber Father Tiber to whom the Romans pray' वाली बात स्मरण करें। पर हमारे यहाँ केवल कलाकी बात नहीं है। आधिदैविक पथके विचारसे सभीके अभिमानी देवता तथा जीव माने जाते हैं। जहाँ किसी चेतन केन्द्रके सम्बन्धसे विशेष संगठन होता है। अब तो भौतिक विज्ञान भी वृक्षादिमें जीव मानने लगा है और meta-biology अभौतिक जीव-विज्ञानमें तो विकासवादको चैतन्य अर्थात् रचनात्मक (Creative Evocutive) माना जाने लगा है। हमारे तर्कप्रधान और पुराणोंको न माननेवाले भाई भी सोचें कि सामवेदके भाष्य पृ० ८३८ पर श्रीजयदेव विद्यालंकारने उस मन्त्रपर टिप्पणी

* म० चं०—मच्छ दोहा।

करते हुए, जिसमें जल, औषध, वनस्पति आदिमें जीव माना है, लिखा है कि फल-वृक्षादिमें भी वही जीव है। जो सज्जन वैसा न भी मानें वे उतना तो अवश्य कलाके नाते मानें जितना अंग्रेज भाई मिल्टन आदिकी कलाको पढ़ते समय मान लेते हैं, नहीं तो आनन्द न आयेगा।

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिअ दैव जौं होइ सहाई॥ १॥
मंत्र न यह लछिमन मन भावा। राम बचन सुनि अति दुख पावा॥ २॥

अर्थ—हे सखा! तुमने अच्छा उपाय बताया है, उपाय करें, देखो जो दैव सहायक हो॥ १॥ यह राय लक्ष्मणजीके मनको न रुची, श्रीरामजीके वचन सुनकर उन्होंने अत्यन्त दुःख पाया॥ २॥

प० प० प्र०—'सखा' इति। यद्यपि विभीषणजी दास्यभावसे शरणमें आये हैं तथापि लंकेश्वर होनेसे भगवान् व्यवहारमें माधुर्य लीलामें उनको सखा ही मानते हैं। ☞ इससे यह उपदेश मिलता है कि अन्तरंगके पारमार्थिक कैसे भी क्यों न हो, जिसका जैसा बाह्य व्यावहारिक अधिकार होगा उसी प्रकार उससे व्यवहार करना चाहिये।

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीका स्वभाव है कि सबका सम्मान करते हैं। इसी प्रकार सुग्रीवसे कहा था—'**जो कछु कहेउ सत्य सब सोई। सखा**···॥ ४। ७।२३।' (ख) 'सखा' का भाव कि जैसा सखाका धर्म है वैसा ही आपने अच्छा उपाय कहा। (ग) 'जौं' से जनाया कि दैवकी सहायतामें संदेह है। प्रभु त्रिकालज्ञ हैं, वे जानते हैं कि विनयसे काम न चलेगा, काम दंडसे होगा—ये बातें आगे प्रभु अपने वचनसे स्वयं स्पष्ट करते हैं, यथा—'**ऐसेइ करब धरहु मन धीरा**'। माधुर्यके अनुकूल संदेह कहा। माधुर्यके अनुकूल यह सिद्धान्त हुआ कि सामसे काम न होगा। (घ) उपाय करें जो दैव सहायक हों। इस कथनसे यह जनाया कि उपाय करे और उसमें देवताका भरोसा रखे। उपाय करनेपर जब देवता उसमें सहाय होते हैं तब कार्य सिद्ध होता है, यथा—'**तदपि एक मैं कहौं उपाई। होइ करै जौ दैउ सहाई॥ १। ६९। १॥**' '**राम करहु सब संजम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहै काजू॥ २। १०। ३॥**'

२—'**मंत्र न यह लछिमन मन भावा**' इति। (क) जब कोई श्रीरामजीके विरुद्ध कोई धर्मकर्मकी बात कहता है जिससे उनकी न्यूनता वा अपमान झलकता है, तब लक्ष्मणजीको नहीं अच्छा लगता। वे उसे नहीं सह सकते। उदाहरण, यथा—'**पुनि कछु लषन कही कटु बानी**। अ० ९६। ४।', '**कही जनक जसि अनुचित बानी**। १। २५३। २।', तथा '**आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥** २। २३०। ३॥' देखिये। अर्थात् पिता, ज्ञानशिरोमणि जनक, और भाईको भी कुछ न समझा। [परशुरामको भी इसीसे कुछ न समझा था, यथा—'**सुनि मुनिबचन लषन मुसुकाने। बोले परसुधरहि अपमाने॥** १। २७१। ६॥' देखिये] तथा यहाँ विभीषणको, दैवको और कुलगुरु सागरको कुछ न माना समझा, तीनोंकी अवहेलना की। '**मंत्र न यह लछिमन मन भावा**' यह विभीषणको कुछ न समझना है। '**नाथ दैव कर कवन भरोसा**' यह दैव प्रति कहा। और '**सोखिअ सिंधु करिय मन रोषा**' यह कुलगुरुको न मानना है। अथवा, (ख) जिनके कोपसे चौदहों भुवन क्षणभरमें भस्म होते हैं, उन (लक्ष्मणजी) के स्वामीको दूसरेसे प्रार्थना विनती करनेको कहते हैं; अतएव यह मन्त्र 'न भावा'। इससे तो वे कायर समझे जायँगे। रावणने कह ही डाला कि '**जौं असि मति सहाय कृत कीसा। सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई॥ मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई। रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई॥** ५६। ४-६॥'

मा० त० सु०—न भाया; क्योंकि यह समुद्र रावणका प्रबल रक्षक है, इसीके बलसे तो रावण उद्धत हो रहा है। अतः इससे प्रार्थना करना रावणसे प्रार्थना करनेके तुल्य है।

टिप्पणी—३ '**अति दुख पावा**' का भाव कि विभीषणजीकी राय सुनते ही दुःख हुआ और श्रीरामजीने उसे स्वीकार कर लिया; इससे 'अति दुःख' हुआ। क्योंकि एक तो विनती करनेसे ही बलकी हीनता (असमर्थता) व्यंजित होती है, उस-पर भी दैवकी सहायता हो, यह चाहना; इससे तो बलकी अत्यन्त हीनता दर्शित होती है। तात्पर्य कि ऐसे पुरुषार्थीको ऐसा वचन कहना न चाहिये। अथवा समुद्रका और दैवका भरोसा है, यह सुनकर अति दुःख पाया। यदि संदेहका वचन न कहते तो अति दुःख न होता।

प० प० प्र०—१ यह कार्य अपनी इच्छाके विरुद्ध हुआ, इससे लक्ष्मणजीको दुःख हुआ हो, यह बात नहीं है।

मानसके लक्ष्मणजीके स्वभावकी यह विशेषता है कि श्रीरामजीका अपमान, तिरस्कार देखनेमें आता है, या कोई व्यक्ति ऐसा कार्य करता है जिससे श्रीरामजीको व्यर्थका क्लेश हो, वहाँ उनसे सहा नहीं जाता, वे तुरत क्रुद्ध होकर रामापमानादि कर्ताको दण्ड देनेको उतारू हो जाते हैं। पर यहाँ श्रीरामजी स्वयं स्वापमानकारक और क्लेशदायक साधन करनेको तैयार हो गये हैं, तब क्या करें ? उनपर क्रोध तो कर ही नहीं सकते। अतः अति दुःख हुआ। जहाँ क्रोध अगतिक होता है, वहाँ उसका रूपान्तर दुःख और शोकमें होता है।

२ जिन लक्ष्मणजीको श्रीरामजीकी सेवा छोड़कर भरतजीसे मिलनेमें भी अत्यन्त संकोच हुआ था वे ही यहाँ बिना पूछे कड़े शब्दोंमें अपना मत कहते हैं—यह रामप्रेमका अलौकिक उदाहरण है।

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीलक्ष्मणजी कर्मवीर हैं। इसीसे वे कमजोरी (असमर्थता कायरता) की बात पसंद नहीं करते। जो लोग रामायणको परिवारमें गुलामी सिखानेवाली पुस्तक कहते हैं वे सोचें कि विचारकी यह स्वतन्त्रता है कि बड़े भाईको भी, घुमाकर ही सही, कादर और आलसी कह दिया गया, पर उनके 'नाथ' होनेको स्वीकार करते हुए फिर घुमाकर सिद्धान्त रूपमें बात कही गयी है, जिस रूपमें ही छोटेको कहना उचित था।

पर संयमित जीवनमें यह भी सोचनेकी बात है कि एक सामाजिक संगठनका एक ही मुखिया होता है और अब तो समाजशास्त्र (Sociology & Civics) में भी परिवारको ही समाज-संगठनकी पहली श्रेणी माना गया है; यहाँ तक कि Count Tolstoy ने भी उसे समाज-सेवाकी पहली सीढ़ी कहा है। इसीसे लषनलालजी भी विचारोंमें स्वतन्त्र होते हुए भी रामाज्ञाका भंग नहीं करते। आजकलका छोटोंका बड़ोंके प्रति व्यवहार स्वतंत्रता (liberty) नहीं है किंतु स्वच्छन्दता (license) है।

नोट—१ श्रीरामजीने जो यह कहा कि 'करिअ दैव जौं होइ सहाई' इन शब्दोंको सुनकर दुःख हुआ। कारण कि इन शब्दोंसे यह निश्चित होता है कि वह विनय करनेमें सहायता न करेगा। तब उससे विनय क्यों की जाय ? भाव कि आप समर्थ श्रेष्ठ क्षत्रिय हैं, आप दैवकी प्रतिकूलताको दूर कर सकते हैं। असर्थ लोग भाग्यका अवलम्ब लेते हैं। वस्तुतः भाग्य कोई वस्तु नहीं, पुरुषार्थके सामने वह कोई भी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता। यथा—'यथा ह्येवमशौण्डीरं शौण्डीरः क्षत्रियर्षभः। किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि। वाल्मी० २। २३। ७।' कर्तव्यशील शूरवीरोंको दैवका सहारा कैसा ?

२—श्रीरामजीने यह जानकर भी फिर समुद्रसे विनयवाला मत क्यों मान लिया, इसका उत्तर 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं। ५६। ३।' है। विभीषणपर कृपा, समुद्रपर कृपा, समुद्रतटवासियोंपर कृपा, नल-नीलपर कृपा, इत्यादि कृपा ही कृपा है। दूसरे श्रीरामजी धर्मात्मा हैं। समुद्र नदी-नदपति है, तीर्थ है। तीर्थपर त्रिरात्रि निवासका नियम है। वह भी पूरा होगा। इसीसे वाल्मीकिजीने यहाँ 'नयज्ञो धर्मवत्सलः। ६। २१। ११।' विशेषण दिया है।

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥ ३॥
कादर मन कहुँ एकु अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥ ४॥
सुनत बिहँसि बोले रघुबीरा। ऐसेइ करब धरहु मन धीरा॥ ५॥
अस कहि प्रभु अनुजहि समुझाई। सिंधु समीप गए रघुराई*॥ ६॥

अर्थ—हे नाथ ! दैवका क्या भरोसा है ? मनमें रोष कीजिये और समुद्रको सोख लीजिये (भाव कि जब आप स्वयं दैवके भरोसेमें सन्देह करते हैं तब उसका कौन भरोसा ? यदि आपके मुखसे निकलता कि दैव सहायता करेगा तो वह अवश्य सहायता करता और तब उसका भरोसा करना उचित होता)॥ ३॥ कायरके मनका एक यही (दैव) आधार है और आलसी (पुरुषार्थहीन) लोग दैव ! दैव ! पुकारा करते हैं (अर्थात् वीर और उद्योगी लोग दैवका आधार नहीं लेते। कायर और आलसीसे पुरुषार्थ नहीं होता, इससे वे दैवका आधार लेते हैं। कायर अपना कादरपन छिपानेके लिये मनमें दैवका आधार लेते हैं और आलसी प्रकट दैव-दैव पुकारते हैं। आलस प्रकट होनेपर कुछ निन्दा नहीं होती)॥ ४॥ सुनते ही हँसकर रघुवीर श्रीरामजी बोले कि ऐसा ही करेंगे, मनमें धीरज रक्खो॥ ५॥ ऐसा कहकर प्रभुने भाईको समझाया, फिर वे रघुराई श्रीरामजी समुद्रके समीप गये॥ ६॥

* प्र० चं०—'नाथ०' स्वागता, शेष (१) से (६) तक पायकुलक।

प० प० प्र०—'नाथ' इति। यह शब्द दुःखाभिभूत होकर ही उच्चारण किया गया है। इस एक शब्दके उच्चारण-में ही उन्होंने अपनी सब भावनाएँ प्रकट कर दी हैं। भाव कि—(क) आप अनाथ, असमर्थ नहीं हैं; आप समर्थ हैं, अनन्त ब्रह्माण्डोंके नाथ हैं, अतः क्षुद्र अहंकारी जीवसे याचना करनेमें आपका अपमान है। (ख) आप मेरे नाथ हैं, मैं सेवक होकर आपकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम कर नहीं सकता, नहीं तो इसे क्षणभरमें सुखा देता; तथापि आपका अपमान मुझसे सहा नहीं जाता, इसीसे कहता हूँ।

२ 'दैव कर कवन भरोसा।'''इति। [श्रीलक्ष्मणजी माताका संदेश सुन चुके हैं 'निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति', 'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना' भी सुना है। इससे उन्हें क्षण-क्षणका विलम्ब भी असह्य हो रहा है, इसीसे वे ऐसा कह रहे हैं]। कथनका भाव यह है कि पुरुषार्थसे सहज और शीघ्र साध्य होनेवाला कार्य दैवपर छोड़कर स्वस्थ बैठकर काल व्यतीत करना वीरोंके लिये अनुचित है।

टिप्पणी—१ (क) 'नाथ दैव कर''' इति। दैवका भरोसा श्रीरामजीके मनमें भाता है, इसीसे लक्ष्मणजी प्रार्थना करके कहते हैं और विभीषणजीका जो सम्मत है कि समुद्रसे विनय करें इसका साफ-साफ खण्डन करते हैं कि उससे विनय न कीजिये किंतु उसपर रोष कीजिये और सोख लीजिये। (ख) यहाँ मन, वचन और कर्म तीनों कहे—वीर पुरुषार्थ करते हैं—'सोखिअ सिंधु करिअ मन रोसा' यह वीरोंका कर्म है। 'कादर मन कहुँ एक अधारा'—यह मन है। 'दैव दैव पुकारा' वचन है। तात्पर्य कि वीर कर्म करते हैं, पुरुषार्थहीन मनमें दैवका भरोसा करते हैं और आलसी दैव दैव चिल्लाया करते हैं। दैवका आधार लेनेवाले कायर और आलसी होते हैं और आप तो वीर-शिरोमणि हैं, आपको वीरोंका कर्तव्य करना चाहिये। समुद्रका सोखना पुरुषार्थ है।

नोट—१ भाव यह है कि जो पौरुषहीन हैं, कायर हैं, वे ही भाग्यपर भरोसा करते हैं। जो वीर हैं जिनके पराक्रमकी लोकमें प्रसिद्धि है, वे भाग्यका अनुसरण नहीं करते। जो पुरुषार्थसे भाग्यको दबा सकते हैं उन्हें भाग्यके कारण अपनी असफलतापर पश्चात्ताप करनेका अवसर नहीं मिलता। यथा—'विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते। वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ॥ १६ ॥ दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्। न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥ १७ ॥ वाल्मी० २। २३।' (यह श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीसे अयोध्याकाण्डमें कहा है)।

वाल्मी० यु० काण्डमें तो श्रीलक्ष्मणजीने कहा है कि विभीषणजीका परामर्श हम लोगोंको भला क्यों अप्रीतिकर होगा। मानसमें अयोध्याकाण्डमें तो वे चुप हैं पर इस स्थानपर उन्होंने दैव-पुरुषार्थ-वाद छेड़ा है जो 'ऐसेइ करब धरहु मन धीरा' से तुरत शान्त हो जाता है।

अ० रा० में विभीषणजीसे सागर तरणोपाय पूछना इत्यादि प्रसङ्ग ही नहीं है। इन चौपाइयोंकी जोड़के श्लोक ये हैं—'आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः। नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति ॥ उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति। दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥' (नीतिशतक—राजर्षि भर्तृहरि तथा 'उद्यमेन विना राजन् न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः। कातरा इति जल्पन्ति यद्भाव्यं तद्भविष्यति ॥' अर्थात् उद्यमके बिना मनोरथ सिद्ध नहीं होता, कायर लोग कहा करते हैं कि जो होना है वही होगा। (पंचरात्रे)।

मा० त० सु०—'कवन भरोसा' का भाव कि दैव तो प्रत्यक्ष है नहीं, अतः उसका भरोसा करना व्यर्थ है। 'करिअ मन रोसा' का भाव कि सरलताको त्यागिये।

वीरकवि—लक्ष्मणजीने पहले एक विशेष बात कही, फिर साधारण बातसे उसका समर्थन करना कि यह कादरोंके मनका सहारा है इत्यादि 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है।

टिप्पणी—२ 'सुनत बिहँसि बोले'। लक्ष्मणजीने 'राम बचन सुनि अति दुख पावा', उनको विभीषणकी राय अच्छी न लगी। उन्होंने दैवका भरोसा न करना चाहा और न समुद्रको कुछ माना वरन् वे पुरुषार्थ करनेको तैयार हुए—इस साहसपर श्रीरामजीने हँसकर धीरज दिया कि जो तुम कहते हो वही करेंगे, इसीसे 'रघुबीर' पद दिया।

श्रीलमगोड़ाजी—'बिहँसि' में हास्यकला बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। इसमें कितनी उदारता, सौहार्द है पर साथ ही कैसी गुप्त चुटकी भी है कि भैया! बड़ी जल्दी करते हो। 'अनुजहिं' शब्द ही बता रहा है कि उन्हें लषनलालके अनुगामी होनेपर भरोसा है और 'समुझाई' शब्दसे साफ पता चलता है कि उन्होंने छोटे भाईका अनादर नहीं किया किंतु समझा

बुझाकर ठीक कर लिया।

प० प० प्र०—'बिहँसि' इति। (क) श्रीलक्ष्मणजीकी अलौकिक प्रीति देखकर हँसे। यथा—'मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि। २। १००।' पुनः, (ख) रावणके गुप्तचर वानररूपसे आये हुए हैं जो अभी पहचाने नहीं गये हैं। अतः बिहँसकर उनका कपट खोलनेके लिये मायाको प्रेरणा दी। वा, (ग) बिहँसकर सागरकी मतिको मोहित किया। कारण कि 'राम तें अधिक रामकर दासा।' इस सिद्धान्तको श्रीहनुमान्‌जीके विषयमें चरितार्थ करना है। 'सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी २। १०१। ५। भी देखिये।

मानसमें श्रीरामजीका १९ बार 'हँसना', १७ बार 'मुसुकाना' और २० बार 'बिहँसना' लिखा है। प्रत्येक स्थानमें ऐसी ही कुछ लीला है। यह अभ्यासका एक स्वतंत्र विषय है।

नं० प०—'रघुबीरा' शब्द देकर सूचित किया कि समुद्रको अपनी वीरता दिखायेंगे, उससे वीरता करनी पड़ेगी। सिन्धु समीप जानेमें 'रघुराई' अर्थात् राजा कहा, क्योंकि नीतिको बरत रहे हैं, नीतिका पालन करना है।

नोट—२ 'रघुबीर' का भाव कि मैं भी पुरुषार्थको ही मुख्य मानता हूँ। जो तुम कहते हो वही करूँगा, मैंने तुम्हारा ही सिद्धान्त दृढ़ कर रखा है; पर ये अभी आये हैं, इनका जी प्रथम ही तोड़ देना ठीक नहीं। 'प्रभु' 'रघुराई' का भाव कि सर्वसामर्थ्ययुक्त होते हुए भी राजा हैं, अतः नीति आपको अवश्य पालनीय है। (मा० त० सु०)। २—दोनों भक्त हैं इससे दोनोंका पक्ष क्रमसे रक्खेंगे—(वंदनपाठक)।

टिप्पणी—३ 'अनुजहि समझाई' इति। समझाया कि विभीषणने राय अच्छी दी है, समुद्र कुलगुरु है। उसका मान रखना चाहिये। इससे समुद्रका मान रहेगा और विभीषण संत हैं, इनका भी मान रहेगा। समुद्र न मानेगा तब उसको दण्ड देना अनुचित न होगा; अभी दण्ड देना अनुचित है। नीतिमें लिखा है कि जो काम करे वह अपने इष्ट-मित्र प्रियके मनसे करे, उनको अप्रसन्न करके न करे। जब लक्ष्मणजी भी प्रसन्न हो गये तब सिन्धुतटपर गये।

४ 'सिन्धुसमीप गये', क्योंकि-(क) विभीषणजीने यही कहा है—'बिनय करिय सागर सन जाई'। अथवा,(ख) जलसे प्रार्थना करना है इससे जलके पास गये। इससे यह पाया जाता है कि सेना समुद्रतटसे कुछ दूरीपर है। कारण कि समुद्रका जल न स्नानके कामका है न पीनेके कामका। पहले तीर (अर्थात् निकट) उतरना कहा—'एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर', अब तटपर जाना कहते हैं। तीर और तट (समीप) में यही भेद है, यथा—'ठाढ़े सकल सिंधुके तीरा' फिर वहाँसे सबका तटपर जाना कहा—'अस कहि लवनसिंधु तट जाई।'

प्रथम प्रनामु कीन्ह सिरु नाई। बैठे पुनि तट दर्भ डसाई* ॥ ७ ॥

अर्थ—पहले तो माथा नवाकर प्रणाम किया, फिर कुशासन बिछाकर बैठ गये ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ समुद्र कुलगुरु है, इसीसे प्रणाम किया। पहले प्रणाम करके तब विनय करना यह विनयकी रीति है, यथा—'सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेखी॥ २। १२९। ३।'

२ 'बैठे तट दर्भ डसाई।' इससे निरायुध, मौनव्रत धारण किये हुए और अनशन सूचित किया। तीन दिन इस प्रकार बैठे रहे—लक्ष्मणजीसे बाण-शरासन माँगा, इससे जाना गया कि निरायुध बैठे, यथा-'लछिमन बान सरासन आनू।' शुक अपना मुनितन पाकर श्रीरामजीके पास गया, बार-बार प्रणाम किया पर वे कुछ न बोले; इससे जाना गया कि वे मौन भी थे, यथा—'बंदि रामपद बारहिं बारा। मुनि निज आश्रम कहुँ पगु धारा॥ ५७। १२।' अनशन व्रत कवित्तरामायणसे जाना गया, यथा—'तीसरे उपास बनबास सिंधुपास सो, समाज महाराजजू को एक दिन दान भो। क० ५। ३२।'

नोट—१ 'दर्भ डसाई' इति। कुलगुरु है, अतः उसके सामने अभिमानरहित आचरण दिखाया कि अपने ही हाथसे आसन बिछाया। यथा—'निज कर डासि नागरिपु छाला'। १। १०६ (५) देखिये। अनुष्ठान पूजा-पाठ आदि बिना आसनके व्यर्थ हो जाते हैं। आसन बिछाना शास्त्रविहित है। आसनोंके भेद, यथा—'कृष्णाजिने धनं पुत्रा मोक्षः श्रीर्व्याघ्रचर्मणि। कुशासने ज्ञानवृद्धिः कम्बले चोत्तमा गतिः॥ काष्ठासने व्याधिभयं पाषाणे हानिरेव च। वस्त्रासने वृथा पूजा धरण्यां निर्धनो भवेत्॥' (गुप्तसारसंग्रहे)

* भ० चं०—प्रथम नयमालिनी, 'बैठे...', (८) पायकुलक।

श्रीलमगोड़ाजी—सत्याग्रहीके अनशनमें क्रोध नहीं होता (जैसे गांधीजीके व्रतोंमें); फिर भगवान् राम तो सत्य-शीलाग्रही हैं केवल सत्याग्रही नहीं। पर अन्तर भी विचारियेगा कि जब वैसे काम नहीं चलता, तब 'भय बिनु होइ न प्रीति' की बात भी भगवान्ने ही आगे कही है।

जबहिं बिभीषन प्रभु पहिं आए। पाछे रावन दूत पठाए* ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस समय विभीषणजी प्रभुके पास आये, उसी समय उनके पीछे रावणने दूत भेजे ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'पाछे रावन दूत पठाए' इति। जब दूत चले तब उनका चलना न लिखा, यहाँ उनका समाचार लिखते हैं; कारण कि दूत जब चले तब छिपकर यहाँ आये, यहाँ आकर प्रकट हुए, इसीसे कविने प्रथम उनका चलना न खोला, अब प्रकट होनेपर लिखा।

१ 'पाछे रावन दूत पठाए' इति। इस प्रसंगमें वाल्मी० और अ० रा० से मानस-कल्पकी कथामें अन्तर है। वाल्मी० में प्रथम शार्दूल राक्षसने रावणको सेनाके उतरनेका समाचार दिया है तब रावणने शुकको सुग्रीवजीको फोड़नेके लिये भेजा है। यह पक्षीरूपसे गया। पकड़ जानेपर इसके पंख उखाड़ डाले गये और नेत्र फोड़े जाने लगे। तब वह रोने लगा और श्रीरामजीकी दुहाई देने लगा—'व्याचुक्रोश महात्मानं रामं दशरथात्मजम्। लुप्येते मे बलात्पक्षौ भिद्येते मे तथाक्षिणी ॥ ६। २०। ३२।', तब श्रीरामजीने बचा दिया। पर समुद्रपार सेना पहुँच जानेके पश्चात् वह छोड़ा गया। अ० रा० में भी प्रायः ऐसा ही है। रावणको समाचार देनेपर वह बड़ा कुपित हुआ और इससे कहा कि अब मुँह न दिखाना।

तत्पश्चात् शुक-सारण दो मन्त्रियोंको सेनाका समाचार लेनेको भेजा। इन दोनोंने वानर-रूप धरकर सेना देखी।—'हरिरूपधरौ वीरौ प्रविष्टौ वानरं बलम्।' (वाल्मी० ६। २५। ९) विभीषणजी इन्हें पकड़वाकर श्रीरामजीके पास ले आये। भगवान् श्रीरामने कहा कि यद्यपि कपट रूपसे सेनामें प्रवेश करनेसे ये मारने योग्य हैं तथापि इन्हें छोड़ दो—'प्रच्छन्नौ च विमुञ्चैतौ चारौ रात्रिचरावुभौ। शत्रुपक्षस्य सततं विभीषण विकर्षिणौ ॥ ६। २५। २१-२२।' ये दोनों राघव धर्म-वत्सलकी जय कहते हुए गये।—'जयेति प्रतिनन्द्यैतौ राघवं धर्मवत्सलम्। २५। २७।' श्रीरामजीने इनके द्वारा रावणको संदेशा भी भेजा। इन्होंने जाकर नील, नल, अंगद, कुमुद, चण्ड आदि यूथपतियोंके नाम आदि बताये और अन्तमें कहा—'अलं विरोधेन शमो विधीयतां प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली। ६। २५। ३६।' आप उनसे सन्धि कर लें, सीताजीको दे दें। रावणने दोनोंको डाँटा-फटकारा और कहा कि रिपुका उत्कर्ष कहते हो, मार डालने योग्य हो, मन्त्री होने योग्य नहीं, तुम्हारे पूर्वकृत उपकारोंसे मैं तुमको छोड़े देता हूँ। हमारे सामनेसे दूर हो, अब सामने न आना।

तदुपरान्त रावणने शार्दूलके नेतृत्वमें अनेक दूतोंको भेजा। ये सब भी पकड़े, मारे और सेनामें घुमाये गये। श्रीरामजीसे पुकार करने और प्राणोंकी भिक्षा माँगनेपर छोड़ दिये गये। उनके द्वारा भी श्रीरामजीने रावणको संदेश भेजा था।

'दूत पठाए' कहनेसे तीनों बारके दूतोंका ग्रहण हो सकता है। मानसकल्पके अवतारमें एक ही बार दूत भेजे गये और वे भी सेतुबंधनके पूर्व। मानसमें दूत वानररूप धरकर आये। वाल्मी० रा० में शुक-सारण जो भेजे गये थे वे भी वानररूप धरकर आये थे। इससे यहाँ 'शुक सारण' नामक दूतोंको ले सकते थे, क्योंकि दोके लिये भी 'पठाए' का प्रयोग ही होता पर आगे 'बाँधि सकल' से दोसे अधिकका ही बोध होता है। उसका पता लगाना है। इसलिये इन्हीं शुकसारणके साथ और दूतोंका भी आना मान लेनेसे 'दूत पठाये' और 'सकल बाँधि' आदि बहुवचनसूचक शब्दोंके प्रयोगका समाधान भी हो जाता है। शुकका नाम मानसकारने आगे खोला है—'कह सुक नाथ सत्य सब बानी। ५७। ३।' अ० रा० में अगस्त्यजीके शापकी कथा भी शुकके सम्बन्धमें दी हुई है। वाल्मी० में शापकी चर्चा नहीं है। इससे यह प्रसंग विशेषतः अ० रा० के अनुसार है।

दो०—सकल चरित तिन्ह देखे धरे कपट कपि देह।
प्रभु गुन हृदय सराहहिं सरनागत पर नेह ॥ ५१ ॥

अर्थ—मायासे नकली वानर शरीर धारण किये हुए उन्होंने सब चरित देखे। शरणागतपर प्रेम (मुख्य) यह (एवं और भी) प्रभुका गुण हृदयमें सराह रहे हैं ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सब चरित' अर्थात् जबसे विभीषणजी यहाँ आये तबसे अबतक सब चरित। आदरसे बुलाना,

* म० चं—दोहरा।

हृदय लगाना, भाईसहित मिलकर पास बिठाना, कुशलप्रश्न करके बड़ाई करना, अपना स्वभाव कहकर भक्ति प्रदान करना, तिलक करना और सखा बनाना तथा मन्त्र पूछकर सागरसे विनय करना, इत्यादि सब चरित हैं जो देखे। (ख) 'प्रभु गुन हृदय सराहहिं' क्योंकि छिपकर आये हैं, स्पष्ट सराहते तो कपट खुल जाता। (ग) शरणागतपर स्नेह है, यथा— **'मम पन सरनागत भय हारी'**—(१), **'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू॥'**—(२), **'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥**—(३), **'जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहौं ताहि प्रानकी नाईं॥'**—(४)। यह श्रीरामजीके मुखारविन्दसे सुना। और शरणपर प्रेम आँखों देखा भी, यथा— **'अस कहि करत दंडवत देखा'** से **'बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग'**'' तक सब चरित देखकर शरणागतपर प्रभुके स्नेहकी प्रशंसा करते हैं। (घ) 'शरणागतपर नेह'—इस कथनसे पाया गया कि सम्पूर्ण चरितमें शरणागतपर नेह अधिक या प्रधान है। और भी गुणोंकी सराहना करते हैं पर उनको यहाँ स्पष्ट नहीं किया। आगे जब दूत रावणसे कहेंगे तब और गुणोंको खोलेंगे। यथा—**'राम तेज बल बुधि बिपुलाई'**, **'माँगत पंथ कृपा मन माहीं'** और **'मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा'**'' इत्यादि।

प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥ १॥
रिपुके दूत कपिन्ह तब जाने। सकल बाँधि कपीस पहिं आने॥ २॥
कह सुग्रीवँ सुनहु सब बानर। अंग भंग करि पठवहु निसिचर*॥ ३॥

अर्थ—श्रीरामजीका स्वभाव प्रत्यक्ष अत्यन्त प्रेमसे बखान करते हैं, कपट भूल गया॥ १॥ तब वानरोंने जाना कि ये शत्रुके दूत हैं। सबको बाँधकर सुग्रीवके पास लाये॥ २॥ सुग्रीवजीने कहा—सब वानरो! सुनो। निशाचरका अंग-भंग करके भेजो॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) अत्यन्त प्रेममें कपट नहीं रह जाता, यथा—**'अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तन प्रगटि प्रीति उर छाई॥ ४। ३। ५।'** (ख)—**'प्रगट बखानहिं'**। प्रभुके गुण हृदयमें सराहते थे, और अब स्वभाव सुनकर अधिक प्रेममें मग्न हो गये, इससे स्वभाव प्रकट बखान करने लगे। गुण सराहनेमें 'प्रेम' था इसीसे तबतक सँभाल रहा। स्वभाव सुनकर 'अति प्रेम' हुआ, प्रेमकी मात्रा बहुत बढ़ गयी। इसीसे न रहा गया, प्रकट सराहने लगे। (ग) स्वभावका लक्ष्य—**'सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ। ४८। १।'** से **'प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा। ५०। २।'** तक। (घ) यहाँ दिखाया कि भगवद्गुण बखान करनेसे कपट नहीं रह जाता; राक्षस महाकपटी होते हैं सो उनका भी कपट छूट गया, यह श्रीराम-गुण-स्वभावका प्रभाव है। [(ङ) **'गा बिसरि दुराऊ।'''बाँधि।'** इति। प्रेमकी मात्रा अत्यन्त बढ़ जानेपर जब वे प्रकट बखान करने लगे तब बन्दरोंने देखा कि यह कौन बोली बोल रहा है। यह बोली तो बन्दरोंकी नहीं है, यह भाषा तो राक्षसोंकी-सी है। अतः ये निश्चय ही शत्रुके दूत हैं। इसीसे उनको तुरत बाँध लिया; क्योंकि तनक-सी असावधानी होनेसे ये कूदकर वानरोंमें जा मिलेंगे। फिर ये पहिचाने न जा सकेंगे। (वि० त्रि०)]

२ (क) **'सकल बाँधि'** से जनाया कि कई दूत थे। आगे स्पष्ट किया है, यथा—**'सुनि लछिमन सब निकट बोलाए'**। (नोट—**'पाछे रावन दूत पठाये'**, **'सकल चरित तिन्ह देखे'**, **'प्रभुगुन हृदय सराहहिं'**, **'प्रगट बखानहिं**, **'रिपुके दूत,** और **'जो हमार हर नासा काना'** ये सब बहुवचन-पद देकर कईका होना स्पष्ट कर दिया है)। (ख) 'तब जाने' अर्थात् जब राक्षसरूप प्रकट हो गया, कपटवेष जाता रहा, तब। (अथवा, वानररूप बना रहा, बोलीसे पहचाना)। **'कपीस पहिं आने'** कि जो आज्ञा हो सो करें, राजाज्ञासे दण्ड होता है और सुग्रीव वानरोंके राजा हैं, इससे उनके पास वानर ले गये। (घ) वाल्मीकिजीने शुकका दो बार बाँधा जाना लिखा है, इसीसे गोस्वामीजी भी दो बार लिखते हैं—एक तो यहाँ **'सकल बाँधि'''**, दूसरे **'बाँधि कटक चहुँ पास फिराए।'** [(ङ) आज भी यह नियम चला जाता है कि हाकिमके सामने अपराधीका बन्धन पूछ-ताछके समय खोल दिया जाता है। अतः सुग्रीवजीके सामने एक बार उनका बन्धन खोल दिया गया था, इसीसे ग्रन्थकार पुनः बाँधना लिखते हैं। (वि० त्रि०)। वाल्मीकीयमें जो शुक प्रथम भेजा गया था वह मन्त्री नहीं था। दूसरी बार जो भेजा गया वह मन्त्री था। इससे पं० रामकुमारजीका यह भाव शिथिल जान पड़ता है।]

३ (क) सुग्रीवने मारनेका हुक्म नहीं दिया, वरन् अंग-भंग करनेका दिया; क्योंकि सुग्रीव नीति जानते हैं कि

* भ० चं०—(१) (२) तामरस, १२०९ वाँ, १५९१ वाँ भेद।

'नीति बिरोध न मारिय दूता'। (ख) सबको हुक्म दिया कि अंग-भंग करो, जैसे रावणने हनुमान्‌जीके लिये हुक्म दिया था। रावणने अंगका नाम बतलाया था कि पूँछ जलाओ, पर सुग्रीवने कोई नाम न लिया; कारण कि सब जानते हैं कि कौन अंग-भंग करने चाहिये—जो अंग लक्ष्मणजीने निशिचरी शूर्पणखाके काटे थे अर्थात् नाक और कान। वानर राक्षसोंको वही दण्ड देते हैं जहाँ वे मिलते हैं, यथा—'जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिं। घेरि सकल बहु नाच नचावहिं॥ दसनन्हि काटि नासिका काना। कहि प्रभु सुजस देहिं तब जाना॥ ६।५।७-८।', 'काटेसि दसन नासिका काना। गरजि अकास चलेउ तेहिं जाना॥ ६।६५।६।' तथा यहाँ नाक-कान काटेंगे, यथा—'जो हमार हर नासा काना'। (ग)—'पठवहु' जिसमें रावण जान ले कि जैसा हमने उनके दूतके साथ किया वैसा ही उन्होंने किया।

सुनि सुग्रीव बचन कपि धाए। बाँधि कटक चहुँ पास फिराए॥ ४॥
बहु प्रकार मारन कपि लागे। दीन पुकारत तदपि न त्यागे॥ ५॥
जो हमार हर नासा काना। तेहि कोसलाधीस कै आना*॥ ६॥

अर्थ—सुग्रीवके वचन सुनकर वानर दौड़े, और निशाचरोंको बाँधकर सेनाके चारों ओर फिराया॥ ४॥ वानर बहुत तरहसे मारने लगे। वे दीन होकर पुकार रहे हैं, तो भी नहीं छोड़ते॥ ५॥ (तब वे इस प्रकार पुकार करने लगे) जो हमारे नाक-कान काटे उसे कोशलाधीशकी शपथ है॥ ६॥

टिप्पणी १ (क)—'धाए' अर्थात् जो दूर थे वे कौतुक देखने एवं कपीशकी आज्ञा तुरत सिद्ध करनेके लिये दौड़ आये, यथा—'सुग्रीवो उग्रशासनः' इति वाल्मीकीये। आगे कौतुक करना लिखते हैं। (ख) 'बाँधि' यहाँ पुनः लिखकर जनाया कि प्रथम साधारण बाँधा था अब विशेष बाँधा। दो बार बाँधा क्योंकि हनुमान्‌जीको भी राक्षसोंने दो बार बाँधा था—एक बार नागपाशसे बाँधा, दूसरी बार पूँछ बाँधी। [जब सुग्रीवके पास ले गये तब बन्धन खोल दिये, अतः फिर बाँधा। वा, पहले हाथ ही बाँधे थे अब कमर भी बाँधी। वा, अब अंग-भंग करना है, अतः अब फिरसे दृढ़ करके बाँधा।] (ग) 'बहुप्रकार'। राक्षसोंने हनुमान्‌जीकी पूँछ बहुत प्रकारसे जलाई, अतएव कपि इनको बहुत प्रकारसे मारने लगे। (वाल्मी० ६।३० में शार्दूलने रावणसे कहा है कि वानरोंने हम लोगोंको घुटनों, दाँतों, पैरों (लातों) तथा हाथोंसे मारा-काटा है। यथा—'जानुभिर्मुष्टिभिर्दन्तैस्तलैश्चाभिहता भृशम्। परिणीतोऽस्मि हरिभिर्बलवद्भिरमर्षणैः॥ ८॥' यही बहु प्रकार है)।

२—'दीन पुकारत तदपि न त्यागे' इति। (क) भाव कि दीनको न मारना चाहिये वरन् छोड़ देना चाहिये, पर वे उनको शत्रुके दूत होनेके कारण नहीं छोड़ते। (ख)—यहाँ रिपुदूत जानकर बाँधा और मारा पर विभीषणजी आये तब भी तो 'जाना कोउ रिपुदूत बिसेषा', उनको क्यों न बाँधा-मारा? कारण कि वे निजरूपसे आये, बिना आज्ञाके श्रीरामजीके दलमें उन्होंने प्रवेश न किया वरन् कह सुनाया कि हम श्रीरामजीसे मिलने आये हैं। और दूत कपट-वानरवेषसे छिपकर दलमें आये; इस अपराधके कारण इनको दण्ड मिला और उनको कुछ न हुआ।

३ (क) 'जो हमार हर नासा काना…' इति। भाव कि जब वे दीन होकर पुकारने लगे तब मारना छोड़कर नाक-कान काटने लगे। अंग-भंगकी जो आज्ञा मिली थी, अब वही करने लगे। अंग-भंग करके छोड़ेंगे। (ख) श्रीरामजीकी शपथ सुग्रीवके हुक्मसे गुरुतर है, इसीसे सुग्रीवके हुक्मको नाजायज किया और रामशपथको सिद्ध रक्खा। भाव कि सुग्रीवने श्रीरामजीके प्रेमी, श्रीरामजीके गुण, स्वभाव वर्णन करनेवालेके अङ्ग-भङ्ग करनेका हुक्म दिया। इसीसे उनका हुक्म भंग हुआ, किन्तु उनके अंग-भंग न हुए। दूतोंने रामप्रेममें मग्न होकर गुणस्वभाव बखान किये ऐसोंको वानरोंने बाँधा और राम दोहाई होनेपर भी न छोड़ा क्योंकि ये रिपुके दूत हैं, पहचान लिये गये हैं—यह काम वानर नीतिके अनुसार कर रहे हैं। श्रीलक्ष्मणजी भावुक हैं, अतएव कोशलाधीशकी दुहाई देते सुन उन्होंने उनको छुड़ा दिया। दूतोंके विषयमें विभीषणजी कुछ न बोले, यह समझकर कि छुड़ावें तो सब कहेंगे कि राक्षसोंका पक्ष लेते हैं और मारनेको तो किसीको कहते नहीं; दूत तो भक्त हैं, इन्हें मारनेको कैसे कहें, इसीसे चुप रहे। राजाकी दोहाई देते हैं, इसीसे 'कोसलाधीस' कहा। 'कोसलाधीश' की दोहाईका भाव कि जो इनकी शपथ न मानेगा उसका कुशल नहीं। वा, कोशल धर्मकी पुरी है जो वहाँके राजाकी शपथ न मानेगा उसके धर्मकी हानि होगी। वा, हम कोशलाधीशकी शपथ देते हैं, जैसे वे कोशलपुरीकी रक्षा

* प्र० चं०—(४-८) पायकुलक।

करते हैं वैसे ही हमारी रक्षा करें । वा, लंकेशकी शरण छोड़कर कोशलाधीशकी शपथ देते हैं कि हमारी कुशल हो; नाक-कान न काटें । वानर यहाँ हनुमान्‌जीका बदला ले रहे हैं । दोनों प्रसंगोंका मिलान—

नाग पास बाँधेसि लै गएऊ	१	सकल बाँधि कपीस पहिं आने
सुनत बिहँसि बोला दसकंधर ।	२	'कह सुग्रीव सुनहु सब बानर ।
अंग भंग करि पठइय बंदर ॥		अंग भंग करि पठवहु निसिचर॥'
सुनत निसाचर मारन धाये	३	सुनि सुग्रीव बचन कपि धाये
मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी	४	बहु प्रकार मारन कपि लागे
नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी	५	बाँधि कटक चहुँ पास फिराये
कपि कै ममता पूँछि पर सबहि कहा	६	श्रवन नासिका काटन लागे
× ×	७	'दीन पुकारत तदपि न त्यागे' यह अधिक है ।

श्रीलमगोड़ाजी—अंग-भंगकी बात तो तुर्की-बतुर्की जवाब थी ही पर फौजी निर्दयताने 'बहु प्रकार' ' दीन पुकारत तदपि न त्यागे' और जोड़ दिया । पर रामराज्यकी नीतिपर विश्वास तो देखिये कि रावणके दूत भी श्रीरामजीकी दुहाई देते हैं । देखिये महात्मा गांधीजीने दिल्लीके भाषणमें (जो २१-९-४७ के सप्ताहमें छपा था) हिन्दुओंसे कहा है कि दो गलतियाँ मिलकर एक सही नहीं होती । दाँतके बदले दाँत और आँखके बदले 'आँख' वाली नीति हर जगह लागू नहीं होती; यह ठीक है, आगे श्रीलक्ष्मणजी जैसे वीरकी दया भी सराहनीय है ।

वीरकवि—शत्रु होनेसे शत्रुका व्यवहार करना शत्रुपक्षीय 'प्रत्यनीक' अलंकार है । पुकार मचानेसे प्रश्नकी कल्पना होती है । कोशलाधीशकी सौगंध देनेमें अभिप्राय यह है कि नाक-कान कटनेसे बच जायँगे । यह कल्पित प्रश्नका 'गूढोत्तर' अलंकार है।

सुनि लछिमन सब निकट बोलाए । दया लागि हँसि तुरत छोड़ाए ॥ ७ ॥
रावन कर दीजहु* यह पाती । लछिमन बचन बाँचु कुलघाती ॥ ८ ॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने सुनकर सबको निकट बुलाया, दया लगी, इससे हँसकर तुरंत छुड़ा दिया ॥ ७ ॥ (और उन-से कहा) रावणके हाथमें यह पत्रिका देना और कहना—'हे कुलके नाश करनेवाले ! श्रीलक्ष्मणजीके वचनोंको पढ़' (यह पत्रिका उन्होंने ही दी है) ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'सब निकट बोलाए' ' ' इति । (क) तात्पर्य कि जब आर्तवचन सुने तब बुलाया, और कोशलाधीश-की दुहाई सुनी तब निकट बुलाया । पुनः संदेशा भेजना है, पत्रिका देना है, अतः निकट बुलाया । (ख) 'दया लागि' श्रीरामजीके नाते चाहे कोई भी हो सबपर दया करते हैं, इसीसे दया लगी । हँसकर अर्थात् कृपा करके छुड़ा दिया; ये सब बातें कृपासूचक हैं, यथा—'**हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा । सूचत किरन मनोहर हासा** ॥ १ । १९८ । ७ ।' पुनः, हँसे कि राक्षस जो नर-वानरको अपना आहार समझते हैं, आज रामकृपासे उन्हीं वानरोंसे ये त्राहि-त्राहि कर रहे हैं । (मा० त० सु०) । ['हँसि' शब्द यहाँ ऐसा सुन्दर बन पड़ा है कि कहते नहीं बन पड़ता । दो भाव तो ऊपर आ ही गये, और भी भाव ये हैं—(३) कलई खुल गयी । (४) कैसा सुन्दर अवसर पत्र भेजनेका मिल गया, घर बैठे-बिठाये । (५) कौतुकी बाँके लखनलालको न तो अपने पक्षकी सेनापर क्रोध है, और न शत्रुके दूतोंका भय । वे हँस ही रहे हैं । इत्यादि । ☞ सचमुच श्रीतुलसीदासजी (जी० पी० श्रीवास्तवके शब्दोंमें) हास्यरसमें भी कील-काँटेसे दुरुस्त रहते हैं । (श्रीलमगोड़ाजी)] (ग) 'तुरत छोड़ाये'—श्रीरामजीको दुःखमें पुकारते ही दुःख दूर होता है, तुरत न छुड़ाते तो रामशपथका महत्त्व घट जाता; इसीसे तुरत छुड़ाया और लक्ष्मणजीकी दयासे जीव जल्द बन्धनसे छूटता है । (घ) इस समय श्रीरामजी समुद्रतटपर हैं, लक्ष्मणजी यहीं हैं, अतः श्रीरामजीकी जगह इन्हींने उनको छुड़ाया ।

२ (क) रावणके हाथमें देनेको कहा । तात्पर्य कि मन्त्री, सेवक आदि दूसरे किसीके हाथ न भेजना स्वयं जाकर देना, नहीं तो वह, शत्रुकी चिट्ठी समझकर रावणको, उसके डरके मारे न देगा । (ख) '**लछिमन बचन बाचु**' अर्थात् उससे कहना कि स्वयं पढ़े जिसमें चिट्ठीको वह अच्छी तरह समझ जाय । ['लछिमन बचन' कहनेका भाव कि प्रभुका छोटा भाई हूँ; यह

* 'दीजेहु'—(ना० प्र०) ।

मेरी ओरसे चेतावनी है। श्रीरामजी 'कुलघाती' 'मूढ़' आदि कठोर शब्द नहीं कहते। अपनी तरफसे कहनेसे श्रीरामजीका उत्कर्ष होगा; अतः 'लछिमन बचन' कहा। ये तो प्रभुकी कीर्तिपताकाके फहरानेवाले हैं; अतः अपनी तरफके सन्देश भेज रहे हैं, इस समय श्रीरामजी यहाँ हैं भी नहीं, समुद्रतटपर हैं। अतः इन्होंने सन्देश भेजा।] (ग) 'कुलघाती' विशेषणसे जनाया कि तू अपने कुलका नाशक है, ऐसा न कर। यह चिट्ठीमें लिखा है? आगे इसे स्पष्ट करेंगे, यथा—'**बातन्ह मनहि रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस ॥ ५६ ।**' (घ) पत्रिका देनेमें भाव यह है कि सब महात्माओंने रावणको मृत्युसे बचानेके लिये उपदेश दिया, इसीसे श्रीलक्ष्मणजी भी उपदेश देकर दोषसे बाहर हुए। श्रीहनुमानजी, विभीषणजी और पुलस्त्यजीने भी यही उपदेश दिया था। और आगे जाम्बवान्‌ने 'बतकही' करनेका मन्त्र दिया था (अर्थात् श्रीरामजीको राय दी कि अंगदको दूत बनाकर भेजिये कि उसे समझावें)। और उसके बचानेके लिये श्रीरामचन्द्रजीने अंगदसे यही कहा था कि '**काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥**'

नोट—रणबहादुरसिंहजीकी टीकामें बालरामायणमें पत्रिका बतायी जाती है। यथा—'**भो लंकेश्वर दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद्‌गतम्। नैवं चेत्खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः पत्री नैव सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः ॥ १ ॥**' अर्थात् हे रावण! तू शीघ्र जानकीको दे दे। श्रीरामचन्द्रजी स्वयं याचना करते हैं। यह कैसी तेरी बुद्धि भ्रान्त हो रही है? नीतिशास्त्रका स्मरण कर। आज भी तेरा राज्य, पुत्र, कलत्रादि कुछ नष्ट नहीं हुए हैं। इतना समझानेपर भी यदि तू न मानेगा, तो खरदूषण, त्रिशिरा आदिके कण्ठ रुधिरसे लिप्त और धनुषकी डोरीपर चढ़ाया हुआ यह मेरा बाण तेरे जीवनके अस्तित्व या तेरी अनीतिको नहीं सहेगा।—(र० ब०)

दो०—कहेहु मुखागर मूढ़ सन मम संदेसु उदार।
सीता देइ मिलहु न त आवा कालु तुम्हार ॥ ५२ ॥
तुरत नाइ लछिमन पद माथा। चले दूत बरनत गुन गाथा* ॥ १ ॥

अर्थ—जबानी अपने मुखसे उस मूर्खसे मेरा उदार (श्रेष्ठ) सन्देश कहना कि श्रीसीताजीको देकर मिलो नहीं तो तुम्हारा काल (मृत्यु) आ गया ॥ ५२ ॥ श्रीलक्ष्मणजीके चरणोंमें माथा नवाकर गुणगाथा (गुणसमूह) वर्णन करते हुए दूत तुरंत चल दिये ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ (क) कुलका नाश चिट्ठीमें लिखा और रावणकी मृत्यु मुखाग्र कहलायी; क्योंकि कुलकी मृत्यु तो और भी पढ़कर सुना देंगे पर रावणकी मृत्युकी बात कोई भी पढ़कर न सुनावेगा। इसीसे कहा कि तुम यह बात जबानी कहना। (ख) 'मूढ़' कहा, क्योंकि उसे अपनी हानि-लाभ, अपनी मृत्यु नहीं सूझ पड़ती। (ग) संदेशको उदार कहा, क्योंकि इसीसे सबके प्राण बचेंगे। (घ)—पूर्व कहा कि '**लछिमन बचन बाँचु कुलघाती**' और अब कहते हैं कि 'सीता देकर मिलो नहीं तो तुम्हारा काल आ गया'। पहलेसे जनाया कि मैं मेघनादको मारकर तेरे वंशका नाश कर दूँगा और श्रीरामचन्द्रजी तुझे मारेंगे। आगे इसको स्पष्ट किया है—'**रामबिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस। ५८।**'

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य हैं भावमर्मज्ञ कवि जिन्होंने जोशीले (लछिमन) का इतना ठीक चित्रण किया है। वे केवल पत्रिका देकर चुप न रह सके। कारण कि पत्रिका राजनीतिसम्बन्धी शिष्टाचारपूर्ण रही होगी जिसमें एक सेनानायक या राज्यकर्मचारीकी हैसियतसे 'लक्ष्मणजी' का उपदेश इत्यादि रहा होगा; पर बाँके लखन कुछ अधिक तो जबानी कहना ही चाहें! 'कुलघाती' और 'मूढ़' की गुञ्जाइश इस पत्रिकामें कैसे होती?

उस पत्रिकामें क्या था, यह हम संकेतद्वारा भले ही मान लें, पर उसके विषयको संकुचित न करना ही उचित है। कारण कि आगे रावणने उसे 'बाग बिलास'से भरी ही कहा है—'**लघु तापस कर बाग बिलासा**' और घृणाकी हँसीके साथ सही, पर उसकी उड़ानको आकाश ग्रहण करना बताया है। संकेत-कला निछावर है!

नोट—१ '**चले दूत बरबत गुनगाथा**' इति।—तुरत जानेका भाव कि—(क) सन्देश जल्द कहना चाहिये, यथा—'**तुरत सो मैं तुम्ह सन कही पाइ सुअवसरु तात**' दोहा ३९ देखिये। लोकमें भी प्रसिद्ध है कि चिट्ठी लेकर लोग शीघ्र चलते

* म० चं०—दोहा दोहरामिश्रित। (१-३) पायकुलक।

हैं। अथवा, लक्ष्मणजी कहते हैं कि 'आवा काल तुम्हार'; अतः उसकी निवृत्तिके लिये शीघ्र चले। तुरतका सम्बन्ध 'चले' के साथ है।

२ किसके गुणगाथ ? श्रीरामजीके, यथा—'कहत रामजस लंका आए'। तात्पर्य कि पूर्व गुणोंको हृदयमें सराहते थे और स्वभाव प्रकट बखान करते थे, अब गुणोंको भी प्रकट बखान करने लगे, क्योंकि अब निडर हो गये हैं। सुग्रीवको प्रणाम न किया, क्योंकि उन्होंने अंग-भंग करनेका हुक्म दिया था जिसपर वानरोंने इन्हें मारा था और लक्ष्मणजीने कृपा करके छुड़ाया इससे इनको प्रणाम किया। [वाल्मी० में 'जयेति प्रतिनन्द्यैतौ राघवं धर्मवत्सलम्। ६। २५। २७।' इस प्रकार जय कहते हुए दूत लंकाको गये।]

कहत रामजसु लंका आए। रावन चरन सीस तिन्ह नाए॥ २॥

अर्थ—रामयश कहते हुए लंका आये और उन्होंने रावणके चरणमें सिर नवाया। (क्योंकि रावण राजा है और इन्हींकी कृपासे रामदर्शन हुआ) ॥ २॥

टिप्पणी—१ 'कहत' पद दिया क्योंकि दूत कई हैं, आपसमें कहते चले आये। अकेला दूत होता तो 'बिचारत' पद देते। यथा—'भरत बाहुबल सील गुन प्रभुपद प्रीति अपार। मन महुँ जात सराहत पुनि पुनि पवनकुमार॥ लं० ५९॥' यदि कहा जाय कि विभीषणजी भी मन्त्रियोंसहित आये थे पर उनके सम्बन्धमें भी बिचारत पद दिया है, यथा—'एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा', तो उसका उत्तर है कि वे मनोरथ करते हुए आ रहे हैं (किसीसे बात करते नहीं)। मनोरथ मनमें किया जाता है, उसका वर्णन नहीं होता। अतएव वहाँ 'कहत' पद न दिया, किंतु 'करत' कहा। पुनः एक ही तुकमें रामयश कहते लंकामें आ जाना लिखकर जनाया कि रामयश कहते-कहते लंका पहुँच गये। इसीसे पंथ जल्द चुक गया, वे शीघ्र आ गये, रास्ता कुछ जान न पड़ा। यथा—'एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आयउ सपदि सिंधु एहि पारा॥ ४३। १॥', 'पूछत कहत नवल इतिहासा। तब मधुबन भीतर सब आए। २८। ६-७॥', 'सीय को सनेह सील कथा तथा लंककी चले कहत चाय सों सिरानो पथ छनमें। क० ५। ३१।'

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य है रामयश कि शत्रुके दूत भी पीठ पीछे उसका गान कर रहे हैं। और, धन्य है सूक्ष्मदर्शी कविकी कला। जिसने उनसे पहले ही भावावेशमें श्रीरामस्वभावका प्रकटीकरण करा लिया फिर अब तो यशमें शब्दकी भी गुंजाइश नहीं रक्खी, कारण कि पीठ पीछे है, वहाँकी बातको मुँहदेखी और खुशामद कहा जा सकता था।

बिहँसि दसानन पूँछी बाता। कहसि न कस* आपनि कुसलाता॥ ३॥
पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी॥ ४॥
करतु राजु लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी॥ ५॥

अर्थ—रावणने खूब हँसकर बात पूछी। अपनी कुशल क्यों नहीं कहता ?॥ ३॥ फिर विभीषणका समाचार कह कि जिसकी मृत्यु अत्यन्त निकट आ गयी॥ ४॥ राज्य करता (सो ऐसी) लंकापुरीका राज्य उस शठने त्याग दिया (अर्थात् लंकाराज्यके समान त्रैलोक्यमें कोई दूसरा राज्य नहीं; अतएव शठ है और) भाग्यहीन है, वह अभागा यव (जौ) का कीड़ा (घुन) बनेगा। अर्थात् लंकामें मृत्युका भय नहीं है, इसे छोड़कर तपस्वियोंसे जा मिला कि जिनको मरना है, उनके साथ यह भी पिस जायगा) ॥ ५॥

श्रीलमगोड़ाजी—'कहसि न कस'…' यहाँ और अन्तसे 'कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोर' ये दोनों वाक्य बीचमें प्रश्नोंके साथ नाटकीयकलाके सम्बन्धसे भी बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। कारण कि—

(१) ये दूतोंकी आकृतिको साफ बता रहे हैं कि वे भयभीत और चकित हैं (अभिनेताको कितना सुन्दर संकेत है कि बिना शब्दोंके वैसी आकृति जना दें)।

(२) जितना ही वे चुप हैं, उतनी ही वक्ताकी उत्कण्ठा और बेसबरी बढ़ती जा रही है कि अनुमानोंके साथ प्रश्नके पुल बाँध दिये।

(३) अनुमानों और वास्तविकताके भेदका अवसर भी तो तनिक चुप्पीसे ही मिला और नाटकीय विरोध Dramatic Irony को बड़ी कुशलतासे उभार दिया गया।

* सुक—(ना० प्र०, का०)। ब्र० चं०—'पुनि०' चण्डी, 'जाहि०', (५) पायकुलक।

(४) 'बिहँसि' से बात प्रारम्भ हुई, इससे ऊपरी नाटक विरोधके कारण हास्य-प्रिय द्रष्टा तो कह ही उठेगा कि 'लेना लपकके', विशेषकर जब रावण लक्ष्मणजीकी पत्रिकाको **'लघु तापस कर बाग बिलासा'** कहता है।

(५) हँसी और अनुमानोंने दूतोंके 'माख' को और भी उभार दिया। इसीसे उत्तर बहुत कड़े हैं और कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण भी। मानो दूत संकेत कर रहे हैं कि वाग्विलास तो तुम्हारा ही कथन है, तुम ही आकाशको उठाना चाहते हो, लघु तापस नहीं, हँसते हो हम सबोंपर, पर बात उलटी है।

'खबरि'—यह अर्बी भाषाका शब्द यहाँ कई बार आया है, इससे मेरा वह अनुमान पुष्ट होता है कि 'एखबार नवीस' की शक्लमें राजदूत मुगल-जमानेमें भी थे।

वीरकवि—**'करत राज लंका सठ त्यागी'** उपमेय वाक्य है, **'होइहि जब…'** उपमान वाक्य है। दोनों वाक्योंमें बिना वाचक पदके बिम्ब-प्रतिबिम्ब झलकना कि घुनकी तरह तपस्वियोंके साथ वह भी पिसेगा 'दृष्टान्त अलङ्कार' है।

टिप्पणी—१ (क) **'बिहँसि पूछी'** इससे सबका निरादर जनाया जैसा आगे स्पष्ट है, यथा—**'मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई'**। (ख) **'कहसि न कस'** से पाया गया कि रावणने एक बार पहले भी कुशल पूछी, पर दूत कुछ न बोले, चुप ही रहे, अतएव न कहनेका कारण पूछा। दूतोंने पहले ही बार न कह दिया चुप रहे जिसमें इसे जो कुछ पूछना है, सब पूछ ले, तब उत्तर दें।

२ **'पुनि कहु खबरि…'** इति। (क) 'पुनि' अर्थात् अपना कुशल-समाचार कहकर तब विभीषणकी खबर पूछता है, कुशल नहीं। क्योंकि जब उसकी **'मृत्यु आई अति नेरी'** तब कुशल तो है ही नहीं, कुशल पूछकर क्या करे ? अतः 'खबर' पूछी। (ख) **'अति नेरी'** का भाव कि मृत्यु तो तभी आ गयी थी जब उसने सीताको देनेको कहा था और शत्रुकी बड़ाई की थी, यथा—**'सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई ॥ ४१। २।'**; और अब शत्रुसे जा मिला, इससे जान पड़ा कि मृत्यु 'अति निकट' आ गयी है। **'अति नेरी'** का स्वरूप आगे कहता है कि **'होइहि जब…'**

३ (क) **'करत राज लंका…'** इति। रावणके कथनका आशय यह है कि लंकामें मृत्यु नहीं आती। जिसकी मृत्यु निकट आती है उसकी बुद्धि हर जाती है, यथा—**'काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ॥'**; विभीषणकी बुद्धि हर ली गयी, इसीसे उसने राज्यका सुख आपहीसे छोड़ा, आगे प्राणोंकी भी हानि होगी। वैसे तो हम उनको न मारते पर अब वह यवका कीड़ा हो गया है, जब मैं शत्रुरूप अनाजको पीसूँगा तब उसीके साथ वह भी पिस जायगा। यवके भीतर घुसा है, इसीसे उसकी भी मृत्यु अति निकट है; क्योंकि शत्रुको हम बहुत शीघ्र मारना चाहते हैं। [वंदनपाठक-जी—यहाँ यव राम-लक्ष्मण और कपि सेना है, विभीषण घुन, मैं (रावण) जाँत; अतः पीस डालूँगा। वा, कुम्भकर्ण और मैं चक्कीके दो पल्ले हैं, मेघनाद बीचकी कील है।] (ख) राज्य खोया और प्राण भी खोवेगा; अतएव अभागा है। जिसका विभव नष्ट हो जाय और जो अल्पायु हो वह अभागा है, यथा—**'रावन जबहि बिभीषन त्यागा। भयो बिभव बिनु तबहिं अभागा ॥'**, **'आयूहीन भये सब तबहीं'**। रावण जो कहता है इसका उलटा होगा, विभीषणने राज्य भी पाया और प्राण भी बचे। यथा—**'रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषण राखेउ दीन्हेउ राज अखंड ॥'** इससे सिद्ध हुआ कि रावणकी बुद्धि हरण हो गयी है।

पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन काल प्रेरित चलि आई ॥ ६ ॥
जिन्ह के जीवन कर रखवारा। भएउ मृदुल चित सिंधु बिचारा* ॥ ७ ॥
कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी। जिन्ह के हृदय त्रास अति मोरी† ॥ ८ ॥

अर्थ—फिर भालु-वानर-सेना (का समाचार कि कितने हैं कह जो कठिन कालकी प्रेरणासे चलकर आयी है ॥ ६ ॥ जिनके प्राणोंका रक्षक कोमल चित्तवाला विचारा समुद्र हुआ है (अर्थात् समुद्र चाहता तो उनको रास्ता दे देता यह बात उसके अख्तियारकी थी, सब इस पार उतर आते, यथा—**'अपर जलचरन्ह ऊपर बिनु श्रम पारहिं जाहिं'**। पर समुद्रको उनपर करुणा आ गयी; इससे रास्ता नहीं देता कि पार जाते ही राक्षस इन्हें खा डालेंगे) ॥ ७ ॥ फिर तपस्वियोंकी बात कह जिनके हृदयमें मेरा बड़ा डर है ॥ ८ ॥

* बेचारा—(ना० प्र०)। † ब्र० चं०— 'पुनि…' नयमालिनी, 'कठिन…' 'जिन्ह…' पायकुलक, भएउ…' चंडी'।

टिप्पणी—१ **'पुनि कहु भालु कीस···'** इति। भालु-कीसकी सेना कितनी है यह बता। भाव कि जितनी अधिक हो उतना ही अच्छा है, सभी राक्षस तृप्त हो जायँगे। यथा—**'आए कीस काल के प्रेरे। छुधावंत रजनीचर सेरे॥'** ६। ३९। ३।' (ख) **'कठिन काल'** का भाव कि सामान्य कालकी प्रेरणासे आते तो चाहे बच भी जाते पर कठिन कालके भेजे आये हैं; इससे न बचेंगे। जैसे सामान्य अल्प और विशेष अल्प वैसे ही सामान्य काल और कठिन काल। सामान्य अल्पमें लोग बच जाते हैं, पर विशेष अल्पमें नहीं बचते। (ग) 'काल प्रेरित' का भाव कि तपस्वियोंके लानेसे नहीं आयी, काल ले आया है; नहीं तो उनसे सेनाको क्या लाभ था कि जो पृथ्वीभरके समस्त वानर एकत्र होकर मरने आये। (मिलान कीजिये— **'भालु नर बानर अहार निसिचरनि को, सोऊ नृपबालकनि माँगी धारि लही है। देखो काल कौतुक पिपीलिकनि पंख लागो, भाग मेरे लोगनि के भई चित चही है॥** गी० ५। २४।')। (घ) **'चलि आई'**—भाव कि वानर निशाचरोंके सामने न आते, क्योंकि वे तो राक्षसोंके भक्ष्य हैं, कालप्रेरित उनके मुखमें आ रहे हैं। जो पूर्व मन्दोदरीसे कहा था कि **'जौं आवै मर्कट कटकाई। जिअहि बिचारे···'** वही यहाँ **'कठिन काल'** से जनाया।

२—**'भयउ मृदुल चित सिंधु अपारा'** इति। मृदुलचित हो गया इसीसे उनकी मृत्युसे रक्षा की। 'बिचारा' का भाव कि वह समर्थ रक्षक नहीं है कि उनके प्राण बचा ले। पुनः, भाव कि काल तो बहुत कठिन है वह तो उन्हें यहाँ लाकर छोड़ता और सिन्धु मृदुल हुआ है (यह उसकी मूर्खता है, वह बिचारा भला कठिन कालसे उन्हें बचा सकता है ?)

नोट—१ इससे यह भी सूचित होता है कि रावणका यह विश्वास है कि वानर सेना पारसे लंकामें नहीं आ सकती, समुद्र पार करना सम्भव नहीं। **'तिन्ह के जीवन कर रखवारा'** पर शङ्का हो सकती है कि 'निशाचर क्या पार नहीं जा सकते थे ?' समाधान यह है कि रावणके कथनका आशय यह है कि जबतक हमारे निशाचर उस पार नहीं जाते तभीतक उनका जीवन बचा है। समुद्र उन्हें देरतक बचा नहीं सकता। कठिन कालकी प्रेरणासे सब समुद्र-तटपर एकत्रित हो गये हैं। लंकामें आ जानेपर कहा है कि **'घर बैठे अहार बिधि दीन्हा।'**, निशाचरोंको उस पार जानेका कष्ट भी न उठाना पड़ा।

टिप्पणी—३ **'कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी।······'** इति। (क) **'बात कहु'**, इससे न खुला कि क्या बात पूछता है, अतः दोहेमें उसे स्पष्ट करता है—**'भइ भेंट कि···'**। (ख)—यहाँ 'कुशल, खबर, कटक और बात' इन चार शब्दोंका प्रयोग पृथक्-पृथक् चारके लिये किया है। यह साभिप्राय है। दूतोंकी कुशल पूछी; क्योंकि सोचता है कि उनके दूतको हमने दण्ड दिया, इससे उन्होंने भी हमारे दूतोंको मारा न हो। विभीषणकी खबर पूछी क्योंकि जानता है कि वह मिलने गया है इससे उसे मारेंगे नहीं। भालु-कीश-कटकका भय है, अतः कटक पूछा। श्रीराम लक्ष्मणका डर है इससे यह कहकर कि उनको मेरा अत्यन्त डर है (अर्थात् अपना डर उनपर ढालकर) उनको पूछता है। दूत, विभीषण और वानरोंको पूछकर अन्तमें दोनों भाइयोंको पूछा। जिसमें लोग यह न समझें कि रावणके हृदयमें उनका भय है। यदि सबके पहले उन्हींको पूछता तो सब समझ जाते कि वह उनको डरता है। हृदयका भय छिपानेके लिये अन्तमें पूछा। (ग)—प्रथम हँसकर पूछा, शत्रुको अन्तमें पूछा, उनको तपस्वी कहा और अपना भय उनमें आरोपण किया। यह सब अपने हृदयका भय छिपानेके लिये, यथा—**'सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥** ५७। १।' (घ) **'अति त्रास'** का भाव कि मेरा भय तो सभी तपस्वियोंको है पर इन दोनोंको अत्यन्त भय है, क्योंकि ये हमारे शत्रु हैं, मैं भारी शत्रु हूँ; इसीसे इनको 'अति त्रास' है।

श्रीलमगोड़ाजी—**'तपसिन्ह'** शब्दका बार-बार प्रयोग करके कवि किस सुन्दरतासे भोगी रावणकी घृणा वनवासी रामके प्रति प्रकट करता है। इन्द्रियलोलुप-सभ्यता आज भी तो महात्मा ईसा, बुद्ध और गांधीकी अवहेलना करती है, चाहे शब्दोंमें आदर भले हो। चर्चिल महोदयने तो गांधीजीको Naked Fakir नंगा फकीर शब्दोंमें भी कह दिया।

दो०—की भइ भेंट कि फिरि गए श्रवन सुजस सुनि मोर।
कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोर॥५३॥*

शब्दार्थ—चकित=चकराया हुआ, हक्का-बक्का, आश्चर्यान्वित, चकपकाया हुआ।

* प्र० चं०—शार्दूल दोहा।

अर्थ—उनसे भेंट हुई या कि वे कानोंसे मेरा सुयश सुनकर लौट गये ? शत्रुकी सेना, तेज और बल क्यों नहीं कहता ? तेरा चित्त बहुत चकित है ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—१ (क) रावण बार-बार पूछता है कि कहता क्यों नहीं ? प्रथम कहा था कि **'कहसि न कस आपनि कुसलाता'** और यहाँ पुनः कहा कि **'कहसि न रिपु दल…'** । इससे जान पड़ता है कि दूत उसके डरसे श्रीरामजीका दल, तेज, बल आदि नहीं कह रहे हैं, क्योंकि शत्रुकी प्रशंसा सुनकर उसको क्रोध आ जाता है । यथा—'रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ…', 'आन बीर बल सठ मम आगे । पुनि पुनि कहत लाज भय त्यागे ॥' इसीसे दूत क्षमा माँगकर तब उत्तर देते हैं । यथा—'नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसे…' । अथवा, (ख) बराबर एकके बाद एक प्रश्न करता जाता है—**'कहसि न कस आपनि कुसलाता'**, 'पुनि कहु खबर…', 'पुनि कहु भालु…', 'कहु तपसिन्ह कै…' और **'कहसि न रिपुदल तेज…'**—इन प्रश्नोंके वाक्योंसे कवि उसके हृदयका भय सूचित करते हैं कि दूत प्रश्नका उत्तर नहीं देने पाता और वह पूछता ही चला जाता है । (ग) प्रथम शत्रुका दल पूछा, पीछे शत्रुका तेजबल, उसी क्रमसे यहाँ दोहेमें **'रिपु दल तेज बल'** पूछता है ।

२ **'श्रवन सुजस सुनि'** इति । सुयश यह कि रावणसे कोई नहीं जीत पाता, वह ऐसा प्रबल वीर है । सुयश सुनकर चले गये, क्या इसीसे तेरा चित्त बहुत चकित है कि ये क्या पूछते हैं, वे तो चले गये, मिले ही नहीं, तब हम क्या समाचार वर्णन करें ? वा, उनकी सेना और तेजबल देखकर और स्वभाव सुनकर दूत चकित हो गये हैं, इसलिये रावण इस प्रकार कह रहा है कि तू चकरा गया है । क्या देखकर ? रिपु-दल-तेज-बल क्यों नहीं कहता ?

नोट—१ रावणके इन सब वाक्योंमें (**'बिहँसि दसानन पूछी बाता'** से यहाँतक) पाँड़ेजी आदि कुछ मानसविज्ञोंने गूढ़ अर्थ (अन्तर्लापिका वाणीमें) दिये हैं । प्रसङ्गानुकूल न जानकर उनको यहाँ नहीं दिया ।

मिलान कीजिये—**'अयथावच्च ते वर्णो दीनश्चासि निशाचर । नासि कच्चिदमित्राणां क्रुद्धानां वशमागतः ॥** वाल्मी० ६ । ३० । ३ ।' रावण दूतसे पूछ रहा है कि तू विवर्ण और दीन-सा हो रहा है, इसका क्या कारण है ? शत्रुओंने बलसहित क्रुद्ध होकर तुझे वशमें तो नहीं कर लिया—यह भी भाव **'बहुत चकित चित तोर'** और **'कहसि न'** में है । अ० रा० में भी कहा है **'प्रहसन् रावणः प्राह पीडितः किं परैः शुक । ६ । ४ । १४ ।'** जैसा मानसमें प्रारम्भमें कहा है—**'बिहँसि दसानन पूछी बाता । कहसि न कस आपनि कुसलाता ॥ ५३ । ३ ।'**

नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसे । मानहु कहा क्रोध तजि तैसे ॥ १ ॥
मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा । जातहि राम तिलक तेहि सारा ॥ २ ॥
रावनदूत हमहि सुनि काना । कपिन्ह बाँधि दीन्हें दुख नाना ॥ ३ ॥
श्रवन नासिका काटइ लागे । रामसपथ दीन्हें हम त्यागे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सारना=सम्पूर्णरूपसे करना, करना ।

अर्थ—हे नाथ ! जैसे आपने कृपा करके पूछा वैसे ही क्रोध छोड़कर मेरा कहना (सत्य) मानिये ॥ १ ॥ जब आपका छोटा भाई जाकर मिला, तब जाते ही श्रीरामचन्द्रजीने उसका तिलक कर दिया ॥ २ ॥ हमें रावणदूत कानोंसे सुनकर वानरोंने हमें अनेक दुःख दिये ॥ ३ ॥ नाक-कान काटने लगे । जब हमने श्रीरामजीकी शपथ दी तब उन्होंने छोड़ा ॥४॥

टिप्पणी—१ **'नाथ कृपा करि…'** इति । (क) कृपा करके पूछना यह कि पहले आपने हमारा कुशल पूछा और प्रसन्नतापूर्वक पूछा । (ख) जो बात कहनेकी है उसमें रावणको क्रोध होता, इसीसे प्रथम क्रोध छोड़नेको कहता है और रावण किसीकी बात मानता नहीं, इसीसे कहा कि मेरा वचन ठीक मानिये । अतएव दोनों बातोंके लिये प्रार्थना प्रथम की । (ग) **'पूँछेहु'** और **'मानहु तैसे'** का भाव कि मैं आपके पूछनेपर कहता हूँ, नहीं तो न कहता । (घ) **'अनुज तुम्हारा'** अर्थात् तुम शत्रु हो, शत्रुके भाईको शरणमें रखा । जाते ही राज्य दिया जैसे कोई किसीको भेंट दे । श्रीरामजीने स्वयं अपने हाथसे तिलक किया दूसरेसे नहीं कराया, ऐसा बड़ा आदर उनका किया । [**'तुम्हारा अनुज'** ऐसा कहनेका कारण कि विभीषणजीने स्पष्ट यही रामजीसे कहा था, यथा—**'नाथ दसानन कर मैं भ्राता ।'** (प्र०) । तिलक करनेसे रावणके वध करनेकी दृढ़ता व्यञ्जित करना व्यङ्ग है ।] पुनः, (ङ) **'तिलक सारा'** अर्थात् लङ्काका राज्य दे दिया । ऐसा उनका कोमल स्वभाव है और शरणागत उनको इतना प्रिय है । तात्पर्य कि आप भी यदि जाकर मिलें तो आपपर भी कृपा करेंगे, यही बात आगे स्पष्ट

कहेंगे, यथा—'अति कोमल रघुबीर सुभाऊ···मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहैं···'।

२ रावणने प्रथम दूतोंका कुशल पूछा, पीछे विभीषणकी खबर और दूतोंने प्रथम विभीषणका हाल कहकर तब अपना हाल कहा। कारण कि जैसे-जैसे जिस क्रमसे जो बात हुई है उसी क्रमसे उन्होंने कहा। पहले विभीषण मिले, उनका तिलक हुआ, पीछे दूत पहिचाने और मारे गये।

३ (क) 'सुनि काना' का भाव कि जैसे ही कानमें भनक पड़ी कि ये रावणके दूत हैं वैसे ही उन्होंने मारना शुरू कर दिया, फिर न विचार किया कि दूत हैं कि नहीं। इससे जनाया कि वानरोंको तुमपर इतना क्रोध है। और, शरणागतपर ऐसा प्रेम कि उसे (यद्यपि वह तुम्हारा भाई था) राज्य दिया। (ख) पूर्व कहा है कि 'रिपुके दूत कपिन्ह तब जाने। सकल बाँधि···'; और यहाँ कहते हैं कि 'रावन दूत हमहिं सुनि काना।' दोनों वाक्योंका समानाधिकरण यों होता है कि जब राक्षसोंका अपना तन प्रकट हो गया, कपटी वानरतन जाता रहा तब कुछ वानरोंने देखकर कहा कि ये रावणके दूत हैं, यह सुनते ही और सब वानर भी आ गये और मारने लगे। अथवा, यों कि जब राक्षस-तन प्रकट हुआ तब वानरोंने पूछा कि तुम कौन हो? तब इन्होंने बताया कि हम रावणके दूत हैं। अथवा, विभीषणजीके मन्त्रियोंने बता दिया कि हमारे साथके नहीं हैं, यह सुनकर दुःख दिया। (ग) 'रावनदूत हमहि···' का तात्पर्य कि हमने उनका कुछ अपराध नहीं किया, केवल तुम्हारे नामसे (तुम्हारे सम्बन्धसे) मारे गये। 'कपिन्ह' अर्थात् रामजीने दुःख नहीं दिया, वानरोंने दुःख दिया।

४ 'राम सपथ दीन्हे हम त्यागे।' इति। भाव यह कि तुम्हारे निहोरेसे हमने यहाँतक दुःख सहा, हमने रामशपथ न दी; पर जब वे हमारे नाक-कान काटने लगे तब हमने उनको रामजीकी शपथ दी। रामशपथ सुनते ही उन्होंने छोड़ दिया। यदि हम प्रथम रामदोहाई करते तो वे कदापि दुःख न देते। पूर्व 'कोशलाधीशकी आना' कहा था उसका अर्थ यहाँ खोला—'रामसपथ'। (वाल्मीकीयमें दूतने कहा है कि हमने श्रीरामजीसे प्राणोंकी भिक्षा माँगी तब उन्होंने छुड़ा दिया। मानस-कल्पके वानर श्रीरामजीके परम भक्त हैं, श्रीरामदोहाई सुनते ही उन्होंने छोड़ दिया)।

पूछेहु* नाथ राम कटकाई। बदन कोटि सत बरनि न जाई॥ ५॥
नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी॥ ६॥
जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा॥ ७॥

अर्थ—हे नाथ! आपने श्रीरामजीकी सेना पूछी। सौ करोड़ भी मुख हों तो वह वर्णन नहीं की जा सकती॥ ५॥ वानर-भालुकी सेना अनेक वर्ण (रङ्ग) की है। उनके मुख विकट (भयङ्कर) हैं, वे विशाल और भयङ्कर हैं॥ ६॥ जिसने तुम्हारा नगर जलाया और तुम्हारा पुत्र मारा उसका बल तो सब वानरोंसे कम है॥ ७॥

टिप्पणी—१ 'बदन कोटि सत···' का भाव कि आपके इस प्रश्नका कि सेना कितनी है, हम क्या उत्तर दे सकते हैं, शतकोटि मुख भी यदि किसीके हों तो भी वह वर्णन नहीं कर सकता तब भला एक-एक मुखसे हम कैसे वर्णन कर सकें। अपना और विभीषणका हाल हमने कहा, कटकका हाल हम नहीं कह सकते, यथा—'बानरकटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा॥ ४। २२। १।' (ये शिवजीके वाक्य हैं। मूर्ख ही भले कहे, दूसरा नहीं कह सकता। हम कुछ कहें तो हमारी गणना भी मूर्खोंमें होगी)। २—'नाना बरन' से अनेक देशोंके अनेक जातिके सूचित किये। विशाल अर्थात् भारी शरीरवाले हैं, इसीसे भयंकर हैं; पुनः उनके मुख विकट विशाल और भयकारी हैं। 'धारी'—जो सेना मारने-काटनेवाली होती है उसे धारि कहते हैं। (वाल्मी० ६। २६। ९ से लेकर ६। २९। ५ तक कुछ वानर-सेनाका वर्णन है। किष्किन्धामें नाना वर्णका वर्णन है)।

३ 'जेहि पुर दहेउ हतेउ तोरा···'। इति ये दोनों काम कठिन थे। उनमेंसे लंकापुर-दहन तो अत्यन्त कठिन है, इसीसे पुरका जलाना प्रथम कहा। हनुमान्‌जीका बल बहुत थोड़ा कहकर जनाया कि और वानरोंका बल बहुत है—यह बात आगे कहते हैं।

श्रीहनुमान्‌जी	अन्य वानर
समुद्र लाँघ गये—'बारिधि पार गयउ'	सोखहिं सिंधु सहित झख ब्याला

* पूछेहु—(का०, ना० प्र०)। 'पूछिहु'—(भा० दा०—छे पर हरताल लगाकर छि बनाया है)।

कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु···
इनको प्रभुने आज्ञा दी थी
उलटि-पलटि लंका सब जारी

मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा
इनको आज्ञा नहीं देते कि जो कहते हैं उसे सत्य करें।
'मानहु ग्रसन चहत हहिं लंका।', 'अमित नागबल बिपुल बिसाला'

तात्पर्य यह कि रामदलकी प्रबलता दिखानेके लिये हनुमान्‌जीके बलको सबके बलसे थोड़ा कहा। यथा—'जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥ चलै बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई॥ ६।२३।९-१०।' (वाल्मी० यु० में जो शुकनामक दूत प्रथम भेजा गया था उसने भी श्रीहनुमान्‌जीके सम्बन्धमें यही कहा है कि वह तो अङ्गदके नेतृत्वमें उनके साथ था और अङ्गदका भेजा यहाँ आया था। इसी तरह श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीताजीको धीरज देनेके लिये कहा है कि वानरराज सुग्रीवके यहाँ मुझसे छोटा कोई वानर नहीं है, मुझसे सब बड़े हैं, कुछ मेरे समान हैं। मैं छोटा हूँ इसीसे यहाँ भेजा गया। बड़े दूत बनाकर नहीं भेजे जाते। यथा—'मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति यत्र वनौकसः। मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसन्निधौ। ५।३९।३८। अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः। न हि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः॥ ३९॥' वैसे ही रावणको भयदर्शनके लिये शुकने हनुमान्‌जीको सबसे छोटा कहा। श्रीहनुमान्‌जीको अल्पपराक्रमी कहकर अन्य वीरोंकी अतिशय बड़ाई करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है)। अथवा थोड़ा बल इससे जाना कि वहाँ जो इसने देखा तो उनकी प्रधानता कुछ नहीं देख पड़ी; न तो श्रीरामचन्द्रजीने उनसे कोई राय पूछी और न वह और वानरोंकी तरह 'मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा' इत्यादि कुछ बोलते देख पड़ते थे। न तो वे रूपमें किसीसे बड़े हैं और न वे गरजते कूदते पाये गये। मानो वे सेनामें हैं ही नहीं। —[श्रीहनुमान्‌जी तो बड़ी दीनतापूर्वक छोटे रूपसे हाथ जोड़े हुए प्रभुके समीप चुपचाप खड़े होंगे। इसीसे शुकने जैसा देखकर अनुमानसे समझा वैसा ही कहा। (मा० सं०)]।

श्रीलमगोड़ाजी—अनुमान और वास्तविकताके विरोधका नाटकीय-कलावाला आनन्द तो उपर्युक्त कोष्ठकमें आ ही गया। मजेकी बात यह है कि दूतोंकी बढ़बत्तीका आनन्द भी आ चला है, कारण मैं पहले बता चुका हूँ।

अमित नाम भट कठिन कराला। अमित नाग बल बिपुल बिसाला॥ ८॥

दो०—द्विबिद मयंद नील नल अंगद* गद बिकटास्य†।
दधिमुख केहरि निसठ‡ सठ जामवंत बलरासि॥ ५४॥

अर्थ—संख्यारहित भट हैं, अमित नामके हैं, (स्वभावके एवं युद्धमें उनका जीतना) कठिन और (देहसे) भयंकर हैं॥ ८॥ उनमें अमित हाथियोंके बलसे भी भारी विशाल बल है एवं वे बहुत विशाल हैं। (अमित नामके भट हैं। उनमेंसे कुछ ये हैं) द्विविद, मयन्द, नील, नल, अङ्गद, गद, विकटास्य, दधिमुख, केहरि, निसठ, सठ और जामवंत—ये सब बलराशि हैं। (तात्पर्य कि ये सब सुभट सुग्रीवके पास बैठे थे। सब दूतोंको वानर वहाँ ले गये थे। इसीसे इनके नाम गिनाये और इन्हें सुग्रीवके समान बलवान् बताया)॥ ५४॥

नोट—१ (क) द्विविद और मयन्द अश्विनीकुमारके पुत्र और उन्हींके समान दुर्धर्ष बलवान् थे—'मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ बलिनावश्विसम्भवौ। वाल्मी० ६।३०।२५।' ये देवताओंके समान रूपवान् युवक, युद्धमें दुर्धर्ष और दुष्प्रेक्ष्य थे। ब्रह्माकी आज्ञासे ये अमृत-पान कर चुके थे। (वाल्मी० ६।२८।६।)। (ख) नील अग्निदेवके पुत्र और नल विश्वकर्माजीके पुत्र हैं। ये दोनों विन्ध्याचलनिवासी और दश-दश करोड़ वानरोंके यूथपति थे। (वाल्मी० ६।३०।३३, ६।२७।४७, ४८)। (ग) दधिमुख चन्द्रमाका पुत्र सौम्यभाव। (६।३०।२२)। (घ) केहरि=केसरीजी। ये देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र हैं। (६।३०।२१)। ये श्रीहनुमान्‌जीके पिता हैं। अङ्गद और जामवंतको सब जानते ही हैं। 'गद' नाम वाल्मी० में नहीं मिला। 'गव' और 'गज' नामके एक-एक यूथपति गिनाये गये हैं। अन्यत्र भी यह नाम आया है। यथा—'संग नील नल कुमुद गद जामवंत जुबराजु। चले राम पद नाइ सिर सगुन सुमंगल साजु॥' विश्व-

* अङ्गदादि—(रा० प०)। † बिकटासि—(का०, ना० प्र०, ब्र० चं०)। पं० रामगुलाम द्विवेदीका पाठ और मा० दा० का वह है जो पाठमें दिया गया। ‡ कुमुद गव—का०, ना० प्र०।

कोश तथा शब्दसागरमें भी गद, सठ, निसठ शब्द नहीं मिले।

हालनाजी लिखते हैं कि—मर्मज्ञोंसे छिपा नहीं है कि 'बिकटास्य' संस्कृतका शुद्ध और कठिन शब्द है। यह नहीं माना जा सकता कि गोसाईंजीने 'बिकटास्य' पाठ रखा हो। ठीक 'बिकटासि' ही है। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि दोहेमें तुकान्त मिलना चाहिये। यहाँ 'बिकटासि' और 'बलरासि' का तुक मिल जाता है पर बिकटास्य और बलरासिका तुक न मिलनेसे बड़ा कर्णकटु मालूम होता है। भागवतदासजीका पाठ 'बिकटास्य' है और पं० रामकुमारजीने भी इसी पाठको दिया है। तुकान्त न मिलनेके कारण वे दोहा ३८ में कह चुके हैं। अतः हमने वही पाठ रक्खा है।

टिप्पणी—१ यहाँ वीरोंकी गणनामें श्रीहनुमान्‌जीका नाम नहीं कहा, क्योंकि इन सबोंको बलराशि कहता है और हनुमान्‌जीको थोड़े बलका कह चुका है। यहाँ रावणदलसे रामदलकी विशेषता दिखाते हैं—

कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय। द्विविद मयंद''' बलरासि ॥

एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय ॥ तृन समान त्रैलोकहि गनहीं।

ए कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना ॥ १ ॥
रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन समान त्रैलोकहि गनहीं ॥ २ ॥
अस मैं सुना* श्रवन दसकंधर। पदुम अठारह जूथप बंदर ॥ ३ ॥
नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतइ रन माहीं ॥ ४ ॥

अर्थ—ये सब कपि सुग्रीवके समान (बलवान्) हैं। इनके समान करोड़ों हैं, अनेक हैं, उन्हें कौन गिन सकता है? ॥ १ ॥ श्रीरामकृपासे उनमें अतीव बल है, वे त्रैलोकको तिनकेके समान गिनते हैं ॥ २ ॥ हे दशकंधर! मैंने कानोंसे ऐसा सुना कि बंदरोंके यूथपतियों (की संख्या) १८ पद्म है ॥ ३ ॥ हे नाथ! श्रीरामजीकी सेनामें ऐसा कोई वानर नहीं है जो तुम्हें संग्राममें जीत न सके ॥ ४ ॥

नोट—१ (क) **'ए कपि सब सुग्रीव समाना'** कहनेका भाव कि यह सुग्रीवके मन्त्रियोंकी सेना मैंने कही, यथा—**'अन्येषां तु बलं नाहं वक्तुं शक्तोऽस्मि रावण। अ० रा० ६। ४। ३९।'** यह सेना ४० कोस लंबाई और चालीस कोस चौड़ाईमें पड़ी थी।

टिप्पणी—१ (क) **'इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना'**। यहाँ कोटिन्ह कहकर फिर 'नाना' भी कहनेका यह प्रयोजन कि इनके समान 'कोटिन्ह' हैं, फिर उन 'कोटिन्ह' के समान 'कोटिन्ह' हैं, पुनः उनके समान और 'कोटिन्ह' हैं, इस प्रकार अनेक हैं। कौन गिने? अर्थात् जो गिने वह मूर्ख बने—**'सो मूरुख जो करन चह लेखा'**। (ख) इस प्रकार क्यों कहा? यही क्यों न कह दिया कि सब सुग्रीवके समान हैं? उत्तर—यह ग्रन्थकारका सँभाल है। प्रधान यूथपतियोंको सुग्रीवके समान कहा; क्योंकि ये सब सर्दार हैं? और वानर जो सेनामें सिपाही हैं उनको सुग्रीवके समान कैसे कह सकता है? राजा और सिपाही बराबर नहीं हो सकते, सिपाहीको राजाके समान कहना अनुचित है। इनके समान कहा, यह मर्यादा है—**'पूर्णगुणमुपमानं न्यूनगुणमुपमेयं'** अर्थात् उपमानमें पूर्ण गुण होते हैं, उपमेयमें उससे न्यून होते हैं, इस नियमानुसार 'सुग्रीव समाना' कहकर भी उन्हें सुग्रीवजीसे कुछ न्यून जनाया। फिर कोटिन्हको जिनके समान कहा, उन्हें उनके उपमानोंसे कुछ न्यून जनाया। इसी तरह क्रमशः प्रथमसे दूसरोंमें, दूसरोंसे तीसरेमें इत्यादि न्यूनता भी युक्तिसे जना दी। यद्यपि साधारण दृष्टिसे तो सब सुग्रीवके समान ही कहे गये हैं। (अथवा, प्रथम सबको समान कहा, उसमें शंका हो सकती है कि सब समान कैसे? अतः आगे कहते हैं कि **'रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं'**)। ['कोटिन्ह' और 'नाना' शब्द अत्यन्तसे भी अत्यन्त बाहुल्यका बोधक है। (मा० त० सु०)]

२ (क) **'रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं'''** इति। भाव यह कि पहले बलराशि थे, अब रामकृपासे उनमें सुग्रीवके समान अतुलित बल है, यथा—**'राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भये पक्ष युत मनहुँ गिरिंदा ॥ ३५। ३।'** (ख) 'अतुलित' का भाव कि पहले उनके बलकी तौल (अंदाज) थी कि **'अमित नाग बल बिपुल'''** और अब रामकृपासे अतुलित बल है। अतुलित बलका स्वरूप दिखाते हैं कि त्रैलोक्यको तृणवत् समझते हैं।

नोट—१ **'तृन समान'''** इति। बालकाण्डमें रावणके प्रधान सुभटोंके सम्बन्धमें कहा था कि **'कुमुख अकंपन**

* श्रवन सुना—का०, ना० प्र०।

कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय। एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय ॥ १ । १८० ।', और वानरोंके सम्बन्धमें इतना ही कहा था कि 'बनचर देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं ॥ १ । १८८ । ३ ।'; वहाँ 'अतुलित बल' को स्पष्ट नहीं किया। यहाँ अवसर आनेपर उसे खोला कि ऐसा अतुलित बल है कि 'तृन समान त्रैलोकहि गनहीं।' अथवा, उस समय भी असीम बल था पर ऐसा सामर्थ्य उस समय न था, अब श्रीरामकृपासे उनका बल ऐसा हो गया कि त्रैलोक्यको वे कुछ नहीं समझते, इसीसे उस समय यह बल न कहा गया, अब जब वह सामर्थ्य प्राप्त हुआ तब कहा।

इस तरह श्रीरामकृपासे वानरोंमें निशाचर-सुभटोंसे अधिक बल दिखाया। भाव कि आपके एक-एक राक्षस तो जगत्को जीत सकते हैं और वानर तो त्रैलोक्यको अपने सामने तृणवत् तुच्छ समझते हैं, जीतनेका तो वहाँ प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

टिप्पणी—३ (क) श्रवणसे सुना कि १८ पद्म यूथप हैं, निश्चय नहीं कि इतने ही हैं या अधिक। भाव कि इतने यूथप हैं तब सेना तो अमित होगी। अतः 'बदन कोटि सत बरनि न जाई।' यूथपकी भी संख्या सुनी कही, उसको निश्चय नहीं किया; क्योंकि जो निश्चय करनेका साहस करे वह मूर्ख ही होगा—'सो मूरुख जो···', (ख)—यूथ=समूह, यथा—"गगन बिमल संकुल सुर जूथा···सुर समूह बिनती करी।' वा, 'अर्बुदं दशकोटीनां मुनिभिः कथितं बुधैः; दशार्बुदं भवेद्यत्र सोऽपि यूथः प्रकथ्यते।' अर्थात् सौ करोड़का एक यूथ होता है, प्रत्येक यूथका एक यूथप होता है। अर्थात् सौ-सौ करोड़ एक-एक सेनापतिके हिसाबसे १८ पद्म सेनापति हैं ऐसा सुना है।

मा० त० सु०—बुद्धिमान् लोग वस्तुओंको गिनकर उसकी संख्या नहीं करते, अपने पक्के अनुमानसे जाँच लेते हैं। अतएव पहले ही कहा कि मैं वानररूप धारण कर वहाँ घूम रहा था तब वहाँके मुखिया लोगोंसे सुना, किंतु स्वयं गिनती नहीं कर सकता। पहले यह कह आये हैं कि 'सो मूरुख जो करन चह लेखा' और यहाँ पद्म संख्या कहते हैं, यह क्यों? उत्तर यह है कि वह वाक्यसमुदाय सेनाके विषयमें है और यह परिगणित सेनापतियोंके विषयमें है।—(मा० त० सु०)।

नोट—२ वंदनपाठकजीका मत है कि दूत मार खानेसे घबड़ा गया है इसीसे पद्म कहा, नहीं तो संख्या महापद्म है। हनुमन्नाटक आदि प्रमाण हैं। पुनः यथा अग्निवेशरामायणे–'एतेषां गणना नवद्वयमहापद्मावधिर्वर्णिता।' अर्थात् १८ महापद्म कही गयी है। वाल्मीकीयमें दूतोंने पद्म आदिकी व्याख्या इस प्रकार की है–एक लक्ष कोटि=शङ्ख। एक लक्ष शङ्ख=महाशङ्ख। एक लक्ष महाशङ्ख=वृन्द। एक लक्ष वृन्द=महावृन्द। एक लक्ष महावृन्द=पद्म। एक लक्ष पद्म=महापद्म। इसी प्रकार आगे खर्व, महाखर्व, समुद्र, मोघ और महोघकी संख्या कर लीजिये। वाल्मी० ६। २८। ३५, ३६, ३७।

टिप्पणी—४ 'जो न तुम्हहिं जीतै···' इति। (क) प्रत्येक वानर त्रैलोकको तृणवत् समझता है, तब एक रावण क्या है, कोई भी वानर तो ऐसा नहीं जो तुमको न जीत सके। तात्पर्य कि एक कपि जो सबसे बलमें कम है जब वही सारी लंकाको जीतकर चला गया, तब जो उससे बड़े हैं वे तुम्हें क्यों न जीतेंगे? अब रावणका डर छोड़कर दूत यथार्थ कह रहा है, ऐसे कठोर वचन भी सुनकर रावणने क्रोध न किया; क्योंकि वह प्रथम ही विनय कर चुका है कि 'मानेहु कहा क्रोध तजि तैसे'।

वि० त्रि०—प्रश्नानुरूप उत्तर है। रावणने प्रश्न किया 'पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन काल प्रेरित चलि आई ॥ जिन्ह के जीवन कर रखवारा। भयेउ मृदुल चित सिंधु बिचारा ॥' रावण उन बंदरोंको प्राकृत बंदर समझ रहे हैं। हनुमान्जीका पराक्रम देख लिया है फिर भी वही राग अलापते हैं। ऐसे रोगीको चैतन्य करनेके लिये तीव्रातितीव्र उपचारकी आवश्यकता है, अतः वह कहता है कि इस खयालमें न रहिये, मैं उनका बल देखकर आ रहा हूँ। मुझे बाँध लिया और मेरा किया कुछ न हुआ, आपका किया भी कुछ न होगा। इसलिये कहता है 'नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतै रन माहीं ॥'

दूसरी बात भी ठीक है। 'अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछा नाहीं ॥' जिससे रामजीने कुशल पूछा, उसका पराभव कौन कर सकता है?

नोट—३ रावणने पूछा था 'पुनि कहु भालु कीस कटकाई', वही दूत कहता है कि 'पूँछेहु नाथ राम कटकाई'; यहाँ 'कटक महँ सो कपि नाहीं' कहकर जनाता है कि 'कटकाई' के धोखेमें न रहना, वहाँ बड़ा भारी 'कटक' है, जिसका एक-एक वानर आपको रणमें सम्मुख संग्राम करके जीतनेको समर्थ है।

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्यकलाके प्रेमी 'दिव्य' और अंशी वानरोंकी महिमा और लघिमा आदि सिद्धियोंका आनन्द लें और अंग्रेजी पढ़े मित्र मिल्टनके वर्णनोंको न भूलें जिनमें भी वैसी ही सिद्धियाँ मानी गयी हैं। पर मजा तो यह है कि हमारा कुशल कवि नाटकीय और महाकाव्य कलाओंका एकीकरण जमीन-आसमानके कुलाबे मिलाकर एक कर देता है। देखिये

बढ़बत्ती मारने और दूनकी लेनेकी अवस्थामें दूत हैं ही और जिससे सुना होगा वह भी डींगकी ले रहा होगा। जैसे, रावणको मर्दि गर्द कर धूलमें मिलाना, इत्यादि। जन-साधारण हजारका मेला देखकर आवे तो लाखों कह देगा। फिर नाटकीय कलामें 'सुने' शब्द इस ओर भी संकेत कर रहा है कि 'बेपरकी उड़ानेमें दूत 'सुने' शब्दकी आड़ ही ले रहा है कि पोल खुल गयी तो कह दूँगा कि सुनी-सुनायी बात थी, मैंने गिना थोड़े ही था।' कहाँतक व्याख्या की जाय, भाव और कला-मर्मज्ञ कवि धन्य है। दोनों कलाओंका ठीक ज्ञान न होनेसे ही वैसी शंकाएँ होती हैं जैसी मा० त० सु० और वंदनपाठकजीकी टिप्पणियोंमें की गयी हैं। एक फारसीका मसला है 'जहाँदीदा बिसियार गोयद दरोग।' दुनिया देखे हुए मनुष्य घरवालोंसे बढ़बत्ती लेनेमें बहुत झूठ बोलते हैं। दूसरा मसला यह है कि 'दरोगगो रा हाफिजा न बाशद', झूठेको स्मरण नहीं रहता, उसकी बातोंमें पूर्वापर विरोध रहता है।

नाटकीय सत्य दिखानेमें कविने बड़ा कौशल दिखाया है और फिर कमाल यह है कि महाकाव्यकला भी हाथसे न न जाने पाये। सोचिये तो, बोलनेवाला युधिष्ठिर नहीं, किन्तु रावणद्वारा अपमानित राक्षस दूत है, जिसमें आखिर आसुरी सम्पत्ति ही तो प्रधान है।

परम क्रोध मीजहिं* सब हाथा। आएसु पै न देहिं रघुनाथा॥ ५॥
सोखहिं सिंधु सहित झष ब्याला। पूरहिं न त भरि कुधर बिसाला॥ ६॥
मर्दि गर्द† मिलवहिं दससीसा। ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा॥ ७॥
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका। मानहुँ ग्रसन चहत हहिं लंका॥ ८॥

अर्थ—परमक्रोधसे वे सब हाथ मींजते (मलते) हैं; पर रघुनाथजी आज्ञा नहीं देते॥ ५॥ समुद्रको मछली और सर्पोंसहित हम सोख लेंगे, नहीं तो उसे बड़े-बड़े पर्वतोंसे भरकर पुर (पाट) देंगे, दशशीशको मसलकर धूलमें मिला देंगे—इसी प्रकारके वचन सब वानर कह रहे हैं। ६, ७। सब स्वाभाविक ही निःशंक हैं, गर्ज रहे हैं, दपट रहे हैं, मानो लङ्कापुरीको ग्रास करना (निगल जाना) ही चाहते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'परम क्रोध …' इति। अर्थात् तुमको पा जायँ तो जीत ही लें; नहीं पाते इससे हाथ मलते हैं क्योंकि बीचमें समुद्र है; उसे सोख सकते हैं, पाट सकते हैं, पर क्या करें आज्ञा नहीं मिलती। (ख) रावणने जो कहा था कि वानर सेना कठिन कालकी प्रेरणासे चली आयी है, उसका उत्तर यहाँ दिया कि वानर तुम्हारे काल हैं, पर श्रीरघुनाथजी आज्ञा नहीं देते (ग) रावणने जो कहा था कि 'भयउ मृदुल चित सिंधु बिचारा' उसका उत्तर देते हैं कि 'सोखहिं सिंधु …' (घ) प्रथम तो यही चाहते हैं कि समुद्रको सोख लें और सोख ही डालेंगे; पर कदाचित् इसकी आज्ञा न मिले तो वे उसे पर्वतोंसे तोप देनेको तैयार हैं, इसमें सिंधु उन्हें नहीं रोक सकता, श्रीरामजीकी आज्ञा ही रोके हुए है। जिस समुद्रमें हजारों कोसके एक-एक जलचर भरे पड़े हैं उसे ये सोख लेनेको कहते हैं, बस, इसीसे इनके स्वरूपका अनुमान कर लो।

२—'मर्दि गर्द मिलवहिं …' इति। (क) भाव कि जबतक उस पार हैं तभीतक हाथ मलते हैं, जहाँ सिंधुको सोख या पाटकर इस पार आये तब तो, वे कहते हैं कि हम रावणको मसलकर गर्दमें मिला देंगे। सब ऐसा कहते हैं; भाव कि जब एक कहता है कि हम मर्दन करेंगे तब दूसरा कहता है कि हम 'मर्दैंगे', इस प्रकार सब कहते हैं क्योंकि सभी विशाल हैं, यथा—'नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतै रन माहीं॥' (मिलान कीजिये—'एषैवाशंसते लंकां स्वेनानीकेन मर्दितुम्। वाल्मी० । ६ । २६ । २३ ।', 'शक्ताः सर्वे चूर्णयितुं लङ्कां रक्षोगणैः सह। अ० रा० ६ । ४ । ३७ ।')। (ख) 'गर्जहिं तर्जहिं …'। हाथ मलते हैं कि आज्ञा पावें तो समुद्रको सोखकर रावणको गर्दमें मिला दें—ऐसा कहकर गर्जते हैं, मानो रावणको मारकर गर्ज रहे हों; ऐसा आवेश उनमें हो आया है। सहज अशंक हैं, तुम्हारी शंका उनको नहीं है। (ग) 'मानहु ग्रसन चहत हहिं …' इति। भाव यह कि जब लङ्काकी ओर क्रोधमें भरकर देखते हैं तब ऐसा मुख फैलाते हैं मानो लङ्काको खाना ही चाहते हैं। जब उनमें यह शक्ति रामकृपासे है कि मछली और व्यालसहित समुद्रको सोख सकते हैं तब लङ्काको ग्रास कर जाना क्या बात है!

नोट—१ इन चौपाईयोंसे जनाया कि सब वानर बड़े शूरवीर, तेजस्वी, विशालकाय और युद्धोत्साही हैं। यथा—'शूराः सर्वे महाकायाः सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः।' (अ० रा० ६ । ४ । ३६)। उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णनमें 'सार अलंकार' है।

* मीजहिं—(ना० प्र०) † गर्दि—(का,)।

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य है फिर नाटकीय कला! लक्ष्मणजीने तो कहा था कि आप क्रोध करके समुद्र सोख लें, पर श्रीरामजी समुद्रसे प्रार्थना ही करते हैं। उधर वानर ले डंडे, लगे दूनकी लेने और इधर दूतोंने भी वही कह सुनाया और कहा कि समुद्रका डर नहीं है, जैसा आप सोच रहे हैं, किन्तु श्रीरामजी ही आज्ञा नहीं दे रहे हैं।

दो०—सहज सूर कपि भालु सब पुनि सिर पर प्रभु राम।
रावन काल कोटि कहुँ जीति सकहिं संग्राम* ॥ ५५ ॥

अर्थ—सब वानर भालु सहज ही शूरवीर हैं फिर उनके सिरपर (अर्थात् सबके स्वामी, रक्षक) समर्थ श्रीरामचन्द्रजी हैं। जो रावण क्या, करोड़ों कालोंको भी संग्राममें जीत सकते हैं ॥ ५५ ॥

मा० त० सु०—'**सहज सूर**' का भाव कि बिना अस्त्र-शस्त्रके नख और वृक्ष आदिद्वारा महा अतिरथ योद्धाओंसे भी युद्ध करनेवाले हैं। कवच आदि धारण करनेकी उन्हें अपेक्षा नहीं है। (भाव कि जन्मसे ही ऐसे शूरवीर हैं, शिक्षा वा अभ्यास आदिसे नहीं)।

टिप्पणी—१ (क) '**पुनि सिरपर प्रभु राम**' अर्थात् राम-ऐसे स्वामीको पाकर वे अत्यन्त शूरवीर हो गये हैं। यथा—'**छत्रिजाति रघुकुल जनम राम अनुग जग जान**। २। २२९।', (ख) रावणने कहा था कि '**पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन···**'। उसका उत्तर देते हैं कि वे कालकी प्रेरणासे नहीं किन्तु श्रीरामकी प्रेरणासे आये हैं। जो कोटिकालको भी जीत सकते हैं, वे राम उनके प्रभु हैं। और, रावणके '**की भइ भेंट कि फिरि गये···**' इन वचनोंका उत्तर दिया कि वे फिर जानेवाले नहीं हैं, उनके दलका एक-एक वानर एक-एक रावणको जीत सकता है, और राम तो कोटिकालको भी संग्राममें जीत सकते हैं तब तुम्हारा भय क्या? (ग) '**जीति सकहिं संग्राम**' का भाव कि काल योगाभ्यास एवम् ज्ञानसे भी जीता जा सकता है, यथा—'**तुम्हहिं न ब्यापत काल अति कराल कारन कवन। मोहि सो कहहु कृपाल ज्ञान प्रभाव कि जोगबल** ॥ ७। ९४।' उसका यहाँ निषेध करते हैं अर्थात् ज्ञान या योगबलसे नहीं किंतु सम्मुख लड़कर जीत सकते हैं। क्योंकि '**काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत**' (७। ९१), ऐसा भी उन प्रभुको कहनेमें अत्यन्त लघुता होती है। यथा—'**निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै। जिमि कोटिसत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै**। ७। ९२।' जब ऐसे प्रभावशाली पराक्रमी हैं तब तुम्हारा डर क्या? (घ) रावणने जो कहा था कि विभीषणका काल अति निकट आ गया, यथा '**ताहि मृत्यु आई अति नेरी**', '**होइहि जव कर कीट अभागी**।' (५३। ४–५) और वानरोंको काल घेर लाया उसपर कहते हैं कि उनके रक्षक ऐसे समर्थ श्रीरामचन्द्र हैं।

आवृत्तियोंद्वारा सिंहावलोकन

प्रथमावृत्ति

(किस वाक्यसे)	(क्या सूचित किया)
'पूछेहु नाथ राम कटकाई।···बरनि न जाइ'	१ इससे सेनाकी बहुतायत
नाना बरन भालु कपि धारी	२ सेनाकी विचित्रता
बिकटानन बिसाल भयकारी	३ वानरोंकी आकृति
द्विविद मयंद नील नल···जामवंत	४ प्रसिद्ध वीरोंके नाम
अमित नाग बल बिपुल बिसाला	५ वीरोंका बल
परमक्रोध मीजहिं सब हाथा	६ वानरोंका उत्साह
पदुम अठारह जूथप बंदर	७ यूथपतियोंकी संख्या
सोखहिं सिंधु सहित झष ब्याला। पूरहिं··· ॥	८ वानरोंका पराक्रम
मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा	९ वानरोंकी शूरवीरता
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका	१० वानरोंकी निश्शंकता
पुनि सिरपर प्रभु राम	११ वानरोंकी सनाथता

* प्र० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित।

द्वितीयावृत्ति

प्रश्न	उत्तर
कहसि न कस आपनि कुसलाता	१ रावनदूत हमहिं सुनि काना । कपिन्ह बाँधि दीन्हे दुख नाना
पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी ।''	२ जातहि राम तिलक तेहि सारा
पुनि कहु भालु कीस कटकाई	३ 'पूछेउ नाथ राम कटकाई' से 'सहज सूर' तक
जिन्ह के जीवन कर रखवारा ।	४ सोषहिं सिंधु सहित झष ब्याला ।
भयेउ मृदुल चित सिंधु बिचारा ॥'	पूरहिं नत भरि कुधर बिसाला ॥'
कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी	५ राम तेज बल बुधि बिपुलाई । सेष सहस सत सकहिं न गाई । रामानुज दीन्ही यह पाती । नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती ॥
'जासु मृत्यु आई अति नेरी' 'कठिन काल प्रेरित चलि आई' 'जिन्ह के हृदय त्रास अति मोरी'	६ 'रावन काल कोटि कहुँ जीति सकहिं संग्राम' । तब उनके भक्तोंकी मृत्यु कैसे होगी ? वे निःशंक हैं ।

राम तेज बल बुधि बिपुलाई । सेष सहस सत सकहिं न गाई ॥ १ ॥
सक सर एक सोषि सत सागर । तव भ्रातहि पूँछेउ नयनागर ॥ २ ॥
तासु बचन सुनि सागर पाहीं । मागत पंथ कृपा मन माहीं* ॥ ३ ॥

अर्थ—श्रीरामजीके तेज, बल और बुद्धिकी अधिकताको लाखों शेष भी नहीं कह सकते ॥ १ ॥ वे एक बाणसे सैकड़ों समुद्र सोख सकते हैं, (ऐसे पराक्रमी हैं) पर, नीतिमें चतुर हैं इससे तुम्हारे भाईसे उन्होंने (उतरनेका उपाय) पूछा ॥ २ ॥ उसका वचन सुनकर वे सागरसे रास्ता माँगते हैं, उनके मनमें कृपा है ॥ ३ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्य और नाटकीय कलाके एकीकरणकी युक्ति देखी ! इतनी देरतक कलामें नाटकीयता प्रधान रही और उसका आनन्द आया, फिर किस मजेसे **'सेष सहस सत सकहिं न गाई'** से बता दिया कि दूतोंने भगवान्‌को पूरी तरहसे महाकाव्यसम्बन्धी व्यक्तित्वमें पहचान लिया है और उनके 'मानुष तन' धारण करनेसे धोखा नहीं खाया, आखिर ठहरे तो राक्षसपति रावणके दूत (महाकाव्यमें आधिदैविक विचारसे असुर और देवता भाई-भाई ही तो हैं, इसीसे असुरगण देवोंसे नीचे पर और सबोंसे ऊँचे गिने जाते हैं)।

नोट—१ तेज बल बुद्धि यथा—उ० ९१ **'मरुत कोटि सत बिपुल बल रबि सतकोटि प्रकास'** से **'निरुपम न उपमा'''** ९२ तक । इसमेंसे **'मरुत कोटि सत बिपुल बल'** बलकी' **'रबि सतकोटि प्रकास'** **'धूमकेतु सतकोटि सम दुराधर्ष भगवंत'** तेजकी और **'सारद कोटि अमित चतुराई । बिधि सत कोटि सृष्टिनिपुनाई ।'** बुद्धिकी किंचित् उपमा देकर भुशुण्डी-जीने कहा है कि ये उपमाएँ श्रीरामके बल, तेज आदिके सामने ऐसी लघु हैं—**'जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै ।'** यही भाव है **'बिपुलाई सेष सहस सत सकहिं न गाई ।'** का जो कुछ भी कहा जाय वह किंचित् ही होगा । सूर्य, चन्द्र और अग्नि ये तीन तेजोमय कहे गये हैं । शतकोटि सूर्य, चन्द्र और अग्नि मिल जायँ तो भी श्रीरामके कणमात्र तेजकी बराबरी नहीं कर सकते । तेज यह है कि शत्रु उसे देखकर काँप उठे, आँख सामने न कर सके । मिलान कीजिये—**'राजन रामु अतुल बल जैसें । तेज निधान लषनु पुनि तैसें ॥ कंपहिं भूप बिलोकत जाकें । जिमि गज हरि किसोर के ताकें ॥ १ । २९३ ।'** तेजकी व्याख्या भगवद्गुणदर्पणमें इस प्रकार है—**'स्वानधीनानपेक्षात्वमन्योद्दीपनमित्यपि । आदित्यस्य प्रतापश्च सामन्ताग्निमदर्शनम् । परैरपरिभावत्वं दर्शनादेव दर्शितम् । दुःप्रेक्षत्वं तु येन स्यात्ततेजः समुदाहृतम् ॥'** अर्थात् स्वतन्त्र रहनेकी तथा किसीकी अपेक्षा (परवा) न करनेकी भावना तथा दूसरोंको भी उद्दीप्त करनेकी शक्तिका नाम तेज है । सूर्यके समान प्रताप और अग्निके समान सब तरफसे अप्रधर्षत्व, देखनेमात्रहीसे दूसरा (शत्रु) प्रभावित हो जाय और यह सब होते हुए भी दुष्प्रेक्ष्यत्व न हो (सौम्यता हो), उसका नाम तेज है ।

'बल'—'कितना ही दुर्घट कार्य सामने आ जाय तो भी उसके करनेमें किंचित् श्रम न होना 'बल' है । जैसे अनेकों

* प्र० चं०—(१) (३) पायकुलक, 'सक''' ११७८ वाँ, 'तव' ११९६ वाँ भेद ।

ब्रह्माण्डोंके धारण करनेमें विष्णुको कभी परिश्रम नहीं होता । यथा—'यायाद्रामस्य गुर्व्यास्तु खेदाभावो बलं गुणः । श्रमो न जायते विष्णोर्ब्रह्माण्डानेकधारणे ।'

'बुद्धि—बुद्धिके आठ अङ्ग कहे गये हैं । यथा—'बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तम् ॥' (वाल्मी० ४ । ५४ । २) । वे अष्टाङ्ग ये हैं—'शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा । ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥' (वाल्मी० रा० शिरोमणि टीकासे उद्धृत) । शुश्रूषा=गुरुकी सेवा । श्रवण=शास्त्रोपदेशको सुनकर समझना । ग्रहण=सारासार समझकर सारमात्रको लेना । धारण=ग्रहण किये हुए सारको स्मरण रखना । ऊह=तर्क-वितर्क करना । अपोह=युक्तिके बलसे संदेहका निराकरण करना । अर्थविज्ञान=अर्थका समझना । तत्त्वज्ञान=ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान । नैयायिकोंके मतसे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह और स्थान—इन सोलह पदार्थोंके ज्ञानका नाम तत्त्वज्ञान है ।

जिज्ञासापञ्चकमें जप, यज्ञ, तप, त्याग, आचार और अध्ययन बुद्धिके छः अङ्ग कहे गये हैं । यथा—'जपो यज्ञास्तपस्त्याग आचारोऽध्ययनं तथा । बुद्धेश्चैव षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः ॥'

टिप्पणी—१ 'राम तेज बल बुधि बिपुलाई'' ।' इति । (क) भाव कि जिनकी कृपादृष्टिसे वानरोंमें अतुलित बल है उनके बलको कौन कह सकता है । (ख) सहस शत शेष नहीं कह सकते । हनुमान्‌जीकी करनी एक शेष नहीं कह सकते, यथा—'नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहु मुख न जाइ सो बरनी ॥ ३० । ५ ।' श्रीरामजी उनके स्वामी हैं, स्वामीका बल अधिक होना ही चाहिये, इसीसे कहा कि रामजीके तेज-बल-बुद्धिको लाखों शेष नहीं कह सकते । अथवा सेनाके वर्णनमें साधारण वदन कहा, यथा—'पूछेहु नाथ राम कटकाई । बदन कोटि सत बरनि''' ।' और श्रीरामजीके तेज आदिको वर्णन करनेवाला कोई पण्डित होना चाहिये, अतः कहा कि 'शेष सहस सत''' ' यह 'कहसि न रिपु दल तेज बल' का उत्तर है ।

२ 'सक सर एक सोषि सत सागर'''।' इति । (क) विभीषणसे उपाय पूछा, इससे यह न समझो कि उनमें पराक्रम नहीं है और न वे नीति जानते हैं । ये नीतिमें प्रवीण हैं, यथा—'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ । कोउ न राम सम जान जथारथ ॥ २ । २५ । ४ ।' और बड़े पराक्रमी हैं । मन्त्रीसे पूछना नीति है, अतः 'नयनागर' कहा । [पुनः 'नयनागर' का भाव कि आप ऐसे अनीतिमें निरत कि अपने भाईका भी अनादर किया और वे इस प्रकारके नीतिकुशल कि शत्रुके भाईको शरण देकर रक्षा भी की और प्रतिष्ठा देते हुए मन्त्र भी पूछा । (मा० त० सु०) विभीषणजीने कहा था कि आपका बाण 'कोटि सिंधु सोषक' है और दूतोंने 'सोषि सत सागर' कहा । दोनोंका भाव एक ही है, शत, सहस्र, कोटि आदि सब शब्द अनेकवाची हैं; अथवा विभीषण अधिक माहात्म्य जानते हैं इससे उन्होंने 'कोटि सिंधु सोषक' कहा और दूत उतना माहात्म्य नहीं जानते; अतः उन्होंने 'सत सागर' कहा ।

३—तेज, बुद्धि और बलके उत्तर क्रमसे ये हैं—'सक सर एक सोषि सत सागर' 'तव भ्रातहिं पूछेहु नयनागर' और 'रावन काल कोटि कहँ जीति सकहिं संग्राम ।'

नोट—२ रावणने पूछा था—'कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोर' अतएव शुकने प्रथम 'पूँछेहु नाथ राम कटकाई' से 'रावन काल कोटि कहँ जीति सकहिं संग्राम । ५५ ।' तक रिपुदल कहा । तब 'सक सर एक सोषि सत सागर' यह तेज कहा । और 'सहज सूर कपि'' रावन काल कोटि कहँ जीति सकहिं संग्राम' में ही बलका उत्तर आ गया कि जिनका बल पाकर वानर कोटि कालको जीत सकते हैं उनके बलको कौन कह सकता है ? बुद्धिका प्रश्न तो रावणने किया ही नहीं तब इसने बुद्धिकी विपुलता क्यों कही ? इससे जान पड़ता है कि वह विभीषणको शरण लेनेपर इतना मुग्ध हो गया है कि उससे रहा न गया, उसे इसमें श्रीरामकी नीति-निपुणता देख पड़ी, अतः उसने 'तव भ्रातहिं पूछेउ नयनागर' कहकर उनकी बुद्धिकी बड़ाई की । अथवा बल पाँच प्रकारका कहा गया है । बाहुबल (यह साधारण बल है), सन्मन्त्रीका बल, अभिजात वा कौलिक बल (जो पिता, पितामहके समयसे सहज ही चला आता है) और बुद्धिबल । बुद्धिबल सबसे उत्कृष्ट बल है, यह बलका भी बल है, इससे और सब बल प्राप्त हो जाते हैं । यथा—'बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे । यत्तद्‌बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते । धनलाभस्तृतीयं तु बलमाहुर्जिगीषवः ॥ यस्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् । अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ ये नत्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत । यद्‌बलानामपि बलं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ महाभारत उद्योग पर्व ।'

वाल्मी० ४ । ५४ । २ में अङ्गदजीको 'चतुर्बलसमन्वितम्' कहा है । चार बल कहनेका कारण सम्भवतः वहाँ यह हो कि 'बुद्धि' को उसमें साथ-ही-साथ अलग प्रथम ही कह दिया है । अथवा किसीके मतसे बल चार ही प्रकारका हो ।

बुद्धिबल ही जिसके पास हो वही सर्वप्रकार बलवान् कहा गया है—'**बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।**' प्रसिद्ध ही है। अतएव शुकने शरीरबल कहकर फिर 'बुद्धिबल' भी कहा। रावणने 'बल' पूछा अतः दूतने इसे भी कहा, क्योंकि यही मुख्य बल है, यह जिसमें नहीं वह 'निर्बल' है।

टिप्पणी—४ '**तासु बचन सुनि**···' इति। (क) भाव कि तुम्हारे भाईसे उपाय पूछा और उनके वचन मानकर सागरके पास जाकर रास्ता माँगते हैं। तात्पर्य यह कि जिससे मन्त्र पूछे, यदि वह उचित कहे तो उसे मानना चाहिये। दूत इसी बातकी प्रथम ही प्रार्थना कर चुके हैं—'**नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसे। मानेहु कहा क्रोध तजि तैसे।**' (ख) '**कृपा मन माहीं**' अर्थात् मनमें कृपा है; इसीसे पंथ माँगते हैं, नहीं तो सोख लेते। समुद्रपर कृपा है उसे न सोखा, विभीषणपर कृपा है इससे उनका मान रक्खा, यद्यपि समर्थ हैं। [भाव कि समुद्र आपका पक्षपाती है तो भी वे किसीकी मर्यादाको भङ्ग करनेकी बात अपने मनमें तनिक भी नहीं लाते क्योंकि मर्यादापुरुषोत्तम हैं। (मा० त० सु०)]

सुनत बचन बिहँसा दससीसा। जौं असि मति सहाय कृत कीसा ॥ ४ ॥
सहज भीरु कर बचन दिढ़ाई*। सागर सन ठानी मचलाई† ॥ ५ ॥

अर्थ—वचन सुनते ही रावण खूब हँसा (और बोला) जब ऐसी बुद्धि है तभी तो वानरोंको सहायक बनाया ॥ ४ ॥ स्वाभाविक ही डरपोक विभीषणके वचनको दृढ़कर सागरसे मचल रहे हैं (हठ ठाना है। राह न देगा तो डूब मरेंगे। अथवा इससे हठ ठानी कि कोई हँसे नहीं, कह देंगे कि राह न मिली तो हम क्या करते। मचलनेसे बालबुद्धि जनायी) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ '**सुनत बचन बिहँसा**···' इति। जबतक '**माँगत पंथ कृपा मन माहीं**' नहीं कहा था तबतक कोई छिद्र न मिला था, ये वचन सुनकर उसे बोलनेके लिये छिद्र मिला और वह ठट्ठा मारकर हँसा कि मैं जान गया कि उनमें कुछ बुद्धि नहीं है। समुद्रसे मचलना ठाना इससे जान गया कि बल कुछ नहीं। अथवा वानरोंको सहायक बनाया इससे उनके बलकी थाह मिली और विभीषणको मन्त्री बनाया इससे उनकी बुद्धिकी थाह मिली। हँसकर दूतके वचनोंका निरादर किया।

२—'**सहज भीरु कर बचन दिढ़ाई।**··' इति। (क) रावणने विभीषणका उपदेश नहीं माना था और रामजीने उनकी सलाह मानी; इसीसे वह कहता है कि डरपोकके वचनको उन्होंने दृढ़ किया। (ख)—'**भीरु**' का भाव कि नीति है कि डरपोकको मन्त्री न करे और उन्होंने डरपोकको मन्त्री बनाया।—(ऐसा ही अङ्गदसे कहा है—'**अनुज हमार भीरु अति सोऊ** ।६।२३।३।'

श्रीराजारामशरण लमगोड़ाजी—धन्य है नाटकीय चरित्र संघर्षकला (Conflict of characters) ! रावणको कैसा सुन्दर मौका बढ़वत्ती रोकनेका और मजाक उड़ानेका मिल गया ? हास्यकला निछावर है कि मौका हाथसे नहीं जाने दिया और '**सागर सन ठानी मचलाई**' की व्यङ्गपूर्ण आलोचना करके बाजी मारता ही जान पड़ता है।

☞ तुलसीदासजीकी शैली ही है कि अनेक दृष्टिकोणके विचार किसी भी प्रसङ्गपर अनेक प्रकारसे किसी-न-किसी द्वारा प्रकट करा ही देते हैं। समुद्रसे मार्ग माँगनेपर विभीषण, लक्ष्मण, रावणदूत, रावण और समुद्रके विचार देखिये और कलाका आनन्द लीजिये, पर सब विचारोंको कविके मत्थे कभी न मढ़िये। '**जितने मुँह उतनी बातें**' वाली जनश्रुति बड़ी मार्मिक है।

मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई। रिपु बल बुद्धि थाह मइँ पाई ॥ ६ ॥
सचिव सभीत बिभीषन जाके। बिजय बिभूति कहाँ जग‡ ताके ॥ ७ ॥

अर्थ—अरे मूर्ख ! झूठ क्या बड़ाई करता है। मैंने शत्रुके बल और बुद्धिकी थाह पा ली ॥ ६ ॥ जिसके विभीषण-सा डरपोक मन्त्री है, उसको संसारमें विजय और विभूति (वैभव ऐश्वर्य) कहाँ ? ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ '**मूढ़ मृषा का करसि**···' इति। (क) जिसके कुछ भी बल-बुद्धि नहीं उसको बलका समुद्र (बलराशि) समझा और मैं जो बल-बुद्धिका समुद्र हूँ सो मुझको कुछ न समझा। इससे निश्चय हुआ कि तू 'मूढ़' है। तुझमें बुद्धि होती तो तुझे यथार्थ समझ पड़ता। तुमने झूठे ही बड़ाई की। बल-बुद्धि होती तो समुद्र सोख लेते, डरपोकके वचनको दृढ़ न करते। ऐसा करनेसे जाना गया कि वे भी डरपोक हैं, शूर नहीं हैं। (ख) '**थाह मैं पाई**' का भाव कि तू रिपुके बल-बुद्धिको अथाह कहता था और मैंने उसकी थाह पा ली—'**जौं असि मति**···' से बलकी और '**सचिव सभीत बिभीषन**···' से थाह मिली। (रावणके हृदयमें असूया और सर्वसंचारी भाव हैं)।

* दृढ़ाई—(का०, ना० प्र०)। † 'सुनत··' चण्डी, 'जो···' (५) पायकुलक।
‡ 'लगि'—(का०, ना० प्र०)। ब्र० चं०—'मूढ़···' अनुकूल, 'रिपु···' पायकुलक, (७) तामरस।

२—'**सचिव सभीत बिभीषन जाके**···।' इति। (क) तात्पर्य कि सभीत मन्त्री संग्रामसे भागता है (भागनेकी सलाह देता है) तब विजय कैसे हो सकती है? और शत्रु सब विभूति ले लेता है, अतः कहा कि विभूति कहाँ है? (ख) विभीषण डरपोक है, उसके इतनी ही बुद्धि है। जब हमारे यहाँ था तब हमसे कहा था कि शत्रुसे विनती करो, जब वहाँ गया तो उनसे कहा कि तुम समुद्रसे विनती करो। इसी कारण तो हमने उसे निकाल दिया पर उन्होंने रख लिया और मन्त्री बनाया। (ग)— राजाको विजय और विभूति अच्छी सेनासे और अच्छे मन्त्रीसे मिलती है, उनकी न सेना अच्छी न मन्त्री अच्छे। दूतने कहा कि '**तव भ्रातहि पूछेहु**···' इसीसे रावण उनको मन्त्री कहता है।

सुनि खल बचन दूत रिस बाढ़ी। समय बिचारि पत्रिका काढ़ी॥ ८॥
रामानुज दीन्ही यह पाती। नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती॥ ९॥
बिहँसि बाम कर लीन्ही रावन। सचिव बोलि सठ लाग बचावन॥ १०॥*

अर्थ—दुष्ट रावणके वचन सुनकर दूतके क्रोध बढ़ आया। उसने अवसर समझकर पत्रिका निकाली (और बोला—)॥ ८॥ रामके छोटे भाईने यह पत्रिका दी है। हे नाथ! इसे पढ़ाकर छाती ठंढी कीजिये॥ ९॥ हँसकर रावणने उसे बायें हाथसे लिया और मन्त्रीको बुलाकर वह शठ उसे पढ़वाने लगा॥ १०॥

श्रीलमगोड़ाजी—हास्यरस-सम्बन्धी विचार कुछ ऊपरकी टिप्पणीमें आ ही गये। हाँ, एक बात याद रहे कि फिर हँसीसे निरहस ही हुआ और जिसे मैंने 'माष' कहा था वह 'रिस' हो गयी और अधिक '**बाढ़ी भी**।' नाटकीय कलाके विचारसे तो बड़े मौकेसे पत्रिका निकालना और जोरसे बोलकर रिसकी प्रगतिके साथ रावणके हाथमें देना कविके कौशलका प्रमाण ही है। पर 'नाथ' का शब्द न भूले और अभिनेता जामेसे बाहर न हो, इस संकेतपर तो कला निछावर है।

टिप्पणी—१ (क) '**रिस बाढ़ी**' से जनाया कि जब रावणने अनादरसे हँसकर प्रश्न किया था तभी दूतको क्रोध आ गया था, अब वह क्रोध बढ़ा। यथा—'**जब तेहिं कीन्ह राम कै निंदा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा॥** (६। ३१। १)।' श्रीरामके निन्दकको तलवार निकालकर मारे। रावणने निन्दा की, इसीलिये खड्गके समान पत्रिका निकाली। तलवार म्यानसे बाहर निकाली जाती है और पत्रिका लिफाफेसे बाहर निकाली गयी। जैसे तलवार अङ्ग विदीर्ण करती है, वैसे ही पत्रिका इसके हृदयको विदीर्ण करेगी, यथा—'**सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥**' (ख) '**समय बिचारि**' अर्थात् वधका समय है। प्रसङ्गके अनुकूल यह समय है कि रावणने दूतके सब वचनोंको काट डाला, अब पत्रिका देनेका समय है। [दूतने विचारा कि यदि मैं इसकी बातोंका खण्डन करूँगा तो अवश्य यह मुझपर बहुत क्रोध करेगा। अतः इसके मानकी ध्वंसिनी पत्रिका ही ठीक है जिससे इसका मानभंजन होगा। (मा० त० सु०)। इस वाक्यमें ध्वनि यह है कि जो आप पूछते हैं कि भेंट हुई या फिर गये, सो इस पत्रिकासे समझ लीजिये कि क्या वे लौटनेवाले हैं!

२—'**रामानुज दीन्ही यह पाती**···' इति। (क) रावणने दोनों भाइयोंकी बात पूछी थी, यथा—'**कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी**।' इनमेंसे रामजीकी बात तो कह चुका, अब लक्ष्मणजीकी बात कहता है। (ख) लक्ष्मणजीने दूतोंसे कहा था कि रावणसे कहना कि यह लक्ष्मणजीकी पत्रिका है, यथा—'**रावन कर दीजहु यह पाती। लछिमन बचन बाँचु कुल घाती॥** ५२। ८।' इसीसे दूतने कहा कि '**रामानुज दीन्ही**···।' (ग) श्रीलक्ष्मणजीने अपना नाम बतानेको क्यों कहा? इसलिये कि पहले ही न बता दिया जायगा तो वह उसे श्रीरामजीकी पत्रिका समझकर अपमान करेगा जिससे रामजीमें न्यूनता आवेगी। (घ) लक्ष्मणजीने कहा था कि उससे कहना कि '**लछिमन बचन बाँचु कुलघाती**' पर दूत कहते हैं कि '**बँचाइ जुड़ावहु छाती**।' ऐसा कहनेका कारण यह था कि दूतने रावणकी खलता देखकर जान लिया कि यह ठीक-ठीक न 'बाँचेगा' और दूसरेसे पढ़ावेगा तो वह जो कुछ लिखा है, वही पढ़ेगा। अतएव पढ़ानेको कहा। [नोट—दूसरेसे पढ़वानेसे सभा भर जान जायगी, रावण स्वयं पढ़ लेता तो दूसरोंको न मालूम होता और न रावण लज्जित होता। दूसरे रावणके मन्त्रियोंने कहा था कि '**नर बानर केहि लेखे माहीं**' अतः वे भी पढ़-सुनकर लज्जित होंगे] यह तो अन्तःकरणका अभिप्राय हुआ और ऊपरसे यह दिखाया कि शत्रुकी पत्रिका है, अतएव आप न पढ़ें, मन्त्रीको बुलाकर पढ़वा लें। (ङ) '**जुड़ावहु छाती**' यह व्यङ्ग है, उसे सुनकर उसकी छाती जलेगी न कि ठंढी होगी। यथा—'**सुनत सभय मन**···।' पुनः '**जुड़ावहु**' का भाव कि मेरी बात झूठी समझकर क्रोधाग्नि तेज होती है, छाती जलती है, तो इस पत्रिकाको बाँचकर मेरे वचनको सत्य मानकर छाती ठंडी कर लीजिये।

* (८) (९) पायकुलक, 'बिहँसि···' ११६० वाँ, 'सचिव···' ११६० वाँ भेद।

३—'**बिहँसि बाम कर**···' इति । हँसना निरादरार्थ है, बायें हाथसे लेना भी निरादर है । अथवा बाम (शत्रु) की पत्रिका है इससे बायें हाथमें ली । पत्रिकाकी बात न मानेगा । अतः शठ कहा । ('सचिव बोलि' से ज्ञात होता है कि शुकसे यहाँतक एकान्तमें बातें हुईं, अब मन्त्री बुलाये गये) ।

दो०—बातन्ह मनहि रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस ।
राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस * ॥
की तजि मान अनुज इव प्रभु पद पंकज भृंग ।
होहि कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग † ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ—खीस=नष्ट, बरबाद, नाश । घालना=कर डालना । यथा—'**केहि के बल घालेहि बन खीसा**' '**सो भुजबल राख्यो उर घाली** ।'

अर्थ—अरे शठ ! बातोंसे मनको रिझाकर (प्रसन्न करके) कुलका नाश न कर । रामविरोधसे ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी शरण जानेपर भी न बचेगा । या तो अभिमान छोड़कर अपने छोटे भाईकी तरह प्रभुके चरणकमलका भौंरा बन और चाहे (अर्थात् नहीं तो) अरे खल ! श्रीरामजीके बाणरूपी अग्निमें कुलसहित पतङ्गा हो अर्थात् शरण न आनेसे कुलका नाश होगा । (अब दोनोंमेंसे जो रुचे सो कर) ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—१ (क) मन, वचन और कर्म तीन ही होते हैं । तीनोंके विषयमें कहते हैं कि तू बातोंसे और मनसे वीर बना बैठा है, पर युद्धमें तेरे किये कुछ न होगा, तू न बचेगा । [बातें यह कि ब्रह्मा-शिवसे वर पा चुका हूँ, कैलास उठा लिया, समग्र देवता, दिग्पाल आदि मेरे नौकर हैं, नर-वानर मेरा क्या कर सकते हैं । एवं कुमन्त्रियोंकी ठकुरसुहातीके वचन । इत्यादि] (ख) '**जनि घालसि कुल खीस**' इति । भाव कि पुलस्त्य ऋषिका उत्तम कुल है, ऐसे कुलके नाशमें खेद होता है; इसीसे कुलके नाशका निषेध करते हैं । (ग) '**रामबिरोध न···ईस**' यथा—'**संकर सहस बिष्नु अज तोही । सकहिं न राखि राम कर द्रोही** ॥ २३ । ८ ।' '**ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा । इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा त्रातुं न शक्ता युधि रामवध्यम्** ॥ वाल्मी० ५ । ५१ । ४४ ।' विष्णुका रक्षण-धर्म मुख्य है अतः यहाँ दोहेमें उन्हें प्रथम कहा । अथवा एक-एक बार सबको प्रथम कहा—(ऐसा करके तीनोंको एक-समान प्रधान जनाया), यथा—'**संकर सहस बिष्नु अज तोही । ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही** ॥' ६ । २७ ।' तथा यहाँ '**सरन बिष्नु अज ईस** ।'

२—'**पदपंकज भृंग**' अर्थात् प्रभुके चरण कमलरूप हैं, तापके हरनेवाले हैं, उनका रसिक होकर सुखरूपी मकरन्द पान कर । चाहे भ्रमरकी जोड़में पतङ्ग होकर शरानलमें जल, तापको प्राप्त हो, दुःख भोगकर ।—यही पत्रिकामें लिखा है ।

श्रीलमगोड़ाजी—ये दोनों दोहे पत्रिकाके अन्तिम अंश अर्थात् टीपके बंद ही हैं और सम्भवतः ज्यों-के-त्यों दिये गये हैं । हैं भी बड़े जोरके । विस्तार-भयसे व्याख्या नहीं की जाती । जिसे वाग्विलासका अन्त समझना चाहिये वे पद हैं अवश्य ऐसे कि वाणी निछावर हो ।

नोट—मात्राकी कमीके विचारसे इस दोहेका पाठ आजकलके संशोधक पण्डितोंने '**की तजि मान**' के बदले '**होउ मान तजि**' और '**होहि कि रामसरानल खल**' की जगह '**रामसर अनल खल जनि**' कर दिया है ! पर प्राचीन पाठ वही है जो ऊपर दिया गया । प्राचीन दोहेकी शुद्धताके विषयमें श्रुतबोधका प्रमाण है—'**संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गसंमिश्रम् । विज्ञेय-मक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन** ॥' इसके अनुसार पदके अन्तका अक्षर (लघु) विकल्पसे गुरु माना जाता है । इस प्रकार मात्राकी पूर्ति हो जाती है । श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि मुझे तो विरोधालंकारके और उभारनेके लिये नाटकीय कलाके शब्द-गुणके विचारसे यह अधिक ठीक जान पड़ता है कि प्रारम्भका 'की' ही इतना बढ़ाकर बोला जाय कि मात्राकी कमी पूरी हो जाय ।

सुनत सभय मन मुख मुसुकाई । कहत दसानन सबहि सुनाई ॥ १ ॥
भूमि परा कर गहत अकासा । लघु तापस कर बाग बिलासा ॥ २ ॥

अर्थ—सुनकर (रावण) मनमें डरा पर (डर छिपानेके लिये) मुखसे हँसकर और सबको सुनाकर रावण कहता है ॥ १ ॥ जैसे कोई पृथ्वीपर पड़ा हुआ हाथसे आकाशको पकड़ना चाहे वैसे ही इस छोटे तपस्वीकी वाणीका विलास (वचनचातुरी, मनोरंजक वाक्यमात्र) है ॥ २ ॥

* म० चं०—दोहा दोहरा मिश्रित, दोहरा । † दोहरा—(म० चं०) म० चं०—तामरस ।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनत सभय मन···' इति। पत्रिका सुनकर मन सहम गया, मुखपर उदासी आ गयी। मुखपर उदासी आनेसे हृदयका भय खुल जाता, इसीसे उनकी लघुता सबसे सुनाकर कहता है। पहले मनका भय मुखसे हँसकर छिपाया फिर उसीको वचनद्वारा छिपाया। मुसुकाना थोड़े ही लोगोंने देखा जो पास थे और वचनसे सब लोग जानेंगे कि इसको भय नहीं है। अतः सबको सुनानेके लिये वचन कहे। (ख) 'दसानन' से जनाया कि दसों मुखोंसे बोला, यथा—'दसमुख बोलि उठा अकुलाना।' (६। ५। १०)। जहाँ-जहाँ भयसे घबड़ाकर बोला, वहाँ-वहाँ ऐसा ही लिखा है। (ग) इस प्रसङ्गमें चार बार हँसना लिखा गया। 'बिहँसि दसानन पूछी बाता। सुनत बचन बिहँसा दससीसा॥' बिहँसि बाम कर लीन्हीं रावन' और 'सुनत सभय मन मुख मुसुकाई॥'

श्रीलमगोड़ाजी—कवि सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म अन्तरको जान लेता है और प्रकट कर देता है। इसीसे तो क्रान्तदर्शी और सूक्ष्मदर्शी कहा जाता है। हँसी और शब्दोंसे दूत धोखा खा गया और क्रोध समझा; पर कवि स्पष्ट कहता है कि 'सभय मन' है। अंग्रेजीमें जो कहावत है कि 'A bully is a Coward turned inside out' उसे हमारे मित्र यहाँ प्रमाणित बनावेंगे।

टिप्पणी—२ 'भूमि परा कर गहत अकासा···।' इति। अर्थात् हमको चिट्ठीद्वारा भय दिखाकर जीतना चाहता है। कोई बैठकर या खड़े होकर तो आकाशको पकड़ ही नहीं सकता, पृथ्वीपर पड़ा हुआ भला कैसे पकड़ सकता है? वैसे ही यह तपस्वी हमें किसी तरह जीत तो सकते ही नहीं, बातोंसे जीतना चाहते हैं। राजा भी होते तो कुछ बल समझा जाता, अब तो ये राजभ्रष्ट और बलहीन हैं, कर ही क्या सकते हैं? [धरतीपर पड़ा हुआ जिसको अपनेसे उठकर बैठनेका भी सामर्थ्य नहीं वह भला आकाशको क्या पकड़ेगा। भाव यह कि स्वयं तो राज्यसे निकाल दिया गया, वनोंमें भटकता फिरता है, सामर्थ्य होता तो बापके दिये हुए राज्यपर बैठ जाता। दूसरोंको राज्य देता फिरता है और मुझ त्रैलोक्यविजयी रावणको सामनीति बरतनेको कहता है। बढ़-बढ़कर बातें मारता है]। श्रीलक्ष्मणजीने लिखा कि 'बातन्ह मनहि रिझाइ सठ' इसीसे उत्तरमें रावण कहता है कि 'लघु तापस कर बाग बिलासा।'

प० प० प्र०—'भूमि परा' में भाव यह है कि सार्वभौम राजसत्ताको खो बैठे, क्षत्रियत्व छोड़कर तपस्वी बने। अब पूर्वका वीर्य-शौर्य पुरुषार्थ तो कुछ रह ही न गया, तब 'वाचिवार्थं द्विजानां' बता रहे हैं।

कह सुक नाथ सत्य सब बानी। समझहु छाड़ि प्रकृति अभिमानी॥ ३॥
सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा। नाथ राम सन तजहु बिरोधा॥ ४॥

अर्थ—शुकने कहा कि 'हे नाथ! 'अभिमानी प्रकृति (स्वभाव) को छोड़कर सब वाणीको सत्य समझिये॥ ३॥ हे नाथ! क्रोध छोड़कर मेरा वचन सुनिये। हे नाथ! श्रीरामजीसे वैर छोड़िये॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) लक्ष्मणजीकी वाणीको उसने वाग्विलास कहा अर्थात् यह सब झूठ है। उसीपर दूत कहता है कि यह वाग्विलास नहीं है, वरन् सत्य है, रामसे विरोध करके सत्य ही तुम बच नहीं सकते, रामशरानलमें सत्य ही तुम्हारा कुल भर जल मरेगा—यह जो कुछ चिट्ठीमें लिखा है सब सत्य है। 'सत्य सब बानी' से जनाया कि जैसा पत्रिकामें लिखा था वैसा ही सब शुकने भी कहा। (ख)—अभिमानी अपने आगे किसीको भी कुछ नहीं समझते। और न किसीकी मानते हैं। यथा—'अस कहि चला महा अभिमानी। तृन समान सुग्रीवहि जानी॥ ४। ८। १।' 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥ ४। ९। ९।' इसीसे समझनेको और अभिमान छोड़नेको कहा। 'समुझहु' से जनाया कि वाणी गम्भीर है, समझनेके योग्य है, अभिप्राययुक्त है, समझनेसे ही समझ पड़ेगी; तुम्हें अभिमानके मारे समझ नहीं पड़ती, अभिमान छोड़कर समझनेसे समझ पड़ेगी।

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ॥ ५॥
मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही।* उर अपराध न एकौ धरिही॥ ६॥
जनकसुता रघुनाथहि दीजे†। एतना कहा मोर प्रभु कीजे॥ ७॥

अर्थ—श्रीरघुवीरका स्वभाव अत्यन्त कोमल है यद्यपि वे समस्त लोकोंके राजा हैं॥ ५॥ मिलते ही प्रभु आपपर कृपा करेंगे; हृदयमें एक भी अपराध न धारण करेंगे॥ ६॥ श्रीरघुनाथजीको जनकसुता दे दीजिये। हे प्रभो! इतना कहना मेरा कीजिये। अर्थात् और चाहे कुछ न मानिये पर इतना अवश्य मानिये, चाहे आपकी इच्छा भी न हो॥ ७॥

* करिहौं, धरिहौं (क०, ना० प्र०)। † दीजै, कीजै-(ना० प्र०)। 'कह···'नयमालिनी। 'जनकसुता···'तामरस। शेष पायकुलक।

टिप्पणी—१ (क) श्रीरघुवीरके स्वभावमें दूतोंका प्रेम है, क्योंकि वह स्वभाव उनके हृदयमें पैठ गया है। यथा—**'प्रकट बखानहिं राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥'** (५२ । १) इसीसे रावणसे भी उन्होंने स्वभाव कहा। (ख) कोमलता आँखों देखी और कानों सुनी है, यथा—**'जो नर होइ चराचर द्रोही···'** इत्यादि। (ग) **'जद्यपि अखिल लोक कर राऊ'** का भाव कि थोड़ा-सा भी राज्य पाकर राजाओंका स्वभाव कठोर हो जाता है और ये अखिल लोकोंके राजा हैं तो भी इनका कोमल स्वभाव है, शुद्ध सात्त्विक स्वभाव है, रजोगुणी वा तमोगुणी नहीं है।

२ **'मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु···'** इति। (क) राजस वा तामस वृत्तिवाले राजाओंका अपराध करके फिर उनसे मिलो तो वे क्रोध करते हैं, पर रघुवीरका स्वभाव ऐसा नहीं है, वे मिलते ही कृपा करेंगे और अपराध समझकर कभी त्याग न करेंगे—ऐसा अत्यन्त कोमल स्वभाव है। श्रीरामजीके मुखसे सुना कि **'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू···।'** वही उसने यहाँ रावणसे कहा। (ख) **'अपराध न एकौ'** का भाव कि तुमने बहुत अपराध किये हैं। जैसे कि सीताहरण, जटायुवध, हनुमान्‌जीकी पूँछ जलाना, विभीषणको लात मारना, भूतद्रोह, देवमुनियोंसे द्रोह, इत्यादि। तुम्हारा छोटा भाई मिला, उसे लङ्काका राज्य दिया। तुम बड़े हो, मिलोगे तो तुमपर भी कृपा करेंगे। कृपाका फल न जाने क्या दे दें। अपराध क्षमा करेंगे और कृपा करेंगे इन वचनोंसे भयकी निवृत्ति करता है।

३ (क) **'जनकसुता रघुनाथहिं दीजे'** इति। **'मोरे कहे जानकी दीजे। २२। १०।'** में देखिये। (ख) **'सीता देइ मिलहु'** यह लक्ष्मण-संदेश है; पर दूतने लक्ष्मण-संदेश उनकी ओरसे न कहकर उसे अपनी ओरसे कहा—**'एतना कहा मोर प्रभु कीजे।'** ऐसा क्यों किया? क्योंकि वह जानता है कि लक्ष्मणजीकी ओरसे कहनेसे रावण उन्हें गाली देगा, जो हमको न सुननी चाहिये, यथा—**'हरि हर निंदा सुनहिं जे काना। होइ पाप गोघात समाना॥'** अपनी ओरसे कहनेमें हमें जो चाहे सो करे। अपनी ओरसे कहा तब **'चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही।'** यहाँ शुक भूला— यदि वह लक्ष्मणजीका संदेश कहता तो न मारा जाता। अपनी ओरसे कहा इससे मारा गया। जैसे विभीषणने जब पुलस्त्यका संदेश कहा कि वैदेही दे दो तब रावणने न मारा और जब अपनी ओरसे कहा तब मारे गये। (ग) मेरा कहा करो। ऐसा कहनेसे अभिमानीका मान रह जाता है। इसीसे सब लोगोंने ऐसा ही कहा—**'मोरे कहे जानकी दीजे'** (श्रीहनुमान्‌जी), **'तात चरन गहि मागौं राखहु मोर दुलार'** (श्रीविभीषणजी), तथा यहाँ। इत्यादि।

श्रीलमगोड़ाजी—भगवान्‌की कोमलताका विचार करते ही दूतकी वाणी और विचार दोनोंमें कोमलता आ गयी। अब वह अपील करता है और अपनी तरफसे केवल लक्ष्मणजीके संदेशको दोहराता नहीं है।

प० प० प्र०—लक्ष्मणजीने जो मौखिक संदेश कहनेको कहा था वह उसने नहीं कहा; पर अपनी विनयके ढंगपर उसका सार सुना दिया। इसमें मुख्य हेतु यह है कि अब शुक रावणका तथा लङ्काका त्याग करना चाहता है। वह जानता है कि दूतका स्वामीको उपदेश करना अनधिकार चेष्टा है, अपराध है। रावण दण्ड दिये विना न रहेगा। जिसने भाईको पदप्रहार करके निर्वासित किया वह क्या अपराधी दूतको क्षमा करेगा? कदापि नहीं। अतः शुकने जान-बूझकर ही यह अपराध किया।

जब तेहिं कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही॥ ८॥
नाइ चरन सिरु चला सो तहाँ। कृपासिंधु रघुनायक जहाँ*॥ ९॥

अर्थ—जब उसने वैदेहीको देनेके लिये कहा तब उस शठने उसे लात मारी॥ ८॥ वह चरणोंमें सिर नवाकर वहाँको चला जहाँ दयासागर श्रीरघुनाथजी (सिंधुतटपर बैठे) हैं॥ ९॥

टिप्पणी— १ (क) जबतक रामजीकी बड़ाई की, रावणकी न्यूनता दिखायी और कठोर वचन बोला—**'अस कपि एक न सेना माहीं। जो न तुम्हहिं जीतै रन माहीं'**—तबतक क्रोध न किया क्योंकि दूतने बारंबार विनय की है कि वचन सुनकर क्रोध न कीजियेगा। सबके पीछे वैदेहीजीको देनेकी बात कही क्योंकि यदि प्रथम कहता तो प्रथम ही मार खाता, श्रीरामजीकी बड़ाई और कृपालु कोमल स्वभाव कहनेको रह जाता। [दूसरे अभीतक उसने जितना दूतका अधिकार था उतना ही कहा। आगे बिना पूछे उपदेश देने लगा तब रावण न सह सका। पूर्व ५१ (८) में लिखा जा चुका है कि (वाल्मी० रा० में) रावणने कहा है कि तुम मन्त्री होने योग्य नहीं हो। तुम वध करने योग्य हो पर तुम्हारे पूर्वकृत उपकारोंसे मैं तुम्हें छोड़े देता हूँ। हमारे सामनेसे दूर हो, अब मुँह न दिखाना। **'चरन प्रहार'** वाल्मी० और अ० रा० में नहीं है।]

* 'चरन०' नयमालिनी, ९ में २८७, ३१५ वें भेद।

२ वक्ता उसे **'शठ'** विशेषण देते हैं क्योंकि शठसे विनय करना व्यर्थ ही होता है—**'सठ सन बिनय'···'** । यह शठ है इसने विनती न मानी, उलटे चरणका प्रहार किया ।

३ **'नाइ चरन सिरु'···'** इति । (क) [**'चला सो'** से जनाया कि यद्यपि दूत तो सारण, शार्दूल आदि और भी इसके साथ भेजे गये थे पर डाँट-फटकार इसीको हुई, कारण कि यही सबका नेता था । रावणने सब इसीसे पूछा और इसीने उत्तर दिया और सब यद्यपि साथ आये थे, यथा **'रावन चरन सीस तिन्ह नाये'**, तथापि वे सब अलग चुप खड़े रहे । रावणने शुक-को ही नेता बनाकर भेजा था क्योंकि ऐसा पूर्वसे ही विधान विधाताने रच दिया था । अगस्त्यजीने शापानुग्रह करते हुए यही कहा था कि रावण तुमको दूत बनाकर भेजेगा तब तुम रामदर्शन पाकर शापसे मुक्त हो जाओगे, फिर रावणको तत्त्वज्ञानका उपदेश करोगे, तब तुम पुनः पूर्व मुनिशरीर प्राप्त करोगे । इसीसे शुक ही उपदेश करनेपर निकाला गया और रामदर्शन पाकर पूर्व मुनिशरीर उसने प्राप्त किया । डरके मारे दलमें न गया कि कहीं वे फिर न बाँधकर मारें । (ख) शुकने आदिसे अन्ततक अपना धर्म निबाहा था । आदि और अन्त दोनोंमें प्रणाम किया, यथा—**'कहत रामजस लंका आये । रावन चरन सीस तिन्ह नाये'** और यहाँ **'नाइ चरन सिरु'** । जैसे श्रीविभीषणजीने किया था । यथा **'अवसर जानि बिभीषन आवा । भ्राता चरन सीस तेहिं नावा'** और **'अनुज गहे पद बारहिं बारा'** । (ग) चरणोंमें सिर नवाकर चला कि आपने बड़ी कृपा की कि लात मारकर विषयोंसे छुड़ा रामसम्मुख कर दिया । (घ) **'कृपासिंधु'** विशेषण देकर जनाया कि इसपर श्रीरामजी कृपा करेंगे ।

श्रीलमगोड़ाजी—नाटकीय कलामें विरोधी प्रगतियोंके संकेत बड़े उत्तम हैं; विशेषकर दूतवाली, कारण कि यदि वैसी प्रगतियोंके संकेत न होते तो सम्भव था कि अभिनेता गलती कर जाता । जो अपीलकी भावना और भगवान् रामकी सहनशीलता (कोमलता) के प्रभाओंके विरुद्ध **'रिस'** का ही रूप लिये रहतीं ।

करि प्रनामु निज कथा सुनाई । रामकृपा आपनि गति पाई ॥ १० ॥
रिषि अगस्ति कीं* साप भवानी । राछस भएउ रहा मुनि ग्यानी ॥ ११ ॥
बंदि राम पद बारहिं बारा । मुनि निज आश्रम कहुँ† पगु धारा†† ॥ १२ ॥

अर्थ—उसने प्रणाम करके अपनी कथा सुनायी और श्रीरामजीकी कृपासे अपनी गति पायी । अर्थात् अपने पूर्व मुनि स्वरूपको प्राप्त हुआ ॥१०॥ हे भवानी ! यह ज्ञानी मुनि था । अगस्त्य ऋषिके शापसे राक्षस हो गया था ॥ ११ ॥ बारंबार श्रीरामजीके चरणोंकी वन्दना करके वह मुनि अपने आश्रमको चला गया ॥ १२ ॥

टिप्पणी—१ **'निज कथा'** यह कि मैं रावणका दूत हूँ । विभीषणके पीछे रावणने मुझे भेजा था, वानर मुझे पहिचान-कर नाक कान काटने लगे तब आपकी दोहाई देनेपर श्रीलक्ष्मणजीने छुड़ा दिया और रावणके लिये पत्रिका दी । हमने जाकर पत्रिका दी और विनती की कि श्रीसीताजीको जाकर दो और शरण हो, यह सुनकर उसने लात मारी, तब मैं भागकर प्रभुकी शरण आया । इतना कहते ही वह श्रीरामकृपासे मुनि हो गया । प्रणाम करते ही प्रभुने अपना लिया—**'सकृत प्रनाम किये अपनाये'**, **'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै । तत्काल तुलसीदास जीवन जन्मको फल पाइहै'**—(विनय) ।

'शुक'···यह पूर्व जन्ममें वेदज्ञ ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण था । यह वानप्रस्थ विधिसे अपने धर्म-कर्ममें स्थित होकर वनमें रहता था । देवताओंकी वृद्धि और राक्षसोंके नाशके लिये इसने वनमें वसकर बहुत यज्ञ और तप किये । अतः राक्षस इससे वैर रखते थे । वज्रदन्त नामक राक्षस इसके पीछे पड़ा था । विप्रदेवका अपकार करनेपर उतारू होकर वह अवसरकी घातमें रहने लगा । एक दिन अगस्त्यजी मुनिके आश्रममें आये । मुनिने उनको भोजनके लिये निमन्त्रित किया । अगस्त्यजी स्नान करने गये । उसी समय वह राक्षस उनका रूप धरकर मुनिके पास आया और इनसे कहा कि बकरेका मांस भोजन करेंगे वही बनाना । शुक मुनिने मांस बनाया और अन्य बहुत प्रकारके भोजन भी बनाये । जब अगस्त्यजी आ गये और भोजन करने बैठे तब राक्षस-ने मुनिकी स्त्रीको मोहित कर दिया और स्वयं स्त्री बनकर मनुष्यका मांस भोजनमें मिलाकर अगस्त्यजीके आगे परोसकर गायब हो गया । मुनिने अपने आगे अभक्ष्य मनुष्यका मांस देख शाप दे दिया कि तू राक्षस हो जा और मनुष्यका मांस खाया कर । मुनिने प्रार्थना की कि आप ऐसा कह गये थे, अब मेरा क्या अपराध ? अगस्त्यजीने ध्यान करके सब हाल जान लिया तब शापानुग्रह किया कि तुम जाकर रावणके सहायक होगे । वह तुमको गुप्त दूत बनाकर भेजेगा, रामदर्शन करनेपर तुम शापमुक्त हो जाओगे और लौटकर तुम रावणको जाकर तत्त्वज्ञानका उपदेश करोगे तब तुम मुक्त होकर परम पद प्राप्त करोगे । मुनिवर

* के—ना० प्र० । श्राप-का० । † कहु—भा० दा० । †† 'करि०', (११), 'मुनि०' पायकुलक, 'राम०' अनुकूल, 'बंदि०' 'स्वागता ।

अगस्त्यके ऐसा कहनेपर वह राक्षस होकर रावणके पास रहने लगा। अब श्रीरामदर्शनकर वह पुनः पूर्ववत् ब्राह्मण शरीर हो वानरप्रश्नोंके साथ रहने लगा। (अध्यात्म रा० ६ । ५ । ५-२४)।

मा० त० सु०—'मुनि ज्ञानी' का भाव कि वह ज्ञानके अभिमानमें सदा मग्न रहता था, भक्त न था, इसीसे पतनको प्राप्त हुआ, यथा—'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी'

टिप्पणी—२ शुकके वचन सुनकर श्रीरामजी कुछ न बोले; कारण कि वे मौनव्रतमें हैं। रामकृपासे पुनः मुनिस्वरूप प्राप्त हो गया, अतएव बारंबार प्रणाम करते हैं। जैसे अहल्या अपना स्वरूप पानेपर 'बारबार हरिचरन परी'। मुनि हो गया, इसीसे अब मुनि कहा।

दो०—बिनय न मानत जलधि जड़ गये तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति ॥ ५७ ॥

लछिमन बान सरासन आनू। सोखौं बारिधि बिसिष कृसानू॥ १ ॥*

अर्थ—जड़ समुद्र विनय नहीं मानता, तीन दिन बीत गये। तब श्रीरामजी कोपसहित बोले कि बिना भयके प्रीति नहीं होनेकी॥ ५७॥ लक्ष्मण! धनुष-बाण लाओ। मैं अग्निबाणसे समुद्रको सोख लूँ॥ १॥

नोट—१ 'बिनय न मानत···' इति। भाव यह कि तीन दिनतक विनती करनेपर समुद्रने दर्शन नहीं दिये, इससे जान पड़ता है कि उसे बड़ा गर्व है। हम जानते हैं कि शान्ति, क्षमा, सरलवृत्ति और प्रियवादिता इत्यादि साधुओंके गुणोंका, गुणरहित दुर्जनोंके समक्ष, प्रयोग असमर्थताका सूचक होता है। जो गुणहीन होनेपर भी अपनी शूरता आदिकी प्रशंसा करते फिरते और बिना प्रयोजन ही लोगोंको दण्ड दिया करते हैं उन्हीं लोगोंका सत्कार दुराचारी अहंकारी लोग किया करते हैं। ···यथा 'प्रशमश्च क्षमा चैव आर्जवं प्रियवादिता ॥ १४ ॥ असामर्थ्यफला ह्येते निर्गुणेषु सतां गुणाः। आत्मप्रशंसिनं दुष्टं धृष्टं विपरिधावकम् ॥ १५ ॥ सर्वत्रोत्सृष्टदण्डं च लोकः स कुरुते नरम्। न साम्ना शक्यते कीर्तिर्न साम्ना शक्यते यशः ॥ १६ ॥' (वाल्मी० ६ । २१)। इसी तरह अ. रा. में कहा है कि इसने मेरा अभिनन्दन नहीं किया, समझता है कि यह एक मनुष्य ही तो है, मेरा क्या कर सकता है। यथा—'जानाति मानुषोऽयं मे किं करिष्यति वानरैः॥' (६ । ३ । ६२) यह सब जो श्रीरामजीने कहा है वह इस दोहेके पूर्वार्ध और 'भय बिनु होइ न प्रीति' से कविने सूचित कर दिया है।

टिप्पणी—१ (क) 'गये तीन दिन बीति' से सूचित हुआ कि तीन दिनका प्रमाण करके बैठे थे, उसके बीत जानेपर चौथे दिन बोले। (ख) विनय नहीं मानता क्योंकि जड़ है, यथा—'गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी'। (ग) 'बोले राम सकोप तब' का भाव कि अपना कोप पहले वचनसे कहकर दिखाते हैं; जिसमें वह सुनकर हाजिर हो जाय, बाणका अनुसंधान न करना पड़े।—यह श्रीरामजीके हृदयकी कृपा है। जो पूर्व कह आये कि 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं' वही कृपा अब भी मनमें है; नहीं तो इसके कहनेका कोई प्रयोजन न था। 'तीन दिन बैठे' क्योंकि समुद्र तीर्थ है और तीर्थमें तीन रात निवास करना शास्त्रमें लिखा है। [प० पु० सृष्टिखण्डमें श्रीरामजीने श्रीभरतजीसे कहा है कि हम तीन दिनतक समुद्रतटपर इस आशासे ठहरे रहे कि वह हमें दर्शन देगा और अपना कुटुम्बी समझकर मेरा कार्य करेगा। (अ० ३५)] जड़ प्राणी विनयसे प्रीति नहीं करते, भयसे प्रीति करते हैं।

शंका—समुद्रने हनुमान्‌जीको रामदूत जानकर उनको विश्राम देनेके लिये मैनाकको भेजा था। श्रीरामजी तीन दिन तक बैठे रहे; इनके पास क्यों न आया? समाधान—(क) हनुमान्‌जीका पुरुषार्थ देखकर तब मैनाकको भेजा था और श्रीरामजीके वचन सुनकर माधुर्यमें भूल गया। 'सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि०० दुस्तर सब भाँती ॥' इसीसे मार्ग न दिया। गंगाजीभी इसी तरह मोहको प्राप्त हुई थीं—अ० १०१ (५ देखिये। जब श्रीरामजीका बल उसने देखा तब वह प्रसन्न हुआ और मार्गका उपाय बताया।—'देखि रामबल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी ॥' (६० । ७) । ५९ (१) देखिये अथवा, (ख) उत्तरतटवासियोंका नाश करानेके लिये न आया जिसमें प्रभु क्रोध करके बाण संधान करें तब मैं जाकर प्रार्थना करके उसी बाणसे उनका नाश कराऊँ जैसा आगे स्पष्ट है—'यह सर मम उत्तर तटबासी। हततु नाथ···॥'

* म० चं०—५७ वानर दोहा, 'लछिमन०' तामरस, 'सोखौं' पायकुलक।

मा० त० सु०—यदि वह चाहता तो प्रथम ही प्रार्थना कर उत्तरतट वासियोंको मरवाकर अपना कष्ट दूर कर लेता क्योंकि दुष्टनिग्रहके लिये तो प्रभुका अवतार ही था, यथा–'**खलदल दलन देवहितकारी**।' परन्तु यहाँ पहले प्रभुकी अवज्ञाकर क्रोध उत्पादन किया, पीछे शरणमें आकर दुःख निवेदन किया, यही जड़ता है।

टिप्पणी—२ '**भय बिनु होइ न प्रीति**' से जनाया कि प्रीति करनेके लिये कुपित वचन सुनाकर भय दिखाया, हृदयमें क्रोध नहीं है।

३ '**लछिमन बान**······' इति। (क) यह वचन द्वारा भय दिखाया जैसे सुग्रीवको दिखाया था, यथा—'**भय दिखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥**' लक्ष्मणजी सदा श्रीरामजीकी सेवामें हाजिर रहते हैं, अतः कहा कि '**लछिमन**···।' यदि वे सेनामें होते तो ऐसा कदापि न कहते। (ख) धनुष-बाण माँगकर जनाया कि वे व्रतमें निरायुध बैठे हैं। माँगते ही उन्होंने धनुष-बाण हाजिर कर दिये, इसीसे आगे कहते हैं कि '**अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा**।' (ग) वारिको सोखनेको कहते हैं इसीसे '**बारिधि**' पद दिया। [सोखनेका भाव कि जो इसका गर्व है कि मैं जलका अधिष्ठान हूँ यह गर्व मिटा दूँगा; दूसरे सारी सेना बिना प्रयास पैदल ही उस पार चली जायगी। '**बिसिख कृसानू**' से जनाया कि यह अग्निबाण है। ☞ भारत-वासी देखें कि उस समय हमारे यहाँकी धनुर्विद्या कितनी बढ़ी-चढ़ी थी। हम पाश्चात्त्य शिक्षा पाकर अपने शास्त्रोंकी निन्दा करने लगे, अपनी संस्कृति ही भूल गये और स्वतन्त्रता प्राप्त करके भी हम अपनी आँखोंसे नहीं देखना चाहते। न उस प्राचीन संस्कृतिकी ओर ध्यान देते हैं। (घ) श्रीलक्ष्मणजीसे जो कहा था कि '**ऐसइ करब**···' उसे चरितार्थ किया। लक्ष्मणजीने कहा था '**करिय मन रोषा**', अतः '**बोले राम सकोप**' और '**सोखिय**' अतः '**सोखौं बारिधि**' कहा]

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन* सन सुंदर नीती॥ २॥
ममतारत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥ ३॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बए फल जथा†॥ ४॥

अर्थ—मूर्खसे विनय, कुटिलसे प्रीति, स्वाभाविक कृपण (कंजूस) से सुन्दर नीति॥ २॥ जो ममतामें अनुरक्त है उससे ज्ञान-कथन करना, अत्यन्त लोभीसे वैराग्य बखान करना॥ ३॥ क्रोधीसे शम एवं समता बुद्धि और कामीसे हरिकथा (कहने) का फल वैसा ही है जैसा ऊसरमें बीज बोनेका फल हो। (अर्थात्) व्यर्थ जाता है क्योंकि जहाँ तृण नहीं जमता वहाँ अच्छा बीज कैसे जमेगा)॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) '**शठसे बिनय**'—यहाँ यही प्रस्तुत प्रसंग है अतएव इसे प्रथम कहा। विभीषणजीने सागरसे विनय करनेकी राय दी, तीन दिन विनय की, उसने न सुना तब कहते हैं कि शठसे विनय करना व्यर्थ है, उसको दण्ड देना ही ठीक है। यथा—'**श्रवन सुनी सठ ता करि बानी। बिहँसा०। ३६। १।**' [शठसे विनय करनेसे वह समझता है यह मुझसे डरता है। इसीसे मुझसे विनय करता है। (मा० त० भा०)] (ख) कुटिलसे प्रीति व्यर्थ है, यथा—'**मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरु हित कहइ न मोहि सोहाई॥ ७। १०६। १६॥**' (ग) '**सहज कृपन**' अर्थात् वह कृपण नहीं कि जो कृपणके संगसे कृपण हो जाता है, क्योंकि इसकी कृपणता तो छूट जाती है, किन्तु जो स्वभावसे जन्मका ही कृपण है उसे यहाँ कहा; क्योंकि इसकी कृपणता नहीं छूटती; अतः उससे सुन्दर नीति कहना व्यर्थ है। धनको धर्ममें तथा उचित भोगमें व्यय करना उत्तम नीति है अन्यथा राजा, चोर आदि ही उसे ले जाते हैं, उसका नाश ही होता है। पर कृपणको कितना ही यह समझाओ उसकी बुद्धिमें नहीं चढ़ता। अतः समझाना व्यर्थ होता है।

२ (क) '**ममतारत सन ज्ञान कहानी**' विरक्त ज्ञानका अधिकारी है, यथा—'**बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥**' (२। १७८। ४)। ब्रह्मविचारके लिये वैराग्य चाहिये, यही आगे स्वयं स्पष्ट करते हैं कि '**अति लोभी सन बिरति बखानी**' व्यर्थ है। (ख)—ममता '**तरुन तमी अँधियारी**' है और ज्ञान प्रकाशरूप है, इससे ये दोनों एकत्र नहीं हो सकते। (उसको सूर्यरूप कहा है, यथा–'**जासु ज्ञान रबि भव निसि नासा।** ·· **तेहि कि मोह ममता नियराई॥** २। २७७। १-२॥' ममता ज्ञानका बाधक है, इसीलिये ज्ञानी इसका त्याग करते हैं, यथा—'**ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥** ४। १६। ५॥' (ग) पहले कृपणको कहा आगे लोभीको कहते हैं। दोनोंमें यह भेद है कि कृपण अपनी चीज नहीं देता और लोभी दूसरेकी वस्तु ले लेता है। कृपणता दूसरेके देनेमें है और लोभ धन जुटानेमें।

* कृपिन—(का०, ना० प्र०)। † ब्र० चं०—'सठ०' पायकुलक, 'सहज०' (३) चण्डी, ४में ३५५, ३१३ वाँ भेद।

३ (क) काम, क्रोध और लोभ तीनों ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके नाशक हैं। क्रोध 'सम' अर्थात् ज्ञान (समता-बुद्धि; देख ब्रह्म समान सब माहीं) को नष्ट करता है, यथा—'**क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान ॥ ७। १११ ॥**', '**ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥ ३। १५ ॥**' काम हरिकथा अर्थात् भक्तिका नाश करता है। भाव कि कामीका मन सदा विषयोंमें ही लगा रहता है। वह हरिकथाके पास जायेगा ही नहीं, कथा उससे कहोगे तो वह सुनेगा ही नहीं। यह भजनका बाधक है इसीसे कामको त्यागकर भजन करनेको कहा है— '**जब लगि भजत न राम कहुँ। सोकधाम तजि काम ॥ ४६ ॥**' लोभ वैराग्यका नाशक है। (ख) '**लोभी**' के साथ '**अति**' विशेषण दिया। तात्पर्य कि और विकार अपने प्रमाण भर रहते हैं पर लोभ '**अति**' हो जाता है अर्थात् इसका पेट कभी नहीं भरता। 'चाहे त्रिलोकीका राज्य ही इसे क्यों न मिल जाय तब भी यह न अघायेगा, कोई-न-कोई इच्छा बनी ही रह जायगी। यथा—'**जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥ ६। १०१ ।**' ☞'बखानी' क्रिया सबके साथ है। अथवा क्रिया न देकर जनाते हैं कि ये क्रियाएँ (कर्म) न करे; जैसे हमारी चौपाइयोंमें क्रियाका नाम नहीं। इसीसे '**सठ सन बिनय**' यह कहा पर उसके साथ '**करब**' क्रिया न दी, जिससे जनाया कि शठसे विनय करना ही न चाहिये। इसी भावसे और चरणोंमें भी क्रियाएँ नहीं दी गयीं।

शठ, कुटिल, कृपण, ममतारत, लोभी, क्रोधी और कामी ये सातों ऊसर भूमि हैं। विनय, प्रीति, नीति, ज्ञान कहानी, विरति, सम और हरिकथा बीज हैं। इनको बीज कहा। सप्तधान्य प्रसिद्ध हैं इसीसे सात ही बीज गिनाये गये।

शिला—१ ये सातों अवगुण सिंधुमें कहकर जनाया कि ऊसर-भूमिसमान शरीरमें यदि सात अवगुण हों तो उसमें उसके प्रतिकूल सात गुण जो बीज रूप हैं वे कैसे जम सकते हैं।

२—सातों अवगुण सिंधुमें हैं, यथा—वह शठ अर्थात् जड़ है, अतः विनय व्यर्थ हुई—(१)। वह कुटिल है। हमने साम करना चाहा, इसीसे उसने न माना। प्रेम करने योग्य होता तो रावण कूट न करता कि '**सागर सन ठानी मचलाई**'—(२)। सहज कृपण है। रत्नाकर है, पर न धन दे, न खाये; तब कुलगुरु मानकर नीतिसे आशा करना व्यर्थ हुआ—(३)। जलमें ममत्व है अतः खारी हो गया कि कोई पी न जाय, अथाह बना रहा। उसको ज्ञान देना कि सोख लेंगे, व्यर्थ है।—(४)। लोभी है तब कैसे चाहे कि जलसे विरक्त हो जाय, जल सोख लेने दे—(५) क्रोधी है प्रलयमें क्रोध करता है तब कैसे चाहेगा कि रावणवध करके हम समता विस्तार करें, यथा—'**रामप्रताप बिषमता खोई**' (६) नदियोंका पति है अतएव कामी है, उसे कैसे रुचे कि रावणवध होकर रामायण बने, लोग गा-गाकर भगवान्‌में अनुरक्त हों, कामादिको छोड़ें—(७)।

मा० त० सु०—शठता, कुटिलता, कृपणता, ममता, अतिलोभ, क्रोध और काम। ये सातों जीवके लिये भगवद्भक्तिके बाधक हैं। इसी प्रकार जीवके कल्याणके लिये—'विनय, प्रीति, सुनीति, ज्ञान, वैराग्य, शान्ति और हरिकथा—ये सात ही साधन भी हैं। उदाहरण क्रमसे - (१) शठ, यथा '**तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय बिष माँगी**' विनय, यथा—'**सीतलता सरलता मइत्री।**' (२) कुटिल, यथा—'**कहनि आन बिधि रहनि आन बिधि मन सुख पावै कैसे**'—(सरल सुभाउ न मन कुटिलाई)। प्रीति, यथा—'**सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी। प्रीति सहित**...।' (३) कृपण, यथा—'**कृपन बिमूढ़ा। जीवत सव सम चौदह प्रानी।**' सुनीति, यथा—'**नीति निपुन जिन्ह कै जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह के हिय नीका।**' (४) ममता, यथा—'**ममता केहिकर जस न नसावा।**' ज्ञान यथा—'**सब ते मोहि परम-प्रिय ज्ञानी।**' (५) लोभ, यथा—'**लोभ ग्रसे सुभ कर्म**', '**लोभ न अंध कीन्ह केहि केही।**' वैराग्य यथा—'**बिरति चर्म संतोष कृपाना**', '**कहिय तात सो परमबिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी।**' (६) क्रोध, यथा—'**क्रोध करहि जिमि धर्महि दूरी**', ('**क्रोध पापकर मूल**')। शम, यथा—'**सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं**', '**सम अभूतरिपु बिमद बिरागी।**' (७) कामी, यथा—'**को जग काम नचाव न जेही।**' हरिकथा यथा—'**जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावहीं।**' सातों बाधक नरकदायक हैं और सातों साधक मुक्तिदायक हैं। (☞इन भावोंके देनेका तात्पर्य यह है कि पाठक लोग और उत्तम भाव विचारकर सूचना दें कि ये सात दोष और गुण समुद्रके प्रसङ्गमें देनेका तात्पर्य क्या है?)

श्रीलमगोड़ाजी—उपर्युक्त टिप्पणियोंके विचारोंसे प्रभावित होकर मेरा हृदय प्रफुल्लित हो उठा और मेरी यह धारणा और भी पक्की हो गयी कि तुलसीदासजीके इस कौशलको संसारका कोई कवि नहीं पहुँचा जिसके द्वारा वे बिना कृत्रिमताके नाटकीय और महाकाव्यकलाओंका एकीकरण करते हैं। देखिये, नाटकीयकलामें भगवान्‌के भावमें जिस नीतिके सिद्धान्तसे परिवर्तन हुआ है उसको किसी नीतिके ग्रन्थके अवतरणके रूपमें दोहराना कितना स्वाभाविक है! नीतिज्ञ लक्ष्मणसे ही कहना तो मानो

सोनेमें कुन्दन है; कारण कि लक्ष्मणजीहीके विचारोंको दोहराकर (कहना) उनकी नीतिका ही समर्थन है। अवतरण या मसल (कहावत) का रूप कितना सुन्दर है! ऐसे अवसरपर मसलका कुछ अंश फाजिल होता ही है। यहाँ सिंधुमें शठता और कुटिलता दो ही स्पष्ट हैं। विनय और प्रीति धर्म एवं दैवी नीतिके अङ्ग हैं। शठता और कुटिलता आसुरी नीतिके अङ्ग हैं, जो कूटनीति है। कौटिल्य अर्थशास्त्रके जोड़का, सम्भवतः बृहत् शुक्रनीति-जैसे ग्रन्थका प्रमाण अनुमानसे जान पड़ता है, कारण कि दोनोंके एकीकरणका उद्योग है। पर उपर्युक्त टिप्पणियोंके विचारोंसे स्पष्ट है कि सूक्ष्मदर्शी महानुभाव यहाँ सभी ठीक पाते हैं। धन्य हैं कवि और सूक्ष्मदर्शी विद्वान्।

अब लोग सोचें कि ग्राउस महोदयका विचार ठीक है कि अयोध्याकाण्डके बाद कलाका उतार है, या वास्तवमें कलाका महाकाव्यरूपमें चढ़ाव है, जहाँ भौतिकवाद पहुँच नहीं पाता और इसलिये 'अंगूर खट्टे' कह देता है।

नोट—१ यहाँ समुद्रकी शठता ही वर्ण्य विषय है। शठसे विनय करना व्यर्थ जाता है, यही यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्ग है। शेष सब अवर्ण्य विषय है, केवल लोकशिक्षार्थ सबका एक धर्म होनेसे कह दिये गये। सबका एक ही धर्म है **'ऊसर बीज बये फल जथा'** अर्थात् व्यर्थ होना, इसीसे वे सब कह दिये गये, यद्यपि कारण भिन्न-भिन्न हैं।

हम अरण्यकाण्डमें बता आये हैं कि यह कविकी शैली है कि वह ऐसे अवसरोंपर नहीं चूकता, लोकशिक्षार्थ समान धर्मवाली नीतियाँ कह देता है। शूर्पणखाके मुखसे इसी तरह अनेक नीतियाँ कहलायी हैं ॥ ३। २१। (८-११) देखिये।

इसी तरह अयोध्याकाण्डमें अवध-दरबारमें श्रीभरतजीको समझाते समय मुख्य प्रयोजन तो केवल **'सोचु जोगु दसरथ नृप नाहीं'** इतनेसे ही था तथापि कविने शोचनीय कौन है और कौन नहीं है यह सब श्रीवसिष्ठद्वारा कहलाकर उन्होंने लोक-शिक्षा दृष्टिसे चारों वर्णों और आश्रमोंके धर्म कह दिये हैं। वर्ण्य विषय **'सोचु जोगु दसरथ नृप नाहीं'** से उठाकर आगे सब अवर्ण्य विषय १७२ (३) से १७३ (४) तक कहा गया है।

इसी प्रकार श्रीभुशुण्डिजीसे लोमशजीको क्रोध आनेपर **'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु'** वर्ण्य विषयके साथ अनेक युक्तियाँ कहलायी हैं ॥ ७। १११। से ११२ (१०) तक। इत्यादि अनेक उदाहरण इसी ग्रन्थमें हैं। वैसे ही यहाँ भी कहे गये। यह आवश्यक नहीं है कि सारा अवर्ण्य विषय सागरमें घटाया जाय।

२ मेरी समझमें तो जो वाल्मी० ६। २१। १४-१५ में श्रीरामजीने कहा है कि शान्ति, क्षमा, सरलवृत्ति और प्रिय-वादिता आदि साधुओंके गुणोंका, गुणरहित दुर्जनोंके समक्ष, प्रयोग असमर्थता सूचक होता है उसीको यहाँ विस्तार और बड़े सुन्दर ढंगसे कहा गया है। यह हुआ साहित्यिक दृष्टिसे और यों तो मानसकल्पमें ऐसा ही कहा गया है, वही कविने लिखा।

अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा ॥ ५ ॥
संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि उर अंतर ज्वाला ॥ ६ ॥
मकर उरग झषगन अकुलाने। जरत जंतु जलनिधि जब जाने ॥ ७ ॥
कनकथार भरि मनिगन नाना। बिप्ररूप आएउ तजि माना* ॥ ८ ॥

अर्थ—ऐसा कहकर रघुपति श्रीरामजीने धनुष चढ़ाया। यह मत लक्ष्मणजीके मनको अच्छा लगा ॥ ५॥ प्रभुने कठिन भयंकर बाण धनुषपर चढ़ाया, तब समुद्रके हृदयमें अग्निकी ज्वाला उठी ॥ ६॥ मगर, सर्प और मछलियोंके समूह व्याकुल हो गये। (जब) समुद्रने जीवोंको जलते जाना ॥ ७॥ तब सोनेके थालमें अनेक मणियोंको भरकर अभिमान छोड़कर वह ब्राह्मण रूपसे आया ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) **'अस कहि'** का भाव कि प्रथम वचनसे भयमात्र दिखाया, सकोप होकर बोले कि जिसमें कोप देखकर वह रास्ता दे दे। श्रीरामजीने सागरपर मन, वचन, कर्मसे अपनी कृपा दिखायी। मनसे तो कृपा विभीषणादिसे समुद्र पार होनेका मन्त्र पूछनेके समयसे ही है। नहीं तो विभीषणजीका मत न मानकर लक्ष्मणजीका मत तभी मान लेते। **'माँगत पंथ कृपा मन माहीं।'** कहा ही है। कर्मसे कृपा यह है कि तीन दिन तटपर बैठे रहे कि आकर पार जानेकी युक्ति बतावे। फिर न आनेपर केवल वचनसे भय दर्शन कराया, तब भी न आया तो भी केवल धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी कि अब भी आ जाय। वचनसे कृपा यह की कि लक्ष्मणजीको समझाया कि प्रथम ही बाण चढ़ाना उचित नहीं, **'ऐसहि करब धरहु मन धीरा।'** धनुष चढ़ानेपर भी जब वह न आया तब कराल बाण संधान किया, अभी छोड़ा नहीं। बाण चढ़ाकर उसके उरमें ज्वाला प्राप्त कर दी जिससे व्याकुल होकर हाजिर हो जाय, नहीं तो बाण छोड़ते ही वह सूख जायगा। यहाँतक कृपा है। (ख) यह मत

* प्र० चं०—(५) चण्डी, (६—८) पायकुलक।

लक्ष्मणजीको रुचा। भाव कि जब समुद्रने श्रीरामजीका अपमान किया तब इनको बहुत क्रोध हुआ पर क्या करते, प्रभुकी आज्ञा नहीं है कि उसे दण्ड दिया जाय। अतः जब श्रीरामजी उसे दण्ड देनेको उद्यत हुए तब ये बड़े प्रसन्न हुए। यह भाव जनानेके लिये यहाँ लिखा कि 'यह मत···' नहीं तो उनके मनमें तो यह भाव पूर्वसे ही था उसके लिखनेका यहाँ क्या प्रयोजन था? (ग) पूर्व कहा था कि **'मंत्र न यह लछिमन मन भावा'** उसीकी जोड़में यहाँ कहते हैं कि **'यह मत···'।**

'संधानेउ प्रभु···' इति। (क) लक्ष्मणजीने माँगते ही धनुष-बाण दिया, प्रभुने बाण धनुषपर चढ़ाया। समुद्रमें ज्वाला उठी। जो विभीषणने कहा था कि **'कोटि सिंधु सोसक तव सायक'** वह सत्य है; यदि यह बाण छूटे तो अवश्य सोख ले। (ख) यहाँ सामर्थ्य दिखाया, अतः 'प्रभु' पद दिया। समुद्रमें ज्वाला उठी, यह बाणकी करालता कही। अन्तर, माँझ, मध्य, बीच सबका अर्थ 'में' है।

३—**'मकर उरग झषगन अकुलाने'** इति। (क) इससे जनाया कि वे समुद्रके बाहर नहीं निकल सकते। जलका जलना समुद्रको न जान पड़ा क्योंकि जल जड़ है, और जन्तु चैतन्य हैं, अतः उनका **'जलना जानना'** कहा। जड़को जब ज्वाला व्याप्त हो तब वह जाने। जलनिधि इतना जड़ है कि रामजीने प्रणाम किया, अनशन व्रत किया, तीन दिन बैठे रहे, फिर कोप किया, इत्यादि तबतक न आया, जब देखा कि मेरे सब आश्रित मरे जाते हैं इनको बचाना चाहिये तब आया।

४—**'कनकथार भरि मनिगन···'** इति। (क) ये मणिगण ऐसे दिव्य थे कि कनकथालमें रखे गये। समुद्र रत्नाकर है और श्रीरामजी राजा हैं, इसीसे मणिगण भेंटके लिये लाया, यथा—**'सागर निज मर्जादा रहहीं। डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं॥'** (ख) मणि लानेका भाव। उसने विचारा कि जब चौदह रत्न निकले तब भगवान्‌ने कौस्तुभमणि और लक्ष्मीको लिया, हम मणिगण देंगे तब प्रसन्न होंगे, पर श्रीरामजी मणि पाकर प्रसन्न न हुए, वरन् विनीत वचन सुनकर प्रसन्न हुए। [राजाके समीप खाली हाथ न जाना चाहिये, यथा—**'रिक्तहस्तो न गच्छेत राजानं देवतां गुरुम्'**] (ग) **'बिप्र रूप'** इससे धरा कि वे ब्रह्मण्यदेव हैं, ब्राह्मणरूपपर अस्त्रका प्रहार न करेंगे, यथा—**'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥ १।२७३।६।' 'प्रभु ब्रह्मण्य देव मैं जाना। १।२०९।'** भगवान् नररूप हैं, इसीसे नररूपसे आया। (घ) **'तजि माना'**—समुद्रको अभिमान था कि मैं बड़ा हूँ, इनको उतारा देनेसे मेरी बड़ाई न होगी। यथा—**'उतरिहि कटकु न मोरि बड़ाई।'** अथवा मान छोड़कर शरणमें आनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं, यथा—**'की तजि मान अनुज इव प्रभुपद पंकज भृंग।'** अतः **'मान तजि'** कहा।

दो०—काटेहि पइ कदरी* फरै कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेहि पइ नवं† नीच॥ ५८॥

अर्थ—चाहे कोई करोड़ों यत्नसे केलेको सींचे (वह नहीं फलेगा) पर वह तो काटनेहीसे फलेगा (अन्यथा किसी प्रकार नहीं)। हे खगेश गरुड़जी! सुनिये। नीच विनयसे नहीं मानता, वह तो डाँटनेपर ही झुकता है। तात्पर्य कि नीचसे विनय न करे, उसे डाँटे)५८

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीने विनती की। जब विनयसे कुछ सिद्ध न हुआ तब ऊसर और बीजकी उपमा दी; क्योंकि ऊसरमें बीज सफल नहीं होता, व्यर्थ जाता है। और जब उनके डाँटनेपर समुद्र आकर चरणोंपर पड़ा, तब कदलीकी उपमा दी; यह काटनेपर ही सफल होता है। (ख) बहुत-से वृक्ष ऐसे हैं जो काटनेसे फल देते हैं पर यहाँ कदलीकी उपमा देनेका कारण यह है कि और वृक्ष बिना काटे भी कुछ-न-कुछ फल देते हैं; पर कदली बिना काटे बिल्कुल नहीं फलता। (केलेका वृक्ष जब एक बार फल दे देता है तब न तो उसमें दुबारा फल लगता है और न उसकी जड़से जो उसके बच्चे और पेड़ निकलते हैं उनमें फल लगता है जबतक वह पेड़ काट न डाला जाय जो फल दे चुका है। यह नियम है।) (ग) **'कोटि जतन कोउ सींच।'** सींचनेका बहुत यत्न लिखकर जनाया कि नीचसे विनती करे, उसकी सेवा करे, उसके साथ उपकार करे इत्यादि अनेक यत्न करे तो भी वह नहीं माननेका। सामनीति सींचना है और दण्ड काटना।

२—**'खगेश'** सम्बोधनका भाव कि तुम जानते हो कि समुद्रने एक पक्षीके अण्डे डुबा दिये थे, तब उसने तुमसे पुकार की। जब तुमने जाकर डाँटा तब उसने अण्डा दिया। यह कथा भारतमें है। जलकी नीच संज्ञा है, यथा—**'कीचहि मिलै नीच जल संगा।'** दो० ३५४ से मिलान कीजिये—**'नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल। कदरी बदरी बिटप गति, देखहु पनस रसाल'**

श्रीलमगोड़ाजी—कहाँतक व्याख्या की जाय? जहाँसे महाकाव्य-कलाका अधिक विकास प्रारम्भ हुआ है (अर्थात् **'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। ३। ९।'** वाले सीनसे), वहाँसे महाकाव्यकलाके दोनों रूप साथ-साथ हैं।

* कदली † नव—(का०, ना० प्र०)। * कदरी नवै—(भा० दा०)। † वानर दोहा—ब्र० चं०।

आधिदैविक और आध्यात्मिक एक ओर, राष्ट्रीय रूप दूसरी ओर। इसीसे उन्हींके अनेक सुन्दर रत्न ही काव्योंमें भरे पड़े हैं, मानो उन रत्नोंका समुद्र ही उमड़ रहा है और उन रत्नोंको बिखेर रहा है। धन्य है कला कि काकजी भी **'खगेस'** ही कहकर सम्बोधन करते हैं। और दूसरे रहस्य छोड़कर राजनीतिके दृष्टिकोणसे ही आलोचना करते हैं।**'सुनु'** शब्द तो इतना सुन्दर बन पड़ा है कि कहते नहीं बनता। यह बता रहा है कि गरुड़जी और ही उधेड़-बुनमें विचार ले जा रहे थे और सम्भव था कि फिर मोहकी उलझनमें पड़ जाते; इसीसे जोरसे ध्यान उस ओरसे वापस लौटाकर बड़े जोरसे रामराज्यकी इस नीतिका समर्थन करते हैं।

शेखसादीने भी तो कहा है **'निकोई बा बदाँ करदन चुनानस्त। कि बद करदन बजाए नेक मर्दां॥'** (बुरेके साथ भलाई करना वैसा ही है जैसा भलेके साथ बुराई करना)।

पर अपने-अपने भावके सामयिक जोरमें सब ही कुछ अधिक कह जाते हैं। भगवान्‌ने राजा रूपसे शठ तो कहा ही और काकजीने तो **'नीच'** तक कह डाला। पर धन्य है कवि कि निष्पक्ष आलोचना करते हुए केवल **'मान'** कहता है, अभिमान भी नहीं। सोचिये कि समुद्रने आगे यही तो कहा है कि भगवन्! मैं तो आपहीकी बनायी हुई मर्यादा **'मान'** की रक्षा करता हूँ। यदि और कड़ी आलोचना ठीक होती तो इतनी जल्दी समुद्र 'नवता' न, कि काटनेकी जरूरत न पड़ी और(केलेने)फल दे दिया।

तनिक विस्तारसे इसलिये लिखा गया कि महाकाव्य-कलाके सब अङ्गों और नाटकीय कलाका भी विचार रखते हुए ही रामायणके इधरके अंशोंपर आलोचना की जाय, नहीं तो भ्रमका भय ही है।

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे॥ १॥
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥ २॥
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाए॥ ३॥
प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई॥ ४॥

अर्थ—समुद्र भयभीत होकर प्रभुके चरण पकड़कर (बोला—) हे नाथ! मेरे सब अवगुण क्षमा कीजिये॥ १॥ आकाश, पवन, अग्नि, जल और पृथ्वी इन सबकी, हे नाथ। स्वाभाविक ही जड़ करनी है (अर्थात् ये पाँचों जड़ हैं)॥२॥ सब ग्रन्थ कहते हैं कि सृष्टिके लिये आपकी प्रेरणासे मायाने इनको उत्पन्न किया॥ ३॥ हे प्रभो! आपकी जिसको जैसी आज्ञा है वह उसी प्रकार रहता है और सुख पाता है। (अर्थात् पाँचों आपकी आज्ञानुकूल बरतते हैं; इसीसे सुख पाते हैं। यदि अपना स्वभाव छोड़ दें तो सभी दण्ड देने लगें कि हमको मार्ग दो; हमको न जलाओ; इत्यादि)॥ ४॥

नोट—१ अध्यात्मरामायणके युद्धकाण्ड सर्ग ३ के इन श्लोकोंसे मिलान कीजिये—'दण्डवत्प्रणिपत्याह रामं रक्तान्तलोचनम्। **त्राहि त्राहि जगन्नाथ राम त्रैलोक्यरक्षक॥ ७०॥** जडोऽहं राम ते सृष्टः सृजता निखिलं जगत्। **स्वभावमन्यथा कर्तुं कः शक्तो देवनिर्मितम्॥ ७१॥ स्थूलानि पञ्चभूतानि जडान्येव स्वभावतः। सृष्टानि भवतैतानि त्वदाज्ञां लङ्घयन्ति न॥ ७२॥ त्वामहं मायया छन्नं लीलया मानुषाकृतिम्॥ ७६॥ जडबुद्धिर्जडो मूर्खः कथं जानामि निर्गुणम्॥ ७७॥ शरणं ते व्रजामीश शरण्यं भक्तवत्सल॥ ७८॥**' अर्थात् समुद्रने भेंट आगे रखकर दण्डवत् प्रणाम किया और जिनके नेत्र क्रोधसे लाल हैं उन श्रीरामजीसे बोला—हे जगत्के नाथ! हे त्रैलोक्यरक्षक राम! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। हे राम! आपने सृष्टि रचते समय हमको जड़ बनाया। हे देव! आपका दिया हुआ स्वभाव कौन अन्यथा कर सकता है? पञ्चभूत सहज ही जड़ हैं; आपने ही उन्हें ऐसा रचा है, उसीलिये वे आपकी आज्ञा उल्लङ्घन नहीं करते।

टिप्पणी—१ **'सभय सिंधु गहि'''** इति। (क) प्रभु सकोप धनुषपर बाण संधान किये हुए हैं, इसीसे सभीत है कि मुझसे बड़ा अपराध हुआ, ऐसा न हो कि बाण छोड़ दें और मैं भस्म हो जाऊँ। अतः वह मन कर्म वचनसे शरण हुआ—'सभय' से मानसिक, **'गहि पद'** से कायिक और **'छमहु नाथ'** से वाचिक शरणागति जनायी। ('छमहु' का भाव कि आप क्षमाशील हैं, यथा—**'छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता।** १। २८५। ६॥ **'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ॥** ७। १। ६।' **'तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी।** २। १८३। ४।' (ख) सब अवगुण ये कि आपको न पहिचाना, विनय न मानी, आदर न किया वरन् तीन दिन कष्ट दिया। हाजिर न हुआ। इस प्रकार पैरों पड़कर, प्रार्थना करके प्रसन्न करना चाहता है, इसीसे अपना अपराध स्वीकार करके क्षमाकी प्रार्थना करता है। यह

* प्र० चं०—(१) (२) 'तव' (४) पायकुलक, 'सृष्टि०' स्वागता।

करके फिर अपराधका निराकरण करता है कि मेरा अपराध कुछ नहीं है, आपने ही तो मुझे जड़ बनाया और जड़ ही बने रहनेकी आज्ञा दी, तब मेरा क्या दोष ?

२ (क) माया जड़ है, यथा—**'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया'**। ये पाँचों तत्त्व मायाा-के उपजाये हैं, अतः ये भी जड़ हैं। (ख) यहाँ जल प्रस्तुत है, उसे पहले कहना चाहिये था सो न कहा। क्योंकि यहाँ उत्पत्ति कहते हैं, पाँचोंकी जैसे-जैसे क्रमसे उत्पत्ति हुई है उसी क्रमसे यहाँ कहा गया। [तैत्तिरीय उ० ब्रह्मानन्दवल्लीमें यही क्रम है। यथा—'**…एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। अनुवाक। १।**' अर्थात् इस परमात्मासे (पहले-पहल) आकाशतत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु-तत्त्व, वायुसे अग्नितत्त्व, अग्निसे जलतत्त्व और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई।] किष्किन्धामें **'छिति जल पावक गगन समीरा'** यह क्रम है क्योंकि वहाँ शरीररचना-विषय प्रतिपादन किया गया है। किष्किन्धामें देखिये। (ग) पाँचोंकी जड़ करनी है—अग्नि जलाता है, उसे कुछ विवेक नहीं कि यह वस्तु जलाने योग्य है या नहीं। जल सबको डुबाता है, किसीको मार्ग नहीं देता। पृथ्वी पापी, पुण्यात्मा, नीच-ऊँच सभीको धारण करती है, सबको समान गन्धवती है। आकाश सबको अवकाश देता है। पवन सबको समान स्पर्श करता है। अतएव सबकी करनीको जड़ कहा।

नोट—२ वाल्मीकीयमें भी जो कहा है कि **'पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च राघव। स्वभावे सौम्य तिष्ठन्ति शाश्वतं मार्गमाश्रिताः। ६। २२। २३।'** हम स्वभावसे अगाध और लाँघनेके अयोग्य हैं। यदि लोग सुगमतासे हमारे पार चले जायँ या जल थोड़ा हो जाय तो बताइये, हमारे स्वभावमें अंतर हो या नहीं। हम अपनी जलराशिको नहीं रोक सकते। पर जैसी आपकी इच्छा हो वह हम करेंगे।—यह सब भाव यहाँ हैं।

टिप्पणी—३ **'तव प्रेरित माया उपजाये…'** इति। (क) बिना आपकी प्रेरणाके अकेली माया कुछ नहीं कर सकती। यथा—**'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥ ३। १५। ६।'** (ख) **'ग्रंथन्हि गाए'** अर्थात् सबका यही मत है कि पाँचों तत्त्व सृष्टिके हेतु (कारण) हैं। ईश्वरकी इच्छा सृष्टिको जड़ बनानेकी थी, इसीसे सृष्टिके 'हेतु' भी जड़ बनाये। यदि हम पाँचों अपनी-अपनी मर्यादाको छोड़ दें तो सृष्टिकी मर्यादाका नाश हो जायगा। हमारी करनी जड़ बनी रहनेसे सृष्टिकी मर्यादा यथार्थ बनी रहती है; इसीसे आपने हमें जड़ बनाया।

४ (क) **'प्रभु आयसु जेहि…'** इति।—आपकी आज्ञा पाँचों तत्त्वोंपर और उनको उत्पन्न करनेवाली मायापर भी है। यथा **'ईस रजाइ सीस सब ही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के॥'** (२। २८२। ५)। **'सो तेहि भाँति रहे सुख लहई'** का भाव कि अपना जड़ स्वभाव छोड़ देनेसे हमको सभी कोई दण्ड देने लगेंगे—कोई कहेगा हमें मार्ग दो, कोई कहेगा हमें न जलाओ, इत्यादि। और, एकरस रहनेसे कोई कुछ नहीं कह सकता, यही कहेगा कि पाँचों जड़ हैं, जैसे हैं वैसे ही रहते हैं।

प० प० प्र०—इन महाभूतोंमेंसे यदि एक भी अपना स्वभाव छोड़ दे तो सृष्टिका प्रलय ही हो जाय; इसीसे सृष्टिके नियमोंका पालन सब करते हैं, केवल मनुष्य शरीरधारी जीव ही ईशाज्ञा वा निसर्गनियमोंका भङ्ग करता है। मनुष्यको बुद्धि-स्वातन्त्र्य अंशतः दिया गया है पर वह उसका शास्त्रविरुद्ध व्यवहार करके दुरुपयोग करता है और अपने तथा अन्य जीवोंके दुःखका कारण बनता है। वह भूल गया है कि यह शरीर **'पाइ न जेहि परलोक सँवारा। सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ॥ ७। ४३॥'**

प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरिअ कीन्ही॥ ५॥
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी*॥ ६॥

अर्थ—हे प्रभो! आपने अच्छा किया जो मुझे शिक्षा दी। पर रही मर्यादा सो तो आपकी ही बनायी हुई है। (तात्पर्य कि इस सिखावनसे मर्यादाका नाश है। आपने जो मर्यादा बाँध दी कि जड़ बने रहो, किसीको उतरने न दो, आपकी इस दी हुई मर्यादाको मैंने पाला)। ५। ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और स्त्री ये सब ताड़नाके अधिकारी हैं। ६।

टिप्पणी—१—**'प्रभु भल कीन्ह०'** इति। भाव कि—(क) सेवासे सबका भला होता है सो मुझसे कुछ सेवा न बनी। आपने दण्ड देकर सेवा करायी इससे आपने मेरा भला किया। (ख)—**'दण्ड दिया'** न कहकर **'शिक्षा'** दी यह कहा

* ब्र० चं०—'प्रभु०' नयमालिनी' शेष पायकुलक।

क्योंकि दण्ड दिया जाना कहना विरोधकी बात है और **'सिख दीन्ही'** कहना मृदु है। जिससे भला हो वह दण्ड नहीं किन्तु शिक्षा है। शिक्षा देना भला है, नाश करनेमें कुछ भलाई नहीं है। (ग) **'मरजादा पुनि तुम्हरिअ कीन्ही'** कहनेका तात्पर्य कि यह आपकी दी हुई मर्यादा है, आप इसकी रक्षा करें, बड़े लोग अपनी दी हुई वस्तुको आप ही नाश नहीं करते। अथवा, हम ताड़नाके अधिकारी हैं। आपने भले ही ताड़ना की। रही मर्यादा बड़ाई, यह आपकी ही दी हुई है, चाहे इसे रखिये चाहे मिटा दीजिये। (घ) **'प्रभु भल०'** की व्याख्या **'ढोल गँवार०'** में करते हैं **'मर्यादा पुनि तुम्हरिअ कीन्ही'** की व्याख्या **'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई'''** में करते हैं।

नोट—१—**'ढोल गँवार'''** इति। अ० रा० में सागरने कहा है कि **'जडबुद्धिर्जडो मूर्खः कथं जानामि निर्गुणम्। दण्ड एव हि मूर्खाणां सन्मार्गप्रापकः प्रभो। ६। ३। ७७। भूतानाममरश्रेष्ठ पशूनां लगुडो यथा।'** मैं जड़बुद्धि मूर्ख आप निर्गुण परमात्माको कैसे जान सकता हूँ ? हे देवश्रेष्ठ प्रभो! जैसे लाठी पशुओंको ठीक-ठीक मार्गमें ले जाती है, वैसे ही (मुझ-जैसे) मूर्ख लोगोंको दण्ड ही सन्मार्गपर लानेवाला होता है।— इसमें जड़, जड़बुद्धि, मूर्ख और पशु ये नाम आये हैं। इनमेंसे मानसमें गँवार और पशु तो मूर्ख और पशुकी जगह हैं ही। जड़में ढोलको ले सकते हैं। शूद्र और नारीको जड़बुद्धिकी जगह रखकर कवि अपना अभिप्राय स्पष्ट कर देता है कि जो जड़बुद्धि शूद्र या स्त्रियाँ हैं उन्हें सन्मार्गमें लानेके लिये कभी-कभी आवश्यकता पड़ सकती है; जैसे पशुओंको ठीक मार्गपर चलानेके लिये चरानेवाला लाठीसे काम लेता है। लाठीसे पशु मारा अवश्य जाय यह बात नहीं है। हाँ, यदि उसकी आवश्यकता पड़े तो वैसा भी किया जाय।

टिप्पणी—२ **'ढोल गँवार०'** इति। (क) यह (समुद्र अर्थात् जलतत्त्व) आप पाँच तत्त्वोंमेंसे एक है पर अकेले अपने **'जल तत्त्व'**को न कहकर इसने पाँचों तत्त्वोंको गिनाया था, इसीसे पाँच दृष्टान्त दिये। पाँचों तत्त्वोंको जड़ कहा है— **'इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी'** और यहाँ **'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी'**मेंसे **'ढोल'** जड़ है; इसीसे उसको प्रथम कहा। शेष चार **'गँवार, शूद्र, पशु और नारी'** ये चेतन हैं; इनको पीछे कहकर सूचित किया कि जैसे ढोल जड़ है वैसेही ये भी जड़ हैं, जैसे ढोल पीटे जानेपर बोलता है और सुख देता है, वैसे ही ये सब पीटने (शासन) से सीधे रहते हैं और सुख देते हैं। तात्पर्य कि आपका दंड देना उचित है क्योंकि पाँचों दंडके अधिकारी हैं, और मुझे उचित है जड़ता करना क्योंकि मैं जड़ हूँ। (ख) इसकी जोड़की चौपाई उ० १२५ (६) **'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥'** है। यहाँ **'संत'** चेतन हैं, उनको प्रथम कहा और **'बिटप'** आदि जड़ हैं, इनको पीछे कहा। **'संत'** को प्रथम कहकर सूचित किया कि विटप, सरिता, गिरि और धरणी यद्यपि जड़ हैं तथापि परोपकारी होनेसे ये चेतनके समान हैं।

श्रीगौड़जी—इस चौपाईपर नई पच्छाहीं शिक्षाके ऊपर न्यौछावर होनेवाले अक्सर चौंक उठते हैं कि 'इसमें गोस्वामी-जीने स्त्रियोंको ताड़नाका अधिकारी क्यों कहा ?' जो लोग अहिंसाके बड़े कट्टर भक्त हैं वे तो क्या गँवार, शूद्र और पशुकी ताड़ना भी गवारा नहीं कर सकते। इसलिये उनकी दृष्टिमें भी इस चौपाईमें जो नीति दी गयी है, अच्छी नहीं कही जा सकती। जो लोग गोस्वामीजीको स्त्री-द्वेषी ठहराते हैं वे अन्य अनेक स्थलोंके अवतरणोंसे मिलाकर इसे भी प्रमाणमें पेश करते हैं। परन्तु इस प्रसंगको लोग भूल जाते हैं कि कविने यह चौपाई समुद्रके मुखसे कहलवायी है। इसमें एक साधारण नीति और रीति कही गयी है। यह आदर्श कथन नहीं है, स्वभाव-कथन है। यह नहीं कहा गया कि शूद्रों, गँवारों, पशुओं और स्त्रियोंको पीटना ही चाहिये। पीटना कर्तव्य नहीं बताया गया है। शिक्षकको अधिकार है कि शिष्य बालककी ताड़ना करे, परन्तु यह उसका अधिकार-मात्र है। जब आवश्यकता समझे तब उस अधिकारका प्रयोग करे। बहुत सम्भव है कि उस अधिकारके प्रयोगका उसे जीवन-भरमें अवसर ही न मिले। अधिकार और कर्तव्य दोनों एक नहीं हैं। कर्तव्य तो पालन करना आवश्यक है, अनिवार्य है; परन्तु जिस कामका हमको अधिकार है उसे हम आवश्यकता पड़नेपर ही करते हैं। इसलिये प्रस्तुत प्रसंगमें ढोल आदि ताड़नाके अधिकारी बताये गये हैं। तात्पर्य यह कि आवश्यकता पड़नेपर इनकी ताड़ना अनुचित नहीं है। गँवार और शूद्र दोनों शब्द पुँल्लिङ्ग हैं। यहाँ स्त्री-पुरुष किसीके साथ पक्षपात नहीं है। सभी ताड़नाके अधिकारी बताये गये हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि जो लोग अच्छे हों वे भी ताड़नाके अधिकारी समझे जायँ। गँवारों और शूद्रोंमें भी बड़े-बड़े साधु, महात्मा और सज्जनप्रकृतिके लोग होंगे। पशुओंमें कपिला गौ भी है और स्त्रियोंमें असंख्य पूज्य देवियाँ भी हैं जो सब ताड़नाके अधिकारी नहीं हो सकते। जिनका आचरण ऐसा हो जो बिना ताड़नाके सुधर न सकें वे ही ताड़नके अधिकारी समझे जायँगे; परन्तु शूद्रोंमें, गँवारोंमें, पशुओं-में और स्त्रियोंमें बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगोंकी होती है जो शिक्षा और सुधारके लिये किसी-न-किसी तरहके दण्डके अधिकारी होते हैं।

ताड़ना शब्द लक्षणार्थसे ढोलके सिवाय औरोंके बारेमें शिक्षा और सुधारके लिये दण्डके अर्थमें आया है। समुद्रके कहनेका भाव यह है कि आपने मेरी शिक्षाके लिये, मुझे दण्ड देनेके लिये, जो धनुष-बाण उठाया तो कुछ अनुचित नहीं किया क्योंकि मैं गँवार हूँ, इस शिक्षाका अधिकारी हूँ। मुझे चाहिये था कि आपका आगमन सुनकर मैं आपकी सेवामें उपस्थित होता। आपने जो मुझे धमकाया अच्छा ही किया।

जिन्हें स्त्रियोंके ताड़नाके अधिकारी होनेमें बड़ी आपत्ति है वे आज आँखें खोलकर संसारमें वास्तविक घटनाएँ देखें कि आदर्श औचित्य नीति और धर्म क्या है और वास्तविक व्यवहारमें क्या होता है। संसारकी आजकलकी सबसे अधिक सभ्य कहलानेवाली जाति जिनके यहाँ स्त्रियोंका बहुत बड़ा आदर है आजकल अंगरेज समझे जाते हैं, परन्तु कई अंगरेज़ोंके पारिवारिक जीवनका हाल मालूम है जो अपनी स्त्रियोंको पीटनेमें संकोच नहीं करते। हमारे देशमें तो स्त्रियोंका पिटना एक मामूली-सी बात है। यह तो हुई साधारण व्यवहारकी बात। आजकलकी परिस्थितिको देखिये कि आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयके एम्० ए०, बैरिस्टर, पण्डित जवाहरलाल नेहरू और जगत्प्रसिद्ध भारतनेता पञ्जाब-केसरी लाला लाजपतराय तक डण्डोंसे पीटे जाते हैं और ताड़नाके अधिकारी समझे जाते हैं—जो न ढोल हैं, न गँवार हैं, न शूद्र हैं, न पशु हैं, न नारी*। अहिंसावादी सत्याग्रही संसारकी परम सभ्य जातिवालोंद्वारा ताड़नाके पूरे अधिकारी समझे जाते हैं और वीरमगाँवकी शान्त स्त्रियाँ इस बातकी अधिकारिणी समझी जाती हैं कि उनपर घोड़े दौड़ाये जायँ और वह कुचलवा दी जायँ। व्यवहारमें जब यह दशा है और जब शिक्षाके लिये नीति हर शिक्षा पानेवालेको ताड़नाका अधिकारी बताती है तो स्त्रियोंको अपवाद कैसे समझा जा सकता है।

महात्मा गांधीजी—टीकाकारोंने तो वेद, बाइबिल और कुरानमें भी बहुतेरे दोष बताये हैं। परन्तु उन ग्रन्थोंके भक्त उनमें दोषोंका अनुभव नहीं करते। प्रत्येक ग्रन्थकी परीक्षा पूरे ग्रन्थको देखकर ही की जानी चाहिये। यह बाह्य परीक्षा है। अधिकांश पाठकोंपर ग्रन्थविशेषका क्या असर हुआ यह देखकर ही ग्रन्थकी आन्तरिक परीक्षा की जाती है। किसी भी साधनसे क्यों न देखा जाय रामायणकी श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है।...रामचरितमानसके लिये यह दावा अवश्य है कि उससे लाखों मनुष्यों-को शान्ति मिली है। जो ईश्वरविमुख थे वे ईश्वरके सम्मुख गये हैं और आज भी जा रहे हैं। श्रीरामचरितमानसमें स्त्रीजातिकी काफ़ी निन्दा मिलती है, परन्तु उसी ग्रन्थद्वारा सीताके पुनीत चरित्रका भी हमें परिचय मिलता है। बिना सीताके राम कैसे? रामका यश सीताजीपर निर्भर है। सीताजीका रामजीपर नहीं। कौशल्या, सुमित्रा आदि भी मानसके पूजनीय पात्र हैं। शबरी और अहल्याकी भक्ति आज भी सराहनीय है। रावण राक्षस था मगर मन्दोदरी सती थी। ऐसे अनेक दृष्टान्त इस पवित्र भण्डारमेंसे मिल सकते हैं। मेरे विचारमें इन सब दृष्टान्तोंसे यही सिद्ध होता है कि तुलसीदासजी ज्ञानपूर्वक स्त्रीजातिके निन्दक नहीं थे। ज्ञानपूर्वक तो वे स्त्रीजातिके पुजारी ही थे। ('नवजीवन' से)

☞ जिसके दिलमें इस सम्बन्धकी शंकाएँ शुद्ध भावसे उठें उन्हें मेरी सलाह है कि वे मेरे या किसी औरके अर्थको मन्त्रवत् स्वीकार न करें। जिस विषयमें हृदय शंकित हो उसे छोड़ दें। सत्य, अहिंसादिकी विरोधिनी किसी वस्तुको स्वीकार न करें। रामचन्द्रने छल किया इसलिये हम भी छल करें, यह सोचना औंधा पाठ पढ़ना है। यह विश्वास रखकर कि रामजी कभी छल कर ही नहीं सकते, हम पूर्ण पुरुषका ही ध्यान करें और पूर्ण ग्रन्थका ही पठन-पाठन करें। परन्तु '**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**' न्यायानुसार सब ग्रन्थ दोषपूर्ण हैं, यह समझकर हंसवत् दोषरूपी नीरको निकाल फेंकें और गुणरूपी क्षीर ही ग्रहण करें। इस तरह अपूर्णपूर्णकी प्रतिष्ठा करना गुण-दोषका पृथक्करण करना, हमेशा व्यक्तियों और युगोंकी परिस्थिति-पर निर्भर रहेगा। स्वतन्त्र सम्पूर्णता केवल ईश्वरमें ही है और वह अकथनीय है।—(नवजीवनसे)।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—कवि जो दूसरोंके मुँहसे कहलाता है वह उसकी उक्ति नहीं हो सकती। जो पात्र जैसा होता है उसके मुँहसे वैसी ही उक्ति करायी जाती है। अन्यथा होनेसे कविकी निन्दा होती है। पर आक्षेप करनेवाले यह बातें क्यों सोचने लगे? उन्हें तो गोस्वामीजीपर आक्षेपकर पाण्डित्य दिखाना है। अस्तु।

'मानस रामायण' की जिन पंक्तियोंके कारण गोस्वामीजीपर आक्षेप होता है, अब एक-एककर उनपर ही विचार करता हूँ। आशा है कि पाठक गोस्वामीजीके पक्षमें ही निर्णय करेंगे।

अच्छा सुनिये—'**कौने अवसर का भयेउ, गयेउँ नारि बिस्वास। जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास॥**' '**गयेउँ नारि बिस्वास**' बस यही इसमें आक्षेपका कारण है। पर इससे गोस्वामीजीपर आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि

* यह लेख लगभग सन् १९२७ का है जो प्र० सं० में छपा था, उस समय ब्रिटिशराज्य था, तबकी यह बात है।

महाराजा दशरथकी उक्ति है और उस समयकी है जब कैकेयीने कहा था—'**सुनहु प्रानपति भावत जी का । देहु एक बर भरतहि टीका ॥ माँगउँ दूसर बर कर जोरी । पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ॥ तापस बेष बिसेष उदासी । चौदह बर्ष राम बनबासी ॥**' '**चौदह बर्ष राम बनबासी**' वाक्य राजा दशरथको बाण-से लगे । इसपर वह पश्चात्ताप कर कहते हैं '**गयेउँ नारि बिस्वास**', अर्थात् इस नारी कैकेयीका विश्वासकर मैं फँस गया । इसका संकेत कैकेयीकी ओर है । सारे नारि-समाजकी ओर नहीं, क्योंकि वह कैकेयीका ही विश्वासकर फँसे और किसीका विश्वास कर नहीं । इसलिये गोस्वामीजीपर आक्षेप व्यर्थ है ।

अब दूसरा दोहा लीजिये—'**काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ । का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ ॥**' यहाँ भी वही हाल है । श्रीरामचन्द्र जब वन जानेको तैयार हो गये तब अयोध्यावासी आपसमें दुखी हो बातचीत करते हैं । कोई कैकेयीको सब अनर्थोंका मूल बताकर गालियाँ देता है, कोई भाग्यको दोष देता है । मतलब यह कि सब ही अपनी समझके अनुसार कुछ-न-कुछ कहते हैं । उन्हीं दुखी अयोध्यावासियोंकी उक्ति है कि '**का न करै अबला प्रबल**' अर्थात् स्त्रियाँ क्या नहीं कर सकती हैं—मतलब, सब कुछ कर सकती हैं । तुलसीदासजीने तो अयोध्याकी जनताका भाव प्रदर्शित किया है । फिर उनपर आक्षेप क्यों ?

इसी प्रकार—'**सत्य कहहिं कबि नारि-सुभाऊ । सब बिधि अगम अगाध दुराऊ ॥ निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई । जानि न जाइ नारि गति भाई ॥**' यह भी जनताकी उक्ति है; गोस्वामीजीकी नहीं ।

'**बिधिहु न नारि-हृदय-गति जानी । सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥**'—यह भरतजीकी उक्ति है । ननसारसे आनेपर जब उन्होंने पिताका मरण और राम-लक्ष्मण-सीताका वनगमन सुना; तब शोकसे व्याकुल हो गये । जब मालूम हुआ कि इन अनर्थोंकी जड़ रानी कैकेयी ही है, तब तो वह बुद्धिहीन हो माताको फटकारने लगे । माताको फटकारते-फटकारते नारी-समाज-तकको फटकार डाला । क्योंकि क्रोधमें ऐसा होता ही है । आजकल भी किसीसे लड़ाई होती है तो एकके अपराधपर उसके सारे खानदान और जातिभरको गालियाँ सुननी पड़ती हैं । एक मारवाड़ी और एक बंगालीसे झगड़ा हो तो मारवाड़ी है न ? इसीसे ऐसा कहता है । इसी तरह भरतजीने माताके गुस्सेपर सारी स्त्रियोंको कपटिन, पापिन और समस्त अवगुणोंकी खानि तक कह दिया तो क्या बुरा किया ? इस स्वाभाविक वर्णनके हेतु गोस्वामीजीपर आक्षेप न कर उनकी प्रशंसा करनी चाहिये ।

'**ढोल गँवार सूद्र पसु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ॥**' यह उक्ति भी समुद्रकी है । श्रीरामचन्द्रजीने जब धनुष चढ़ाया तब समुद्र '**बिप्र रूप आयो तजि माना ।**' उसी समयकी यह उक्ति है । गोस्वामीजी यहाँ भी बाल-बाल बच गये । विस्तार-भयसे और अधिक न लिख यह लेख समाप्त करता हूँ । पर इतना और भी निवेदन कर देता हूँ कि यदि तुलसीदासजी स्त्रियोंके निन्दक होते तो कौशल्या, सुमित्रा, अनसूया, तारा, मन्दोदरीसे अच्छी-अच्छी उपदेशमय बातें न कहलाते । मेरी समझसे गोस्वामीजी महिला-समाजका जितना आदर करते थे उतना शायद आक्षेप करनेवाले भी न करते होंगे ।—(शिक्षा खण्ड ३० संख्या ३३ से) ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—इस अर्धालीको लेकर आजकल स्त्री-स्वातन्त्र्यके जमानेमें बड़ा विवाद खड़ा हो गया है । श्रीगोस्वामीजीपर लोग आक्षेप करने लग गये हैं । उन्हें समझना चाहिये कि सबसे पहिले स्वामीजीने 'ढोल' शब्द क्यों रक्खा ? ढोल एक आनन्ददायक वाद्य है, बड़ा प्रिय है, बड़े हिफाजतसे रक्खा जाता है, पर जब वह काम नहीं देता, और बिना ठोंके काम नहीं चलता, तो उसे काममें लानेके लिये ठोंका भी जाता है । स्वयं बृहदारण्यक श्रुति जो कहती है, वही पूज्यपाद गोस्वामीजी अति शिष्ट भाषामें कहते हैं । श्रुति कहती है—'**सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्टया वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेत् ॥ ६ । ४ । ७ ।**' इसपर भाष्यकार कहते हैं '**सा चेदस्मै न दद्यान्मैथुनं कर्तुं काममेनामवक्रीणीयादाभरणादिना ज्ञापयेत् । तथापि सा नैव दद्यात्काममेनां यष्टया वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेन्मैथुनाय ।**' अर्थात् यदि वह (स्त्री) मैथुन न करने दे तो उसे गहना आदिक देकर मना ले । यदि इसपर भी न माने तो छड़ीसे या हाथसे ठोंक-ठाँककर ठीक कर ले । निःसंदेह यह उस समयकी बात है, जब स्त्रियाँ अति लज्जावती होती थीं, इस समय उसकी भी आवश्यकता नहीं है । पर यह चोद्य गोस्वामीजीपर नहीं है, यह तो वेदपर चोद्य है, वही इसका उत्तरदाता है और दे रहा है।

प० प० प्र०—इसमेंके शूद्र और नारी शब्दोंके लिये आजकलकी सुशिक्षित कहलानेवाली जनता गोस्वामीजीपर कड़ी आलोचना करती है । यदि वे पूरे ग्रन्थका अवलोकन करके उसका समन्वय करते तो यह आलोचना कभी न करते । 'पशु' शब्द बीचमें देकर कविने यह बात स्पष्ट कर दी है कि जो शूद्र पशुके समान व्यवहार करता है वह और जो नारी पशुके समान

है वह ही ताड़नकी अधिकारी है। अन्यथा तुलसीदासजीने सीता, कौसल्या, सुनयना और अनसूया आदि पतिव्रताओंका जैसा वर्णन मानसमें किया है वैसा वे करते ही नहीं। चौपाईका अर्थ यह नहीं है कि इन पाँचोंको अहर्निश बिना कारण ही पीटा जाय। **'लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्। प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रमिवाचरेत् ॥'** इस सुभाषितमें छठे वर्षसे सोलहवें वर्ष-तक पुत्रको ताड़नका अधिकारी कहा है। वह जिस भावसे कहा है उसी भावसे सागरके इस वचनको समझना चाहिये। भाव यह कि वे पाँचों अपना हिताहित नहीं जानते, वचनोंसे समझानेपर मानेंगे नहीं। अतः वे दण्ड, शिक्षा, ताड़न करनेसे रास्तेपर आ जायँ तो आ जायँ। शूद्रका अर्थ सेवक लेना ही उचित है।

श्रीलमगोड़ाजी—ऊपर लेखोंमें बड़े सुन्दर-सुन्दर विचार आ चुके हैं। इतनेपर भी आक्षेप बड़े जोरसे अब भी जारी है, यहाँतक कि बालिकाओंके एक कालेजमें झगड़ातक हो गया। इससे कुछ मैं भी लिखनेका साहस करता हूँ।

विश्वसाहित्यके नातेसे प्रथम यह कहना उचित है कि संसारके सुधारक कवियोंने स्त्रीके उस रूपकी निन्दा ही की है जिसमें वह हमारे पतन और विलासिताका कारण बनती है, पर सभीने सहधर्मिणी या मातारूपमें उसकी प्रशंसा ही की है। देखिये, फारसी भाषाके शेखसादी-जैसा कवि भी ताड़नाकी बात कहते हुए यहाँतक कह डालते हैं कि यदि स्त्री उसकी पात्र न होती तो **'ज़न रा मज़न नाम बूदे न ज़न'**, स्त्रीका नाम 'मज़न' (न मारो) होता न कि 'ज़न' (मारो)। पर वही कवि कहता है कि **'ख्वाही कि रज़ायहक बज़ोई। आँकुन कि रज़ाय मादरानस्त।'** अर्थात् यदि तू ईश्वरकी प्रसन्नता चाहता है तो वह कर जिसमें माता प्रसन्न हो। तुलसी भी माताको पितासे भी बड़ा मानते हैं—**'जानि बड़ि माता।'**

उपर्युक्त लेखोंमें देश, काल, पात्र और प्रसङ्गके अनुसार ही वाक्योंकी आलोचना करनेकी बात बड़े सुन्दर रूपमें आ गयी है।

विश्वसाहित्यके नाते कहना पड़ता है कि हम कलाका ठीक आदर करना नहीं जानते, नहीं तो ऊपरके सिद्धान्त सामने रखते हुए कलाका आदर ही करते। कविवर शेक्सपियरने हैमलेट-जैसे पात्रसे कहलाया है—'Frailty thy name is woman' कमजोरी तेरा नाम ही स्त्री है। इससे अधिक कड़ी बात हो नहीं सकती। पर अमरीकाके एक साहित्यज्ञने इस पदकी इतनी सराहना की है कि यहाँतक कह डाला कि यदि यही एक पद रहे और शेक्सपियरके अन्य सारे साहित्यको सागरमें डुबा दिया जाय तो भी उसे संसारका बड़ा कवि कहा जायगा; कारण कि उपमाके एक अंगको जातिवाचक संज्ञाके स्थानमें गुणवाचक संज्ञाका रूप देकर **'असीमता'** लाना साहित्यमें उसीने किया है। **'सुंदरता कहँ सुंदर करई'** के साथ इस वाक्यकी तुलना करते हुए मैंने विस्तारसे उस लेखमें लिखा है जो तुलसी-ग्रंथावलीमें छपा है, इसीसे यहाँ अधिक नहीं लिखता। ☞ हमें गुण भी देखना और सीखना चाहिये।

साहित्यके दृष्टिकोणसे गुण देखिये। भगवान् रामने किसी नीति-ग्रन्थका अवतरण दिया—(**भय बिनु होइ न प्रीति,** इत्यादि)। उत्तरमें समुद्र भी ठीक वैसा ही करता है, पर दीपक अलंकारके साथ। इस अलंकारकी खूबी यही है कि एक शब्दसे दियासलायीकी तरह कई वाक्य दीपकोंकी तरह जल उठें। यहाँ एक **'ताड़न'** शब्दसे कितने वाक्य बन जाते हैं। धन्य हैं कवि!

भाई! जितने ही एक दूसरेसे विपरीत शब्दोंके साथ एक शब्द निभ सके उतना ही उत्तम यह अलंकार होता है। तुलसीका ही दूसरा उदाहरण आप देख चुके हैं—**'युवती शास्त्र नृपति बस नाहीं ॥'**

हाँ, इस अलंकारकी व्याख्यामें बहुधा बड़े-बड़े विद्वान् धोखा खा जाते हैं। उदाहरणार्थ देखिये रायबहादुर लाला श्यामसुन्दरदासजीने **'बस'** शब्दका युवतीके साथ प्रयोग होनेके कारण, सम्भवतः वाल्मीकीयके प्रसंगसे प्रभावित होनेके कारण यह कह दिया कि श्रीरामजीकी वैसी शंका श्रीसीताजीके प्रति अनुचित थी और यह न सोचा कि तुलसीदासजी वाल्मीकिजीसे बाजी मार ले गये। कारण कि आगे गृध्रराजके मुखसे **'पर बस परी बहुत बिलखाता'** कहला **'बस'** की व्याख्या कर दी और कोई शब्द भी श्रीरामजीके मुखसे ऐसा नहीं कहलाया कि इसकी और कोई व्याख्या हो सके। फिर वह वाक्य भी पशु (हाथी) के मुँहमें रक्खा है और वह भी **'मानहु'** की उत्प्रेक्षाके साथ। हम प्रतिदिन बुझव्वल बुझाते हैं कि एक वाक्यमें उत्तर दो—'घोड़ा क्यों अड़ा? पान क्यों सड़ा और रोटी क्यों जली?' उत्तर—फेरा न गया। अब बताइये, क्या पानका फेरना और घोड़ेका फेरना एक तरहका होता है?

भाई, ढोल और स्त्रीकी ताड़ना एक तरहकी नहीं होती। ताड़नका अर्थ **'नियमबद्ध'** (Disciplined) ही है। संस्कृत सभ्यतामें ५ वर्षसे १६ वर्षतक बालककी ताड़ना भी तो कही गयी है। क्या उसका अर्थ है कि हर समय पीटा करे? फिर प्रसंग भी तो स्त्रीका नहीं है। मसल (कहावत) कहनेमें कुछ अंश फाजिल (बिना प्रयोजनका) हो तो कौन-सी मुश्किल

(कठिनता) है । 'ये तीनों अपने नहीं, सूजी सुवा सुनार', यदि किसीके मुखसे तोतेके काटनेके समय निकले, विशेषकर जब वह उसे चारा खिला रहा हो तो सुनारकी निन्दाका दोष लगाना (जब कि वहाँ सुनार हो भी नहीं) बुद्धिमानी नहीं ।

अब जरा **'अधिकारी'** शब्दपर विचार कीजिये । गौड़जीके विचार बड़े सुन्दर हैं पर उन्होंने **'अधिकारी'** शब्दको श्रीरामजीकी ओर मोड़ दिया है ।

समुद्र रामराज्यके शासननियमपर मुग्ध है । वह जानता है कि वहाँ ताड़न (दंड) उद्धार और शिक्षाके लिये होता है, इसीसे वह कहता है कि यदि वैसी सुन्दर ताड़ना न हो तो मानो अधिकार (Privilege, right) छीना जा रहा है । भागवतमें भी कालिय नागके ताड़ित होनेपर उसकी पत्नियाँ कहती हैं—'आप जो किसीको दंड देते हैं तो उसके पापोंका प्रायश्चित्त कराने और उसका परम कल्याण करनेके लिये ही । (भागवतांक पृष्ठ ७०५) । इस अध्यायका शीर्षक भी है **'कालिय नागपर कृपा'** । समुद्रका कथन इसी रूपमें है और अपना पश्चात्ताप प्रकट करनेके लिये है ।

पर मर्यादावाली बात (**'मरजादा पुनि तुम्हरिहि कीन्ही'**) साथ कहनेसे इसमें एक सुन्दर और मर्म चुटकीका मजा भी है । इसमें **'परिस्थिति व्यंग'** Circumstantial humour है । यद्यपि समुद्रका यह आशय नहीं है तथापि जिस परिस्थितिमें बातें कही गयी हैं उससे राजा रामकी चुटकी भी हो गयी । मानो उससे ध्वनि यह निकली कि हम तो दण्डके अधिकारी हैं ही पर आप भी तो क्षणिक क्रोधावेशमें अपनी ही बनायी हुई मर्यादाको तोड़ना चाहते हैं । क्या यह उचित है ? इस प्रकार तो कुशल कवि बात ही और की और कर देता है; मानो हमें सिखाता है कि **'खुल खेलके नियमानुसार ही होना चाहिये'** (Play the game within the rules of the game) । घोड़ेको ढाईघरसे अधिक चलकर मात देना शातिरकी चतुरायी नहीं गिनी जाती ।

इसीलिये भगवान्‌के लिये आगे ही दोहेमें आया है **'कह कृपाल मुसुकाइ'** । (इस मुस्कानपर व्यंग और हास्यकला स्वयं निछावर है) । **'सत्य'** के साथ **'शील'** का प्रयोग समुद्रने किया और श्रीरामका क्रोध काफूर हो गया । धन्य है भावमर्मज्ञता और नाटकी कलाका चरित्रसंघर्ष !

मैंने पहले तुलसीदासजीकी उस शैलीकी ओर ध्यान आकर्षित किया है जिसके द्वारा नाटकीय कलाके सहारे वे प्रत्येक विषयपर अनेक दृष्टिकोणके विचार प्रकट कर देते हैं । स्त्रीके सम्बन्धमें भी वैसा ही है । यदि आप वैसे प्रत्येक प्रसंगका देश, काल, पात्र और परिस्थितिके साथ मनन करें और सब विचारोंको एकत्रित कर लें तो एक शास्त्र-सा ही बन जावे । निर्णय भी बड़ी सुगमतासे करते हैं । देखिये, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामका निर्णय कि एक ओर तो विश्वकल्याणके लिये महादेवजी-का व्याह कराते हैं और दूसरी ओर नारदको व्याहसे रोक देते हैं और पूछनेपर कहते हैं कि **'मोह बिपिन कहँ नारि बसंता ॥'** फिर वानरराज वालीको डाँटते समय तो साफ कहा कि **'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारि सिखावन करसि न काना ॥'** (देखिये, स्त्रीशिक्षक रूप भी तो) । हाँ ! सुधारक कवि चेतावनी बराबर देता रहता है, कारण कि स्वयं भुगत चुका है; और अंतमें कैसी बाग मोड़ता है— **'कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम । तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥'**—यह है अंतिम प्रार्थना रामायणकी ।

'कंचन' और **'कामिनी'** ही बहुधा पतनका कारण होते हैं । कुशल कविने यहाँ भी बाजी मार ली । कहावतको उलटकर उन्होंने इन दोनोंमेंसे कामिनीको ही पहला स्थान दिया है ।

नं० प०—भाव यह है कि जो कोई इन पाँचोंपर शासन नहीं करेगा वह इनसे सुख नहीं उठावेगा ।

प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई । उतरहि कटकु न मोरि बड़ाई ॥ ७ ॥
प्रभु अज्ञा* अपेल श्रुति गाई । करौं† सो बेगि जो तुम्हहि सोहाई ॥ ८ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके प्रतापसे मैं सूख जाऊँगा सेना उतर जायगी । इसमें कुछ मेरी बड़ाई नहीं है अर्थात् मेरी मर्यादा न रह जायगी । ७ । आपकी आज्ञा अपेल है (जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता) ऐसा श्रुतियाँ कहती हैं । आपको जो अच्छा लगे वही शीघ्र कीजिये । ८ ।

टिप्पणी—१ (क) समुद्रने यह कहा कि आपके प्रतापसे मैं सूख जाऊँगा, इत्यादि, पर मार्ग न बताया, न उतरनेका उपाय बताया । इसका तात्पर्य यह कि जो आपकी आज्ञा मुझे मिल चुकी है उसे कैसे भंग करूँ ? आपकी आज्ञा

* अज्ञा—(भा० दा०) । आज्ञा—(ना० प्र०) † करइ—(ना० प्र०) । करौं—ब्र० चं० ।

कोई नहीं टालता तब मैं कैसे टाल सकता हूँ ? (ख) प्रताप सूर्य है अथवा भारी बड़वानल है, यथा—'**प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि भारी ॥** ६ । १ । २ ।'*

२ प्रभुकी आज्ञा अपेल है, अतएव मैंने आपकी आज्ञा पालन की। जैसी मुझ जड़को आज्ञा रही है, वैसा मैं अबतक करता रहा, मैंने आज तक किसीको मार्ग नहीं दिया। अब यह आज्ञा होती है कि मार्ग दो, नहीं तो सोख लेंगे, तो जैसा आपको रुचे वैसा आप करें। तात्पर्य कि मैं आपकी इस आज्ञाका पालन नहीं कर सकता, अब आपको जो पसन्द हो वह कीजिये—चाहे अपना वचन रखिये, चाहे मिटाइये। दोनोंका एक साथ पालन कैसे हो सकता है ? या तो जड़ ही रहूँ या चेतन, या तो पूर्वकी आज्ञाका उल्लङ्घन करूँ अबकी आज्ञाको मानूँ; या इस समयकी आज्ञाका उल्लङ्घन करूँ पहिलेकी मानूँ, दोमें एक ही हो सकता है।

३—'**श्रुति गाई**' का भाव कि वेद तो आज्ञाको अपेल कहते हैं, उसी आज्ञाको आप भङ्ग करनेको कहते हैं, जिससे वेदमर्यादा मिटती है। अतएव कहा कि जो अच्छा लगे वही कीजिये, चाहे वेदमर्यादाकी रक्षा कीजिये चाहे उसे मिटाइये। चाहे मेरी मर्यादा रखिये चाहे मुझे सुखाकर सेनाको पार उतारिये। जो आज्ञा रही वह अबतक की, जो अब हो वह अब करूँ; क्योंकि आपकी आज्ञा कोई मिटा नहीं सकता। समुद्र जानता है कि ये ईश्वर हैं, मर्यादापुरुषोत्तम हैं, सबकी मर्यादाकी रक्षा करना उनको सुहाता है, इसीसे उसने ऐसे वचन कहे। हृदयमें ज्वाला उठी है इसीसे '**करौ सो बेगि**' कहा। अर्थात् इस बाणको तुरंत शान्त कीजिये; यह असह्य हो रहा है।

दो०—सुनत बिनीत बचन अति कह कृपाल मुसुकाइ।†
जेहि बिधि उतरइ कपि कटकु तात सो कहहु उपाइ॥ ५९ ॥

अर्थ—उसके अत्यन्त विनम्र वचन सुनकर कृपालु श्रीरामजी मुस्कराकर बोले—हे तात! जिस प्रकार कपिकटक पार उतरे वह उपाय कहो ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—१ (क) '**अति बिनीत**'। प्रभु किंचित् विनयको भी 'अति' मानते हैं, यथा—'**सुनि कृपाल अति आरत बानी। एक नयन करि तजा भवानी॥** ३ । २ । १४।' '**सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसा निज पानी॥** ४ । १० । १।' तथा यहाँ '**अति बिनीत**।' (ख) '**कृपाल मुसुकाइ**' इति। यहाँ मुस्कुराकर समुद्रको अपनी कृपालुता दरसाई—'**हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥** १ । १९८।' जिसमें वह अभय हो जाय क्योंकि शरणको अभय देना प्रभुका प्रण है, यथा—'**अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।** वाल्मी० ६ । १८ । ३४।' '**मम पन सरनागत भयहारी।**' (४३ । ८) अथवा समुद्रकी चतुरता देखकर मुसुकुराये कि अपनेको कहता तो जड़ है और उत्तर देता है पण्डितकी तरह, सब ग्रन्थों और श्रुतियोंका प्रमाण देता है, यथा—'**सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाये**' '**अज्ञा अपेल श्रुति गाई।**' ‡ [इस मुस्कानसे सागरके हृदयमें प्रादुर्भूत ऐश्वर्यभावको दबाकर माधुर्यभावना जाग्रत की गयी। इसीसे '**तात**' शब्दका प्रयोग किया गया और सिंधु भी आगे इसी भावसे '**करिहउँ बल अनुमान सहाई**' कहता है। इसी भावसे मुसकानके प्रसङ्ग १ । १९२ छंद ३, २ । १२८ । १, १ । २१५ । ७ देखिये। (प० प० प्र०)]।

३ (क) श्रीरामजी अपने भक्त विभीषणका वचन मानकर समुद्रसे सेनाके उतरनेका उपाय पूछते हैं, यथा—'**प्रभु तुम्हार कुलगुरु**…।' (ख) '**कृपाल**' कहनेका भाव कि प्रथम कोप किया था, अब कोप छोड़कर कृपाल हुए। यह कृपा

* दीनजी—प्रताप भानुवत् तप्त माना जाता है। अतएव 'प्रताप' से समुद्रको सोख लेना कहा जाना बहुत ही सुन्दर प्रयोग है। ब्र० चं०—'प्रभु०' (८) पायकुलक, 'उतरिहि०' चण्डी।

† मा० त० सु०—दोहेके विषम चरणोंमें १३ और सम चरणोंमें ११ मात्राएँ होती हैं और पहले एवं तीसरे चरणोंके आदिमें जगण नहीं होता। इस दोहेके प्रथम और तीसरे चरणोंमें एक-एक मात्रा कम होनेसे यह 'दोही' छन्द कहलाता है। इसके और भी उदाहरण इसी काण्डमें हैं, यथा—'बार-बार पद लागौं बिनय करौं दससीस…।'—दो० ५६ में भी देखिये। ब्र० चं० के मतानुसार यहाँ दोहरा दोहा मिश्रित है।

‡ मा० त० सु०—मुसकानेका भाव कि तीन दिन तो मुझसे प्रार्थना करायी, अब शरण आकर अपराध क्षमा कराते हो, यदि प्रथम ही विचार किया होता तो तुम्हारी पूर्ण मर्यादा भी बनी रहती और सारी सेना भी पार हो जाती।

मुसकान द्वारा प्रकट की। (ग) **'जेहि बिधि उतरै कपि कटक···'** इति। समुद्रने कहा है कि **'उतरै कटक न मोरि बड़ाई।'** इसीपर श्रीरामजी कहते हैं कि जिस प्रकार सेना उतरे और तुम्हारी बड़ाई रहे वही उपाय कहो। यहाँतक प्रभु विभीषणके वचन पर आरूढ़ हैं, इसीसे समुद्रसे उपाय पूछते हैं।

नाथ नील नल कपि द्वौ भाई। लरिकाईं रिषि आसिष पाई॥ १॥
तिन्हके परस किए गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे *॥ २॥

अर्थ—हे नाथ! नील और नल वानर दोनों भाइयोंने लड़कपनमें ऋषिसे आशीर्वाद पाया है॥ १॥ उनके स्पर्शसे भारी-भारी पर्वत आपके प्रतापसे समुद्रपर तैरेंगे॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) पहले ही स्पष्ट करके सब बात कही जिसमें कुछ पूछना न पड़े—नील नलसे नाम, कपिसे जाति, दोउ भाईसे परस्पर सम्बन्ध और एक साथ रहना जनाया। नीलको प्रथम कहकर बड़ा बताया और नलको छोटा। यथा—**'राम लषन दसरथ के ढोटा। १। २६९। ७।' 'नाम राम लछिमन दोउ भाई। ४। २। २।' 'नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई। ४। ६।'** (ख) **'लरिकाईं'** पद देकर सूचित किया कि ये अनुचित करते थे। लड़कपनकी अवस्थामें इन्होंने लड़कपन वा अज्ञानमें ऋषिका अपराध किया। ऋषिका स्नान करनेवाला पत्थर डिबो दिया। [ये दोनों भाई ऋषियोंकी शालग्राममूर्तियोंको लेकर जलमें डाल दिया करते थे। त्रिकालज्ञ महर्षियोंने उनको शाप न दिया वरन् अपना प्रयोजनसाधक और भावी समुद्रबन्धन रूपकार्य देख शापके व्याजसे ऐसा वरदान दिया।] (ये विश्वकर्माके पुत्र हैं)। पुनः भाव यह कि बात बालपनेकी है, नील नलको भी स्मरण नहीं, और भी कोई नहीं जानता, मैं जानता हूँ क्योंकि मैं जलस्वरूप हूँ और मुनिने जलहीमें पाषाण न डूबनेका आशीर्वाद दिया था। (ग) **'ऋषि आसिष'** का भाव कि ऋषिका वचन असत्य नहीं हो सकता। जो पत्थर ये डिबोवैं वह न डूबे, यह आसिष है। (घ) **'पाई'** का भाव कि यह आशीर्वाद ऋषिकी सेवा करके नहीं प्राप्त किया गया, अकस्मात् ही उनको प्राप्त हो गया। न तो ऋषिने प्रसन्न होकर यह वर दिया और न इनके सामने। परोक्षमें कह दिया कि उसके स्पर्शसे पत्थर न डूबे, वह आसिष इनको प्राप्त हो गया। (ङ) यदि कहते कि उन वानरोंने उनको दुःख दिया तो **'शाप'** पद देते, वह शाप आशीर्वादसदृश हो गया, जिससे श्रीरामजीकी सेवा बनी और जगत्‌में यश हुआ, अतएव उसे आसिष कहा। अथवा शापित वस्तु न ग्रहण करना चाहिये इससे **'आसिष'** कहा।

नोट—१ अ० रा० में केवल नलको वरकी प्राप्ति कही है। यथा—**'नलः सेतुं करोत्वस्मिन् जले मे विश्वकर्मणः। सुतो धीमान् समर्थोऽस्मिन्कार्ये लब्धवरो हरिः। ६। ३। ८४।'** अर्थात् विश्वकर्माका पुत्र चतुर नल वरके प्रभावसे मेरे जलपर सेतुका निर्माण करे।

टिप्पणी—२ (क) गिरि भारे=पर्वतसमूह, भारी-भारी पर्वत। (ख) **'प्रताप तुम्हारे।'** यहाँ शङ्का होती है कि 'जब नीलनलके स्पर्शसे गिरिसमूह तरेंगे तब प्रभुकी इसमें बड़ाई और प्रताप क्या? और यदि प्रभुके प्रतापसे तैरे तो ऋषि-आसिषकी चर्चा ही क्या?' समाधान यह है कि नीले और नलके स्पर्शसे समुद्रमें पर्वत तैरेंगे और प्रभु प्रतापसे जहाँ वे जलमें डाले जायँगे वहीं स्थिर रहेंगे, उनपरसे अपार सेना चलेगी, डूबेगी नहीं। ऋषिका आसिष ऐसा नहीं है कि एक जगह स्थिर रहेंगे, हिलें डोलेंगे नहीं और सब पुल-सरीखे एकत्र रहेंगे। यह प्रभु प्रताप है। यथा—**'महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी। श्रीरघुबीर प्रताप तें सिंधु तरे पाषान॥ ६। ३।'**

मा० त० सु०—**'प्रताप तुम्हारे'** का भाव कि ऋषियोंसे शाप दिलवाकर और उनके हाथोंसे समुद्र बँधवाकर कपि-सेनाका पार होना यह आपहीका प्रभाव है। ६० (३) भी देखिये।

मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहौं बल अनुमान सहाई॥ ३॥
एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइअ। जेहि एह सुजसु लोक तिहुँ गाइअ†॥ ४॥

अर्थ—फिर मैं भी हृदयमें प्रभुकी प्रभुता धारण करके बलके अनुकूल सहायता करूँगा॥ ३॥ **हे नाथ! इस प्रकार** समुद्रको बँधवाइये जिससे तीनों लोकोंमें आपका यह सुन्दर यश गाया जाय॥ ४॥

---

* भ्र० चं०—(१) 'तिन्ह' पायकुलक, 'तरिहहिं···' चण्डी।

† भ्र० चं०—(३) पायकुलक; 'एहि···' ११५७, 'जेहि···' ११८३ वाँ भेद।

टिप्पणी—१ (क) **'मैं पुनि'** यह गहोरादेशकी बोली है। यहाँ पुनिका कुछ अर्थ नहीं होता। मैं पुनि=मैं। यहाँ भी पुनिका और कुछ अर्थ नहीं है। यथा—**'मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। २। ५९। १।' 'मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी। २। ६२। १।' 'मैं पुनि गयउँ बंधु सँग लागा। ४। ६। ४।'** तथा यहाँ **'मैं पुनि···'**। [अथवा, यहाँ 'पुनि' शब्द समुच्चयार्थक है जिससे 'भी' का अर्थ निकलता है। प्रसङ्गवश इससे और भी अर्थ हो सकते हैं। (मा० त० सु०)] (ख) **'उर धरि प्रभु प्रभुताई'** का भाव कि मुझमें सहायता करनेकी योग्यता या सामर्थ्य नहीं है, आपकी प्रभुताका बल है। आपकी प्रभुतासे जैसा बल मिलेगा उसीके अनुमानसे सहायता कर सकूँगा। [आशय यह कि प्रथम जो प्रभुत्व मैं हृदयमें धारण किये हुए था वह माधुर्य्य देखकर विस्मृत हो गया था, उसे अब पुनः हृदयमें धारणकर बलके अनुसार पार होनेमें जलचरादिद्वारा भी सहायता करूँगा। (मा० त० सु०)] (ग) **'करिहौं बल अनुमान सहाई'** इति। क्या सहायता करेंगे? यह कि जलको स्थिर रखूँगा, ज्वारभाटा लहर न होने पायगी। बड़े-बड़े जीव जलपर उतरायेंगे; उनपर वानर चढ़कर पार जायँगे। (घ) पहले वचनसे सहायता की कि **'नील नल···'** और अब शरीरसे सहायता करनेको कहता है।

शीला—काष्ठकी नाव जलपर अवश्य तैरती है पर यदि उसपर बेप्रमाण बोझा रख दिया जाय तो वह डूब ही जायगी। वैसे ही भारी पर्वत तैरेंगे पर जब उनपर वानरसेनाका बोझ पड़ता तब वे रसातलको चले जाते। इस बोझको आपका प्रताप सँभालेगा और मेरी लहरोंका झोंका इसमें न लगेगा जिससे सब पर्वत एकत्र जुड़े रहेंगे।

टिप्पणी—२ **'यह सुजस लोक तिहुँ गाइअ।'** यथा—**'तिहुँ पुर नारदादि जस गैहहिं'**। भाव कि इस सेतुका सुयश भवसागरमें कई सेतु तैयार कर देगा जिसपर चढ़कर जीव भवपार होंगे, यथा—**'जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं॥ ६। ६५। ३।' 'त्रैलोक पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥' 'जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई। ४। ३०।'**

नोट—१ सेतु बाँधनेसे क्या यश होगा? एक तो यह कि चार सौ कोसका पुल समुद्रमें जलके ऊपर बाँध दिया, ऐसा असम्भव कार्य कोई न कर सका। दूसरे, आगे चलकर जब बड़े-बड़े राजा दिग्विजय करते हुए यहाँ आयेंगे, तब वे भी आपके यशका गायन करेंगे। यथा—**'बध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः। भा० ९। १०। १५।'** इस असम्भव कार्यके होनेसे सब लोग आपकी संसारमलापहारिणी कीर्त्ति जान जायँगे। यथा—**'कीर्तिं जानन्तु ते लोकाः सर्वलोकमलापहाम्। अ० रा० ६। ३। ८५।'**

एहि सर मम उत्तर तट बासी। हतहु नाथ खल नर अघरासी॥ ५॥
सुनि कृपाल सागर मन पीरा। तुरतहि हरी राम रनधीरा*॥ ६॥

अर्थ—इस बाणसे मेरे उत्तरतटवासी पापके राशि दुष्ट मनुष्योंको मारिये। ५। सागरके मनकी पीर (पीड़ा, दुःख, दर्द) सुनकर कृपालु और रणधीर श्रीरामजीने उसे तुरंत हर लिया। ६।

टिप्पणी—१ **'एहि सर मम···'**—इस वाक्यसे ज्ञात होता है कि श्रीरामजीने उससे पूछा था कि 'हमारा बाण अमोघ है, यह निष्फल नहीं हो सकता, इसको हम कहाँ सफल करें?' तब समुद्रने इसको बताया। (यथा अध्यात्मे **'अमोघोऽयं महाबाणः कस्मिन्देशे निपात्यताम्। लक्ष्यं दर्शय मे शीघ्रं बाणस्यामोघपातिनः॥ ६। ३। ७९।'** अर्थात् मेरा यह बाण व्यर्थ जानेवाला नहीं। इसे किस देशमें चलाऊँ? शीघ्र मुझे इस बाणका लक्ष्य बताओ। ☞ अ० रा० में पहले बाण चलाकर उत्तरतटवासिओंका नाश किया गया, पीछे समुद्रने सेतु बाँधनेकी युक्ति बतायी है। मानसमें क्रम उल्टा है)। श्रीरामजी पापी और खलोंका वध करते हैं। उन्होंने **'तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं। ३। १९। ९।'** यह उत्तर खरदूषणादिको दिया था और वालीको पापी कहकर मारा था—**'इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥ ४। ९। ८।'** अतः कहा कि उत्तरतटपर पापराशि खल रहते हैं, आपको उनका वध करना उचित है, इस बाणसे उन्हें मारिये।

नोट—१ वाल्मी० में सागरने बताया है कि यहाँसे उत्तर दिशामें द्रुमकुल्यनामक हमारा एक सुविख्यात पुण्य स्थान है। वहाँपर उग्रस्वभावयुक्त क्रूर कर्म करनेवाले पापाचारी बहुतसे आभीर चोर रहते हैं और हमारा जल पान करते हैं।—**'आभीरप्रमुखाः पापाः पिबन्ति सलिलं मम। ६। २२। ३३।'** (आभीर=महाशूद्र। इनकी संख्या साठ हजार थी)।

* पायकुलक—(म० चं०)।

उनके जलस्पर्शसे जो पाप होता है, उसे मैं नहीं सह सकता। यह बाण आप वहीं छोड़िये। वह बाण प्रभुने वहाँ छोड़ा, तबसे वह स्थान मरुकान्तार नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रीरामजीने उस भूमिको सुखाकर फिर उसे वर दिया कि यहाँ विशेषकर रोग न होंगे, यह देश फल-फूलयुक्त वृक्षों आदिसे परिपूर्ण रहेगा' (वाल्मी० ६। २२। २९—३९)।

२ (क) **'सुनि कृपाल सागर मन पीरा'** से जनाया कि उसने अपना सब दुःख कह सुनाया था। कविने थोड़ेमें ही जना दिया। [**'मन पीरा'**—मनकी पीड़ा एक तो यह थी कि वे जलको अपवित्र कर देते थे, उनका पाप अपने ऊपर आता है। दूसरे, यह कि वे रात-दिन बराबर समुद्रको पीड़ा पहुँचाते थे। जोड़का श्लोक अ० रा० में यह है—**'रामोत्तरप्रदेशे तु द्रुमकुल्य इति श्रुतः॥ प्रदेशस्तत्र बहवः पापात्मानो दिवानिशम्। ८१। बाधन्ते मां रघुश्रेष्ठ तत्र ते पात्यतां शरः। अ० रा० ६। ३। ८२।'**] 'पीर' सुनकर तुरत कृपा करके उसे दूर की, इसीसे 'कृपाल' कहा।—**'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥ २। ८५। २।'** (ख) 'तुरतहिं' का भाव कि समुद्रने प्रार्थना की थी कि शीघ्रता कीजिये, मुझसे बाणकी ज्वाला सही नहीं जाती, यथा—**'करौ बेगि जो तुम्हहिं सुहाई'**। इसीसे तुरंत बाण छोड़कर, बाणके तेज-प्रतापसे जो उसका हृदय जल रहा था और शत्रुओंद्वारा जो उसके मनमें पीड़ा थी दोनोंसे उसे निवृत्त किया। (ग) यहाँ रणधीरा विशेषण और आगे **'देखि राम बल पौरुष भारी'** कहकर जनाया कि उत्तरतटवासी खल बहुत प्रबल थे। ☞ भगवान् अपने शरणका सब दुःख दूर करते हैं और तुरत ही। समुद्र शरण आया, अतः उसका दुःख सुनकर तुरत उसे दूर किया। कैसा भी अपराध किया हो शरण होनेपर क्रोध नहीं करते, कृपा ही करते हैं, **'मैं जानौं निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोप न काऊ॥'** और रामकृपाका फल तत्क्षण देख पड़ता है।

देखि राम बल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी॥ ७॥
सकल चरित कहि प्रभुहि सुनावा। चरन बंदि पाथोधि सिधावा*॥ ८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका भारी बल और पुरुषार्थ देखकर समुद्र हर्षित होकर सुखी हुआ॥ ७॥ सारा चरित कहकर प्रभुको सुनाया और चरणोंकी वन्दना करके समुद्र चला गया॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) **'बल पौरुष'** बल शरीरका जो धनुष खींचनेसे प्रकट हुआ और आभीरोंके वधसे पुरुषार्थ जाना। [अध्यात्ममें लिखा है कि बाणने जाकर एक क्षणमें ही समस्त आभीरोंका नाश किया और फिर पूर्ववत् तर्कशमें आ प्राप्त हुआ। यही बल और पुरुषार्थ है। प्रमाण—**'रामेण सृष्टो बाणस्तु क्षणादाभीरमण्डलम्। ८२। हत्वा पुनः समागत्य तूणीरे पूर्ववत् स्थितः।** अ० रा० ६। ३। ८३।' (ख) यहाँ अपात्र और पात्र-शरणागति दिखायी। प्रभुका समुद्रकी शरण जाना अपात्र-शरणागति है। इसीसे प्रभुने अपात्रसेवनका फल लोगोंको दिखाया। और समुद्रद्वारा पात्रशरणागति दिखायी कि कितना ही अपराध करनेपर भी शरण जानेपर प्रभुने उसके क्लेशको दूर कर दिया। (मा० त० सु०)] (ख) **'हरषि भयो सुखारी'** का भाव कि श्रीरामजीकी माधुर्य लीला देखकर पहले संदेह हो गया था, वह सन्देह बल और पौरुष देखकर दूर हुआ। हर्ष हुआ और मनकी पीड़ा दूर हुई, अतः सुखी हुआ। अथवा, 'हरषि'=प्रीति करके—**'मत्प्रीतिः प्रमुदो हर्षः इत्यमरः'**। तात्पर्य कि रामजीमें प्रीति करके सुखी हुआ। (ग) जितना हर्ष **'बल पौरुष'** देखकर हुआ उतना अपने शत्रुओंके नाशसे उसको नहीं हुआ। इसीसे शत्रुनाशमें यही कहा कि **'सुनि कृपाल सागर मन पीरा। तुरतहि हरी'''** अर्थात् उसके मनकी पीड़ा दूर हुई, इतना ही कहा, **'हरषित हुआ'** ऐसा वहाँ नहीं कहा। 'हर्ष' बल-पौरुष देखनेपर ही हुआ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—**'सकल चरित'** इति। अपना काम हो जानेपर, समुद्रने सब चरित्र कह सुनाया। भाव यह कि रघुपति दूत विचारकर जिस समुद्रने उनके विश्रामके लिये मैनाकको भेजा, वही समुद्र सरकारकी तीन दिनोंतक विनतीकी उपेक्षा करे, यह कैसे सम्भव है। पर समुद्रने उपेक्षा की और तबतक की जबतक कि सरकारने क्रोध करके शरसन्धान नहीं किया। शरसन्धान करनेपर शरण आये और शरका लक्ष्य उत्तर तटवासी अघराशि मनुष्योंको बताया, जिनसे समुद्रको बड़ी पीड़ा थी, क्योंकि सरकारका शरसन्धान व्यर्थ जा नहीं सकता। अर्थात् समुद्रने यह चरित जान-बूझकर किया। कहाँ तो सरकारकी चढ़ाई लंकापर है, और कहाँ यह विनय करना कि उत्तर-तटवासी पापियोंको मारकर तब आगे बढ़िये, किसी तरहसे उपयुक्त नहीं। लंका विजय करके लौटनेके समय भरतजीसे मिलनेकी जल्दी रहेगी, वह समय भी ऐसे विनयके लिये उपयुक्त अवसर न ठहरेगा, इसलिये समुद्रने यह नाटक रचा। कार्यसिद्धि होनेपर सरकारसे सब भेद खोल दिया।

* 'देखि०' स्वागता, शेष पायकुलक।

टिप्पणी—२ **'सकल चरित'** उत्तर-तटवासियों और रावणके नगरका। पहले क्यों न सुनाया था ? कारण कि उसने सोचा कि हमारे कुलके हैं, लंकामें जाते हैं, न जाने इनमें बल-पुरुषार्थ है या नहीं, राक्षस इन्हें जीत या खा न लें—इसीसे पहले न सुनाया, अब पुरुषार्थ और बल देखनेपर सुनाया।

३—उपक्रममें मन-कर्म-वचन दिखा आये, यहाँ उपसंहारमें भी—मनसे सुखी हुआ, वचनसे शत्रुचरित्र कहा और चरणोंकी वन्दना करके घर चला गया यह कर्म है।

नोट—१ **'चरन बंदि पाथोधि सिधावा'**, यथा 'इत्युक्त्वा राघवं नत्वा ययौ सिन्धुरदृश्यताम्। अ० रा० ६। ३। ८९।' अ० रा० में वह अन्तर्धान हो गया।

(हरिगीतिका)

छंद—निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ।
यह चरित कलिमलहर जथामति दास तुलसी गायऊ॥
सुख-भवन संसय-समन दवन-बिषाद रघुपति गुनगना।
तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना॥

अर्थ—समुद्र अपने घर गया। श्रीरघुनाथजीको यह मत अच्छा लगा। यह चरित कलिके पापोंका हरनेवाला है, मुझ तुलसीदासने बुद्धिके अनुसार इसे गाया (कहा)। श्रीरघुपतिके गुणगण सुखके धाम, संशयके शमन (शान्त, नाश) करनेवाले और दुःखके दमन (दबाने वा नष्ट) करनेवाले हैं। अरे शठ मन! सब आशा-भरोसा छोड़कर इन्हें निरन्तर गा और सुन।

टिप्पणी—१ (क) **'निज भवन गवनेउ'** से सूचित हुआ कि समुद्रके अधिष्ठात्री देवताके रहनेका कहीं स्थान है। यदि जलमें रहता होता तो कहते कि समुद्रमें प्रवेश किया, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी समुद्रतटपर ही हैं, **'गवनेउ'** न कहते। (ख)= **'श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ'**। पूर्व कहा था कि **'अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥'**, इसीसे यहाँ कहा कि श्रीरघुनाथजीको वह मत न भाया था, यह भाया। समुद्रकी मर्यादा रखनेसे उनकी शोभा है। इसीसे यहाँ **'श्री'** पद दिया। [**'यह मत भायऊ'** का भाव कि इससे लक्ष्मणजीकी बात भी रह गयी, समुद्रकी मर्यादा भी रह गयी और अब नील-नल आदिका यश भी विख्यात होगा तथा सागरमें सेतु बाँधनेका यश संसारमें फैलेगा। (मा० त० सु०)]।

२—यहाँ इस सोपानकी समाप्ति है, इसीसे इसका माहात्म्य कहते हैं। **'यथामति'** से चरितकी अनन्तता जनायी, यथा— **'निज मति सरिस नाथ मैं गाई'** **'रघुपतिकृपा जथामति गावा'**। कलिमलहर अर्थात् जो पापी हैं उनको शुद्ध करता है। आगे भक्तोंका कृतार्थ होना कहते हैं। (**'गायऊ'**का भाव कि इसके रचयिता श्रीशङ्करजी हैं, मैंने हिंदी भाषामें छन्दबद्ध करके वर्णन किया)।

टिप्पणी—३ **'मलहर'**से कलियुगका फल कहा, यथा— **'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की'**। सुख कर्मका फल है, यह त्रेतामें प्रधान है, यथा—**'सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा। ७। १०४। २।'**, अतः **'सुख भवन'**।' शब्दसे त्रेताका फल कहा। संशयका शमन होना ज्ञानका फल है, यह सत्ययुगका धर्म है,' यथा—**'कृतजुग सब जोगी बिज्ञानी'** (७। १०३। १)। विषादका नाश भगवान्‌की पूजाका फल है, यह द्वापरमें प्रधान है, यथा— **'द्वापर करि रघुपतिपदपूजा।'** (७। १०३)। यहाँ चार प्रकारका माहात्म्य कहकर जनाया कि रामचरित चारों युगोंके फलको प्रदान करता है।

४—यहाँ फलश्रुतिमें तीन आवृत्तियाँ कहीं। कलियुगका धर्म रामचरितगान है, (और कोई धर्म इस युगमें नहीं रह गये। अन्य धर्मको कलिने ग्रस लिया। यथा—**'धर्म सकल कलिकाल ग्रसे।'**), जिसका फल **'कलिमलहर'** है। गोस्वामीजी कलियुगमें हुए, इसीसे उन्होंने अपने वर्तमान युगका धर्म प्रथम कहा। इति प्रथमावृत्तिः। ज्ञानीके लिये सुखभवन और जिज्ञासुके लिये संशयशमन है। आर्त्तके लिये विषाददमन है। और, अर्थार्थीके लिये सकल सुमङ्गलदायक है। चारों भक्त मोक्ष नहीं लेते। जो मुमुक्षु हैं उन्हें भवसिंधुपार करता है, इति द्वितीयावृत्तिः। **'तजि सकल आस भरोस'** अर्थात् लोक-परलोक दोनोंके पदार्थोंकी आशा छोड़कर, निष्काम होकर गाये-सुने। अथवा, इस लोकमें किसीका आशा-भरोसा न करे, संतत रामचरित कहे-सुने, इसके कहने-सुननेमें अनध्याय न करे। इति तृतीयावृत्तिः। [मनको शठ कहनेका भाव कि बार-बार उपदेश करनेपर भी यह अपनी मूढ़ता नहीं छोड़ता, यथा—**'मेरो मन हरिजू हठ न तजै। निसिदिन नाथ देउँ सिख बहुबिधि करत सुभाउ निजै॥'** इत्यादि। संतत, यथा—**'रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहिं। संतत सुनिअ रामगुनग्रामहिं। ७। १३०। ६।'** निरन्तर इसीमें डूबे रहो]।

प० प० प्र०—यह 'चरित' में सुन्दरकाण्डका पूरा चरित्र और विशेषतः '**सागर निग्रह चरित्र**' दोनों ही आ गये। दोनों ही कलिमलके हरनेवाले हैं।

प० प० प्र०—(क) '**तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि**' यह अनन्य, साधनहीन शरणागतोंके लिये है। यथा '**बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव**। ७। १३। ३।' (ख) '**संतत**' का भाव कि सतत (निरन्तर) गाने-सुननेसे श्रीरामजी हृदयमें निवास करेंगे। यथा—'**जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥ भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।**' (ग) '**तजि सकल···मना**' की फलश्रुति आगे दोहेमें कहते हैं—'**सादर सुनहिं ते तरहिं भव···**'।

दो०—सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान*॥६०॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका गुणगान समस्त सुन्दर मङ्गलोंका देनेवाला है। जो इसे आदरसहित सुनते हैं वे बिना किसी जलयान (जहाज आदि जलमें चलनेवाली सवारियों) के भवसागर तर जाते हैं॥ ६०॥

टिप्पणी—१ अपनी इति लगाकर अब यहाँ भक्तोंकी इति लगाते हैं। '**सकल सुमंगल**' से अर्थ, धर्म और कामका दाता और '**भव तरहिं**' से मोक्षदाता, अर्थात् चारों पदार्थोंका दाता जनाया। पुनः, इस लोकमें सकल सुमंगलदायक है और परलोकमें भवपार करता है।

२—'**बिना जलजान**' का भाव कि भवसमुद्र सूख जाता है, वा थाह हो जाता है, वा भवसिंधुको ऐसे तर जाते हैं मानो उसमें जल नहीं है—उस सिंधुको बिना जलका जानो इस प्रकार तर जाते हैं। यथा—'**नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं**' और '**एहि महँ रघुपतिनाम उदारा**' है ही।

३—प्रथम गाना, सुनना दोनों लिखा—'**गावहि सुनहि संतत सठ मना**' अब दोनोंका पृथक्-पृथक् फल कहते हैं। '**सकल सुमंगलदायक**' गुणगानका फल है और **ते तरहिं भवसिंधु बिना जलजान**' सादर श्रवणका फल है।

☞ यहाँ समुद्र उतरनेका प्रसङ्ग है। अतएव ग्रन्थकारने समुद्र उतरनेके प्रसङ्गमें काण्डकी समाप्ति की। रघुनायकने अपने जनोंके उतरनेके लिये समुद्रमें सेतु बाँधा और रघुनायकगुणगान बिना जलयानके पार कर देता है। रघुनायकको श्रम उठाना पड़ा, यथा—'**सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा**', और गुणगान बिना परिश्रम पार करता है, यथा—'**नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं**', तात्पर्य कि रामगुणगान श्रीरामजीसे अधिक काम करता है, रामगुणगानमें ज्ञान है; ज्ञान होनेपर भव नहीं रह जाता; अज्ञानदृष्टिमें भव है।

प० प० प्र०—अयोध्याकाण्डमें कहा है कि '**सकलसुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेह**॥ २। २०७।' अर्थात् श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें स्नेह समस्त सुमंगलोंको देनेवाला है और यहाँ कहते हैं कि '**सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुनगान।**' इस तरह सूचित किया कि '**तजि सकल आस भरोस**' सतत गाने-सुननेसे श्रीरामचरणस्नेह होगा जिससे शर-चाप-धर श्रीरामजी हृदयमें निवास करेंगे।

प० प० प्र०—इस काण्डमें ६० दोहोंका रखना भी साभिप्राय है। सप्तसोपानोंकी समता सप्तपुरियोंसे दी गयी है। बाल० मं० श्लोक ७ देखिये। इस तरह यह काण्ड काञ्चीपुरी और किष्किंधा काशीपुरी हुआ। किष्किन्धारूपी शिवपुरीमें ३० दोहे दिये हैं। सुन्दरकाण्डरूपी काञ्चीपुरीमें शिवकाञ्ची हनुमत्-चरित है और विष्णुकाञ्ची रामचरित है। शिवकाञ्ची शिवपुरी ही है। और काशी-शिवपुरीमें ३० दोहे दिये हैं अतः हनुमत्-चरित शिवकाञ्चीमें भी ३० दोहे दिये। '**पवनतनयके चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए**॥ ३०। ८।' तक यह चरित है। शिव-विष्णु-प्रभेद-भावसे विष्णुकाञ्ची-श्रीरामचरितको भी ३० दोहोंमें कहा। इस कारण ६० दोहोंमें यह काण्ड समाप्त किया।

टिप्पणी—४ '**पुनि सर्बग्य सर्ब उर बासी**' से यहाँतक '**सागर-निग्रह कथा सुनाई**' यह प्रसङ्ग है।—सुन्दरकाण्डमें भुशुण्डिजीने १२ प्रसङ्ग कहे। वे यहाँ समाप्त हुए।

* भ० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित है।

सुन्दरकाण्ड और उसके विस्तारपर विचार

मा० हं०——'इस काण्डके विस्तारका भी विचार होना चाहिये। अध्यात्म और वाल्मीकिरामायणमें सुन्दरकाण्ड कथा-क्रम सीताशोधतक ही रखा है; परंतु स्वामीजीके सुन्दरकाण्डका कथाक्रम सागर-निग्रहतक बढ़ गया है। बढ़ाये हुए कथानक (यानी सैन्यका सागराक्रमण, विभीषणशरणागति, विभीषणराज्य-दान और सागरनिग्रह) स्वामीजीको सीताशुद्धि-सदृश ही रसीले दिखे हों, अथवा अन्य रामायणोंके युद्धकाण्डके समान उनका लंकाकाण्ड विस्तृत न हो, ऐसे कोई-न-कोई विचारके कारण उन्होंने (=यह उनकी !) अपनी लंकाकाण्डकी योजना दिखायी है। उस तरह की काण्डके बढ़ने-घटनेका हमें महत्त्व नहीं। असलमें महत्त्वकी बात उनका विचार स्वातन्त्र्य है। अन्तमें इतना ही कथन है कि स्वामीजीके सुन्दरकाण्डके दो विभाग होते हैं——पूर्वार्द्ध सीताशुद्धितक और उत्तरार्द्ध सागर-निग्रहतक। स्वामीजीके सुन्दरकाण्डका अनुष्ठान इस विभागविचारसे होना चाहिये या नहीं इसका निश्चय अनुष्ठाता स्वयं ही कर लेंगे।',

२ रा० प०——'सुन्दरकाण्ड नाम पड़ा क्योंकि उत्तर और दक्षिण ध्रुवके दो तारे हैं। उत्तर सुमेरु है जिसकी नकल दक्षिणमें लंका है। सुमेरुके तीन शिखर हैं। वैसे ही यहाँ त्रिकूट है, इनके नाम नील, सुन्दर और सुवेल हैं। नील शिखर-पर नगर बसा है, सुन्दरपर अशोकवाटिका बनी और सुवेलपर रणभूमि है। यह मेरु उपमेरु तन्त्रमें कहा है। इस काण्डकी प्रधान लीला सुन्दर शिखरसे प्रारम्भ हुई अतः सुन्दर नाम पड़ा। इसी प्रकार अयोध्यामें प्रधान कार्य प्रारम्भ होनेसे अयोध्याकाण्ड नाम पड़ा।'

☞ उपर्युक्त दोनों विषयोंपर पूर्व लेख आ चुके हैं। काञ्चीपुरीके दो विभाग होनेसे सुन्दरकाण्डरूपी काञ्चीपुरीके भी दो विभाग हुए यह ऊपर बताया गया है।· श्रीशिवजीरचित रामचरितमानस रामायणमें भी सुन्दरकाण्ड पञ्चम सोपानकी कथा यहींतक होगी, इसीसे हिंदी-भाषाबद्ध रामचरितमानसमें भी वैसा रक्खा गया।

उपक्रम	(प० प० प्र०)	उपसंहार
१	**निर्वाण शान्ति प्रदं** (मोक्ष और प्रेमाभक्तिदाता)	१ **'तरहिं भवसिंधु'** (मोक्ष), **'सुसंगलदायक'** (प्रेमाभक्तिदायक)
२	**भक्तिं प्रयच्छ** (मं० श्लोक २)	२ श्रीहनुमान्‌जी और विभीषणजीको अनपायिनी भक्ति मिली।
३	बाल० मं० श्लो० ५ सुन्दरकाण्डका प्रतिनिधिरूप है, यह सुं० मं० श्लो० १ पृष्ठ ४ में लिखा जा चुका है। यह उपसंहार-से भी सिद्ध हुआ है। उपक्रममें **'सर्वश्रेयस्करी'** है, वही उपसंहारमें **'सकल सुमंगलदायक'** है। प्रथम श्रीसीताजीने ही हनुमान्‌जीको **'सुत'** बनाया और भक्ति दी। श्रीसीताजी ही विभीषणजीको भक्तिप्राप्तिका कारण हुईं।	
४	**भक्तिं प्रयच्छ** (यहाँ भक्तिकी याचना)	४ भक्तिका साधन **'तजि आस···गुन गान'**
५	**कामादि दोष रहितं कुरु मानसं**	५ **'कलिमल हर', संसय समन दमन बिषाद'**
६	मं० श्लो० १ में श्रीरामचरित, श्लो० २ में विभीषणचरित और श्लो० ३ में श्रीहनुमत्-चरित सूचित किया।	६ काण्डमें व्यतिक्रम ये तीनों चरित हैं। प्रथम हनुमान्‌जी, फिर विभीषणजी तब श्रीरामचरित कहा गया।

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने ज्ञानसम्पादिनी नाम पञ्चमः सोपानः समाप्तः।

अर्थात् श्रीरामचरितमानसका कलिके सम्पूर्ण पापोंका नाश करने और ज्ञान प्रदान करनेवाला सोपान समाप्त हुआ।

श्रीसीतारामभक्तार्पणमस्तु।

श्रीहनुमते नमः। श्रीरामभक्त-भगवन्त-गुरुचरणकमलेभ्यो नमः॥

श्रीरामं रामभक्तिञ्च रामभक्तांस्तथा गुरून्। वाक्कायमनसा प्रेम्णा प्रणमामि पुनः पुनः॥

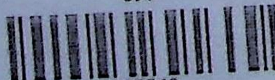
सब मिलि कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि तुम्हहिं भजौं दिन राती॥

मनकी सकल बासना भागै। सीतारामचरण लौ लागै॥

बार बार माँगौ कर जोरे। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरे॥

श्रीराम जय राम जय जय राम।




097
185549

मिलनेका पता—
गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)